

Library Rare Texts Publication Series No. 6

# SĀTVATA-SAMHITĀ

*With Commentary by*  
**ALASINGA BHATTA**

Foreword by  
Dr. GAURINATH SASTRI  
Vice-Chancellor



Edited by  
**VRAJA VALLABHA DWIVEDI**  
Professor and Head of the Department of  
Sāṅkhya-yoga Tantrāgama  
Sampurnanand Sanskrit University

VARANASI  
1982

[ Published under the Rare Texts Publication Scheme of Sarasvati Bhavana Library with financial assistance provided by University Grants Commission ]

Published by :  
**Lakshmi Narayan Tiwari**  
Librarian,  
Sarasvati Bhavana Library  
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,  
Varanasi.

Available at—  
**Sales Department**  
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,  
Varanasi-221002. ( India )

First Edition—500 Copies.  
Price : Rs. 120.00

Printed by :  
Mahavir Press  
Bhelupur, Varanasi

पुस्तकालय-दुर्लभग्रन्थ-प्रकाशन-योजना : षष्ठं पुष्पम्

# सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्योपेता

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलपति-

डॉ० गौरीनाथशास्त्रिविरचित-

प्रस्तावनया समलङ्घिता



सम्पादकः

व्रजवल्लभद्विवेदः

विभागाध्यक्ष आचार्यश्च

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागे

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणस्याम्

२०३९ वैक्रमाब्दे

१९०४ शकाब्दे

१९८२ ख्रैस्ताब्दे

प्रकाशकः—  
लक्ष्मीनारायण तिवारी,  
सरस्वतीभवनपुस्तकालयाध्यक्षः  
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः  
वाराणसी

[ सरस्वतीभवनपुस्तकालयस्य दुर्लभग्रन्थप्रकाशनसम्बन्धिविशेषयोजनात्तर्गतं  
विश्वविद्यालयानुदानायोगतः प्राप्तेन वित्तीयसाहाय्येन प्रकाशिता ]

प्राप्तिस्थानम्—  
प्रकाशनविभागः  
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः  
वाराणसी-२२१००२

प्रथमं संस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि  
मूल्यम् : १२०-०० रुप्यकाणि

मुद्रकः—  
महावीर प्रेस,  
मेलूपुर, वाराणसी ।

## **Foreword**

A Scheme for the publication of rare texts and invaluable manuscripts by the University's Sarasvati Bhavana Library was submitted to the University Grants Commission, under the Fifth Five Year Plan. Although the Visiting Committee, appointed by the U G C, took sometime to examine the proposal, the U G C did realise its importance and accorded necessary sanction, for which acknowledgement is gratefully made.

This edition of the *Sātvata Saṁhitā* with commentary, edited by Shri Vraja Vallabha Dwivedi, is presented under the aforementioned scheme under the care of Shri Lashmi Narayan Tiwari, Librarian of the Sarasvati Bhavan Library.

The editor has prepared a critical edition of the *Saṁhitā* text with the help of five manuscripts and the commentary with the help of three manuscripts, and by adding several appendices at the end.

An attempt has been made in the Introduction to dispel the doubts raised by the Western scholars regarding the form and antiquity of the *Sātvata Saṁhitā*. It has been established that among the available *Saṁhitās* of the *Pāñcarātra* (Vaiṣṇava) *Āgama*, this is the oldest. Besides, examining the time and place etc. of the commentator Alasiṅga Bhaṭṭa, relevant research materials on the authors and the works referred in the commentary have been provided.

The scholars have so far studied the *Pāñcarātra* philosophy as expounded in the *Ahirbudhnya Saṁhita*, *Jayākhyā Saṁhitā* and *Lakṣmi Tantra*. It has been more or less taken for granted that in the *Sātvata Saṁhitā* there is nothing on philosophy and Yoga. To dispel this wrong notion, the learned editor has discussed at length the philosophy and Yoga expounded in this *Saṁhitā*. Here the three-fold form of Parabrahman has been described. This has been the basic position of the later Vaiṣṇava philosophy. It is only here that for the first time the description of the 39 forms of Vibhava Devatās has been given. The other *Saṁhitās* have followed it. In "Lokanāthaś tu sāntātmā" (9/81), only one Vibhava Devatā is described. But, to complete the number 39 of the Vibhava Devatās Lokanātha and Sāntātmā have been considered as two separate Devatās. This errone-

( २ )

ous conception persisting in the *Pāñcarātra Āgama* has also been dispelled here. In fact, by accommodating Viśākhayūpa in the list, according to the method employed by the commentator, this number is completed.

In chapters IX and X of the present *Saṁhitā*, there is a description of 24 Bhavopakaraṇa Devatās and ten Siddhas. These are the Maṇḍala Devatās. The names of Upendra, Duratikrama etc. of the ten Siddhas are listed in *Viśṇusahasranāma*. On this the commentaries by Ācārya Śaṅkara and Parāśara Bhaṭṭa are available. But, in the explanation of these names this subject of the *Sātvata Saṁhitā* is nowhere mentioned. As a matter of fact, *Viśṇusahasranāma* cannot be properly explained without the aid of *Sātvata Saṁhitā*.

It has been clearly explained as to how a man well-versed in Śabdabrahman becomes Parabrahman. The *Sātvata Saṁhitā* has its own special method of Yoga, and the *Samaya* rules described in the context of *dīkṣā* ( initiation ) have a great importance for the good of society. In his introduction Shri Dwivedi has thrown light on these points.

In the publication of these works, the University Grants Commission has not only given financial aid but has also co-operated and encouraged in various ways for which this University is deeply indebted.

15th August, 1982

**Gaurinath Sastri**

## प्रस्तावना

पञ्चम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय द्वारा दुर्लभ एवं हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन की एक महत्वपूर्ण योजना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के स्वीकृत्यर्थ प्रस्तुत की गई थी। यद्यपि आयोग द्वारा नियोजित विद्वानों का निरीक्षण मंडल कुछ विलम्ब से आया, लेकिन आयोग ने इस योजना के महत्व को स्वीकार करते हुए अपनी स्वीकृति प्रदान की, जिसके लिये आयोग धन्यवादार्ह है।

उक्त योजना के अन्तर्गत श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित सभाष्य सात्वतसंहिता का यह संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी, पुस्तकालयाध्यक्ष, सरस्वती भवन पुस्तकालय, ने इसके प्रकाशन की व्यवस्था में अपना अपूर्व योगदान दिया है।

सम्पादक ने मूल ग्रन्थ का पांच हस्तलेखों और भाष्य ग्रन्थ का तीन हस्तलेखों की सहायता से संशोधन किया है और अन्त में अनेक परिशिष्टों को जोड़कर इस संस्करण को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

सात्वतसंहिता की प्राचीनता और उसके स्वरूप के विषय में उठाये गये पाश्चात्य विद्वानों के आक्षेपों का यहां उपोद्घात में सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि पाञ्चरात्र (वैष्णव) आगम की उपलब्ध संहिताओं में यही सबसे प्राचीन है। भाष्यकार अलशिङ्ग भट्ट के देश, काल आदि पर विचार करने के साथ ही यहां भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय में भी खोजपूर्ण सामग्री दी गई है।

अहिर्बुद्ध्यसंहिता, जयाख्यसंहिता और लक्ष्मीतन्त्र में प्रतिपादित पाञ्चरात्र दर्शन का ही विद्वानों ने अब तक अध्ययन किया है। सात्वतसंहिता में दर्शन अथवा योग विषयक सामग्री नहीं है, प्रायः ऐसा मान लिया गया है। इस भ्रान्ति के निवारण के लिये विद्वान् सम्पादक ने इस संहिता में प्रतिपादित दर्शन और योग का विस्तार से विवेचन किया है। परब्रह्म का त्रिविध स्वरूप यहीं वर्णित है। यहीं परवर्ती वैष्णव दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त रहा है। ३९ विभव देवताओं का तो सर्वप्रथम यहीं विस्तार से वर्णन मिलता है। अन्य संहिताओं ने भी इसी का अनुवर्तन किया है। “लोकनाथस्तु शान्तात्मा” (१।८।) यहां एक ही विभव देवता वर्णित है। किन्तु विभव

देवताओं की ३९ संख्या पूरी करने के लिये यहाँ लोकनाथ और शान्तात्मा अल्प-अलग देवता मान लिये गये हैं। पाञ्चरात्र आगम के अध्ययन में चली आ रही इस आत्मि का भी यहाँ निराकरण किया गया है। वस्तुतः भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित विधि से यहाँ विशाखपूर्ण का भी समावेश करने पर यह संख्या पूरी होती है।

प्रस्तुत संहिता के ९—१० परिच्छेदों में २४ भवोपकरण देवताओं और सिद्ध-दशक का वर्णन मिलता है। ये सब मण्डल देवता हैं। उपेन्द्र, दुरुतिक्रम इत्यादि सिद्ध-दशकों के नाम विष्णुसहस्रनाम में संगृहीत हैं। इस पर आचार्य शङ्कर और पराशर भट्ट विरचित भाष्य मिलते हैं। किन्तु उन नामों की व्याख्या के प्रसंग में सात्वतसंहिता के इस प्रकारण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः सात्वतसंहिता की सहायता के बिना विष्णुसहस्रनाम की सही व्याख्या हो ही नहीं सकती।

शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति कैसे परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, इस प्रक्रिया का यहाँ विशद विवेचन किया गया है। सात्वतसंहिता की अपनी विशिष्ट योगपद्धति है और दीक्षा के प्रसंग में वर्णित समय नामक नियमों का सामाजिक सुव्यवस्था के लिये बड़ा महत्व है। श्री द्विवेदी ने अपने विद्वत्तापूर्ण उपोद्घात में इन सब विषयों पर प्रकाश डालते हुए अन्त में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन में विश्वविद्यालय अनुदान भायोग ने केवल आर्थिक अनुदान ही नहीं दिया, प्रत्युत अन्य अनेक प्रकार से सहयोग एवं प्रोत्साहन भी दिया है, एतदर्थे विश्वविद्यालय हृदय से उसका आभारी है।

## उपोद्घातः

सात्वतं पौष्टरं जयारुद्यं चेति संहितात्रयं पाञ्चरात्रामासेषु रत्नत्रयनाम्ना प्रसिद्ध्यति । तेषु जयारुद्यसंहितायाः शोभनं संस्करणं वटोदर(बडोदा)स्थगायकवाङ्शोधसंस्थानतः प्रकाशितं समूपलभ्यते । सात्वतसंहितायाः पौष्टरसंहितायाश्च संस्करणे देवनागरीलिपिशुद्धिते त्रुटिपूर्णे विद्यते । शर्मण्य(जर्मन)देशीयेन विद्वुषा डा० श्रादरमहोदयेन अहिरुद्ध्यसंहिताया भूमिकायां (प० १३) पाद्यतन्त्रस्य, लक्ष्मीतन्त्रस्य, <sup>१</sup>सात्वतसंहितायाश्च नूतनानां परिमार्जितानां संस्करणानां प्रकाशनावश्यकता प्रदर्शिता आसीत् । तेषु लक्ष्मीतन्त्रस्य शोभनं संस्करणम् अड्यारपुस्तकालयत एव १९५९ ई० वर्षे प्रकाशितचरम् । साम्रतं पाद्यतन्त्रस्यापि देवनागर-संस्करणं शोभनं मुद्रयमाणमास्ते । इदं च सात्वतसंहितायाः संस्करणम् अलशिङ्गभट्टेन विद्वुषा विरचितेन भाष्येण सहितं समूपस्थाप्यते वैष्णवागमानुशीलनस्वीनां सुवीनां पुरतः ।

### संस्करणे उपयुक्तानां मातृकाणां परिचयः

तदेतस्य संस्करणस्य सज्जीकरणाय मूलग्रन्थस्य मुद्रितपुस्तकातिरिक्तं मातृकापञ्चकम् भाष्यग्रन्थस्य च मातृकात्रयमुपयुक्तम् । तदर्थं वर्तते तासां मातृकाणां परिचयः—

#### मूलग्रन्थस्य

वक०—वटोदरस्थगायकवाङ्शोधसंस्थानमातृका १३१०३ संख्याका, १५७ पत्रात्मिका सम्पूर्णा, तालपत्रेषु ग्रन्थाक्षरैर्लिखिता ।

वस०—वटोदरस्थगायकवाङ्शोधसंस्थानमातृका ६६५१ संख्याका, १०८ पत्रात्मिका सम्पूर्णा, तालपत्रेषु ग्रन्थाक्षरैर्लिखिता ।

अ०—मद्रपुरीस्थ(मद्रास)अड्यारपुस्तकालयमातृका ६२१६८/TR १० K ७ दे ५३८ (१११८.१) इति संकेतिता सम्पूर्णा, तूलपत्रेषु देवनागराक्षरैर्लिखिता ।

१. सात्वतसंहिताया नूतनपरिमार्जितसंस्करणस्यावश्यकता डा० डेनियलस्मिथमहोदयेनाप्य-  
नुभूता (ए डिस्किप्टर बिल्डिंगोग्रामी आफ दी प्रिएड टेक्टस आफ दी पाञ्चरात्रागम,  
भा० १, प० ५३४) । पौष्टरसंहिताया विषयेऽपि तेन तथैवोक्तम् (तत्रैव, प० २९५) ।  
विरत्नेष्वेकतमायाः श्रीरङ्गक्षेत्रे मानितायाश्चास्याः संहिताया अद्यापि शोभनं संस्करणं  
नाभूदिति खेदावहोऽयं विषयः । पारमेश्वरसंहिता-पराशारभट्टकृतविष्णुसहवनामभाष्यादि-  
विविध-ग्रन्थसाहाय्येन कार्यमेतत्सम्पादयितुं शब्दयते । यथाहि—“केशवः क्लेशहा लोके  
द्वैरूप्येण क्षितौ स्थितः । मथुराराघ्ये महाक्षेत्रे वाराणस्यामपि द्विज ॥” इत्यत्रत्य उत्तरार्थः  
पौष्टरसंहितायां ग्रन्थस्य त्रुटित्वान्न दृश्यते (३६।३०६) । वाराणस्यां स्मृतः केशवोऽ-  
यमादिकेशवादभिन्नः स्यात् । कृष्णमित्रेण प्रबोधचन्द्रोदयनाटके वाराणसीवसतेरादिकेशव-  
स्यायतनमेवं वर्ण्यते—“पश्य पश्य । तदिदं सुरसरित्परिसरालङ्कारम् तं भगवतः पावनमनादे-  
रादिकेशवस्य विष्णोरायतनम्” (प० १६१) इति ।

अटी०—मद्रपुरीस्थ-अड्डारपुस्तकालयभाष्यमातृका मूलोपेता, T.R. ५१५ १-३ ४० A २० ग्र० ३९८ इति संकेतिता ।

उ०—उद्यपुरस्थसाहित्यसंस्थानमातृका २०० संख्याका, १-८६ पत्रात्मिका सम्पूर्णा, १४" X ७" आकारात्मिका, तूलपत्रेषु देवनागराक्षरैलिखिता । अत्र प्रतिपृष्ठं १४ पड़क्तयः, प्रतिपड़क्तिं च प्रायः ४५ अक्षराणि विराजन्ते । श्लोकसंख्या ३५००, लिपिकालश्च संवत् १८१८ इति तिर्दिष्टः । अत्र ग्रन्थस्य संक्षिप्ता “विषयसूची दृश्यते । ब्राह्मणगोपीरामेण लिखितेयं मातृका । मुख्यपृष्ठे “पत्र ५१ थी अध्याय एक त्रुटो छे” इति लेखदर्शनालिपिकारः कश्चन गुर्जर इति प्रतीयते । अत्र “नारद पंचरात्र सात्वतसंहिता” इति ग्रन्थस्य नाम दृश्यते ।

#### भाष्यग्रन्थस्य

अ०—मद्रपुरीस्थ-अड्डारपुस्तकालयमातृका T.R. ५६५ १-३ ४० A २० ग्र० ३९८ इति संकेतिता । अत्र भाष्येण सह मूलसंहितायाः सर्वे श्लोका अपि यथायथमानुपूर्व्या लिखिताः सन्ति ।

म०—मद्रपुरीस्थराजकीयपुस्तकालय (मद्रास गवर्नर्मेट लाइब्रेरी) मातृका R. २२७५ संख्याका सम्पूर्णा । अस्याः सरस्वतीभवनस्था १०६९०८ संख्याका १९६९ ई० वर्षीया देवनागराक्षरा प्रतिलिपिः “सात्वततन्त्रभाष्यम्” इति नाम्ना तन्त्रविभागे २६/११० क्रम-संख्यां स्थापिता । अत्र पृष्ठसंख्या ३५१ परिमिता, प्रतिपृष्ठं पड़क्तयः २०, प्रतिपड़क्तिं अक्षराणि च १६ विद्यते । आकारश्चास्याः १३.८" X ८.५" इति वर्तते ।

ति०—तिरुपतिस्थ-वेङ्कटेशवरशोधसंस्थानमातृका मूलोपेता, ३८६१ संख्याका सम्पूर्णा । तूलपत्रेषु ग्रन्थाक्षरैलिखिता ६८९ पृष्ठात्मिका । अत्र प्रतिपृष्ठं २४ पड़क्तयः, प्रतिपड़क्तिं च २० अक्षराणि राजन्ते ।

#### ग्रन्थसम्पादनशैली

मूलसंहिताग्रन्थस्य संस्काराय काञ्चीनगरस्थसुदर्शनमुद्रणालयतः (सुदर्शन प्रेस, कांजी-वरम्) १९०३ ई० वर्षे देवनागराक्षरेषु मुद्रितस्य पुस्तकस्य प्रतिलिपिः प्रथमतो विहिता ।

तदनु यथायायं वटोदरस्थमातृकाद्वयतः, अड्डारपुस्तकातः, उद्यपुरस्थमातृकातश्च पाठाः संकलिताः । अड्डारपुस्तकालयस्थभाष्यमातृकायां मूलसंहितायाः श्लोका अप्यानुपूर्व्या संनिवेशिता आसन्निति सर्वान्ते तत्रत्याः पाठा अपि संगृहीताः । मुद्रिते पुस्तके शकारस्य स्थाने धकारः, धकारस्य स्थाने थकारो बाहुप्येन दृश्यते । एवमेव कोष्ठकेषु पाठमेदाः संनि-

१. प्रद्युम्नलक्षणम् । संकरणं लक्षणम् । पात्रस्थापनम् । स्नानासनम् । अनिकार्यम् । पितृ-पिण्डसंविभागः । नमस्कारविधिः । प्रद्युम्नादिसंहारन्यासः । पद्यासनलक्षणम् । चतु-मूर्तिद्वयानम् । द्वादशाब्दव्रतम् । ब्राह्मणादिवर्णनां द्राननियमव्रतम् । द्वादशाख्यव्रतम् । दामोदरव्रतम् । नारायणव्रतम् । षड्ङ्गव्रतहोमः । केशवादिवीजाक्षरम् । चतुर्मास्यव्रतम् । शक्तिभेदः । विभवदेवध्यानम् । पवित्रारोहणम् । पवित्रस्थापनम् । स्नानफलम् । अभिषेकविधिः । शिष्यलक्षणम् । धूपदोपनियमः । आचार्यलक्षणम् । मन्त्रोच्चारविधिः । प्रतिमालक्षणम् ।

वेशिताः ।<sup>१</sup> अनेके श्लोका अत्र परित्यक्ताः, द्वितीश्च श्लोका अत्रतया अन्यासु कास्वपि मातृकासु नोपलभ्यन्ते, केचन च विपर्यस्तक्रमा दृश्यन्ते । सर्वनितान् दोषान् परिहृत्य मूल-श्लोकानां परिशुद्धो भाष्यानुसारी पाठः प्रायो मूले स्थापितः, अन्ये च पाठभेदालिप्पणीपुं संनिवेशिताः । मूलग्रन्थे मातृकासु च दृष्टाः पदच्छेदानुस्वारपरसवणादीनां सामान्या अशुद्धयोऽत्र पाठभेदेभवनावशियका इति नैव संयोजिताः । विभिन्नमातृकाणामवधेयं वैशिष्ट्यं टिप्पणीपुं निर्दिशितम् । उदयपुरमातृकायाम् अडचारमातृकायां च प्रायः समानाः पाठा उपलभ्यन्ते । एवमेव मुद्रितप्रन्थस्य अटी०मातृकाया वाहुल्येन साम्यं दृश्यते । सात्वतसंहिताया अनेके श्लोका आनुपूर्वर्ण ईश्वरसंहितायां परमेश्वरसंहितायां चोपलभ्यन्ते । एतयोः साहाय्येनापि सात्वतसंहितायाः पाठः संशोधनीय आसीत् । तत्तु कर्तुं नापार्थतेति क्षन्तव्या वयम् ।

भाष्यप्रन्थस्य संस्काराय मातृकाद्वयमेव प्राधान्येन शाहायकमासीत् । ग्रन्थसम्पादन-वेलायां तिरपतिमातृकाया अनुपलभ्यात् प्रायः समूर्णस्य ग्रन्थस्य मुद्रणानन्तरमेव तदुपलब्धेतत्रत्या विशिष्टा मातृकाद्वयमान्याश्च पाठाः पञ्चमपञ्चयोः परिशिष्टयोः स्थापिताः । नित्यापोडशिकार्णवे समाप्तिता ग्रन्थसम्पादनशैली प्रायोऽत्र व्यादता । संदिग्धानि प्रायः सर्वाणि स्थलानि संशोध्यैवात्र स्थापितानि । मातृक्योऽप्यलब्धः संदिग्धः पाठः प्रश्नचिह्नेनाङ्क-यित्वा यथावदेव परित्यक्तः । उद्धरणानां स्थलनिर्देशे यथामति आयस्तम्, मूलस्थलपरिशुद्धाः पाठाश्चात्र मूले, पाठभेदास्तु मु० इति संकेतेन ग्रन्थाद्याकाशसंकेतेन वा टिप्पणीपुं संनिवेशिताः ।

तेलुगुप्रभृतिदक्षिणभारतीयलिप्यनमिज्जत्वाद्वा ग्रन्थस्यानुपलभ्यमाद्वा कगिञ्जलसंहितापाद्यसंहिता-आदित्यपुराणसदृशानां ग्रन्थानामुद्धरणस्थलनिर्देशो नात्र विहितः । ब्रह्माण्ड-पुराण-गारुडपुराण-भागवत-महाभारत-पारमेश्वरसंहितानाम्ना निर्दिष्टानि कानिचन वचनानि कृतेऽपि प्रयत्नं तेषु तेषु ग्रन्थेषु नोपलब्धानि, यद्यपि वेदान्तदेशिकप्रभृतिभिरपि३ सञ्चरित-

१. एतत्परिज्ञानार्थमत्र २९, १४८, १५३, १६९, २२४, २४०, २६६, २७४, २७४, २९७, ३३८, ४१०, ४१५, ४३८, ४४६, ४७६, ४७८, ५०२, ५०५, ५२३-५२५, ५२७, ५३३, ५४७ पृष्ठस्थालिप्पणोऽवलोकनीयाः । ५१० पृष्ठस्यं यातुधानेत्यादिकां पद्धतिचतुष्टयमपि सुद्रिते पुस्तके नास्ति । तप्ताम्यां शाङ्कचक्राम्यामित्यादिको मुद्रितपुस्तकस्यः (४१० पृष्ठस्था टिप्पणी द्रष्टव्या) श्लोको यदि प्रधिष्ठो न स्यात्तदाऽयं चक्राङ्कनादिसमर्थनावसरे (प० ३८४-३८६) भाष्यकारेणावश्यमेवोद्भृतः स्यात् ।

२. वेदान्तदेशिकसदृशचिद्भिर्गंगवतादिनाम्ना समुद्रूतानां वचनानां तेषु तेषु ग्रन्थेष्वनुपलभ्यस्तत्र साम्प्रदायिकं प्रभावं सूचयति । भस्मता ऊर्ध्वपुरुषकरणं सात्वतोक्तं समारोच्यते वेदान्तदेशिकेन सञ्चरितवरक्षायां (प० ६१) मूद्रैव वैष्णवः कुर्यादित्यादिसम्प्रदायवरक्षार्थम् । एवमेव स्वमत-प्रामाण्यप्रदर्शनाय तस्य वेदान्तुवतित्वव्यापनाय च प्रसिद्धेषु श्रुतिस्मृतिपुराणग्रन्थेषु स्वसम्प्रदायानुगुणानि वचनानि संनिवेश्यन्ते कल्प्यन्ते वा । समूर्णस्य भारतीयस्य वाह्मयस्य प्रामाण्ये समाने स्वीकृते तु दुष्प्रयत्नानामीदृशानामवसर एव न समाप्तेत् । तत्र परस्परं विरोधपरिहारपूर्वकं समन्वयः कालातीतानां विधीनां परित्यागश्चेति कार्यद्वयमेवावशिष्येत मनीषिणां मनीषानिकपर्णाय ।

रक्षा-पञ्चरात्र रक्षाप्रभृतिपु तानि तत्रत्यान्येव निर्दिष्टानि । “एवमेकदिनम्” (प० १४०-१४१) इत्यादयो वज्ञिवशेश्वरविरचिताह्मिककारिकाश्लोकः सच्चरित्ररक्षायां नोदाहृताः, अपि तु पञ्चरात्ररक्षायां (प० १७७) दृश्यन्ते । कुतोऽपि प्रयत्ने केषाङ्गन वचनानां स्थल-निर्देशो तैव कर्तुमपार्यत सम्पादनवेलायामिति तादृशानि वचनान्यत्र तृतीये परिशिष्टे संनिवेशितानि । एतेषु कानिचन पश्चाद्गुप्तव्यवेन स्पष्टेन स्थलनिर्देशेन, अन्यानि च संभावना-प्रदर्शनमुद्देश टिप्पणीपु समायोजितानि । तेषु च “करशुद्धिसमोपेतम्” (२।१०९) इति २। संख्याकमुद्धरणं पारमेश्वरसंहितायामेवोपलब्धम् । “गुरुदेवाग्निविशेषु पृष्ठभागं न दर्शयित्” (प० ५३१) इत्येतदत्तुकारः श्लोकः—“पश्चाद्भागेन तिर्गच्छेद् देवाग्निगुरुसन्निधौ” (६।३६९) इत्येवं पारमेश्वरसंहितायां दृश्यते ।

एवमेव संहिताया भाष्यस्य च पूर्वापरभागसूचकानां वाक्यानामपि स्थलनिर्देशे यथायथं विहितेऽपि कानिचन वाक्यानि तथा कर्तुं नापार्यन्त । यथा—‘गोमात्रातिलमात्रयोः कालभेदमत्रै वक्ष्यति’ (प० ८१) इति । एष च विषयः सात्वतसंहितायां ७।५०-५२ इत्यत्र प्रतिपादितो दृश्यते । अपरं वाक्यं वर्तते—“जयाख्यपारमेश्वरयोः परितः कुम्भानां केवल-कूर्चेष्वेव लोकपालार्चनमुक्तम्” (प० ९२) इति । एष च विषयो जयाख्यायाम् (१५।८४-८५), पारमेश्वरायां (७।७०) च दृश्यते । सहस्रनामभाष्ये (प० १८६) यद्यपि वेदविच्छब्दस्य वेदव्यासोऽयों न दृश्यते कुत्रापि, तथापि—“भगवान् हि वेदाचार्यः कृष्णद्वैपायनः परमाप्ततमः” (प० ३-४) इति हि तत्र दृश्यते । विम्बाचर्नप्रकरणं चात्रत्यः षष्ठः परिच्छेदे एव, तत्रैव भाष्योक्तदिशा मानसार्चनात् पूर्वं करशुद्धचारीनां प्रतिपादितत्वात् । एवमेव गणेशपदस्य विनायकोऽयों भाष्ये (प० २९१) निर्दिष्टो लक्ष्मीतन्त्रे (२०।५०), पारमेश्वरे (८।१५३), जयाख्यायौ च (२२।१) दृश्यते । चतुःस्थानार्चनशब्दोऽस्यां संहितायां भाष्येऽन्यासु च संहितामु प्रयुक्तो वर्तते । तत्य च व्याख्यानं सात्वतायामेव दृश्यते । तद्याया—

तीर्थमध्ये स्वहृत्पदे विम्बे वेदार्थं स्थले तु वा ।

वह्निगर्भे तु निर्धूमे नित्यमस्मिश्वत्तुष्टये ॥

मन्त्राणामर्चनं कुर्यात् सिद्धचर्थमपि मुक्तये ।

सजलाङ्गलिपूरस्तु तीर्थेऽथ हृदयम्बुजे ॥

भावनामृतजैर्भोगमूर्त्तरर्घ्यादिकैर्बहिः ।

३समित्सप्तकपूर्वैस्तु साज्यैर्वह्निगतं तिलैः ॥ इति<sup>३</sup> ।

१. जयाख्यायां प्रथमतो गणेशो विन्देशपदेनोक्तः । तथाहि तत्र सप्तमे पटले (३९-४७ श्लोकेषु) विच्छेशस्य मन्त्रो ध्यानं च वर्णितम्, अष्टमे (८९-९३ श्लोकेषु) गणेशवरस्य मुद्रा प्रदर्शिता । द्वार्तिशो च पटले (१-३६) विनायकपदेनैव तस्य मन्त्रसाधनप्रकारो मण्डलादिकं च वर्णते ।
२. “समित् सप्तकं समित्-पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज-चर-घृतानीत्यर्थः” (प० ९९) इति भाष्य-कारोऽलशङ्कभृः ।
३. सात्वतसंहिता (१०।४४-४७) द्रष्टव्या ।

एवं यथाकथचिच्छुपयुक्तेषु स्थलेज्वाकरस्थलनिर्देशः कृतः, अथापि वाक्यद्वयमधुताऽप्यवशिष्यते स्थलनिर्देशसंकाढ़ाक्षम् । तत्रथा—“षड्घवमोचनान्तस्यैव कर्मणो दीक्षाभिधेयत्वं ‘जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रादिषु’” (पृ० ४०५) इति, “अत एवेश्वरपारमेश्वरयोव्यपिकमन्त्रेणैवाचने उक्तेऽपि तत्त्वद्वयदेशस्थितमूर्तिध्यानमेव प्रतिपादितम्” (पृ० ४०९) इति च ।

तदेतेपास्मनिर्दिष्टस्थलानामुद्गरणानां वाक्यानां च स्थलनिर्देशमन्यासां वृटीनां परिमार्जनं च सूचयन्त्वति शास्त्रेषु कृतभूर्पिरिश्वमा विद्वान्सः प्रार्थयन्ते, येन हि भाविनि संस्करणे सर्वमेतत् संगृहीतं स्यात् ।

अथात् सात्वतसंहितायाः, भाष्यस्य, तदुद्गृह्यन्त्यग्रन्थकाराणां च विपर्ये किमप्युच्यते ।

### सात्वतसंहिता

“रत्नत्रयमिति प्रथितासु सात्वत-पौर्णकर-जयाख्याभिधानासु तिसृषु संहितास्वन्यतमेयं सात्वतसंहिता भगवतो वासुदेवस्य संकर्पणस्य च संवादरूपा ।……यामेवोदिश्य महाभारते कुरुपितामहो ज्ञानवृद्धो भीष्म एवं प्राह—

ब्राह्मणः क्षत्रियैर्वैश्यैः यूद्धैश्च कृतलक्षणैः ।

अर्चनीयश्च सेव्यश्च कीर्तनीयश्च सर्वदा ॥

सात्वतं विधिमास्याय गीतः संकर्पणेन यः ।

द्वापरस्य युगस्यान्तं आदौ कलियुगस्य च ॥”<sup>३</sup> इति ।

इति हि सात्वतसंहिताभूमिकाणां (पृ० १) तत्सम्पादकः श्रीमान् अनन्ताचार्यः प्रतिपादितवान् । डा० श्राद्धरमहोदयस्तन्नाङ्गीकरोति । “द्वापरवेलायाम्” (१।७।), “द्वापरस्यान्यंशे” (१।७।३), “प्राप्तं संकर्पणात्” (२।४) इत्यहिर्बुद्ध्यसंहितावचनैस्तत्राप्येतद् महाभारतवचनं संगमयितुं शक्यत इति स वदति । अपि च, संकर्पणं संहिताऽपि स्वतन्त्रा गमुपलम्यते, या हि वेदान्तदेशिकेन पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १।५) स्मृतेति । अत्रोच्यते—सात्वतसंहिता हि हलिना प्रार्थितेन भगवता क्रक्षपाणिना साक्षात् तस्मै समुपदिष्टा, तेन च सा लोके प्रचारितेत्यस्या एव प्राथान्यं मन्तव्यम् । अहिर्बुद्ध्यसंहिता तु न भगवता साक्षात् समुपदिष्टा, अपि तु संकर्पणादहिर्बुद्ध्येनोपलब्धा । अत्र (५।५।) सात्वतसंहिता स्मर्यत इति हि स्वयमेव स्वीकरोति डा० श्राद्धरमहोदयः<sup>४</sup> । सात्वतविधीनां सर्वाङ्गपूर्णं संक्षिप्तं<sup>५</sup> च विवेचनं सात्वतसंहितायां विहितम् । तेनापि तस्या एव प्राचीनत्वं वैशिष्ट्यं चापि स्याप्यते ।

१. जयाख्यायां पोड्ये पट्ठे, लक्ष्मीतन्त्रे चैकचत्वारिंशेऽद्याये दीक्षाविधानं वर्तते ।
२. अत्र भाष्ये (पृ० ६४, प० १६) पिञ्जुलेन पिञ्जीलेन—इति वा दृश्यते । पारमेश्वरे (२।८।३) तु पुञ्जील इति वर्तते । एष एव शुद्धः पाठः स्यात् ।
३. महाभारते भीष्मपर्वणि (६६।३९-४०) श्लोकद्वयमेतत् सूक्ष्मेण पाठविपर्ययेण सह दृश्यते ।
४. इष्टोऽवशत टू दि पाञ्चरात्र एषः दि अहिर्बुद्ध्यसंहिता, पृ० १५-१६ ।
५. तत्रैव, पृ० २० ।
६. “सर्वसंहितासारभूते श्रीसात्वते” (पृ० ४३), “भगवच्छास्त्रसारभूते श्रीसात्वते” (पृ० ७९)

इति सच्चरित्ररक्षायां वेदान्तदेशिकाचार्यः प्रतिपादयति ।

अपरं च, सात्वतसंहितायां (१।१३३) पौष्करं वाराहं प्राजापत्यं (ब्राह्म) चेति संहितात्रयं स्मर्यते इति स वदति<sup>१</sup> । तदपि न साधु । अयं हि वर्तते तत्रत्यः पाठः—

यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः ।

पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते ॥२

एवं चात्र त्रिविधः सर्गः प्रतिपादितः, न तु संहितात्रयम् । एष त्रिविधः सर्गो भागवतो-द्वरणपुरस्सरमत्र व्याख्यातः श्रीमताऽलशिङ्गभट्टेन (पृ० १९८-१९९) । तथा च प्राचीनसंहिताकालक्रमनिर्धारणवेलायां<sup>३</sup> स्थापितमेतन्नामत्रयमलोकप्रायमिति सात्वतसंहितैव प्राचीनतमा सिद्ध्यति ।

किञ्च, स्पन्दप्रदीपिकाकारेण उत्पलवैष्णवेन स्मृता श्रीसात्वता न कस्यचन ग्रन्थस्य नाम, अपि तु “श्रीसात्वता:”<sup>४</sup> इति तन्निर्देशेन सात्वतसम्प्रदायात्यायिनस्तदर्थं इति तस्याभिप्रेतम् । तदपि न विचारचाह । उत्पलवैष्णवेन हि श्रीकालपरा, श्रीपौष्करा, श्रीवैद्यायसी—इत्येतेषु<sup>५</sup> स्थलेषु यथा तत्तन्नामिकाः संहिताः स्मृताः, तथैवाऽत्रापि ‘श्रीसात्वता’ इति पदेन सात्वतसंहितैव स्मर्यते । ‘श्रीसात्वता:’ इति पाठस्तत्र नास्त्येव । स्पन्दप्रदीपिकायां तस्मिन् प्रकरणे द्वौ श्लोकौ ‘समुद्घृतौ’ । तयोः प्रथमः सात्वतसंहितायां (१।१२८) स्वल्पेन पाठभेदेन सह समुपलभ्यते । द्वितीयः श्लोकस्तत्र न दृश्यते । एष च श्लोकः सात्वताया एव, अन्यस्य वा कस्यचन ग्रन्थस्येति साम्प्रतं वक्तुं न शक्यते । तथापि सात्वतायाः प्रथमश्लोकस्य सात्वतसंहितायां समुपलभ्यात् स्पन्दप्रदीपिकाकारेण उत्पलवैष्णवेन रत्नत्रयनाम्ना प्रसिद्धं संहितात्रयमपि स्वकीये<sup>६</sup> ग्रन्थे स्मृतमिति स्पष्टं वक्तुं शक्यते ।

संहितास्वेतामु सात्वतं पौष्करं जयार्थं चेति क्रमः<sup>८</sup> संदृश्यते । क्रमेणानेनापि सात्वतैव प्राचीनतमेति सिद्ध्यति । “तन्त्राणि सात्वतादीनि” (१।६४) इति पारमेश्वरवचनमपि सात्वतसंहिताया एव प्राथम्यं प्रकटयति । स्थूणानिखननन्यायेन तदेतस्य विषयस्य दाढ्यर्थं पुनरत्रो-

१. तत्रैव, पृ० २०; डा० एच० डेनियलस्मिथमहोदयोऽप्येवेवाह (ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी आफ दि पाञ्चरात्रागम, भा० १, पृ० ५३५) ।
२. सात्वतसंहिता (१।१३२-१३३) तत्रत्यं भाष्यं च द्रष्टव्यम् ।
३. तत्रैव, पृ० २० ।
४. तत्रैव, पृ० १८ ।
५. स्पन्दप्रदीपिका (पृ० १०९, ८५, १०९) द्रष्टव्या ।
६. तथा च श्रीसात्वता—“अज्ञता व्यापकत्वं च सुखदुःखादिवेदनम् । सर्वज्ञस्याऽत्मतत्त्वस्य कर्मचक्रवलम्बनात् ॥ गतिस्त्वेषा प्रकृत्याख्या शुद्धिः प्राक्कर्मवासना । मायाऽविद्या अमो मोहोऽज्ञानं भलमिति क्वचित् ॥” (पृ० ९८) इति ।
७. स्पन्दप्रदीपिकायां सात्वता (पृ० ९८), पौष्करा (पृ० ८५), जयार्थ्या च (पृ० ८९, ९१, ११०, १२७) पृष्ठेषु स्मर्यन्ते ।
८. ईश्वरसंहिता (१।६४) द्रष्टव्या ।

च्यते—सात्वतायां विभवदेवानां नामानि ध्यानानि च निर्दिष्टानि, पौष्करायां (३६ अध्याये) तेषामवतारस्थलान्यपि वर्णितानि । तेन पौष्करसंहिता सात्वतसंहिताया न्यूनतामेनां पूरयन्तीव दृश्यते । “सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्” (११२५) इति सात्वतवचनं जयाख्यायामपि (४।६३) दृश्यते स्वल्पेन पाठभेदेन सह । तदेतद्वचनं तत्रैव (४।७६-८२) साद्देहः षड्भिः श्लोकैवितत्य विवृतम् । एवमेव “अकाराद्यो विसर्गन्तः सौरश्चान्द्रः कलागणः” (२।१७) इति सात्वतवचनं जयाख्या (६।१३-१७) सार्वेश्चतुर्भिः श्लोकैः स्पष्टयति । एवं सात्वतश्लोकान् व्याकुर्वती जयाख्या सात्वतातः पश्चात्तनीत्यनुभातुं शक्यते । सात्वतविवरणात्मकान्यन्यान्यपि प्रकरणानि पौष्करायां जयाख्यायां च दृश्यन्ते । तानि च यथायथमत्र मूले टिप्पणीषु च निर्देश्यन्ते । तेन पौष्करजयाख्ये सात्वताया उपबृंहिके इति वयं भणामः ।

किञ्च, पातञ्जले महाभाष्ये—“अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्” (३।३।११) इत्येवं स्मृता प्राचीना मध्यमिका नगरी साम्प्रतं राजस्थानराज्ये चिन्तौड़िदुर्गं निकषा घोसुण्डीनाम्ना प्रसिद्धा । अत्रासीन्नारायणवाटिका संशिलाप्राकारा कदाचित्, या हि पाराशरि-पुत्रेण गाजायनेन वासुदेवसंकर्षणाभ्यां समर्पिता । सात्वतायाम्—“यः सप्राकारमारामं सम्प्रयच्छति वै विभोः । नानापुष्पफलोपेतं वापीदुमसमाकुलम् ॥ साब्जतोयाशयोपेतं मारखङ्ग-समन्वितम् । स नन्दनवने भोगान् भुक्त्वा यात्यच्युतलयम् ॥” (२५।३६६-३६७) इत्येवं फल-श्रुतिपूर्वकं तत्समर्पणं निर्दिष्टम् । घोसुण्डीशिलालेखेन सात्वतोक्तस्यास्य विधानस्य प्राचीनता सुतरां सिद्ध्यति ।

एवमैतिहासिकदृष्टया पर्यालोकेन कृते सात्वतसंहितैव प्राचीनतमेदि सिद्ध्यति, तथापि साम्प्रदायिकानां सर्वस्वपि समान एव आदरो दरीदृश्यते । तथा चेश्वरसंहितायाम्—

एतत्तन्त्रत्रयोक्तेन विधिना यादवाच्चले ।  
श्रीरङ्गे हस्तिशैले च क्रमात् संपूज्यते हरिः ॥ (१।६७) इति ।

एवं च यादवाच्चले सात्वतविधिना, श्रीरङ्गे पौष्कराख्यया, हस्तिशैले च जयाख्यपद्धत्या हरिः संपूज्यत इति स्थानभेदेन सर्वासामेवाप्रतिहतं समानं च प्रामाण्यम् । कालपर्यात् सात्वत-निष्ठैरेश्वरसंहिता, पौष्करनिष्ठैः पारमेश्वरसंहिता, जयानिष्ठैश्च पाद्यसंहिता सबहुमान-मादृता । “सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे” (पृ० २१, ४११) इति, “पारमेश्वरे तु सुदर्शननारार्णसंहप्रकरणे (२।३।७२-७८) पौष्करोक्तत (३।१।४५-१६८)क्रमं विहायाऽहिर्वृद्ध्यसंहितोक्तरीत्या<sup>२</sup> केशवादीनां वर्णभेदा उक्ताः । तत्रापि तथा ध्यानं यन्त्रमात्रविषयम् । अन्यत्र पौष्करोक्तध्यानमेव सार्वत्रिकं ग्राह्यम्, पौष्करोपबृंहक्त्वात्” (पृ० १५२) इति च वदन् भाष्यकारोऽलशिङ्ग-भट्टोऽपि सात्वतोपबृंहिका ईश्वरसंहिता, पौष्करोपबृंहिका च पारमेश्वरसंहितेति स्पष्टं प्रतिपादयति । पाद्यसंहिताविषयेऽनेन किमपि नोक्तम्, तथापि “जयाख्येनाथं पाद्येन तन्त्रेण सहितेन वै”

१. “एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १०, परिशिष्ट पृ० २” इत्यत्र प्रकाशितमस्य शिलालेखस्य विवरणम् ।

२. अहिर्वृद्ध्यसंहितायामेष विषयः षड्भिशेऽध्याये ३३-४६ श्लोकेषु वर्तते ।

(११११) इति जयाख्योपवृंहिका पाद्मसंहितेति सिद्ध्यति । “सात्वतोपवृंहकलक्ष्मीतन्त्रविशद्म्” (पृ० ७१, २५५) इति वदन् स लक्ष्मीतन्त्रमपि सात्वतोपवृंहकं मनुते । अनुपदमेवोक्ते १५२ पृष्ठस्ये उद्घरणे पौष्ट्रनिष्ठानामहिर्बुद्ध्यक्रमेऽरुचिं प्रदर्शयन्, “जितन्तास्यमन्त्रव्याख्यानमहिर्बुद्ध्यसंहितायामुक्तम्” (पृ० १२८) इति वदंश्च स अहिर्बुद्ध्यसंहितामपि सात्वतोपवृंहिकामेव मनुते । पारमेश्वरसंहिता पौष्ट्ररोपवृंहिकेति तत्र तत्र तस्यां संहितायामपि हृदयते, तथापि भाष्यकारस्तामपि सात्वतोपवृंहिकां नैकेषु स्थलेषु (पृ० २४, ५९, ६१, ६९, ७९, ९६, ४३४) वदति । ईश्वरपारमेश्वरयोः समानानुपूर्वीकाः परःशतं श्लोकाश्च दरोद्दृश्यते । एवमेव—“सात्वतोपवृंहणे ईश्वरे” (७।१४७-१४९), “मुदर्शनावर्णनप्रकरणे जयाख्योक्तो भोगदानमन्त्रः संगृहीतः” (पृ० ३२), “पृष्ठताङ्गाद्यष्टविधसंस्कारा जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोः संगृहीताः” (पृ० ८७), “अन्ये षड्विधसंस्काराश्च जयाख्योक्ता ईश्वरतन्त्रे संगृहीताः” (पृ० ९३), “सुक्लुवाधिदेवतास्तन्मन्त्राश्च जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीताः” (पृ० ९४), “झापरिग्रहादिकं पौष्टके विस्तरेणोक्तमत्रापेक्षितम् । अत एवेश्वरतन्त्रे तत्संगृहीतम्” (पृ० ४७९) इति वदन् स सर्वासामासां संहितानां परस्परापेक्षितत्वं स्थापयति । अनुकृतमन्यतो प्राह्मिति हि न्यायोऽत्र प्रवर्तते । सर्वेषामेतेषां प्रकरणानां पर्यालोचनेनापि पौष्ट्ररजयाख्ययोः सात्वतोपवृंहकत्वमेवेति त्रिष्वयेतासु संहितासु सात्वतैव प्राचीना सिद्ध्यति ।

अपि च, “तृतीयं ऋषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैकमर्य कर्मणां यतः ॥”<sup>२</sup> (१।३।८) इति भागवतपद्मे नारदावताप्रसङ्गे सात्वततन्त्रं स्मर्यते । प्रायः सर्वे टीकाकाराः सात्वततन्त्रं पाठ्चरात्रशास्त्रमिति व्याकुर्वते । सात्वततन्त्रापराभिधा सात्वतसंहिता नारदेनैव ऋषिम्य उपदिष्टेति तस्या एवात्र परिग्रहो युक्त इत्येतेनापि सात्वतसंहिताया वैशिष्ट्यं राजतेतराम् ।

### भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टः

प्रतिपरिच्छेदसमाप्तौ—“श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दगृहाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन” इत्येवं स्वपरिच्छयं ददाति स्वयं भाष्यकारः ।

१. ईश्वरपारमेश्वरयोः समानानि भूयांसि वचनान्यत्र स्थलनिर्देशेन संयोजितानि । तेनैषा समानानुपूर्वी ज्ञानुं शक्यते । ईश्वरसंहिताव्याख्यानसम्पादकेन श्रीमता केऽबी० स्वामी नाथन्महोदयेन स्थलान्येतदृशानि सर्वाणि संगृहीतानीति नास्माभिरत्र प्रयासो विहितः ।
२. “क्रियायोगः सर्वे संसृतिहेतवः” इति भावार्थदीपिकाकारवंशीधरोदृतवचनानुसारं सर्वे क्रियायोगाः संसृतिहेतवो भवन्ति । किन्तु भागवतीयमिदं वचनं कर्मणामपि मोक्षप्रदत्वप्रतिपादकम् । तथा हि श्रीधरः—“कर्मणामेव मोक्षकत्वं यतो भवति तदाचष्टेत्यर्थः” इति भागवतीयमिदं वचनं व्याख्याति । “कर्मणां मोक्षसाधनत्वम्” इति पदरत्नावलीकारो विजयध्वजः । “भगवत्सेवापरत्वेन मोक्षकत्वमेव भवति” इति च गिरिधरो बालप्रबोधनीकारः ।

मङ्गलाचरणे च यादवशैलाप्रशेष्वरं योगानन्दनृसिंहाख्यं दैवतं तेन पर्याप्यते । यदुगिरियादिवशैलो वा साम्प्रतिके कणाटिकराज्ये 'मिलकोटे' इति नामा प्रसिद्धचति । यादवाच्छेषो भगवान् सात्वतोक्तिविधिना पूज्यत इत्युक्तमेव । एवं च सात्वततन्त्रभाष्यकारोऽयमलशिङ्गभट्टो यदुगिरीशचरणकमलार्चकत्वेन स्वात्मानं व्यापयति । मौञ्ज्यायनकुलतिलकोऽयं योगानन्दभट्टाचार्यस्य नृसिंहापरनामधेयस्य सुनुरित्यप्युक्ताम्बासुद्धरणाम्भ्यां सिद्धचति । 'मौञ्ज्यायनगोत्राय नृसिंहशम्भणे पुष्परूपिणे वित्रे इदं तिलोदकं ददामि' (पृ० १०५) इत्युक्त्यापि सोऽयमर्थः प्रसिद्धचति । इदमपि च जायते यदिदानीं भाष्यकारस्य पितृत्रीपनिवासिनोऽभूवन्निति ।

सात्वततन्त्रभाष्यातिरिक्तमलशिङ्गभट्टेन ईश्वरसंहिताव्याख्यानमपि व्यरचि । स्थलद्वये (पृ० १०८, २४८) तस्यात्र स्मरणात् सात्वतसंहिताभाष्यात् पूर्व तद्रचितम् । ईश्वरसंहिताव्याख्यानमध्यात्मकात् तेन स्वात्मपरिचयः विज्ञच्छिस्तरेण प्रदत्तः । तद्यथा—‘श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य भगवच्छास्त्रपारीणस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन श्रीयुगिरिनायक्यम्भूष्यम्बासुद्धरणेन नारायणसंयमीश्वरकटाक्षाभिवृद्धनोधेन ‘सरसकविशार्द्दलेन यदुकुलपयःपारावा रपूर्णनन्दश्चिकृण राजमार्वभैमाभामध्यगम्भागतश्वेतचलनोभयचामरादोलिकामुन्तसारमणिकुण्डलहेमोगवीतविद्वलयादनेकविहादावलिनाऽलिंगाङ्गभट्टेन विरचितायां सात्वतार्थप्रकाशिकायामीश्वरतन्त्रव्याख्यायां पञ्चविशोऽध्यायः ।

शालिवाहशकाददानां पट्पञ्चाशतसमुत्तरे ।

सरपतशतसाहस्रे गते मन्मधवत्तरे ॥

वृश्चिकाद्वनुपस्थानं द्वां गमिष्यति भास्करे ।

कृष्णाष्टम्यां भानुवारे दिवा प्रथमयामतः ॥

योगानन्दनृमिद्दम्य कृपापूर्णकटाक्षतः ।

सम्पूर्णेण खलु व्याख्या सात्वतार्थप्रकाशिका ॥’<sup>३</sup> इति ।

अनेनोद्धरणेन भाष्यकारस्य मातुर्गोद्धरण नामनी जायेने । ग सरसकविशार्द्दलः कृष्णराजसभायां लब्धसमादरश्चासीत् । तेन १७५६ शकाब्दे (१८३४ ई० वर्षे) सात्वतार्थप्रकाशिकाल्या ईश्वरसंहिताव्याख्या निर्दिष्टे दिने सम्पूरितेति च । एवं च नातीव प्राचीनोऽयं भाष्यकार इति सुधीर्भिर्विभावनीयम् ।

तूतनवृहत्सूची(न्यू कैटलागग कैटलागरम्, भा० १, पृ० ३००, मद्रास)दर्शनेत ज्ञायते यदनेन १८२८ ई० वर्षे यतिराजशतकम्, १८३६ ई० वर्षे च वच्चमुकुटीविलासचम्पूर्विरचिता, यतिराजविजयव्याख्या, सम्प्रदायप्रदीपिका चाप्यस्य कृती स्तः । सात्वतामृतसारोऽप्यतेन रचित इति अङ्गारपूस्तकाल्यमूचीतो<sup>४</sup> जायते । मद्रासराजकीयग्रन्थाल्यमूच्यामैपै

१. वच्चमुकुटीविलासचम्पूरनेन रनिनेति विशेषणस्यास्य मार्यकर्यं गिद्धचति ।

२. उद्धरणमेतद्समाभिरैश्वरयंहिताव्याख्यानस्य सम्पादितपाण्डुलिपितः श्री के० वी० स्वामीनाथनमहोदयनुभव्या संग्रहीतम् ।

३. अल्फाबेटिकल०, पृ० १४२ ।

४. अल्फाबेटिकल०, पृ० ८७३ ।

ग्रन्थस्तत्पितुयोर्गानन्दस्य कृतित्वेनोपन्यस्तः । एवं च सप्त षड् वा गन्था अनेन रचिता इति ज्ञेयम् । सात्वतसंहिताभाष्यमिदमस्य सर्वान्ते लिखितो ग्रन्थः प्रतीयते ।

**भाष्यकारः** स्वकीये भाष्ये कर्म-ज्ञान-भक्ति-प्रपत्तिनाम्नां चतुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां मध्ये प्रथमस्य कर्मयोगस्याभिगमनोपादानेज्यास्वाध्यायोगात्मककर्मविचारस्य, परब्यूहविभवात्मकब्रह्मविचारस्य च सावर्तम्येन विशदं स्वरूपमुपर्णितवानिति तदीयग्रन्थदर्शनेन बाढं सिद्ध्यति । भक्तिप्रपत्योरप्यनुषङ्गतोऽत्र वर्णनं विद्यते । निवृत्तिलक्षणः प्रवृत्तिलक्षणश्च धर्मो भवति । तत्र सात्वतो हि क्रियामार्गः “प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः” (३४७।८३) इत्येवं हि महाभारते नारायणीयोपाख्याने प्रतिपाद्यते । क्रियामार्गोऽयं ज्ञानस्य भक्तेश्च साहाय्येन प्रपत्तौ परिणमते, भोगमोक्षयोश्च सम्पादक इति हि एकान्तिनो भागवता मन्यन्ते । नारायणीयोपाख्याने, भगवद्गीतासु, सात्वतादिपाञ्चरात्रसंहितासु च तदेव वर्ण्यते इति सात्वतसंहिताव्याख्यानमुखेन भाष्यकारः सुष्ठु प्रतिपादयति ।

अलशिङ्गभट्टेन प्रसक्तयानुप्रसक्त्याऽन्येऽपि केचन महत्वपूर्णी विषया: समुपस्थापिताः । तथाहि प्रथमे परिच्छेदे तेन पर-ब्यूहविभवाख्यस्य विविधस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विष्णुसहस्रनाम-भाष्यकारपराशरभट्टाकपद्धत्या सुस्पष्टं विवेचितम्, लक्ष्मीतत्त्वनिर्दिष्टाचार्वतारस्य चात्रैवान्त-भर्ती निर्दिश्यतः । द्वितीये परिच्छेदे परमन्त्रविवरणावसरे षाङ्गुण्यं विविच्य परवासुदेवस्य शान्तोदिति-नित्योदिताख्यं दशाद्वयं गर्गकुलीनरामानुजीयमतसमालोचनपुरस्सरं साधु विवेचितम्, शब्दब्रह्मणः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुयाख्यपदचतुष्टयस्य च निष्कृष्टं स्वरूपमुपर्णितम् ।

षष्ठे परिच्छेदे स्वार्थर्चन-परार्थर्चनविषयो जपान्तमाराधनं होमान्तं वेति विषयश्च सम्प्रदायप्रदीपिका-क्रियादीप-नित्यग्रन्थादिसाहाय्येन समालोचितो विवेचितश्च । निवेदितनिवेदनाख्यो दोषः सवन्दनाभिषेकन्यायेन सच्चरित्ररक्षापद्धत्या परिहृतः । अस्मिन्नेव परिच्छेदे भाष्यकारेण विषमप्रणामनिषेध-अनुयाग-योगादयो विषया अपि विस्तरेण व्याख्याताः । अष्टमे परिच्छेदे नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणमूर्तौ न लक्ष्यत इति, द्वादशकलशात्मकं त्रयोदशकलशात्मकं वा स्तपनमिति शङ्खायाश्च समाधानं विहितम्, एकादशीप्रसङ्गेन पूर्णशब्दस्यार्थो विवेचितः; चातुर्मस्यव्रतविधिश्च सुगमावबोधाय प्रयोगरूपेण निरूपितः । नवमे परिच्छेदेऽष्टर्त्रिशद्विभवदेवानां पौष्करसंहिता-विष्वक्सेनसंहिता-तत्त्वत्रयव्याख्यानादिसाहाय्येन सुस्पष्टं स्वरूपमुन्मीलितम् ।

एकादशपरिच्छेदान्ते पञ्चविधकुण्डानां निर्माणप्रकारः सुखावबोधाय प्रयोगमुखेनाप्युपन्यस्तः । द्वादशो विभवदेवानां ध्यानानि पौष्करादिसाहाय्येन स्पष्टीकृतानि, वेदव्यासध्यान-प्रसङ्गेन परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखर्यात्मकस्य वाक्चतुष्टयस्य स्वरूपं विवृतम्, पञ्चप्राणात्मकस्य

१. “तान् सात्वते क्रियामार्गे मद्राक्याद् याहि योजय” (१।७) इति सात्वतवचनस्य अचावधि निवृत्तिपरायणान् मुनीन् सात्वतशास्त्रोदिते शुद्धे क्रियामार्गे प्रवृत्तिप्रवणे योजयेत्यभिप्रायो ज्ञेयः । क्रियामार्गोऽयं क्रियायोगपदेन पातञ्जलयोगसूत्रे व्याख्यातः—“तपःस्वाध्याये-श्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः” (२।१) इति । अयम्—“समाधिभावनार्थः क्लेशतनू-करणार्थश्च” (२।२) भवति । सात्वतप्रदर्शतोऽन्तर्यागः समाधिभावनयैव निष्पद्यत इति हि विभावनीयम् ।

सत्यादिवाहनपञ्चकस्य शक्तिसंघस्य च ध्यानादिकं व्याख्यातम् । सप्तदशे लयभोगाधिकारारूपस्य त्रिविधस्य यागस्य साकारत्वं निराकारत्वं च विवेचितम्, शान्तिकपौष्टिकादिप्रयोगाश्च संगृहीताः । सूतक-कारिप्रदानसदृशाः प्रासङ्गिका विषया अप्यत्र विवृताः सन्ति । एकोनर्विशेचकाङ्गमादयः संस्कारा आदित्यपुराण-सिद्धान्तचन्द्रिका-महाभारत-भारद्वाजेसंहितादिप्रामाण्येन विस्तरेण-व्याख्याताः, वण्डिविवेचनप्रसङ्गेन च पुनर्वागिवस्थाचतुष्टयं विविधपक्षप्रदर्शनपुरस्सरं विस्तरेण निर्दर्शितम् । विशेषं परिच्छेदे आचार्यस्यैवाभिषेकः सर्वेषां वा समयि-पुत्रक-साधक-आचार्याणामिति पक्षौ सात्वतजयाख्यप्रामाण्येन साधु विवेचितौ । एकर्विशेषे च प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थता प्राधान्येन प्रदर्शिता ।

प्रमुखानेतान् विषयानुपस्थापयन् संहिताश्लोकांश्च व्याकुर्वाणो भाष्यकारो विविधानां संहितानां समानार्थकानि तदुपवृक्षकाणि च वचनानि समुपस्थापयति । तदेतदस्य पाञ्चरात्रागमानां तलस्पर्शज्ञानस्य निर्दर्शनम् । पाञ्चरात्रसंहितानां प्राचीनानि भाष्याणि व्याख्यानानि वा नोपलभ्यन्ते । नहि भाष्यकारेण अलशङ्गभट्टेनापि पारमेश्वरव्याख्यानं विहायान्यत् किमपि संहिताव्याख्यानं भाष्यं वा स्मृतम् । पारमेश्वरव्याख्यानं चैतद् बहुशोऽत्र त्रुटिप्रदर्शनपुरस्सरं सयुक्तिकं खण्डघते । भाष्यकारोऽयं स्वग्रन्थे सात्वतप्रकरणव्याख्यानमुखेन विविधाः संहिताः, रामानुजवेदान्तदेशिकादिभिर्विरचितान् ग्रन्थान्, बकुलाभरणापरपर्यायिशठकोपादिभक्तानामुपदेशांश्च प्रमाणयन् प्रायो नवतिसंख्यापरिमितान् ग्रन्थान् ग्रन्थकारांश्च प्रमाणत्वेन स्मरतीति वर्तते किमपि वैशिष्ट्यमस्य भाष्यस्येत्यपि विदांकुर्वन्तु विद्वांसः ।

### भाष्योदधृता ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च

अत्र ग्रन्थकारेषु अमरपदेन अमरकोशकारोऽमरसिंहोऽभिप्रेतः, यस्य हि “अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्” इति व्याजस्तुर्ति सूचयन्त्या सूक्त्या कोशकारेषु महत्वातिशयः ख्याप्यते । गर्गकुलीनरामानुजः श्रीरङ्गराजस्तव-वरदराजस्तवयोव्याख्याता श्रीभाष्यकाराद् रामानुजाचार्यादि भिन्नः । <sup>१</sup>रङ्गराजस्तवः पराशरभट्टेन, वरदराजस्तवश्च श्रीवत्साङ्गमिश्रेण विरचित उपलभ्यते । वरदराजस्तवस्य व्याख्या रामानुजकृता R. ४६०६ बी० संख्याका मद्रासराजकीयपुस्तकालये वर्तते । रङ्गराजस्तवव्याख्या च वेङ्गटाचार्यशिष्यरामानुजकृताङ्गारपुस्तकालयसूच्यां<sup>२</sup> दृश्यते । इमे एवालशङ्गभट्टोद्धृते व्याख्याने स्याताम् ।

जैमिनिपदेन स्मृतिकर्ता जैमिनिरत्राभिप्रेयते धर्मशास्त्रनिबन्धेषु बहुधा स्मृतः, न तु मीमांसासूत्रकर्ता जैमिनिः । एतन्नामिका स्मृतिस्तु काचन साम्प्रतं नोपलभ्यते । विज्ञानेश्वर-माधवाचार्य-रघुनन्दनप्रभृतिभिर्धर्मशास्त्रनिबन्धकारैरयं स्मर्यते, मदनपारिजात-स्मृतिचन्द्रिका-प्रभृतिषु चास्य वचनानि दृश्यन्ते । दक्षपदेन दक्षस्मृतिकारो भाष्यकारस्याभिप्रेतः । दक्षस्मृतिश्च मुद्रिता वर्तते । अत्रत्यं वचनमपि तत्र दृश्यते । एष च दक्षः पाञ्चरात्ररक्षायामपि स्मृतः ।

१. द्रष्टव्यम्—वेदान्तदेशिक ए स्टडी, पृ० ११९-१२० ( डा० सत्यनार्तसिंह, वाराणसी, सन् १९५८ ) ।

२. अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट, पृ० १९१

निगमान्तदेशिकपदेन वेदान्ताचार्यपदेन चात्र सच्चरित्ररक्षा-पाञ्चरात्ररक्षादिपरश्शतग्रन्थकर्ता निगमागमपारदृश्वा उभयवेदान्तनिष्ठातो वेदान्तदेशिकाचार्योऽभिप्रेतः । नृसिंह इति योगानन्द इति च पदाभ्यां भाष्यकारः स्वपितरं स्मरति नमति च । पराशरपदेन विष्णुपुराणप्रवक्ता पराशरो मुनिप्रवरः, पैराशरभट्टारकपदेन च विष्णुसहस्रनामस्तोत्रव्याख्याता गुणरत्नकोशप्रभृतिस्तोत्रप्रवक्ता चाभिप्रेतः । अष्टाध्यायीव्याकरणप्रवक्ता पाणिनिमुनिस्तु प्रसिद्ध एव ।

ब्रह्मलाभरण इति तमिलभाषायां निबद्धस्य सहस्रगीत्याख्यस्य दिव्यप्रबन्धभागस्य रचयितुः शठकोपस्थैव नामान्तरम् । पराङ्मुखमुनिरिति नम्मालवार इति नाम्नाऽपि प्रसिद्धः सः । दक्षिणभारते तमिलभाषायां भगवतो नारायणस्य स्तुतिगायका आलवारपदवाच्या द्वादश मुनयः प्रथिततमाः, ये हि वैष्णवभक्तिमार्गस्य भारते देशे प्रथमे प्रवक्तारः सन्ति । चतुर्स्रसहस्रगायात्रम् एतेषां मुनीनां वचनानां संग्रहो दिव्यप्रबन्धनाम्ना तमिलवेद इति नाम्ना च प्रथते । वेदवदेव मान्यते दक्षिणभारतीयैवैष्णवैरच्यापि तमिलवेदोऽयम् । तेषु सहस्रगीतेः प्रवक्ता शठकोपमुनिरष्टम्यां नवम्यां वा शताब्द्यां स्वजनुषा भारतभुवं समलङ्घकारेयैतिहासिका मन्यन्ते<sup>३</sup> । भाष्यकारेण अलशिङ्गभट्टेन सात्वतसंहितायाः “गायेत्तु भगवद्गायाम्” (२१।२१) इति वचनं शठकोपार्चनपरम्, “विष्णुन्रतपरम्” (२१।२२) इति वचनं च शाण्डिल्यार्चनपरम् (पृ० ४२१) इत्युक्ततम् । प्राकृतभाषासु निबद्धानि पद्यानि गायाशब्देनाभिधीयन्ते । यदि सात्वतसंहितास्थगायापदेन शठकोपादीनां तमिलभाषामयानि पद्यान्यभिप्रेतानि स्युस्तदाऽस्याः संहितायाः समयो नातीव प्राचीनः स्यात्, यथा हि प्रतिपाद्यते महाभारतभीष्मपर्ववचनप्रामाण्येन । अत्र न शठकोपादीनां स्मरणम्, अपि तु ग्रामे ग्रामे नगरे नगरेऽटनशीलस्य भगवद्गायाम् (माहात्म्य)गायकस्य यस्य कस्यचन भगवद्भक्तस्य सामान्यतया ग्रहणं कर्तव्यमिति वक्तुं शक्यते, किन्त्वस्मिन्नेव प्रसङ्गे—“प्रबन्धप्रतिपन्नानां भक्तानामपि देहिनाम् । यो बोधभूमौ संरूपः”<sup>४</sup>(१२।९९) इति, “कोणेषु भगवद्भक्तनिचये<sup>५</sup> दोषनाशनम् । पूजयित्वा” (१७।२६।१) इति च वचनं सावधानं विमर्शपदबीमानेतव्यम् ।

भाष्यकार इति श्रीभाष्यकार इति च पदेनात्र सर्वत्र श्रीभाष्यकारो रामानुजाचार्यः परामृश्यते । श्रीभाष्यं नित्यग्रन्थ इति च ग्रन्थद्वयमत्र प्राधान्येन स्मर्यते । स्वनियाम्येति भाष्यकारवचनं नित्यग्रन्थे (पृ० १८२) दृश्यते । भोजराजस्च भाष्योद्धृतसच्चरित्ररक्षावचनानुसारं (पृ० २०९) प्रयोगपद्धतिरत्नावलीकारो वर्तते । पाञ्चरात्ररक्षायामव्येष स्मर्यते (पृ० ५, ५१,

१. पराशरभट्टस्य विस्तृतः परिचयः ‘वेदान्तदेशिक’ इत्याख्ये ग्रन्थे डा० सत्यवर्तसिंहविरचिते (पृ० १२०।१२२) द्रष्टव्यः ।
२. डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तविरचितो भारतीयदर्शनस्येतिहासः (हिस्ट्री आफ इण्डियन फिल्मसँकी, भा० ३, पृ० ६५) द्रष्टव्यः ।
३. विभवावतारेषु पारिजातहरस्य ध्यानमेतत् । पारिजातहरः श्रीकृष्णो भक्तकविभिः सक्रियेषं स्तूयते ।
४. भूतनिचयमिति पाठान्तरम् ।

(१३०)। अस्य तृतीयमुद्धरणं पञ्चपृष्ठात्मकं (पृ० १३०, १३४) वर्तते। उभाश्यामप्येताभ्यां ग्रन्थाभ्यां भोजराजोऽयं पाञ्चरात्रासंहितानुसारं स्वग्रन्थं जग्रन्थेति ज्ञायते। मनुयाज्ञवल्क्यौ प्रसिद्धौ स्मृतिकारौ स्तः। मनुयाज्ञवल्क्यवचनानामत्रोद्धृतानां विषये तास्ताष्टिप्पण्यस्तृतीयं परिशिष्टं चावलोकनीयानि। लोकाचार्यकृततत्त्वत्रयस्य व्याख्याता रम्यजामात्मुनिः प्रसिद्ध आचार्यो विद्यते रामानुजवेदान्तस्य। डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहोदयेनास्य समयः<sup>१</sup> ई० १३७०-१४४३ इति निर्दिष्टः। तत्रैवास्य महानुभावस्य परिचयोऽपि द्रष्टव्यः। नित्यार्चनप्रकरण-नित्यार्चनकारिका-उपरपर्यायाया आहिंककारिकायाः प्रणेता वज्ज्ञिवंशेद्वरो रामानुजाचार्यस्याव्यवहितशिष्यः श्रीरङ्गनारायणाचार्यनाम्नाऽपि प्रथित इति पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० ५२) वेदान्ताचार्य आह। तदनुसारं ह्यादशशताब्दीप्रारम्भेऽस्य स्थितिर्मन्तव्या। पाञ्चरात्ररक्षायां बहुधा स्मृतो नारायण-मुनिरस्य शिष्य इति “तद्गुरुभिर्वज्ज्ञिवंशेश्वरैः” (पृ० १५३) इति तत्रत्योक्त्या प्रतीयते। अपि च, तत्रैव—“तदुभ्यानुसारिभिर्नारायणमुनिभिः” (पृ० ५४) इत्युक्तवता वेदान्तदेशिकेन नारायणमुनिर्वज्ज्ञिवंशेश्वरं पराशरभट्टं चानुसरतीति सूच्यते। प्रमाणद्वयेनानेन नारायणमुनिर्वज्ज्ञिवंशेश्वरस्य शिष्य इति सुतरां सिद्धयते। शाण्डिल्यो महर्षिः पाञ्चरात्रशास्त्रस्य भक्तिशास्त्रस्य प्रवतको मन्यते। शाण्डिल्यस्मृतिरपि तन्नाम्ना प्रसिद्धा सुद्रितोपलभ्यते। अत्र स्थलद्वये (पृ० ११८, २८६) शाण्डिल्यस्मृतिरन्यत्र (पृ० ४२१) च विष्णुव्रतपरमित्यादिना विशेषणेन सह शाण्डिल्यो महर्षिः स्मर्यते।

अष्टाङ्गहृदयम्, आपस्तम्बधर्मसूत्रम्, कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीयसंहिता, तैत्तिरीयोपनिषद्, धातुपाठः, मण्डकोपनिषद्—इत्येते ग्रन्था अत्र नामपुरस्सरं नोपात्ताः, किन्त्वेषां वचनानि समुद्धृतानि सन्तीति द्वितीये परिशिष्टे सर्वेषामेतेषां मुद्रितग्रन्थानां नामानि स्थापितानि। नाम्ना समुद्धृतेषु ग्रन्थेषु अनिरुद्धसंहिता, अमरकोशः, अहिर्बुद्ध्यसंहिता, आगमप्रामाण्यम्, ईश्वरसंहिता(तन्त्रम्), कपिञ्जलसंहिता, गरुडपुराणम्, जयाख्यसंहिता, तत्त्वत्रयव्याख्यानम्, नित्यग्रन्थः, नित्याराधनप्रकरणम् (नित्यार्चनकारिका=आहिंककारिका), पाञ्चरात्ररक्षा, पाद्मसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, पौष्करसंहिता, प्रपन्नामृतम्, ब्रह्मसूत्रम्, ब्रह्माण्डपुराणम्, भगवद्गीता, भागवतपुराणम्, भारद्वाजसंहिता, मनुस्मृतिः, महाभारतम्, लक्ष्मीतन्त्रम्, विष्णुचित्तीयम् (विष्णुपुराणव्याख्यानम्), विष्णुपुराणम्, वैजयन्तीकोशः, श्रीबाष्यम्, सच्चरित्ररक्षा, सहस्रनामभाष्यम्, सात्वतसंहिता (तन्त्रम्=शास्त्रम्)—इत्येते मुद्रिताः समुपलभ्यन्ते।

१. भारतीयदर्शनेतिहासे (भा० ३, पृ० १३७-१३८) द्रष्टव्यम्।
२. पण्डित वे० अनन्ताचार्येण सम्यक् परिशोध्य मुद्रापिता, ई० १९४१ वर्षे वि० पेचमाल चेट्टि एण्ड संस शालाध्यक्षैः स्वकीये मदपुरीख्ये मुद्रालये संमुच्च प्रकाशिता।
३. वज्ज्ञिवंशेश्वरस्य परिचयः ‘वेदान्तदेशिक’ इत्याख्ये ग्रन्थे (पृ० १३५) द्रष्टव्यः।
४. पराशरभट्टः कञ्चन नारायणमुनिमद्वैतमतानुयायिनं श्रीवैष्णवसम्प्रदाये दीक्षितवानिति गुरुपरम्परातो ज्ञायत इति ‘वेदान्तदेशिक’ (पृ० १२०) इत्याख्ये ग्रन्थे दृश्यते। सच्चरित्ररक्षायां (पृ० १५) यादवप्रकाशानुयायी नारायणाचार्यस्तत्त्वनिर्णयकर्ता स्मर्यते। किमयमेव नारायणाचार्यः पराशरभट्टेन दीक्षितो नारायणमुनिर्बभूवेति परीक्षणीयोऽयं विषयः।

आचार्यहृदयं वरवरमुनिरित्यपराभिधानेन रम्यजामातृमुनिना स्वकीये तत्त्वत्रयव्याख्याने स्मृतम् । डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहोदये आचार्यहृदयस्य कर्ता वादिकेसरीत्यपराभिधानो वरिष्ठः सौम्यजामातृमुनिः पिलईलोकाचार्यस्य श्रातोति प्रतिपादयति । आदित्यपुराणविषये डा० आर० सी० हाजरामहोदयेन<sup>३</sup> किमपि विचारितम् । पुण्यपत्तन(पूना)स्थ-आनन्दाश्रमग्रन्थमालायां प्रकाशितात् सौरपुराणादेतदभिन्नं भिन्नं वेति परीक्षासामेक्षम् । मत्स्यपुराणे (५३।५९-६३) नारसिंह-नन्दि-शास्त्र-आदित्याख्यान्युपपुराणानि स्मर्यन्त इति प्राचीनताऽस्य बाढं सिद्ध्यति । आगमग्रामाण्ये (पृ० ९९) यामुनाचार्येण स्मृतमेतत् । भट्टपराशरेणापि विष्णुसहस्रनामभाष्ये विष्णुशब्दनिर्वचनावसरे समुद्धृतमेतत् । अन्यैरपि बहुभिः प्राचीनैर्ग्रन्थकरैरेतत् स्मर्यते । ईश्वर-संहिताव्याख्यानम् अलशिङ्गभट्टस्यैव कृतिः । सोऽयं ग्रन्थः श्रीमता के० वी० स्वामीनाथन्-महोदयेन सम्पादितस्त्रपतिनगरतः श्रीघ्रमेव प्राकाश्यमेव्यतीति संभाव्यते । एकायनमिति नाम्ना छान्दोग्योपनिषदि (७।१।२) स्मृता एकायनविद्या किंस्वरूपाऽसीदिति साम्प्रतं वक्तुं न शक्यते । उत्पलवैष्णवेन<sup>४</sup> पाञ्चरात्रश्रुतिः पाञ्चरात्रोपनिषदिति वा नाम्ना स्मृता सेति वर्तते विदुषामाशयः । सेयमेकायनश्रुतिरीश्वरसंहितादिव्यकायनवेदनाम्ना<sup>५</sup> स्मृता । कण्वशास्त्रामहिमसंग्रहकारेण<sup>६</sup> नागेशेन पाण्डुरङ्गपुरवास्तव्येन शुक्लयजुर्दीया काण्वशास्त्रैवेयमिति प्रतिपाद्यते । “काण्वां शास्त्रामधीयानां वौपायनकौशिकौ । प्रपत्तिशास्त्रनिष्ठातो” (१।१०९) इति, “शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिमौञ्जायनस्तथा ॥ इमौ च पञ्चवगोत्रस्था मुख्याः काण्वोमुपाश्रिताः । श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि ॥” (१।१५-११६) इति च वदन्ती जयाख्या तमिमं विषयं पोषयति । तस्या एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वततन्त्रमिति वर्तते भाष्यकारस्य स्पष्टो निर्देशः (पृ० १, ११) । सात्वततन्त्रमेतन्मूले (३।५) भाष्ये (पृ० ११) च त्रहोपनिषत्पत्तदेनाऽप्यमिधीयते ।

१. “यथा तत्त्वत्रयव्याख्याने बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपादितम् । विष्वक्सेन-संहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम् । उभयोरिक्तोः कल्पभेदेन परिहरणीय इति व्याख्या-तम्” (पृ० १८७) इति भाष्यकारो लिखति । तत्त्वत्रयव्याख्याने त्वेवं दृश्यते—“ननूपात्त-वचनेषु बुद्धमुनेरर्थवतारत्ववेनाभिधानं स्वेन ख्येणावतीर्णवानित्यस्मादाचार्यवचनैविशद्मिति चेन्न, कल्पभेदेन तथाभिधानोपपत्तेः” (पृ० ११०, द्वितीयं संस्करणम्) इति ।
२. भारतीयदर्शनस्येतिहासो (भा० ३, पृ० १३८) द्रष्टव्यः ।
३. ‘स्टडीज इन उपपुराणस्’ (कलकत्ता, सन् १९५८) इत्याख्यस्य ग्रन्थस्य प्रथमभागे तदग्रेऽङ्गिकानि पृष्ठान्यवलोकनीयानि ।
४. बम्बईनगरस्थलक्ष्मीवेंकटेश्वरप्रेसमुद्दिते संवत् १९५० संस्करणे ६६३ संख्याकविष्णुशब्द-निर्वचनावसरे (पृ० ५७६) द्रष्टव्यमेतदादित्यपुराणवचनम् ।
५. स्पन्दप्रदीपिकाग्रन्थस्य ८४, ११५ पृष्ठे द्रष्टव्ये ।
६. “एष एकायनो वेदः” (१।४३) ।
७. “इयं शुक्लयजुर्दीयाख्या प्रथमेत्यमिधीयते । मूलशास्त्रेति चाप्युक्ता तथा चैकायनीति च ॥” मद्रासराजकीयग्रन्थालयसूची (पृ० ३३००) द्रष्टव्या । अस्या मातृकायाः संख्या २३८९ वर्तते ।

क्रियादीपो नित्यार्चनविविपरः ७२। इलोकात्मको ग्रन्थः पराशरभट्टेन विरचितः । अन्याचार्याणां नियमग्रन्थैः सह सोऽर्जुं बंगलोरनगरतः १८९७ ई० वर्षे तेलुगुलिप्या प्रकाशित-चरः<sup>१</sup>। गुणरत्नकोशः पराशरभट्टस्यैव प्रकाशितः स्तोत्रग्रन्थः<sup>२</sup>। तदेतस्य स्तोत्रस्य व्याख्यानं केन कृतमिति तु न ज्ञायते । आफ्रेष्टवृहत्सूच्यां ( भा० १, पृ० १५५ ) कस्यचतु व्याख्यानस्योल्लेखो वर्तते । नूतनायां वृहत्सूच्यां त्वेतद्विषये किमपि नैव दृश्यते । पराशरोऽर्जुं श्रीवत्साङ्कमिश्रस्य शिष्य इर्ति पाञ्चरात्ररक्षातो ( पृ० ११ ) ज्ञायते । कूरेशापरपर्यायोऽर्जुं श्रीवत्साङ्कमिश्रः पराशरभट्टस्य जनक इति परम्परा ज्ञापयति । एष च विषयो विस्तरेण डा० सत्यव्रतसिंहमहोदयेन स्वग्रन्थे प्रतिपादितस्तत एवावलोकनीयः<sup>३</sup> । <sup>४</sup>चन्द्रिकाग्रन्थः सिद्धान्तचन्द्रिकातोऽभिन्नः प्रतीयते । न वयमस्य विषये किमपि वक्तुं प्रभवः । “दशनिर्णये चन्द्रिकायाम्” ( पृ० १६६ ) इति भाष्योवत्स्या दशनिर्णयचन्द्रिकाग्रन्थस्य प्रकरणविशेष इति ज्ञायते । नूतनायां वृहत्सूच्यां हारीत-गोत्रस्य रङ्गनाथसुतवेङ्गुटनाथवैदिकसार्वभौमस्य दशनिर्णयः कश्चन दृश्यते । दिव्यप्रबन्धविषये बकुलाभरणप्रसङ्गे किमप्युक्तमेव ।

निधण्टु-वैद्यकग्रन्थ-नैघण्टुकादिपदैरत्र प्राय ओषधीनामानां पर्यायसूचका निधण्टवो निर्दिष्टाः । कस्यचनैकस्यैव ग्रन्थस्यैतानि वचनाति भिन्नानां वा ग्रन्थानामित्यद्युनापि निर्णयसापेक्षम् । नित्यव्याख्यानमिति वेदान्तदेशिककृतेः पाञ्चरात्ररक्षायास्तृतीयाधिकारस्य पारम्परिकी संज्ञा । तत्र च भाष्यप्रदर्शितस्त्रिविदः प्राणायामस्य क्रमो नावलोक्यत इति ततो भिन्नमेवैतन्नित्यव्याख्यानमिति मन्तव्यम् । पारमेश्वरप्रयोगविषये किमपि न ज्ञायते । पारमेश्वर-व्याख्यानं ( विवृतिः ) नृसिंहयज्वना विरचितमत्र भाष्ये बहुधा खण्डश्चते । नृसिंहयुतेन श्रीनिवासेन पारमेश्वरसंहिताविवृतिपूष्टविषये एतेन तदेतत्युनः समर्थितम् । उभावपि ग्रन्थौ मातृकास्त्रेणोपलभ्येते<sup>५</sup> । प्रयोगपद्धतिरत्नावल्या: परिचयो भोजराजकृतित्वेन पूर्वं प्रदत्तः<sup>६</sup> ।

ब्रह्मसूक्तस्य महोपनिषददश्च विषये वेदान्तदेशिकसमयत एव विचादः प्रवर्तते । वेदान्त-देशिकेन हि सच्च इतिरक्षायाम्—‘अत्रापि ब्रह्मसूक्तपरमात्मसूक्ताभ्यां महोपनिषत्यठितमेकोन-विशेषितमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमेव परिगृहीतम्’<sup>७</sup>...एतेन महोपनिषदः कैश्चिदनुदाहृतत्वचोद्य-मपास्तम् । कति कति दृश्यन्ते भाष्यकारादिभिरनुपाता उपनिषदः । न केवलं भगवद्रामानुजमुनिभिरेव महोपनिषद्वुपाता, अपि तु तत्परमाचार्यैर्भगवद्यामुनिभिरपि पुरुषनिर्णये समुपात्ता । न चैवमेकसिद्धान्तनिष्ठैरेव तद्वुपादानम्, अपि तु तद्विरुद्धसन्मात्रव्रह्मभेदनिष्ठात्मैर्यादिवप्रकाशैरपि

१. नूतना वृहत्सूची द्रष्टव्या ( भा० ५, पृ० १३४ ) ।

२. वेदान्तदेशिक, पृ० १२० ।

३. तत्रैव, पृ० १२० ।

४. श्रीनिवासभविकृतस्य वैखानसमहिमपञ्जरीग्रन्थस्य मुन्दरराजभट्टाचार्यकृता दोका चन्द्रिकानामा प्रसिद्धविति । एतच्च नूतनायां वृहत्सूच्यां द्रष्टव्यम् ( भा० ६, पृ० ३७९ ) ।

५. अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ संस्कृत मैन्युस्टिट, अडचार, मद्रास सन् १९४४ इत्यत्र ७३ पृष्ठमवलोकनीयम् ।

६. आफ्रेष्टवृहत्सूच्यामस्य विषये कापि सूचना न दृश्यते ।

भगवद्गीताभाष्येऽष्टमेऽध्याये, तथा तन्मतानुयायिभिन्नरायणाचार्येरपि तत्त्वनिर्णये श्रुतितात्पर्य-निर्णयाधिकारे सोपबृहणनानाविधश्रुतिशिखरनिकरोदाहरणावसरे महोपनिषदाद्यान् “एक एव नारायणः” इत्यादिकांशचतुरो<sup>१</sup> मन्त्रानुदाहृत्य एषा चोपनिषत् … इत्यादिभिः पुराणैश्चोपबृहिते-द्युक्तम् । एवं खिलानामनाश्वसनीयत्वादिति जलिपतं प्रत्यक्तम्” (पृ० १४-१६) इत्याह । भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टोऽपि—‘एको ह नारायणः’ इत्याद्याः “य इमां महोपनिषदम्” इत्यन्ता-स्त्रयोर्विशतिमन्त्राश्च महोपनिषदगताः । तत्र “सहस्रशीर्षम्” इति प्रकम्य “य इमां महोपनि-षदम्” इत्यन्तमेकोन्निविशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमिति ज्ञेयम्” (पृ० ७४) इत्युक्तवान् । एतेन त्रयोर्विशतिमन्त्रात्मिका महोपनिषत्, तदन्तिमैकोन्निविशतिमन्त्रात्मकं च ब्रह्मसूक्तमिति सिद्ध्यति ।

अत्र भाष्यकारः पुनः शङ्कामुत्थापयति समाधते च—“ननु महोपनिषत्कोशेषु “सर्वस्य वशिनम्” इत्यादिमन्त्रा न दृश्यन्ते, कथं तेषां भोपनिषदन्तर्गतत्वमिति चेत्, सत्यम्, इयमाशङ्का तप्तमुद्रासमर्थनसिद्धान्तचन्द्रिकायां परिहृता । … अस्य मन्त्रस्य महोपनिषत्कोशेष्व-दर्शनात् कथं श्रुतित्वमिति चेन्न, चिरन्तनकोशेषूपलम्भात् । आधुनिककोशेष्वनुपलम्भश्च लेखक-दोषादिना नेयः । नायमेव मन्त्र आधुनिककोशेषु न दृश्यते, अपि तु सर्वस्य वशिनमित्यादिक-मष्टचं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यते । ब्रह्मसूक्ते चायं मन्त्रः श्रूयते । न च तावता श्रुतित्वमङ्गः, भगवच्छास्त्रेषु वहुषु प्रदेशेषु ब्रह्मसूक्तस्योपास्तत्वादिति । नन्वत्राष्टचं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यत इत्युक्तत्वात् सर्वस्य वशिनमित्याद्यष्टमन्त्राणामेव ब्रह्मसूक्तत्वं ज्ञायते । कथं भवता सहस्रशीर्ष-मित्याद्येकोन्निविशतिमन्त्राणामपि ब्रह्मसूक्तत्वमुक्तासिति चेदुच्यते, सच्चिरत्ररक्षामनुसृत्यास्मा-भिसूक्तम्” (पृ० ७४-७५) इति ।

<sup>१</sup>द्विविधा हि महोपनिषत् साम्प्रतिकेषु उपनिषत्संग्रहेषु दृश्यते । षड्ध्यायात्मिका प्रथमा, चतुर्कण्डिकात्मिका च द्वितीया । प्रथमायाः प्रथमोऽध्यायः, अपरा चोपनिषत् सम्पूर्णा प्रायः समानैव । तथापि द्वितीयोपनिषदेव वेदान्तदेशिकेन स्मृता स्यात् । तत्रैव हि ‘एक एव नारायणः’ इत्यादिकाश्चत्वारो मन्त्रा दृश्यन्ते । एवं च यादवप्रकाशनारायणाचार्याभ्यां स्मृता महोपनिषदेषैव स्यात् । अत्रेदमवधेयम्—चतुर्णां मन्त्राणामुदाहरणेन त्रयोर्विशतिमन्त्रात्मिका महोपनिषत् कथं सिद्ध्यते? खिलानां प्रामाण्यं तु बाढमनेन सिद्ध्यति । तच्च सर्वेऽङ्गीक्रियत एव । एवं च यादव-प्रकाशनारायणाचार्ययोः समक्षं चतुर्मन्त्रात्मिकैव महोपनिषदासीत्, या हि साम्प्रतमपि तथैवोप-लभ्यते । त्रयोर्विशतिमन्त्रात्मिका महोपनिषत्तु महोपनिषदाद्यांश्चतुरो मन्त्रान् महानारायणो-पनिषत्स्थानेकादश मन्त्रान्, सर्वस्य वशिनमित्यर्च च नूतनं ब्रह्मसूक्तं संयोज्य पश्चादाविभूतेति ।

सर्वस्य वशिनमित्यादिकमष्टचं ब्रह्मसूक्तं केषाङ्गचन मते । वेदान्तदेशिकमतानुसारिणः-लशिङ्गभट्टेन तु सहस्रशीर्षमित्याद्येकोन्निविशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तं मन्यते, त्रयोर्विशतिमन्त्रात्मिका

१. महोपनिषदि चत्वारो मन्त्रा दृश्यन्ते । अन्येऽपि सप्त मन्त्रा महानारायणोपनिषदि ( ११ खण्डे ) द्रष्टव्याः ।
२. उपनिषत्संग्रहस्य (मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९७०) प्रथमे संस्करणे ४२७-४५३ पृष्ठेषु प्रथमोपनिषत्, ६४९-६५० पृष्ठयोश्चापरा द्रष्टव्या ।

च महोपनिषत् । महोपनिषद्ग्रहसूक्तगतानामेतेषां त्रयोर्विशतिमन्त्राणां प्रतीकान्यत्रैव (पृ० ७२-७४) संगृहीतेषु ईश्वरसंहितापारमेश्वरसंहितावचनेषु द्रष्टव्यानि । अनयोः संहितयोः समानानुपूर्वीकाणि विस्तृतानि वचनान्युपलभ्यन्त इत्युक्तमेव । अनयोः कतरा प्राचीनेति विचारणीयोऽयं विषयः ।

पारमेश्वरसंहितायाम्—‘सात्वतं पौष्टकं चैव जयाख्यं च तथैव च ॥ एवमादीनि शास्त्राणि दिव्यार्नात्यवधारय । संहिता चेश्वरस्यापि भरद्वाजस्य संहिता ॥ सौमन्तवी तथा ह्येतत् पारमेश्वरसंज्ञितम् । वैहायसो संहिता च शास्त्रं चित्रशिखण्डिजम् ॥ तथा जयोत्तरं तत्र एव-मादीनि तत्त्वतः । सात्त्विकानि विजानीहि मुनिवाक्यानि सत्तम ॥ तन्त्रं सनत्कुमाराख्यं तथा पक्षोद्भवाभिघ्रम् । सत्यापि तेजोद्रविणं मायावैभविकं तथा ॥ इत्यादीन्यवगच्छ त्वं राजसान्येव तत्त्वतः । पञ्चप्रश्नं शुकप्रश्नं तत्त्वसागरसंहिता ॥ इत्यादीन्यवबुद्ध्यस्व तामसानि विशेषतः । पूर्वोक्तलक्षणेनैव ज्ञातव्यं तत्र पौरुषम् ॥’ (१०।३७६-३८२) इत्येवं दिव्य-मुनिभाषित-पौरुष-भेदेन भिन्ना बह्यतः संहिताः स्मृताः । अत्र मुनिभाषितसात्त्विकसंहितासु सर्वप्रथममोश्वरस्य संहिता परिगण्यते । तथा च पारमेश्वरत ईश्वरसंहितैव प्राचीनेति सिद्ध्यति ।

साम्प्रतं मुद्रिता चेयं संहिताऽर्वाचीनेति प्रतिपादयति जयाख्यसंहितासम्पादकः श्रीमान् कृष्णमाचार्यमहोदयः स्वकीयायां संस्कृतप्रस्तावनायाम् । तथा हि—‘इयं चेश्वरसंहिता अवर्चीना, अन्या च भगवद्यामुनाचार्येनारागमप्रामाण्ये<sup>१</sup> समुदाहृता । सा हि संहिता ईश्वरस्य तत्पुत्रस्य षष्ठ्युखस्य च संवादरूपा’ (पृ० ४९) इति । एवं चेश्वरसंहिताया वर्तमानं स्वरूपं यादवप्रकाश-नारायणाचार्ययोः समक्षं न स्यात्, ब्रह्मसूक्तमहोपनिषदोरीश्वरपारमेश्वरोक्तं स्वरूपं च पश्चादाविर्भूतं स्यादिति संभावयितुं शक्यते । किञ्च, सहस्रशीर्षमित्यादेकोन्विशतिमन्त्रात्मकस्य ब्रह्म-सूक्तस्य यत्स्वरूपमोश्वरपारमेश्वरयोदृश्यते, तेष्वेकादश मन्त्रा महानारायणोपनिषदि (११ खण्डे) दृश्यन्ते । उक्तायां द्विविधायामपि महोपनिषदि चैते सर्वे मन्त्रा न सन्ति । सर्वस्य वशिनमित्यादयोऽस्तौ मन्त्रात्मच मुद्रितोपनिषत्संग्रहेषु क्वापि नोपलभ्यन्त इति विभावनीयम् ।

मुनिभावप्रकाशिकाख्याया भागवतव्याख्याया विवरणं क्वापि न दृश्यते । तेन केनेयं रचिता कदा वेति किमपि ज्ञातुं न शक्यते<sup>२</sup> । रङ्गराजस्तव-वरदराजस्तवयोव्याख्यानविषयेऽपि गर्गकुलीनरामानुजप्रसङ्गे यदुक्तं ततोऽधिकं किमपि न ज्ञायते । विष्वक्सेनसंहिता साम्प्रतं मुद्रितो-पलभ्यते । परन्त्वत्र तत्त्वत्रयव्याख्यानवृत्तविष्वक्सेनसंहिताश्लोका नोपलभ्यन्त इत्यन्यैव सेति तर्कयति तत्सम्पादकोऽपि । “बद्ध्वा मूलादिकां मुद्रां देवोऽहमिति भावयेत्” इति वचनं कस्य संहितान्तरस्येत्यन्वेषणीयम् । समाराधनग्रन्थ इति नहि कस्यचन ग्रन्थस्य नाम, अपि तु सात्वत-संहितायाः सप्तदशः परिच्छेद एव तन्नाम्नाऽशाभिप्रेयते । भाष्यकारेणां लशः रङ्गभट्टेनात्रत्यो वाक्य-समूहः पाञ्चचात्ररक्षास्थ एव समुद्धृतः (पृ० २९६) । अत्र भाष्ये—“भवदुक्तसम्प्रदायप्रदी-

१. आगमप्रामाण्ये गायकवाङ्मोशसंस्थानसंस्करणे (ई० १९७६) १६३-१६४ पृष्ठयोः साधीः

पञ्च श्लोकाः समुद्धृताः । इमे च श्लोका मुद्रितायामोश्वरसंहितायां नोपलभ्यन्ते ।

२. सुदर्शनसूर्यकृतायां शुकपक्षीयव्याख्यायायां वीरराधवस्य भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां च मुनिभाव-प्रकाशिकासदृशानि कानिचन पदानि दृश्यन्ते । आनुपूर्वी तु क्वापि नोपलभ्यते । न च दृश्यतेऽस्या नाम आफेल्टवृहत्सूच्यामपि ।

पिकायाम्’ (पृ० १०८) इति वाक्यदर्शनेन सम्प्रदायप्रदीपिकेयमलशिङ्गभट्टस्यैव कृतिरिति ज्ञायते । सात्वतामृतमिति भाष्यकारस्य पित्रा योगानन्देन लिखितः पद्धतिग्रन्थः । सात्वतामृत-सारोऽपि तेनैव लिखितः<sup>२</sup> । अड्डाचारपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० १८७) स पारस्कर-गृह्यप्रयोगकर्तृत्वेनापि निर्दिष्टः । सिद्धान्तचन्द्रिका च चन्द्रिकातोऽभिन्नैव स्यात् । “तप्तमुद्दा-समर्थनसिद्धान्तचन्द्रिका” (पृ० ७४), “तप्तमुद्दाविद्रावणविद्राविणां सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्” (पृ० ३८३) इत्येवं स्थलद्वये सविशेषणं सादरं साऽन्त्र समर्थते । “सिद्धान्तचन्द्रिकायां तु दीक्षिता-नामित्यस्य मुमुक्षुपरत्वमुक्ततम् । तदसङ्गतम्, तन्त्रदीक्षाप्रवेशभिया तादृशार्थज्ञीकारात्” (पृ० ३८५), “एतेन सिद्धान्तचन्द्रिकायां दीक्षाशब्दस्य नियमपरिग्रहवाचित्वमुक्तं निरस्तं भवति” (पृ० ४०५) इति स्थलद्वये च सा खण्ड्यते । वैखानसाद्यागमोक्तदीक्षां प्राप्तो हि वैष्णवः” (पृ० ३८६) इति सिद्धान्तचन्द्रिकावचनस्याऽन्त्र दर्शनाद् वैखानसम्प्रदायस्यायां<sup>३</sup> ग्रन्थं इति ज्ञायते ।

### सात्वतीयं दर्शनम्

एवमत्र सात्वतसंहितायाः, भाष्यस्य, तदुद्घृतप्रग्रन्थकाराणां ग्रन्थानां च परिचयो यथोपलब्धो यथामिति समुपन्यस्तः । अथ सात्वतप्रतिपादितानां दर्शनयोगादिविषयाणां समा-लोचनं विधीयते । आगमग्रन्थेषु संहिताग्रन्थेषु च ज्ञान-योग-क्रिया-चर्यात्मकः पाद-

१. त्रूतना वृहत्सूची (भा० १, पृ० ३००) तमेन विषयं समर्थयति, तत्रालशिङ्गभट्टरचितग्रन्थेषु हि सम्प्रदायप्रदीपिकाया अपि नाम दृश्यते ।
२. मद्रासराजकीयपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० ८७७) योगानन्दकृतित्वेन, अड्डाचार-पुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० १४२) चालशिङ्गभट्टकृतित्वेन निर्दिष्टोऽयं ग्रन्थः ।
३. मद्रासराजकीयपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० ८९१) वेदान्ताचार्यकृता काचन सिद्धान्तचन्द्रिकादृश्यते । वैखानसमहिममञ्जरीप्रग्रन्थस्य सुन्दरराजभट्टाचार्यकृतायाशचन्द्रिकादीकाया उल्लेखः पूर्वं कृत एव । अनयोर्ग्रन्थयोः प्रस्तुतया सिद्धान्तचन्द्रिकया संबन्धो गवेषणीयः ।
४. “पशुपाशपतज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते । षड्डध्युद्धिर्विधिना गुर्वधीना क्रियोच्यते ॥। वर्णश्रम-प्रयुक्तस्य मयैव विहितस्य च । ममार्चनादिधर्मस्य चर्या चर्येति कथ्यते ॥। मदुक्तेनैव मार्गेण मथ्यवस्थितत्वेतसः । वृत्यन्तरनिरोधो हि योग इत्यभिधीयते ॥” (७।२।१०।३१-३३) इत्येवं शिवपुराणे तेषां लक्षणानि दृश्यन्ते, “विवेको यत्र तत्त्वानां कार्यकारणभेदतः । यथावदुचितं वस्तु हेयं चौपत्र्यर्थते ॥। विद्यापादः स विज्ञेयः” (२।८-९), “मुद्रामण्डल-मन्त्राणां लक्षणं साधकात्मनाम् । आचार्याणां च “क्रियापादः स विज्ञेयः” (२।१०-११), “यत्रोपायो विरक्तानां षड्ङ्गः सुमहात्मनाम् ॥। रागिणामपि भोगार्थं योगपादः स उच्यते ।” (२।११-१२), “समयाचारसद्वादस्थितिः स्वाम्नायलक्षणः । चर्यापादः समु-द्दिष्टः” (२।१३) इति च मतङ्गपाठमेश्वरे । अत्र ज्ञानं विद्येत्यनर्थान्तरम् । विभिन्नेष्वागमेषु लक्षणानामेतेषां संकरोऽपि दृश्यते इत्यजितागमप्रथमभागसंस्कृतोपदेशाते (पृ० १०-११) पाणिङ्गचेरीमुद्रिते द्रष्टव्यम् ।

विभागो<sup>१</sup> दृश्यते, किन्तु विरतनाम्ना प्रख्याताम् सात्वत-पौष्टक-जयाख्याम् तत्त्वास्ति । अथापि ज्ञान-योग-क्रिया-चर्यापादेषु प्रतिपादिताः सर्वे विषयाः संक्षेपेण विस्तरेण वा प्रकरणबद्धा विप्रकीर्णा वा तासु विद्यन्ते एव । जयाख्यसंहितायाम्, अहिर्बुद्ध्यसंहितायाम्, लक्ष्मीतन्त्रे वा यथा ग्रन्थारम्भे साठोपं दर्शनिकं<sup>३</sup> विवेचनं वर्तते, न तथा दृश्यते सात्वत-पौष्टकयोः । सात्वतसंहितायां दर्शनयोगयोः प्रतिपादका अंशाः प्रायः सम्पूर्णे ग्रन्थे विप्रकीर्णा वर्तन्ते । तान् संगृह्यात्र समुपस्थापयामः ।

### त्रिविधं परब्रह्म

“त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म याश्वतम् । आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः ॥”  
 (११२३) इति परब्रह्मस्त्रिविधां सत्तां संसूच्य—“षाढगुणविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम् । सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ परमेतत् समाख्यातमेकं सर्वाक्रियं प्रभुम् ।”  
 (११२५-२६) इत्येवं परब्रह्मणः स्वरूपमत्र वर्णितम् । तदनु—“एतत्पूर्वं त्रयं चान्यज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः ॥ विद्धि तद्वृहसंन्देशेयसफलप्रदम् ।” (११२६-२७) इत्येवं वासुदेवसङ्क्लिष्टप्रचुम्नानिरुद्धाख्यस्य व्यूहचतुष्टयस्य स्वरूपं निरूप्य, “मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैः । नानाकृतिं च तद्विद्धि वैभवं भुक्तिमुक्तिदम् ॥” (११२७) इति संक्षेपेण विभवस्वरूपस्य व्याख्यानं कृतम् ।

अत्र पराशारभट्टपादा विष्णुसहस्रनामभाष्येऽमुमेव ग्रन्थं व्याकुर्वन्त एवमाहुः—“परब्रह्मविभवात्मना त्रिविधं परब्रह्मेति भागवतसिद्धान्तः । तत्र परं नामाकार्यं कार्या(दन)-वच्छिन्नपूर्णषाढगुणमहार्णवोत्कल्पैकातपत्रीकृतनिस्समनित्यभोगविभूतिकं मुक्तोपसृष्ट्यमनौपाधिकमवस्थानम् । व्यूहश्व मुमुक्षुसिसृक्षया प्रदेयसृष्टिस्थितिलयाः शास्त्रतदर्थतत्कलानि ध्यानाराधने लीला चेतोदृशकार्योपयुक्तविभवपरगुणरूपव्यापारशीकरव्यूहनिर्वाहितलीलाविभूतिकं मुक्तिसाधकं चतुर्धार्वाक्ष्यानम् । विभवश्व तच्छायाः सुरनरतिर्यगादिः स्वविभवसजातीय ऐच्छः प्रादुर्भाववर्गं इति ।\*\*\*तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्यकुर्मादिः । अन्ये तु ऋष्यादि-

१. वैष्णवशैवशाक्तादिष्वागमेषु बौद्धशाक्तादिषु तत्त्वेषु चैष पादविभागो दृश्यते । तत्र बौद्धेषु तत्त्वेषु ज्ञानपदस्य स्थानेऽनुत्तरपदं प्रयुज्यते । शैवेष्वागमेषु च विद्यापादनाम्ना प्रथमः पादः प्रसिद्धत्वात् ।
२. पादविभागो न दृश्यत इत्यतोऽपि पादविभागात्मकसंहितागमापेक्षया रत्नवयस्य प्राचीनता सिद्धत्वात् । संहितात्रयेऽपि वर्तते सात्वतायाः परिच्छेदविभागात्मकं वैशिष्ट्यम् । संहिताग्रन्था आगमग्रन्थास्तन्त्रग्रन्था वा पटलेष्वध्यायेषु वा विभक्ता दृश्यन्ते । यथा जयाख्यायां पटलविभागः, पौष्टकरायां चाध्या ग्रविभागः । परिच्छेदविभागस्तु सात्वतां विहाय ववाप्यन्यत्र नावलोक्यते ।
३. जयाख्याया दार्शनिकं विवेचनं डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तकृते दर्शनेतिहासे तृतीये खण्डे, अहिर्बुद्ध्यसंहिताया डा० श्रादरकृते भूमिकाग्रन्थे, लक्ष्मीतन्त्रस्य च डा० अशोककुमारकालियारचिते “लक्ष्मीतन्त्रः धर्म और दर्शन” इत्याख्ये ग्रन्थे द्रष्टव्यम् ।

विशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन, यथा भार्गवरामकृष्णद्वैपायनादयः। अपरे काले शक्त्यावेशेन, यथा 'पुरञ्जयादिषु। इतरे च व्यक्तिषु स्वयमेवावतीर्य, यथाचाचितार इति चतुर्था' (पृ० १८२) इति।

अत्र पराशरभट्टारकेण विभवानां चातुर्विध्यं प्रदर्शयित्वात्तरस्य तत्रैवान्तर्भावः प्रदर्शितः। लक्ष्मीतन्त्रे तु—“अर्चापि लौकिकी या सा भगवदभावितात्मनाम्। मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सापि पाङ्गोप्यविग्रहा ॥ पराद्याचाचितारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये ॥” (२५९-६०) इत्येवं चातुर्विध्यं परब्रह्मणः प्रतन्यते। अत्राचाचितारस्य स्पष्टं पृथग्निर्देशो विद्यते। तत्र केचन परव्यूहविभवानां व्याणामप्यचाचित्पत्वसंभवाचाचितारस्य परादिषु त्रिष्वन्तर्भाविं प्रदर्शयन्ति। तन्नेति भाष्यकारोऽलशङ्खभट्टः। तथाहि—“वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धार्थ्यव्यूहानामेव श्रीकृष्णबलभद्रप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां यथा विभवत्वमेव, न व्यूहत्वम्, तथा परव्यूहविभवानामचाचिताररूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां विभवेष्वेवान्तर्भावः, न तु परव्यूहयोरिति” (पृ० १०) इति।

वस्तुतस्तु—“गुणकल्पन्यादध्यस्तो गुणोन्मेषकृतश्रमः। मूर्तीभूतगुणश्चेति त्रिधा मार्गोऽयमङ्गुहुतः ॥” (२१३९) इत्येवं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि त्रैविध्यमेव परब्रह्मणो वर्ण्यते। “व्याप्तिमात्रं गुणोन्मेषो मूर्तीकार इति त्रिधा” (५।२०) इत्यहिंवुर्धन्यवचनस्थैव व्याख्यानमेतत्। तथापि “मूर्तीभूतगुणत्वरूपं विभवत्वं विभवाचाचितारयोरुभयत्रापि समानम्” (पृ० ११) इति भाष्यकारदिशा लक्ष्मीतन्त्रोक्तं परब्रह्मणश्चातुर्विध्यमणि समर्थनीयम्। एवं च सात्वतनिष्ठैर्ब्रह्मणस्त्रैविध्यम्, लक्ष्मीतन्त्रानुयायिभिश्च चातुर्विध्यमुपासितव्यमिति सर्वं सुस्थम्।

तत्त्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहितायां तु परब्रह्मणः पर-व्यूह-विभव-अन्तर्यामि-अर्चाचितारभेदेन पञ्चप्रकारत्वमुपदिश्यते। तथैवोपादितमेतत् तत्त्वत्रये तद्व्याख्याने च<sup>२</sup>। यतीन्द्रमतदीपिकाकारश्रीनिवासदासादयोरै रामानुजसम्प्रदायानुयायिनः श्रीवैष्णवास्तदेतत् पञ्चविधं परं ब्रह्मैवोपासते। एवं चातुर्विध्ये पञ्चविधे वा सत्यपि सात्वतनिष्ठैस्त्रिविधं परब्रह्म उपास्यते। विभवावतारस्य पराशरभट्टारकदिशा चातुर्विध्ये स्वीकृते न कोऽपि विरोधोऽत्रावश्यते। “ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशोऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुद्धानि मायया ॥” (१८।६१) इति भगवद्गीतोक्त्यान्तर्यामिस्वरूपस्य ब्रह्मणः सत्त्वं सिद्धचत्येव।

१. शक्त्याचिष्टस्य पुरञ्जयस्य कथानकमेतत्—“तेजसाऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य महात्मनः” (१।६।१६) इत्येवं श्रीमद्भागवते वर्ण्यते।
२. वरवरमुनिविरचितव्याख्यानसंहितस्य तत्त्वत्रयस्य वाराणसीमुद्रितं द्वितीयं संस्करणमवलोकनीयम् (पृ० १०१-१०२)
३. तत्रैव १०१-१२० पृष्ठानि द्रष्टव्यानि ।
४. यतीन्द्रमतदीपिका पुण्यपत्तनस्थानन्दाश्रमग्रन्थावलिप्रकाशिता (१९३४ ई० वर्षीयं द्वितीयं संस्करणम्, पृ० ८३-८९) द्रष्टव्या। डा० श्रादरमहोदयेनापि स्वकीये भूमिकाग्रन्थे शुद्धसृष्टिनिरूपणप्रकरणे तत्त्वत्रय-तद्राष्य-यतीन्द्रमतदीपिकासाहाय्येन तदेतत् पञ्चविधं परब्रह्म व्याख्यातम्।

अत्रापि—“परमेश्वरः ॥ स्थितोऽन्तर्यामिभावेन रूपमासाद्य निष्कलम्” (१९६-९७) इत्येवं ब्रह्मणोऽन्तर्यामित्वं निष्कलत्वं<sup>३</sup> च प्रतिपाद्यते । एवं सत्यपि सात्वतायां त्रिविधस्य परब्रह्मण एवोपासना सविस्तरं वर्णिता ।

### परब्रह्मलक्षणम्

“सर्वगं परमं ज्योतिरमूर्तमभलं हि यत् ॥ स एव वासुदेवेति” (८५२-५३), “महस्तु सततोदितम्” (८५६) इति सततोदितं वासुदेवाख्यं परब्रह्म भूतावासैः (८१५१) पदेन, “नारायणः परब्रह्म” (१७।४१९) इति<sup>३</sup> नारायणपदेन च प्रोच्यते । “चिदानन्दघनः शान्तः” (६।२१२) इति, “चिच्छक्तिलक्षणं ब्रह्म त्वाह्लादानन्दलक्षणम्” (२०।१३) इति च तस्य चिदानन्दलक्षणत्वं बोध्यते । “सद्ब्रह्मवासुदेवाख्य०” (२।४) इति सदात्मकत्वं प्रतिपादितमेव । एवं च सच्चिदानन्दलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽत्रापि स्वीक्रियते । तदेतस्य परस्य ब्रह्मण आराधनाय द्वितीये परिच्छेदे “३० शान्तोदितविज्ञानप्राणाय०” (पृ० १७) इत्यादिकं मन्त्रमुद्धरन्त्या सात्वतया दशाद्वयमुररीक्रियते । तत्र प्रथमा सततोदिता नित्योदिता वा, अपरा च शान्तोदिता सङ्गीयते ।

### परब्रह्मणो दशाद्वयम्

तत्र सततोदितया नित्योदिताऽपरनामधेयया दशाया युक्तः परवासुदेव इति, शान्तोदितया च दशाया युक्तो व्यूहवासुदेव इत्युच्यते । परवासुदेवे षाडगुण्यं स्तिमितं व्यूहवासुदेवे च प्रबुद्धमवतिष्ठते । शान्तोदितो व्यूहवासुदेवः षाडगुण्यमहिम्ना यथायथं शान्तेषु चतुर्षु गुणेषु प्रबुद्धयोश्च द्वयोर्द्वयोर्गुणयोः साहाय्येन क्रमशः सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धाख्यानि त्रीणि रूपाणि धत्ते । एवं च परब्रह्मश्चातुरात्मयं निष्पन्नं भवति । व्यूहीक्षावसरे तदेतत्—“चतुरात्मानमव्यक्तं शब्दमूर्तिं निराकृतिम् । गुणमात्रैविभिन्नं च” (१८।२०७-२११) इत्यादिषु श्लोकेषु वर्ण्यते । चातुरात्मयं चैनज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिर्याख्येषु चतुर्षु पदेष्ववतिष्ठते । तत्र तुयंपदस्थिते परब्रह्मणि चातुरात्मयं स्तिमितं भवतीत्येकमूर्तिपदेन तदुच्यते, एकेनैव च मन्त्रेण

१. ब्रह्मणो निष्कलं सकलं च स्वरूपं तन्त्रागमेषु प्रतिपाद्यते । अत्रापि विभवपरिच्छेदे तत्प्रदश्ितम् । अन्तर्यामितया निष्कलात्मना च स्थित आप्तकामो भगवान् स्वव्यापारवशेन स्वां शक्तिमवलम्ब्य पद्मानाभाद्यात्मना सकलं स्वरूपं धारयति (१९७-९८) । विभवात्मकोऽयं भगवानत्र निष्कलात्मना सकलात्मना चाच्यत्वेन वर्णितः (१११४-११५) ।
२. “वसन्ति त्वयि भूतानि भूतावासस्ततो हरे” इत्येवं विष्णुसहस्रनामभाष्ये पराशरभट्टेन भूतावासशब्दो व्याख्यातः । एवं च भूतावासपदं वासुदेवस्यैव पर्यायान्तरम् ।
३. “आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥” (महाभारते शान्तिपर्वणि, ३४।४०) । “ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः” (११०) इति मनुस्मृतौ पाठान्तरम् । नारायणीयोपाख्यानेऽत्र वासुदेव एव नारायणो निर्दिष्टः । रामानुजीये च दर्शने लक्ष्मीनारायणाख्यं मह् एव परब्रह्मत्वेनोपास्यते । तथैव च प्रतिपाद्यते लक्ष्मीतन्त्रेऽपि (११; २२।५) इत्यादिषु स्थलेषु ।

तदाराधनं क्रियते । सुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदेषु च चातुरात्म्यस्य प्रबुद्धत्वात्तदाराधनाय पृथक् पृथक् चत्वारो मन्त्रा विनियुज्यन्ते ।

सात्वतायां द्वितीये परिच्छेदे एकमूर्तीयस्याऽव्यवतस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्य, तृतीये सुषुप्तिव्यूहस्य, चतुर्थे स्वप्नव्यूहस्य, पञ्चमे च परिच्छेदे जाग्रद्व्यूहस्यान्तर्यागिविधिः समाप्तेनोदितः । तन्नातिविस्तरेणात्र भाष्यकारपद्धत्या वर्णयते ।

### चातुरात्मसमाराधनम्

अन्तर्यागबहिर्यागभेदेन द्विविधं यजनमिति जानन्त्येवागमतत्वविदो विद्वांसः । “यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्” (पृ० १९) इति चाह भाष्यकारः । अन्तर्यागे बिम्बादीनां स्थितिर्न भवतीति तत्र १मन्त्रात्मके स्वरूपे भगवानर्थ्यते । अतो द्वितीयादिपञ्चमान्तेषु चतुर्थुं परिच्छेदेषु तुर्यसुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदस्यस्य भगवतो मन्त्राः समुद्भृताः ।

### वर्णचक्ररचनाप्रकारः

मन्त्रोद्घाराय २वर्ण(मात्रका)चक्रस्य ज्ञानमपेक्षितमिति सर्वप्रथममत्र (२१३-२१) नाम्यरन्तेभिर्विसंज्ञाङ्गचतुष्टयविशिष्टस्य तस्य रचनाप्रकारः प्रदर्शितः । तत्राय संक्षेपेः— प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिङ्गेऽर्थपुष्पाङ्गे सुधूपिते धरातले द्वादशारं चक्रं विलिख्य तन्मध्येऽक्षस्थाने प्रणवम्, नाभौ अकारादिविसर्गन्तान् षोडशस्वरात्, द्वादशारेषु प्रत्यरं वर्णयुग्मकमेण ककारादिभक्तारान्तानि चतुर्विशतिवर्णानि, तेभिर्माणे मकारादिहकारान्तवर्णनवकम्, प्रधिगणे अकारं च विलिख्य आमध्यात् प्रविष्यन्तं वर्णपरम्पराम् ३ॐ ३ॐ नमः, ३ॐ अं नम इत्यादिक्रमेणोच्चायार्थ्यादिभिरभ्यर्थं मन्त्रमुद्भरेत् । अत्राङ्गस्थाने स्थितो वर्णः प्रणवो<sup>३</sup> नित्योदितः पदेनोक्तः । हस्तदीर्घविभागेन स्थितोऽकाराद्यो विसर्गन्तिः सौरश्चान्द्रश्च कलागणः षोडशस्वरूपो जयाये (६१३-१७) व्याख्यातोऽत्र (पृ० १४-१५) द्रष्टव्यः ।

### तुर्यव्यूहसमाराधनम्

अत्र प्रदर्शितया मन्त्रोद्घारपद्धत्या “३ॐ शान्तोदितविज्ञानप्राणाय सर्वदक्षिणे चैतन्याय नमः” इति द्वाविशाक्षरः षड्भिः पदैरलङ्घकूतो मन्त्रो निष्पत्तते । मन्त्रस्यात्म्य षट्सु पदेषु शाङ्गुण्यं निवासतीति सात्वतायामस्यामेवं वर्णते—

तत्रैकार्णं पदं ज्ञानं चतुर्वर्णं पदं बलम् ।

षष्ठक्षरं चाप्यैश्वर्यं वीर्यं पञ्चाक्षरं परम् ॥

चतुर्वर्णं पदं तेजः शाकं स्याद् द्वयक्षरं च यत् । (२१३३-३४) इति ।

अत्र शान्तोदितेति चतुर्वर्णं द्वितीयं पदं व्याख्यासापेक्षम् । व्याख्यातं च तत् तत्रैव

१. अन्तर्यागविधिरत्र मन्त्रात्मक उपदिष्टः, न तु कुण्डलिनीयोगपर इति विभावनीयम् ।

२. एतस्य वर्णचक्रस्य चित्रात्मक स्वरूपं पारमेश्वरसंहितायां ग्रन्थारम्भे स्थापितेषु चित्रेषु ३४ तमे पृष्ठे मातृकाचक्रनाम्ना द्रष्टव्यम् । तत्र विन्यासे काचन भिन्नता दृश्यते ।

३. “प्रपञ्चः प्रणवो ज्येष्ठो देवस्य चतुरात्मनः” (२५१३४६) इत्यादिना तदेतस्य प्रणवस्य पररूपत्वं नित्योदितत्वं च शब्दद्रह्मव्याख्यानावसरे प्रतिपादयिष्यते विस्तरेण ।

(प० १८-१९) भाष्यकारेण मतभेदप्रदर्शनपुरस्परम् । “तत्त्वत्रयव्याख्यानोद्भृतविष्ववसेन-संहितावचनानुसारं शान्तोदितसंज्ञकपरात्परवासुदेवस्य कारणत्वम्, चानुरात्मं प्रति च शान्तोदितस्य परवासुदेवस्य (तुर्यव्यूहस्य) कारणत्वमित्येव तस्य निष्कृष्टोऽर्थेऽवगन्तव्यः । एवं च नित्योदिता शान्तोदिता चेति दशाद्वयं तुर्यव्यूहात्मकस्य परमेश्वरस्यैव । परात्परवासुदेव इति परवासुदेव इति च पदद्वयं दशाद्वयोत्तनाय प्रयुक्तम्<sup>२</sup> । वस्तुतो नानयोर्भेदः । परात्परवासुदेवस्य स्वरूपं नित्योदितं निष्कलमिति तद्व्यानार्थं निराकारो निरङ्गो ब्रह्मलक्षणो मन्त्रो विनिज्यते । शान्तोदितस्य परस्वरूपस्य ध्यानाय चात्र द्वाविशाक्षरः षड्भिः पदैरन्वितत्वात् षाढगुण्यमय एष परमन्त्रः साकारः साङ्गः स्मर्यते ।

साकारः षट्पदोऽयं मन्त्रः—“तेजो वीर्यं बलं शक्तिरौचर्यं ज्ञानमेव च ॥ दृगस्त्रं कवचं शैवं शिरो हृत् षड् यथाक्रमम् ।” (२।३४-३५) इत्येवं हृदयादिपङ्गमन्त्रेषु विनियोज्यते । तथा चायं भाष्यकारसंगृहीतः प्रयोगः—“ॐ ॐ ज्ञानाय हृदयाय नमः । ॐ विज्ञान-प्राणाय ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ नमः शक्तै शिखायै वौषट् । ॐ शान्तोदितवलाय कवचाय हुम् । ॐ सर्वदशिने वीर्याय अस्त्राय फट् । ॐ चैतन्याय तेजसे नेत्राभ्यां वौषट्” (प० १९) इति । अत्र नेत्रमन्त्रस्य स्वरूपम्, अस्त्रमन्त्रस्य नेत्रमन्त्रस्य क्रमश्च विपर्यस्तो दृश्यते । सात्वतायामत्र (२।३४-३५), अन्यत्र (२।५३-५८) चायमेव क्रम उपदिष्टः<sup>३</sup> । नृसिंह-कल्पपरिच्छेदे सप्तदशेऽपि क्रमस्तादृश एव, किन्तु भाष्यकारेण तत्र “नेत्रत्रयाय” (प० २९२) इति तस्य तन्त्रान्तरसम्मतमेव स्वरूपं निर्दिश्यते ।

एवमाधारनाभिहृत्कण्ठचतुर्श्चक्रविशिष्टे<sup>४</sup> नवद्वारान्विते स्वशारीरे भगवन्मन्दिरत्व-

१. तत्त्वत्रयव्याख्याने द्वितीयसंस्करणे ११ तमे पृष्ठे विष्ववसेनसंहितावचनमेतदवलोकनीयम् । भाष्ये चेमे श्लोका अत्र १९ तमे पृष्ठे समुदृताः ।
२. वस्तुतस्तु परवासुदेवो नित्योदितः, व्यूहवासुदेवश्च शान्तोदित इत्युच्यते, “एतत्पूर्वं त्रयं चान्यद् ज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः” (१।२६) इत्यत्र, “अत्रापि पूर्वमेवोक्तं रूपमस्योपचर्यते” (३।८) इत्यत्र च तथैव प्रतिपादनात् । एवमेवोपबृहितमहिवृद्ध्यसंहितायां पञ्चमाध्याये, लक्ष्मीतन्त्रेऽपि च द्वितीयदशमयोः । अस्यां स्थितौ विष्ववसेनसंहितानुसारं परवासुदेवस्यै-वैतद् दशाद्वयमिति भाष्यकारव्याख्यानं सुखावबोधकलकमवसेयम् । अत एवास्माभिः पर-वह्नाणो दशाद्वयव्याख्यानावसरे सात्वताद्युक्त एव क्रमो मुख्यत्वेन वर्णितः ।
३. “हृदादिनेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कम्” (८।४), “हृदाचान्नेत्रपरिच्छमान्” (८।२१) इत्यादि-स्थलेष्वपि सात्वतायां पूर्वोक्त एव क्रमोऽङ्गीकृतः । अत्र (१५।१७३) पञ्चाङ्गानां मन्त्राणां स्वीकार एव क्रमेऽस्मिन् कारणं स्यात् । ज्याख्यायां (प० ४९-५१) तु तन्त्रान्तरेषु स्वीकृत एव क्रमो निर्दिश्यते, “नेत्राय वौषट्” (६।१२८) इत्येवमेकवचनान्तश्च नेत्रमन्त्रः प्रदर्शयते ।
४. चतुर्संख्यायामादरातिशयवशादेवात्र चत्वारि चक्राणि प्रदर्शितानि । अन्यत्र—“ताभिचक्रे तु हृतपद्मे कन्दमूले गलावटे । भूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रे च” (२।१५१) इत्येवं चक्रषट्कस्याप्युल्लेखो वर्तत एव । अथापि षट्चक्र-नवचक्रादिविभागापेक्षयाऽस्य विभागस्य प्राचीनता सुतरां सिद्ध्यति ।

बुद्ध्या पूर्वं मन्त्रान् विन्द्यस्य “नादेवो देवमचयेत्” इति न्यायेन स्वस्मिन् देवत्वभिमानावलम्बनं कुर्यात् । ततः सात्वतोक्तया (२।६०) ज्ञानभावनया, लक्ष्मीतन्त्रोक्तवृहितेन (३।४।३७-१४१) ज्ञानसमाधिना ब्रह्मसमाधिना च भगवतो मन्त्रमयं पारमार्थिकं च स्वरूपमनुसन्दध्यात् । तद्यथा—आधारनाभिहृत्कठारूप्यचतुर्शक्रविशिष्टे नवद्वारान्विते स्वशरीरे देवगृहात्मके कण्ठकूपधराङ्गं यदधोमुखं हृत्पदं विराजते, तत्कणिकावनेर्मध्ये रुद्रमूर्धमुखं च यत्कमलम्, तदूर्ध्वं तत्कमलद्वयसंपुटमध्येऽधःकमलोपरि सूर्यचन्द्राग्निलक्षणं ज्योतिःस्वरूपं शब्दब्रह्मा राजते । अत्रैव आधारनाभिहृदयाख्यचक्रनयोपरि त्रिवीप्तिभास्वराऽव्यक्तध्वनिविग्रहा सुषुम्नाख्या नाडी वर्तते, या ब्रह्मरस्त्रीणं निःसृता सूर्यपथात् परं गता वायुद्वारेण पातालं भित्वा आमूलाग्रं यावदन्तं सर्वं शारीरं व्याप्नोति । भगवत्संकलितः सर्वोऽपि ब्राह्मो विषयः सूत्रे मणिगण इव सुषुम्नानाडीसंबद्धः प्रतिष्ठितः । अत इयं मध्यनाडीति नान्नापि प्रसिद्धति । तस्यामस्यन्तरे पूर्वोक्ते हृदयकमलस्थाने निमेषोन्मेषलक्षणे निमीलनोन्मीलनविशिष्टे शशिसूर्याल्ये<sup>१</sup> कमले वर्तते । तत्र कमलद्वयसंपुटेऽर्कसंबन्धित अधःकमलमाश्रित्य परा (सूक्ष्मा) वाग्भ्रमरी स्थिता । सा परा वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रमयी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य, परस्येति यावत्, विभोः शक्तिरिति सापि तथैव सूक्ष्मा । परा वाग्भ्रमरी चैषा तैलधारावदविच्छेदेनाऽकारादिहकारान्तं शब्दब्रह्माख्यं नादं नदन्ती राजते । नादो हि नाम नादविन्दुमध्यमावैखर्याख्ये शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था । एतच्चाप्रेऽप्रतिपादयिष्यते ।

नादावसानगगनेऽन्तशक्तिसमन्वितः शान्तः संवित्स्वरूपो देवो राजते । तदेष विषयः समुपवृहितो लक्ष्मीतन्त्रे—

नादस्य या परा काष्ठा साङ्घर्ता परमेश्वरी ।

शक्तिः सा परमा सूक्ष्मा नादान्तगगनाह्वया ॥

शब्दब्रह्मयी सूक्ष्मा साङ्घं सर्वाविग्रही ।

विरामे सति नादस्य यः स्फुटीभवति श्रुत्वम् ।

ज्योतिस्तत्परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणाह्वयम् ॥ (२।९-११) इति ।

एष च भगवान् वासुदेवः स्वमूर्तिभिरच्युताद्याभिरन्वितो<sup>२</sup> वर्तते । परवासुदेवदशाया-

१. “निमीलितोर्धकमलस्य शशिसंज्ञत्वम्, उन्मीलिताधःकमलस्य सूर्याख्यत्वम्” (पृ० २७)

इति हि भाष्यम् ।

२. शब्दब्रह्मनिरूपणप्रकरणे द्रष्टव्यमेतत् ।

३. “अच्युताद्या मर्त्यस्तिसः” (पृ० २९) इति, “सङ्करणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युतसत्य-पुरुषापरनामधेयत्वं बोध्यम्” (पृ० २९) इति च भाष्यकारः । एताश्च वासुदेव-अच्युत-सत्य-पुरुषाख्यास्त्वतसो मूर्तयोऽय्यकमेण विदिक्षु पूज्यन्ते (पृ० ८८) । एतासां चत्वारो मन्त्राः (पृ० ५५, ८८, १०५, १३३) अत्र द्रष्टव्याः । जयाख्यायां मूर्तिचतुष्टयस्यास्य स्वरूपादिकमवलोकनीयम् (४।२-११) । वैखानसास्तु पुरुष-सत्य-अच्युत-अनिरुद्धाख्यं मूर्तिचतुष्टयं समाराधयन्ति । एतच्चात्रैव (पृ० २९) भाष्ये वर्णितं द्रष्टव्यम्, अत्रोद्भृतं महाभारतीयं सार्वश्लोकद्वयं दक्षिणात्येषाम् एव समुपलभ्यत इति च विभावनीयम् ।

मस्यां परात्परदशायां वाऽच्युतादिभिरन्वितत्वेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यं बोध्यम्, ‘‘विद्धान-  
मेकमूर्तीयं समाकर्णय’’ (२।१३) इति प्रकरणानुरोधात् ।

**परस्यापि चतूर्खपत्वम्**

अत्र ॑भाष्यकारपद्धत्या किञ्चिद्विचार्यते—ननु तर्हि शान्तोदितापरनामधेयतुर्यव्यूह-  
चतुर्मूर्तिप्राधान्यं किमिति वर्णते ? इति चेच्छृणु—“अभेदेनादिमूर्तेवं संस्थितं ॒वटबीजवत्”  
(५।८१) इत्युक्त्यनुसारेण परसंज्ञस्य तद्व्यूहस्य परात्परवासुदेवाद्यभिन्नत्वात् । अत एव सुषुप्त्यादि-  
व्यूहवत् प्रत्येकं तद्व्यूहवाचकमन्नाणामन्नानुक्तिः, परात्परमन्त्रेणैव तस्यापि नारितार्थ्यात् ।  
एवं च परात्परदशायामिव परत्वेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम् । तर्हि एवमभिन्नत्वे  
पुनः केन तयोर्भेदं इति चेत्, नित्योदितत्वेनेति बोध्यम् । नित्योदितत्वं नाम स्वविभूत्यनुभव-  
दशाविशिष्टत्वम् । शान्तोदितत्वं नाम स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टत्वम् ।

ननु चैवं शान्तोदितव्यूहेऽप्येकमूर्तिप्राधान्ये व्यूहशब्दस्य स्वारस्यं न संभवतीति चेदु-  
च्यते—किं व्यूहशब्दमात्रेण चतुर्णां प्राधान्यमञ्जीकार्यम् ? यदेवमञ्जीक्रियेत, तदा ३“नित्यो-  
दितस्य व्यूहस्य तथा शान्तोदितस्य च”, “यत्र शान्ततरं व्यूहं शान्तोदितमनन्तरम्”, “परा-  
त्परस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः । शान्तोदितादिव्यूहानाम्”, “सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य  
वै विभोः । त्रयाणामच्युतादीनां तद्वेदानां तथैव च ॥ शान्तोदितस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः ।”  
इत्येवमादीनामीश्वरपारमेश्वरवचनानां सर्वत्र परात्परत्वसंज्ञायां नित्योदितदशायाम्, परत्वसंज्ञायां  
शान्तोदितदशायां च वासुदेवादिचातुरात्म्यसङ्घावप्रतिपादकानां का गतिः स्यात् ? अतो  
यद्यपि व्यूहचातुरात्म्यशब्दौ सर्वावस्थासाधारणौ, अर्थज्ञाप्रत्यव्याप्तितुर्याल्यासु॒॑ सर्वर्त्य-  
वस्थासु स्थितस्य परात्परवासुदेवस्य वाचकौ, तथापि परात्परत्वदशायां परत्वदशायां ( तुर्ये  
व्यूहे ) च वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, एक एव च मन्त्रः; तदच्चनेनैवोपसर्जनीभूतानामन्येषामप्यर्जन-  
सिद्धिरिति ज्ञेयम् ।

अत्रेदं बोध्यम्—सात्त्वतायां द्वितीये परिच्छेदे तुर्यव्यूहस्य एक एव मन्त्रः समुदृतः । सुषु-  
प्त्यादिव्यूहत्रयाणां च चत्वारश्चत्वारो मन्त्राः समुद्धियत्ते । तदनुरोधेन तुर्ये व्यूहेऽपि चत्वारो

१. सुखावबोधाय भाष्यस्थानि कानिच्चन पदान्यत्र परिवर्त्य स्थापितानि ।

२. वटबीजान्तर्गतवटबीजवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टिसूक्ष्मरूपसालिनी पूर्वोक्तरूपा त्रिपुरसुन्द-  
र्येव तादृशसूक्ष्मरूपवत्त्वप्रवृत्तिनिमित्तकपराशब्दवाच्या’’ (पृ० १७) इति वरिवस्यारहस्ये  
भास्कररायः । तद्वेव सर्वोऽपि चातुरात्म्यप्रपञ्चोऽभेदेन परस्मिन् ब्रह्मणि वासुदेवे स्थित  
इति भावः ।

३. अत्रत्यानां वचनानां स्थाननिर्देशो भाष्ये कृतो (पृ० ३०) द्रष्टव्यः ।

४. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याल्यं पदचतुष्टयं लक्ष्मीतन्त्रे (२२। २२-२७) विवृतमत्र भाष्ये (पृ० ३१)  
समुदृतं द्रष्टव्यम् । एतच्च पदाध्वनो रूपम् । तुर्यवर्जनेतद्वेयकोटौ स्थाप्यत इति शब्द-  
ब्रह्मप्रकरणे विवेचितम् । एवं च पदाध्वन एतस्वरूपं शैवशक्तसमतपदाध्वापेक्षया विल-  
क्षणमिति ज्ञेयम् । पदाध्वनो हेयत्वादेवात्र पदात्मनो मन्त्रस्यापि जाग्रद्वृत्तित्वं स्थूलत्वं  
(पृ० १७५) चाप्यभ्युपगतम् ।

मन्त्रा अपेक्षिता आसन् । न केवलं भाष्ये, संहितायामपि हि चातुरात्म्यचतुष्टयं प्रतिपाद्यते ( ५१८०-८७ ) । यदा तुर्ये व्यूहेःपि चातुरात्म्यं भासते, तदा तत्रापि चत्वारो मन्त्रा विनियोक्तव्या आसन्निति किल भवति स्वाभाविकी शङ्खा । तस्या एवं परिहारः क्रियते— पर्स्य-व्यूह-विभवात्मकं त्रिविधं खलु ब्रह्म अत्र प्रतिपाद्यते । तत्र द्वितीये परिच्छेदे परस्वरूपस्य विवरणं वर्तते । तृतीयचतुर्थपञ्चमपरिच्छेदेषु च व्यूहस्वरूपस्य सुषुप्तिस्वज्ञाप्रत्यपदस्थितस्य वर्णनं भवति । तदेतद्व्यूहाख्यं ब्रह्म चातुरात्म्यपदेनाप्युच्यते । एतच्च चातुरात्म्यं परस्वरूपेऽव्यक्तदशायां तिष्ठतीति तत्रापि चातुरात्म्यपदप्रयोगे भवति, तुर्यव्यूहनामनाऽपि च तदुच्यते । अत्र च नित्योदितशान्तोदिताख्यं दशाद्वयमङ्गीक्रियते । नित्योदितदशा परात्परवासुदेव इति, शान्तोदितदशा च परवासुदेव इच्युच्यते । एवमुभयोरपि दशयोरत्र वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, अन्यस्य सङ्घर्षणादित्रयस्य, <sup>१</sup>अच्युतादित्रयस्य च तदाऽव्यक्तरूपेणावास्थानात् । एतच्च स्पष्टमेवोक्तं संहितायाम्—“अभेदेनादिमूर्त्तें च संस्थितं ‘वटबीजवत्’” ( ५१८१ ) इति । एवं चादिमूर्त्तिसुदेवस्यैव प्राधान्यप्रदर्शनात् तुर्यव्यूहापराभिधस्य परस्वरूपस्याराधनाय च एक एव मन्त्रोऽत्र निर्दिष्ट इति ।

### सुषुप्तिव्यूहसमाराधनम्

एवं द्वितीये परिच्छेदेऽव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्यामूर्तीभिरच्युतादाभिः स्वमूर्तिभिरन्वितस्य तुर्यपदाश्रितेन परेण भगवता सहैकीकारात्मकं स्वरूपमुपवर्ष्य साम्प्रतं तृतीये परिच्छेदे सुषुप्तिपदाश्रितस्य व्यूहात्मकस्य भगवतः स्वरूपं विविच्यते समाराधनविधिप्रदर्शनपूर्वकम् ।

हृष्णकणिकायां सुषुप्त्याख्यपदेऽन्वः प्रभवाख्येन सुष्टिक्रमेण चतुर्धी विभवतो वासुदेवाद्यनिष्ठान्तो व्यूहाख्यो भगवानत्रैवोकरेन मन्त्रचतुष्टयेनाऽर्जयते । वेदावेदकर्मिकृतमच्युतमनस्तमितभास्त्रं ब्रह्म ब्रह्मायाजिनां कर्मिणामुपकाराय स्वयमेव शब्दब्रह्मपेण वेदकत्वं पररूपेण च वेदत्वमुपयाति । स वासुदेवः परः प्रभुर्गुणभेदेन प्राप्तभागदुत्तरं यावत् स्वयमेवात्मानं विभजते । अनुज्ञितस्वरूपः स प्राप्तभागे षड्गुणात्मना, दक्षिणे ज्ञानबलात्मना, प्रत्यग्भागे ऐश्वर्यवीर्यात्मना, सौम्ये च तेजःशक्त्यात्मनाऽवतिष्ठते । यद्यपि व्यूहात्मा वासुदेवो भगवान् गुणलक्षणोऽव्यक्तस्वरूप एवास्ते, तथापि द्वितीयपरिच्छेदोक्तं परस्य भगवत् एकमूर्त्यत्मकं स्वरूपमत्राप्युपचर्यते । द्वितीयमूर्तेः सङ्घर्षणस्य शुभपाणितलद्वये स्फुटो रेखामयः शङ्खः सुव्यक्तं महल्लाङ्गलं च विद्यते । तृतीयस्य प्रव्युमनस्य दक्षिणः करो रम्येषुणा, अनिहंद्रस्य चासिवरेण चित्तितः । अनयोवीमिकरे च शङ्खो राजते । यद्यपि सादृश्यात्, षड्गुणात्मात्, सपन्वयात्, शान्तत्वात्, निष्कलत्वाच्च परव्यूहोभेदो न विद्यते, तथापि व्यक्तीभावं गतेनोक्तेन लक्षणेन साधको व्यूहस्वरूपेऽस्मिन् भावस्थिर्ति निबध्नाति । यद्यपि गुणदृश्येनैव सङ्घर्षणादिमूर्तित्रयस्य स्वरूपं निष्पद्यत इति प्रथमे परिच्छेदे व्यक्तीकृतम्, तथापि गुणानामवशिष्टं चतुष्टयमपि तत्रानुवृत्तिं भजत्येव । एवं

१. अच्युतादीनां विवरणं २४ पृष्ठे ३ टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ।

२. वटबीजविदिति पदस्य भावावबोधाय २५ पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

च मूर्तित्रये गुणद्वयं व्यक्तरूपेणावरिष्टं च गुणचतुष्टयमव्यक्तरूपेणावरिष्टते । एवं च मूर्तिचतुष्टयेऽप्येषा मुख्यानुवृत्तिभेदेन स्वानन्दा स्पन्दलक्षणा ब्राह्मी स्थितिः समानैव जागर्ति । अस्य च सुषुप्त्याख्ये पदे स्थितस्य मूर्तिचतुष्टयस्य समाराधनाय ब्रह्माषाङ्गुष्ठयाचकं मन्त्रचतुष्टयं समुद्धृतमन्त्रैव । एतेषां मन्त्राणां स्वरूपाणि<sup>१</sup> मन्त्रोद्धारे कृते निष्पन्नानि भाष्ये (पृ० ३८-३९) द्रष्टव्यानि ।

### स्वप्नव्यूहसमाराधनम्

तृतीये स्वाप्ने व्यग्ने वाग्वर्णकमलोपरि व्यक्ततां नीतो विशालयूपसंज्ञो भगवानच्यते । अभिन्नपूर्णषाङ्गुष्ठविभवेनोपवृहितस्य विशालयूपस्य भगवतो निर्वचनं लक्ष्मीतन्त्रे प्रदर्शितम्—

शास्त्रास्तु वासुदेवाद्या विभोर्देवस्य कीर्तिः ।

विशालयूपो भगवान् वितता हि करोति ताः ॥ (११३९)

एवं च मन्त्रमयं देहमुपसंहृत्य आमूलात् कर्णिकाग्रं यावत् स्वतेजसा सम्पूर्यायं ब्रह्मयूप-स्वरूपेणास्ते, मूर्तिवर्जितः केवलतेजोरूपमाश्रित्य हृत्कमलकर्णिकारूपेण शास्त्राभूतानां वासुदेवादीनां मध्ये यूपस्थानीयत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । मन्त्रमयं देहं विवृत्य चायमेव ग्राणादिषु दिक्षु वासुदेवादिशाखाचतुष्टयरूपेण व्यक्तिमभ्येति । एवं शास्त्राचतुष्टयोपेतोऽयं विशालयूपो भगवान् हृत्याग्निरत्वं बुर्वैः प्राभवेण क्रमेण अथ्याख्येन विधिना च, अर्थात् सृष्टिक्रमेण संहारक्रमेण च समर्चनीय इति चतुर्थे परिच्छेदे विशालयूपस्य वासुदेवादितच्छालाचतुष्टयस्य च मन्त्राः समुद्धृताः । विशालयूपश्चायं पूर्वोक्तः परवासुदेव एव मन्त्रव्यः । एवमेव हि—“नानामन्त्रस्वरूपेण” (४।३१) इत्यादिना “अनुप्रहर्ष्य भविनां नानाशद्वावशेन तु” (४।३५) इत्यन्तेन ग्रन्थेनास्य सदृष्टान्तं स्वरूपमुपपादितम् । यथा आकाशस्थ एक एव सूर्यो नानाजलाश्रयाण्याश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयति, एवमेको हि भगवान् तुर्यादिपदसंस्थेषु नानामन्त्राश्रयेषु स्थितो बहुत्वमुपयाति ।

इदमत्र ज्ञेयम्—शान्तोदितादिव्यूहचतुष्टयेऽपि विशालयूपो भगवान् परवासुदेव एव तत्तद्व्यूहान्तर्गतवासुदेवरूपेणावरिष्टते । अत्र शान्तोदितादिव्यूहान्तर्गतवासुदेवस्य परात्परवासुदेवाभिन्नत्वेनोभयोरप्येकेनैव मन्त्रेण चारितार्थ्यात् सङ्क्षिप्ताणीनां त्रयाणां तदङ्गत्वेन प्रत्येकं मन्त्रानुक्तेश्च शान्तोदितवासुदेवस्याङ्गित्वरूपं प्राधान्यम्, सुषुप्त्यादिव्यूहत्रये तु प्रत्येकं चतुर्णां वासुदेवादिमन्त्राणामुक्तत्वात् तत्र वासुदेवस्याग्रगण्यत्वरूपं प्राधान्यमिति ।

### जाग्रदव्यूहसमाराधनम्

हृदयकमलस्य सर्ववर्णमयत्वमत्र प्रतिपाद्यते । तथाहि—

अनन्तसरसि क्षारेण विश्रान्तं यन्महामते ।

अकाराक्षररूपालं तु नित्यं सर्वश्रयाम्बुजम् ॥

आकाराक्षरसतालं तु शेषसर्वार्णपल्लवम् ।

दिग्गजकं समाश्रित्य यत्तत् तिष्ठति चक्रवत् ॥ (५।२-३) इति ।

अस्यायं भावः—यथा नाभ्यरनेमिग्रधिसंज्ञकाङ्गचतुष्टयविशिष्टाद् वर्णचक्राच्चातुरात्प्यस्य विभोः सकलो मन्त्रगणः समुद्धियते, एवमेव चतुरङ्गविशिष्टे वर्णमये हृदयकमले

१. मन्त्रोद्धारप्रकरणेऽपि परिदृश्यमानः पाठमेदो महदनौचित्यमावहति । एतद्वोषपरिहारार्थं प्रयतनीयं प्राज्ञरिति ते प्रार्थन्ते ।

भगवानचर्यते । तत्र लक्ष्मीतन्त्रोक्तदिशा (११३०-३३) क्षकारस्य जगदुत्पत्तिहेतुभूतव्रह्मशक्ति-पञ्चकप्राप्तिमिकत्वात् सरोवरत्वं ज्ञेयम् । एवमेव अकारस्य मूलत्वम्, आकारस्य नालत्वम्, इकारादिसकारान्तानां वर्णानां दलत्वं च बोध्यम् । “हवर्णकर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यपदे त्वधः” (३१२) इति पूर्वोक्तदिशा हकारस्य कर्णिकात्वमवसेयम् । एवं च हृदयकमलाकाशस्य तुर्यपदत्वम्, तत्कर्णिकास्थानस्य सुषुप्तिपदत्वम्, केसरस्थानस्य स्वप्नपदत्वम्, तदधःस्थितस्य पत्रस्थानस्य जाग्रत्पदत्वं च सुव्यक्तम् । तथा च हृदयकमलाकाशमध्ये जाग्रत्संज्ञके पदे पञ्चमपरिच्छेदोक्तलक्षणः (५१५-२७) जाग्रदव्यूहतुष्टयात्मको भगवान् तत्रैकोक्तेन (५१२७-७७) द्विविधेन मन्त्रवतुष्टयेन सृष्टिकमेणाप्ययकमेण<sup>१</sup> च यष्टयो भावनीयश्चेति । मन्त्राणामेतेषामुद्भूतं स्वरूपं भाष्यतोऽवसेयम् ।

चातुरात्म्यस्य विभोरत्रोक्तः सर्वो मन्त्रगणो नाभ्यरनेमिप्रधिसंज्ञकाङ्गचतुष्टयविशिष्टाद् वर्णचक्रादेव समुद्ध्रियते । तदेतस्य द्वितीयादिपञ्चमाध्यायपर्यन्तं चतुर्षु परिच्छेदेषु वर्णितस्य चातुरात्म्यतुष्टयस्य लक्षणमेवं वर्णते सात्वतायामेव—आदिमूर्तेरभेदेन वटबीजवत् संस्थितं परमार्थतः सर्वक्रियाविनिर्मुक्तं शुद्धसंविन्मयमाद्यं चातुरात्म्यम्, वह्नचक्रेन्दुसहस्राभमानन्दस्थन्दलक्षणं सर्वक्रियाणां बीजं<sup>२</sup> विकल्पानामासपदं च द्वितीयं चातुरात्म्यम्, नित्यं नित्याकृतिधरं तेजसा सूर्यवर्चसमूर्धर्वाधःस्थितेन सितादिभेदेन भिन्नं कैवल्यभोगफलदं भवतीज-

१. क्षं हं सं षं चां—इत्येतानि बीजाक्षराणि ब्रह्मशक्तिपञ्चकरूपेण, षं षं सं हं—इत्येतानि च ब्रह्मबीजचतुष्टयरूपेण व्याख्यातानि तत्रैव भाष्ये (पृ० ४७-४८) द्रष्टव्यानि ।
२. अप्यप्रक्रमेण पुरुष-सत्य-अच्युत-वामुदेवाख्यं मूर्तिचतुष्टयं विदिक्षु पूज्यत इति २४ पृष्ठस्थाने<sup>३</sup> इष्टपूजा द्रष्टव्या ।
३. “शान्तः संवित्स्वरूपस्तु” (२।६९), “संविदुत्पद्वते परा” (३।४७) स्वसंविद्गगने” (१०।५६) इत्यादिषु स्थलेष्वत्र च प्रयुक्तोऽयं संविच्छब्दशिचत्पर्ययोऽभिप्रेतव्यः । महेश्वरानन्दो हि संविदेव भगवती विषयोपगमे शरणमिति गुहमतमयदां मानयन् (महार्थमञ्जरी-परिमले, वाराणसीसंस्करणे, पृ० ७७) संविदो ज्ञानपर्यायत्वं स्वीकरोति । इयांस्तु विशेषः—शाकतान्त्रिकैर्न केवलं प्रभाकरवज्ज्ञानपर्यायत्वेन, अपि तु परब्रह्मपर्यायत्वेनापि सा व्याख्यायते । अत एव—“संविदेव भगवती स्वान्तःस्थितं जगद् बहिः प्रकाशयतीति दर्शनरहस्यम्” (ऋगु०, पृ० २७) इत्येवं नित्याषोडशिकार्पणव्याख्याता शिवानन्दः संविदः परतत्त्वस्वरूपत्वं ल्यापयति ।
४. सप्तदशो परिच्छेदे—“ब्रह्मस्वरूपममलं स्वचैतन्यं तदूर्ध्वतः । विकल्पोपरतं कृत्वा इच्छया तु विवरते ॥” (स्लो० ३८) इत्यत्र विकल्पोपरतमित्यस्य ‘विशेषणरहितमित्यर्थः । केवलज्ञानस्वरूपमिति यावत्’ (पृ० २९७) इत्यर्थः कृतो भाष्यकारेण । एवं चाद्यं चातुरात्म्यं विशेषणरहितत्वात् केवलज्ञानस्वरूपम्, शुद्धसंविन्मयम् । द्वितीयं च चातुरात्म्यं विकल्पानामासपदमित्यर्थोऽवसेयः । विकल्पलक्षणं च—“ज्ञानेन्द्रियगणे चैव विकल्पं तनुते मनः । विकल्पो विविधः क्लृप्तस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम् ॥। धर्मेण सह संबन्धो धर्मिणश्च स

क्षगङ्करं सुधासन्दोहसुन्दरं च तृतीयं चातुरात्म्यम्, स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितं चतुर्थं चातुरात्म्यम् । एतच्च चतुर्थं रूपं स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय समुदेति अस्तमेति च, अस्यैव शासने विश्वं तिष्ठति (५।८१-८७) । अस्य युग्मेदेन<sup>१</sup> सितादिवर्णभेदश्च तत्रैव द्रष्टव्यः । एतच्च मूर्तिचतुष्टयं देहोऽस्मन् <sup>२</sup>मूर्त्तिं, हृदये, नाभौ, तदधःस्थिते मूलाधारे च भूतये मुक्तये च भावनीयम् ।

एवमत्र एकमूर्तेः परात्परवासुदेवस्य, व्यूहानां विभवस्य वासुदेवादीनां तुर्याद्यावस्थाभेदस्या-विलस्यावतारकमो ध्यानं मन्त्रपूर्वकमर्चनं च प्रोक्तम् । अत्रायं विशेषोऽवगन्तव्यः—अस्पन्द-लक्षणमलोलीभूतं नित्योदितं परात्परं भगवन्तं तुर्यात्मना तुर्यरूपेणाभिन्नं स्मरेत् । षाढ़गुण्य-विग्रहमाद्य<sup>३</sup> चातुरात्म्यम्, अथच्चातुरात्म्यचतुष्टये प्रथमं सुषुप्तिपदस्थं वासुदेवं च “यद्यप्यरूपो भगवान्” (३।८) इत्युक्तदिशाऽलाभ्यन्तं स्मरेत्, अन्यत् त्रितयं (सङ्ख्यणप्रद्युम्नानिरुद्धार्यं) च पारमेश्वरं सामर्थ्यं सृष्टिचर्थं लोलीभूतं स्मरेदिति ।

यः साधको विशेषव्यक्तिलक्षणं परव्यूहविभवास्पतत्तमूर्तिविशिष्टं भगवन्तर्मचितु-मिच्छति, तं साधकं स्वबुद्ध्या संकल्प्य स्वाभिमुखं ज्ञात्वा तत्कालसमन्वतं तदिच्छानन्तरमेव ध्रुवा पारमेश्वरी सामर्थ्यशक्तिः स्वयमेव स्पन्दतामेति । मन्त्री साधको यत्र कृतास्पदो यन्मन्त्र-साधनमिच्छति तन्मन्त्रमनिकणवत् सूते च । तत्स्पन्दनमात्रेणाऽन्तः स्फुलिङ्गवन्मन्त्रः समुद्भूतो भवतीति भावः । तन्मन्त्रमाकाशात् तारकमिव हृत्कमलकर्णिकामध्ये आगतं भावयेत् । तन्मन्त्रमध्यादाराध्यं मन्त्रनाथमादिमूर्तिस्वरूपेण परवासुदेवरूपेण, चतुर्मूर्तिस्वरूपेण, एकै-मूर्तिस्वरूपेण, आहोस्त्विन्नानाङ्गत्यात्मना वैभवीयेन क्रमेण पद्मनाभादिभेदेन वा उदितं स्मरेत् ।

उच्यते । विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मणादिभिः ॥” (५।६८-६९) इति लक्ष्मी-तन्त्रं समुद्भरता तेन प्रदर्शितम् । एवं च विकल्पोऽयं द्रव्य-गुण-कर्म-जाति(संस्थान)-यदृच्छा-शब्दैः पञ्चधा भिद्यते । शुद्धसंविन्मयं ब्रह्म यद्यपि विशेषणरहितम्, तथापि सत्या-मिच्छायां तद् द्रव्य-गुण-कर्मादिभिः संयुक्तं सद् विविधविशेषणशब्दितं भवतीति सर्वक्रियाणां बीजं विकल्पानामास्पदं च द्वितीयं चातुरात्म्यमिति युक्तमेव ।

१. युग्मेदेन सितादिवर्णभेदश्चायं श्रीमद्भागवतेऽपि प्रतिपादाते—“आसन् वणस्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः । शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदनीं कृष्णतां गतः ॥” (१०।८।१३) इति ।
२. अत्र स्थलद्वये (२।५८, ६१) आधार-नाभि-हृदय-कण्ठाख्यं चक्रचतुष्टयं प्रतिपादितम् । तदनुरोधेन ‘मूर्त्तिं’ इत्यस्य ‘कण्ठकूपे’ इत्यर्थोऽवसेयः । अथवा पूर्वोक्तं कण्ठकूपदमेव मूर्ध-पर्यायतया नेयम् ।
३. अत्र २३ पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या । एवं च षाढ़गुण्यविग्रहमाद्यं चातुरात्म्यमित्यनेन व्यूहवासुदेवोऽभिप्रेत इति मन्तव्यम् ।

### व्यूहान्तरम्

परात्परं नित्योदितव्यूहार्थं वासुदेवादिचतुष्टयमेव पूर्वोक्तजाग्रद्व्यूहरूपेणाविभूतम् । तज्जीवानां संसारखेदनिवृत्यर्थं तेनैव रूपेण व्यक्तीभूय जाग्रत्पदे<sup>१</sup> विदिश्वप्ययक्रमेणावतीर्णं पुरुषादिमूर्तिचतुष्टयं स्वात्मन्युपसंहृत्य पुनः संसारिणामनुग्रहार्थं प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा विभक्तं भवति । तद्यथा—वासुदेवः केशव-नारायण-माधवरूपेण, सङ्खर्षणो गोविन्द-विष्णु-मधुसूदनरूपेण, प्रद्युम्न-स्त्रिविक्रम-वामन-श्रीधररूपेण, अनिरुद्धश्च हृषीकेश-पद्मनाभ-दमोदररूपेण व्यवतचक्रादिलाङ्घनैः सह भगवदेकान्तिनां पोषकत्वेन शाश्वतीमभिव्यक्तिमभ्येतीति सप्तमे परिच्छेदे—“परं-ब्रह्म परंधाम” (७।३) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपाद्यते । एतच्च द्वादशविधं स्वरूपमहिर्बुद्ध्ये व्यूहान्तरपदेन निरुक्तम्—“व्यूहान्तरं दश द्वे च केशवाद्याः प्रकीर्तिताः” (५।४६) इति । सात्वतस्थ-मूर्त्यन्तरपदेन (२५।३२२) व्यूहान्तरमेवोच्यते इति भाष्यकारः (प० ५४१) । इमां व्यूहान्तरास्थामभिव्यक्तिं समवलम्ब्य <sup>२</sup>सुप्रबुद्धः साधको दानर्थमव्रतादीनामाचरणेन<sup>३</sup> संसारानलादस्मादचिरादेव शाश्वतीं शान्तिमधिगच्छेत् ।

द्वादशविधानामासां मूर्तीनां समाराधनायाऽष्टमे परिच्छेदे केशवादीनां द्वादश बीजानि (८।२३), केशवादीनां द्वादश देव्यः<sup>४</sup> (८।३१), देवोद्वादशकबीजानि (८।२६), केशवादीनां तदेवीनां च स्वरूपलाङ्घनायुधध्यानार्चनादिकं (८।५७-१६१) च विस्तरेण प्रोक्तं द्रष्टव्यम् ।

### एकोनचत्वारिंशद्विभवदेवाः

ब्रह्मणो विभवात्मनस्तृतीयस्य स्वरूपस्य वर्णनमन्तर्गीविधिमुखेनात्र नवमे परिच्छेदे निरुक्तम् । तथाहि—विभवातारस्य स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन प्रथमं त्रैविध्यं भवति । कामरूपधरो देवः कार्यारम्भे मध्येत्वासाने च सृष्टिस्थितिसंहारकालेष्वेकं एवानेकधा रूपं सन्धत्ते । सृष्टिकाले रक्तं रूपम्, रक्षणकले शुक्लं रूपम्, संहारकाले च कृष्णं रूपं विभृति । एतदेव वैभवं स्थूलं रूपम् । समाधिनिरतानां सन्मार्गप्रकाशकं रूपं सूक्ष्मसंज्ञम्, तेजोमयं च वैभवं रूपं <sup>५</sup>परात्मकमिति मन्त्रव्यम् (९।४-११) ।

१. एतच्च २४ पृष्ठे ३ टिप्पण्यां प्रतिपादितमवलोकनीयं तत्रैव ।
२. शब्दोऽयं शौवेषु शाकतेषु च तन्त्रेषु योगवासिष्ठादिग्रन्थेषु च बहुधा प्रयुक्तो दृश्यते । तत्र विरूपाक्षण्डजाशिकायां पञ्चविधा जीवाः प्रतिपाद्यन्ते—अप्रबुद्धः, प्रबुद्धकल्पः, प्रबुद्धः, सुप्रबुद्धकल्पः, सुप्रबुद्ध इति । एतेषां लक्षणानि तत्रैव ४१-४४ श्लोकेषु द्रष्टव्यानि ।
३. अत्र सप्तमे परिच्छेदमन्त्रकोऽष्टमे च समन्त्रो द्रवतिविधिर्वर्ण्यते ।
४. “भूयो धामगणात् तस्मात् संस्मरेन्निःसृतं महः ॥ केशवादिविभागेन श्रियाद्यं च त्रयं त्रयम् ।” (८।६३-६४) इत्यत्र व्यूहान्तरादेवास्य देवीद्वादशकस्योत्पत्तिर्वर्णिता ।
५. अत्र भाष्यकारेण स्थूलसूक्ष्मपररूपलक्षका जयारूपश्लोकाः (४।२३-२५) समुद्भूताः । नवमे परिच्छेदे सात्वतायां वैभवीयं रूपं व्याख्याप्यते, तस्यैव च भेदाः प्रदर्श्यन्ते—“वैभवीयो महाबुद्धे देवतानिचयो महान् । य उक्तस्ते मया पूर्वमेकैकं विद्धि तत् त्रिधा ॥” (९।४) इति । जयारूपायां चोक्ते प्रकरणे ब्रह्मणस्त्रैविध्यं प्रतिपाद्यते । एवं चात्रत्ये वैभवीये प्रकरणे तेषां श्लोकानामुद्भारोऽनुचित इव भाति ।

अत्र भाष्यकारः—“स्थूलं जाग्रत्पदिस्थितमित्यर्थः।” “तद्वचकं शान्तसंज्ञं च रूपमित्यत्र व्यक्तमित्यनेन स्वप्नसुषुप्तिपदाश्रितत्वम्, शान्तसंज्ञमित्यनेन तुर्यपदाश्रितत्वं चोच्यते” (पृ० १७२) इति व्याख्याय लक्ष्मीतन्त्रं च समुद्भूत्य व्यूहस्येव विभवस्यापि रूपस्य तुर्यसुषुप्तिस्वप्न-जाग्रत्पदाश्रितत्वेन चातुर्विध्यमुक्तवान्, तत्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहितालक्ष्मीतन्त्रवचन-प्रामाण्येन च तत्समर्थितवान् (पृ० १७३)। वैभवं शान्तसंज्ञमित्यस्य च तेन—“शान्तसंज्ञकं परात्परम्” (पृ० १७२) इत्यर्थः कृतः। एवं चेदं वैभवं रूपमणि चातुरात्म्यस्वरूपात्, नित्यो-दितशान्तोदिताख्यदशाद्वयविशिष्टात् पररूपाच्चाभिन्नमिति मन्तव्यम्।

अस्य विभवरूपस्याराधनार्थं संज्ञा-पद-पिण्ड-बीजभेदभिन्नशब्दतुर्विघो वाचकोऽत्र निर्दिष्टः। तत्र बीजपिण्डमन्त्रयोरन्यतरेण संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरेण, उभयेनाप्यभिन्नरूपेण वा एकस्यैव वाच्यात्पक्षस्य भगवतोऽवर्तनं क्रियते। तत्र संज्ञामन्त्रा नाममन्त्रा इत्यप्युच्यन्ते। मूल-मन्त्राङ्गमन्त्रादिभेदैरेते बहुविधा भवन्ति। व्याख्याताश्च तेऽत्र चान्यत्र च। वैभवाः पिण्डमन्त्राः पदमन्त्राश्च सात्वतायां त्रयोर्विशेषं परिच्छेदे विवृताः। “स्वरोत्थं व्यञ्जनोत्थं वा बीजमेकाक्षरं स्मृतम्॥ स्व रव्यञ्जनसंयोगाद् बहुर्णः पिण्डमन्त्रराट्।” (११८-१९) इत्यत्र च बीजपिण्डयोः स्वरूपं वर्ण्यते। एतेषु पदात्मनो मन्त्रस्य जाग्रद्वृत्तित्वम्, संज्ञात्मनः स्वप्नवृत्तित्वम्, पिण्डा-स्यस्य सुषुप्तिवृत्तित्वम्, बीजात्मनश्च तुर्यवृत्तित्वमवसेयम्।

विशाखयूपो भगवान् पूर्वं चतुर्थं परिच्छेदे स्वाप्नव्यूहप्रकरणे किञ्चिदिव व्याख्यातः। त स्वयं विश्वसिसूक्ष्या आग्रपदस्यस्य चातुरात्म्यस्य तुर्यव्यूहस्य शुद्धसंवित्पुरस्मरं महिमान-मादाय व्यूहविभवावतारसाधनोपकरणं सर्वं संगृह्ण वासुदेवाद्यं मूर्तिशाशाचतुर्ष्यं विहाय तथैव वैभवीयस्य यूपस्य पतित्वेनावतिष्ठते, यथार्किरणवातं त्यक्त्वा महान् तेजःकणः स्वकारणं विना सर्वं गोचरमाप्नुरर्थति। स एव सम्भूति-स्थिति-संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं<sup>१</sup> पञ्चारमिदं संसारचक्रं स्वविधा प्रेरयति। भगवतो विशाखयूपादेव पद्मनाभादीनामष्टर्त्रिशद्विभवदेवानामाविभवो जायते। एतेषां विभवदेवानामाराधनाय तेषां बीजानि द्वितीयपरिच्छेदोक्तवर्णचक्रा-

१. पञ्च व्यापकमन्त्रा एव वासुदेवादीनां पदमन्त्रा इति भाष्यकारेणात्र (पृ० १०१, १२७) लक्ष्मीतन्त्रप्रामाण्येन प्रतिपादितम्। वासुदेवादीनां पिण्डमन्त्राश्चाष्टमे परिच्छेदे (श्लो० १०-१४) समुद्भूता दृश्यन्ते।
२. सम्भूति-स्थिति-संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं पञ्चारमिदं संसारचक्रम् (१५७) प्रति-पाद्यते। शैवशाक्ततन्त्रेषु वर्णितेन सूषिट-स्थिति-संहार-निग्रह-अनुग्रहाख्येन कृत्यपञ्चकेन चैतत् तुलयितुं शक्यते। प्रवृत्तिमार्गोपदेशकेषु वैष्णवाग्मेषु हि कर्मणामेव भोगमोक्षप्रदत्तवं निर्दिष्टमिति भोगमोक्षपदाभ्यामेवावशिष्टं कृत्यद्वयं निर्दिष्टमत्र। ऐहिकाः पारलौकिकाश्च भोग अपि भगवत्स्वरूपा एवेति तेषां निरोधकत्वं तिरोधायकत्वं वा नाज्ञीक्रियते। निरोधानुग्रहौ शाङ्करवेदान्तसम्मताभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तुलयितुं शक्यते। तहि वैष्णवाग्मेषु शाङ्करमतप्रभाव इति सर्वत्र सद्गृह्यावलोक्यतां मतेऽस्मिन् कृत्यद्वयमेतद् भोगकैवल्यलक्षणमुपदिश्यते। शास्ते च क्रमदर्शने तदेतदनाख्यामासापदाभ्यां निर्दिष्टम्।

पेक्षणा किञ्चिद्दिलक्षणेन शब्दव्रह्मयेन वर्णचक्रेण समुद्रतानि (१६२-७६)। एषां वीजानां वाच्याः सर्वेश्वरो विशाखयूपः पद्मनाभादयो देवाश्च सन्ति। अन्तर्यागविधी वीजात्मनैव ते समाराध्यन्त इति भावः। तदेतेषां विभवदेवानां परिचयो गीणमुख्यप्रादुभावादिविचारश्च भाष्योक्तस्तत्रैवावलोकनीयः (पृ० १८४-१९०)। विशाखयूप-पद्मनाभ-ध्युवाणां ध्यानं नवमे परिच्छेदे (११४१-६०, १८-१०६), अन्येषां च द्वादशे परिच्छेदे (१२१४-१६७) द्रष्टव्यम्। पद्मनाभादीनां विभवदेवानां पिण्डपदमन्त्राश्च त्रयोर्विशेषे परिच्छेदे (२३१४-११३) समुद्रताः।

इदमत्रावधेयम्—विभवदेवेषु “लोकनाथस्तु<sup>३</sup> शान्तात्मा” (१८१) इत्येवं सविशेषणं लोकनाथो वर्णते। “शान्तात्मेति लोकनाथस्य विशेषणम्” (पृ० १८४) इति भाष्याकारोऽप्याह। द्वादशे परिच्छेदस्य ध्यानमेवं वर्णते—“लोकनाथं विशालाक्षं सर्वदेवतमस्तुतम्। वर्सिंहासनालूङ्गं ध्यायेन्मीलितलोकनम्। पद्मासनेनोणविष्टं पद्मगर्भोपमयुतिम्॥। कस्णाविष्टबुद्धिं च शङ्खपद्मकराङ्कितम्। ज्ञानवैराग्यसद्वर्ममार्गत्रयनिर्दर्शकम्॥” (१२१०८-११०) इति। “अस्य रूपान्तरं बुद्धावतार इति बोध्यम्” (पृ० २३९) इत्युक्त्वा भाष्यकारः पौष्करसंहिता-वर्चनमेवं समुद्रतरि—“लोकेश्वरः शान्ततनुर्बैद्धं यस्यापरं वपुः। नियन्ता बुद्धिमर्णां हिंसादोषस्य दूषकः॥” (३६।२२६) इति। अस्य स्थानं च पौष्करप्रामाण्येनैव प्रदर्शयति—“मगधामण्डले विष्र महाबोधवराग्निः। संस्थितो लोकनाथात्मा देवदेवो जनार्दनः॥” (३६।३५९-३६०) इति।

१. परस्य व्यूहतुष्ट्यस्य च वीजमन्त्राः पञ्चव्रह्म(पृ० ४८)-न्नद्व्यपञ्चक(पृ० ४८)-न्नद्व्यवीजचतुष्टय(पृ० ४९) पद्मलक्ष्मीतन्त्रप्रभृतिपु (१११६-१७, ३०-३३) वर्णिता द्रष्टव्याः। १४४-१४८ पृष्ठेष्व व्यूहानां पड़ज्ञानां व्यूहान्तराणां तदेवीनां च वीजान्युद्धतानि सन्ति। एतेषां पिण्डमन्त्रेष्वन्तरभविः कर्तुं शक्यते। विभवदेवानां वीजमन्त्राः (१८३-१८४ पृष्ठोः) द्रष्टव्याः।
२. सर्वेश्वरस्य विशाखयूपस्य वीजमन्त्र (१।६६-६७) समुद्रतूं वर्तते। पिण्डपदमन्त्रोद्वारास्ये त्रयोर्विशेषे परिच्छेदे तु पद्मनाभादीनामेव पिण्डमन्त्राः पदमन्त्राश्च समुद्रताः। तत्र विशाख-यूपस्य पिण्डमन्त्रस्य पदमन्त्रस्य वा समुद्रारो न दृश्यते। अत एव लक्ष्मीतन्त्रेष्टर्त्रिश-द्विभवदेवा इति प्रतिपादितं स्थात्।
३. अहिर्बुद्ध्यसंहितायामेकोनचत्वारिंशद्विभवदेवाः प्रतिपादिताः—“त्रिशच्च नव चैवते पद्मनाभादयो मताः” (५।५७) इति। अत भाष्यकारेण—पद्मनाभादोऽटर्त्रिशद्विभवदेवाः, तेषामधिपतिविशाखयूपस्त्वेकः। तेन सहैकोनचत्वारिंशद्वेवा इत्यभिप्रायेण “त्रिशच्च नव चैवते” इत्युक्तम्” (पृ० १८८) इति व्यवस्था दत्ता। इ.० श्रादरमहोदयेन तु स्वकीये ग्रन्थे (पृ० ४२, ४६) विशाखयूपं विहाय पद्मनाभादिष्वेकोनचत्वारिंशत्संस्यापूर्तये शान्तात्मा (२५) पृथग् देवत्वेन वर्णितः। अहिर्बुद्ध्यसंहितार्स्करणेऽपि (५६।३३) शान्तात्मनः पृथगुलेखो विधीयते। सात्वतसंहितायाम् (१२।११०) इत्यत्र शान्तात्मनो व्यानं विचरत इति च स वदति ( तत्रैव, ४६ पृ० टिष्पण्याम् )। एतच्च सर्वमसदिति विभावनीयं सुवीभिः।

अत्र भाष्यकारः—“तत्त्वत्रयव्याख्याने (पृ० ११०) बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृत्ये प्रतिपादितम् । विष्वक्सेनसंहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम् । उभयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीयः” (पृ० १८७) इति वदत्यस्मिन् प्रसङ्गे । तत्त्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहितायामन्तर्यामत्यन्तप्रादुर्भावप्रसङ्गे—“मोहनाख्यस्तथा बुद्धः” (पृ० ११०) इत्युच्यते । तत्रौबोद्धतसंहितान्तरेऽपि बुद्धाद्या अनुपास्या उक्ताः (पृ० ११०) । अलशिङ्गभट्टमतानुसारं च बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपाद्यते । “स्वेन रूपेणावतीर्णवान्” इति तत्त्वत्रयव्याख्यानस्थं (पृ० ११०) वचनमाचार्यहृदयस्यैव स्यात् । न केवलमाचार्यहृदये, विष्वक्सेनसंहिताप्रतिपादितेषु पट्टिशद्विभवेष्वपि लोकनाथः परिगण्यत एव । एवं च वचनयोरनयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीय इति शास्त्रानुसारी पन्थाः । ऐतिहासिकास्तु सात्वतायां लोकनाथो विभवेषु परिगण्यते । तामनुसरन्त्यपि विष्वक्सेनसंहिता बुद्धावतारस्यानन्तर्यामत्यन्तवं मोहनाख्यत्वं चाहेति कालस्यैवायं महिमा मन्तव्य इत्याचक्षीरन् ।

“नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च” (१८२) इत्यत्र विभवावतारचतुष्टयं वर्णयते । अत्र भाष्यकारः—“श्रीकृष्णस्य पारिजातहरशब्देनोक्तत्वात् तदनुकिर्ण शङ्कनीया । ननु—‘नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च’” (१८२) इति कृष्णस्तुच्यत एव, तदनुकिः केनोच्यत इति चेन्न; यथोऽत्र प्रतिपादितः कृष्णो न वसुदेवात्मजः, अपि तु धर्मात्मज इति बोध्यम् । तथा च पौष्करे—“धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम् । प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम् ॥” (३६।२०७) इति । ननु चात्र केवलकृष्णशब्दस्योक्तत्वाद् वसुदेवपुत्रः प्रसिद्धः कृष्ण एव स्यादिति चेन्न, साहचर्यविरोधाद् वक्ष्यमाण (१२।१४५-१४६) ध्यानविरोधाच्च” (पृ० १८९) इति व्याच्छष्टे । न केवलं कृष्णः, नराद्यं कृष्णपश्चिमं विभावतारचतुष्टयमपि धर्मात्मजवेन पूर्वोद्धतायां पौष्करायां प्रतिपाद्यते । एतच्च समर्थ्यते महाभारतेनापि—“नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः”<sup>१</sup> (१२।३३४।९), “एका पूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा । धर्मस्य कुलसन्ताने”<sup>२</sup> ॥ नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा ॥” (१२।३३४।१६-१८) इति । पौष्करायामप्युच्यते—“चतुर्मूर्तिमयो विप्र नरो नारायणो हरिः । कृष्णसंज्ञश्च भगवान्” (३६।२०९) इति ।

एतेषां ध्यानानि द्वादशो परिच्छेदे (१३६-१४८ श्लोकेषु) द्रष्टव्यानि । अत्र च नरनारायण-हरि-कृष्णानां क्रमेण जप-योग-क्रिया-तपःपरिक्षत्वं वर्णयते । तपोयागजपध्यानस्वरूपोऽत्तर्वेद्यां चतुर्धा प्रवर्तमानोऽयं महामखो वराहध्यानावसरेऽपि निरूप्यते (१२।४५) । अत्र यागशब्दः क्रियावाचकः, ध्यानशब्दस्य योगवाचको ध्येयः ।

### शक्तीशस्तस्य शक्तयश्च

यद्यपि सर्वेषां देवानां कामरूपधरत्वमव्याहृतम्, तथापि सर्वे देवा युगपत् कामरूपधरा न भवन्ति । जाग्रद्व्यूहवासुदेवादीनां मध्ये, पद्मनाभादिविभवदेवानां मध्ये वा एको जगद्वक्षणार्थं

१. “स्वयम्भुव इत्यनेन वासुदेवस्यैवैते चत्वारो व्यूहा अजन्मानः” इति तटीकाकारो नीलकण्ठः ।

वक्त्रभुजास्त्रशक्तिवाहने<sup>१</sup>भेदैर्बहुधा रूपं विभ्रत् शक्त्यात्मसंज्ञां लभते (१२।१७३-१७६)। एतच्च स्वरूपं विभवान्तर्गतशक्त्यात्मस्वरूपाद् भिद्यते । सोऽयं शक्त्यात्मा (शक्तीशः) भगवाने-काद्येन कान्तागणेन सह घोडा स्वात्मानं विभजति । लक्ष्म्या समेतमेकं रूपम्, श्रीपुष्टचोर्मध्यस्थं द्वितीयं रूपम्, श्रियादिमायानिष्ठेन चतुष्कणेवृतं तृतीयम्, शुद्धचादिकेन षट्केन संवृतं चतुर्थम्, क्रियाद्येन पुष्टचन्तेनाष्टकेन संवलितं पञ्चमम्, लक्ष्म्याद्येन द्विषट्केन समन्वितं च पठ्ठं स्वरूपं भवति (१२।२०५-२०९) । कान्तागणेषु श्यादिचतुष्टयस्य, शुद्धचादिष्टकस्य, लक्ष्म्याद्यष्टकस्य च नामधेयान्यत्र (१२।२०९-२१२) प्रोक्तानि । लक्ष्म्यादिद्विषट्कस्य तु पूर्वमेव वैभवे योगे विभवदेवताकथनप्रकरणे (१।८५) नामानि कथितानि “शक्तिसंधात् प्रधानो य शक्तिशंघः स उच्यते” (१।८४) इत्युक्तिपूर्वकम् । एवं च कान्तागणोऽयं शक्तिसंघदेवाप्यत्र कथ्यते । अष्टमपरिच्छेदेऽपि (८।३१-३२) व्यूहान्तरस्य (मूर्त्यन्तरस्य) देवीद्वादशकं वर्णते । अत्रत्येन द्विषट्कपदेन ताः कर्णं न गृह्णत्त इत्यर्थं विचारो भाष्यकारेण समुपस्थापितः समाहित-श्चेति तत्रैव (पृ० २५५-२५६) द्रष्टव्यम् । पद्मनाभादीनां प्रसिद्धौः शक्तय ईश्वरलक्ष्मीतन्त्रयोः प्रतिपादिता भाष्यकारेण चात्र (पृ० १९१) संगृहीताः । पोढा विभवतस्य सुन्दरीगणस्य ध्यानानि, तासां विन्यासक्रमः, लाज्जनास्त्रादिकं च त्रयोदशे परिच्छेदे (इलो० ३५-५९) वर्णमानमवलोकनीयम् ।

सर्वंगस्य भगवतो य आद्योऽनीषोमात्मको देहो विद्यते, तत्रामिश्रं<sup>२</sup> भिन्नलक्षणं शक्तिद्वयं

१. वक्त्र-भुज-अस्थ-शक्ति-वाहनभेदैर्भगवदवताराणां स्वरूपं भिद्यत इति तत्तदेवताध्यानावलोकतेन स्फुटीभवति । सात्वतायामस्त्राणां शक्तीनां वाहनानां च वर्णनं पृथग्रूपेणापि वर्तते । तत्र शक्तीनां वाहनानां च स्वरूपमत्रोपोद्घाते विवृतम् । भूषण-लाज्जनास्त्रादीनां नामानि नवमे (इलो० ८६-८९), तेषां ध्यानादिकं चात्र त्रयोदशे परिच्छेदे (इलो० १-३४) दृश्यन्ते ।
२. अत्र नवमे द्वादशे च परिच्छेदे विभवदेवताप्रकरणे शक्तिसंघे प्रधानः शक्तिसंघो द्वादश-देव्यात्मकः पद्विधश्च कान्तागणः प्रतिपादितः । तेन सात्वतायां विभवदेवताभिः सह एष कान्तागण एव दुजनीयत्वेन निर्दिष्टो मन्त्रव्यः । नात्र विभवदेवानां स्वतन्त्राः शक्तयः क्वापि निर्दिश्यन्ते । चातुरात्म्यचतुष्टयेषु विभवदेवेषु वा यः किंचदुपास्यत्वेन त्रियते, स एव शक्तीश उच्यते । तस्यैव च वक्त्रभुजास्त्रशक्तिवाहनादिभिः परिवृतस्याद्यनं विधेय-मिति तत्र प्रतिपाद्यते ।
३. अमिश्रं भिन्नलक्षणमिति विशेषणद्वयेन स्पष्टमत्र शक्तिशक्तिमतोभेदः प्रतिपादाते । अहिर्बुद्ध्य-संहितायां तु तृतीयेऽध्याये प्रथमं शक्तिमतः शक्तेरपृथक्सिद्धत्वं सदृष्टान्तं प्रतिपादितम् (३।२-६) । अनन्तरं च—“देवाज्जक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः” (३।२५) इति भिन्नत्वं च निरूपितम् । भेदश्चायां धर्मधर्मिस्वरूपोऽभिमतः । एवं चात्रत्यं शक्तिस्वरूपं प्रायः शैवैः शक्तेश्चागमिकैः स्वीकृतस्य तस्यानुकृतिरूपं प्रतीयते ।

राजते । भोगार्थं लोकानुकम्पयाऽवतीर्णस्य तस्य 'भोक्तृशक्तिर्लक्ष्मीः स्मृता, पुष्टिश्च कर्तृशक्तिः कथ्यते । एतच्चाव्ययं शक्तिद्वितयं तेनैव सह उदितम्, यस्य हि नानात्वेन शक्तिसंघरूपेण परिणामो लोकानुकम्पार्थं भवति (१३।४८-५१) ।

परमं ब्रह्म सर्वशक्तिमयेन स्वकेन स्वभावेन सहैवाभ्युदेति । यथा ओजो बलात्मना, गन्धो द्रव्यात्मना, वीजं तस्यवरूपेण, समुद्रो ब्रह्मात्मना परिणमते, एवमेवाऽव्यपदेश्यायाः शक्तेः स्वे शक्तिदर्पणे स्वातन्त्र्यात् स्वेच्छाया स्थितिमादाय विशेषो मन्त्रस्थापां ततुं धन्ते (२५।१४८-१५१) । एतच्चाग्रे भविष्यति ।

#### प्राणाधिपतयः सत्यादयः

पूर्वोक्तः शक्त्यात्मा (शक्तीशः) भगवान् यदा वाहनरूपं धारयति, तदा सत्य-सुपर्ण-गरुड-ताक्ष्य-विहृणेश्वररूपेण विवर्तते । 'पञ्चात्मकस्य प्राणस्य विकारस्त्वेष पञ्चधा' (१२।१७८), 'अपानादिसमीराणामाधिपत्येन संस्थिताः' (१२।१८४) इति हि प्रोच्यते सात्वते । अत्र 'वीर्यपातात्' (१२।१९४) इत्यादिना स्वाभाविकी मानवी भावना भगवत्यारोप्यते । सत्यादीनां स्वरूपाध्यानादिकं तत्रैव (१२।१७८-२०२) द्रष्टव्यम् । अत्रैव वाहनारूढस्य द्रिभुजस्य शक्तीशस्य स्वरूपमप्यवलोकनीयम् (१२।२०३-२०५) । भुजवक्त्रवर्णेभन्नस्य शक्तीशस्य शीत्युत्तरचतुःशताधिकसहस्रमेदो भवन्तीति—“पुनर्चतुर्भुजस्यैवम्” (१२।२१३-२३१) इत्यादिना प्रतिपाद्यते । सोऽयं शक्तीशो विहृणेश्वराढो राजते (१२।२०२-२०३) । अनिरुद्ध-प्रद्युम्न-सङ्खर्ण-वासुदेवाश्च क्रमशस्तार्द्ध-गरुड-सुपर्ण-सत्यारूढा भवन्ति (१२।२४०-२४१) । आदि-सूर्तर्वासुदेवस्य शक्त्यात्ममूर्तेश्च वर्णलाङ्घनतुल्यत्वेऽपि तदध्वजद्यमनयोर्भेदकृद् भवति (१२।२४३) । वासुदेवादीनां हस्तस्थितपद्मादिलाङ्घनानि प्रकृतकार्यानुसारेण कदाचित् शान्तरूप-मङ्गीकृत्यामूर्तानि भवन्ति, कदाचिदिच्छालूपगङ्गीकृत्य सूर्तमन्ति भवन्ति । तस्माल्लाङ्घनैर्भेदो न ज्ञायते, तत्तदध्वजेनैव तत्तन्मूर्तिमेदो ज्ञातव्यः (१२।२४५) ।

#### भवोपकरणम्

शक्तिसङ्ख-किरीटादिप्रधानभूषणचतुष्टय-वाहन - चक्रादिसप्तदशप्रधानायुध - अङ्गमन्त्र-गणान्वितमेतत् पद्मनाभादिविभवेदवताचक्रं देवदेवस्य विशाव्यपूपस्य विग्रहे संलीनमवतिष्ठते (१।८४-८९) । नानाविभवमूर्तीनां शासनेऽवस्थितं भवोपकरणाख्यं गीर्वाणिगणं चतुर्विशतिसंख्याक-मप्यत्र (१।९०-९५) वर्ण्यते । एतच्च प्रकरणं<sup>३</sup> डॉ श्राद्धरमहोदयेन सटिष्पणीकं व्याख्यातम् । तदानीन्तने सात्वतसंहितासंस्करणे “समुद्राः सगणाः शिवाः” (१।९१) इति पाठो दृश्यते । एष

१. भोक्तृशक्तिः कर्तृशक्तिश्चेति शक्तिद्वयमेवाहिर्बुध्न्यसंहितायां भूतिशक्तिः क्रियाशक्तिरिति च नाम्ना निर्दिष्टम् । तत्र क्रियाशक्तिः शुद्धसृष्टिम्, भूतिशक्तिश्च शुद्धेतरसृष्टिं जनयति । नाव शैवशाकतागमवच्छक्तित्रयं स्वीक्रियत इति वैशिष्ट्यं सात्वतायाः प्राचीनताद्योतकम् । लक्ष्मीतन्त्रे तु शक्तित्रयमप्यङ्गीकृतम् । तत्र शक्ततत्त्वाणां स्पष्टः प्रभावः परिलक्ष्यते ।
२. गन्धपदमत्र तन्मात्रापययितया उन्नेयम् ।
३. तस्मिन्नेव ग्रन्थे १४९-१५० पृष्ठे द्रष्टव्ये ।

चाशुद्धः पाठ इति तैः संभावितमासीत् । संभावनेयं सत्या तावद् दृश्यते । “सरुद्रः सगणः शिवः” इति हि शुद्धः पाठः । भाष्यकारेण चैवं व्याख्यातः—“सरुद्रः सगण इति च शिवस्य विशेषणम् । रुद्रैरेकादशभिः सह वर्तत इति तथोक्तः” (पृ० १९२) इति । भवशब्दः स्वयं संहितायामेवं चिवृतः—“भवः साक्षात् प्रधानं तु व्यापको जडलक्षणः ॥ मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सोऽपि पूज्यत्वमेति च ॥” (१९५-१६) इति । भाष्यकारेण चैवं व्याख्यातः—“भवत्यस्मात् सर्वमिति भवः, प्रकृतिरित्यर्थः । प्रधानं प्रधानशब्दवाच्यः” (पृ० १९२) इति । एवं च भवोपकरणमेतद् गीर्वाणगणं प्राकृतिकजगन्निमणि सहायकं मन्तव्यम् । ध्यानमेतेषां त्रयोदशे परिच्छेदे (श्लो० ६०-६१) दृश्यते । त एते सर्वे देवाः सिद्धदशकसमन्विता दशमपरिच्छेदोक्ते मण्डले यथायर्थं विनियुज्यन्ते ।<sup>१</sup>

### सिद्धदशकम्

तत्र हि मण्डलेऽन्नौ जलमध्ये च विभवदेवानां बाह्यार्चनक्रमः पृच्छते, मण्डललेखन-प्रकारप्रदर्शनपुरस्सरं च तदर्चनक्रमोऽत्र वर्णते । बीजन्यासमन्त्रन्यासपुरस्सरं वैभवमुद्राप्रदर्शनेन पूर्वं साधकेन स्वदेहस्य सर्वदेवमयत्वं साध्यते । तदनु मण्डले यथायर्थं देवानां विन्यासो विधीयते । अत्रैव चतुर्विशतिसंख्याकभवोपकरणदेवानां सिद्धदशकस्य च विन्यास उपदिष्टः । तत्र सिद्धदशकोपन्यासस्यायं क्रमः—

उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे द्वुरतिक्रमः ।  
महाहृदः पश्चिमे तु वसुरेतास्तथोत्तरे ॥  
न्यस्यस्तेजो धरारूपस्तु पूर्वदक्षिणमध्याः ।  
नैऋते तु महाकर्मा त्वग्राहाः पश्चिमोत्तरे ॥  
पूर्वोत्तरे वर्धमानः साक्षी गगनगोचरे ।  
३आधारनिलयं नाम्ना सर्वस्यादोगतं स्मरेत् ॥ (१०१२६-२८)

एवमत्र परच्छूहविभवाख्यं त्रिविधं ब्रह्म सपरिकरं व्याख्यातम् । अर्थाद् ४१कमूर्तेः परवासुदेवस्य, सर्वासां मूर्तीनां व्यूहवासुदेवादिमूर्तीनाम्, मूर्त्यन्तराणां केशवादीनाम्, प्रादुर्भाविगणस्य

१. मन्त्रस्य मन्त्रेश्वरस्य च न्यासाज्जडमणि प्रधानं यदा पूज्यत्वमेति, तदा साधको मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासाद् ब्रह्म सम्पद्यत इत्यत्र किमु नाम वक्तव्यम् ।
२. नवमे परिच्छेदे परिवारदेवताभिः सह (श्लो० ११८, १३५) नानसार्चनम्, मूर्ती, मण्डलमध्ये, अग्नौ, जलाशये चार्चनमेषां भवोपकरणदेवानां विहितम् । पञ्चर्चिवशे (श्लो० २२७, ३०१) च प्रासादपीठादिषु तेषां स्थापनार्चनादिविषयको विचारः कृतः ।
३. त केवलमात्रारनिलयस्य, अपि तु सिद्धदशकस्य नामान्येतानि सर्वाणि विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे दृश्यन्ते, व्याख्यातानि च तानि पराशारभट्टारकेण शङ्कराचार्यवर्णेण च, किन्तु सात्वतीयस्य अस्य प्रकरणस्य कुत्राप्युल्लेखो न दृश्यते ।
४. एते शब्दा अत्र (२५।३२२-३२३) श्लोकयोः प्रयुक्ताभाष्ये व्याख्याताश्च ।

पद्मनाभादिविभवावतारगणस्य, प्रादुर्भावान्तराणां विभवान्तराणां च शक्तीश-शक्ति-वाहन-भवो-पकरणादीनां स्वरूपमुन्मीलितम् । परस्वरूपविवरणप्रसङ्गे परावाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रमयी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्थ विभोः शक्तिरिति सापि तथैव सूक्ष्मा निर्दिष्टा । परावाग्भ्रमरी चैषा तैलधारावदविच्छेदेनाकारादिहकारान्तं शब्दब्रह्माख्यं नादं नदन्ती राजते । नादो हि नाम नाद-बिन्दुमध्यमावैख्यर्थ्ये शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुर्ष्टये प्रथमावस्थेत्युक्तम् । “द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माऽधिगच्छति ॥”<sup>१</sup> इति च श्रूयते । तदथुना शब्दब्रह्म विविच्यते ।

## शब्दब्रह्म

द्वादशो परिच्छेदे विभवावतारान्तर्गतिस्त्र वेदव्यासस्य ध्यानप्रसङ्गे—“वाग्वेदमण्डलं यो वै स्वरूपद्युतिलक्षणम् । स्वयं स्वोत्तं विभजति नित्यं पश्यन्तिपूर्वकम् ॥ बोधमास्तहृत्यूर्वस्थाने-ष्वभ्युदितं क्रमात् ।” (१५।१५३-१५४) इत्यत्र शब्दब्रह्म व्याख्यायते । “स्वरूपद्युतिलक्षणम् अन्तःस्थितज्योतिःस्वरूपमित्यर्थः,<sup>२</sup> “स्वरूपज्योतिरेवान्तर्भावयन् संस्थितं हृदि” (३४।६३) इति पौष्करोक्तते । केवलशान्तरूपमिति यावत् । वाग्वेदमण्डलं शब्दब्रह्मेत्यर्थः । <sup>३</sup>पश्यन्तीपूर्वकं त्रिधा विभजति पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदस्त्रंधा विभक्तं करोतीत्यर्थः । “बोधमास्तहृत्यूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमादिति पश्यन्त्याद्यवस्थात्रयस्य विशेषणं बोध्यम्” (पृ० २४५) इत्येवं भाष्यकारः सार्थमेतत् श्लोकं व्याख्ययौ ।

अत्र मूले स्पष्टं वाक्त्रयं तदुत्पत्तिस्थानत्रयं च प्रतिपाद्यते । भाष्यकारस्तु—“एताः शब्दब्रह्मणोऽवस्थाः सुव्यक्तमुक्ता लक्ष्मीतन्त्रे” (पृ० २४५) इत्युक्त्वा, वाक्त्रतुष्टयप्रतिपादकान् तत्रत्यान् श्लोकान्, “वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा” इत्युक्तं च क्वाचित्कां समुदाजहार । कथमेतत् संगच्छेत् ? इति चेत्, अत्रैव—“परा वाग्भ्रमरी स्थिता” (२।६७) इत्येवं पराया वाचोऽपि वर्णनदर्शनात् तत् समाधेयम् । तथा च वाग्वेदमण्डलं परावागात्मकं शब्दब्रह्म पश्यन्ती-पूर्वकं त्रिधा विभजतीति व्याख्येयम् । बोधमास्तहृत्यूर्वेत्यत्र पूर्वपदेन कण्ठादिस्थानानामध्याहारो विधेयः । तथा च बोध-मास्त-हृदय-कण्ठस्थानेषु तदभिव्यक्तमित्यर्थः करणीयः । एवं चार्थं कृते सति पूर्वपिरविरोधः परिहृतो भवति ।

१. मैत्रायण्युपनिषदि (६।२२), महाभारते (१२।२३।२।३०, १२।२७।०।१-२), विष्णुपुराणे (६।५।६४) चौपलभ्यतेऽयं श्लोकः । पुराणेष्वन्येषु च बहुशु ग्रन्थेषु परिदृश्यते ।
२. “ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थ्यपरिग्रहः । परेण ज्योतिरैकत्वं हित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥” (पृ० २०३), “स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वाग्नपायिनी” (पृ० २१९) इति वाक्यपदीय-स्वोपज्ञटीकायाम् ।
३. “वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतद्दुर्तम् । अनेकतीर्थभेदायास्त्रया वाचः परं पदम् ॥” (१।१३४) इत्यत्र वाक्यपदोये यद्यपि त्रिविधैव वाक् प्रपञ्चता, किन्तु स्वोपज्ञ-व्याख्यायां “स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वाग्नपायिनी” (पृ० २१९) इत्यत्र परा वाचपि परामृष्टैव ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः कथं नामै परंब्रह्माधिगच्छतीत्यं विषयोऽन् दीक्षाप्रकरणे ऊर्जिविशेषे परिच्छेदे प्रतिपादते । तथाहि—<sup>३</sup>वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं यत्परं ब्रह्म तत् स्वशक्त्या स्वयमेवाखिलजीवानां मुक्तये शब्दब्रह्मभावेनोदेति । तन्त्रीशब्दवदव्यक्ताक्षरं तच्छब्दब्रह्म अकारादिक्षकारान्तवर्णरूपेण पुनर्व्यक्ततां याति । तदस्याव्यक्ताक्षरस्य शब्दब्रह्मणः प्रथमरूपस्य परिज्ञानं चातुरात्म्यस्य भगवतोऽनुग्रहं विना वेदविदां विदुषामपि दुर्लभम् । स शब्दमूर्तिर्भगवान् ततः कलात्मना परिणयते । यावत् परब्रह्मणो निरञ्जना मूर्तिः षाढगुण्यकलात्मना न परिणयेत्, तावदमूर्तीं तत्परब्रह्म वद केन कथं वा ग्रहीतुं शक्येत् । प्रभवाव्ययलक्षणानि पूर्वोक्तानि वासुदेवाद्याध्यक्षान्तानि सर्वाणि तत्त्वानि कलामयानि भवन्ति । तत्त्वेभ्योऽणिमादिर्गुणैर्युता ज्ञानैश्वर्यादिष्ट्वान्तम् का हृदयाद्यङ्गमन्त्रैरन्विताश्च मन्त्रा निर्गच्छन्ति । तैर्मन्त्रैः कर्मिणामात्मलाभार्थं मोहार्थं तत्क्षयाय च तुर्याद्यं पदम्, गुणत्रयमयं द्विसप्तभुवनं विश्वं च प्रवर्तते । एवं<sup>३</sup>षडध्वात्मकं जगत् परिनिष्पन्नं भवति । सितासितोऽयमध्वा हेयोपादेयलक्षणः । तदेतस्मिन्<sup>४</sup> अध्वषट्के भुवनाध्वनः, पदाध्वनि स्थितस्य सुषुप्त्यादिपदत्रिकस्य च हेयत्वम्, तुर्यपदस्य मन्त्राध्वादीनां चतुर्णा चोपादेयत्वं ज्ञेयम् । अत्रापि व्यपेक्षाभेदेन हेयता उपादेयता च प्रवर्तते । मुमुक्षोः शुद्धाः सन्तोऽनपेक्षायामुपेया अपि हेयपक्षान्तर्गता भवन्ति ।

विवेकपदसंस्थस्य दीक्षया संस्कृतस्य शिष्यस्य यत्र विश्रामो जायते, तद् वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म । यथाऽन्वरं बहूनां परमाणूनामास्पदं भवति, तद्वत् तदिदं परं ब्रह्म अनाद्यप्रबुद्धानां<sup>५</sup> जीवानां निकेतनं विद्यते । एतच्च भुवनानां पदानां चान्तः प्रतिष्ठितम् । ईश्वरेच्छयैव मायीयेऽस्मिन्नाध्वद्वये मन्त्राः सुखदुःखमयैर्भौर्गैर्जीवान् क्रीडयन्ति । ईश्वरेच्छानुविद्धानां भवतानां समक्षं चाध्वद्वयोर्ध्वर्वस्था मन्त्रा आज्ञाप्रतीक्षका भवन्ति । ते तान् कर्मिणो मायीयाध्वद्वयादूर्ध्वं-मणिमादीनां भोगानां प्राप्तये स्वस्थानं नयन्ति । तद्द्वोगाद् विरक्तस्य स्वशक्त्या स्वव्यापारवशेनामृतोपमे तत्त्वाध्वनि प्रेरयन्ति, यत्र संस्थितः स अणिमादिभोगान् तृणानीव मन्येत् । तत्रापि विरक्तं पुरुषमनिरुद्धादयः शाश्वते कलाध्वनि सम्यग्यथतां नयन्ति । तदनु कलाध्वनि स्थितः षाढगुण्यमयोर्ध्वमूर्तिभृद् वासुदेवो नित्ये स्वात्मनि शब्दब्रह्माभिषे वर्णाध्वनि तस्य योजनां करोति, यत्रस्थः स शिष्यः स्वयमेव सुशान्तं भगवत्पदं प्राप्नोति, परंब्रह्माधिगच्छति ।

पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य लब्धशुद्धस्वात्मस्वरूपस्य साधकस्य योऽनुभूतिपदं याति, स धारासन्तानानुरूपधृत् भिन्नवर्णमयः शब्द एव वर्णाध्वा कथ्यते । सोऽयं वर्णाध्वा प्रभवक्रमेऽकारात् सकारान्तम्, अप्ययक्रमे च हकाराद् आकारान्तं चातुरात्म्यसमूहरूपेण भावनीयः । तस्यायं क्रमः—

१. तथा हि स्वोपज्ञटीकायां भर्तृहरिः—“ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः । परेण ज्यौतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥” (पृ० २०३) इति ।
२. एतच्च प्रकरणं सात्वतायां १९।१२७ श्लोकात् प्रवर्तते ।
३. “वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः” इति शीषकेऽस्मदीये निबन्धे विषयोऽयं विस्तरेण व्याख्यातोऽवलोकनीयः (सारस्वती सुषमा, व० १७, अ० १-२, पृ० १७९-२००) ।
४. षडध्वनामेतेषामत्र (२४।३५७-३५९) प्रासादेऽपि भावनमुपदिष्टम् ।
५. अत्र ३० पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकारश्चतुरात्मनाम् ॥  
आकारस्त्वप्यये चैव तुल्यताऽतोऽनयोः स्मृता । ( १९१५४-१५५.)

प्रभवे<sup>१</sup> हकारश्चतुरात्मनां द्वादशान्तः<sup>२</sup> अप्यये च अकारश्चतुरात्मनां द्वादशान्तं इत्यन्वयः । द्वादशान्तो धारणाद्विषट्कान्ति॑ इत्यर्थः । अत्राकारादिहकारादिष्वेकोनपञ्चाशद्वर्णेष्व-कारादिसकारान्तं वर्णचतुष्टयक्रमेण द्वादशा व्यूहा भवन्ति । तदुपर्यवशिष्टस्य हकारस्य द्वादशान्तत्वम्, एवमप्ययक्रमे हकारमारम्भाऽकारान्तं व्यूहद्विषट्कानन्तरमवशिष्टस्याऽकारस्य द्वादशान्तत्वमिति भावः ।

वर्णमये व्यूहसमूहेऽस्मिन् ४ज्ञानसमाधिना साधकेन वासुदेवमारम्भ एकैका मूर्तिर्विश्रामः,<sup>५</sup> उदयः, व्याप्तिः, व्यक्तिरिति रूपेण भावनीया । विश्रामो नाम वर्णनां सूक्ष्मा(परा)६वस्था, उदयः पश्यन्त्यवस्था, व्याप्तिर्मध्यमावस्था, व्यक्तिर्वेखर्यवस्था । एवं वासुदेवाद्यैकैकमूर्तिरिति विश्रामादिचतुष्टयेन युक्ता ज्ञेया । तत्र विश्रामस्तुरीयव्यूहावस्था । उदयः सुषुप्तिव्यूहावस्था । व्याप्तिः स्वप्नव्यूहावस्था । व्यक्तिर्जग्निद्व्यूहावस्था । एवं विश्रामादिशब्दवाच्यतुरीयव्यूहावस्थादि-चतुष्टयविशिष्टा वासुदेवादिमूर्तिर्विश्रामादिशब्दवाच्यसूक्ष्मावस्थादिचतुष्टयविशिष्टेष्वकारादिवर्णेषु दण्डवत् संनिवेशेन संस्थिता । एवं चाकारादिष्वेऽशवणीनां चतुष्टयचतुष्के जाग्रदव्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, थकारादिसकारान्तषोडशवणीनां चतुष्टयचतुष्के सुषुप्तिव्यूहमूर्तयः, एतद्द्वादशान्ते हकारे “अभेदनादिमूर्तिर्वें शुद्धसंविन्मयं महत्” (५।८१-८२) इत्युक्तलक्षणा तुरीयव्यूहमूर्तिरित्यर्थो ज्ञेयः । एवं हकाराद्यकारान्तं प्रातिलोक्येनापि ज्ञेयम् ।

१. प्रभवे हकारः, अप्ययेऽकारोऽवशिष्यतेऽनया प्रक्रिया । नानाशक्तप्रन्थोदधृतसंकेतपद्धत्याम्—“अकारः सर्ववर्णग्रन्थः प्रकाशः परमः शिवः” इति, “हकारोऽन्त्यः कलाल्पो विमशरिष्यः प्रकीर्तितः” इति चाकारहकारयोः प्रकाशविमर्शत्मकत्वं स्याप्यते । अत्राप्यकारहकारौ ध्येयौ, तत्रापि च । प्रक्रिया तु भिद्यते ।
२. द्वादशान्तपदमस्माभिर्विज्ञानमैरवोपोद्घाते व्याख्यातम् (पृ० २६-२७) । अत्र तु हकारस्य अकारस्य च द्वादशान्तत्वं प्रतिपाद्यते । धारणानां द्विषट्कं (द्वादशकम्) अत्र चातुरात्म्यत्रयं चतुर्धा विभज्य व्याख्यायते । तदन्ते च परवासुदेव एवावशिष्यत इति द्वादशान्तपदेन तस्यैव परिग्रहोऽत्र मन्त्रव्यः ।
३. द्विषट्कपदस्य प्रयोगो विज्ञानमैरवादिष्वपि (श्लो० २८) दृश्यते । धारणानां द्विषट्कमनुपद-मेवात्र व्याख्यास्यते । एतदेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि (२०।१३-२३) ।
४. ज्ञानभावना-त्रह्यसमाधिपदाभ्यां व्याख्यातोऽयं ज्ञानसमाधिद्वितीये परिच्छेदे (श्लो० ६०) तद्भाष्ये (पृ० २५-२६) च ।
५. विश्राम(विश्रान्ति)-उदय-व्याप्तिशब्दा नित्याषोडशिकार्णवे (४।२) तद्व्याख्ययोश्च ऋजु-विमर्शीनी-अर्थरत्नावल्योः (पृ० १९१, २०५, २३१, ३४७) प्रायोऽस्मिन्नेवार्थं प्रयुक्ताः ।
६. परा वाग्यमत्र शान्तरूपा सूक्ष्मा चोपवर्णिता (पृ० २७, २४५-२४६, ४०३) ।

एवं वर्णाद्धिवानं विचार्य प्रकरणमिदमेवमुपसंहिते भगवता—“द्विषट्कं धारणां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् । सोपानभूतं यत् क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेषं परम्” (१९।१५८) इति । एवं वर्णाद्धिवनः शब्दब्रह्माभिधस्य स्वरूपपरिचयाद् हृत्पद्मोदरसस्थितम् “तत्राब्जं चार्कमालम्ब्य परावाग्भ्रमरी स्थिता” (२।६७) इत्याद्युक्तप्रकारे रहृदयकमलान्तःस्थितं शब्दब्रह्म, तदनु च सुशान्तं भगवत्पदं (परंब्रह्म) व्यक्तिभावमेति ।

### वर्ण(मातृका)चक्रम्

वर्णाद्धिवनः शब्दब्रह्मयत्वादेव मातृकाचक्रापराभिधानस्य वर्णचक्रस्यापि शब्दब्रह्मयत्वं सिद्ध्यते । अत एवोच्यते—“शब्दब्रह्मयं चक्रम्” (१।६५) इति । तदेतद् <sup>१</sup>वर्णचक्रं द्विविधमत्र प्रदर्शितम् । परव्यूहमन्त्रोद्भारार्थमेकविधम्, विभवमन्त्रोद्भारार्थं चापरविधम् । नृसहावतारस्यापि विभवदेवतान्तःपातित्वात् तन्मन्त्रस्य द्वितीयेण वर्णचक्रेणोद्भारः सम्पद्यते ।

शब्दब्रह्म यथा परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदेन चतुर्धा भिद्यते, तथैवेदं शब्दब्रह्मयं वर्णचक्रम् अमल-शान्त-शान्तोदित-उदितभेदेन चतुर्धा विभज्यते । एतेषां लक्षणानि तत्रैव (२५।२७५-२८१) द्रष्टव्यानि ।

### मन्त्राः

बीजं तस्वरूपेण, समुद्रो बुद्बुदात्मना यथा परिणमते, एवमेवाऽव्यपदेशयाः शक्तेः स्वे शक्तिदर्पणे स्वातन्त्र्यात् स्वेच्छाया स्थितिमादाय विश्वेशो मन्त्ररूपां तनुं धत्ते (२५।१४८-१५१) । यथा हि सर्वगतो वायुर्यजनेन विभाद्यते, तथैव भगवानाहृतो मन्त्र-बिष्ट-कुमभ-मण्डल-अग्निप्रभृतिष्वभिव्यज्यते (६।१६-१७) । एतेषु तस्य मन्त्रशारीरमेव मुख्यं भवति । तेनैव हि भगवानन्तर्यागिविधिना समाराध्यते, वाच्यवाचकभावेन च तत्र संतिष्ठते (६।१३३-१३४) । अत एव—“भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि” (२१।६२) इति समयपञ्चकेषु मन्त्रभक्तिरपि समावेश्यते । एष च विमलदीधितर्मन्त्रो हृदयादवतार्यते (१७।६१) । नाभिचक्रे, हृत्पद्मे, कन्दमूले, गलावटे, भ्रूमध्ये, ब्रह्मरन्ध्रे च तस्य ध्यानं विधीयते (२१।५१) ।

तदेतद् भगवतो मन्त्रस्वरूपं संज्ञा-पद-पिण्ड-बीजभेदेन चतुर्धार्धं भवति । विभवदेवताप्रकरणे तदेतत् सलक्षणं निरूपितम् । बीजपिण्डमन्त्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावादिकं <sup>२</sup>ब्रह्मवर्णत्वादिकं च च निरूप्यानयोर्थावत्परिज्ञानान्निर्बीजपदसर्वपदप्राप्त्यादिकमत्र नवमे परिच्छेदे वर्णितम् । व्याख्यातं च तद्भाष्ये विस्तरेणेति तत एवावलोकनीयम् (पृ० १७७-१७८) ।

### प्रणवः

त एते बीजपिण्डसंज्ञापदमन्त्राश्चत्वारोऽपि प्रणवस्य परिणामा इत्यत्रैव प्रतिपाद्यते—  
य उँकाराद्यशब्दस्य विवर्तो दीघितिप्रभः ॥

- 
१. प्रथमं वर्णचक्रं द्वितीये परिच्छेदे (श्लो० १४-२३), द्वितीयं च नवमे (श्लो० ६२-६५) प्रदर्श्यते । सप्तदशो परिच्छेदे (पृ० २९१) च नवमपरिच्छेदोक्तमेव वर्णचक्रं स्मर्यते ।
  २. बीजपिण्डयोर्ब्रह्मता स्थूलता वैखर्यवस्थापन्ना, वर्णता सूक्ष्मता च मध्यमावस्थारूपेति भाष्यकारः (पृ० १७७-१७८) ।

चिलक्षणस्त्वनाकारो विद्धि तद्वाचकं त्रिधा ।

क्वचित् पिण्डं क्वचिद्गीजं क्वचिच्छब्दमनाहतम् ॥” (९२१-२२) इति ।

एवमेवोपबृहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

शब्दब्रह्मविवर्तोऽयं किरणायुतसंकुलः ।

चिलक्षणः षड्गुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः ॥

क्वचिद्गीजं क्वचित्पिण्डं क्वचित्संज्ञा क्वचित्पदम् ॥

तुर्यं सुषुप्तिः स्वप्नं च जाग्रदव्यूहादयः क्रमात् । (२१९-११)

एवं च मन्त्रप्रतिपाद्यस्य भगवतः परसूक्ष्मस्थूलभेदेन त्रैविध्यम्, तत्र सूक्ष्मस्य तुर्यं-  
सुषुप्तिस्वप्नभेदेन त्रैविध्यं च यथा प्रतिपादितम्, तद्विद्धिपि प्रणवस्य परत्वम्, बीजपिण्डसंज्ञा-  
मन्त्राणां तुर्यसुषुप्तिक्रमेण सूक्ष्मत्वम्, पदमन्त्रस्य स्थूलत्वं चोक्तं भवति । अत्र प्रणवस्य नित्यो-  
दितत्वादिज्यावसरे प्राप्ते सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिरित एव भवति, यजने सम्पन्ने सति च तप्तोपले  
जलवत्तत्रैव लयश्च भवति । एवं च प्रणवान्मन्त्राणामुत्पत्तिलयौ भानुकिरणप्रसरसंकोचतुल्या-  
वभिप्रेतव्यौ । अत एव—“सप्रणवादन्यच्चातुरात्म्यं न विद्यते” (२५।३४५) इति, “प्रपञ्चः  
प्रणवो मन्त्रो देवस्य चतुरात्मनः” (२५।३४६) इति चात्रोच्यते । अत एव भाष्यकारेण—“मूर्ति-  
मन्त्राः प्रतिव्यक्ति विभिन्नाः, प्रणवस्तु व्यापकत्वात् सर्वेषामेक एव” (प० १०१) इत्युच्यते ।

अत्रायं भावः—विलेखे नमः, नमो नारायणाय, नमो भगवते वासुदेवाय इति त्रयः  
पदमन्त्राः सप्रणवाः षड्क्षर-अष्टाक्षर-द्वादशाक्षर<sup>२</sup>(द्वादशार्ण)मन्त्रा उच्यन्ते । एते च प्रणवेन  
सप्रणवेन <sup>३</sup>जितन्ताख्यपदमन्त्रेण च सहिता व्यापका मन्त्रा इत्युक्तं लक्ष्मीतन्त्रे (२४।६७-७०,

१. अनाहतशब्दो नात्र क्वापि व्याख्यातः । लक्ष्मीतन्त्रे (३२१९; ४१।१३७, १३९) तु परा-  
वाक्स्वरूपं शब्दब्रह्म पदेनानेन परामृष्टम् ।
२. द्वादशाक्षरमन्त्रोऽत्र (६।१०६) द्वादशाक्षरविद्यापदेनोच्यते । स्त्रीदेवत्याश्च मन्त्रा विद्या-  
पदेनाभिधीयन्त इति शान्तः सम्प्रदायः (नित्याषोडशिकार्णवटीकायामृजुविर्मार्शन्याम्, प०  
४३) । कथमत्र पुंदेवत्ये मन्त्रे विद्यापदप्रयोगं इति चेत्, श्रूयताम्—वाल्मीकीये रामायणे  
बालकाण्डे द्वार्विशो सर्गे बलातिबलाख्यविद्याद्वयोपदेशो विद्यते । मन्त्रग्रामपदेनोक्तं तद्विद्याद्वयं  
तत्र । “दिव्यैर्बलादिकैर्मन्त्रे:” (ई० सं० १२१) इत्यत्र च बलादिपदेन स एष मन्त्रग्रामः  
स्मर्यते । उपनिषत्सु नचिकेतोविद्यामधुविद्याप्रभूतीनां रहस्योपदेशा विद्यापदेनोच्यन्ते । एवं च  
परमरहस्यस्वरूपौ बलातिबलाख्यौ मन्त्रौ यथा विद्यापदेनोक्तौ रामायणे, तथैवात्र वैष्णवानां  
परमाराध्यभूतो द्वादशाक्षरमन्त्रो द्वादशाक्षरविद्यापदेनोच्यत इति ।
३. “जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥”  
(१२।३३।४४) इत्यस्मिन् नारायणीये श्लोके जितन्तास्तोत्रमन्त्रचतुष्टयं परिदृश्यते । सोऽयं  
लक्ष्मीतन्त्रे (२४।६९) प्रणवस्य परिणामत्वेन वर्णितः । जितन्तामन्त्रोऽत्र प्रतिष्ठापरिच्छेदे  
स्थलद्वये (२५।२४४, ३२५) स्मर्यते । सप्तमे च परिच्छेदे चतुर्षु (२५-२८) श्लोकेषु  
जितन्तास्तोत्रमन्त्रचतुष्टयं प्रतिपाद्यते । “अत्र प्रथमश्लोके प्रथमपादम्, द्वितीये द्वितीयम्,

७४) । चत्वारोऽपि पदमन्त्रा इमे सप्रणवा एव पूर्णां भजन्त इति प्रणवस्य व्यापकत्वं सुतरां सिद्ध्यति । तृतीयपरिच्छेदोक्तं सुषुप्तिपदस्यं चातुरात्मीयं संज्ञामन्त्रचतुष्टयं सजितन्तं चापि व्यापकमन्त्रपञ्चकमित्युच्यते (पृ० ५४२) । एतेष्वपि मन्त्रेषु प्रणवस्य व्यापकता वर्तते । नकेवल-मेतेषु, विशाखयूपमन्त्रसंहितेषु स्वप्नपदस्थेषु चातुरात्म्यमन्त्रेषु, जाग्रत्पदेऽपि च प्रभवक्रमैणाप्यय-क्रमेण च स्थितस्य चातुरात्म्यस्य मन्त्रेषु प्रणवो विनियोज्यत इति व्यापकत्वं शब्दब्रह्मास्वरूपत्वं च प्रणवस्य सिद्ध्यति ।

सात्वतोथामस्यां वर्तते मन्त्राणां किमपि विशिष्टं माहात्म्यम् । पर-व्यूह-विभवरूपस्य त्रिविधस्य ब्रह्मणोन्तर्यजनं मन्त्रमयमेवात्र समुपदिश्यते । संज्ञा-पद-पिण्ड-बीजाख्याशत्रुर्विधा अपि मन्त्रा अत्र यथायथं व्याख्याताः । वर्ततेऽन्योऽपि विस्तरोऽस्य विषयस्य । तदत्र संक्षेपेण वर्ण्यते ।

तुर्यपदस्थस्य चातुरात्म्यमन्त्रस्य षडङ्गमन्त्रा अपि वर्णिताः । तत्रान्तर्यग्ं ब्रह्मलक्षणः सोऽयं मन्त्रो निरङ्गश्च स्मर्यते, बहियाग्निमादिके च साकारः साङ्गः (२।३६-३७) । अत्रैव स्थलद्वये (पृ० २१-२२, ४०७) भाष्यकारेण निरङ्गानां साङ्गानाम्, षडङ्गानां पञ्चाङ्गानां च मन्त्राणां विषये मतान्तरोपन्यासपूर्वकं विचारः कृतः । “प्रणवद्वितयं चौक्त्वा प्रीयतां मे परः प्रभुः” (२।७६) इत्यत्र प्रीतिमन्त्र उक्तः । संकल्पयोगदानमन्त्रावपि लक्ष्मीतन्त्रोक्तौ भाष्य-कारेणात्र (पृ० ३२) संगृहीतौ । एतेषां स्वरूपं भाष्यतोऽवगन्तव्यम् । एवमेवाष्टमे परिच्छेदे (८।३२-३६) पदशङ्कगदाचक्रमन्त्राः, नवमे (९।८६-८७) <sup>१</sup>किरीटादिचतुष्टयमन्त्राः, पञ्चदशे (१५।९) जीवमन्त्रः सोऽहंस्वरूपः, सप्तदशे (श्लो० ६-१२) नृसिंहबीजमन्त्र-षडङ्गमन्त्र-द्वादशाक्षरमन्त्राः, त्रयोर्विशेषं च किरीटादिलाङ्गुष्ठनमन्त्राश्चक्राद्यायुधमन्त्राश्च (२३।११३-१३२) वर्ण्यन्ते । मन्त्राणां सम्प्रगाराधनान्मन्त्रप्रसादः प्राप्यते । येषु साधकेषु चित्तप्रसादः, अतुलतेजो-वृद्धिः, धैर्योत्साहसन्तोषाऽकार्पण्यादयो गुणाश्च दृश्यन्ते, तेषां मन्त्रात्मा भगवानभिमुखः रित्थ इति मन्तव्यम् (१६।३०-३१) । मन्त्राणामाप्यायनाथं द्रव्यादिहोमोऽप्यत्र विधीयते (२५।१६५) ।

तृतीये तृतीयम्, चतुर्थे चतुर्थं च संगृहैकश्लोकरूपेण लक्ष्मीतन्त्रपादादिषु प्रतिपादितम्” (पृ० १२७) इति भाष्यकार उल्लिखति । वस्तुतस्तु पूर्वोक्ते महाभारतवचने लक्ष्मीतन्त्रोक्त-स्यैव स्वरूपस्य सत्त्वात्, जितन्तरात्म्यमन्त्रार्थनिरूपणे त्रिपञ्चाशोऽव्यायेऽहिर्बुद्ध्यसंहितायां तस्यैव स्वरूपस्य व्याख्यानाच्च जितन्तरामन्त्रस्य तदेव रूपं स्वीकर्तव्यम् । एकस्यैव मन्त्रस्य चातुरात्म्ये विनियोगप्रदर्शनाय तच्चतुर्था विभज्य भाष्योक्तपद्धत्या स्थापित इत्यस्यैव मुवचत्वाच्च ।

१. यद्यप्यत्र किरीटादिचतुष्टयस्य नामान्येव दृश्यन्ते, तथापि—“अभिधानाक्षरं पूर्वमरान्ताद्येन भूषितम् । योक्तव्यमधिधानेन पूर्वोद्दिष्टेन वर्तमा ॥” (९।१३६) इत्यत्र प्रदर्शिताया पद्धत्या तन्मन्त्रस्वरूपं निष्पादनीयम् । लोकाचार्यकृतमुशुप्तिग्रन्थे मन्त्रार्थप्रकरणेऽष्टाक्षरमन्त्राः, द्वयमन्त्राः, चरममन्त्र इति मन्त्रत्रयस्य विवरणं दृश्यते अर्थप्रदर्शनपुरस्सरम् । परमेष्ठिमन्त्र-पुरस्सरं पञ्चोपनिषद्मन्त्रां नारदीयसंहितायां (५।९१-९२) विवृताः । श्रीवैष्णवसम्प्रदाये मन्त्रा एते विशिष्टमाहात्म्यवन्तो मन्यन्ते ।

सुशुभेनाक्षसूत्रेण स्वकैः करपर्वभिर्वा समस्तमन्त्राणां परावर्तनमाचरणीयं <sup>१</sup> वैभवमुद्रा-प्रदर्शनं च विधेयम् । अनया मुद्रया हि मन्त्रेष्वौज्ज्वल्यमाहितं भवति । तेन हि मन्त्राः साध-कस्याभिमुखा अनुकूला भवन्ति<sup>२</sup> । तीर्थमध्ये, स्वहृत्पद्मे, बिम्बे, वह्निगर्भे निर्झूमे स्थले वेद्यां वा—इत्येवं चतुर्षु स्थानेषु भुक्तये मुक्तये वा नित्यं मन्त्राणामर्चनं विधेयम् । सजलाञ्जलिपूरे-स्तीर्थे, भावनामृतजैर्भौगीर्हदयाम्बुजे, अर्धादिभिर्हिमूर्तौ (बिम्बे), समित्सप्तकपूर्वैः साज्यै-स्तिलैश्च वेद्यामनौ मन्त्रात्मा भगवानचर्यते ।

एवं सम्यक् कृतस्य कर्मणः संन्यासं संचयं वा संकल्प्य तस्य मन्त्ररूपानुकारिण्या <sup>३</sup> मुद्रया मुद्रणं विधेयम् । एवं मुद्राबन्धेन कृतेन संन्यासकारिणां कर्म फलार्थं प्रसवं नैति, फलार्थिनां कर्म-संचितवतां च शास्त्रोक्तफलानुभवकालपर्यन्तं सिद्धांशैरर्थैर्हर्तुं न शक्यते । यथा जतुमुद्रितधन-ग्रन्थेर्धनमनपहार्य भवति, एवं मुद्रामुद्रितकर्मणः साधकस्य कर्मार्डिप्यन्यैरनपहार्य भवति । पूजा-वसाने च प्रदर्शितया तया विज्ञानानं निवृत्तिर्भवति । एवं हि मुद्रालक्षणमत्र वर्णते—

मुद्रं कर्मात्मतत्त्वानां ददात्यमल्याजिनाम् ॥

द्रावयित्री च दोषाणां बाह्याभ्यन्तरचारिणाम् ।

तेन मुद्रा समाख्याता कृतस्यापि च मुद्रणात् ॥ (१०।५।१-५२)

एवं पर-व्यूह-विभवात्मकेषु मन्त्रेषु पूजितेषु सत्सु ततस्तेषां निष्कलरूपे परात्मन्युप-संहारो व्रिधीयते, हृदि स्वसंविद्गगने नादात्मके तेषां विश्रान्तिर्भाव्यते (१०।५।३-५६) ।

एवं सात्वतीयं दर्शनं व्याकुर्वद्विरस्माभिः पर-व्यूह-विभवात्मकस्य ब्रह्मणस्तदनुगानां विशाखयूप-व्यूहान्तर-शक्तीश-शक्ति—सत्यादिवाहन--भवोपकरण—सिद्धदशक—शब्दब्रह्म-वर्णचक्र-मन्त्राणां च स्वरूपं स्पष्टीकृतम् । अन्तर्यजनविद्यो मन्त्रात्मकेनैव स्वरूपेण भगवानचर्यत्वेनात्र निर्दिष्टः । मन्त्रप्रसादादेव साधको भगवतः स्वरूपसाक्षात्काराय ईष्टे । तदेवं चित्तशुद्धेः, जीवा-त्मनः परमात्मना सह संयोगस्य च प्रमुखं साधनं मन्त्र एवात्र समुपदिश्यत इति सात्वतसंहितेयं प्राधान्येन मन्त्रयोगस्य प्रतिपादिका । अयापि प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या तदितरस्यापि योगस्य वर्णनमत्र दृश्यते । तदेव संगृह्य साम्प्रतमत्र समुपस्थाप्यते ।

### सात्वतीयो योगः

“वासुदेवेन सङ्कर्षणायोपदिष्टमेकायनश्रुतेः सूत्ररूपं भगवत्प्राप्येकोपायभूताभिगमनोपा-

१. वैभवमुद्रालक्षणम् (१०।४०-४४) इत्यत्र द्रष्टव्यम् । व्यूहानां मूलमुद्रा षष्ठे परिच्छेदे (श्लो० ६९-७३) वर्णिता ।
२. विषयोऽयं शब्दब्रह्मविवेचनावसरेऽपि समुपदिष्टः ।
३. शैवेषु शाकतेषु च तन्त्रेषु मन्त्रमुद्राशब्दाभ्यां ज्ञानक्रिये लक्ष्येते । तदेतदीदृशो मुद्रास्वरूप-विचारो नित्याषोडशिकार्णवोपदेशातेऽस्माभिः समुपस्थापितस्तत्रैव (वाराणसीसंस्करणम्, पृ० ७५-७८) द्रष्टव्यः । सात्वतीयो मुद्राप्रपञ्चो विशिष्टविषयानुक्रमणीसाहाय्येनावलोकनीयः । समयिप्रभूतीनां मुद्राचतुष्टयं द्वाविशपरिच्छेदान्ते (श्लो० ६७) वर्तते ।

दानेज्यास्वाध्याययोगरूपकर्मविचारैः परव्यूहविभवरूपत्रह्यविचारैश्च गम्भितं पञ्चविशतिलक्षणं सात्वतं तन्त्रम्” (पृ० १) इति हि भाष्यकारो ग्रन्थारम्भ एव वदति । सात्वतोऽयं क्रियामार्गः शुद्धमार्ग इत्यपि स प्रतिपादयति (पृ० ३) । एतच्च “पञ्चकालिकधर्मनुष्ठानं भागवतस्य विहितम्” (पृ० १०७) । शुद्धः क्रियामार्गोऽहि कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिनाम्नां चतुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां मध्ये प्रथमः कर्मयोगनाम्नाऽप्यभिधोयते (पृ० २०) । तदेतस्य पञ्चाङ्गस्य शुद्धस्य क्रियामार्गस्य विवरणमत्र षष्ठे परिच्छेदे विस्तरेणोपलभ्यते । योगस्तस्यान्तिमङ्गं भवति । सोऽयं योगोऽत्र “समुत्थायाऽर्धरात्रेऽथ” (६।१९३) इत्यादिना “ब्रह्म सम्पद्यते तदा” (६।२१४) इत्यन्तेन ग्रन्थेन षष्ठे, “मन्त्रमाराधयेद् येन विधिना” (१७।१५) इत्यादिना “हृदि विन्यसेत्” (१७।२७) इत्यन्तेन च ग्रन्थेन सप्तदशेऽन्यत्र च यथाप्रसङ्गं वर्णितः । तदाश्वारेणात्र किमप्युच्यते ।

अर्धरात्रे समुत्थाय जितनिद्रो जितेन्द्रियः साधकः कमण्डलुस्थितेन वारिणा समाचम्य गुरुं देवं च नमस्कृत्य अजिनासनेै समुपविश्य मन्त्रचतुष्केण संहारलक्षणं न्यासं॑ कुर्यात् । आ

१. अभिगमनम्, उपादानम्, इज्या, स्वाध्यायः, योग इति पञ्चानां भगवत्कैङ्गर्घरूपाणां कर्मणां प्रत्यहमनुष्ठानार्थं प्रतिनियताः पञ्च कालः शास्त्रेऽस्मिन् यतः सन्ति संविभक्ताः, अतः पञ्चरात्राह्ययमिदं शास्त्रमिति मन्तव्यम् । “तैरिष्टः पञ्चकालज्ञहर्षिरेकान्तिभिर्नरैः” (१२।३३६।४६), “तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिन्द्रम्” (१२।३३७।३०) इत्येवं नारायणीयेऽपि स्मर्यन्ते पञ्चकालाः पञ्चयज्ञा वा इमे । श्रूयते च शतपथब्राह्मणे (१३।६।१) पाञ्चरात्रसत्रम् । वैदिके वाङ्मये रात्रवृद्धो वर्ततेऽहोरात्रस्य वाचकः । तदनुसारं पाञ्चरात्रसत्रमिदं पञ्चभिरहोरात्रैः सम्पादनीयं स्यात् । अत्र चैकमेवाहोरात्रं पञ्चसु कालेषु विभज्य तत्र भगवान्नियते । कालसंकोचेऽस्मिन् किं कारणमिति न जानीमः । पाञ्चरात्रसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तं त्वत्रैव निहितमिति वयं भणामः । “पञ्चकालरतश्चैव पञ्चवरात्रार्थवित्तथा” (१६।९) इति जयाल्यवचने पञ्चकालपञ्चरात्रयोः पृथग्निदेशान्तर्नैतत्संभवतीति पाञ्चरात्ररक्षासम्पादकः श्रीदुर्वस्वामिमहोदयः स्वकीये संस्कृतोपोदघाते (पृ० ३९) प्रतिपादयति । तन्न विचारचारू, पञ्चरात्रार्थविदेव पञ्चकालरतो भवतीत्येतत्प्रदर्शनाय तत्रोभयोरप्येतयोः पदयोः प्रयोगस्यावश्यकत्वात्, पञ्चरात्रशास्त्रं जानाति, तदनुरूपमाचरतीति जयाल्यवचनस्याभिप्रायत्वात् ।
२. पञ्चविशतिलक्षणमिति विशेषणेन सात्वततन्त्रस्य पञ्चविशतिपरिच्छेदात्मकत्वमेव भाष्यकारस्याप्यभिप्रेतमिति निश्चप्रचम् । एवं च डा० डेनियलस्थिरमहोदयस्यापूर्णेण संहितेति कथनं नैवौचित्यपदवीं भजते (“ए डिस्क्रिप्टिव बिलिओग्राफी आफ द प्रिण्टेड टेक्स्ट्स आफ द पाञ्चरात्रागम” इत्यस्य ग्रन्थस्य प्रथमभागस्य ५३४-५३६ पृष्ठान्यवलोकनीयाति) ।
३. अत्र १० पृष्ठस्था १ टिप्पणी द्रष्टव्या ।
४. ‘अजिनासने’ इति “चेलाजिनकुशोत्तरम्” (६।११) इति भगवद्गीतावचनं स्मारयति ।
५. अङ्गन्यास-करन्यासादयः सात्वतायां तत्र विवृताः । सप्तदशे परिच्छेदे तद्विवरणावसरे

पादज्ञानुपर्यन्तमनिरुद्धात्यम्, जानुमण्डलान्नाभ्यन्तं प्रद्युम्नात्यम्, नाभेरा कर्णदेशं साङ्कर्षणम्, आ कर्णदेशाद् ब्रह्मरन्धान्तं च वासुदेवात्यमित्ययं वर्तते मन्त्रचतुष्टयस्य संहारकमेण न्यासविधिः । ततोऽभिमतेन पदासनादिनाऽऽसीनः स्वात्मनि चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेत् । वक्षसा समं कायशिरोग्रीवं सन्धाय साधकेन स्वीया विनिमीलितप्राया दृग् नासाग्रगता, जिह्वा तालुतलस्था, दशनावली सान्तरे, ओष्ठपुटावीषलग्नी च विधेयौ । द्वे बाहुकूपरे नाभौ, हस्तौ च ऊरुमध्य-प्रदेशयोर्वामदक्षिणक्रमेणाधरोत्तरयोगेन स्थापनीयौ । एवं स्वविग्रहं <sup>१</sup>योगपट्टेनाचलं सन्धार्य, अपानदेशं संकोच्य, अर्वाणहीनेनालक्ष्यमूर्तिना <sup>२</sup>हार्णेन तमुपरिष्टाद् विकासयेत् । तेन च विषयान्त-निविष्टं चित्तं समाहृत्य बुद्धिलीनं कुर्यात् । ततो मन्त्रैः सहात्मानमात्मना समाधीत ।

तत्रायं क्रमः—स्वहृदयकमलं तत्तपदभेदेन चातुरात्म्यैरधिष्ठितं स्मृत्वा जाग्रत्पदस्थेनानिरुद्धेन सह आत्मानमेकीभूतं ध्यायन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतवारं जपेत् । एवं तन्मन्त्रजपसामर्थ्यात् तदीयं ज्ञानं माहात्म्यं च स्वस्मिन् भावयेत् । एवमेकं संवत्सरं योगाभ्यासे कृतेऽनिरुद्धतादात्म्य-समन्वितो भवति योगी । तदनन्तरमनिरुद्धं मन्त्रेण सह प्रद्युम्ने संहृत्य प्रद्युम्नोऽभिमिति तादात्म्य-भावनां कुर्वन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतद्वयं जपन् पुनरेकं संवत्सरं नयेत् । एतेन प्रद्युम्नप्रभावो भवति । एवंरीत्या सङ्कर्षणमन्त्रं वासुदेवमन्त्रं स्वप्नव्यूहानिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्टयं तथा सुषुप्ति-व्यूहचतुष्टयं च प्रत्येकमेकैकं संवत्सरं जपवृद्धिक्रमेण तत्तादात्म्यभावनया सहाऽभ्यसन् तत्तन्मन्त्रं तत्तदुत्तरमन्त्रे उपसंहरन् सुषुप्तिव्यूहवासुदेवमपि पूर्वोक्तलक्षणतुर्यस्थाने स्थिते परात्परवासुदेवे उपसंहरन् तत्तादात्म्यभावनया तन्मन्त्रं ध्यातृघ्येयाविभागेन यावत्तन्मयत्वं व्रजेत् तावदन्तं जपन्

(पृ० २९५) भाष्यकारः—“व्यापारो मानसो हौष न्यासात्यो यद्यपि स्मृतः । न बध्नाति स्थिर्ति सम्यक् तथापि क्रियथा विना ॥ कराधीना पुनः सा”(४१-५), “नाडीदशकमाश्रित्य ता एवाद्गुलयो मताः”(४१२२)इत्येवं पारमेश्वरसंहितावचनान्युदाहृत्य न्यासलक्षणमाचष्ट । आगमशास्त्रेषु तन्त्रशास्त्रेषु च न्यासानां महान् प्रपञ्चो विद्यते । मन्त्राक्षराणां पदानां सम्पूर्णस्य मन्त्रस्य च भावनात्ययेन मानसेन व्यापारेण सह कराङ्गुलीनां यथायथं निर्दिष्टे-ष्वज्ञेषु योजनां विद्यता साधकेन स्वकीयस्य देहस्य दिवः त्वमापाद्यते ।

१. योगस्य पट्टं वसनविशेषः; योगाथं पट्टमिति वा । यद्वस्त्रेण पृष्ठजानुबन्धनं भवति तत् । तल्लक्षणं यथा—“पृष्ठजान्वोः समायोगे वस्त्रं वलयवद् दृढम् । परिवेष्टच यद्वृद्धक्षु-स्तिष्ठेतद् योगपट्टकम् ॥” इति पादे कार्तिकमाहात्म्ये द्वितीयेऽध्याये (शब्दकल्पद्वामे, भा० ४, पृ० ५६) । योगाभ्यासार्थं पट्टम् । योगिधार्ये पट्टसूत्रभेदे । योगपदकमन्यत्र—“त्रिविधं योग-पदकमाद्यं व्याघ्राजिनोऽद्वाम् । द्वितीयं मृगचर्माद्यं तृतीयं तन्तुनिर्मितम् ॥ चतुर्मात्रप्रविस्तारं दैर्घ्येण यज्ञसूत्रवत् ।” सिद्धान्तशेखरः । चतुर्मात्रं चतुरङ्गुलमात्रम् । वीरमि० (वाचस्पत्ये, भा० ६, पृ० ४७८०) ।
२. “मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम् । होच्चारं मनसा कुर्वस्ततः शान्ते प्रलीयते ॥” (इलो० ८०) इति विज्ञानभैरवश्लोकेऽप्यनच्छक्त्वारमात्रोच्चारणमुपदिश्यते । अस्य स्वरूपादिकं तत्रैव व्याख्यानेऽस्माभिः कृते तदुपोद्घाते(पृ० २७-३०) च द्रष्टव्यम् ।

ततो <sup>१</sup>जपक्रियां त्यजेत् । एवमस्यासाद् भगवद्योगी वेदावेदकभावरहिते समाधौ यदा स्थिर्ति  
लभते, तदा ब्रह्म संपद्यते । <sup>२</sup>ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । परमसाम्यं भजतीति यावत् । तदुक्तम्—

अनेन क्रमयोगेन जपवृद्धचाऽन्वितेन तु ॥

निखिलं चाप्यधीकुर्याद् मन्त्रवृद्धं पुरोदितम् ।

यावदाभाति भगवान् स्थाने पूर्वोक्तलक्षणे ॥

प्रलीनमूर्तिरमलो ह्यनन्तस्तेजसां निधिः ।

चिदानन्दघनः शान्तो ह्यनौपम्यो ह्यनाकुलः ॥

समाधायात्मनात्मानं तत्र त्यक्त्वा जपक्रियाम् ।

ध्यातृध्येयाविभागेन यावत् तन्मयतां ब्रजेत् ॥

यदा संवेद्यनिर्मुक्तेः समाधौ लभते स्थितिम् ।

अभ्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ (६।२१०-२१४)

मन्त्रात्मकस्य भगवत् आराधनं चैव विधीयते—स्नातः बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्घ्यं-  
पुष्पधृक् साधक आसने उपविश्य <sup>३</sup>दहनाप्यायनात्मिकाभ्यां <sup>४</sup>धारणाम्यां प्राणायामान्वितां

१. जयाख्यायां (३३।११) योगाख्यानपटले, मृगेन्द्रादिषु च शैवागमेषु योगपादे (श्लो०३) जपो योगाङ्गतया निर्दिश्यते । वाचिकः, उपांशुः, मानस इति त्रिविध एव जपः सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अत्र तु—“वाचिकं क्षुद्रकमर्थिमुर्पाशुः सिद्धिकर्मणि । मानसो मोक्षलक्ष्मीदो ध्यानात्मा सर्वसिद्धिकृत् ॥” (३९।३५) इत्येवं लक्ष्मीतन्त्रप्रामाण्येन ध्यानात्मा चतुर्थः प्रकारोऽपि भाष्यकारेण जपस्य प्रदर्शितः (प० ८५), तस्य योगाङ्गता च प्रदर्शिता (प० ११५) । जयाख्यायां जपविधानात्म्ये चतुर्दशी पटलेऽपि सौर्यं विषयो विस्तरेण सभेदोपभेदं भणितः ।
२. अस्यां स्पष्टोक्ती सत्यामपि—“मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद् ध्यानं देवोऽहमिति भावयेत्” (१७।३६) इति सात्वतवचनोपवृहके—“अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः । वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥ एवरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने ।” (११।४१-४२) इति जयाख्यावचने सत्यपि, भाष्यकारः—“नैतावता जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपैक्यं शङ्क-नीयम्” (प० २९६) इति वदति, पाञ्चरात्ररक्षाप्रामाण्येन च तत्समर्थ्यति । तदेतच्चन्त्यम्, “शान्तात्मन्येकतां गतम्” (११।११२) इत्यत्र तयोरेकत्वस्य स्पष्टं प्रतिपादनात् । भोगमोक्षप्रकरणेऽप्ययं विषयो विचारितोऽस्माभिः ।
३. संवेद्यनिर्मुक्तः समाधिरयं षड्छवप्रकरणेऽपि (१९।११३) स्मर्यते । स च योगसूत्रप्रतिपादितादसम्प्रज्ञातसमाधेरभिन्न इति विभावनीयम् ।
४. तन्त्रान्तरेषु भूतशुद्धिप्रकरणे प्राणायामसाहाय्येन शोषदाहाप्याया उपदिश्यन्ते । अत्र तु दाह-आप्यायात्मकं धारणाद्वयमेव वर्णयते (प० ३५६) । एवं चात्र शोषस्य दाह एवान्तभविते मन्त्रव्यः ।
५. धारणाद्वयमत्र वर्णितम् । धारणानां द्विषट्कं च वर्णाद्विविवेचनावसरे निर्दिष्टम् । “पञ्चभिर्धारणाभिर्वा द्वाभ्यां वा शोषयेत्तनुम्” (३।१४३), “धारणापञ्चकं चैव संक्षिप्तं

भूतशुद्धि कुर्यात् । तद्यथा—केवलेन भावनासहितेन वा मन्त्रेण नाभिदेशस्थितं देवं ध्यात्वा कलमषं संगृहौ वायुमार्गेण प्रथमप्राणायामान्त्यरेचकवायुमार्गेण निस्सुतं तं द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् । निरस्तपापं मन्त्रेशं वातचक्रसमन्वितं द्वितीयप्राणायामपूरकवायुसहितं नासाप्रेण देहे सम्पूर्णयेत् । गतिरुद्धेन वायुना तृतीयप्राणायामकुम्भकेन च तं मन्त्रेशं हृदयस्थं ध्यायेत् । चित्तोपशमनाथं वायुजयय चायं प्राणायामेऽप्यस्यते । अथ बहिः शनैः शनैः केवलं मारुतं क्षिपेत् । अन्त्यं रेचकं विनाऽन्येषामुत्तरोत्तरं यथाशक्ति कालह्रासं नित्यमेव समाचरेत् । अथ तप्तहाटक-सन्निभं सहस्ररश्मिसंकाशं मन्त्रेशं द्वादशान्ते वृत्तमण्डलमध्यगं स्मृत्वा पञ्चतन्मात्रैर्मुक्तं स्वकं विग्रहं निर्दहेत्, <sup>१</sup> दक्षिणाङ्गेरहुष्ठप्रान्तप्रदेशे युगान्तहुतभुक्स्वरूपं ज्वालाशतसमावृतं शिखाक्षरं <sup>२</sup> ध्यात्वा तेन समन्ततः प्रज्जवलन्तं स्वविग्रहं ध्यायेदिति भावः । तदनु देहजां ज्वालां मन्त्रनाथे लयं गतां भावयेत्, दिव्यं प्रशान्ताकारं तं मन्त्रनाथं च चेतसाऽधिष्ठाय स्वमन्त्रात् तन्मन्त्रप्रतिपाद्य द्वादशान्तस्थितभगवतः सकाशान्तिसृतेनामृतैरेन स्वकं विग्रहमासिञ्चेत् । ततः समन्तं तद्विम्बं द्वादशाङ्गुलोपरि वृत्तमण्डलमध्यस्थं हृदि विन्यसेदिति ।

योगस्य लक्षणं संहितायां कुत्रापि न निर्दिष्टम् । भाष्यकारेण पाञ्चरात्ररक्षादिशा शाण्डिल्य-पराशर-दक्ष-याज्ञवल्क्यवचनानि समुद्धरता तद्विहितम् । तत्र शाण्डिल्यमतेन—अर्थं परमात्मा ईदृशः, अयं जीवात्मा ईदृश इत्येवं तयोः संबन्धानुसन्धानमेव योगः । वश्यैरिन्द्रियैः सम्पन्ना बुद्धेर्ब्रह्मणि संस्थितिरपि योगपदेनोच्यते । पराशरमतेन अत्मप्रयत्नसापेक्षाया विशिष्टाया मनोगतेर्ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते । सर्वभावविनिर्मुक्तस्य क्षेत्रज्ञस्य <sup>३</sup> ब्रह्मणि न्यास एव ध्यानं योगश्चेति दक्षः । मनो वाह्यवृत्तिरहितं कृत्वा क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मणि न्यास एव योग इति च याज्ञवल्क्यः । अत्र शाण्डिल्यस्य द्वितीयं पराशरीयं च लक्षणमेक-विधम् । एवमेव दक्षस्य याज्ञवल्क्यस्य च लक्षणं समानमिति त्रिविधमत्र योगस्य लक्षणं प्रतिपादितं भवति—जीवात्मपरमात्मनोः संबन्धानुसन्धानं प्रथमम्, शुद्धस्य मनसो ब्रह्मणि संयोगा-तमकं द्वितीयम्, वाह्यवृत्तिरहितस्य क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मणि योजनं च तृतीयमिति । अन्ततः

विहितं द्वयम्” (३।२२३) इत्येवं च धारणापञ्चकं पारमेश्वरे स्मर्यते । धारणाविषयकः प्रपञ्चः पारमेश्वरे तृतीयाध्याये, जयाख्यायां च समाधिख्यापने दशमे पटले द्रष्टव्यः ।

१. एष विषयः—“कालग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् । प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ता-भासस्तदा भवेत् ॥” (श्लो०५१) इति विज्ञानभैरवेऽपि वर्ण्यते । कालपदाद् दक्षिण-पादाङ्गुष्ठात्, स्वकं पुरम् आत्मीयं पाञ्चभौतिकं शरीरमित्यर्थः ।
२. शिखाक्षरं वह्निबीजमित्यर्थः ।
३. द्वादशान्ते स्वमूर्धर्णे द्वादशाङ्गुलोपरीत्यर्थं इति भाष्यकारः (पृ० २९४) । द्वादशान्तोऽयं द्विषट्कपदेनाप्यत्र (१८।५४) निर्दिश्यते । “द्विषट्कं धारणानां च” (१९।१५८) इत्यत्र तु द्विषट्कशब्दो द्वादशसंख्यापरामर्शकः ।
४. ज्ञेत्रज्ञेत्रज्ञयोः स्वरूपं भगवद्गीतायां त्रयोदशाध्याये निर्दिष्टमत्र स्वीकर्तव्यम्, न तु नवमे परिच्छेदे (श्लो० ३०) पिण्डबीजादिप्रकरणे प्रोक्तम् ।

परिष्कृतचित्तवृत्तेर्जीवात्मनः परमात्मनि योजनमित्येकमेव सर्वलक्षणसमुच्चायकं योगस्य लक्षणं परिनिष्पन्नं भवति ।

परस्य भगवतोऽर्चनेऽष्टाङ्गयोगयुक्तानां हृद्यागनिरतात्मनां योगिनामेवाधिकारोऽन्न (२।७-८) निर्दिष्टः । तेन संहितेयमष्टाङ्गयोगस्य समर्थिकेति ज्ञायते । कानि तान्यज्ञानीति तु नात्र दृश्यते । जयाख्यायां तु योगाख्याने वर्यस्त्रिशो पटले प्राणायाम-प्रत्याहार ध्यान-धारणा-जप-योग-ज्ञह-समाधिभेदैरष्टाङ्गे योगो वर्णितः । एष च पातञ्जलाद्वाङ्ग्योगादै मिद्यते ।

आधारनाभिहृत्कण्ठाख्यचतुर्चक्रविशिष्टस्य नवद्वारस्य देहस्य (२।५८,६१), नाभिचक्र-हृत्पद्म-कन्दमूल-गलावट-भ्रूमध्य-ब्रह्मारन्धाख्यस्थानानाम् (२।१५१), अपान-कण्ठकूप-नाडी-ब्रह्मार-ब्रह्मनाडी-मध्यनाडी-मास्त-शशि-सूर्यप्रभूतिशब्दानां चात्र प्रयोगदर्शनात् कुण्डलिनी-योगस्य प्रारम्भिकं स्वरूपमप्यत्र दृग्गोचरीभवति ।

एवमन्तर्यामोपयोगिनः परव्यूहविभवाख्यस्य ब्रह्मविचारस्य, कर्मविचारेष्वन्तिमस्य योगस्य च सात्वतीयस्यात्र स्वरूपमुन्मीलितम् । अथ बहिर्यागमुखेन शिष्टयोश्चर्याक्रिययोः स्वरूपं प्रकाशयते ।

#### यागः

“यागो विम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्” (पृ० १९-२०) इत्याह भाष्यकारोऽलिङ्गज्ञभट्टः । एवं च यागोऽर्चनमित्यनथन्तिरम् । तीर्थमध्ये, स्व हृत्पद्मे, विष्वे, वह्निगर्भे निर्धूमे स्थले वेदां वा इत्येतेषु चतुर्षु स्थानेषु भुक्तये मुक्तये वा नित्यं मन्त्राद्यात्मको भगवानाराध्यते । सजलाञ्जलिपूरैस्तीर्थे, भावनामृतजैर्भोगीहृदयाम्बुजे, अर्घादिकर्वहिमूर्तौ (विष्वे), समित्सप्तकपूर्वैः साज्यैस्तिलैश्च वेद्यामनो—इति तेषां क्रमोऽवसेयः (१०।४४-४७) । एतच्च चतुर्स्थानार्चनपदेनात्रोच्यते । तत्र हृदि भावनामृतजैर्भोगेरचर्चनमन्तर्याग-हृद्याग-मानसयाग-प्रभूतिपदैरुच्यते । मूर्तौ, मण्डलमध्ये, बहिरस्तौ, जलाशये च (१।१११) यद् भगवानचर्यते, तद् बहिर्याग-बाह्याग-द्रव्ययागप्रभूतिशब्दैरभिश्रीयते । तदुक्तम्—

इत्येवमन्तर्यागस्तु देवस्य परमात्मनः ॥

समासेनोदितः सम्यग्य मूर्तौ यजेद् बहिः ।

१. मृगेन्द्रागमे योगपादेष्पि—“प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानवीक्षणे । जपः समाधिरित्यज्ञान्यज्ञी योगोऽष्टमः स्वयम् ॥” (श्लो० ३) इत्येवमिमान्वये योगाङ्गानि निर्दिश्यन्ते । अत्र वोक्षणमभिवीक्षणम् उह इत्यर्थान्तरम् । अन्यत् सर्वं समानम् । सप्त अङ्गानि, अङ्गी योगश्चाष्टम इति तु प्रतिपादनभिज्ञभेदः । अथवाऽस्ति जयाख्यायां किञ्चिदत्र वैशिष्ट्यम् । तत्र हि प्राकृतं पौरुषम् ऐश्वर्यं चेति योगभेदत्रयं प्रतिपाद्यते (३।१३) । विवरणं चात्र योगेष्वितम् । न च तद् दृश्यते मृगेन्द्रागमेष्पि । षडङ्गो योगोऽपि वैष्णवशैवशाक्तादिष्वागमेषु, बौद्धशैवशाक्तेषु तन्त्रेषु च प्रतिपादते । तस्य विवरणमस्माभिनित्यापोऽशिकार्णवोपोदवाते (पृ० ११७-११९), विज्ञानभैरवोपोदवाते (पृ० ३६-३८) च दत्तमिति विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावलोकनीयम् ।

वेदां पुराहृतभोगेर्विम्बे वा चक्रपञ्चोजे ॥  
हेमादिद्रव्यजनिते चक्रे वा केवलाम्बुजे ।

सोऽयं द्विविधो यागो द्वितीयादिदशमान्तेषु परिच्छेदेषु सप्तदशे च नृसिंहकल्पपरिच्छेदे विस्तरेण, अन्यत्र च प्रसङ्गवशात् संक्षेपेणोपवर्णितः । तत्रान्तर्यागविधिना चातुरात्म्याराधनस्य विभवदेवतादिसमाराधनस्य च विधिरत्र सात्वतीयं दर्शनमिति प्रकरणे व्याख्यातोऽस्माभिः । बहिर्यगिरश्चात्र पञ्चमपरिच्छेदान्तोकविधिना (५।१०७-१०९) मूर्तीं, <sup>१</sup>मण्डले, <sup>२</sup>अग्नौ, <sup>३</sup>जलमध्येऽर्चनम् (१।११९), मण्डले, अग्नौ, जलमध्ये वार्चनम् (१०।२), कुम्भमण्डलमिषु भगवदर्चनम् (पृ० ३६१ भा०) इत्येवं बहुधा प्रपञ्चितः । त्रयोदशपरिच्छेदान्ते च “हृदि वेदां बहिर्मूर्तौ प्राप्तादे स्वगृहे तु वा” (१३।६६) इत्येवं द्विविधोऽपि याग उपसंहृतः ।

१. यथा हि सर्वं वायुर्व्यजनसाहाय्येन यत्र कुत्रापि व्यक्तिमम्भ्येति, एवमेव भावदर्पणसंक्रान्त आहूतो भगवान् विम्बादिषु व्यज्यते (६।१६-१७) । प्रतिष्ठापरिच्छेदे एवं स स्तूयते—“सर्वं त्रोऽसि भगवान् किल यद्यपि त्वामावाहयामि हि यथा व्यज्यनेन वायुम् । गुढो यथैव दहनो मथनादुपैति आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चार्चास् ॥” (२५।१२१) इति ।
२. मण्डलार्चनमण्डलनिर्माणादिविधिरत्र दशमे एकादशे च परिच्छेदे संक्षेपेण वर्णितः । विस्तरोऽस्य विषयस्य पौष्करायां द्रष्टव्यः ।
३. आरण्यं लौकिकं मणिं दर्पणोऽर्द्धवर्मिति चतुर्विधोऽग्निरत्र प्रतिपादते (६।८९) । आरण्यम् अरणिसंभवमित्यर्थः । एष च बाह्याग्निः कालवैश्वानरात्म्य हृदयेशस्य मास्तानुगतया भासया संयोज्यते । कालवैश्वानरात्मा भगवांश्चैवं विवृतः पौष्करे—“कालवैश्वानरात्म्या या मूर्तिस्तुर्याग्निनो चिभोः । स एव द्विज देवो हि विष्वक्षेत्रः प्रकीर्तिः ॥ स्थित आहवनी-यादिरेदेन मख्याजिनाम् । क्रक्षपूर्तं हुतमादाय तर्पयत्यखिलं जगत् ॥” (२०।५४-५५) इति । आहवनीयादीत्यत्रादिपदेन—“पूर्वमाहवनीयाख्यस्वरूपेणाप्य दक्षिणे ॥ समाप्ते सम्प्रवृष्टा पश्चिमस्यामनन्तरम् । गार्हपत्याख्यभेदेन ततस्तिष्ठति चोत्तरे ॥ ओदनम्पचनात्मा तु सर्वात्मत्वेन मध्यतः । आधारादेयभावेन त्वास्ते संबलिताकृतिः ॥” (६।१२७-१२९) इत्येवमत्रैव व्याख्यातश्चतुर्विधोऽग्निः संगृह्णते । कुण्डनिर्माणप्रकारोऽत्रैकादशे परिच्छेदे वर्णितः । दशविधाज्यसंस्काराः, अन्ये षड्विधसंस्काराः, अग्नेनिषेकादिविवाहान्तसंस्कारा जिह्वाकल्पनाश्चैवमादयो विषया विस्तरेण वर्णिता जयाख्यायां पञ्चदशे पठेण द्रष्टव्याः ।
४. जलमध्येऽर्चनमत्र स्नपनपरिच्छेदे पञ्चदशे द्रष्टव्यम् ।
५. अत्र—नित्ययागः पुष्पार्चनान्तं क्रियते, पुष्पाऽजलिमुपादायेत्यादिलक्ष्मीतन्त्रोक्तः (पृ० १०१-१०२), स्वार्थर्चिने परार्थर्चिने वा यथायथं सर्वेऽधिकृताः (पृ० १०७-१०८), नित्ये जपान्तमाराधनमुक्तम्, नित्यानुसारिष्यपि क्रियादीपे तु होमान्तो मुख्यकल्प एव दर्शितः (पृ० १०८), श्वेष्ठमध्यमध्यमक्षुद्रभेदेन चतुर्विधमाराधनं भवति (पृ० ११०), पारमेश्वरे तीर्थमध्यार्चनं मानसार्चनं च होमान्तमुक्तम् । सात्वतप्रिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम्,

सात्वतीयाः साधकाः स्वीयां दिनचर्या पञ्चकालेषु विभज्य अभिगमन-उपादान-इज्या-स्वाध्याय-योगरूपैः कर्मविचारैस्तां संशिलष्टां कुर्वन्ति । अत एव ते पञ्चकालपरायणां<sup>१</sup> इति विशेषणेन संयोज्यन्ते । सात्वतायां द्रव्यग्रागप्रतिपादके षष्ठे परिच्छेदे कर्मविचारोऽयं विस्तरेण विहितः । तत्राभिगमनादिपदानां लक्षणानि न दृश्यन्ते । तानि जयाख्यायामेवं प्रदर्शितानि—

ब्राह्मान्मुहूर्तदिवारभ्य प्रागशं विप्र वासरे ।  
 जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः ॥  
 अभिगच्छेज्जगद्वोर्न तच्चाभिगमनं स्मृतम् ।  
 ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत् ॥  
 भगवद्यागनिष्पत्तिकारणं प्रहरं परम् ।  
 तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम् ॥  
 ततोऽष्टाङ्गेन यागेन पूजयेत् परमेव्वरम् ।  
 साध्वं तु प्रहरं विप्र इज्याकालस्तु स स्मृतः ॥  
 श्रवणं चिन्तनं व्याख्या ततः पाठसमन्विता ।  
 स्वाध्यायसंज्ञं तं विद्धि कालांशं मुनिसत्तम् ॥  
 दिनावसाने सम्प्राप्ते पूजां कृत्वा समर्प्यसेत् ।  
 योगं निशावसाने च विश्रैरन्तरीकृतम् ॥  
 पञ्चमो योगसंज्ञोऽसौ कालांशो ब्रह्मसिद्धिः । (२२।६८-७४) ।

पञ्चकालाः<sup>२</sup> इमे पाञ्चवरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे नानाग्रन्थवचनप्रामाण्येन विस्तरसो

तथैवात्र (१७।४२-४३) प्रतिपादनात् (पृ० २०६)–इत्यादयो विषयाः प्रतिपादिता भाष्य-कारेण । होमान्तो मुख्यकल्प इति तु “सात्वतनिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम्” इत्यनेन विरुद्धचते । सात्वतानुसारं नित्यग्रन्थमारचयतो रामानुजाचार्यस्याप्यथमेव पक्षोऽभिप्रेत इति कथं क्रियादीप्रतिपादितहोमान्तविधेर्मुख्यकल्पत्वमङ्गीकर्तुं शक्यते? अर्चनम्, आराधनम्, इज्या, यागः, समाराधनमित्यादयश्च शब्दाः पर्यायत्वेन प्रयुज्यन्ते ।

१. “तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरेकान्तिभिर्नरैः” (१२।३३६।४६), “तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिदम्” (१२।३३७।३०) इत्येवं नारायणीये पञ्चकालज्ञा एकान्तिनो भक्ता भण्यन्ते । चतुर्विधेषु च तत्रोक्तेषु भक्तेषु—“तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः” (१२।३४।३४) इत्येवमेकान्तिन इमे श्रेष्ठा घोषिताः । प्रत्यहं पञ्चमु कालेषु पञ्चभिर्यज्ञैरेकान्तभावेन नारायणार्चनायां रता एते पाञ्चवरात्रिका उच्यन्ते । एतेषामनुशासकं शास्त्रं पाञ्चवरात्रमित्येतदेव पाञ्चवरात्रसंज्ञाप्रवृत्तिनिभित्तमिति ४३ पृष्ठस्थायां ३ टिप्पण्यामवलोकनीयम् ।
२. स्वाध्यायाख्योऽयं कालः साम्रतमपि कथाप्रवचनपुराणपाठध्वणादिरूपेण दिनावसानसमये प्रवर्तत इति वर्तते पाञ्चवरात्रागमोक्तविधीनां कोऽपि विशिष्टो महिमा ।
३. प्रयोगपद्धतिरत्नावल्यां भोजराजोक्ताः संगवादयः पञ्च काला अभिगमनादिभ्यो भिन्ना

व्याख्याता इति नात्र प्रपञ्चन्ते । योगाख्यस्याङ्गस्य तु सात्वतायां प्रतिपादितस्य परिचयः समुपस्थापित एव ।

उपर्युक्ते इज्याकालक्षणेऽष्टाङ्गस्य यागस्योल्लेखो वर्तते । अयमष्टाङ्गो यागोऽपि जयाख्यायामेवं वर्णितः—

अन्तःकरणयागादि यावदात्मनिवेदनम् ॥  
तदायमङ्गं यागस्य नाम्नाऽभिगमनं महत् ।  
पूजनं चार्घ्यपूषपादैभर्त्यर्थदखिलं मुने ॥  
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद ।  
मध्वाज्याक्तेन दध्ना वै पूजा च पशुनाऽपि वा ॥  
ततृतीयं हि यागाङ्गं तु यमन्नेन पूजनम् ।  
निवेदितस्य यदात्मं पूर्वोक्तविधिना मुने ॥  
सम्प्रदानं तु तन्नाम यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम् ।  
वह्निसन्तर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तमः ॥  
प्राणानिहवनं नाम्ना त्वनुयागास्तदष्टमम् । (२२।७५-८०)

सोऽयं पञ्चाङ्गोऽष्टाङ्गचेत्युभयविशेषात् यागः सात्वतायां प्रतिपादितः । तथाहि— द्वितीयादिपञ्चमान्तेषु परिच्छेदेषु वर्णितस्यान्तर्यागिस्य विवरणमुपस्थापितमेव । द्वितीयो भोग-यागः षष्ठे ७५ श्लोकपर्यन्तं वर्णितो दृश्यते । अत्रैवान्ते कारिप्रदानाख्यां सम्प्रदानं नाम पञ्चमं यागाङ्गमपि विवृतम् । ७६।१६२ श्लोकेषु वह्निसन्तर्पणाख्यं षष्ठमङ्गं निरूप्यते । अत्रैव तृतीयस्य चतुर्थस्य चाङ्गस्य विवरणमपि दृश्यते । सप्तमः पितृयागः १६३-१८० श्लोकेषु

इत्यपि पञ्चवरात्ररक्षायामेव (पृ० ५१) द्रष्टव्यम् । अत्रैव द्वितीयेऽधिकारे व्यासदद्धाशापिदल्यादिस्मृतिसंवादेन पञ्चकालविषयकः सामान्यो विचारः कृतोऽवलोकनीयः ।

१. जयाख्यायामत्र पशुनाऽपि तृतीयस्य यागाङ्गस्य बलिदानाख्यस्य सम्पादनमतुमन्यते । सात्वतायां (१।२६८) तु पञ्चप्रतिनिधिना तत्सम्पादनीयता निर्दिष्टा । तत्र स्पष्टमुद्वोष्यते— “स्वार्थतो वा परार्थेन श्रेयसेऽभिनवेशिना । प्राणिहिंसा न कार्या वै विशेषाज्जीवितैषिणाम् ॥ आयुषः क्षयमायाति नूनं प्राणिवधाननूणाम् । भूताभयप्रदानेन आयुषो वृद्धिमान्यात् ॥” (१।३२८-३२९) । नारायणीयेऽपि राजोपरिचरो वसुर्हसेकेन यागेन ईजे इति प्रदशर्यते— “न तत्र पशुधातोऽभूत्”“आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥” (३।१०-११) इति । अत्रैव (३।३७ अध्याये) “अजेन यष्टव्यम्” इत्यत्र पशुना वीजैर्वा यष्टव्यमिति देवानामृषीणां च विवादे समुपस्थिते राजोपरिचरो वसुर्देवपक्षसमाश्रयणात् स्वीयमाकाशगमन-सामर्थ्यं ह्रापयामासेति वर्ण्यते ।
२. सम्प्रदानाख्यं यागाङ्गमत्र भाष्ये (पृ० ८५-८६, १०९, २७९, ३।१-३।२, ५।३१) कारिप्रदानमिति शब्देन विवृतम् । एतत्समर्थनायैव भाष्यकारेण जयाख्याया इमे श्लोकाः समुद्धृताः (पृ० ८६) । सञ्चरित्ररक्षादिषु (पृ० १२४) चैवमेव वर्ण्यते ।

वर्णते । अष्टमोऽनुयागोऽत्र (१८१-१०६) आत्मयागनाम्ना वर्णितः । तदनु स्वाध्यायो योगश्चात्र वर्णितौ । इमे च विषया अन्येष्वपि परिच्छेदेषु वर्णिता दृश्यन्ते ।

जयाख्यायामेव मानस्यागाख्याने <sup>१</sup>लय-भोग-अधिकाराख्यास्त्रिविधा यागा अन्येऽपि प्रदर्शिताः । तदथा—

मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् स दा ॥  
याग एष लयाख्यस्तु संक्षिप्तः सर्वसिद्धिदः ।  
मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु ॥  
साकाराः केवलाः सर्वे यत्र भोगाभिधः स तु ।  
केवलेन च यागेन पृथग्भूतेन नारद ॥  
पूजनं कमलादीनामधिकाराभिधः स तु । (१२१८०-८२)

अत्र भाष्यकारः “एवमाहूय” (१७।६४-६५) इति सार्वेन श्लोकेन लयशागः, “तदोदितम्” (१७।६६) इत्यादिना च भोगयागः प्रतिपाद्यते इति वदति । “अनयोरर्चनयोर्मन्त्राणां निराकारत्वसाकारत्वभेदं लयभोगसंज्ञाकृत्वं च जयाख्ये प्रतिपादितम्” (पृ० ३०१) इत्युक्त्वा चेमानेव श्लोकान् समुद्धरति । “एत एव श्लोको ईश्वरपारमेश्वरयोरपि स्वस्वोक्तमन्त्रन्यासानु-सारेण प्रतिपादिताः” (पृ० ३०२) इत्युक्त्वा च पारमेश्वरव्याख्यानं समालोचयति ।

भोगाश्चात्र <sup>२</sup> पवित्रारोपणाख्ये चतुर्दशे परिच्छेदे (श्लो० ६-७) त्रिविधाः समुलिलिखिताः

१. लभयोगाधिकाराहृः शिवो मतञ्जपारमेश्वरे शैवागमे विचापादे (२।१४) स्मर्यते । तत्र तृतीये पटले लयभोगौ, चतुर्थे चाधिकारो विचेचितः । “लयशब्देन समुपसंहृतकार्यात्मिका निष्कलशिवावस्थोच्यते । भोगशब्देन पूर्वविष्ठात्यागेन कार्यं प्रत्युद्युक्ततामात्रा बिन्दुगता सकलनिष्कलावस्था ।” अधिकारपदेनापि तदवस्थात्यागेन कार्यसम्पत्तिशरीरता सदाशिवत्वं सकलावस्थोच्यते । तत्रैव शक्तीनामन्तर्भावः । “विद्येश्वराणां च” (पृ० ३१) इति तद्वचाख्याकारो रामकण्ठः । अत्र वर्तते केवलं शब्दसाम्यमुत एक एव विषयः प्रतिपाद्यते उभयोरपि स्थलयोरर्ति परीक्षणीयं वर्तते । मतञ्जपारमेश्वरे भगवतः शिवस्यावस्थात्रयमेतत्, जयाख्यायां तु त्रिविधेनानेन प्रकारेण भगवानर्चयते । वयं त्वेवमुत्पश्यामः—एकत्र समुपसंहृतकार्यात्मिका निष्कलशिवावस्था लयाख्या, अपरत्र च मूलमन्त्रशरीरस्था प्रथमावस्थापि तादृश्येव । प्रथमे बिन्दुगता भोगावस्था, अपरत्र लक्ष्मीबिन्दुगतामवस्थामेव स्मारयति । एषा च भोगावस्था भगवतः । एकत्र मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वर-मन्त्रा अधिकारिण उच्यन्ते, अपरत्र च कमलादय इति । कमलादीनां कथमधिकारित्वम् ? अथवा वर्तते कश्चन पाठभेदे इति विचारणीयं विपश्चिद्भूः । मतञ्जपारमेश्वरे प्रदर्शितः शक्तीनां बिन्दुगतावस्थायामन्तर्भावं उचितः प्रतिभावितः ।
२. सात्वतायां पवित्रारोपणपरिच्छेदात् पूर्वं त्रयोदशपरिच्छेदेषु नित्यान्यभिगमनादीनि, नैमित्तिकान्ति च ब्रतादीनि कर्मणि वर्णितानि । तेषामाकस्मिके लोके प्रत्यवायो जायते । कथं तस्योपशमानं क्रियेतेति प्रश्नस्य सङ्कर्षणोपस्थापितस्य समाधानाय प्रवर्ततेऽयं पवित्रारोपणा-

प्रसङ्गवशात् । ते च 'सांस्पर्शिकाः, हृदयङ्गमसंज्ञाः, औपचारिकाश्वेति । "सांस्पर्शिकानां भोगानां स्वक्चन्दनादीनाम्, हृदयङ्गमसंज्ञानाम् आभ्यवहारिकाणाम्, ... औपचारिकभोगानां छत्रचामरादीनाम्" (पृ० २७३) इति च तत्रत्यं भाष्यम् । षष्ठे परिच्छेदे (श्लो० ६१) औपचारिकपदव्याख्यानप्रसङ्गेन तमिमं विषयं विस्तरेण व्याख्यातवानलशिङ्गभट्टः । तथाहि—'औपचारिकभोगानां दृष्टचानन्दजनकानां दीपादीनाम्, श्रोत्रानन्दजनकानां स्तुतिवादित्रीतानां चेत्यर्थः । एत एव भोगा लक्ष्मीतत्त्वे सांदृष्टिकत्वेनाभिमानिकत्वेन च प्रतिपादिताः । तथाहि—

दृष्टचेत्वं जन्यते प्रीतिर्येस्ते सांदृष्टिका मताः ॥

शुभा रूपोल्बणास्ते च दीपप्रवहणादयः ।

भोगाः शुभकरास्तदृत तर्पयन्ति रसैर्हि ये ॥

प्रापणाचमनीयाद्यास्ते स्युराभ्यवहारिकाः ।

सुखरम्यमदुपर्शा भोगैर्ये तर्पयन्त्यजम् ॥

भोगाः सांस्पर्शिकास्ते स्युः पादाधर्यासनपूर्वकाः ।

गन्धाः सांस्पर्शिके केचित् केचिदाभ्यवहारिके ॥

निविष्टा अनिलादाः स्युरत्यः पाकजगन्धिनः ।

स्तुतिवादित्रीतादाः भोगाः शब्दमया हि ये ॥

दैन्याऽजलिपुत्राद्याश्च ते स्मृता आभिमानिकाः ।

इत्थं चतुर्विधैर्भौगैः शास्त्रदृष्टेन वर्तमना ॥ (३६।८७-९२) इति ।

अत्र तु पवित्रोत्सवप्रकरणे औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकत्वेन भोगत्रैविध्यस्यैव

स्थिरतुर्दशः परिच्छेदः । "लोभवुद्दिविना" (१४।४) इत्यादिना "सौत्रं परिसरम्"

(१४।९) इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रश्नोऽयं समाधीयते भगवता । तदनु च आ परिच्छेदान्तं पवित्रारोपणविधिः प्रदर्शयते, तदङ्गत्यैव च पञ्चदशो परिच्छेदे स्नपनं विधीयते । एवं स्पष्टायां प्रकरणसंगतौ सत्यामपि डा० डेनियलस्मित्थमहोदयोऽत्र प्रकरणासंगतिं पश्यति, विविधाश्च कल्पनाः समुद्भावयति (पूर्वोक्ते ग्रन्थे, पृ० ५३४-५३५) । को नाम कल्पनारथमवरोधप्रेतुः? नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि त्रयोदशपरिच्छेदान्तं वर्णितानि । तत्र प्रत्यवायोत्पत्तौ तदुपशमनोपायश्च द्वयोः परिच्छेदयोः (१४-१५) प्रोक्ताः । मन्त्रलोपक्रियालोपद्रव्यलोपादिसंभवे हि कुच्छ्वाचान्द्रायणादिवतान्यनुष्ठीयन्ते । तेषामपि पूरकं चातुर्मास्यत्रतम् । तस्यापि पूरकं पवित्रारोपणम् । अतोऽस्य सर्वप्ररथित्वमुक्तं भवति । दीक्षित एवाविकृतो भवतीति तदनु दीक्षाप्रकरणं षोडशपरिच्छेदेतः प्रारम्भत इति नात्र मनागपि स्वालित्यं प्रकरणासंगतिर्वा परिलक्ष्यते ।

१. "ध्यावैवमर्चनं कुर्याद् भोगैः संस्पर्शपूर्वकैः" (१३।६२) इत्यत्रापि संस्पर्शपूर्वका भोगा एते स्मृताः । एतेनापि त्रयोदशपरिच्छेदेन साकं चतुर्दशपरिच्छेदस्य संगतिः सिद्धा भवति । संस्पर्शपूर्वकैर्भौगैर्भगवतोऽर्चनं विधेयमिति हि त्रयोदशपरिच्छेदान्ते उच्यते, तत्र च संजाते विद्वे पवित्रारोपणविधिना तदुपशमो विधेय इति तेन चतुर्दशपरिच्छेदस्य स्पष्टं संगतिसिद्धेः ।

वक्ष्यमाणत्वादौपचारिकशब्देनैव लक्ष्मीतन्त्रोक्तः सांदृष्टिका आभिमानिकाश्च भोगाः संगृह्णन्ते । किञ्चत्रात्र औपचारिकभोगानामिति सांस्पर्शिकानामित्युपलक्षणम् । यतोऽत्र—“सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम्” (१४।६) इति मात्रावित्तस्य सांस्पर्शिकभोगपूरकत्वमपि वक्ष्यति” (पृ० ८०-८१) इत्युच्यते । एवं च भोगयागस्य वर्तते किमपि वैशिष्ट्यम् । भोगयागं विदधता साधकेनान्तरातः किल भगवानेवं प्रार्थयते—

निजानन्दमयैर्भोगैर्नित्यतृप्तस्त्वमव्ययः ।

तथापि भवत्या तृप्तोऽहं त्वा यजाम्यात्मतुष्टये ॥ (१४।१७) इति ।

अन्तर्यागवहिर्यागात्मके सम्पूर्णोऽस्मिन् ब्रह्मविचारे कर्मविचारे च दीक्षितस्यैवाधिकार इति साम्प्रतं दीक्षाविचारः प्रस्तूयते ।

### दीक्षा

षोडशाद्वार्षिकशान्तेषु परिच्छेदेष्वत्र दीक्षाया अभिषेकस्य च निरूपणं विद्यते । परव्यूह-विभवक्रमेण त्रिविधा भवति सा । त्रिविधानां कायिकावाचिकमानसानां दोषाणामपनुत्तये कृच्छ्रातिकृच्छ्रपूर्वैः परिपीडैः, स्तुतिसंमार्जनादिक्या भगवत्सेवया, ब्रह्मतीर्थादिभिरुच्च शरीरं वाचं मनस्च शोधयन् मनःप्रसादपर्यन्तं गुरुकुलवासं कुर्यात् । तेन हि—“दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा । समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं यदि ॥ निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात् परमात्मनः । कि पुनर्योऽनुतापातः३ शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः ॥ विरतो दुष्कृताच्चैव भक्तिच्छायां समाप्तिः ।” (१६।२३-२५) इत्युक्तप्रकारेण मानवो निर्दोषो भवति ।

एवं संशुद्धदोषाणां भक्तानां बहुजन्मार्जितस्य कल्मषस्य विवातार्थं प्रथमं वैभवीयस्य विभोत्तरीर्सिहस्र्य मन्त्रस्य, अथवा यस्मिन् वैभवे मन्त्रे यस्य मनोभिरमते तस्यैव दीक्षा दीयते । तदनु च विभवव्यूहसूझाख्यां३ दीक्षाः क्रियन्ते । वैभवीयानां सिद्धीनामाप्तये निश्चयेसविभूत्यर्थं वाऽभ्यर्थितात् सुप्रसन्नात् प्रतिपन्नाच्च देशिकाद् दीक्षात्रयं ग्राह्यम्, अथवाऽप्रार्थितेन सातुकम्पेत तेन स्वयं संशुद्धपापानां शरणैषिणामेतत् कर्मयम् ।

नारर्सेहमन्त्रदीक्षाविधिरत्र सप्तदशो परिच्छेदे वर्णचक्ररचनापूर्वकनृसिंहबीजोद्धार-तदज्ञ-मन्त्र-द्वादशाक्षरमन्त्रोद्धार - प्राणायाम-भूतशुद्धि-न्यास - मुद्रा-आसन-मण्डललेखन-आवाहन-वह्नि-

१. भगवद्गीतायाः “अपि चेत् सुदुराचारः” (१।३०-३३) इत्यादिभिः श्लोकैस्तुलोयमेतत् ।
२. आधिदैविकाः, आध्यात्मिकाः, आधिभौतिकाश्च तापा भाष्यकारेण विष्णुपुराणोक्ता अत्र (पृ० ३३-३४-३५) समदृताः । एभिस्तापैस्तप्तो मानवोऽनुतापातो भवति, तापत्रयपीडितोऽप्यहमेतावत्कालपर्यन्तं कथं न भगवदाराधनं कृतवानिति ग्लानिना परीतो भवति ।
३. सूक्ष्मशब्दोऽत्र भगवतः पररूपस्य वाचकः ।
४. अत्र (१७।६१-६३) करणत्रयेण कर्मणा वाचा मनसा चावाहनं विधीयते । करणत्रयस्यापि प्रेरणोच्चारणस्मरणाख्यं कायत्रयम् । तत्र प्रेरणमध्यपुष्पाङ्गलिसमर्पणमन्त्रन्याससंनिधिनिरोधसामुख्यमुद्रादर्शनादिलक्षणम् । उच्चारणं चतुर्वर्णं क्रियते । स्मरणं च मानसो व्यापार इति ज्ञेयम् । एवमावाहितो भगवात् विष्णवादिष्वभिव्यज्यत इति ४८ पृष्ठस्था १ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

सन्तर्पणादिपुरस्सरं विस्तरेण वर्णितः । दीक्षारम्भे साधकेन प्रदक्षिणयुतैरष्टाङ्गप्रणामदेवः, अग्निः, गुह्यः, कुम्भश्च पुनः पुनः पूजनीयाः । देशिकेन च शिष्यस्य योग्यतां विज्ञाय तीव्र-मन्दादिका दीक्षा विधेयाः, समयाश्चै श्रावणीयाः । एवं पश्योवकशाकाम्बुद्धत्मूलफलाशनैर्ब्रह्मचर्यादिभिः संयमैच्च साधितोऽयं मन्त्रः शान्तिकादिषु कर्मसु ३ प्रयोक्तुं शक्यत इति सम्पूर्णेऽपि परिच्छेदे (१५४-४५८ श्लोकेषु) ४शान्तिक-पौष्टिक-आप्यायन-रक्षा(आतुराणामनातुराणां च)-कर्मणां धर्मर्थिकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थीनां च साधनाय विनियोगो विहितः ।

परव्यूहविभवाख्यं दीक्षात्रयं देशिकाद् प्राह्म, स्वयमप्रार्थितेन वा तेन विधेयमिति षोडशपरिच्छेदात्मे प्रोक्ततम् । अष्टादशे परिच्छेदे क्षमापरिग्रह-मण्डलनिर्माण-भूततर्पण-गणित्रक-पक्षमकादिसंमार्जन-कुम्भस्थापन-सम्पातहोम-षड्धविलापनान्तोऽधिवासनकर्मणः क्रम उक्तः, यो हि वैभवदीक्षायां व्याख्यायां परायां चोपयुज्यते ।

उक्तदीक्षात्रयमूनर्विशे परिच्छेदे कैवल्यफलदा-भोगकैवल्यदा-भोगदामेदेन व्याख्यातम् । अस्मिमश्च दीक्षात्रये भक्तिभावानुविद्वानां भावितात्मनां शिष्याणां वृद्धानामङ्गनानां बालानां च सममेवाधिकारः स्वीकृत्यते । दीक्षैर्ज्ञानं जयाख्यलक्ष्मीतन्त्राद्यनुसारं महामण्डलयागेन वित्ताद्वयस्य, केवलाद् हवनादल्पवित्तस्य, केवलया वाचा च द्रव्यहीनस्य क्रियते (पृ० ३७८-३७९) । सर्वप्रथम-मन्त्र शुभाशुभस्वप्नपरीक्षाऽशुभस्वप्नशान्तिश्च विधीयते । तदनु शिष्यदेहस्य नेत्रमन्त्रेण निरी-

१. “मनोबुद्धच्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले ॥ कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम् । प्रदक्षिणसमेतेन त्वे वं रूपेण सर्वदा ॥ अष्टाङ्गेन नमस्कृत्य ह्युपविश्याग्रतः प्रभोः ॥” (६१८७-१८९) इत्येवमष्टाङ्गप्रणामविवरत्र निर्दिष्टः । भगवता रामानुजेन नित्यग्रन्थे (पृ० १८८) स्मृताचेतौ श्लोकौ । अलशिङ्गभट्टेन पौष्टकर (३७१५३) प्रामाण्येन विषमप्रणामनिषेधः प्रतिपाद्यते । पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० ११३-११६) च मतान्तरोपन्यासपूर्वकमेष विषय-श्चर्चर्यते ।
२. समयानां व्याख्यानमन्त्र दीक्षाप्रकरणे कृतम् ।
३. “षट्कर्मनिरतं यतिवृन्दम्” (१४-२३), “यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥ षट्कर्मनिरतानाम्” (२५१४३-१३५) इत्युभयोरपि स्थलयोः षट्कर्मपदेन स्मृत्युपदिष्टान्यद्ययनाध्यापनादीनि षट्कर्माणि प्रकरेणानुरोधाद् ग्राहाणि । अन्यान्यपि शान्तिकादीनि मारणादीनि च शुक्लानि कृष्णानि च षट्कर्माणि भवन्ति । तेषां परिचयो नित्याषोडशिकाण्डोपेद्घाते (पृ० ७२-७३) २ टिप्पण्यां द्रष्टव्यः । अथवा वैरोचने प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चये—“पूजा होमो वर्लिभक्षा च रुचातिथिपूजनम् । षट्कर्माणि तु कार्याणि शिवाचार्येण नो परैः ॥ व्याख्यानं श्रवणं चैव प्रदानं च प्रतिग्रहः । दीक्षा च स्थापनं चेति षट्कर्माणि सदा गुरोः ॥” (२१३४-१३५) इत्येवं यानि षट्कर्माणि व्याख्यातानि, तान्येवात्र वैष्णवा-चार्येण स्वागमोक्तपद्धत्या समाचरणीयानि ।
४. चतुःसंख्याप्रियोऽयं सात्वतागमः शान्तिकादिकर्मचातुर्विध्यमेव प्रतिपादयति, न तु षाढ्विध्य-मिति विभोवनीयम् ।

क्षणम्, अस्त्राभिमन्त्रिततिलसिद्धार्थेस्ताडनम्, अस्त्राभिमान प्रोक्षणम्, दर्भेरालभनम्, मन्त्र-  
न्यासैर्पूर्तिवत् संस्कारश्च क्रियते । दीक्षिताय शिष्याय वैष्णवनामप्रदानमस्या दीक्षाया एवाङ्गं  
भवति, “तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः” (२१२८४) इति हि पञ्च संस्कारा  
दीक्षाङ्गत्वेनेश्वरसंहितायां प्रतिपादिताः ।

नामसंस्कारानन्तरं मायासूत्रग्रहणपूर्वकमग्निमध्ये व्यक्तरूपं भगवन्तं संस्मृत्य तस्मिन्  
भगवति शिशौ सूत्रे स्वात्मनि च देशिकोऽध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदभिन्नमध्वानमा पादाच्छिखान्तं  
व्याप्तं स्मरेत् । “रचनासन्निवेशो यः क्षमादीनां चाधिभूतता ॥ बोद्धव्यमधिदैवतं सामर्थ्यं यस्य  
यत् स्वकम् । तदविष्ठातृमन्त्राणामध्यात्मतं विधीयते ॥” (११६६-६७) इति हि तत्राध्यात्मादि-  
पदानामर्थो निर्दिष्टः । आचार्यो भुवनपदाध्वनोरशुद्धत्वात् तत् त्यक्त्वा मन्त्राध्वानमवलम्ब्य  
ब्रह्मरन्द्रमार्गेण शिष्यस्य द्वादशान्तं प्रविश्य मन्त्रशक्तिं तत्र स्थापयेत्, पुनः स्वशरीरान्तः प्रविश्य  
द्विषट्क(द्वादश)संख्याका आहुतीर्द्यात्, तदनु तेन शिष्यस्य भुवनाध्वा परिशोधनीयः । तेन  
हि—“विमुक्तः पञ्जराद् यद्यत् सुखमास्ते विहङ्गमः ॥ ऊर्ध्वपाती तदारुढस्त्वेवं मन्त्रबला-  
च्छिषुः ॥” (११९९-१००) इत्युक्तदिशा शिशुः (शिष्यः) मुक्तबन्धनो विचरति ।

एवं क्रमेण क्षमातत्त्वस्य जलतत्त्वस्य तेजस्तत्त्वप्रभृतिमनस्तत्त्वान्तानां मन्त्राध्वादिविर्णि-  
ध्वान्तानामध्वनां च संस्काराः क्रियन्ते । अथ नेत्रमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा शक्तिमतः शिष्यचैत-  
न्यस्य बुद्धिमयेऽध्वनि, ततस्तत्त्वकञ्चुकनिर्मुक्तस्य शान्तात्मन्येकतां गतस्य संवेद्यनिर्मुक्ते  
समाधौ च योजनं विधीयते, यत्र हि संलीनं द्वैतमात्रकं स न पश्यति । अथ देशिकोऽस्मितां

१. “चक्रतप्ततनुः” (२२१) इति समयिलक्षणप्रतिपादनात्, “समयिलक्षणानि पुत्रकादिषु  
त्रिष्पिपि समानानि” (पू० ४३२) इति भाष्योक्तेश्च तापसंस्कारोऽयं सात्वतायामप्यङ्गी-  
कृतः । “तप्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यामङ्गितस्य भुजद्वये । सम्यधृतोर्ध्वपुण्ड्रस्य दत्तनाम्नश्च  
कर्मणः ॥” इत्येण श्लोकस्तु (पूर्वमुद्विते सात्वतग्रन्थे २०२-३ इत्यत्र स्थापितः) प्रक्षिप्तो  
मन्तव्यः, भाष्यकारेणाव्यात्मात्वात्, चक्राङ्गनादिशास्त्रार्थप्रकरणे (पू० ३८२-३८६)  
चानुदृतत्वात् । ऊर्ध्वपुण्ड्रस्याप्यत्रोल्लेखो वर्तते—“भस्मनाऽऽजलनिर्मिथितेनैव ह्रौर्ध-  
पुण्ड्रचतुष्टयम् । हृद्यांसयोर्ललाटे च कुर्याद् दीपशिखाकृति ।” (६१६१-६२) इति,  
“कार्यणि चोर्ध्वपुण्ड्राणि पृष्ठे पार्श्वद्वयेऽपि वा” (१७२७३) इति, “भूतिना चन्दनाद्यैन  
भूषयेद्वर्धपुण्ड्रकैः” (१८१०४) इति च । अत्रोक्तो भस्मनेति पश्चो वेदान्तदेशिकेन सञ्चित्रित-  
रक्षायां समालोचितः । “नहि क्वचित्कर्मणि विहितं सार्वत्रिकं भवितुमर्हति” (पू० ६९)  
इति हि तेनोपादितम् ।
२. “तस्मादप्यभिमानं तु हस्मिताख्यं शानैः शानैः । विनिवार्य यथा शश्वद् ब्रह्म सम्पद्यते  
परम् ॥” (१७१४५६) इत्यत्र नृसिंहकल्पपरिच्छेदसमाप्तौ तेजोमण्डलरूपेण परिणते  
मन्त्रचैतन्येऽस्मिताख्यमभिमानं त्यक्त्वा साधको ब्रह्म सम्पद्यत इत्युच्यते । एवमेवाज्ञादशे  
परिच्छेदे (श्लो० १५२) वर्णनामस्मिन्शक्तौ संस्थितिरनादिवासनारूपाऽऽगतिश्च चिन्त्यते ।  
अस्मिता चेयम्—“दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता” (२१६) इति पातञ्जलयोगसूत्र-

प्राप्य शिष्यस्यापैमोक्षनिवृत्तये होमं करोति । तेन हि—“अन्तरुहो यथा काष्ठात् पावकश्च पृथक् कृतः ॥ न भूयः सह काष्ठेन साम्यमेति तथा पुमान् । योजितोऽध्वान्तरे भूयो नैति तन्मयतां ततः ॥” (१९।१२४-१२५) इत्युक्तदिशा शान्तात्मन्येकतां गतं शिष्यचैतन्यं पुनरध्वपतितं न भवति । अथ शिष्यं पूर्वोक्तसमाधिविमुखं कृत्वाऽत्मनोऽग्रे निवेश्य तस्य भिन्नरूपः सितासितोऽध्वा परात्मन्यमेदेन संस्थितो यथावदुपदेष्टव्यः । तस्य च प्रकारोऽत्रोपदिष्टोऽस्माभिः शब्दब्रह्मप्रकरणे विवेचितो द्रष्टव्यः ।

एवमत्र वैभवदीक्षा, चातुरात्मीया व्यूहदीक्षा<sup>३</sup>, ब्रह्मदीक्षा च पराभिधा क्रमेण पूर्वोक्तफलत्रयप्रदायिनी निर्दिष्टा । ब्रह्मदीक्षायां दीक्षितः प्रकृत्याँ सह विलयमभ्येतीत्यत्रोच्यते । तेन प्रकृतिशब्दोऽत्र प्रकरणानुरोधाद् ब्रह्मणः पररूपस्य वाचकोऽभिमन्तव्यः ।

#### अभिषेकः

दृष्टमण्डलस्य समयनिष्ठस्य शास्त्रज्ञस्य समाराधनसक्तस्य सच्छिष्यस्य पुत्रकत्वं गतस्य सर्वमन्त्राणां सिद्धयेऽधिकाराप्तये च गुरुणाऽभिषेचनं कर्तव्यम् । तत्र जयाख्यानुसारं सेनापतिक्रमेण समयज्ञस्य, महामन्त्रिसदृशं पुत्रकस्य, युवराजविधानेन साधकस्य, राजोपचारविधिना च आचार्यस्याभिषेचनं विधीयते (१८।३४-३५) । अत्र भाष्यकारेण द्विविधः पक्ष उपस्थापितः—सात्वते केवलमाचार्याभिषेकविधानमुक्तम्, जयाख्ये च चतुर्णामिष्यभिषेकाः प्रयोगभेदाश्च वर्णिता इति । सात्वते आचार्याभिषेकमात्रस्योक्तत्वात् साधकाद्यभिषेकविधानानामनुकृतत्वाच्चैतन्निष्ठैराचार्याभिषेकमात्रमनुष्ठेयम् । यद्वा “अनुकृतमन्यतो ग्राह्यम्” इति न्यायेन साधकाद्यभिषेकाद्यनुष्ठानेऽपि न प्रत्यवाय इति (पृ० ४११) ।

इदमत्रावधेयम्—सात्वतोपवृणेश्वरतन्त्रे—“इत्येवमभिषेकस्तु भवेन्मुख्याधिकारिणाम् ॥ अन्ये तु दीक्षामात्रेण संस्कार्या मुनिपुञ्जवाः ॥” (२।५०३-५०४) इत्येवं स्पष्टोक्तेः, पाद्ये तन्त्रेऽपि चाचार्यवंशजानामेवाभिषेकस्य प्रतिपादितत्वादभिषेकस्य द्वौ प्रकारौ स्वीकर्तव्यौ । एको दीक्षाङ्गत्वेन, अपरश्चाधिकारप्राप्त्यञ्जत्वेन । प्रथमः प्रकारः सामान्याभिषेक इति, अपरश्च

लक्षितैव स्वीकर्तव्या । संवेदनिर्मुक्ते हि समाधौ शिष्यं योजयन् गुरुः स्वयमपि तत्र लीनो भवति । दीक्षाविधिपूर्तये किल तेन पुनरप्यस्मिताऽवलम्बनीया शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये चावशिष्टविधिः सम्पूरणीयः ।

१. अपमोक्षशब्दोऽत्र कमर्पूर्तिजन्यप्रत्यवायपरकतया नेयः, भगवदाराधनात्मकस्य कर्मणो निष्कलत्वस्थात्र (७।१२२-१२३) सर्वथा प्रतिषिद्धत्वात् । अथवा दीक्षायामसमाप्तायां स भगवदाराधनाधिकृतो न भवतीति तस्य दौर्गत्यमाशङ्कृते । तदिदं दौर्गत्यं मा भूदिति शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये गुरुणा दीक्षाविधिः सम्पूर्णतां नेय इति ग्रन्थस्याभिप्रायो मन्तव्यः ।
२. वैभवदीक्षाया विधिरत्र सम्पूर्णेऽपि परिच्छेदे विस्तरेण वर्णितः । स एव ब्रह्म(पर)दीक्षायां व्यूहदीक्षायां चातिदिश्यते स्वीयवैशिष्ट्यफलवैशिष्ट्यप्रदर्शनपूर्वकं परिच्छेदान्ते । एतदजानान एव डा० स्मिथमहोदयः सात्वतसंहितामाक्षिपति (तदीये ग्रन्थे, पृ० ५३५ द्रष्टव्यम्) ।
३. भोगमोक्षलक्षणे पुनरप्येतत् परीक्षिष्यते ।

पूर्णाभिषेक इति प्रोच्यते । तत्र सामान्याभिषेको दीक्षाया अङ्गम्, पूर्णाभिषेकश्चाधिकारप्राप्तकः । शाकतेषु खलु तन्त्रेषु पूर्णाभिषिकत आचार्य एव परीक्षितान् योग्यान् शिष्यान् दीक्षयतीति पूर्णाभिषेको योग्यस्थाचार्यस्यैव क्रियते । एवं च दीक्षाधिकारप्राप्तये योग्य आचार्य एव पूर्णाभिषेकविधिना सभाजनीय इति स एव पक्षः सात्वतायामादृतः । जयाख्योक्तिस्तु सामान्याभिषेकपरतया नेया ।

अभिषेकविधिरत्र विशेष परिच्छेदे प्रतिपादितोऽवलोकनीयः । दीक्षितेनाभिषिकतेन च शिष्येण—“गुरुयागमतः कुर्याच्छिष्यः प्रयत्नमानसः” (२०।३३) इत्युक्तिदिशा गुरुपूजनं विधेयम् । यतो हि—“आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां भक्तानां भावितात्मनाम् । परा गतिर्गुरुः” (२०।४०) इति भावितात्मनां भक्तानां मोक्षपर्यन्तसिद्धीनां प्रहाता गुरुरेवेति स एव सर्वेषां परा गतिः ।

#### नियमः

दीक्षितस्य प्रतिपन्नस्य शिष्यस्य गुरुणा शासनेऽस्मिन् किंस्वरूपा<sup>१</sup>नियमाः समयाभिधाना दातत्वा इति विषयोऽत्र एकार्विशेषे परिच्छेदे विस्तरेण प्रतिपादितः । पूर्वं सप्तदशे नृसिंहकल्पपरिच्छेदेऽपि “समयान् श्रावयेत्” (१७।१२४) इत्यादिना “एवं हि समयान् दद्यात्” (१७।१३९) इत्यत्तेन ग्रन्थेन समयास्या नियमाः श्राविताः । तेषु केचनात्र प्रदश्यन्ते—अक्समा-द्वृपसन्नानां देशान्तरनिवासिनां नारायणरतात्मनामिष्टोपदेशः<sup>२</sup> कर्तव्यः । ॐद्रामण्डलमन्त्राणां निःसंदिग्धं ज्ञानं गुरुः सकाशादधिगन्तव्यम् । सर्वज्ञभगवन्मन्त्राणां सिद्धारिवीक्षणादिनाऽऽनुकूल्यं न गच्छणीयम् । नभिचक्रे, हृत्यश्च, कन्दमूले, गलावटे, ध्रूपघ्ये, ब्रह्मरन्त्रे चेति षट्सु स्थानेषु सूर्यसंकाशो मन्त्रराद् स्मर्तव्यः । “भवितरन्ती गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि” (२१।६२) इति समयानां पञ्चकमवश्यं पालनीयम् ।

नियमा एते पूर्वं शिष्यस्य निर्वाहकातां जात्वा यथावदुपदेष्टव्याः । तस्य येषु येषु निर्वाहः संभवति, तेषु तेषु समयेषु पुनर्यथा स च्युतो न भवेत् तथा नियोजनीयः । अन्यथा—‘धावन्ति

१. द्विजानामुपनयनसंस्कारस्येव तन्त्रेष्वामेषु च वर्तते दीक्षासंस्कारस्य वैशिष्ट्यम् । यथा हि द्विज उपनयनसंस्कारानन्तरं वेदाध्ययनादिविधिकृतो भवति, तथैव दीक्षानन्तरमेवागमतन्त्रोऽक्तेषु कर्मस्वधिकारशाग् भवति मानवः । उपनयनानन्तरं ब्रह्मचारिणे केचन नियमा उपदिश्यन्ते, तथैवात्रापि समयपदवाच्या नियमाः श्राव्यन्ते । तत्र स्मातको नियमानेतान् परिगृहीतानपि परित्यजति । अत्र तु दीक्षितेन समया एते परिगृहीता यावज्जीवं पाल्यन्ते ।
२. यादूशमुपदेशं य इच्छति तस्मै तादृशं एवोपदेशो दातव्य इति किल विद्यते तस्याभिप्रायः । वर्तते च इष्टोपदेशानामकं ग्रन्थद्वयम् । प्रथमस्य श्लोक उत्पलवैष्णवकृतस्पन्दप्रदीपिकायाम् (पृ० १०१) उद्भूतो दृश्यते । अपरस्च जैनाचार्यपूज्यपादविरचितो मुद्रित उपलभ्यते । ग्रन्थे स्पन्दप्रदीपिकायामुद्भूतः श्लोको नोपलभ्यत इतीतो भिन्न एव कश्चन वैष्णवसम्प्रदायग्रन्थः स मन्त्रव्यः ।
३. समयि-पुत्रक-साधक-आचार्याणां मुद्राचतुर्ष्टयमत्र द्वाविशे परिच्छेदे (श्लो० ६६-६७) द्रष्टव्यम् । मुद्रालक्षणपुरस्सरमन्योऽपि प्रपञ्चोऽत्र मन्त्रप्रकरणान्ते कृतोऽवलोकनीयः ।

समयन्वस्य सविज्ञास्तु विनायकाः । विमुखाः सिद्धयो यान्ति ह्यापदोऽभिभवन्ति च ॥”  
(२१।६०) इति वचनं प्रतिफलति । समयानामेतेषां यथावत् परिपालनात् समयिपुत्रकसाधका-  
चार्याणां शुभं भवति (२१।६६) ।

### समयिपुत्रकादिलक्षणानि

अथ द्वार्चिशे परिच्छेदे तदेतेषां समयिपुत्रकसाधक-आचार्याणां लक्षणानि क्रमशो विस्तरेण  
प्रदर्शितानि । तत्र समयिलक्षणानि शिष्टेषु पुत्रकादिषु त्रिष्वप्यनुवृत्तानीति समयी नाम शिष्यो  
जात्या चतुर्विधो ज्ञातव्यः । अत्रत्य एकः श्लोकोऽवधेयतापदवीमानेतत्व्यः श्रीमद्भुः—

‘उक्तनिर्वाहकश्चाभीर्तित्यं नीचासनप्रियः ।

सर्वेषामूर्ध्वतो नित्यं स्थितिकामपरायणः ॥ (२२।१२)

शिष्टानां विशिष्टानि लक्षणानि ग्रन्थ एवावलोकनीयानि । आचार्यलक्षणे कश्चन  
विशेषः । आचार्यलक्षणप्रकरणे किल आगमसाङ्कर्यवेत्त । पूर्वापराविरोधेन तत्त्वाहिकश्चेति  
विशेषणद्वयोपादानपुरस्सरं दिव्यं मुनिभाषितं पौरुषं चेति त्रिविधं वाक्यं तल्लक्षणं च प्रति-  
पादितम् । अत्र वाक्यपदं शास्त्रोपलक्षकम् । ईश्वरपारमेश्वरादिषु मुनिभाषितस्यापि सात्त्विकादि-  
भेदैस्त्रैविद्यमुण्डाद्यते । यद्यप्यनर्थकमसम्बद्धमल्पार्थं दिव्यमुनिभाषितविरुद्धं शब्ददम्बरं पौरुषं  
वाक्यं हेयमन्तर्भिसिद्धीनामाकरं नरकावहं चाभिप्रेतम्, तथापि प्रसिद्धार्थनिवार्दं संगतार्थं विलक्षणं  
पौरुषं वाक्यं मुनिभाषितवदुपादेयमित्यत्राङ्गीक्रियते । विविधानामेतेषां शास्त्राणां परस्परविरोध-  
पूर्वापराविरोधपरिहारेण यः समन्वयं स्थापयति, साङ्कर्यं च न करोति, स आचार्यों देशिकपदे-  
नात्रालङ्घक्रियते । वेदान्तदेशिकादय इदृशा एवाचार्या आसन् ।

समयिपुत्रकाद्यवरपदस्थोऽपि योऽन्यथाः<sup>३</sup> सावकाचार्यपदारूढत्वेनात्मानं वेदयति, स  
अधमो न रक्षयति । तस्मान्च्छेयोर्धिनाऽभिमानं परित्यज्य यथावदधरोत्तरता संरक्षणीया ।

दीक्षित एव पुरुषोऽन्तर्यागे बहिर्यां चाधिकृतो भवतीति दीक्षाविवेचनानन्तरमथ  
साम्प्रतमधिकारी विविच्यते ।

### अधिकारी

सात्वतायां दीक्षाप्रकरणे—<sup>३</sup>“दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतव्यो नास्तिकः पुरा । समा-  
श्रेयोदादिरेवं श्रद्धया शरणं यदि ॥। निर्देवं विद्धि तं जन्मुं प्रभावात् परमात्मनः । किं पुनर्योऽनु-

१. अत्र उक्तनिर्वाहक इति “रामो द्विनार्भिभाषते” (वा० रा० २।१८।३०) इति रामायणीयं  
वचनं स्मारयति । नीचासनप्रिय इति विनयं सूचयति । सर्वेषामुपरि स्थितिकामपरायण  
इति कर्मण्यतां साहस्रिकतां चास्य ज्ञायति । अभीतो हि पुरुषः कर्तुमेतत् प्रभवति । एत-  
देव तदैशिष्टचं येन हि वैष्णवो धर्मो लोकप्रियो बभूव, सम्पूर्णं च देशो प्रसारं लेखे ।
२. अत्रत्यः “वेदयत्यन्वयथात्मानम्” (२।६२) इति श्लोकः—“योऽन्यथा सन्त्वमात्मानमन्यथा  
सत्यं भाषते । स पापञ्चक्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥” (४।२२६) इति मनुस्मृति-  
श्लोकं स्मारयति । मनुस्मृतिश्लोकश्चैष वियता पाठान्तरेण सह भाष्यकारेण (पृ० १२०)  
स्मृतः ।
३. अत्र ५४ पृष्ठस्था १ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

तापार्तः शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः ॥ विरतो दुष्कृताच्चैव भवित्वच्छायां समाश्रितः ।” (११२३-२५) यद्यपीदमुच्यते, “भवित्वावानुविद्वानां शिष्याणां भावितात्मनाम् । वृद्धानामङ्गनानां च बालानां भावितात्मनाम् ॥” (१११०-६) इति च सर्वेऽपि दीक्षाधिकारिणो मन्यन्ते, तथापि नैकेषु स्थलेष्वत्र वर्णार्थमव्यवस्थानुसारमेवाधिकारिणो विवेचिताः । दीक्षाप्रकरणेऽपि—“सम्प्रतिपन्नाः” “ब्राह्मणादयः” (१६।२), “यथाक्रमेणोदितानां वर्णनाम्” (१६।३), “कालेन वर्णोत्कर्षेण” (१६।२०), “क्षपयेत्तद् द्विजेन्द्रस्तु” (१६।२१), “नृपविट्ठृद्वजातीयः” (१६।२२) इत्येवं सर्वत्र दृश्यते । “द्वितीये परिच्छेदेऽपि परस्य भगवतोऽचेऽप्ताङ्गयोगसिद्धानां हृदयानिरतात्मनां योगिनामधिकारः, व्यामिश्रयागयुक्तानां वेदवादिनां विप्राणां दीक्षानन्तरमेव चतुर्वूहाच्चने समन्त्रमधिकारः, त्रयाणां क्षत्रिविट्ठृद्वाणां तत्त्वतः प्रपन्नानां चतुर्वूहाच्चनेऽमन्त्रमधिकारो निर्दिष्टः । अहङ्कारममकारप्रस्तानां विवेकरहितानां<sup>३</sup> स्वकर्मनिष्ठानां भगवद्वक्तानां दीक्षितानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि विभवाच्चने समन्त्रमधिकारो भवतीति प्रतिपाद्यते । एवं चात्र चतुर्विधा अधिकारिणो वर्णक्रमेणैव निर्दिष्टाः ।

एवमेव सप्तमे परिच्छेदे व्रतप्रकरणे वासुदेव-सङ्खर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धानां<sup>४</sup> चतुरः पदमन्त्रान् समुद्धृत्य वासुदेवादिक्रमेण विष्णोर्निष्ठामेणाग्रजन्मनाऽब्दान्तमर्चनं कार्यम् । एवं सङ्खर्षणाद्यं वासुदेवान्तमर्चनं क्षत्रजातिना, प्रद्युम्नाद्यं मुसल्यन्तं वैश्येन, अनिरुद्धाद्यं प्रद्युम्नान्तं सच्छृद्रेणाच्चनं कार्यमित्युक्तम् (७।२५-३१) । तथा—“वर्णा विप्रादयः” (७।३७) इत्यादिषु “तुप्यन्तं मौद्गल्यन्तैस्तु मोक्षैकफललम्पटैः” (७।४३) इत्यन्तेषु श्लोकेष्वपि पूर्वोक्त एव क्रमो

१. प्रकरणस्यास्य विवेचनं डा० श्रावणहोदयेन स्वकीयस्य ग्रन्थस्य परिशिष्टे (पृ० १५१-१५२) कृतम् । डा०आर०जी०भाण्डारकरमहोदयेन स्वीये “वैष्णविज्म०” इत्याख्ये प्रसिद्धे ग्रन्थे (पृ० ३९) प्रकरणस्यैतस्यार्थो न यथावद्विहित इति च स सूचयति तत्रैव (पृ० १५०) टिप्पण्याम् ।
२. लक्ष्मीतन्त्रे (११।४८-५०) त्रिविधा एवाधिकारिणो निर्दिष्टाः, व्यामिश्रयोगशब्दश्च तत्र प्रयुक्तः । वस्तुतस्तु व्यामिश्रयाग इत्येव प्रयोक्तव्यम् । भाष्यकारेण (पृ० १३) स एव पाठोऽङ्गीकृतश्च । नारायणपरायणा एकान्तिनः, अन्यदेवपरायणास्त्रवीर्घर्ममनुप्रपन्नाश्च व्यामिश्रयाजिन इत्युच्यन्ते । एते च भगवद्वीतायाम्—“अनन्याशिच्चन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहम्यहम् ॥” ये त्वन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥” (९।२२-२३) इत्येवं स्मर्यन्ते । तथा—“एवं त्रयीर्घर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते” (९।२१) इत्यपि तत्रैवोक्तम् । सात्वतायाम्—“साङ्क्षयेण विना त्वेवं कृतं भवति सिद्धिदम् । अन्यथाऽसिद्धिदं विद्धि नृणां व्यामिश्रयाजिनाम् ॥” (२५।२८८-२८९) इत्येवं व्यामिश्रयागोऽसिद्धिदः प्रोक्तः ।
३. “न ह्यत्र विवेकरहितैर्चनीयत्वोक्त्या विभवदेवानामपकर्षः शङ्कनीयः, अपि तु सौलभ्याति-शयेन उत्कर्षं एव सिद्धचति” (पृ० १३) इति हि भाष्यकार आह ।
४. अत्र ४१ पृष्ठस्था ३ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

निर्दिष्टः<sup>१</sup> । तुर्यान्तम् अनिरुद्धान्तम्, मौद्गलान्तैः शूद्रान्तैरिति भाष्यकारः (पृ० १२९) ।  
अत्रैवोच्यते—

दानेऽर्चने तु शूद्राणां व्रतकर्मणि सर्वदा ।  
असिद्धान्तं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया ॥  
स्वकर्मणा यथोत्कर्षमभ्येति न तथाऽर्चनात् ।  
तस्मात् स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा ॥  
सर्वत्राधिकृतो विप्रो वासुदेवादिपूजने ।  
यथा तथा न क्षत्राद्यस्तस्माच्छास्त्रोक्तमावरेत् ॥  
नयेन्नक्ताशानैर्भवत्या दिनान्येतानि मौद्गलः ।  
व्रताद्यान्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वै ॥ (७।५३-५७)

एवमेव यथाभिमतमासाद् ब्राह्मणैः, ज्येष्ठाद्यां क्षत्रियेण, आश्वयुजाद् वैश्येन, माधाद्यां च  
मौद्गलेन द्वादशवार्षिकव्रतारम्भः स्वस्ववर्णेन्कृतवासुदेवादिमूर्त्याराधनक्रमेण विधेय इति तत्रोच्यते  
(७।५७-६३) । एवं कृते सति—“यो योऽधिकारी भक्तो वा तस्य तुष्यत्यधोक्षजः” (७।८२)  
इति फलश्रुतिपूर्वकं प्रकरणमेतदुपर्याप्तं हित्यते ।

अत्रैव—“फलाप्तये तु विप्राद्यैः स्वकुलोद्धारणाय च । स्थापितं भगवद्विष्वं ज्ञेय-  
मायतर्णं<sup>२</sup> हि तत् ॥” (७।११५) इत्यायतनलक्षणप्रदर्शनावसरे प्रपुक्तेन विप्राद्यैरिति पदेन चतुर्णा-

१. एवमत्र वर्णक्रमेणार्चनक्रमो निर्दिष्टः । तथापि नात्र सम्प्रदायभेदः संजातः । शैवेषु तु—  
“ततश्चकार भगवांश्चातुर्वर्णं हरार्चने । शास्त्राणिं चैषां मुख्यानि नातोक्तिविदितानि च ॥  
आद्यां शैवां परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने । तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिकम् ॥”  
(६।८७) इत्येवं चत्वारो भेदो वामनपुराणे वर्णिताः । एतदर्थमस्मदीयः “कालवदनः काल-  
दमनो वा” इति शीर्षको निबन्धो द्रष्टव्यः (सारस्वती सुषमा, व० १९, अ० ४, पृ०  
३५५-३५६, संवत् २०२१) ।
२. “भोगेष्यूनां च वर्णानां साम्प्रतं यदभीष्टदम् । कैवल्यदं शामाच्चैव चातुराश्रम्यसेविनाम् ॥”  
(२५।२) इत्यादिकं वदन्तो सात्वतसंहिता श्रौतीं स्मार्तीं च वर्णाश्रिमव्यवस्थां सार्वात्म्येन  
पालयति । एतानि वचनान्यपि तमेव विषयं पोषयन्ति । तथा हि—दानेऽर्चने च शूद्रै-  
रसिद्धान्तमेव देयम्, ब्राह्मणानुमत्या वा सिद्धान्तमपि दातुं शक्यते । तत्राऽपि—“आर्याद्युषिताः  
शूद्राः पाकं कुर्यात्” (३।३।४) इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवचनं जागत्येव । शूद्रः स्वकर्मणा  
यथोत्कर्षमेति न तथार्चनादिति च वचनं शूद्रस्य बिम्बार्चनेऽधिकारं वारयति । अतश्चाचार्च-  
प्रकरणे तेषामधिकारो नैव प्रदर्शितः । अधिकारानुरूपमेवाराधनं विधेयं शास्त्रोन्नं चाचर-  
णीयमिति चोपदिष्टम् ।
३. अत्र दिव्यायतन-सिद्धायतन-आयतन-निलय-क्षेत्रलक्षणानि (७।१०५-११८), श्वेतद्वीपसम-  
देवताप्रतनलक्षणं (२५।३-८-३।१) च सात्वतायामेव द्रष्टव्यानि । “यस्माद् देवालयोद्देशात्  
सुष्मातजलजस्य च । भवेच्छब्दानुवेशश्च तावत् क्षेत्रं तदुच्यते ॥” (पृ० ५६१) इति विष्णु-  
सहस्रनामभाष्ये पाराशारीये प्रोक्तं लक्षणं सात्वतवचनमनुकरोति ।

मपि वर्णनां ग्रहणमभिप्रेशते न वेति न स्पष्टीभवति, तथापि प्रतिमापीठप्रासादलक्षणप्रदशके चतुर्विशो परिच्छेदे—“ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा भगवन्मयः । नित्याराधनकामस्तु यदि मन्त्रमयं वपुः ॥ कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं तत्र किलक्षणो विधिः ।” (२४।२-३) इति प्रश्नेन, तदुत्तरतया चित्रमृत्काठशिलालोहमयत्वेन पञ्चविधानामपि विम्बानां प्रत्येकं ब्राह्मणादिकमेण चातुर्विध्यम्, चित्रमयं पुनः भित्तिकाष्ठाम्बराश्रितत्वेन त्रिविधम्, अम्बराश्रितं च वर्णक्रमेणैव कार्पासकौशीयक्षीमशाणमेदेन चतुर्विधिमिति प्रतिपादनेन च शूद्रोऽप्यत्र प्रतिमापीठप्रासादनिर्मणेऽधिकृतो मन्त्रव्यः । प्रतिष्ठाविधिप्रदशके पञ्चविशो परिच्छेदे—“स्थलं विना न चैवार्थ्यः” (२५।३१२-३१६) इत्यादिषु श्लोकेषु तु द्विजातीनामेवाचार्हिविकारो वर्णितः । न तत्र दृश्यते कापि चर्चा शूद्रस्य । नृपस्य चात्र किमपि वैशिष्ट्यं ख्याप्यते—“वर्णश्रमगुस्तवाच्च स्वामित्वादखिलस्य च ॥ भूतादिवरूपत्वादुत्तमादेषु वस्तुषु । नृपस्वार्हति वै नित्यं सविशेषपदे स्थितः ॥” (२४।१६-१७) इति । एवं चास्मिन् विषये संहितेयं श्रुतिस्मृतिवाङ्मयं भगवद्गीतां च सार्वात्म्येनानुसरतीति मन्त्रव्यम् ॥ भगवद्गीतावत् <sup>१</sup>स्त्रीशूद्रादयोऽप्यत्राविकृता इति ज्ञेयम् ।

दीक्षितोऽधिकारी पुरुषः सात्वतोक्तेषु कर्मसु यथायथं प्रवर्तते । प्रवृत्तिशास्त्रमिदमिति हि प्रतिपादितपूर्वम् । कर्मणामेव चात्र भोगमोक्षोभयप्रतिपादकत्वम्, “निःश्रेयसकरं कर्म...” तत्त्वतः प्रतिपन्नानामचिरादेव सिद्धिदम्” (७।१-२) इत्यत्र स्पष्टं तथा प्रतिपादनात् । ब्रह्मोपनिषदाल्यमेकायनशास्त्रं हि मोक्षैकफललक्षणम् । तस्मान्मूलवेदाद् जगदुद्धाराय परिसृते दिव्यादिभेदमिन्ने पाञ्चरात्रागमे प्रथमसिदं सात्वतं तन्नां सिद्धिमोक्षप्रदं भोगापवर्गदम्, “यज्ञात्वा न पुनर्जन्म पुनरेवान्नुयान्नरः” (२।३-७) इत्यादिना हि शास्त्रस्यास्य प्रयोजनं निर्दिश्यते । न केवलं मन्त्राराधनव्रतादिकर्मणाम्, अपि तु विम्बनिर्मणिक्षिप्ताचंनादिकर्मणामपि भुक्तिमुक्तिप्रदत्वमत्र (२४।९) निर्दिष्टम् । मन्त्रविम्बनिवेशनं हि भोगेष्वनां वर्णनां भोगदम्, चातुराश्रम्यसेविनां<sup>२</sup>

- 
१. अत्र (१९।५३-५६) असद्वापान्वयोत्थस्य लोकधर्मोऽज्ञितस्य आप्तवद् ब्रह्मनिष्ठस्य कर्मतन्त्र-रतस्य शूद्रजातेगोदानं विहितम्, तदाहृतं पुष्पमाल्यादिकं च कर्महीर्मभिमतम् । किन्तु तस्य वषट्काराद्यनर्हत्वान्मन्त्रशरीरे तद्प्रतिनिधित्वेन नमस्कारो योज्य इत्युच्यते । भाष्यकारेण च पादं संहितावचनानि समुद्धरता—“शूद्रादीनां प्रणवनमस्कारावपि निषिद्धौ । अन्यत्र—‘न स्वरः प्रणवोऽज्ञानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः । स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ॥’ इति प्रणवपात्रं निषिद्धम्” (पू० ३८८) इत्युच्यते । ‘नारी ह्यनन्यशरणा यद्येवं हि समाचरेत् । निःस्वामिका वा’ (१।४०-१४१) इति व्रतप्रकरणीये वचने निःस्वामिकापदं व्याचक्षाणो भाष्यकारस्तदर्थं पूर्वसुमङ्गलापदं प्रयुक्तजन् नार्याः कष्टदायकं कर्णकटुकं च विवरापदं सावहितं परिहरति । यदा हि कालिदाससदृशो महाकविहर्तरे मेघे (३६ तमे श्लोके) ‘भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे’ इत्येवं यक्षप्रियतपायाः सधवायाः कृतेऽपि विधवापदघटितं पदं प्रयुक्तवात् ।
  २. एतेनेदं स्पष्टीभवति यन्न केवलं संन्यासिनः, अपि तु ब्रह्मचारिणो गृहस्था वानप्रस्था वा शमवतिनः सन्तो मोक्षमार्गाधिकारिणो भवन्तीति ।

शमिनां च मोक्षदं भवति (२५१२)। संस्पर्शपूर्वकैर्मोगैर्भगवदर्चने कृते च साधकोऽचिरान्मोक्ष-  
निष्ठं फलं प्राप्नोति (१३।६२)। तदत्र साम्प्रतं भोगमोक्षौ चच्येते ।

### भोगमोक्षौ

कैवल्यफलदा, भोगकैवल्यदा, भोगदा—इति विविधा दीक्षाऽत्रैकोनर्विशं परिच्छेदे (श्लो० ४) प्रतिपादिता । तत्र वैभवी दीक्षा सिद्धिमोक्षलक्ष्मीसमन्विता (१९।१६८), नित्य-  
दीक्षाद्वयस्य व्यूह-न्त्रय(पर)दीक्षाख्यस्य तु मोक्षादृते नान्यत फलम् । अत्रापि चातुरात्मीया  
व्यूहाख्या दीक्षा भावितात्मनां प्राक् षाङ्गुण्यभोगाप्ति ददाति, ब्रह्म(पर)दीक्षया च  
साधकः प्रकृत्या सह विलयमन्येति (१९।१७८-१८०) । परवासुदेव एवात्र प्रकृतित्वेनाभि-  
प्रतेव्यः । प्रथमे परिच्छेदे च व्यूहसंज्ञं सद्व्यह्य निःश्रेयसफलप्रदम्, वैभवं च भुक्तिमुक्तिदं  
वर्णितम् (श्लो० २७) । नवमे परिच्छेदेऽपि परमन्त्रस्य मोक्षप्रदत्वम्, व्यूहमन्त्राणां  
च मिश्रममिथं च, अर्थाद् भोगमोक्षात्मकं केवलमोक्षात्मकं च फलं प्रतिपादितम्  
(श्लो० ४३-४६) । एवं च परदीक्षा कैवल्यफलदा, व्यूहविभवदीक्षे चोभे अपि भोगकैवल्यदे  
इति मन्त्रव्यम् । एतयोर्वृहदीक्षा भोगानन्तरं मोक्षमपि ददाति, विभवदीक्षा च भोग  
मोक्षं वा यथेच्छं प्रयच्छतीति विवेको विवेषः । तत्र भोगस्य प्राधान्ये मोक्षस्य गौणत्वम्,  
मोक्षस्य च प्राधान्ये भोगस्य गौणत्वमवसेयम् (भा०, पृ० २०) । अनया दृष्टच्च वैभवी दीक्षा  
भोगदा, व्यूहीया भोगकैवल्यदा, परा च दीक्षा मोक्षदेति ववतुं शब्दयते । वैभवी दीक्षा भोगदैवेति  
तु नैव वक्तव्यम्, “भोगापवर्गदं रूपं शान्तव्यक्तं च वैभवम्” (१।१०२), “यस्य यस्य यदा  
यस्मिन्नाकारे रमते मनः । भोगाप्तये च मोक्षार्थं तं तं मध्येऽचर्येत् सदा ॥” (१।१२१-  
१२२), “तवास्तु वैभवी सिद्धिमोक्षलक्ष्मीसमन्विता” (१९।१६९) इत्येवं वैभवे परिच्छेदे  
तस्य भोगमोक्षोभयप्रापकत्वस्य स्पष्टं प्रतिपादनात् । एवं च—“निःश्रेयसविभूत्यर्थं ग्राहां दीक्षा-  
त्रयम्” (१।४०) इत्यत्र निःश्रेयसार्थं ‘विभूत्यर्थं चेत्यर्थं ज्ञातव्यः ।

भोगोऽत्र भुक्तिसिद्धि-भूति-विभूति-कामप्रभूतिपदैरुक्तः । पातालोत्तिष्ठ (१७।४४७)-  
प्रभूतिक्षुद्रसिद्धित आरम्भ भूलोकभूवर्लोक-स्वर्लोकानामखिला: सिद्धयः (१।१२४, १२९-  
१३०), शाश्वती सिद्धिः (१४।३४), अणिमाद्वाष्टसिद्धयः (१६।३४, ३८), आत्मसिद्धिसमेता  
विविधा यागसिद्धयः (१६।३४), षाङ्गुण्यमहिमावाप्तिः (१६।३९), वैभवीयाः सिद्धयः (१६।  
३९), नृसिंहमन्त्रेण धर्मर्थकाममोक्षसाधनम् (पृ० ३४१), अणिमादीनां भोगानां प्राप्तिः  
(१०।१४५), षाङ्गुण्यभोगाप्तिः (१९।१७९)—इत्यादयो विविधाः सिद्धयोऽत्र विवृताः ।  
एवं च भूलोकस्थादखिलाद् भोगदारम्भ षाङ्गुण्यमहिमान्ता अखिला विभूतयोऽत्र भोगपदेनो-  
च्यन्ते (१।३१) ।

भोगयागोपयोगिनः सात्त्वतोक्तास्त्रिविधा भोगा लक्ष्मीतन्त्रे चतुर्धा विभज्य वर्णिता  
अत्र यागप्रकरणे व्याख्याता द्रष्टव्याः । ऐहलौकिकाः पारलौकिकाऽत्र सर्वे विषया भोगपदेनानेन  
परामृश्यन्ते । भगवत्समाराधनेन च समेषामेषामधिगतिः करतलामलकवत् सन्निहिता भवति ।

१. “यतोऽन्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः” (१।१२) इति वैशेषिके सूत्रेऽस्यैव विवरणं विद्यते ।

मन्त्रमूर्त्यदीनां समाराधनायां कृतायामपि, व्रतादिषु च समाचरितेष्वपि कदाचिदभिलषिता भोगा नावाप्यन्ते, विज्ञा वा तत्र समुपजायन्ते । तस्यामवस्थायामवसादो न कर्तव्य इत्युपदिशति सहितेयम्—

नावसादस्तु कर्तव्यो व्रतभज्ञात् कदाचन ।

संकल्पादेव भगवांस्तत्त्वतो भावितात्मनाम् ॥

व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु ॥ (७।१२२-१२३)

व्रतप्रकरणे प्रोक्तमिदं वचनं मन्त्रबिम्बादाराधनेष्वप्यतिदेष्टव्यम् । एनमेव विषयं भगवद्गीताप्याह—

नेहेभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य घर्मस्य त्रायते महूरो भयात् ॥ (२।४०) इति,

नहि कल्याणकृत किञ्चिद् द्वार्गति तात गच्छति । (६।४०) इति च ।

भोगाद्विरक्तः साधको यदाऽणिमादिभोगान् तृणानीव मन्यते, तदा मन्त्रास्तं स्वशक्त्यैव शब्दब्रह्माभिष्ठेऽव्यन्ति प्रेरयन्ति (१।१४७-१४९) । परमेश्वरो हि अखिलजीवानां मुक्तये स्वशक्त्या स्वयमेव शब्दब्रह्मावेनोदेति (१।११२८), यत् समाराधयन् साधकः सुशान्तं भगवत्पदं प्राप्नोति (१।१५०) । एतच्च भगवत्पदमत्र “फलं सालोक्यतापूर्वम्” (७।११९), “स्थानं सायुज्यतापूर्वम्” (२।३५०) इत्येवं सालोक्य-सायुज्यपदाभ्यां निर्दिष्टम् । अत्र भाष्यकारः—“सालोक्यतापूर्वमित्यत्र पूर्वपदेन सामीप्यसालोक्यसायुज्यानि गृह्णन्ते” (४० १३९) इत्याह, सच्चरित्ररक्षायामुदृतं श्लोकमेन च उदाजहार—

लोकेषु विष्णोनिवसन्ति केचित् समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।

अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥ इति ।

मोक्षस्यैते चत्वारोऽपि प्रकाराः श्रुतिषु स्मृतिषु पुराणोषु च तत्र तत्र निर्दिष्टाः । “नारायणपदप्राप्तेः” (१।१७) इति पदेन चात्रत्येन चत्वारोऽपीये पक्षाः साधयितुं शक्यन्ते । उपर्युद्धृते श्लोके स्थितस्य “स तु मोक्ष उक्तः” इति पदकदम्बकस्य च प्रत्येकं सम्बन्धे सम्भवत्यपि सायुज्यस्य निकटमस्प्रानेन परामर्शं उचिततमः प्रतिभाति । एवं च सायुज्यावाप्तिरेव मोक्ष इति वक्तव्यम् । “यदा संवेदानिर्मुक्ते समाधीं लम्पते स्थितिम् । अप्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्मा सम्पद्यते तदा ॥” (६।२।४), “जायते तत्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्” (१।१४०), “प्रकृत्यौ सह चाभ्येति विलयं ब्रह्मदीक्षया” (१।१८०) इत्यादिभिर्वर्चनैरयमेव पक्षः सात्वतायां प्रतिपादितः । एष एव च—“निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” (मुण्ड० ३।१३) इत्यादिभिः श्रुतिभिरप्यपादाते । “बीजात्मा चिन्मयः पुमान्” (१।१३५) इत्यत्र च स्पष्टमेव तस्य चित्तवर्णपत्वमुच्यते ।

१. “वासुदेवः परा प्रकृतिः” (२।२।४२) इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये । “इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबहो ययेदं धार्यते जात् ॥” (७।५) इति श्रीमद्भगवद्गीतायाम् । “अभेदेनदिष्मूर्तेवं संस्थितं वटबोजवत्” (५।८।१) इति सात्वतोन्नदृष्टान्तेनापि परवासुदेव एव सर्वेषां प्रकृतिरिति ज्ञायते । ४६ पृष्ठस्था २ दिप्णी द्रष्टव्या ।

## उपसंहारः

भगवान् परवासुदेव एव स्वेच्छया स्वचैतन्यं नामरूपादिविकल्पशब्दलितं कृत्वा तद्रूपेण विवर्तते<sup>१</sup> (१७।३८)। सम्भूतिसृष्टि-स्थिति-संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं पञ्चारमिदं चक्रं विशाखयूपो भगवान् स्वधिया प्रेरयति (१५।७) इत्यन्नादैतदृष्टिः, ‘तस्य शक्तिद्वयं तादृगमित्रं भिन्नलक्षणम्’ (१३।४९) इत्यत्र च द्वैतदृष्टिरहगीक्रियते । अचला सात्वती भवितरत्र जन्म-वीजक्षयद्वृत्ती समभित्रेता (१५।६)। चिरप्रपन्नानां भक्तानां कृते नारायणपदप्राप्तेऽच्छ्रेयः-साधनीभूतं कर्म, तदुपदेशकतया चास्याः सहितायाः प्रदृष्टिः प्रदर्शयते (१।१६-१७)। एवं चानुषङ्गिकतयैवात्र दार्शनिकानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि । प्रधानतया तु सात्वतः शुद्ध क्रिया-मार्गं एवोपदिष्टः । शुद्धेन सात्वतेन कर्मणा समाराधितो भगवान् चिरप्रपन्नोऽयो भक्तेभ्यः प्रसीदति, स यथायथं भोगेष्युभ्यो भोगान् स्वामीष्टान्, तद्विरक्तेभ्यश्च ब्रह्मसम्पत्तिलक्षणं मोक्षं प्रददाति ।

एवमत्र कर्मणामेव भोगमोक्षोभयप्रतिपादकत्वं साधु व्याख्यातम् । एवं कुर्वत्यपि सात्वत-संहितेयं वर्णश्चिमाचारं न मनागपि विरुणद्धि । स्त्रीशूद्धादयोऽपि दीक्षाधिकारिणोऽभिमता इत्यवास्या: श्रौतवाङ्मयापेक्षया किञ्चिच्च वैशिष्टचम् । एवं सत्यप्यत्र प्रतिपादितेषु कर्मसु न मानव-मात्रस्य समानोऽधिकारोऽभित्रेत इति पूर्वोक्तंरुद्धरणैः स्पष्टीभवति । “यथोक्ते कालपादायां दीक्षयेत् व्यपच्चनिति” (मालिनीविजयवार्त्तिके, पृ० २०), “एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।” “प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥” (स्वच्छन्ददत्तन्त्रे, ४।५।४३-५।४४), “वृणा शङ्खा भयं लज्जा जुगुप्ता चेति पञ्चमी । कुलं जातिश्च<sup>२</sup> शीलं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥” (कुलार्णवे, १३।१०) इत्युदीरयन्तः शैवाः शाक्ताश्चागमा मानवभात्रं दीक्षाधिकारिणं मन्वते । तेऽपि स्वस्वशास्त्रस्य भोगमोक्षोभयप्रतिपादकत्वमङ्गीकुर्वते । किन्तु अलिपिशितपुरुन्धीभोग-पर्याकुला: काशमीरा गौडाश्च शैवाः शाक्ताश्च तात्त्विकाः समग्रैव बौद्धेस्तात्त्विकैः “यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स वर्मः” (१।१।२) इति वैशेषिकं धर्मलक्षणं व्याकुलयन्तस्तानि शास्त्राणि तृतीयपुण्यार्थसाधकतया व्याख्यातवन्तः । तदनुयायिनोऽचापि ‘संभोग से समाधि’ सदृशान्

१. विवर्तपदमत्र नादैतदेवान्तसंमतेऽर्थं प्रयुज्यते, अपि तु “विवर्ततेर्थभावेन” (१।१) इति वाक्यपदीयपदे भर्तृहरिणोऽभिप्रेतमर्थमभिव्यनक्तीति विभावनीयम् । तेन विवर्तत इत्यस्य परिणामत इत्येवार्थे मन्तव्यः ।
२. शिवदृष्टौ (३।१।६।३) कालपादनाम्ना स्मृत एव ग्रन्थस्तदृतिकारेण भट्टोत्पलेन कालोत्तर-नाम्नोद्धृत इत्येकस्यैव ग्रन्थस्येमे नामनी मन्तव्ये । शिवदृष्टिकारेण सोमानन्देनोद्धृतत्वादेष ग्रन्थस्ततः प्राचीन इति निश्चप्रचम् । स्पन्दग्रदीपिकायामुद्भूता (पृ० १०।९-१।१०) कालपरा कालपादातो भिन्नाऽभिन्ना वेति कालोत्तर-कालज्ञानादिनाम्नोपलब्धानां मातृकाणां परीक्षात् एव ज्ञातुं शक्येत ।
३. श्लोक एष योगिनीहृदयदीपिकायां (पृ० ८।१) महार्थमञ्जरीपरिमले (पृ० १।४५) च दृश्यते । अत्रैव महेश्वरानन्देन वर्णश्रीमव्यवस्था समालोचिता । तत्त्वालोके तदिवेके च तस्य विस्तरोऽवलोकनीयः (भा० ३, पृ० २४।-२८।) ।

ग्रन्थान् लिखन्ति । एवं च मानवमात्रस्य कल्याणाय प्रवृत्तमिदं शास्त्रं स्वात्मानमेव पातयामास, स्त्रीयं प्रामाण्यं च हापयामास । फलतः पुनरपि प्रबलाधिता वर्णश्रिमव्यवस्था संकीर्णा ।

सेयं वर्तते सांस्कृतिकी समस्या भारतीया । अस्या समाधानाय “तर्को योगाङ्गमुत्तमम्” (मा० वि० १७।१८; तन्त्रालोके, ४।१५) इत्युक्तया दिशा सम्पूर्णस्य भारतीयस्य वाङ्मयस्य संस्कृतभाषायामन्यासु प्राचीनास्वर्वाचीनासु च भाषासु निबद्धस्य परिशीलनमावश्यकम् । समिप-पुत्रकादिलक्षणपरिच्छेदेऽत्र केचन सार्वभौमा नियमा विणितास्तत्रैवास्माभिव्यर्ख्याताश्च ते । एवमेव ब्रतप्रकरणे स्थिता उक्तिरियं विशेषतोऽवधेयतामर्हति—“अवज्ञा परमा यत्र बुद्धिमांस्तत्र संवसेत् ॥ दाता ददाति यत्किञ्चित् पूजापूर्वं हि भविततः । कृत्स्नं तदीयमशुभं तिष्ठत्यर्थिजनाश्रितम् । परिभूते तु वै लाभे सन्तोषो यस्य जायते । प्रतिग्रहोत्थितो दोषस्तस्य दूरतरं ब्रजेत् ॥” (७।१००-१०२) इति । “संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्भिजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदेवमानस्य सर्वदा ॥” (२।१६२) इति मनुरप्याह । पाशुपतं सूत्रमणि चेमं विषयं तृतीयाध्यये सविशेषं निर्वक्ति, तत्रोपायांश्च प्रदर्शयति—“प्रेतवच्चरेत्, क्रायेत वा, स्पन्देत वा” “शृङ्गारेत वा” (३।११-१५) इत्यादिना । किमर्थमेवं कर्तव्यमिति प्रयोजनं चास्य सात्वतायामुपर्युक्तया पद्धत्या विवेचितम् ।

एवं च ‘उक्तनिर्वाहकः’ (२२।१२) इत्यादिकान् गुणगणान् विभ्रन्, स्त्रीयां यथाशीर्णी स्थितिमण्डपयन् (२२।६२), संमानादुद्भिजनवज्ञां वर्यश्च (७।१००-१०२) साधको यदा विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमानोऽपि नावसादमञ्चति (७।१२२-१२३), निजानन्दमयैर्भोगैर्नित्य-तृप्तमणि च भगवन्तमेकान्तभावेन प्रपन्नः सन्नात्मतुष्टये समाराधयति (१४।१७), तदा अवश्य-मेव स समस्ताया मानवजातेः कल्याणाय प्रवर्तेत । सात्वतीयं दर्शनमेनमङ्गीकृत्य योगाङ्गेषू-त्तमं तर्कं चाश्रयन्ती पक्षपातविहीनया आवापोद्वापक्षमया प्रतिभया भारतीयानां सर्वेषां शास्त्राणां धर्माणां च प्राचीनानामधुनातनानां च सार्वभौमान् नियमानाधारीकृत्य निर्मिता नूतना दृष्टिरेव सांस्कृतिकसमस्यानां साम्प्रतं समुपस्थितानां समाधानाय कल्पिष्यत इति निश्चप्रचमन्तु-भवन्तु भारतीया मनीषिणः ।

एवमत्रान्तिमं परिच्छेदद्वयं विहाय प्रायः सम्पूर्णाया अस्या संहितायाः प्रमुखा विषयाः समालोचिताः । अन्तिमे हि परिच्छेदद्वये “प्रतिमापीठप्रासादप्रतिष्ठाविषयः सविशेषं वर्णित इति तत्र कृतभूरिपरिश्रमा दक्षिणात्या विद्वांस एव साधिकारं ब्रूयः । न वयं पाञ्चरात्र-

१. अस्य विवरणमस्मकृते विज्ञानमैरवोपोद्घाते (पू० ३७-३८) ब्रष्टव्यम् ।
२. प्रतिमा(विघ्न)विषये प्रोक्तमिदं वचनं तु सर्वबोधसाधारणम्—“सुनिश्चितं हितं चैतन्मान-मव्यभिचारि यत् । मनोहारित्वमेकत्र रूपलावण्यभूषितम् ॥ सर्वदा चानश्चोर्विद्वि अन्योन्यत्वेन संस्थितिम् । सुसौन्दर्यं तु मानस्य क्वचिदाक्रम्य वर्तते ॥ लावण्यस्य क्वचिन्मानं समाच्छाद्या-वतिष्ठते । यथाऽतिरूपवान् लोके दरिद्रोऽप्येति मान्यताम् ॥ विरूपोऽप्यतिवित्ताद्यो नाहूपो नैव निर्धनः । एवं द्वयोऽजितं विम्बमनादेयत्वमेति च ॥” (२।१६१-१६७) इति । मानादेः किञ्चिद्वैषम्येऽपि सौन्दर्यातिशयविशिष्टं चेद् विम्बमृपदेयम्, सौन्दर्यभावेऽपि

शास्त्रप्रवीणा इति तत्त्वज्ञा मनीषिणः क्षाम्यन्तु । अस्माकं चापलमेतत् ते विस्मरिष्यन्ति, अनिर्दिष्टस्थलानामुद्धरणानां वाक्यानां च स्थलनिर्देशमन्यासां त्रुटीनां परिमार्जनं च ते यथा-वसरं सूचयिष्यन्तीति<sup>१</sup> च प्रार्थ्यन्ते ।

## कृतज्ञताज्ञापनम्

एवमितो द्वादशवर्षेभ्यः प्राक् कृतारम्भस्य अस्य ग्रन्थस्य सम्पादनकर्मण इति कर्तव्य-ताऽद्य परिसमाप्यते । अस्मिन् शुभे कर्मणि कृतसहायानां सहृदयानां सुहृदामादरणीयानां विदुषां परमश्रद्धास्पदानां गुरुणां च स्मरणमवसरप्राप्तमत्र चर्चयते । सर्वप्रथमं वयं तात् पूर्वाचार्यान्, आधुनिकाङ्क्षा ग्रन्थप्रणेतृन् स्मरामः, यैः क्षुण्णेन हि पथाऽस्माभिरेषा विद्यायात्रा परिसमापिता । यत्र कवचन मतान्येतेषां समालोचयतामप्यस्माकं चेतसि तात् प्रति समादरो नाणुमात्रमपि क्षण-मणि तिशेषब्मूव । तदनु येषां कृपाभरेणगमिकदर्शनानुशीलनरुचिरस्मासु समुद्भूता, तेषां वन्द-नीयचरणानां साम्प्रतं ब्रह्मीभूतानां गुरुवर्याणां श्रीमतां गोपीनाथकिराजमहोदयानां चरणोरयं शब्दसुमनोऽञ्जलिः समर्प्यते । तैः प्रदर्शितया हि पद्मत्वाऽस्याः संहिताया भाष्यस्य च समा-लोचनात्मकं संस्करणम्, तत्र बहिरङ्गान्तरङ्गपरीक्षणात्मकश्चैव उपोद्घातो विलिखितो यथा-मति तन्त्रान्तरागमान्तरसंवादपुरस्सरम् । ग्रन्थस्यास्य सम्पादने विनियुक्तानां ग्रन्थसंस्करणे टिप्पणीषु च प्रयुक्तानां मातृकाणां विभिन्नाभ्यः संस्थाभ्यो मूलमातृकाप्रतिलिप्याद्यविगमे संग्रहे च कृतसहायानां संस्कृतविश्वविद्यालयोपकुलपतिचराणां पण्डितश्रीमुरतनारायणमणित्रिपाठि-महोदयानामनुसन्धानसंचालकचराणां दिवंगतानां श्रीमतां क्षेत्रेशाचन्द्रचटोपाध्यायानां चापि भूशमुपकारं स्मरामः । तासां तासां संस्थानामधिकारिणो वयं साधुवादैः सभाजयामः, याम्यो मूलमातृकास्तत्प्रतिलिपयो वाऽधिगता अस्माभिः । मातृकापरिच्यप्रसङ्गे च तासां संस्थानां नामानि सूचितान्येव ।

अपि च, बक०बख० संज्ञके उभे अपि मातृके तालपत्रीये ग्रन्थाक्षरलिखिते आस्ताम् । तयोः पाठसंकलने श्रीमद्भूतां लिपिविज्ञानकोविदाभ्यां गणपतिशास्त्रिहेब्बार—जनादर्नशास्त्रि-पाण्डेयाभ्याम्, तिरुपतिभाष्यमातृकात्स्वच्छत्वे पाठसंकलने तत्रत्येन श्रीमता श्रीनिवासवरदन्महोदयेन वेङ्गुटेश्वरशोधसंस्थानसंचालकैः श्रीमद्भिः डा०यस०शङ्करनारायणन्‌महोदयैर्नियोजितेन साहाय्यमाचरितम् । उद्धरणस्थलनिर्देश-ग्रन्थग्रन्थकारादिपरिच्य-मन्त्रस्वरूप-पारिभाषिक-शब्दादिविषये समुत्पन्नानां संशयानां निराकरणे तिरुपतिस्थैः डा० यस० वी० रघुनाथाचार्य-महोदयैर्वेङ्गुटेश्वरविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे प्राध्यापकैः, श्रीके०वी०स्वामीनाथन्-के०इ०गोविन्दन्‌महोदयाभ्यां तिरुपतिस्थसंस्कृतविद्यापीठानुसन्धानविभागसदस्याभ्याम्, काशिक-

---

मानयुक्तं चेत् तदपिग्राह्यम् । ताम्यां द्वाम्यामप्युज्जितं चेत् तत् त्याज्यम् । एवं विम्बस्य प्रमाणवत्त्वे सौन्दर्यवत्त्वे च—“अर्चकस्य तपोयोगादर्चनस्यातिशयानात् । आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सन्निधिमृच्छति ॥” इत्युक्तरीत्या निरतिशयाह्नादजननी भगवत्सानिध्य-शक्तिर्बिम्बे स्वत एवाविभूता सफलाऽविष्टते । अतस्तदर्थं सुतरां यतः कार्यं इति प्रकरण-स्यास्य फलितार्थः ।

रामानुजसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण श्रीमता नवरङ्गचतुर्वेदिना, सम्पूर्णनन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये प्राचीनराजशास्त्रार्थशास्त्रविभागवरिष्ठसदस्येन कौटिल्यार्थशास्त्रगोतमीयान्वीक्षिक्योः कृतभूरिपरिश्रमेण श्रीमता विश्वनाथशास्त्रिदातारमहोदयेन, अत्रैव धर्मशास्त्रप्राध्यापकेन श्रीमता सूर्यनारायणोपाध्यायेन, श्रीमतां यतिवंशावतंसानां करपात्रस्वामिपादानामनवरततान्विष्यपूतविद्येन श्रीमता पण्डितमार्कण्डेयब्रह्माचारिणा च भूरि भूरि सहव्योगो वत्त इति सर्वे एते सप्रश्रयं कृतज्ञताज्ञापनपुरस्सरं सभाज्यन्ते । अत्रैव तिरुपतिनगरे निवासस्य सर्वविधं सौविध्यं प्रदद्धूच्यः पञ्चरात्रशास्त्रनिष्णातविद्वद्दिः सह परिचयादिकं सम्पादितवद्दूच्य श्च तिरुपतिसंस्कृतविद्यापीठाध्यक्षेभ्यो डा० एम० डी० बालसुब्रह्मण्यशास्त्रभ्यः कृतज्ञताज्ञापनमवसरप्राप्तम् । अस्मत्सुहृत्प्रवरः शिवसायुज्यमापनः श्रीमानागमाचार्यो रघुनाथमिश्रमहोदयोऽन्न न स्मर्येत चेदपूर्णमेवैतत् कृतज्ञताज्ञापनं स्यात् । एष हि महानुभावः सर्वदैवास्माकं सम्पादनकर्मणि सर्वविधं साहाय्यमाचरति स्म, उद्घरणानां स्थलनिर्देशे, उपोद्घातभाषायां च भावव्यञ्जनासमर्थानां विशिष्टानां पदानां समुपस्थापने स्वीयं महकौशलं प्रदर्शयति स्म । साम्प्रतमेष पाञ्चभाँतिकेन देहेनास्मत्साहाय्यार्थं नोपस्थास्यतीति निवेदयतामस्माकं चेतिव्यते चेतः ।

मूलग्रन्थस्य भाष्यस्य च सम्पादनकार्यं प्रायः १९७२ ई० वर्षान्त एव परिनिष्पन्नमासीत् । दैवदुर्विपाकात् षड् वर्षाणि यावदस्य मुद्रणप्रकाशनादिकमवरुद्धमिवाभूत् । तमिमम्वरोधं दूरीकृतवतः सम्पूर्णनन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलपतीन् पदवाक्यप्रभाणपारावारीणाम् श्रीमतः पण्डितबद्रीनाथशुक्लमहोदयान् साधुवादशातैः सविनयं सभाज्यामः । स्वकीये प्रथमे कार्यकाले योगतन्त्रविभागे मां विनियुक्तवन्तो दार्शनिकाग्रेसराः शब्दब्रह्मव्याख्यातारो डा० गौरीनाथशास्त्रमहोदयाः साम्प्रतं पुनरपि कुलपतिधूरां गुर्वीं वहन्तीति तदीयकरकमलयोरेवायं ग्रन्थः समर्पते, “तदीयं वस्तु गौरीन्द्र तुभ्यमेव समर्पये” इति न्यायमनुसरता मया । ग्रन्थानां मुद्रितानां पाण्डुलिपीनां चावलोकने सर्वविधसौविध्यप्रदानाय सरस्वतीभवनस्थाध्यक्षः श्रीलक्ष्मीनारायणतिवारी, उपाध्यक्षो च श्रीबलिरामशास्त्रिभारद्वाज-अच्युतनाथज्ञामहोदयौ सस्नेहं स्मर्यन्ते । गोपनकाविश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षः श्रीदेवमणियाङ्गिकः, सरस्वतीभवनस्थः श्रीज्ञाराजपंडितहस्तव सविशेषं स्मरणपदवीमानीयेते मुद्रितग्रन्थसाहाय्यार्थम् । अन्ते विविधानुक्रमणीसंयोजने कृतसहायां कनिष्ठपुत्रीं कु० वीणानाम्नौ ( बी० एस-सी० ) शुभाशीर्वादशातैः संयोज्य, ईक्षय(प्रूफ)संयोधने कृतसहायं श्रीहस्तिवशत्रिपाठिनं च शुभोदर्कः सभाज्यित्वा विरम्यत्यस्माद् वाग्व्यापारात् ।

श्रावणी पूर्णिमा, सं० २०३८  
( १५ अगस्त, १९८१ ई० )  
वाराणसी ।

चिदुषां वशंवदः  
द्वजवल्लभभृत्वेदः  
सम्पूर्णनन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये  
सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाचार्यः ।

## भूमिका

सात्वत, पौष्टक और जयाख्यसंहिताएं पाञ्चरात्र आगम में रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से जयाख्यसंहिता का एक अच्छा संस्करण गायकवाड़ शोध संस्थान, बड़ोदा से प्रकाशित हो चुका है। सात्वतसंहिता का यह परिष्कृत संस्करण अलॉशिंगभट्ट विरचित भाष्य के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इस संहिता का सन् १९०३ में सुदर्शन प्रेस कांजीवरम् से प्रकाशन हुआ था। इसके संपादक श्री अनन्ताचार्य का विचार है कि महाभारत भीष्मपर्व ( ६६३९-४० ) में इसी संहिता का उल्लेख हुआ है।

### सात्वतसंहिता

डॉ० ओटो शादर इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत से <sup>३</sup>अहिर्वृद्ध्यसंहिता अथवा संकर्षणसंहिता का उक्त प्रसंग से संबन्ध जोड़ा जा सकता है, किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। संकर्षण की प्रार्थना पर भगवान् चक्रपाणि ने सात्वतसंहिता का साक्षात् उपदेश किया है। इसके विपरीत अहिर्वृद्ध्यसंहिता का उपदेश संकर्षण अहिर्वृद्ध्य को करते हैं। अहिर्वृद्ध्यसंहिता ( ५५९ ) में सात्वतसंहिता का उल्लेख होने से भी वह सात्वत से अर्वाचीन मानी जायगी। <sup>३</sup>डॉ० शादर का यह कथन भी ठीक नहीं है कि सात्वतसंहिता ( ११३३ ) में पौष्टक, वाराह और प्राजापत्य ( ब्राह्म ) नाम की तीन संहिताओं का उल्लेख हुआ है, क्योंकि उक्त स्थल पर तीन संहिताओं का उल्लेख न होकर त्रिविधि सर्ग ( सृष्टि ) की चर्चा हुई है। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध उक्त तीनों संहिताओं को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। साष्ट है कि 'सात्वता' शब्द सात्वतसंहिता का वाचक है, न कि डॉ० शादर के अनुसार सात्वतमत के अन्यायियों का।

१. उपर्युक्त संस्करण की भूमिका ( पृ० १ ) द्रष्टव्य।
२. डॉ० शादर के इन विचारों के लिये देखिये उनका ग्रन्थ—इण्ट्रोडक्शन टू दि पांच-रात्र एण्ड दि अहिर्वृद्ध्यसंहिता पृ० १५-२०
३. डॉ० शादर के इस कथन का अनुवाद डॉ० डेनियल स्मिथ ने भी अपने ग्रन्थ में ( ए डिस्क्रिप्टिव विक्लिओग्राफी आफ दि पांचरात्रागम, भा० १, पृ० ५३५ ) किया है।
४. सात्वता पृ० १८ पर, पौष्टक पृ० १५ और जयाख्या पृ० ८९, ९१, ११०, १२७ पर उद्धृत है। देखिये, संस्कृत विश्वविद्यालय संस्करण।

रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध संहिताओं का सर्वत्र सात्वत, पौष्कर और जयाख्यसंहिता के क्रम से उल्लेख मिलता है। इससे भी सात्वतसंहिता ही सबसे प्राचीन सिद्ध होती है। फिर सात्वतसंहिता में विभव देवताओं के केवल नाम और ध्यान ही वर्णित हैं और पौष्करसंहिता ( ३६ अध्याय ) में विस्तार से इनके अवतार स्थलों का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार पौष्करसंहिता सात्वतसंहिता की इस कमी को पूरा करती है। ‘सर्वतः पाणिपादम्’ ( १२५ ) सात्वतसंहिता का यह वचन जयाख्यसंहिता ( ४१६३ ) में भी थोड़ा पाठमेद के साथ मिलता है। वहाँ ( ४७६४८ ) उक्त श्लोक की विस्तार से व्याख्या भी मिलती है। इसी तरह से ‘अकाराद्यो विसर्गान्तः’ ( २१७ ) प्रभृति सात्वत वचन की जयाख्यसंहिता ( ६१३-१७ ) में स्पष्ट व्याख्या की गयी है। इस प्रकार सात्वतसंहिता के संक्षिप्त वचनों की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत करने वाली यह जयाख्यसंहिता निश्चित रूप से उससे बाइं की है। स्पष्ट है कि पौष्कर और जयाख्य दोनों संहिताएँ सात्वतसंहिता के विषयों का उपबूहण करती हैं।

पातंजल महाभाष्य के “अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्” ( ३।३।११ ) इस वचन में प्राचीन मध्यमिका नामी की चर्चा है। राजस्थान के प्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के पास विद्यमान घोसुण्डी प्राम के आसपास ही उसकी स्थिति मानी जाती है। यहाँ पहले पत्थर के परकोटे से घरी हुई नारायण वाटिका थी, जिसको कि पाराशरिपुत्र गाजायन ने वासुदेव और संकर्षण को समर्पित किया था। घोसुण्डी से उपलब्ध शिलालेख<sup>१</sup> से उक्त जानकारी मिलती है। प्रस्तुत सात्वतसंहिता ( २४।३।६-३।६७ ) में इस प्रकार की वाटिका को भगवर्दपित करने का विद्यान मिलता है। उक्त घोसुण्डी शिलालेख से सात्वतसंहिता के प्रस्तुत विद्यान की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इस प्रकार ऐतिहासिक हृष्टि से विचार करने पर यद्यपि सात्वतसंहिता की ही प्राचीनता सिद्ध होती है, किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय में सबकी समान रूप से मान्यता है। ईश्वरसंहिता ( १।६७ ) में बताया गया है कि सात्वततन्त्र में प्रदर्शित विद्यान से यादवाचल में, पौष्करोत्त क्रम से श्रीरंग क्षेत्र में और जयाख्योत्त किंविद्य से हस्तशैल में भगवान् विष्णु की आराधना की जाती है। समय के परिवर्तन के साथ सात्वत क्रम में ईश्वरसंहिता पौष्कर के क्रम में पारमेश्वर संहिता और जयाख्य के

१. इस शिलालेख का विवरण एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १०, परिशिष्ट पृ० २ पर प्रकाशित है।

क्रम में पाद्मसंहिता को विशेष आदर प्राप्त हुआ। अलशिग भट्ट भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईश्वरसंहिता सात्वत की (पृ० २१, ४१) और पारमेश्वर-संहिता पौष्कर की (पृ० १५२) उपबृंहिका है। पाद्मसंहिता के विषय में जयाख्य-संहिता में संकलित अधिक पाठ में (११११) बताया गया है कि यह जयाख्य की पूरक है। अलशिग भट्ट (पृ० ७१, २२५) लक्ष्मीतन्त्र को भी सात्वतसंहिता का पूरक मानते हैं। इसी प्रकार पृ० १२८ और १५२ पर वे अहिरुच्यसंहिता को भी सात्वतसंहिता से ही संबद्ध मानते हैं। पारमेश्वरसंहिता पौष्करसंहिता के विषयों का उपबृंहण करती है, इस बात का उल्लेख स्वयं उस संहिता में भी मिलता है। किन्तु भाष्यकार अलशिग भट्ट इसका भी सबन्ध सात्वतसंहिता से जोड़ते हैं (पृ० २४, ५६, ६१, ६९, ७९, ९६, ४३४)। इसका कारण यह है कि ईश्वर और पारमेश्वरसंहिता में समान आनुभूति वाले सैकड़ों श्लोक मिलते हैं। पारमेश्वर की अपेक्षा ईश्वरसंहिता प्राचीन है, यह आगे बताया जायगा। इस प्रकार ईश्वरसंहिता जब सात्वत की पूरिका है, तो उससे सामग्री का संकलन करने वाली पारमेश्वरसंहिता का भी संबन्ध सात्वत से मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। वास्तव में देना जाय तो उक्त दोनों संहिताओं में जयाख्या और पौष्करसंहिता से भी सामग्री संकलित की गई है और इस प्रकार इन सभी संहिताओं का एक दूसरे से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। “अनुकूलमन्यतो ग्राह्यम्” (अर्थात् जो बात एक संहिता में नहीं कही गई है, उसका ग्रहण अन्य संहिता से कर लेना चाहिये) इस न्याय के अनुसार ऐसा किया गया है। उक्त सभी प्रकरणों के अवलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि पौष्कर और जयाख्यसंहिता सात्वतसंहिता में संक्षिप्त रूप से वर्णित विषयों का विस्तार करती है। फलतः सात्वतसंहिता ही इन सबमें प्राचीन है।

श्रीमद्भागवत महापुराण (१३।८ में २४ अवतारों का वर्णन करते समय देवर्षि नारद को भी अवतार माना गया है और बताया गया है कि इन्होंने सात्वत तन्त्र का उपदेश किया, जिसमें कि कर्म से भी<sup>१</sup> मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन है। सभी टीकाकार सात्वततन्त्र का अर्थ पांचरात्र शास्त्र करते हैं। सात्वतसंहिता सात्वततन्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। ऋषियों को नारद ने ही इसका उपदेश किया है। इस

- १- भागवत की भावार्थदीपिका नामक टीका के रचयिता वंशीधर के द्वारा उद्धृत एक वचन में सभी प्रकार के कर्मों को संसार का ही वारण बताया गया है, किन्तु भागवत के उक्त पद्म में कर्मों की भी मोक्ष-सम्पादकता बताई गई है। “मैषकर्म्यं कर्मणां यतः” इसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी, पदरत्नाबलीकार विजयध्वज और बालप्रबोधिनीकार गिरिधर कर्मों की मोक्षसाधता का प्रतिपादन करते हैं।

प्रारंभागिकता में इस प्रसंग में सात्वतसंहिता का ही उल्लेख किया गया है, ऐसा मानना चाहिये। इससे भी सात्वतसंहिता को विशिष्टता सिद्ध होती है।

### भाष्यकार अलर्सिंग भट्ट

प्रत्येक परिच्छेद की समाप्ति के पुष्पिका-वाक्य में भाष्यकार स्वयं अपना परिचय देते हैं। मंगलाचरण श्लोक में भी वे अपने इष्टदेव और पिता की वन्दना करते हैं। कण्ठिक राज्य का यदुगिरि आजकल 'मेलकोटे' के नाम से प्रसिद्ध है। यहां सात्वत-संहिता के अनुसार ही भगवान् की अर्चना की जाती है। सात्वतसंहिता के भाष्यकार अलर्सिंग भट्ट अपने को यदुगिरीश भगवान् के चरणों का सेवक बताते हैं और मौञ्ज्यायन गोत्र के योगानन्द भट्टाचार्य, जो कि नृसिंह के नाम से भी प्रसिद्ध थे, इनके पिता हैं। पृ० १०५ पर भी इन्होंने अपने पिता को स्मरण किया है। उस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तब इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था।

अलर्सिंग भट्ट ने ईश्वरसंहिता पर भी व्याख्या लिखी है। प्रस्तुत भाष्य में दो स्थलों पर (पृ० १०८, २४८) यह व्याख्या उद्भृत है। इससे स्पष्ट होता है कि इस भाष्य की रचना से पूर्व उक्त व्याख्या लिखी जा चुकी थी। इस व्याख्या की समाप्ति के पुष्पिका-वाक्य से उक्त जानकारी के अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि इनकी माता का नाम यदुगिरिनायकी अम्मण्यम्बा था, नारायण मुनि इनके विद्यागुरु थे। ये अत्यन्त सरस<sup>३</sup> कविता करते थे। यदुकुलनरेश श्रीकृष्णराज सार्वभौम की सभा में इनको घ्वेतच्छत्र, चामर, मुक्तामणिडत कुण्डल, सौवर्ण यज्ञोपवीत और कंकण प्रदान कर सम्मानित किया गया था। १७५६ शकाब्द (१८३४ ई०) में इन्होंने सात्वतार्थकाव्यिका नाम की ईश्वरसंहिता को व्याख्या को पूरा किया था<sup>४</sup>। इससे यह जात होता है कि अलर्सिंग भट्ट बहुत प्राचीन ग्रन्थकार नहीं है।

न्यू कैटलागस् कैटलागरम्, भा० १, पृ० ३०० पर दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि अलर्सिंग भट्ट ने १८२८ ई० में यतिराजशतक और १८३६ ई० में वज्रमुकुटीविलासचम्पू की रचना की। यतिराजविजयव्याख्या और सम्प्रदाय-प्रदीपिका नामक ग्रन्थ भी इनके द्वारा लिखे गये थे। अङ्गार पुस्तकालय की सूची<sup>५</sup>

- 
१. वज्रमुकुटीविलासचम्पू सरीखे चम्पूकाल की रचना करने से इनकी सरस काव्य रचना की सामर्थ्य स्पष्ट होती है।
  २. यह पूरा विवरण हमने श्री के० वी० स्वामीनाथन् द्वारा सम्पादित पाण्डुलिपि से प्राप्त किया है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।
  ३. अल्फाबे टक्कल सूची, पृ० १४८

से ज्ञात होता है कि इन्होंने सात्वतामृतसार की भी रचना की थी, किन्तु गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी, मद्रास की<sup>१</sup> सूची में यह ग्रन्थ इनके पिता योगानन्द की कृति माना गया है। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि अलर्जिंग भट्ट ने ६ अथवा ७ ग्रन्थों की रचना की थी और प्रस्तुत भाष्य इनकी सर्वान्तिम रचना है।

अलर्जिंग भट्ट ने प्रस्तुत भाष्य में कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति नामक भगवत्प्राप्ति के चार उपायों में से प्रथम कर्मयोग का अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग के रूप में तथा पर, व्यूह और विभव नामक ब्रह्मविचार के रूप में विशद विवेचन किया है। प्रसंगवश भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन हुआ है। धर्म की निवृत्तिप्रधान और प्रवृत्तिप्रधान व्याख्याएं शास्त्रों में मिलती हैं। सात्वत-संहिता में प्रदर्शित धर्म प्रवृत्तिप्रधान है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में भी इसी प्रवृत्तिप्रधान धर्म की व्याख्या की गई है। यह प्रवृत्तिप्रधान क्रियामार्ग ज्ञान और भक्ति की सहायता से प्रपत्ति (शरणागति) के रूप में परिणत होकर योग और मोक्ष का भी प्रापक है, ऐसा एकान्ती भागवतों का विश्वास है। नारायणीयोपाख्यान, भगवद्गीता और सात्वत प्रभृति पांचरात्र संहिताओं में इसी प्रवृत्ति धर्म का स्वरूप समझाया गया है इस विषय का विवेचन करने में भाष्यकार पूर्ण सफल रहे हैं।

संहिता के श्लोकों की सुस्पष्ट व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने अन्य अनेक संहिताओं के समानार्थक और उपवृहक वचनों को उद्धृत किया है। इससे भाष्यकार

१. अल्फावेटिकल सूची पृ० ८७७

२. “तात् सात्वते क्रियामार्गं मद्राक्याद् याहि योजय” (१७) इस सात्वतसंहिता के वचन का अभिप्राय यह है कि अब तक निवृत्ति मार्ग दर चलने वाले मुनियों के पास मेरे कहने से तुम जाओ और इस प्रवृत्तिप्रक शुद्ध क्रिया मार्ग का उनको उपदेश दो। पातंजल योगसूत्र में यह क्रिया मार्ग क्रियायोग के नाम से उपदिष्ट है—“तपःस्वाध्याये-श्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः” (२१)। इस क्रियायोग के अभ्यास से समाधि की तरफ साधक की प्रवृत्ति होती है और उसके क्लेश कमजोर पड़ जाते हैं (२२)। सात्वतसंहिता में प्रदर्शित अन्तर्यामा समाधि दशा में ही यह सम्भव हो सकता है। इससे क्रियामार्ग की महस्ता स्पष्ट होती है।

के पांचरात्र आगम के तलस्पर्शी विशद ज्ञान का परिचय मिलता है। पांचरात्र संहिताओं के प्राचीन भाष्य अथवा व्याख्यान आज उपलब्ध नहीं होते। भाष्यकार अलशिग भट्ट ने भी पारमेश्वर व्याख्यान को छोड़कर अन्य किसी भाष्य अथवा व्याख्यान ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु भाष्यकार प्रसंगवश अनेक संहिताओं का, रामानुजाचार्य, वेदान्तदेशिक प्रभृति के ग्रन्थों का, शठकोप प्रभृति भक्तों का प्रमाण के रूप में उल्लेख करते हैं। पूरे भाष्य में इस प्रकार प्राय १० ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को उद्धृत किया गया है। इससे भाष्यकार के वैद्युष्य का और इस भाष्य की विशिष्टता का बोध होता है।

### भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का विशद परिचय संस्कृत उपोद्घात से प्राप्त करना चाहिये।

ब्रह्मसूक्त और महोपनिषद् के विषय में वेदान्तदेशिक के समय से ही विवाद चला आ रहा है। वेदान्तदेशिक सच्चरित्ररक्षा ( पृ० १४-१६ ) में बताते हैं कि यहाँ ब्रह्मसूक्त और परमात्मसूक्त पद भी महोपनिषद् में पठित १९ मन्त्रों वाले ब्रह्मसूक्त का ही बोधक है। महोपनिषद् को कोई प्राचीन ग्रन्थकार उद्धृत नहीं करता, ऐसी बात भी नहीं है। फिर भाष्यकार प्रभृति के द्वारा अनुद्धृत उपनिषदें तो अनेक मिल जायगी, इतने मात्र से उनको अप्रमाण नहीं माना जा सकता। महोपनिषद् तो केवल रामानुज मुनि प्रभृति के द्वारा ही नहीं, किन्तु उनके परमगुरु यामुनाचार्य मुनि के द्वारा भी पुरुषनिर्णय नामक ग्रन्थ में प्रमाण के रूप में उद्धृत है। केवल एक ही सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसको उद्धृत किया हो, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि विस्तृदाय वाले आचार्य यादवप्रकाश ने भी अपने भगवद्गीता के भाष्य के आठवें अध्याय में महोपनिषद् को उद्धृत किया है। यादवप्रकाश के अनुयायी नारायणचार्य भी अपने तत्त्वनिर्णय नामक ग्रन्थ में श्रुति के तात्पर्य का निरूपण करते समय विस्तार से अनेक मुनिवचनों का उद्धरण देते हुए महोपनिषद् के<sup>१</sup> चार मन्त्रों को उद्धृत करते हैं।

---

१. महोपनिषद् में चार ही मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अन्य सात मन्त्र महानारायणोपनिषद् के ११ वें लण्ड में उपलब्ध हैं।

भाष्यकार अलिंग भट्ट ( पृ० ७४ ) महोपनिषद् में २३ मन्त्र मानते हैं और इसके अन्तर्गत निर्दिष्ट १९ मन्त्रों को ब्रह्मसूक्त के नाम से जानते हैं। वेदान्तदेशिक प्रभृति के प्रमाण पर यह मानना चाहिये कि महोपनिषद् में २३ मन्त्र और ब्रह्मसूक्त में १९ मन्त्र हैं।

स्वर्यं भाष्यकार इस प्रसंग में शंका उठाते हैं और उसका समाधान भी देते हैं कि महोपनिषद् के हस्तलेखों में “सर्वस्य वशिनम्” प्रभृति मन्त्र नहीं मिलते, तब उनको महोपनिषद् के अन्तर्गत कैसे माना जा सकता है? तप्त मुद्रा का समर्थन करने वाली सिद्धान्तचन्द्रिका में इस शंका का परिहार यह किया गया है कि प्राचीन हस्तलेखों में ये मन्त्र उपलब्ध हैं। आधुनिक हस्तलेखों में इनकी अनुपलब्धि लेखकों के प्रमाद के कारण है। इनमें पूरा का पूरा आठ मन्त्र वाला ब्रह्मसूक्त नहीं मिलता, जब कि ब्रह्मसूक्त में ये सभी मन्त्र श्रुतिपरम्परा से प्राप्त हैं। यद्यपि सिद्धान्तचन्द्रिका के उक्त वचन के अनुसार ब्रह्मसूक्त में केवल आठ मन्त्र ही सिद्ध होते हैं, किन्तु भाष्यकार ने वेदान्तदेशिक की सच्चरित्ररक्षा के प्रमाण पर ब्रह्मसूक्त में ‘सहस्रशीर्षम्’ प्रभृति १९ मन्त्रों की सत्ता स्वीकार की है ( पृ० ७४-७५ ) ।

मुद्रित<sup>१</sup> उपनिषत्संग्रहों में दो प्रकार की महोपनिषद् उपलब्ध होती है—एक छः अध्यायवाली और दूसरी चार कण्ठिका वाली। पहली के पहले अध्याय का और दूसरी पूरी उपनिषद् का स्वरूप प्रायः समान है। इनमें दूसरी उपनिषद् को ही वेदान्तदेशिक स्मरण करते हैं, क्योंकि उसी में प्रारम्भ में “एक एव नारायणः” प्रभृति चार मन्त्र हैं। यादवप्रकाश और नारायणाचार्य ने भी इसी को महोपनिषद् माना होगा। यहाँ चिचारणीय प्रश्न यह है कि चार मन्त्रों वाली महोपनिषद् के उदाहरण से २३ मन्त्रों वाली महोपनिषद् की सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है? खिल मन्त्रों का प्रामाण्य तो सभी प्राचीन आचार्य मानते हैं, किन्तु उनकी संख्या घटती बढ़ती नहीं है। यादवप्रकाश और नारायणाचार्य के समय में महोपनिषद् में चार ही मन्त्र थे और

१. मोरीलाल बनारसीदास द्वारा सन् १९७० में प्रकाशित उपनिषत्संग्रह के प्रथम संस्करण के १२७-१५८ पृष्ठों में पहली तथा ६४९-६५० पृष्ठों में दूसरी महोपनिषद् का स्वरूप देखा जा सकता है।

उनका वही स्वरूप आज भी उपलब्ध है। २३ मन्त्रों वाली महोपनिषद् का स्वरूप तो उक्त महोपनिषद् के चार महानारायणीय के ग्यारह और “सर्वस्य वशिनम्” प्रभृति ब्रह्मसूक्त के आठ मन्त्रों को लेकर बना प्रतीत होता है।

बुध लोगों के मत से ब्रह्मसूक्त में “सर्वस्य वशिनम्” इत्यादि आठ मन्त्र हैं। वेदान्तदेशिक के मत का अनुसरण करते हुए भाष्यकार अलर्णिंग भट्ट ब्रह्मसूक्त में ‘सहस्रशीर्षम्’ प्रभृति १९ मन्त्र मानते हैं और महोपनिषद् में २३ मन्त्र। महोपनिषद् और ब्रह्मसूक्त के इन २३ मन्त्रों के प्रतीक यहाँ (पृ० ७२-७४) भाष्य में संगृहीत ईश्वरसंहिता और पारमेश्वरसंहिता के वचनों में देखे जा सकते हैं। इन दोनों संहिताओं में समान आनुपूर्वी के अनेक वचन उपलब्ध होते हैं, यह बताया जा चुका है। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन सी संहिता प्राचीन है।

पारमेश्वरसंहिता (१०।३७६-३८२) में दिव्य, मुनिभाषित और पौष्ट तथा सात्त्विक, राजस, तामस भेदों का निरूपण करते समय बताया गया है कि सात्त्वत, पौष्टक और जयाख्य सरीखी संहिताएं दिव्य कहलाती हैं। ईश्वरसंहिता, भरद्वाजसंहिता, सौमन्तवी संहिता, पारमेश्वरसंहिता, वैहायसीसंहिता, चित्रशिखण्डीसंहिता तथा जयोत्तर-संहिता मुनिभाषित हैं और इनका सात्त्विक विभाग में परिणन फ़िया जाता है। सनकुमारतन्त्र, पक्षोद्भवतन्त्र, सत्यसंहिता, तेजोद्रविणसंहिता और मायावैभवागम का मुनिभाषित राजस विभाग में तथा पञ्चप्रश्न, शुक्रप्रश्न, तत्त्वसागरसंहिता प्रभृति का तामस विभाग में अन्तर्भाव किया जाता है। यहाँ मुनिभाषित संहिताओं के सात्त्विक विभाग में सबसे पहला नाम ईश्वरसंहिता का है। इससे पारमेश्वर की अपेक्षा इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

### सात्त्वतसंहिता का दर्शन

इस तरह से यहाँ सात्त्वतसंहिता और उसके भाष्य का, भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगम अथवा संहिता ग्रन्थों में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या के रूप में पाद विभाग देखने को मिलता है, किन्तु त्रिरत्न

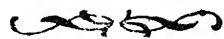
के नाम से प्रसिद्ध सात्वत, पौष्कर और जयाख्यसंहिता में यह<sup>१</sup> विभाग नहीं है। तो भी उक्त चारों पादों के विषयों का इन संहिताओं में संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन मिलता है। जयाख्यसंहिता, अहिर्बुद्ध्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र प्रभृति में जैसे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विस्तार से<sup>२</sup> दार्शनिक विवेचन किया गया है, वैसा सात्वत और पौष्कर संहिता में देखने को नहीं मिलता। सात्वतसंहिता में दर्शन और योग के प्रतिपादक अंश पूरे ग्रन्थ में फैले हुए हैं। सात्वतसंहिता में वर्णित उक्त चारों विषयों का, विशेष कर दर्शन और योग का, अन्यत्र कहीं प्रतिपादन नहीं हुआ है। अतः संस्कृत उपोद्घात में विस्तार से इनका परिचय दिया गया है।

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि सात्वतसंहिता में त्रिविध ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है, चतुर्विध अथवा पञ्चविध<sup>३</sup> परब्रह्म का नहीं। अतः पांचरात्र सत्र का संबन्ध पञ्चविध परब्रह्म से नहीं जोड़ा जा सकता। हाँ, अभिगमन, उपादान आदि पांच कालों से इसको जोड़ा जा सकता है।<sup>४</sup>

१. रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध उक्त तीनों संहिताओं में पादविभाग नहीं मिलता, इससे भी इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। सात्वतसंहिता की एक विशेषता और है कि इसमें परिच्छेद विभाग है, अन्य आगम और तन्त्र ग्रन्थों के जैसे अध्याय या पटल विभाग नहीं। इससे भी यह अधिक प्राचीन सिद्ध होती है।
२. जयाख्यसंहिता प्रतिपादित दर्शन का विवेचन डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में, अहिर्बुद्ध्यसंहिता के दर्शन की व्याख्या डॉ० श्राद्धर कृत उपोद्घात ग्रन्थ में तथा लक्ष्मीतन्त्र प्रतिपादित दर्शन का विवरण “लक्ष्मीतन्त्रः धर्म और दर्शन” नामक डॉ० अशोककुमार कालिया रचित ग्रन्थ में और डॉ० संयुक्ता गुप्त द्वारा संपादित लक्ष्मीतन्त्र के अंग्रेजी अनुवाद में देखना चाहिये।
३. डॉ० श्राद्धर ने अपने उक्त ग्रन्थ (पृ० २५) में अहिर्बुद्ध्यसंहिता का प्रमाण देकर उक्त व्याख्या की है। वस्तुतः अहिर्बुद्ध्यसंहिता के निर्दिष्ट स्थलों पर भी त्रिविध ब्रह्म का ही विवरण मिलता है। “व्यासिमात्रं गुणोन्मेषो मूर्तीकार इति त्रिधा” (पृ० २०) यहाँ तो स्पष्ट ही त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।
४. इस के लिये संस्कृत उपोद्घात, पृ० ४४ की पहली तथा पृ० ५० की भी पहली टिप्पणी का अवलोकन कीजये।

इसी तरह से 'लोकनाथस्तु शान्तात्मा' ( १८१ ) यहाँ एक ही विभवावतार वर्णित है, दो नहीं । अलांशग भट्ट के भाष्य तथा उसमें उद्दृत पौष्करसंहिता के वचन से स्पष्ट हो जाता है कि यह लोकनाथ बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध ही हैं ।

इन तथा अन्य विषयों का अवलोकन संस्कृत उपोद्घात में ही करना चाहिये ।




---

१. डॉ० शादर ने अपने उक्त ग्रन्थ ( पृ० ४२, ४६, ४६ दिं० ) में ऐसा किया है। लक्ष्मी-तन्त्र के संपादक पण्डित श्री विं० कृष्णमाचार्य ( उपोद्घात, पृ० २२ ) भी उनकी इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं ।

## संकेतपरिचयः

- अ. अमरकोशः, रामाश्रमीटीकासहितः संस्करणम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२९।
- अ. सं. अविसंहिता, समृद्धिसन्दर्भे भाग १, गुरुमण्डल अन्यमाला, कल्कत्ता, सन् १९५२।
- अ. हृ. सू. अग्राज्ञहृदयं सूत्रस्थानम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३९ (पछ्यं संस्करणम्)।
- आ. घ. आपस्तम्यव्याप्ति ग्रन्थ, काशी संस्कृत सिरीज़-२३ नीलम्बा, वाराणसी, सन् १९३२।
- ई. सं. ईश्वरसंहिता, स्त्रियुक्तवाची-१३, श्रीकाञ्जीमुदर्शनमुद्रणालयम् ग्रन्तिता, सन् १९२३।
- कठो. कठोपर्णिषत्, अनिपलंगदे, मोहीबाल वनारसीदास वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०।
- छा. उ. छान्दोग्योपदित्तम्, पूर्ववत्।
- ज. ज्या. } ज्याख्यसंहिता, गायकवाच औरियण्डल सिरीज़-५८, द्वितीयं संस्करणम्, बड़ोदा,
- ज. . } सन् १९६७।
- तच्चव. तच्चवद्यं लोकान्यार्थार्थनितम्, वस्त्रमुनिवर्गानामाभ्यसंहितम्, नीलम्बा संस्कृत मध्यमाला ज्ञार्थी, प्रथमं संस्करणम्, ग्रन् १९०९, द्वितीयं संस्करणम्, १९३८, अन्यसामादर्शं प्रथमसुनामूलात् च इत्यावृत्तं संस्करणसुपुक्तम्।
- तै. उ. तैत्तिरीयसंहिता, उर्ध्वानामासंघर्षं, पूर्ववत्।
- तै. सं. तैत्तिरीयसंहिता, सत्त्वंहसंस्करणम्, मूलमात्रम्, पार्ठीनगरं, सन् १९५७ (द्वितीयं संस्करणम्)।
- द. समृ. दशग्रन्थः, समृद्धिसन्दर्भे भाग २, गुरुमण्डल अन्यमाला, कल्कत्ता, सन् १९५२।
- प. पञ्चाश्रवना, वेदान्वदेशिकाकृता, अज्याल पुस्तकालय अन्यमाला-२६, द्वितीयं संस्करणम्, सन् १९६७।
- पा. } पारमेश्वरसंहिता, श्रीगोविनदाचार्यैः संस्कृता, कल्याण मुद्रणालय, धौराक्षम्,
- पा. सं. } सन् १९५३।
- पौ. सं. पौष्ट्रसंहिता, वदुर्गायतिर्गजस्यकृमाग्रामानुचर्मुकिभिः संस्कृता, मेलकोटी, मैसूर, सन् १९६४।
- ब्रह्म. ब्रह्मद्वापर्, शारद्यग्राम्यसंहितम्, तुर्वीय संस्करणम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४८।

मि. मो. भर्गवेंद्रगीता, रामानुजभाष्यसंहिता, रामानुज ग्रन्थमाला, भाग २, कांचीपुरम्, सन् १९५६

महो. आश्र. महाभारतम् आश्रमेविकर्व, गीताप्रेस, गोरखपुरसंस्करणम्, सन् १९५८

सुण्ड. सुण्डकोपनिषत्, उपनिषत्संग्रहे, पूर्ववत्

ल. लक्ष्मीतन्त्रम्, अडयार पुस्तकालय ग्रन्थमाला-८७, मद्रास, प्रथमं संस्करणम्,

लक्ष्मी. सन् १९५९

वि. पु. } विष्णुपुराणम् (भाषानुवादसंहितम्), गीताप्रेस गोरखपुर, चतुर्थं संस्करणम्,  
विष्णु.पु. } संवत् २०१४

शा. स्मृ. शापिङ्गल्यस्मृतिः, स्मृतिसन्दर्भे, भाग ५, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता,  
सन् १९५५

श्रीमद्भा. श्रीमद्भागवतम् (मूलमात्रम्) गीताप्रेस गोरखपुर, षष्ठं संस्करणम्, संवत् २०१०

सा. } सात्वतसंहिता, शास्त्रमुक्तावली-१५, श्रीकाञ्जीसुदर्शनमुद्रणालयसुद्रिता सन् १९०२

सा. सं. } एतन्नूतनं संस्करणं च।



## तहायकग्रन्थसूची

अजितागमः ( प्रथमभागः )—क्रोंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी, सन् १९६४

अनिरुद्धसंहिता—आसूरि श्रीनिवासय्यगायैः संस्कृता, १४२ कालेज रोड, मैसूर, सन् १९५६  
अल्फाबेटिकल. इंडेक्स ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन द गवर्नमेण्ट मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी,

मद्रास ( भाग १-३ )—सन् १९३८, १९४०, १९४२

अल्फाबेटिकल लिस्ट आफ मैन्युस्क्रिप्ट इन द ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बडोदा ( भाग १ )—

सन् १९४२, ( भाग २ )—सन् १९५०

अहिर्बुद्ध्यसंहिता—अडयार पुस्तकालय ग्रन्थमाला—४, द्वितीयं संस्करणम्, सन् १०६६

आगमप्रामाण्यम्—यामुनाचार्यविरचितम्, काशीसंस्करणम्, संवत् १०५७, गायकवाड

ओरियण्टल सिरीज—१६०, बडोदा, सन् १९७६

आचारमयूद्धः—गुजराती प्रेस, वम्बई, सन् १९१५

इण्ट्रोडक्शन दू द पांचरात्र एण्ड अहिर्बुद्ध्यसंहिता—डा० एफ० आटो शादर, अडयार

पुस्तकालय, मद्रास, सन् १९१६

हृषीपदेशः—पूज्यपादस्वामिकृतः, श्रीरामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला—२२, वम्बई, सन् १९३४

कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन द अडयार लाइब्रेरी—( भाग १ ) सन् १९२६,

( भाग २ ) सन् १९२८

कैटलाग कैटलागरम् ( आफेखंड बृहत्सूची )—( भा० १-३ ) सन् १८९१, १८९६, १९०३

गरुडपुराणम्—पण्डित पुस्तकालय, काशी, सन् १९६३

गुणरत्नकोशस्तवः—पराशरभट्टविरचितः, स्तोत्ररत्नमाला, वेदान्तदेशिक विहार सभा,  
परकालमठ, मैसूर, सन् १९५३

डिस्क्रिप्टिव विलिओग्राफी आफ द प्रिण्टेड टेक्स्ट आफ द पांचरात्रागम—डा० एच०

डेनियल स्मथ, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज—१५८ ( भा० १ ) बडोदा,

सन् १९७५

तस्मच्क्राङ्कनप्रमाणविवृतिः—वेदान्तदेशिक विहार सभा, परकालमठ, मैसूर।

तैत्तिरीयारण्यकम्—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि—२६, ( भा० १ ) सन् १८९७, ( भा० २ )

सन् १८९८, पूना।

धर्मसिन्धुः—काशीनाथोपाध्याय विरचित, निर्णयसागर प्रेस, वम्बई, प्रथमं संस्करणम्,  
सन् १९३६

नारदीयसंहिता—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला—१५, तिरुपति, सन् १०७१

नित्यग्रन्थः—रामानुजाचार्य विरचित, रामानुज ग्रन्थमाला, ( भा० २ ) कांचीपुरम्,  
सन् १९५६

नित्यार्चनकारिका ( आहिककारिका )—वंगिवंशेश्वरविरचित, पण्डित वि० अनन्ताचार्य द्वारा  
संपादित, मद्रास, सन् १९४१

नित्याशेषोडशिकार्णवः—शिवानन्द विरचित ऋजुविमर्शिनी तथा विद्यानन्द विरचित अर्थ-  
रत्नावली टीका सहित, योगतन्त्रग्रन्थमाला—१, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,  
सन् १९६८

न्यू कैटलाग्स कैटलागरम्—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, सन् १९४० से अब तक ।

पराशरस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भा० २, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला—८, कलकत्ता, सन् १९५२

पातञ्जलयोगसूत्रम्—व्यासभाष्य तथा वाचसन्ति मिश्र कृत टीका संबलित, आनन्दाश्रम  
संस्कृतग्रन्थावलि—४७, पूरा, सन् १९३२

पाणुपतसूत्रम्—कौण्डन्य ( राशीकर ) विरचित पञ्चार्थ भाष्य सहित, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत-  
ग्रन्थमाला—४४, त्रिवेन्द्रम्, सन् १९४०

प्रणामूर्तम्—अनन्ताचार्य विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वैकटेश्वर प्रेस, वर्मई,  
संवत् १९६४

प्रवोधचन्द्रोदयनाटकम्—कृष्णमिश्र प्रणीत, निर्णयसागर प्रेस, वर्मई, पंचम संस्करण,  
सन् १९२४

बृहद्योगियाश्वत्क्यस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भाग ४, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन्  
१९५३

ब्रह्माण्डपुराणम्—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९७४

ब्रह्मोक्तव्याश्वत्क्यस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भा० ४, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५३

भागवतपुराणम्—नानाटीकासहित, चित्तस्वरूपब्रह्मचारी संस्करण, बृन्दावन, संवत् १९६४

भागवतपुराणम्—नानाटीकासहित, कृष्णशंकरशास्त्री संस्करण, भा० १, नडियाद ( गुजरात )  
सन् १९६५

भारद्वाजसंहिता ( नारदपञ्चरात्रम् )—खेमराज श्रीकृष्णदास, वैकटेश्वर प्रेस, वर्मई,  
संवत् १९६३

मतङ्गपारमेश्वरागमः ( विद्यापादः ) भट्ट रामकण्ठविरचित वृत्ति सहित, फ्रैंच शोध संस्थान,  
पार्श्वद्वेरी, सन् १९७७

मनुस्मृतिः ( भाषानुवाद सहिता )—निर्णयसागर प्रेस, वर्मई, तृतीय संस्करण, सन् १९२९

महाभारतम् ( नीलकण्ठीटीकासहितम् )—ओरियाण्डल बुम्स रीप्रिण्ट कारगोरेशन, नई दिल्ली,  
सन् १९७९

महार्थमञ्जरी—महेश्वरानन्द विरचित, स्वोपन्न परिमलव्याख्यासहित, योगतन्त्रग्रन्थमाला—  
५, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०

महोपनिषद्—उपनिषत्संग्रहान्तर्गत, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण,  
सन् १९७०

मुमुक्षुप्यदिरहस्यम्—लोकाचार्य विरचित, सुदर्शन मुद्रणालय, श्रीकांची, सन् १९२६

मृगेन्द्रागमः ( विद्यायोगपादौ )—काश्मीर ग्रन्थमाला, श्रीनगर, सन् १९३०

मृगेन्द्रागमः ( क्रियाचर्यपादौ )—फ्रैंच शोध संस्थान, पाणिङ्गचेरी, सन् १९६२

मेघदूतम्—महाकवि कालिदास विरचित, निर्णयसागर प्रेस, वर्ष्वई, चतुर्दशा संस्करण,  
सन् १९३५

मैत्रायण्युपनिषद्—उपनिषत्संग्रहान्तर्गत, पूर्ववत्।

यतीन्द्रमतदीपिका—श्रीनिवासदास विरचित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि-५०, पूना, सन् १९३४

याज्ञवल्क्यस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भा० ३, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५२

याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका ( मिताक्षरा )—निर्णयसागर प्रेस, वर्ष्वई, तृतीय संस्करण, सन् १९२६  
रङ्गराजस्तवः—पराशरभट्ट विरचित, स्तोत्ररत्नमाला, वेदान्तदेशिक विहारसभा, परकालमठ,

मैसूर, सन् १९५३

रहस्यत्रयसारार्थसंग्रहः—परकालमठ, मैसूर, सन् १९५४

लक्ष्मीतन्त्रः धर्म और दर्शन—डा० अशोककुमार कालिया, अस्थिल भारतीय संस्कृत परिपद्,  
लखनऊ, सन् १९७७

वरदराजस्तवः—श्रीवत्सकिमित्र विरचित, स्तोत्ररत्नमाला, वेदान्तदेशिक सभा, परकालमठ,  
मैसूर, सन् १९५३

वाक्यपदीयम् ( स्वोपज्ञटीकोपेतम् )—श्री को० अ० सुत्रहाण्य अन्यर द्वारा सम्पादित, डेक्कन  
कालेज, पूना, सन् १९६६

वाचस्पत्यम् ( शब्दकोशः ) चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-१४, वाराणसी, सन् १९६२

वाल्मीकिरामायणम्—विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला-२८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,  
सन् १९५७

विज्ञानभैरवः—अन्वयार्थ-रहस्यार्थ ( संस्कृत-हिन्दी ) व्याख्या सहित, मोतीलाल-  
बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९७८

विख्यातक्षपञ्चाशिका ( तन्त्रसंग्रह, ग्रथम भाग )—योगतन्त्र ग्रन्थमाला-३, संस्कृत विश्वविद्यालय,  
वाराणसी, सन् १९७०

विष्णुपुराणम्—विष्णुचित्तीय, श्रीधरी व्याख्या सहित, श्रीवैकल्पेश्वर प्रेस, वर्ष्वई, संवत् १९६७  
विष्णुसहस्रनामभाष्यम्—पराशरभट्ट विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वैकल्पेश्वर प्रेस,  
वर्ष्वई, संवत् १९५०

विष्णुसहस्रनामभाष्यम्—शंकराचार्य विरचित, ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी, कालबादेवी रोड,  
वर्ष्वई, सन् १९१०

वीरमित्रोदयः—( पूजाग्रकाशः )—चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९११

वैजयन्तीकोशः—प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला-२, चौखम्बा ग्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७१

वैष्णविज्ञम, शैवविज्ञम एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स—डा० आर० जी० भाण्डारर, नवीन  
संस्करण, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, सन् १९६५

शक्तिसंगतन्त्रम् ( चतुर्थ छित्तमस्ताखण्डम् )—गायकवाङ् ओरियाटल सिरोज—२६६, बड़ोदा,  
सन् १९७८

शतपथब्राह्मणम्—अच्युत ग्रन्थमाला—१२, वाराणसी, द्वितीय भाग, संवत् १९९७  
शब्दकल्पद्रुमः ( शब्दकोशः )—नूतन संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६१

शिवपुराणम्—पण्डित पुस्तकालय, काशी, संवत् २०२०  
श्रीभाष्यम्—रामानुजाचार्य विरचित, रामानुज ग्रन्थमाला-१, कांचीपुरम्, सन् १९५६

संस्कारमयूखः—गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१३  
सन्चरित्रक्षा—वेदान्तदेशिक विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई,  
संवत् १९६६

सारस्वती सुषमा ( त्रैमासिक संस्कृत शोधपत्रिका )—सम्पूर्णनन्व संस्कृत विश्वविद्यालय,  
सुदर्शनवादः—वेदान्तदेशिक विहारसभा, परकालमठ, मैसूर।

स्टडीज इन उपपुराणस्—द्वा० आर० सी० हाजरा, कलकत्ता संस्कृत कालेज रिसर्च सिरोज—  
११, कलकत्ता, प्रथम भाग, सन् १९५८  
स्पन्दप्रदीपिका—उत्पल वैष्णव विरचित ( तन्त्रसंग्रह, प्रथम भाग ) योगतन्त्रग्रन्थमाला—३,

स्मृतिचन्द्रिका ( संस्कार काण्ड )—संस्कृत ग्रन्थमाला, मैसूर, सन् १९१४  
हिन्दी आफ इण्डियन फिलासफी—द्वा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, केम्बिज युनिवर्सिटी प्रेस,  
सन् १९६१



# विषयसूची

प्रकाशकीय वक्तव्य  
Foreword

क-ग  
घ-न्न

## उपोद्धातभागः

स्सकरणे उपयुक्तानां मातृकाणां परिचयः	....	....	१
ग्रन्थसमादनशैली	....	....	२
सात्वतसंहिता	....	....	५
भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टः	....	....	८
भाष्योद्घृता ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च	....	....	११
सात्वतीर्य दर्शनम्	....	....	१८
चिविधं परंब्रह्म	....	....	१९
परब्रह्मलक्षणम्	....	....	२१
परब्रह्मणो दशाद्वयम्	....	....	२१
चातुरात्म्यसमाराधनम्	....	....	२२
वर्णचक्रचनाप्रकारः	....	....	२२
तुर्यव्यूहसमाराधनम्	....	....	२२
परस्यापि चतुरूपत्वम्	....	....	२५
षुषुपिव्यूहसमाराधनम्	....	....	२७
स्वप्नव्यूहसमाराधनम्	....	....	२७
जाग्रद्व्यूहसमाराधनम्	....	....	२७
व्यूहान्तरम्	....	....	३०
एकोनचत्वारिंशद्विभवाः	....	....	३०
शक्तीशस्तस्य शक्तयश्च	....	....	३२
प्राणाधिपतयः सत्यादयः	....	....	३५
भवोपकरणम्	....	....	३५
सिद्धदशकम्	....	....	३६
शब्दब्रह्म	....	....	३७
वर्ण( मातृका )चक्रं मन्त्राः प्रणवश्च	....	....	४०
सात्वतीर्यो योगः	....	....	४३
यागः	....	....	४८

दीक्षा	....	....	५४
अभिषेकः	....	....	५७
नियमाः	....	....	५८
समयिपुत्रकादिलक्षणानि	....	....	५९
अधिकारी	....	....	५९
भोगमोक्षौ	....	....	६३
उपसंहारः	....	....	६५
कृतशताशापनम्	....	....	६७
संकेतपरिच्छय	....	....	६९
सहायकग्रन्थसूची	....	....	७१
विषय सूची	....	....	७५

## ग्रन्थभागः

प्रश्नप्रतिवचनं नाम प्रथमः परिच्छेदः

पृ० १-१०

मलयाचले नारदस्यागमनम्—नारदस्य परशुरामदर्शनम्—परशुरामप्रेरितस्य नारदस्य मुनिसमीपगमनम्—ऋषीणां प्रश्नः—नारदस्य प्रतिवचनम्—संकर्षणप्रश्नः—वासुदेवप्रतिवचनम्—त्रिविधं परमं ब्रह्म—परलक्षणम्—व्यूहलक्षणम्—विभवलक्षणम्।

तुरीयव्यूहसमाराधनं नाम द्वितीयः परिच्छेदः

११-३२

उपासनाविधिविषयकः संकर्षणप्रश्नः—वासुदेवस्य सात्वतशास्त्रोपदेशप्रतिज्ञा—चतुर्विधाधिकारिविवेचनम्—परार्चनविधानम्—वर्णचक्ररचनाप्रकारः—मन्त्रोद्घारविधिः—द्वाविशाक्षरः षड्भिः पदैरन्वितः परमन्त्रः—मन्त्रान्तर्गतघट्पदानां षाड्गुण्याभिधायकत्वम्—षड्ङ्गमन्त्राः—निरङ्गो ब्रह्मलक्षणो मन्त्रः—पञ्चाङ्गो नेत्रान्तो मन्त्रः—मन्त्रवराराधनविधिः—चतुर्थकभावनम्—मध्यनाडौ सुषुम्नायां शब्दब्रह्मावस्थानम्—परा वाक्—नादावसानगगने संवित्स्वरूपस्य परब्रह्माणोऽवस्थानम्—तस्यैव वासुदेव—अच्युत—सत्य—पुरुषरूपेणोन्मेषः—तस्यैव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुयर्थाख्यपदचतुष्टयेऽवस्थानम्—प्रीतिसंकल्पभोगदानमन्त्राः।

सुषुप्तिव्यूहसमाराधनं नाम तृतीयः परिच्छेदः

३३-४०

हृष्णकर्णिकायां सुषुप्तिव्यूहसमाराधनम्—वेद्यवेदकभावप्रतिपादनम्—व्यूहस्वरूपनिरूपणम्—तत्र षाड्गुण्यानुवृत्तिः—व्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्घारः—मन्त्रचतुष्टयस्वरूपम्—पदानां वर्णसंख्यापूरणप्रकारः।

स्वप्नव्यूहसमाराधनं नाम चतुर्थः परिच्छेदः

४१-४६

स्वप्नव्यूहविधानम्—विशाखव्यूपलक्षणम्—वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयस्य लक्षणानि—प्राभवेणाप्ययेन च क्रमेण समाराधनम्—विशाखव्यूपमन्त्रोद्घारः—विशाखव्यूपः पूर्वोक्तः परवासुदेव एव—स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्घारः—मन्त्रचतुष्टयस्य स्वरूपम्।

**जाग्रद्व्यूहसमाराधनं नाम पञ्चमः परिच्छेदः**

४७-६०

जाग्रद्व्यूहलक्षणम्—तदाराधनविधिः—वासुदेवादीनां विशेषलक्षणानि—सामान्यलक्षणानि—जाग्रद्व्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्घारस्तत्स्वरूपं च—पुरुष-सत्य-अन्युत-वासुदेवमन्त्रोद्घारस्तत्स्वरूपं च—चतुरङ्गाद्वर्णचक्रात् सर्वमन्त्राणामुद्धारः—तुर्य-सुपुसि-स्वप्न-जाग्रद्व्यूहलक्षणाञ्जि—वर्णकालस्थानभेदेन वासुदेवादीनां ध्यानम्—चातुरात्म्यसमाराधनोपसंहारः—अत्र विशेषः—भगवदवतारक्रमः—अन्तर्यागसमाहारः—वहिर्यागोपक्रमः।

**चातुरात्म्यबाह्याराधनं नाम षष्ठः परिच्छेदः**

६१-१२३

द्रव्यागेन चातुरात्म्याराधनम्—भद्रपीठशोधनम्—चक्रराजार्चनम्—पात्रपरिकल्पनम्—कलशाष्टकस्थापनम्—विम्बशोधनम्—आवाहनम्—आसनाद्युपचारसमर्पणम्—स्नानम्—सनम्—क्षीरादिपञ्चविंशतिकलशसनपनप्रकारः—स्नानान्तनीराजनम्—भद्रासनशोधनम्—अलङ्कारसनसमर्पणम्—प्रतिसरदानम्—मात्रावित्तदानम्—औपचारिकादयो भोगाः—भोज्यासनम्—मात्राचतुष्टयम्—भोज्यासनोपचाराः—मुद्रावन्धः—जपः—कारिप्रदानम्—अष्टाङ्गयोगः—वहिसन्तर्पणम्—कुण्डलक्षणम्—कुण्डसंस्काराः—कुण्डस्याष्टदिक्षु पूर्णकुम्भाष्टकस्थापनम्—विदिक्षवप्ययक्रमेण चतुर्मुर्दितिसमाराधनम्—आरण्यादिभेदभिन्नस्याग्नेरानयनम्—कालवैश्वर्य-नरारूप्याया विष्वक्सेनमूर्तेऽर्धानम्—अग्नेः परिसमूहनपरिस्तरणादयः संस्काराः—पात्रासादनादिकम्—आज्यसंकाराः—सुक्खुवसंस्काराः—पवित्रधारणम्—होमः—आहवनीय-सभ्य-गार्हपत्य-ओदनम्पत्रनभेदैभिन्नस्याग्नेः प्रागादिपु दिक्षु समाराधनम्—अग्निमध्ये भगवदावाहनम्—इधमविभागप्रक्षेपक्रमः—समित्सप्तकहोमः—अत्र समिद्धाने विशेषः—होमाङ्गतिलकधारणम्—पितृसंविभागः—मौनावलम्बनम्—स्वार्थपरार्थार्चार्थिकारविचारः—अनुयागविधिः—अष्टाङ्गप्रणामविधिः—स्वाध्यार्थविधिः—जपः—न्यासः—योगविधिनिरूपणम्—संवेदनिर्मुक्ते समाधौ स्थितो योगी ब्रह्म सम्पद्यते—वहिर्यागोपसंहारः।

**अमन्त्रकव्रतविधिर्नाम सप्तमः परिच्छेदः**

१२३-१४१

ब्रतोपदेशारम्भः—व्यूहान्तरस्वरूपप्रतिपादनम्—व्यूहान्तराभिव्यक्तिप्रयोजनम्—ब्रतारम्भकर्तव्यता—वासुदेवस्य लाङ्गूलध्यानप्रकारः—वासुदेवादीनां जितन्तामन्त्र चतुष्टयम्—चातुरात्म्याराधने वर्णानां क्रमः—संकर्णादीनां लाङ्गूलध्यानप्रकारः—केवलमुमुक्षुभिरनुष्ठेये ब्रते विशेषविधिः—निष्कामैः सकामैश्च देयानि द्रव्याणि—शूद्रैर्ब्रतान्तेऽपक्वान्नं देयम्—भगवदा-राधने ब्राह्मणवक्ष सर्वत्र क्षत्रियादीनामधिकारः—द्वादशवार्षिकं ब्रतम्—ब्रतान्तरम्—द्वादशारूप्यब्रतम्—शोडशारूप्यब्रतम्—ब्रतनिष्ठानां भोज्यद्रव्याणि—ब्रतान्तरम्—दिव्यायतनादिलक्षणानि—वैष्णवक्षेत्रप्रमाणम्—सालोक्यादिमोक्षविचारः—ब्रतभङ्गेऽवसादो न विधेयः।

**समन्त्रकव्रतविधिर्नामाष्टमः परिच्छेदः**

१४२-१७०

समन्त्रकव्रतविधिः—चातुरात्म्यार्चनमङ्गमन्त्रार्चनं च—ब्रतार्थं मन्त्रोपदेशः—वासुदेवादिमूर्तिध्यानम्—हृदयाद्यङ्गमन्त्रवीजानि—व्यूहान्तरबीजानि—व्यूहान्तरशक्तिवीजानि—व्यूहान्तरशक्तयः—पद्मशङ्खगदाचकमन्त्रचतुष्टयम्—मुद्राङ्गलिः—मुद्रागोपनोपदेशः—ब्रत-

राधनार्थं स्वयंव्यक्ताद्यन्यतमविभवसमाश्रयणम्—पीठार्चनम्—पादाम्बुद्धमुद्रा—कुण्डलक्षणम्—केशवार्चनम्—परवासुदेवस्य मानसार्चनम्—केशवादिवर्णविचारः—केशवादीनां लाज्जनायुधादीनि—देवीद्वादशकध्यानम्—केशवादीनामर्चनस्थानानि—स्नपनद्रव्याणि—अर्चनक्रमः—गुर्वर्चनम्—व्रतिनो भोज्यद्रव्याणि—पुनरप्यर्चनक्रमनिर्देशः—व्रतारम्भः—व्रतानुष्टानविधिः—मात्रासमर्पणम्—गुर्वर्चनम्—द्वादशीनिर्णयः—स्त्रीणामधिकारः—अपवर्गदं चातुर्मास्यव्रतम्।

### विभवदेवतान्तर्यागविधिर्नामि नवमः परिच्छेदः

१७१-१९९

विभवदेवतामानसयागारम्भः—स्थूलसूक्ष्मपरमेदेन विभवावतारस्य त्रैविध्यम्—संज्ञापद-पिण्डबीजभेदेन मन्त्राणां चातुर्विध्यं तल्लक्षणं च—चत्वारोडीमे प्रणवस्य परिणामाः—प्रणवस्य नित्योदितत्वम्—बीजेन पिण्डेन वा रहिते मन्त्रे प्रथमेक्षरस्यैव बीजत्वम्—वर्णेषु द्वेत्रेत्रश्च-विचारः—चतुर्विधानामपि मन्त्राणां भोगमोक्षप्रदावम्—विभवदेवतार्चनारम्भः—विशाखशूप-प्रादुर्भावप्रकारः—तदुपकरणविवेचनम्—विशाखशूपस्यैव विभवदेवताधिष्ठितत्वम्—विभवदेवता-बीजनिचयोद्वारार्थमन्यविधिं मातृकाचक्रम्—बीजोद्वारक्रमः—तेषां बीजानि—पद्मनाभादीना-मष्टिंशद्विभवदेवानां नामानि तद्विषयको विचारश्च—प्रधानशक्तिसंघनिरूपणम्—भूषणं-वाहनायुधादिनिरूपणम्—भवोपकरणनामानि—पद्माभावध्यानम्—ध्रुवध्यानम्—अनन्तादि-द्वादश-कूर्मादिद्वादश-एकशृङ्गादिद्वादशमूर्तिध्यानप्रकारः—निष्कलसकलध्यानम्—अङ्गदेवता-संघध्यानक्रमः—चतुःस्थानार्चनविधिः—भूर्भुवःस्वलोकसिद्धीनामासये मोक्षार्थं चैतत्समा-राधनम्—त्रिविधसर्गनिरूपणम्—परिवारबीजपिण्डमन्त्रनिर्माणप्रकारः।

### विभवदेवताबहिर्यागविधिर्नामि दशमः परिच्छेदः

२००-२०९

मण्डलार्नितीर्थादिषु बाह्ययागो निष्पाद्यते—मण्डललेखनयागमण्डपालङ्करणप्रकारः—वैभवमुद्राप्रदर्शनम्—मण्डले ध्रुवादीनां विन्यासप्रकारः—भवोपकरण—सिद्धदशकाद्वाद-देवताविन्यासविधिः—अर्चनक्रमः—वैभवमुद्रालक्षणम्—चतुःस्थानार्चनविधिः—मुद्राबन्धस्त-ललक्षणं प्रयोजनं च—तत्त्वमन्त्रव्यासिस्मरणम्—द्विजातेर्दत्तशिष्टस्य पञ्चपुष्पादिकस्य जले प्रक्षेपः—विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्वप्राशनार्थं भागोद्वरणम्।

### मण्डलकुण्डलक्षणविधानं नामैकादशः परिच्छेदः

२१०-२२२

मण्डललक्षणम्—मण्डले भगवदवस्थानम्—अब्जनाभभुवनाख्यं मण्डलम्—कुण्ड-लक्षणम्—शाङ्क-चक्र-पद्म-वृत्त-चतुरस-कुण्डनिर्माणविधिस्तत्र मेवलायोन्यादिनिर्माणप्रकारश्च।

### विभवदेवताध्यानं नाम द्वादशः परिच्छेदः

२२३-२६१

अनन्तध्यानम्—शक्त्यात्मध्यानम्—मधुसूदनध्यानम्—विद्याधिदेवध्यानम्—कपिल-ध्यानम्—विश्वरूपध्यानम्—हंसध्यानम्—बराहध्यानम्—बडवानलध्यानम्—धर्मध्यानम्—हयग्रीवध्यानम्—एकार्णवशायिध्यानम्—कूर्मध्यानम्—वृवराहध्यानम्—वृसिंहध्यानम्—अमृता-हरणध्यानम्—श्रीपतिध्यानम्—कान्तात्मध्यानम्—राहुजिदध्यानम्—कालनेमिन्द्रध्यानम्—

पारिजातहरध्यानम्—लोकनाथध्यानम्—दत्तात्रेयध्यानम्—न्यग्रोधशयनध्यानम्—मत्स्यावतारध्यानम्—वासनध्यानम्—त्रिविक्षमध्यानम्—नर-नारायण-हरि-कुण्डलध्यानम्—परशुरामध्यानम्—श्रीरामध्यानम्—वेदव्यासध्यानम्—कलिकध्यानम्—पातालशयनध्यानम्—प्रकरणफलश्रुतिः—विभवदेवताभिज्ञानपद्धतिः—सर्वेषां कामरूपधरत्वम्—शक्त्यात्मस्वरूपम्—वाहनभेदास्तल्लक्षणानि च—कान्तागणः (शक्तित्वक्रम्)—लाङ्घनभुजवक्त्रास्त्रभेदेन शक्तीशस्य भेदाः।

भूषणास्त्रदेवताध्यानं नाम त्रयोदशः परिच्छेदः

२६२-२७१

किरीटादिभूषणानां लाङ्घनानां च चतुर्भुजत्वादिकम्—किरीटकौस्तुभ-श्रीवत्स-वन-मालाध्यानानि—चक्रदिशक्त्यन्तानां सप्तदशायुधानां ध्यानानि—सर्वेषां सामान्यं लक्षणम्—किरीटादीनामधिष्ठात्रदेवताः—सुन्दरीगणस्य ध्यानप्रकारः—सामान्यं लक्षणम्—शक्तिद्वयनिरूपणम्—सुन्दरीगणलक्षणानि—वर्णलाङ्घनभेदेन सुन्दरीगणस्य नानात्वम्—भवोपकरणध्यानम्—अर्चनफलम्—चतुर्थानार्चनविधिः।

पवित्रारोपणविधिनामि चतुर्दशः परिच्छेदः

२७२-२७९

नित्यनैमित्तिकर्मणामस्वर्णनावहं कर्म किमिति प्रश्नः—दोपास्तदुपशमोपायाश्च—पवित्रारोपणस्य सर्वप्रायश्चित्तत्वम्—उत्तमादिकालविचारः—पवित्रारोपणकालः—अधिवास-श्रुतिःस्थानार्चनं च—पवित्रसमर्पणविसर्जने—कारिप्रदानम्—फलश्रुतिः।

पवित्रस्तपत्विधिनामि पञ्चदशः परिच्छेदः

२८०-२८४

स्नपनविधानम्—कुशकूर्चनिर्माणम्—जीवमन्त्रः—तत्त्वचतुष्टयम्—दर्भपवित्रकल्पनम्—पत्रपात्रगणस्य ब्रह्मावगतस्य पवित्रस्य तीर्थसमीपे नयनम्—कूर्चद्वारा दूरदेशगतानां बाध्वा-दीनामपि पवित्रीकरणम्—पवित्रस्तपनम्—अवभृथानन्तरं यात्रोत्सवः—फलश्रुतिः।

त्रिविधदीक्षाविधानं नाम षोडशः परिच्छेदः

२८५-२९०

त्रिविधदीक्षोपायनिरूपणम्—प्रायश्चित्तशान्त्यादिनिर्देशः—शिष्यस्य सत्कार्येषु नियोजनम्—ब्रह्मकूर्चसहितं प्रायश्चित्तम्—त्रिविधदोषतानवीकरणम्—वर्णभेदेन प्रायश्चित्त-विधिभेदः—योग्याय निरुद्धाय शिष्याय दीक्षा देया—प्रथमं वैभवी तदनु योग्यतानुरूपा व्यूहाख्या पराख्या वा दीक्षा देया—योग्यस्य गुरोः सकाशाद् दीक्षात्रयं ग्राह्यम्, स्वयमप्रार्थितेन गुरुणा वा शिष्यस्य योग्यतां ज्ञात्वा तद्देयम्।

वैभवीयनृसिंहकल्पोनाम सप्तदशः परिच्छेदः

२९१-३५०

नृसिंहमन्त्रोदारोपक्रमः—वैभवीयवर्णचक्रसाहाय्येन नृसिंहवीज-नृसिंहाङ्गमन्त्र-द्वादशाक्षरमन्त्रोदारः—द्वादशाक्षरमन्त्रेण भगवदाधानम्—प्राणायामपूर्विका भूतशुद्धिः—न्यासाः—सुद्राबन्धः—आसनपरिकल्पनम्—विसर्जनक्रमः—बहिर्योगोपक्रमः—विभ्रमणडलपीठादिकल्पनम्—कुम्भस्थापनम्—भगवदावाहनक्रमः—लयभोगयागक्रमः—परिवारदेवताः—मूलमन्त्रादीनां ध्यानम्—विविधसुद्राप्रदर्शनम्—जपयज्ञः—वह्सन्तपणम्—नृसिंहमन्त्रदीक्षाक्रमः—समयोपदेशः—कारिप्रदानम्—अपराधक्षमापणम्—विष्वक्सेनार्चनम्—बलिदानम्—विसर्जनम्—

विष्वक्सेनार्चनानन्तरं पत्रपुष्पफलादीनां जलमध्ये प्रक्षेपः—स्वप्राशनार्थं किञ्चिदंशस्यतपूर्वमेव स्थापनम्—मन्त्रजपो ध्यानं च—शान्तिविधिः—पौष्टिकविधिः—आप्यायनविधिः—आतुर-रक्षाविधिः—अनातुररक्षाविधिः—आधिदैविक—आध्यात्मिक—आधिभौतिकतापाः—संघारणी रक्षाविधिः—धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयसाधनविधिः—फलश्रुतिः ।

**अधिवासदीक्षाविधिनामाष्टादशः परिच्छेदः**

३५१—३७७

अधिवासदीक्षार्थं क्षमापरिग्रहपूर्वकं मण्डपनिर्माणप्रकारः—संभाराज्जनम्—शिष्याणां ब्रह्मत्वे यागद्रव्याणां वृद्धिः—येन मन्त्रेण दीक्षा क्रियते तेनैवाङ्गसहितेन सर्वकर्माचरणम्—दहनाप्यायनाख्यधारणात्मकभूतशुद्धयनुष्ठानम्—व्यापकन्यासः—मण्डलपूरणम्—गन्धाद्यलङ्करणम्—यागगेहशोधनम्—अर्धादिपरिकल्पनम्—प्रधानार्थ्यद्वितीयार्थविनियोगप्रकारः—कुम्भोपकुम्भादिस्थापनम्—पात्राचमनादिप्रतिपादनम्—कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनक्रमः—बलिदानम्—हविःपाकविधानं तद्विभागनिवेदनादिक्रमश्च—शिष्यस्य विष्टरोपरि प्रोक्षणादिसंस्काराः—सम्पादहोमः—अरुणसूत्रेण शिष्यस्य सूत्रात्मकवपुःकरणम्—संस्कारचक्रस्य क्रमशः षष्ठे मानसे पदे विलापनम्—वैभवीयाधिवासकर्मणोऽपरायामतिदेशः ।

**दीक्षाविधिनाम एकोनन्विशः परिच्छेदः**

३७८-४०९

कैवल्यफलदा—भोगकैवल्यदा—भोगदेति फलभेदसहितस्य विभवव्यूहपराख्यस्य दीक्षात्रयस्य विधानम्—शिष्यस्वप्नपरीक्षा—शुभाशुभस्वप्नानि—अशुभस्वप्नशान्तिः—कुम्भादिष्वर्चनक्रमः—निरीक्षणादिसंस्काराः—शिष्यस्य वैष्णवनामकरणम्—शङ्खचक्राभ्यां तापससंस्कारः—पञ्चसंस्कारविवेचनम्—भूतशोधनम्—स्त्रीशूद्रयोर्दीक्षायां विशेषः—पृष्ठाङ्गलिसमर्पणम्—शुद्धोपोषणं नक्तमोजनं वा—सूत्रप्रसारणम्—अधिभूताधिदैवाध्यात्मपदार्थविवरणम्—भाचार्यस्य शिष्यव्रह्मन्त्रद्वारा तदन्तःप्रवेशः—पृथिव्यादितत्वानां तदधीशमन्त्राणां च सहारकमेण सन्तर्पणम्—शिष्यचैतन्यस्य स्वहृदि संकरणम्—शिष्याय भुवनाध्वादीनामुपदेशः—शिष्यस्य पञ्चरावमुक्तविहङ्गमसादृश्यम्—क्षमातत्त्वादीनामन्येषां चाध्वनां संस्काराः—शिष्यचैतन्यस्य संवेदनिमुक्ते समाधौ विनियोजनम्—शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये होमः—षडध्वस्वरूपादेशः—षडध्वनां हेयोपादेयत्वविवेकः—शिष्यस्य ब्रह्मस्वरूपावाप्तिः—मन्त्राणामाजाप्रतीक्षकत्वम्—मन्त्रा भोगविरक्तं शिष्यं परब्रह्मण्यप्ययतां नयन्ति—वर्णाध्वविज्ञानोपदेशः—वर्णाध्वनश्चातुर्विध्याम्—द्वादशधारणोपदेशः—वर्णाध्वनि निष्णातः शब्दब्रह्माधिगच्छति—गुर्वर्चनादिक्रमः—वैभवदीक्षोपसंहारः—पञ्चाङ्गानां निरञ्गानां च मन्त्राणां दीक्षाप्रकारः—वैभवदीक्षाप्रकारस्य ब्रह्म(पर)दीक्षायां व्यूहदीक्षायां चातिदेशः—फलश्रुतिः ।

**अभिषेकविधिनाम विशः परिच्छेदः**

४१०-४१७

समयिपुत्रकादीनां सर्वेषामाचार्यस्यैव वाऽभिषेकः—अभिषेकविधानम्—बलिदानादिक्रम—विष्वक्सेनार्चनम्—सुधापानप्रकारः—गुरुपूजनम्—गुरुपादतीर्थपरिग्रहः—भागवतेभ्यो द्रष्टिक्षणादानम्—प्रातृभिः सह भोजनम्—गुरुनुगमनं पादप्रणविश्च ।

**समयविधिनार्मिकविशः परिच्छेदः** ४१८—४२८

दीक्षिताय नियमदानम्—नियमोपदेशसमये शिष्यस्य तत्सीकृतिप्रदानम्—समयाख्या-  
विविधा नियमः शिष्येण सावहितं पाठनीयः—शिष्यस्य निर्विहितां दृष्टवा तस्मै तदतुकूलाः  
समया उपदेष्टव्याः—निमिलनं मनसा समयानां पालने तत्साफल्यम्—कालुष्यमुक्तानां समय-  
पुत्रकसाधकार्याणां समयपालने शार्म भवति ।

**समयिपुत्रकादिलक्षणं नाम द्वार्चिशः परिच्छेदः** ४२९—४३६

समयिलक्षणम्—समयिलक्षणानि पुत्रकादिषु त्रिव्यष्ट्यनुवर्तन्ते—पुत्रकस्य विशेषलक्ष-  
णानि—साधकस्य विशेषलक्षणानि—आचार्यस्य विशेषलक्षणानि—दिव्य—मुनिभाषित—  
पौरुषमेदेन शास्त्रस्य त्रैविध्यम्—पौरुषं वाक्यमपि मुनिभाषितवृत्तमाननीयसु—स्वीकृ-  
यथायु इथितः प्रकाशनीया—साधकादीनां सुद्राचतुष्टयोपदेशः ।

**विभवदेवतापिण्डपदमन्त्रोदारो नाम त्रयोर्विशः परिच्छेदः** ४३७—४४१

विभवदेवानां पिण्डमन्त्रोदाराः—द्वयाद्यज्ञमन्त्रकल्पना वभवमुद्ग्राहर्दार्दिकं च  
पूर्वोक्तविधिना विषेयम्—दीक्षापूर्वकोर्चनादिभिर्शत्रुविष्टपुरुषार्थसाधकत्वमेपाम्—विभव-  
देवानां पदमन्त्राः—किरीटादिलाङ्गनंचक्रायुधमन्त्रोपदेशः—आयुधमन्त्रेषु फट्पदसयोजनम् ।

**प्रतिमापीठप्रासादलक्षणं नाम चतुर्विशः परिच्छेदः** ४४२—४९४

चित्रमृत्काष्ठशिलालोहमयत्वेन पञ्चविधानां बिम्बानां प्रत्येकं ब्राह्मणादिवर्णमेदेन  
चतुर्विध्यम्—बिम्बानां सकामनिष्कामविषयत्वम्—चित्रविम्ब-मृद्विम्ब—लोहविम्बनिर्माणा-  
दिकम्—शैलदारुग्रहणम्—विम्बमानादिनिर्देशः—विम्बे मानस्य सौन्दर्यस्य च समादरः—  
हयग्रीवविम्बमुखलक्षणम्—नृसिंहवक्त्रलक्षणम्—वराहवक्त्रलक्षणम्—हयग्रीवादीनां श्रीवाद्यव-  
यवलक्षणानि—सत्यसुपुर्णादिग्रहद्वयहलक्षणानि—वामनविम्बलक्षणम्—पीठकल्पनम्—प्रासाद-  
निर्माणविधिः—वास्तुपुरुषार्चनम्—अनन्तमुवनाख्यः प्रासादः—पञ्चायतनादिप्रासादः—  
द्वारप्रतिष्ठादिकम्—चतुरस्त्वर्वतुल-आयतादिप्रासादानां फलश्रुतिः ।

**प्रतिष्ठाविधिनार्मि पञ्चविशः परिच्छेदः** ४९५—५४७

भोगापवर्गफलदा मन्त्रविम्बप्रतिष्ठा—यागशालालक्षणम्—वेदिकालक्षणम्—वेदिकायां  
मण्डलादिस्थलविभागक्रमः—प्रागाद्यष्टदिक्षु कुण्डाष्टकम्—मण्टपोच्छ्रायः—स्नानगेहलक्षणम्—  
स्नानपीठलक्षणम्—द्वारतोरणलक्षणम्—तोरणध्वजस्थापनार्चनम्—ध्वजाष्टकस्थापनम्—सत्य-  
सुपर्णाद्यर्चनम्—विम्बस्य यागगेहप्रवेशनम्—स्नपनादिकम्—नयनोन्मीलनादिकम्—मण्डल-  
लेखनादिकम्—कलशैरभिषेचनादिकम्—आवाहनश्लोकचतुष्टयम्—विम्बसंमार्जनादिकम्—  
पीठब्रह्मशिलयोः संस्काराः—होमः—संनिरोधः—मूर्तिपायसभोजनादिकम्—प्रासादान्तःप्रवेशे  
विघ्नोत्सारणादिकम्—रत्नादिन्यासप्रकारः—पीठचक्रादिस्थापनम्—प्रतिष्ठालिङ्गमन्त्रपाठः—  
देवतान्यासक्रमः—विहगेशप्रतिष्ठा—अभिषेकप्रकारः—प्रासादसंशोधनम्—कारिप्रदानबलि-

दानादिकम्—प्रासादोपरि कुभस्थापनं प्रासादप्रतिष्ठा च—चक्रस्थापनम्—चक्रस्थ चातुर्विधम्—विभव देवानां प्रतिष्ठायां विशेषः—चतुर्विशतिभवोपकरणदेवानां मण्डले संनिवेशकमः पीठे नानुवर्तते—विम्बानां पृथड्निवेशनम्—प्रतोल्यादिभिः संहितस्य भगवन्मनिदरस्य श्वेतद्वीपसमत्वम्—विम्बमण्डलादिषु ब्राह्मणाद्यैवार्चुदेवादिमूर्तीनामाराघनम्—विम्बानां प्रणवादिना समाराधनम्—चलविम्बे विशेषः—जीर्णोद्धारविधिः—प्रतिष्ठाजीर्णोद्धारादिफलम्—मणिमय भूषणरत्नकवचादिसमर्पणफलम्—भगवद्भूषणाच्यपहर्तुर्निरयावाप्तिः—भागवतानामग्रहारादिपदातुः फलम्—भद्रपीठादिसमर्पणफलम्—भगवत्सन्धिघौ दानफलम्—संहितोपसंहारस्तत्कलउश्टिश्च ।

#### अनुक्रमणीभागः

सात्वतसंहिताशलोकार्धानुक्रमणी	....	....	.....	५४९
भाष्यगतग्रन्थग्रन्थकारनामानुक्रमणी	....	....	.....	६५०
अनिर्दिष्टस्थलानि भाष्योद्भूतवचनानि	....	....	.....	६५३
संहिताभाष्यगतस्त्रिशिष्टविषयानुक्रमणी	....	....	.....	६५८
तिरुपतिमातृकायां विशिष्टाः पाठाः	....	....	.....	६८२
तिरुपतिमातृकायां समानाः पाठाः	....	....	.....	६८५
शुद्धिपत्रम्	....	....	.....	६९५



सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्योपेता

# सा त्व त सं हि ता

अलशिङ्गभद्रविरचितभाष्योपेता

प्रथमः परिच्छेदः

‘विष्णोरागधनपरा मुनयो मलयाचले ।  
संस्थिताः सिद्धगन्धर्वविद्वाघरनिषेचिते ॥१॥

श्रीमद्वादशैलाग्रशेखरं सद्गुणाकरम् ।  
योगानन्दनृसिंहाख्यदैवतं पर्युषास्महे ॥

श्रीमन्नारायणोऽव्याद् यद्बुगिरिनिलयो यः<sup>३</sup> परं दिवग्रहरूपं  
सौषुप्तस्वप्नजाप्रतपदभिदुरमिदं चातुरात्म्यं च रूपम् ।  
रूपं वैशाख्यूपं विविधमपि वैभवं चापि विभ्रद्  
देवीभूषायुधाढ्यो विहगपतिरथः पाति लोकान् समस्तान् ॥

विश्वस्य भजतां नित्यं नश्वरेतरभोगदः ।  
शश्वत् सर्वार्थदो भूयाद् विश्वत्राता नृकेसरी ॥  
प्रणम्य शिरसाऽचार्यान् प्रतिष्ठापितभात्वतान् ।  
तदादिष्ठेन मार्गेण सात्वतार्थः प्रकाशयते ॥

<sup>३</sup>मलयाचले नारदस्यागमनम्

अत्र तावद् भगवान् भगवच्छास्त्रविशारदो नारदो महामुनिः साक्षाद् वासु-  
देवेन संकर्षणायोपदिष्टं स्वेन संकर्षणालब्धरहस्याम्नायसंज्ञितैकायनश्रुतेः सूत्ररूपं  
भगवत्प्राप्त्यैकोपायभूताभिगमनोपादानेज्यास्वाध्यायोगरूपकर्मविचारैः परव्यूहविभव-  
रूपव्यूहविचारैश्च गर्भितं पञ्चविंशतिलक्षणं सात्वतं तन्त्रमुष्यदेक्ष्यन् आदौ तदवतारक्रमं  
दर्शयति—विष्णोरिति ।

१. ‘श्रीगोविन्ददेवो जयति’ इत्येवम् उ० मातृकारम्भः । ततः परम्—“शुक्लाम्बरधरं विष्णुं  
शशिवर्णं चतुर्भुजम् । प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविद्धोपशान्तये ॥” इत्येष श्लोको दृश्यते—अ० उ० उ०  
उ० मातृकायां च—“यस्य द्विरदवक्त्राचाः पारिषद्याः परस्परम् । विघ्नं निघ्नन्ति सतर्तं विष्व-  
वसेनं तमाश्रये ॥” इति द्वितीयोऽपि श्लोको वर्तते । २. यं—म० । ३. नास्ति वाक्यमेतत्—म० ।

कालेन केनचित् स्वर्गाद् रामदर्शनलालसः ।  
 तत्रावतीर्णे देवर्षिनरदो भगवन्मयः ॥२॥  
 ज्ञात्वा तस्याचलां<sup>१</sup> भक्तिं देवः परशुलाङ्घनः ।  
 प्रत्यक्षमगमच्छश्वत्<sup>२</sup> सानुकम्पेन चेतसा ॥३॥  
 ततः प्रहृष्टवदनः<sup>३</sup> प्रोत्पुल्लपुलको मुनिः ।  
 पूजयामास तं देवमष्टाङ्गपतनादिना ॥४॥  
 अथाह भगवान् रामो मधुराक्षरया गिरा ।  
 तवास्ति भक्तिरचलां<sup>४</sup> जन्मबीजक्षयङ्करी ॥५॥

अत्रादौ विष्णुशब्दप्रयोगेण चिकिर्षितग्रन्थर्निर्विघ्नपरिसमाप्तिसाधकं निरवधिकमङ्गलं कृतं भवति । सिद्धगन्धर्वविद्याधरनिषेविते । देवतानामपि सेव्यत्वादितिपरिशुद्धमित्यर्थः । मलयाचले मलयपर्वते । मुनयः भगवद्गणशीला ऋषयः । विष्णोः जगद्व्यापनशीलस्य भगवतः । आराधनपराः सन्तः सर्वव्यापिनो भगवतः कुत्राराधनं कार्यम् ? कथं तद्विधानम् ? को वा उपदेक्ष्यतीति तदेकचित्ताः सन्त इत्यर्थः । संस्थिताः समित्युपसर्गेण चिरकालीना स्थितिः सूच्यते ॥१॥

### ८ नारदस्य परशुरामदर्शनम्

कालेनेति । तत्रैवंस्थितेषु मुनिषु । केनचित्कालेन कर्तिपयकालानन्तरमित्यर्थः । भगवन्मयः भागवताग्रेसरः । नारदो नाम देवर्षिः । रामदर्शनलालसः सन् परशुरामसेवासक्तः सन् । तत्र मलयाचले । स्वर्गादिवतीर्ण आविर्बभूव ॥२॥

अत्र मुनीन् सात्वतसास्त्रे प्रवर्तयेति नारदं प्रति रामोक्तिः—ज्ञात्वेति । परशुलाङ्घनो देवः परशुरामः । तस्य देवर्षेः । अचलां भक्ति स्वविषयकदृढाध्यवसायम् । ज्ञात्वा सानुकम्पेन निर्हेतुककृपान्वितेन । चेतसा प्रत्यक्षमगमत् दृष्टिविषयतां प्राप्तेत्यर्थः ॥३॥

तत इति । ततः तस्माद्देतोः । मुनिः नारदः । प्रहृष्टवदनः सन् सन्तोषोत्पुल्लमुखः सन् । प्रोत्पुल्लपुलकः सन् संजातरोमाङ्गवः सन् । तं देवं रामम् । अष्टाङ्गपतनादिना साष्टाङ्गप्रणामप्रदक्षिणस्तुतिप्रशनाद्युपचारैः पूजयामास ॥४॥

अथेति । अथ मुनेस्त्वाहकोलाहलानन्तरम् । भगवान् रामो मधुराक्षरया मनोहरवर्णसंदर्भया गिरा वाचा आह । नारदं प्रत्युवाचेत्यर्थः । वचनप्रकारमाह—तवेति ।

१. मलां—बक० बख० अ० । २. अतां जगामाशु—अ० मु० । ३. प्रोत्पुल्ल—बक०, प्रोद्धिन्न—मु० । ४. रघिका—अ० मु० । ५. नास्ति वाक्यमेतत्—म० ।

एषा तुं सात्वतीं शुद्धा नित्यमव्यभिचारिणी ।  
 तिष्ठन्ति मुनयोऽ ह्यत्र प्रार्थयाना हरेः पदम् ॥६॥  
 तान् सात्वते क्रियामार्गं मद्वाक्याद् याहि योजय ।  
 एव मुक्त्वा तु तं विप्रमृष्टीणां हितकाम्यया ॥७॥  
 जगामादर्शनं देवस्तस्माद् देशात् तटिद् यथा ।  
 स तु हृष्टमना वाक्यं शिरसा चाभिवाद्य तत् ॥८॥  
 निर्जगामार्चयित्वाऽथ पुष्पैः स्थानवरं तु तत् ।  
 अपश्यदाश्रमं चान्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥९॥

तब तु एषा भक्तिः एतादृशी भक्तिरेवास्ति । अस्मत्सकाशाललब्धव्यमुपायान्तरं नास्तीति भावः । तां भक्तिं विशिनष्टि—अचलेत्यादिपदपञ्चकेन । अचला चाञ्चल्यरहिता । जन्मबीजक्षयं करो संसारदुःखविनाशिनी । सात्वती सात्वतशास्त्रोदिता । भगवत्प्राप्त्येकोपायभूताऽभिगमनादिकर्माङ्गिकेति यावत् । तत एव शुद्धा अमिश्रेत्यर्थः । नित्यं निरन्तरम् । अव्यभिचारिणी अनन्यदेवताविषयेत्यर्थः । ‘एतादृश्या भक्तेस्तव विद्यमानत्वादस्मद्वर्णादृते तब प्रयोजनान्तरं नास्ति । किन्त्वेतेषां मुनीनामपि मोक्षोपायमुपदिशेत्यर्थः । तिष्ठन्तीति । हि यस्मात् कारणात् । अत्र अस्मिन् पर्वते । मुनयो हरेः पदं प्रार्थयाना मुमुक्षवः सन्तस्तिष्ठन्ति । तस्मात् तान् मुनीन् । सात्वते सात्वतशास्त्रोदिते । क्रियामार्गं अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्यायरूपशुद्धमार्गं इत्यर्थः । मद्वाक्याद्योजय याहि परमरहस्येऽपि मार्गेऽस्मदाज्ञागौरवेण मुनीन् प्रवर्तय, तदर्थं शीघ्रं गच्छेति भावः ॥४-६॥

एवमिति । देवः परशुरामः । एवं पूर्वोक्तरीत्या कृषीणां हितकाम्यया तं विप्रं नारदं प्रत्यक्त्वा तस्मादृशात् पर्वताम्नात् तटिद्यथा<sup>१</sup> विद्युदिव क्षणमात्रेण अदर्शनं जगाम, अन्तर्हितो बभूवेत्यर्थः ॥७॥

स इति । अथ भगवदन्तर्धनानन्तरम् । स नारदः । हृष्टमनाः सत् । तद्वाक्यं शिरसा अभिवाद्य, तदाज्ञां शिरसा धृत्वेत्यर्थः । तत स्थानवरं भगवदाविभविस्थानं केवलं पुष्पैरर्चयित्वा निर्जगाम, तस्मात् स्थानान्निर्गतः ॥८॥

अपश्यदिति । आथमम् कृषीणामावासस्थानमपश्यच्च । नानेत्यादिविशेषण-त्रयेणाऽऽथमस्यातिरामणीयक(तव)मुक्तं भवति ॥९॥

१. हि—वक० वख० । २. सात्त्विकी—वक० अ० मु० । ३. येऽत्र—वक० वख०, यत्र—अ० उ० । ४. दभि—वक० अ० । ५. तदन्यथा—अ० । ६. स्थानं परं—वक० वख० अ० उ० । ७. चाथ—वक० । ८. एतादृश—अ० । ९. यथा तथा—म० ।

तरुष्णफलैरादयं वापीकूपहदान्वितम् ।  
 सम्प्रहृष्टस्ततः स्तस्थैद्विजेन्द्रैरभिवादितः ॥१०॥  
 पूजितश्चार्घ्यं पाद्येन विनिवेशितविष्टरः ।  
 अथाऽन्नलिधराः सर्वे प्रोत्फुल्लैनयनाम्बुजाः ॥११॥  
 वदन्ति जन्मसाफल्यमध्य नस्तव दर्शनात् ।  
 श्रुत्वा तत्प्रीतिजनकं वाक्यं प्रणयपेशलम् ॥१२॥  
 नमस्कृत्य हृषीकेशं मुनिरप्याह नारदः ।  
 मन्ये कृतार्थमात्मानं नूनं विप्रवरा ह्यहम् ॥१३॥  
 भवद्विः सह सम्बन्धो यस्य मेऽस्मिन् शुभाश्रमे ।  
 उक्तोऽहं भवतामर्थे रामेणाविलष्टकमणा ॥१४॥

संप्रहृष्ट इति । ततः तदाश्रमदर्शनाद्वेतोः संप्रहृष्टः स नारदः, तत्स्थैः तदाश्रमस्थितैः, द्विजेन्द्रैरभिवादितः नमस्कृतः, अर्घ्यपाद्येन पूजितश्च सत् विनिवेशितविष्टरः विष्टरे विनिवेशितश्चेत्यर्थः ॥१०॥

अथेति । अथ उपचरणानन्तरम्, सर्वे मूर्यः प्रोत्फुल्लनयनाम्बुजाः सन्तः सन्तोषविकसितनेत्रकमलाः सन्तः, तव दर्शनाद्वेतोः, नः अस्माकम्, जन्मसाफल्यं जातमिति शेषः, इति वदन्ति, अवदन्ति भूतार्थक्त्वमङ्गीकार्यम् ॥११॥

१०श्रुत्वेति । नारदो मुनिरपि हृषीकेशं नमस्कृत्य प्रणम्य । अत्र प्रणामः शास्त्रोपदेशारम्भार्थक इति बोध्यम् । प्रणयपेशलं स्वकारूप्यमधुरम्, अत एव तत्प्रीतिजनकं तेषां मुनीनां संतोषजनकम्, वाक्यमाह उवाचेत्यर्थः ॥१२॥

मन्य इति । हे विप्रवरा मुनयः ! सोऽहमात्मानं कृतार्थं मन्ये कृतार्थोऽस्मीत्यर्थः । नूनं ध्रुवम् । हीति, प्रसिद्धार्थकः । यस्य मे अस्मिन् शुभाश्रमे भगवदविभाविस्थानतया अनेकभागवताश्रयतया च शुभावहे आश्रमे, भवद्विः सह संबन्धो जात इति शेषः । परमभागवतानां भवतां संबन्धादहं कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥१३॥

उक्त इति । यद्यस्माद् भवतामर्थे युष्माकं सात्वतमार्गप्रवर्तनरूपार्थे, अक्लिष्टकर्मणा रामेण अहमुक्तः, नियुक्त इत्यर्थः तत् तस्मात् साम्रतं यूयं सर्वे एकमनः सन्तः, अत्र मनश्शब्दस्य दिव्यत्वादकारान्तत्वं ज्ञेयम्, आकर्णयत शृणुध्वमित्यर्थः, तद्वाक्यमिति शेषः ॥१४॥

१. फलेना—बक० वख० उ० । २. हृदमृगाञ्चितम्—बक०, हृदमृगाञ्चितम्—अ० उ० ।  
 ३. स्तस्थै—अ०, स्तस्मै—उ० । ४. न्द्रैः सोऽभि—बक० वख० अ० उ० । ५. पादाद्यैवि—म० ।  
 ६. वदना—बक० । ७. ततस्त—बक० वख० अ० उ० । ८. मुनीन—बख० अ० उ० । ९. देवेना—  
 म० अ० उ० । १०. तत इति । ततस्तदनन्तरम्—म० ।

यत् तदेकमनाः<sup>१</sup> सर्वे<sup>२</sup> आकर्णयत् साम्प्रतम् ।  
अद्यप्रभृति देवेशमाराधयत् केशवम् ॥१५॥  
रहस्याम्नायविधिना शश्वत्मोक्षप्रदेन तु ।

ऋष्य उच्चुः

मुने चिरप्रपन्नानां<sup>३</sup> प्रकृष्टानां भवान् गतिः ॥१६॥  
नारायणपदं प्राप्तेयच्छ्रेयस्तत् प्रकाशय ।

<sup>४</sup> नारद् उवाच

यच्चोदितेन हृलिना ग्रागुवतं चक्रपाणिना ॥१७॥  
पारम्पर्यागतं तन्मे गदतः शृणुत द्विजाः ।

अद्येति । अद्यप्रभृति यूयं देवेशं सर्वदेवोक्तमं केशवं ब्रह्मास्त्रयोरपि स्वामिनं नारायणं शश्वत्मोक्षप्रदेन शाश्वतमोक्षफलकेन रहस्याम्नायविधिना सात्वतोक्तक्षेण आराधयत् पूजयत ॥१५॥

<sup>५</sup> नारदं प्रति ऋषीणां प्रार्थना

एवमुक्ता कृपयः प्रार्थयन्ते—मुने इति । प्रकृष्टानां प्रसिद्धनानाविधतपस्सद्ध-फलानाम्, तथापि चिरप्रपन्नानाम् उपायानुष्ठानपराणाम्, अस्माकमिति शेषः । भवान् आचार्यभूतस्त्वं गतिः प्राप्यः प्रापकश्च । स्वतः सिद्धफलानां किमुपायान्वेषणे-नेति न चिन्त्यमित्याहुः—नारायणपदप्राप्तेरिति । “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन” (कठो० २१२३) इति तपःप्रभृत्यलभ्यस्य “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (मुण्ड० ३१२३) इति सिद्धोपायकृष्णालभ्यस्य मोक्षफलस्य यच्छ्रेयसाथनभूतं भगवत्तीतिजनकं यत् कर्म तत् प्रकाशय ॥१६॥

यदिति । हे द्विजाः, <sup>६</sup>हृलिना संकर्षणेन चोदितेन चक्रपाणिना वासुदेवेन प्राक् त्रेतायुगादौ यदुक्तम् उपदिष्टम्, पारम्पर्यागितं गुरुर्पूर्वक्रमागतं तत् सात्वतं गदतो मे मत्सकाशात् शृणुत आकर्णयत ॥१७॥

१. हृदः—मु० । २. वर्मा—मु० वक० अ० उ० । ३. प्रसिद्धानां—दक० वख० उ०, भवतानां नो—मु० । ४. दं प्राप्तुं य—य० । ५. नारदः—मु० वक०, नारदः प्रत्याह—म० । ६. हरिणा—अटी० । ७. नास्ति वाक्यमेतत्—म० । ८. ‘भूत’ नास्ति—अ० । ९. साधनी—म० । १०. हरिणा—अ० ।

पुराजीते कृते ग्राप्ते त्रेताख्ये ह्यपरे युगे ॥१८॥  
 ईषदारकततां याते जगद्वातरि चाच्युते ।  
 आह सङ्कर्षणो विष्णुं ज्ञात्वा विनयवाजपि ॥१९॥  
 किमिदं देव पश्यामि तव रूपविपर्ययम् ।  
 प्रहस्योवाच भगवान् मेघगम्भीरया गिरा ॥२०॥  
 नायं स कालो यत्रासीत् सत्त्वैकबहुलो जनः ।  
 अद्य रागपरे लोकस्तद्वत् धारयाम्यहम् ॥२१॥

### सङ्कर्षण उवाच

कालस्वभावजः केन कर्मणा राग ईदृशः ।  
 नाच्छादयति लोकानां त्वद्वक्तानां विशेषतः ॥२२॥

पुरेति । पुरा पूर्वं कृते अतीते अतिक्रान्ते सति त्रेताख्ये अपरे युगमेदे प्राप्ते  
 सति जगद्वातरि अच्युते च वासुदेवे च ईषदारकततां याते “धर्ते सितादिकं रूपं चतुर्धा-  
 यत् कृते युगे । ३रक्ताख्यं सितनिष्ठं च त्रेतायां हि महामते ॥” (५।८७-८८) इति वक्य-  
 माणकमेण रक्ताङ्गे सतीत्यर्थः ॥१८॥

आहेति । संकर्षणो ज्ञात्वापि रक्ताङ्गताहेतुं विदित्वापि विनयवान् सत् गुरो-  
 रूपदेशेन ज्ञातव्यमित्याकारकविनययुक्तः सत् विष्णुं वासुदेवं प्रत्याह—किमिति । हे  
 देव तव रूपविपर्ययं वर्णमेदं पश्यामि । इदं कि कृतः प्राप्तमित्यर्थः । प्रहस्येति४ । भगवान्  
 वासुदेवः प्रहस्य५ मेघगम्भीरया गिरा मेघगर्जितसदृशगाम्भीर्ययुक्तया गिरा । अत्र  
 उपमानलुप्तालङ्कारः । गिरा वाचा संकर्षणं प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥१९-२०॥

नायमिति । यत्र यस्मिन् काले जनः सत्त्वैकबहुलः शुद्धसात्त्विक आसीत्, अयं  
 स कालो न, विभिन्न इत्यर्थः । अच्येति । अद्य अस्मिन् काले, लोको जनः, रागपरः  
 अनुरागपरः, अनुरागविशिष्टः । तद्वत् एतत्कालीनजनवत्, अहमपि तं रागं  
 धारयामि ॥२१॥

एवमुक्तः संकर्षणः प्रतिवदति—कालेति । कालस्वभावजः त्रेतायुगस्वभावजन्यः,  
 ईदृशो रागः केन कर्मणा विशेषतः, त्वद्वक्तानां लोकानामिति कर्मणि षष्ठी, भक्तजनान्  
 नाच्छादयति न तिरोधत्ते ॥२२॥

१. स्तद्वृत्तमिति सार्वत्रिको मूलपाठः, टीकानुसारी पाठोऽन्न मूलेऽपि स्थापितः । २. न  
 छादयति—बख० अ० मु० । ३. रक्ताख्यमिति मूलस्थः पाठः । ४. ‘प्रसङ्गेति’ नास्ति—अ० ।  
 ५. रहस्य—अ० ।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतम् ।  
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः ॥२३॥

सङ्कर्षण उवाच

भगवास्त्रिविधं ब्रूहि उपेयं ब्रह्मलक्षणम् ।  
हितार्थं च प्रपन्नानां व्यामोहविनिवृत्ये ॥२४॥

श्रीभगवानुवाच

षाढगुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम् ।  
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥२५॥

इति प्रेरितो भगवान् प्रत्याह—त्रिविधेनेति । त्रिविधेन प्रकारेण परब्रूहविभव-भेदेन शाश्वतं परं ब्रह्म श्रीमन्नारायणं ये जना आराधयन्ति, तेषां दूरतो रागस्तिष्ठतीति ॥२३॥

पुनः संकर्षण आह—भगवन्निति । हे भगवन्, त्रिविधं त्रिप्रकारम्, उपेयं प्राप्तवर्ष्यं ब्रह्मलक्षणं प्रपन्नानां व्यामोहविनिवृत्ये हितार्थं च अनिष्टनिरसनेष्ट-प्राप्त्यर्थं ब्रूहि वदस्वेत्यर्थः ॥२४॥

एवं पृष्ठो नारदः<sup>१</sup> परत्वादिलक्षणमाह—षाढगुण्येति । पाढगुण्यविग्रहं ज्ञानैरवर्य-शक्तिवलवीर्यं तेजोमयविग्रहम्, भास्वज्ज्वलनतेजसं सूर्यवत्तिसमप्रभम्, सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वव्यपिनमित्यर्थः । एवं भगवतः सर्वतः पाणिपादत्वादिकमनुमान-गम्यम् । तथा च जयाख्ये—

तथा समस्तमाक्षिप्तं यस्माद्वै परमात्मना ॥  
तस्माद्वै सर्वपाणित्वं सर्वगस्यानुमीयते ।  
नावच्छिन्नं हि देशेन न कालेनान्तरीकृतम् ॥  
अतः सर्वगतत्वाद्वै सर्वतःपात् प्रभुः स्मृतः ।  
ऊर्ध्वं तिर्यगधोयातैर्थोच्चैभसियेद् रविः ॥  
तद्वत् प्रकाशरूपत्वात् सर्वचक्षुस्ततो ह्यजः ।  
यथा सर्वेषु गात्रेषु प्रधानं गीयते शिरः ॥

१. ‘भगवान्’ इति युवतः पाठः । २. अत्र ‘उच्चैः’ इत्यस्य स्थाने ‘उन्नैः’ इति जयाख्यसंहितासंपादकपरिकल्पितः पाठः साधुः । उन्नैः किरणैरित्यर्थः ।

‘परमेत् समाख्यातमेकं सर्वाश्रयं प्रभुम् ।  
एतत्पूर्वं त्रयं चान्यज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः ॥२६॥  
विद्धि तद् व्यूहसंज्ञं ‘सद्’ निःश्रेयसफलप्रदम् ।

भवेऽस्मिन् प्राकृतानां तु न तथा तस्य सत्तम् ।  
ममत्वात् पावनत्वाच्च सिद्धः सर्वशिराः प्रभुः ॥  
यथाजन्तरसाः सर्वे तस्य सन्ति सदैव हि ।  
सर्वत्र वान्तस्पस्य अतः सर्वमुखः स्मृतः ॥  
सत्त्वराशिर्यतो विद्धि स एव परमेश्वरः ।  
सर्वतः श्रुतिमांश्चासौ॒ यथा दृक्श्रावकोरगः ॥(४।७६-८२) इति ।  
एकमद्विनीयम्, निःसमाभ्यधिकमिति यावत् । सर्वाश्रयं निखिलजगदाधारम्, प्रभुं  
जगन्न्वामिनं देवं परवासुदेवं परमिति समाख्यातम् । तदेतत् परत्वविशिष्टं ब्रह्म  
सद् विद्वीत्यनुषङ्गः ॥२५॥

एवं परलक्षणमुक्त्वा व्यूहलक्षणमाह—एतदिति । एतत्पूर्वम् एष परवासुदेवः  
पूर्वं प्रथमो ग्रस्य तद् तथोक्तम् । ज्ञानाद्यैर्गुणैर्भेदितम्,

वल्संविलतेनांश्च ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे ॥  
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भावेऽविष्टते ।  
तेजश्चाक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः ॥ (३।६-७)

इति वक्ष्यमाणप्रकारेण तत्तद्विष्णुभेदितम् अन्यत् त्रयं संकरणप्रद्युम्नानिरुद्धत्रयम् ।  
एवं च वासुदेवसंकरणप्रद्युम्नानिरुद्धत्रुष्टयम् । व्यूहसंज्ञं तद् ब्रह्म सद् निःश्रेयसफल-  
प्रदं मोक्षफलप्रदं च सद् विद्धि ॥२६॥

अथ विभवलक्षणमाह—मुख्येति । मुख्यानुवृत्तिभेदेन ज्ञानादिभिर्गुणैर्युतम्, अस्य  
विभवावतारममूहस्य अनिरुद्धोत्पन्नत्वात् स्वकारणेऽनिरुद्धे यथा शन्तिर्जसोर्मुख्यत्वं  
ज्ञानादिगुणत्रुष्टयस्यानुवृत्तत्वम्, तथा मुख्याभ्यां शक्तिजोभ्यामनुवृत्तैर्जनादिगुणैऽन्न-  
युक्तमित्यर्थः । विभवदेवानामनिरुद्धोत्पन्नत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः ॥  
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते । (२।५८-५९ इति ।)

१. एष श्लोको नास्ति-उ० । २. तथा-मु० उ० । ३. इतः परं २२-२३ संख्याकौ श्लोकौ  
पृष्ठरूप्यत्र दृश्येते, ‘संकरण उच्चाच’ इति च-अ०; तद् द्विरावृत्तिमात्रम् । ४. पूर्वत्रयं-मु० बक०  
बक० उ० । ५. ‘वै’ इति मार्विकः पाठः । टीकानुरोधेनात्र मूले ‘सद्’ इति पाठः स्थापितः ।  
६. निरायास-मु० । ७. शब्द-मु० । ८. इच्छातो-मु० । ९. ‘नैव’ इति मूलस्थः पाठः ।

मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैः ।  
नानाकृतिं<sup>१</sup> च तद् विद्धि वैभवं<sup>२</sup> भुक्तिमुक्तिदम् ॥२७॥

‘विभोः<sup>३</sup> शक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः’ (३।७) इत्यनिरुद्धस्य तेज-  
शक्तिगुणकल्पमुक्तम् । तस्मिन् ज्ञानादीनामनुवृत्तत्वेष कि मानसिति चेत् ? ‘विभोः  
शक्त्या’ (३।७ इत्यादिना) तद्वक्त्वा तृतीये परिच्छेदे । स्पष्टमुक्तं लक्ष्मीतन्वेऽपि—

प्रद्युषेकगुणोन्मेषस्तदाप्येते हि पञ्चगुणाः ।

अन्यूनानधिकाः सर्वे वासुदेवात् सनातनात् ॥ (४।२१) इति ।

यद्वा मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैरित्यस्य पूर्वेणैवान्वयो ज्ञेयः । नानाकृतिं  
पद्मनाभादिभेदेन नानाविधाकारं देवं वैभवं तद् व्रह्म सद् विद्धि । भुक्तिमुक्तिकल्पद्रदं  
च सद् विद्वीति परब्यूहविभवलक्षणान्युक्तानि ।

तथा चैवमेव क्रोडोकृतानि परादिलक्षणानि सहस्रनामभाव्ये—“परब्यूहविभवा-  
त्मना त्रिविधं परं ब्रह्मेति भागवतसिद्धान्तः । तत्र परं नामाकार्यं कार्या(दन)वच्छिन्न-  
पूर्णाङ्गाङ्गुण्यमहर्णदोलकलिकैकातपत्रीकृतनिस्समनित्यभोगविभूतिकं मुक्तोपसृष्ट्यमन्ते-  
पाधिकमवस्थानम् । व्यूहश्च मुमुक्षुसिसृक्षया प्रदेयसृष्टिस्थितिलयाः शास्त्रतदर्थ-  
तत्फलानि ध्यानानाराधने लीला चेतीदृशकार्योपयुक्तविभक्तपरगुणरूपव्यापारशीकरब्यूह-  
निर्वाहितलीलाविभूतिकं मुक्तिसाधकं चतुर्धार्वस्थानम् । विभवश्च तच्छायः सुरनरतिर्य-  
गादिः स्वविभवसजातीय ऐच्छः प्रादुर्भाविवर्गं इति । … तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्,  
यथा मत्स्यकूर्मदियः । अन्ये तु क्रष्णादिविशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन, यथा भागवतामकृष्ण-  
द्वैपायनादयः । अपरे काले शक्त्यावेदोन, यथा पुरुञ्जयादिपु । इतरे च व्यक्तिपु-  
स्वयमेवावतीर्य, यथाचावतार इति चतुर्धा” (पृ० १८२) इति ।

नन्वचावतारस्यापि प्रादुर्भाविष्वन्तर्भावो वक्तव्यः । यद्वा—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो<sup>४</sup> विभोः ॥

अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते ।

अर्चापि लौकिकी या सा भगवद्वावितात्मनाम् ॥

मन्त्रमन्त्रेवरन्यासात् सापि पाङ्गुण्यविग्रहा ।

पराद्यचावतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्पद्ये ॥

तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः । (२।५८-६१)

इति लक्ष्मीतन्वाद्युक्तरीत्याऽर्चावतारस्य प्रथमनिर्देशः कार्य इति चेत् ? त्रूमः । अर्चावि-

१. कृति-मु० । २. विभवं-उ० । ३. तेजःशक्त्यात्मना-इति मूलस्त्रः पाठः ।

४. वृत्तत्वेन-अ० । ५. स्तथा-मुद्रितः पाठः । ६. पाणिकाव-अ० म० । ७. ‘नाभादयो’  
इत्यभयमातृकापाठः ।

इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां शशनप्रतिवचनं<sup>२</sup> नाम  
प्रथमः परिच्छेदः ॥

तारस्य यत्र यत्र प्रथमनिर्देशः कृतस्तत्र न विवादः । श्रीसात्वतसंहितायां तु परब्रह्म-विभवाख्यत्रिविधभेदानामेव प्रतिपादितत्वात् तदनुसारेण श्रीमत्पराशरभट्टारकैरच्चवितारस्यापि<sup>३</sup> दर्शितः । स कथमुपपद्यते, यतः परब्रह्मविभवानां त्रयाणामप्यचार्हपत्वसंभवाद् अर्चावितारस्य परादिषु त्रिषु च विभवेष्वेवान्तर्भावित उक्तः ।

वस्तुतस्तु वासुदेव(संकर्षण)प्रद्युम्नानिरुद्धाख्यब्रूहानामेव श्रीकृष्णबलभद्र-प्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां यथा विभवत्वमेव न व्यूहत्वम्, तथा परब्रह्मविभवानामचार्विताररूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां विभवेष्वेवान्तर्भावितः, न तु परब्रह्मयोरिति भट्टारकाणामाशयः । यतः—

गुणकल्पनयाऽध्यस्तो गुणोन्मेषकृतक्रमः ।  
मूर्तीभूतं गुणश्चेति त्रिधा<sup>४</sup> मार्गोऽप्यमङ्गुतः ॥ (२१३९)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तमूर्तीभूतगुणत्वरूपं विभवत्वं विभवाचार्वितारयोहभयत्रापि समानम् ॥२७॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वर्चरणकमलाचकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये प्रथमः परिच्छेदः ॥

१. पञ्च-उ० । २. वचनो-ब्रक० बख० उ०, वचो-अ० । ३. त्रिष्वेवान्तर्भावित दर्शित इति ग्रन्थयोजना । ४. वेष्वन्त-म० । ५. 'या ध्वस्तो' इत्युभयमातृकापाठः । ६. कृत-म० । ७. क्रिया-म० । ८. गिरीश-म० ।

## द्वितीयः परिच्छेदः

नारद उवाच

श्रुत्वैवमच्युतमुखाद् देवदेवो हलायुधः ।  
हितार्थं भवभीतानां पुनराह द्विजोत्तमाः ॥१॥

सङ्कर्षण उवाचः

विधिनां कीदूशेनैव ह्यपासा विहिताऽत्र वै ।  
उपासकानां भक्तानां समासाद् ब्रूहि मे विभोऽ ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु सम्यक् प्रवक्ष्यामि यदहं चोदितस्त्वया ।  
यज्ञात्वा न पुनर्जन्म पुनरेवाप्नुयान्नरः ॥३॥  
ब्राह्मणानां च सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम् ।  
लक्ष्यभूतं यदासृष्टेऽदिस्थमधिकारिणाम् ॥४॥

अथ द्वितीयः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह आदौ वासुदेवसंकर्षणयोर्भगवदुपासनप्रकारविषयकप्रश्नप्रतिवचनक्रममाह—श्रुतेयादिक्लोकत्रयेण ॥ १-३ ॥

एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वततन्त्रमुपदेक्ष्यामीत्याह—ब्राह्मणानामिति सार्धत्रयेण । सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनां सच्छब्दब्रह्मशब्दवासुदेवशब्दवाच्यवस्तुमात्राचर्त्तव्यराणामित्यर्थः । ब्राह्मणानां लक्ष्यभूतं विषयभूतम् । देवतान्तरथाजिनां ब्राह्मणानामदर्शनीयमिति भावः । अत एव अधिकारिणां शुद्धयाजिनां हृदिस्थम् अतिगोप्यमित्यर्थः । विवेकदं हेयोपादेयविवेकप्रदं परं श्रेष्ठं ब्रह्मोपनिषदं तथाविद्यसंज्ञकम्, उप समीपे निषीदतीति उपनिषदिति । सर्वोपनिषदामपि भगवत्समीपवर्तित्वेऽप्यत्र ब्रह्मोपनिषदित्यनेन ब्रह्मणोऽव्यवहितसमीपवर्तित्वं सूच्यते । यद्वा ब्रह्मात्रप्रतिपा(द?दि)का उपनिषदिति वा अ?त्यर्थः । दिव्यमन्त्रक्रियोपेतम्

दिव्यैर्बलादिकैर्मन्त्रैः साक्षात् तत्प्रतिपादकैः ।

अलङ्कृतमसंदिग्धमविद्यातिमिरापहम् ॥ ( ई० सं० १२१ )

१. नास्ति—मु० बक०, नारदः—बख० । २. नास्ति—मु० बक० बख० । ३. प्रभो—अ० ।

४. यदाहं—बख० अ० उ० ।

विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोषनिषदं महत् ।  
 दिव्यमन्त्रक्रमोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ॥५॥  
 तादृक् परिसृतं तस्माज्जगदुद्धरणाय च ।  
 तदाद्यमुपदेश्यामि यद्भूदैर्वहुभिः स्थितम् ॥६॥  
 सिद्धिमोक्षप्रदं शुद्धं सरहस्यमसंकुलम् ।  
 अष्टाङ्गयोगसिद्धानां हृद्यागनिरतात्मनाम् ॥७॥  
 योगिनामधिकारः स्यादेकस्मिन् हृदयेशये ।  
 व्यामिश्र्यागशुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् ॥८॥

इत्याद्युक्तप्रकारेण बलादिमन्त्रसंहितम्, मोक्षमात्रफलप्रदं यच्छास्त्रमेकायनश्रुतिस्थं  
शास्त्रम्, तस्मात्मूलवेदाद् जगदुद्धरणाय परिसृतम् ।

परित्यज्य परं धर्मं मिश्रधर्मसुपेयुबाम् ।  
 भूयस्तत्पदकाङ्क्षाणां अद्वाभक्तीं उपेयुषाम् ॥  
 अनुग्रहार्थं वर्णनां योग्यतापादनाय च ।  
 तथा जनानां सर्वेषामभीष्टफलसिद्धये ॥  
 मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽनुष्ठुभेन च ।  
 सात्वतं पौष्टकरं चैव जपाख्येत्येवमादिकम् ॥  
 दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्तवा संकर्षणादिभिः ।  
 प्रवर्तयामास भूवि सर्वलोकहितैषिभिः ॥ (ई० सं० १४८-५१)

इत्युक्तत्वात् । क्रमं तादृग् मूलवेदसदृगम्, सिद्धिमोक्षप्रदं भोगापवर्गदम्, काम्यफलप्रदत्वेऽपि  
भगवन्मात्रविषयत्वात् । परिशुद्धं सरहस्यं नानाविधरहस्यमन्त्रसंहितम्, असंकुलं  
देवतान्तरैरमिश्रं यद्विव्यशास्त्रं बहुभिर्भेदैः स्थितं नानासंहिताभेदभिन्नम्, तदाद्यं  
तस्मिन् दिव्यशास्त्रे आद्यं प्रथमं सात्वततन्त्रमित्यर्थः । उपदेश्यामि भवत इति  
शेषः ॥ ४-६ ॥

परब्यूहविभवभेदेन तदधिकारिभेदात् दर्शयन् आदौ परस्य भगवतोऽर्चने  
योगिनामधिकारमाह—अष्टाङ्गेति ॥ ७ ॥

वेदपारगाणामपि तदुक्तदेवतान्तरव्यामोहरहितानामेव ब्राह्मणानां परब्यूहार्चने  
समन्त्रमधिकारं व्यामिश्रयाजिनां तदभावं चाह—व्यामिश्रेति ॥ ८ ॥

१. मार्गसमो—मु० । २. क्रियो—अटी० । ३. मोक्षमात्रफलप्रदम्—अटी० । ४. श्रुतं—  
बख० उ० । ५. स्यं महाफलम्—मु० । ६. राग—उ० । ७. हृतम्—म० । ८. कितमुपे—अ० ।  
९. तच्छास्त्र—अ० ।

समन्त्रै तु चतुर्व्यूहे त्वधिकारो न चान्यथा ।  
 त्रयाणां भत्रियादीनां प्रपञ्चानां च तत्त्वतः ॥१॥  
 अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे ।  
 सक्रिये मन्त्रचक्रे तु वैभवीयेऽविवेकिनाम् ॥१०॥  
 ममतासन्निरस्तानां स्वकर्मनिरतात्मनाम् ।  
 कर्मवाङ्मनसैः सम्यग् भक्तानां परमेश्वरे ॥११॥  
 चतुर्णामधिकारो वै प्राप्ते दीक्षाक्रमे सति ।  
 एवं सम्प्रतिपन्नानां मन्त्रपूर्वं यथास्थितम् ॥१२॥  
 विधानमेकमूर्तीयं समाकर्णय साम्प्रतम् ।  
 प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्ते धरातले ॥१३॥

‘तदा भगवदेकप्रपत्तिनिष्ठानामेव क्षत्रविट्छूद्राणां व्यूहार्चनेऽमन्त्रमधिकारमाह—  
 त्रयाणामिति ॥९॥

अहङ्कारममकारग्रस्ततया विवेकरहितानामपि स्वकर्मनिष्ठानां भगवद्भक्तानां  
 दीक्षितानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि विभवार्चने समन्त्रमेवाधिकारमाह—सक्रिय इति  
 द्वाभ्याम् । अत्र वैभवीयेऽविवेकिनामित्यत्र अविवेकिनामिति पदच्छेदः । नह्यत्र विवेक-  
 रहितरर्चनीयत्वोक्त्या विभवमेदानामपकर्षः शङ्कृतीयः, अपि तु सौलभ्यातिशयेन उत्कर्षं  
 एव सिध्यति । इत्थमेवोपबूहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽयि—

सुसिद्धयोगतत्त्वानामधिकारः परात्मनि ।  
 व्यामिश्रैशागयुक्तानां मध्यानां व्यूहभावने ॥  
 वैभवीयादिरूपेषु विवेकविधुरात्मनाम् ।  
 अहन्ताममतार्तानां भक्तानां परमेश्वरे ॥  
 अधिकारस्य वैषम्यं भक्तानामनुदृश्य सः ।  
 भजते विविधं रूपं परव्यूहादिशब्दितम् ॥ (११४८-११ )

इति ॥ १०-११ ॥

एवं स्वस्वाधिकारानुरोधेन संप्रतिपन्नानां हिततमं साक्षात् परस्यार्चनविधान-  
 मादौ शृणुवेत्याह—एवमिति ॥ १२ ॥

तन्मन्त्रोद्घारार्थं चक्ररचनामाह—प्रशस्त इति ॥ १३ ॥

१. समन्त्रे-सार्वत्रिकः पाठः । २. विलो-मू० । ३. मान-उ० । ४. वृत्ते-अ० उ० ।
५. ‘तदा’‘माह’ नास्ति-अ० । ६. कृति-अ० । ७. योग-मू० । ८. तान्तानां-अ० ।
९. भाव-मू० । १०. वर्णचक्र-म० ।

‘सुधृपितेऽर्थपुष्पाद्ये वर्णचक्रं प्रसाध्यै च ।  
 यस्मिन् प्रतिष्ठितं विश्वमात्रहभुवनान्तिकम् ॥१४॥  
 येनोदितेन जगतः प्रभवः समनन्तरम् ।  
 स्वात्मन्युपरते यस्मिन् प्रलयः सम्प्रजायते ॥१५॥  
 ग्रेकं चन्द्रस्थीभ्यां सवाहाभ्यन्तरं तु यत् ।  
 नित्योदितं यदक्षस्थं वर्णमीश्वरवाचकम् ॥१६॥  
 यत्र स्थानविभागेन वागात्मा भगवान् स्थितः ।  
 अकाराद्यो विसर्गान्तः सौरचान्द्रः कलागणः ॥१७॥  
 हस्वदीर्घविभागेन नाभौ यत्र द्विषट्कः ।  
 कादिभान्तोऽप्यरान्तस्थः प्राकृतस्तत्त्वं सञ्चयः ॥१८॥  
 पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तोऽ युग्मयोगेन लाङ्गलिन् ।  
 कलनादेहभृत् कालो नेमिगो नवलक्षणः ॥१९॥

“मन्त्राणां जननी साक्षात्मम वाद्यमयी तनुः” (लक्ष्मी० २३।१।) इति ००व(र्ण)-  
 चक्रस्य साक्षाद् भगवच्छरीरकत्वात् तस्य निखिलजगदाधारत्वं सृष्ट्यादिहेतुत्वं चाह—  
 यस्मिन्निति द्वाभ्याम् ॥१४-१५॥

तत्र प्रणवादिवर्णस्थितिक्रममाह—नित्योदितमित्यादिभिः ॥ १६ ॥

अकाराद्यो विसर्गान्त इत्यत्र अकारादीनां हस्वानामष्टवर्णानां सौरत्वा-  
 दालोकात्मकत्वम्, आकारादीनां दीर्घणामष्टानां चान्द्रत्वाद् द्रवतात्मकत्वं चोक्तं  
 जयार्थ्ये—

आलोकस्तीक्ष्णता व्यासिर्गहणं क्षेपणेरणे ॥  
 पाकः प्राप्तिरिति ह्यष्टौ सूर्यभागे व्यवस्थिताः ।  
 अकारादिषु हस्वेषु वर्णेष्वेतेष्वनुक्रमात् ॥  
 द्रवता शैत्यभावश्च तृप्तिः कान्तिः प्रसन्नता ।  
 १९रसतास्वाद॑२ आनन्दो ह्यष्टौ चान्द्रा ३इमा मताः ॥

१. सुदी-अटी० । २. प्रसार्य-अ० । ३. यथा-वस्त० उ०, यदा-अ० । ४. वर्णितमा-  
 वख० । ५. ‘विसर्गान्तः’ “कलनादे” नास्ति-बक० । ६. सौरं चान्द्रं-मु०, सौरचान्द्र-अ० ।  
 ७. स्तत्र-मु० बक० उ० अ० । ८ त्यन्त-मु० बक० । ९. कलिना-मु० बक० । १०. परशु-  
 अ० । ११. रस्यता-म० । १२. ह्लाद-मु० । १३. स्त्वमा-मु० ।

मकाराद्यो हवर्णान्तो यत्र प्रधिगणे स्वयम् ।  
 कालवैश्वानरः सासान्मार्ताण्डायुतसन्निभः ॥२०॥  
 ज्वालाऽयुतसहस्राद्यो वर्णान्तो भगवान् स्थितः ।  
 आमध्यात् प्रधिपर्यन्तां<sup>१</sup> नमोन्तां वर्णसन्ततिम् ॥२१॥  
 उच्चार्याध्यार्थादिनाऽभ्यर्थ्यं विद्वाबीजं हि चक्राट् ।  
 ततः समुद्दरेन्मन्त्रं परमात्मनि वाचकम् ॥२२॥  
 गलन्तममृतप्रख्यमचिरान्मोक्षसिद्धिदम् ।  
 अक्षस्थमुद्दरेत् पूर्वं नेमि॒पष्ठमनन्तरम् ॥२३॥  
 नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं द्वितीयमिदमक्षरम् ।  
 द्वितीयं दश॑संख्याच्च तदधश्चाष्टमात् परम् ॥२४॥  
 नाभेस्त्रयोदशोपेतं द्वितीयमिदमक्षरम् ।  
 'अथ द्वितीयं नवमान्नाभितुर्यादिनान्वितम्' ॥२५॥

आकारादिषु दीर्घेषु संस्थिता मातृकात्मना ।  
 अविनाभावरूपेण अन्योन्येन सदैव हि ॥  
 अष्टानामपि चाष्टौ तु संस्थिता बहिरन्तरे । ( ६१३-१७ )

इति ॥ १७-२५ ॥

वर्णचक्रार्चनपूर्वकं मन्त्रमुद्दरेदित्याह—आमध्यादिति द्वाभ्याम् । चक्राट् वर्णचक्रमित्यर्थः । ११विभक्तिविनिमयश्छान्दसः । तथा चात्रैव प्रयोगः—प्रवास्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्तेऽर्थपुण्ड्राद्ये सुधृपिते धरातले द्वादशारं चक्रं विलिख्य तन्मध्येऽक्षस्थाने प्रणवं नाभी अकारादिविसगन्तिनान् पोडशस्वरान्, द्वादशारेषु प्रत्यरं वर्णयुग्मक्रमेण ककारादिभकारान्तानि चतुर्विशतिवर्णानि, नेमिभागे मकारादिहकारान्तवर्णनवकम्, १२प्रविगणे क्षकारं च विलिख्य आमध्यात् प्रधिपर्यन्तं वर्णपरम्पराम् ३० ओं नमः, ३० अं नम इत्यादिक्रमेणोच्चायाध्यार्थादिभिरभ्यर्थ्यं मन्त्रमुद्दरेत् ॥ २२-२३ ॥

तत्प्रकारमाह—(ततः स?अक्षस्थ)मुद्दरेदित्यादिभिः । पूर्वमक्षस्थं प्रणवमुद्दरेत् । अनन्तरं नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं आकारेण युक्तं नेमिष्ठं शकारमुद्दरेत् । अथ

१. विसगन्तिं-मु०, महामत्तो-अ० । २. पृथ्वीगणः-मु० । ३. दीर्घितिः-बक० वब० अ० उ० । ४. पर्यन्तं नमोन्ता वर्णसन्ततिः-मु० । ५. नेमे-मु०, नेमे-अ० । ६. 'द्वितीयं...मक्षरम्' नास्ति-अटी० । ७. संयोगि तदादौ चाष्टमात्मरम्-मु० । ८. तृतीय-वब० अ० उ० । ९. 'अथ...अक्षरं' नास्ति-उ० । १०. ऋतम्-बक० । ११. 'विभक्तिं...' श्छान्दसः' नास्ति-अ० । १२. प्रथा-म० ।

द्वितीयमष्टमाद् वर्णं केवलं विद्धि पञ्चमम् ।  
 विज्ञानपदमादाय त्रयक्षरं तदनन्तरम् ॥ २६ ॥  
 आद्यमेकादशाद् वर्णं भिन्नं नाभ्यपरेण तु ।  
 नेमेस्तृतीयवर्णस्य ततस्तमुपरि न्यसेत् ॥ २७ ॥  
 मन्त्राणां नवमं ह्येतद् दशमं मे निवोधतः ।  
 नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं प्राप्तवर्णं चाष्टमारगम् ॥ २८ ॥  
 नेमेद्वितीयं तदनु नेमेरादाय चाष्टकम् ।  
 तदुद्देशात् तृतीयं च स्थितं तत् पञ्चमोपरि ॥ २९ ॥  
 त्रयोदशमिदं विद्धि नवमादपरं ततः ।  
 षष्ठस्य नेमिवर्णस्य चोर्ध्वे तत्त्वितयं न्यसेत् ॥ ३० ॥  
 युक्तं नाभितृतीयेन पूर्वथ षोडशमुच्यते ।  
 द्वितीयं दशमाद् वर्णन्नाभ्येकादशसंयुतम् ॥ ३१ ॥  
 चैतन्यायपदं दद्यात् सनमस्कमतः परम् ।  
 द्वाविंशाणो ह्यं मन्त्रः पदैः षड्भिरलङ्घतः ॥ ३२ ॥

दशसंख्या(द) द्वितीयं दशमारस्थधकारयोर्द्वितीयं नकारमुद्भूत्य तदथः अष्टमात् परं अष्टमादराद् द्वितीयवर्णं तकारं संयोज्य तन्नाभेस्त्रयोदशोपेतम् ओकारान्वितं कुर्यात्, ततो नवमाद् द्वितीयं द्वितीयं द्वितीयं नाभितृतीयेनाक्रान्तम् इकारेणान्वितं कुर्यात्, अथ अष्टमाद् द्वितीयं वर्णं तकारं केवलमुद्भरेत् । अथ विज्ञानेति वर्णत्रयमुद्भरेत् । तत एकादशादायं पकारं नाभ्यपरेण आकारेण भिन्नं संयुक्तं कृत्वा तन्नेमेस्तृतीयस्य वर्णस्य रेफस्योपरि न्यसेत् । अथ १०नाभिद्वितीयेनाक्रान्तम् ओकारयुक्तम् अष्टमारगं प्राप्तवर्णं नकारमुद्भरेत् । तदनु नेमेद्वितीयं यकारमुद्भरेत् । ततो नेमेरष्टकम् ११सकारमुद्भरेत् । ततस्तत्पञ्चमोपरि वकारोपरि स्थितं तदुद्देशात् तृतीयं रेफमुद्भरेत् । ततो नवमादपरं दकारमुद्भरेत्, अथ षष्ठस्य नेमिवर्णस्य शकारस्योर्ध्वे तत्तृतीयं रेफं न्यसेत् । तन्नाभितृतीयेन इकारेण युक्तं कुर्यात्, अथ दशमाद् द्वितीयं वर्णं नकारं नाभ्येकादशसंयुतम् एकारान्वितं कुर्यात् । ततः सनमस्कं नमस्कारशिरस्कं चैतन्यायेति चतुरक्षरं पदमुद्भरेत् ।

१. मन्त्रान्तं—म०, मन्त्रार्ण—अ० उ० । २. धतु—म० वक० वख० अ० । ३. मम—उ०, गम—अटी० । ४. ऊर्ध्वे—वक० वख० अ० उ० । ५. अथ—वक० वख० अ० उ० ।  
 ६. य—म० । ७. घकार—अ० । ८. भका—अ० । ९. मितृ—म० । १०. नेमि—म० ।  
 ११. एकार—म० ।

तत्रैकार्णं पदं ज्ञानं चतुर्वर्णं पदं बलम् ।  
षडक्षरं चाप्यैश्वर्यं वीर्यं पञ्चाभरं परम् ॥ ३३ ॥

तथा च 'अं शान्तोदितविज्ञानप्राणाय सर्वदर्शिने चैतन्याय नमः' इति 'द्वार्विशाक्षरः  
षड्भिः पदैरलङ्घकृतो मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २४-३२ ॥

तेषामेव षण्णां पदानामक्षरसंख्याकथनपूर्वकं ज्ञानादिगुणवाचं कृत्वमाह—तत्रेति  
सार्थेन । अथ बलस्य ज्ञानोपसर्जनत्वात् तदव्यवहितमेव तदुक्तम् । एवमेव ऐश्वर्योप-  
सर्जनं वीर्यम्, वीर्यशक्त्युपसर्जनं तेजश्चोक्तमिति ज्ञेयम् । बलादीनां ज्ञानाद्युपसर्जनत्वं  
सुस्पष्टमुपबृहितं लक्ष्मीतन्त्रे—

तिस्रो मम स्वभावाख्या विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ॥  
उन्मिषत्यः पृथक् तत्त्वत्रयेण परिकीर्तिताः ।  
बलं वीर्यं तथा तेज इत्येतत्तु गुणत्रयम् ॥  
श्रमाद्यविद्याभावाख्यं ज्ञानादेहुपसर्जनम् । (२१४९-५१) इति ।  
वस्तुतस्तु ऐश्वर्यादिपञ्चकमपि ज्ञानधर्मं इति<sup>१</sup> विज्ञेयम्,  
ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः ।  
शैषमैश्वर्यवीर्यादि ज्ञानधर्मः सनातनम् । (२१२५-२६)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्ते । ज्ञानादीन्यपि तत्रैव विवृतानि—

अहमित्यान्तरं रूपं ज्ञानरूपमुदीर्यते ॥  
प्रकाशकादिकं रूपं स्फटिकादिसलक्षणम् ।  
अत ऋत्यज्ञानरूपत्वं मम नारायणस्य च ॥  
अव्याहृतिर्युद्यन्त्यास्तदैश्वर्यं परं मम ।  
इच्छेति सोचत्वे तत्तत्त्वशास्त्रेषु पण्डितैः ॥  
जगत्प्रभृतिभावो मे यः सा शक्तिरुदीर्यते ।  
सृजन्त्या यच्छ्रमाभावो मम तद्वलमिष्यते ॥  
भरणं यच्च कार्यस्य बलं तच्च प्रचक्षते ।  
शक्तयशकेन च प्राहुर्भरणं तत्त्वकोविदाः ॥  
विकारविरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मे सदा ।  
स्वभावं हि जहात्याशु पयो दधिसमुद्भवे ॥  
जगद्वावेष्णि सा नास्ति विकृतिमंसं नित्यदा ।  
विकारविरहो वीर्यमिति तत्त्वविदां मतम् ॥  
विक्रमः कथितो वीर्यमैश्वर्यशास्तु स स्मृतः ।  
सहकार्यनपेक्षा मे सर्वकार्यविधौ हि या ॥

१. द्वादशाक्षरः-अ० । २. वाचित्व-अ० । ३. द्यवद्या-म० । ४. वैति-अ० ।

इत्यपि ज्ञेयम्-अ० । ६. स्तु ज्ञा-म० । ७. चत्या-म० । ८. रिती-म० ।

चतुर्वर्णं पदं तेजः । शाकतं स्याद् द्वयश्चरं च यत् ।  
तेजो वीर्यं बलं शक्तिरैश्वर्यं ज्ञानमेव च ॥ ३४ ॥

तेजः षष्ठं ग्रन्थं प्राहुस्तमिमं तत्त्ववेदिनः ।  
पराभिभवसामर्थ्यं तेजः केचित् प्रचक्षते ॥  
ऐश्वर्यं योजयन्त्येके तत्तेजस्तत्त्वकोविदाः ।  
इति पञ्च गुणा एते ज्ञानस्य सुतयोः मताः ॥ (२२६-३५) इति ।  
अथ मन्त्रार्थं उच्यते—अत्रादौ प्रणवेन तन्नादान्तगगनस्थितः परवासुदेवो  
विवक्षणीयः, इदानीं तस्य प्रकृतत्वात् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

ओमित्येतत् समुत्पन्नं प्रथमं बिन्दुतारकम् ।  
बिन्दुना भूषयेत् पश्चान्नादेन तदनन्तरम् ॥  
ध्यायेत् सन्ततिनादान्तां३ तैलधाराऽत्मवाक्यताम् ।  
एतत्तद्४ वैष्णवं रूपं व्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ॥  
अनिष्टद्वस्त्वकारोऽत्र प्रद्युम्नः पञ्चमः स्वरः ।  
संकर्षणो मकारस्तु वासुदेवस्तु पञ्चकः ॥  
चतुरणमिविभागं५ तु नादरूपं सुरेश्वर ।  
नादस्य या परा काष्ठा साङ्घन्ता परमेश्वरी ॥  
शक्तिः सा परमा रूपा नादान्तगगनाह्या ।  
शब्दब्रह्मयी सूक्ष्मा साहं सर्वावगाहिनी ॥  
विरामे सति नादस्य यः स्पष्टीभवति ध्रुवम् ।  
ज्योतिस्तत् परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥

एतत्ते वैष्णवं धाम कथितं पौरुषं परम् । (२४६-१२) इति ।

शान्तोदितविज्ञानप्राणाय शान्तोदितं सूक्ष्मरूपम्, स्वात्ममात्रानुभवदशा-  
विशिष्टमिति यावत् । यतः शान्तोदिता नित्योदिता चेति दशाद्वयमीश्वरस्य प्रसिद्धम् ।  
तत्र शान्तोदितावस्था नाम स्वात्ममात्रानुभवदशा, नित्योदितावस्था तु ६स्वभूत्यनु-  
भवदशा । तथा च श्रीगुणरत्नकोशब्राह्म्याने—“तैस्तैः कान्तेन शान्तोदितगुणविभवैः”  
( २५ श्लो० ) ७इत्यत्र दशाद्वयं व्याख्यातम् । गर्गकुलीनरामानुजीये श्रीरङ्गराजस्तत्व-  
व्याख्याने तु—“प्रथन्ते सोऽनन्तः स्ववशघनशान्तोदितदशः”८ ( उ० ३७ श्लो० )  
इत्यत्र स्वविभूतिस्वगुणानुभवदशा शान्तोदितदशा, स्वरूपानुभवदशा नित्योदितदशोति  
व्युत्क्रमेणोक्तम् । तत्रामादिकम् । यतस्तत्कर्तृक एव वरदराजस्तवव्याख्याने—“प्रशान्ता-  
नन्तात्मानुभवजमहानन्दमहिम प्रसक्तस्तैमित्यानुकृतवितरङ्गार्णवदशम्” ( १३ श्लो० ) ।

१. शान्तं—मु० वक० बख० अ० । २. योऽमलाः—मु० । ३. सन्ततनादेन—मु० ।  
४. मिवातताम्—मु० । ५. एतत्ते—अ० म० । ६. विन्दुकः—मु० । ७. गस्तु नादस्तत्र—मु० ।  
८. सूक्ष्मा—मु० । ९. स्वयम्—मु० । १०. स्वभवत्य—अ० । ११. इत्यवै—म० । १२. दिश—अ० ।

दृगस्त्रं कवचं शैखं शिरो हृत् षड् यथाक्रमम् ।  
मन्त्रः समाधिविषये नानाभूमिजयेषु च ॥ ३५ ॥  
निराकारो निरङ्गश्च स्मर्तच्यो ब्रह्मलक्षणः ।  
तत्प्राप्त्युपाये प्रथमे यागहोमादिके तु वै ॥ ३६ ॥

इत्यत्र शान्तोदितदशा नाम स्वात्ममात्रानुभवदशा, इतरा नित्योदितदशेति यथाक्रमं व्याख्यातम् । विज्ञानं तु श्रव्यूहमित्यर्थः । “विज्ञानं यज्ञं तनुते” (तै० ३० २५) इत्यत्र यथा विज्ञानशब्दस्य धर्मिवाचकत्वम्, तद्वदिहापि भगवद्वाचकत्वं बोध्यम् । तत्प्राणयतोति तथोक्तः । शान्तोदितसंज्ञकपररूपं प्रति नित्योदितसंज्ञकपरात्परवासुदेवस्य कारणत्वान् तत्त्वाणत्वमस्येति भावः । तथा च तत्त्वत्रयव्याख्याने—

नित्योदितात् संबूब तथा शान्तोदितो हरिः ।  
चातुरात्म्यमैथापीदं कृपया परमेष्ठिनः ।  
उपासकाऽनुग्रहार्थं यः परश्चेति कीर्त्यते ॥  
शान्तोदितात् प्रवृत्तं च चातुरात्म्यत्रयं तथा ।  
उपासकानुग्रहार्थं सेनेश मम तत्पुनः ॥  
सुषुप्तिस्वप्नसंज्ञं यज्ञाग्रद्वृहूँ तथा परम् ।  
चातुरात्म्यं महाभाग पञ्चमं परमेश्वरम् ॥ (प० १३३) इति ।

सर्वदर्शिने सर्वज्ञाय चैतन्याय ज्ञानरूपाय परात्परवासुदेवायेत्यर्थः । “ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः” (२१२५) इति लक्ष्मीतन्त्रे । नमस्तस्मै सकलविधकैङ्गर्याणि करवाणि मदर्थं न करवाणीति प्रसिद्धोऽयं नमशब्दार्थः ॥ ३३-३४ ॥

अङ्गमन्त्रसिद्ध्यर्थमुक्तानां ज्ञानादीनां हृदयाद्यङ्गैः सह योजनक्रममाह—  
तेज इत्यादिना । तथा चैवं प्रयोगः—३५ ३५ ज्ञानाय हृदयाय नमः । ३५ विज्ञानप्राणाय ऐश्वर्यय शिरसे स्वाहा । ३५ नमः शक्त्यै शिखायै वौषट् । ३५ शान्तोदितं बलाय कवचाय हुम् । ३५ सर्वदर्शिने वोर्याय अस्त्राय फट् । ३५ चैतन्याय तेजसे नेत्राभ्यां वौषट् । एवमेषां मन्त्राणां प्रणवादित्वं<sup>१</sup> नमस्त्वाहादिजात्यन्तत्वं<sup>२</sup> च नृसिंहकल्पपरिच्छेदे वक्ष्यति—

सर्वेषां प्रणवः पूर्वः स्वसंज्ञान्ते नियोज्य तु ।  
स्वकीया जातयश्चान्ते वौषट्नातः क्रमेण तु ॥ ( १७।१०-११ )

इति ॥ ३५ ॥

उक्तस्यास्य मूलमन्त्रस्य विषयमेदेन साकारत्वं निराकारत्वं चाह—मन्त्रः समाधिविषय इति द्वाभ्याम् । यागहोमादिके यागो विम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो

१. हृच्च—मु० अटी० । २. ‘पररूपं’‘संज्ञक’ नास्ति—अ० । ३. आप्याङ्ग—मु० ।
४. सना—अ० म० । ५. त्संज्ञ—मु० । ६. दिताय—म० । ७. दित्सु—अ० । ८. जातयत्वं—अ० ।

साकारं संस्मरेत् साङ्गं परिवारेण चावृतम् ।  
 आनीता व्यवततां येन स्वयं ज्ञानादयो गुणाः ॥ ३७ ॥  
 शश्वद् यागसमाप्त्यर्थं कर्मिणामनुकम्पया ।  
 सौऽनङ्गः संस्मृतो मन्त्रो भवितश्चावशेन तु ॥ ३८ ॥  
 फलं यच्छति वै नूनं नित्यं तद्वावितात्मनाम् ।  
 प्राधान्येन क्रतोः स्थैर्यं मोक्षो यत्रानुषङ्गतः ॥ ३९ ॥  
 तत्र तद्विघ्नशान्त्यर्थं मन्त्रार्थं विद्वि मन्त्रपम् ।  
 विषये तु नेत्रान्तो मन्त्रो यस्मान्महामते ॥ ४० ॥  
 दृग्दृष्टिशुद्धमार्गाणां क्रिधनाः शान्तचेतसाम् ।

वह्निसंतर्पणम्, आदिशब्देनाविशिष्टं पाच्चकालिकं कर्मोच्यते । प्रथमे 'तत्राप्त्युपाये कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिनाम्नां चर्तुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां प्रथमे उपाये, कर्मयोग इत्यर्थः ॥ ३६-३७॥

एतत्कर्मयोगनिष्ठानां साकारस्मरणं विना भगवदर्चनादेः कर्तुमशक्यतया भगवान् स्वयमेव तेषु कृपातिशयेन षाङ्गुण्यात्मकं निजाकारं प्रकाशयति । योगिनां तु "सर्वत्र विदितात्मनाम्" इत्युक्तरीत्या तन्नैरपेक्ष्यान्तिराकारं 'संस्मृतोऽपि तद्वक्त्यतिशयसंतुष्टः फलं प्रयच्छतीत्याह—आनीता इति द्वाभ्याम् ॥३८-३९॥

ऐश्वर्यप्रधाने कर्मणस्य मन्त्रस्याङ्गन्यासादिवस्त्रान्तत्वं मोक्षप्रधाने कर्मणि नेत्रान्तत्वं चाह—प्राधान्येनेति द्वाभ्याम् । तत्र तस्मिन् कर्मणि तद्विघ्नशान्त्यर्थं तस्य कर्मणस्तजन्यैवर्यस्य तदानुषङ्गिकमोक्षस्य च ये विध्नाः संभवन्ति, तत्तच्छान्त्यर्थमित्यर्थः । विषये तु मोक्षस्य प्राधान्ये ऐश्वर्यस्यानुषङ्गिकत्वे इत्यर्थः । दृग्दृष्टिशुद्धमार्गाणां दृग् नेत्रमन्त्रः, तेन दृष्टिः अवलोकनम्, तेन शुद्धः पावनीकृतो मार्गो येषां तेषां तथोक्तानाम् । नेत्रमन्त्रावलोकनस्य परिशुद्ध्यावहत्वं व्यक्तमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

देवं हृत्कमलाकाशे तेजोरूपतया स्थितम् ।  
 तस्मात् स्थानात् समानीय तं कुर्यानेत्रमध्यगम् ॥  
 वासुदेवाभिधानं तु प्रागुक्तं च समाश्रयेत् ।  
 ततो लोचनयुग्मेन स्तब्धेन मुनिपुञ्जवाः ॥

१. 'कर्मण' 'शान्त्यर्थ' नास्ति—बख०, कर्मण—मु० बक० उ० । २. त्वयैश्वर्य—बख० अ० उ० । ३. र्थमस्त्राणां—अ० उ० । ४. मन्त्रान्तं—बक० बख० । ५. 'तत्'नास्ति—अ० । ६. संस्मृतो—अ० । ७. पार्श्व—म० । ८. मन्त्र—अ० । ९. द्विजसत्तम—पा० ।

स्वकमन्तर्गतं तेजः स्वातन्त्र्याच्च बहिष्कृतम् ॥ ४१ ॥

येन येन हि मन्त्रेण स च नेत्रान्वितः स्मृतः ।

स्वग्रकाशस्त्वनुपमो येन येन हृदन्तरे ॥ ४२ ॥

जपत् लोचनमन्त्रं तु <sup>१</sup>पश्येद् यागोपयोगिनम् ।

<sup>३</sup>संभारमस्थिलं तेन द्रव्यसंघो विशुध्यति ॥ इति ॥ ४०-४१ ॥

( ई० सं० ३।२-५; पा० सं० ६।८-१० )

बहिःप्रकटिततेजसां मन्त्राणां तेजोवाचकशब्दसहितत्वम् अन्तर्निगृह्यतेजसां तु  
तद्वाचकरहितत्वं चाह—स्वकमिति द्वाभ्याम् । एवं च तेजोवाचकरहितानां मन्त्राणां  
पञ्चाङ्गत्वमेव बोध्यम् । तदुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोर्गरुडार्चनप्रकरणे—

पञ्चाक्षर इति ख्यातो गारुडो मुनिःसत्तमाः ।

पञ्चाङ्गानि यथापूर्वमक्षरैः स्युः सविन्दुकैः ॥ इति ।

( ई० सं० ८।१४; पा० सं० ८।१४ )

पारमेश्वरव्याख्याने त्वेतच्छ्लोकव्याख्यानावसरे—“अत्र पञ्चाङ्गोऽयं मन्त्रः  
पाद्मसात्वतयोः षडङ्गः प्रतिपादितः । षडङ्गानि पुनः स्वयमिति—‘नेत्रकर्मणि हृदबीजं  
पञ्चाङ्गानां विधीयते’ ( १९।१७३ ) इतोत्युक्तम्, तदसंगतम् । यतः श्रीसात्वतेऽयं  
गरुडपञ्चाक्षरमन्त्रो वा तदङ्गविचारो वा न दृश्यते । न चैतद् गरुडमन्त्राङ्ग-  
विचारादर्शनेऽपि ‘नेत्रकर्मणि हृदबीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते’ ( १९।१७३ ) इति  
तत्रोक्तवात् पञ्चाङ्गमन्त्रसामान्यस्य हृदबीजयोजनया षडङ्गत्वसिद्धेरस्यापि तथा  
षडङ्गत्वं सिद्धमिति वाच्यम्, यत एवं हृदबीजेन सह षडङ्गत्वे संभवति सात्वते  
पञ्चाङ्गानामित्युक्तिरेव न संभवेत् । किञ्च सात्वतोपबृहणे ईश्वरे ( ८।१४ ) पारमेश्वरे  
( ८।१४ ) च गरुडमन्त्रस्य षडङ्गत्वकथनं विना पञ्चाङ्गत्वमात्रोक्तिरपि न घटते ।  
अतस्तदर्थमिदं सावधानं श्रूणु—पञ्चाङ्गानां मन्त्राणां दीक्षांदाविति शेषः ।  
नेत्रकर्मणि नेत्रमन्त्रेण कर्तव्ये कर्मणि,

<sup>१</sup>पाचयेत् मूलमन्त्रेण दृष्ट्वा नेत्रेण संस्कृतम् । ( १८।१०२ ) इति,

वर्मणा तत्कलप्राप्ति तत्त्वमिति स्मरेत् ॥

सुतृप्तिमथ नेत्रेण कुर्यात्तेनैव तत्स्थितिम् । ( १९।८८-८९ )

इति चैवमादिके हृदबीजं विधीयते । पञ्चाङ्गानां नेत्रबीजाभावात् तत्स्थाने हृदबीजं  
योजयेदिति भावः । एवमेव निरङ्गानां मन्त्राणामङ्गमन्त्रसामान्याभावात् तत्साध्येषु  
कर्मसु प्रणवो नियोक्तव्य इति च सात्वते उक्तम्—

१. गते—मु० । २. अवलोक्यास्थिलं तु तम्—पा० । ३. नास्त्येषा पद्धितः—पा० ।

४. सत्तम—पा० । ५. श्रितानामिति—अ० । ६. वाच—अ० । ७. तम्—म० ।

सितासितः समाकृष्यः<sup>१</sup> सै स तद्वाचकोत्थितः<sup>२</sup> ।  
 अथ मन्त्रवरस्यास्य शृणुष्वागधनं यथा ॥ ४३ ॥

सवाह्याभ्यन्तरावस्थं समांसादमलेक्षणं<sup>३</sup> ।  
 परिच्युतमलः स्नातः शुद्धवासा जितेन्द्रियः ॥ ४४ ॥

निरङ्गानां तु मन्त्राणामङ्गमन्त्रोक्तकर्मणाम् ॥  
 प्रणवो विनियोक्तव्यः सह कर्मपदेन तु इति ।  
 ( १९ १७३-१७४ )

नैतावता पञ्चाङ्गानां षडङ्गत्वं निरङ्गानां साङ्गत्वं च सिध्यतीति बोध्यम् ॥  
 ४२-४३ ॥

एतावदन्तं मन्त्रस्वरूपमुक्त्वा इतः परमर्चनप्रकारं शृणुष्वेत्याह—अथेति ।  
 सवाह्याभ्यन्तरावस्थं मानसैवाहोभयाराधनमित्यर्थः ॥४४॥

आदौ पूजकस्य स्नानादिनियममाह—परिच्युतेति साधेन । परिच्युतमलः ब्राह्म-  
 मुहूर्तसमुथानभगवद्वचाननामसंकीर्तनादिभिः परिहृतान्तरमलः, शौचाचमनदन्त-  
 धावनादिभिः परिहृतबाह्यमलश्चेत्यर्थः । स्नातः

७दिव्याण्यमान्त्रवायव्यभौमैजसमानसैः ।  
 एतैः समस्तैर्वर्षस्तैर्वा कृतशुद्धिर्यथा॒बलम् ॥

इत्युक्तरीत्याङ्गुष्ठितस्नानः । एतेषामनुष्ठानप्रकारास्तु पारमेश्वरादिषु<sup>४</sup> द्रष्टव्याः ।  
 यद्यपि जग्राख्योक्तं<sup>५</sup> पारमेश्वरे चोपबृंहितमौदकस्नानं ग्राह्यम्, तथापि स्वसूत्रोक्त-  
 स्नानाद्यनुष्ठानपारम्पर्ये सति तत्परित्यज्यान्यन्नं ग्राह्यमिति निर्णीतं पञ्चरात्ररक्षा-  
 याम्<sup>६</sup> । अत्र स्नात इत्यनेनैव पार्थिवस्नानरूपमूर्धवृण्डधारणमपि संगृहीतम्, सन्ध्या-  
 वन्दनादिकमप्युपलक्षितम् । शुद्धवासा इत्यनेन

१. कृष्टः—मु० । २. स तु तद्वाचकोत्थितः—मु० । ३. न्वितः—बक० बख०, जितः—उ० ।
४. मार्घम—मु०, पाद—बक० । ५. थणः—अ० उ०, क्षणम—बक० बख० । ६. बाह्याराधनो-  
 भयात्मकमि—म० । ७. पाञ्चरात्ररक्षायां (पू० १०५) समुद्धृतोऽप्य इलोकः । ८. यदा—अ० ।
९. पारमेश्वरे द्वितीयाद्याये । १०. जयाख्यसंहितायां नवमे पट्टे । ११. अत्र ९७—१०५  
 पृष्ठेषु स्नानप्रकरणं द्रष्टव्यम् ।

वाग्यतः पुष्पदर्भाचैद्रौराग्रसं पतत्रिपम् ।  
सचक्रं पूजयित्वादौ संविशेद् भगवद्गृहम् ॥ ४७ ॥

गन्धैः सग्निरलङ्घारैः सोत्तरीयैश्च भूषितः ।  
कर्णभूषणहारादैः कटकैरङ्गुलीयकैः ॥

इत्याद्यर्थः संगृहीतः । क्षिप्तः १ । जितेद्विद्य इत्यनेनाभिगमनं सूचितं भवति । यतः—  
जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः ॥  
अभिगच्छेज्जगद्योर्नि तत्त्वाभिगमनं स्मृतम् ।  
( ज० सं० २२१६८-६९ )

इत्युक्ताभिगमनेन हीन्द्रियजयः सिद्धचर्ति । पुष्पदर्भा(दी?दैरि)त्यनेनोपादानमुक्तं भवति ।  
आदौ द्वाराग्रसं सचक्रं पतत्रिपं पूजयित्वेत्यनेनानयोः सर्वद्वारपालमुख्यत्वं सूच्यते । अत  
एवेश्वरपारमेश्वरयोऽचण्डादिषु जागरूकेष्वपि—‘नियोज्य तत्र रक्षार्थं चक्रं च षष्ठतगेश्व-  
रम्’ (ई० सं० ६।११६; पा० सं० ७।५२३) इत्युक्तम् । किञ्चत्र, यागेहद्वारार्चनप्रकरणेऽपि  
चण्डनादीनामप्यचर्ननाशक्तो “सर्वद्वारेषु वा पूज्यः सहेतीवा: पतत्रिपः” (ई० सं० ९।३००;  
पा० सं० १।१३०३) इत्युक्तम् । अर्चनस्थानं च तत्रैव व्यक्तमुक्तम्—“ध्यायेद् द्वाराग्रदेशो  
तु गरुडं काञ्चनप्रभम्” (ई० सं० ९।२२; पा० सं० १।१२१) इति प्रक्रम्य,

प्राणाधिदैवतं चक्रे बलिमण्डलमध्यगे ।  
संस्थितं संस्मरेत् सर्वैरङ्गैः पुरुषरूपिणम् ॥ इति ।  
(ई० सं० ९।२५-२६; पा० सं० १।१२५)

बलिमण्डलाभावस्थले गोमयादिना सद्यः कल्पितेऽनार्चनमुक्तं तत्रैव—

स्थिते वा कल्पिते तत्र पूजयेद् बलिमण्डले ।  
सर्वं खगेशपूर्वं तु परिवारं हि साच्युतम् ॥ इति ।  
( ई० सं० २९-१० )

अस्मिन्नवसरे गर्भगेहद्वारपालार्चनमपि कार्यम् । तदत्रैव वक्ष्यति नृसिंहकल्प-  
परिच्छेदे—

स्नातो बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्ध्यपुष्पधृक् ।  
कृत्वा द्वास्थार्चनाद्यं तु उपविश्यासने ततः ॥ (१।७।१६) इति ।  
इदमेवोपबृहितमीश्वरेऽपि—“वास्तुपूरुषमन्यांश्च समभ्यर्च्य यथाक्रमम्” (२।१।)  
इति । संविशेद् भगवद्गृहमित्यत्र ईश्वरे द्वारविभाग उक्तः—

१. उभयोर्मातृक्योदृश्यतेऽप्रासङ्गिकमेतत् पदम् । २. तच्छान्ति-अ० । ३. विहगे-मु० ।  
४. ते वा अर्चन-अ० ।

उपाजितं पुरा यद्वै यागोपकरणं महत् ।  
 तत्सर्वं दक्षिणे कृत्वा वामे तु करकं न्यसेत् ॥ ४६ ॥  
 गालितेनाम्भसा पूर्णं मध्ये भद्रासनं न्यसेत् ।  
 मृत्काष्ठोपलधातूत्थमेकद्वित्रिशम् तु वा ॥ ४७ ॥  
 चतुरश्चमथाष्टाश्रं चतुरश्चायुतं तु वा ।  
 चतुष्पादसमायुक्तं चतुरावरणाङ्कितम् ॥ ४८ ॥  
 मकरास्यप्रणालं तु प्रमाणेनोपलक्षितम् ।  
 तदधश्चोत्तरस्यां वै चलं वा अभ्यातलाश्रितम् ॥ ४९ ॥  
 शङ्खचक्राङ्कितं कुर्याज्जलाधारं सुलक्षणम् ।  
 अथोपविश्य वै दाभे काष्ठजे वाऽजिनासने ॥ ५० ॥  
 वद्धुपद्मासनः कुर्यान्न्यासं मन्त्रवरेण तु ।  
 अभिन्नं मस्तके तावदादित्यां तपवन्न्यसेत् ॥ ५१ ॥  
 व्यापकत्वेन तदनु विन्यसेद् भिन्नलक्षणम् ।  
 अङ्गुष्ठद्वितयाद् यावत् कनिष्ठाद्वितयावधिः ॥ ५२ ॥

प्रासादान्तः प्रवेशार्थं ततो द्वारं तु चेतसा ।  
 त्रिभागीकृत्य तन्मध्यभागमेकं द्विधा पुनः ॥  
 विभज्य वामदेशेन दक्षिणेनाङ्गिरिणा ततः ।  
 शनैः शनैः प्रविश्यान्तः ... ... ... ॥ ( २१४-१५ ) इति ।  
 अन्ये चात्र तत्र तत्रापेक्षिता बहवो विशेषा एतदुपवृहणयोरीश्वरपारमेश्वरयोरेव  
 संगृहीता ग्राहाः ॥ ४४-४५ ॥

यागोपकरणानामासादनस्थाननियममाह—उपाजितमिदमिति सपादेन । गर्भ-  
 गेहमध्ये भद्रपीठस्थापनं तल्लक्षणादिकं चाह—मध्य इत्यादिभिः । एकद्वित्रिशम् तु  
 वा चतुरङ्गुलमष्टाङ्गुलं द्वादशाङ्गुलं वेत्यर्थः । १०० 'शमं तु चतुरङ्गुलम्' ( ३।१५२ ) इति  
 वैजयन्ती ॥ ४६-५० ॥

इदानीमेव भद्रासनन्यासोक्तश्चलबिम्बादीनां तदुपरि स्थापनार्थं वा बिम्बादिकं  
 विना तत्रैवार्चनार्थं वेति ज्ञेयम् । स्थिरबिम्बानां पीठस्तु प्रतिष्ठाकाल एव स्थाप्यते ।  
 स्वासनोपवेशानपूर्वकं मन्त्रन्यासविधिमाह—अथोपविश्येत्यादिभिः । अत्र न्यासात्

१. पुरस्ताङ्गुलम्—मु० अटी० । २. शर्तं—मु० बक० बख०, दशं—अ० उ० । ३. रथ्युतं—मु०  
 अटी० । ४. पक्षमान्तरा—मु० अटी० । ५. वासं—अ० । ६. न्नमस्तयोस्ता—म० उ०, न्नहस्त-  
 योस्ता—बक० बख० । ७. दप—मु०, दपरं न्य—अटी० । ८. पुरः—अ० । ९. क्षणं चा—अ० ।  
 १०. समस्तु चतुरङ्गुलम्—मु० ।

ज्ञानाद्यं वीर्यपर्यन्तं विन्यसेदङ्गपञ्चकम् ।  
 मूलवद् व्यापकत्वेन नेत्रमूर्ध्वाङ्गुलीषु च ॥ ५३ ॥  
 आत्रहरन्त्रात् पादान्तमथ मन्त्रं तु विग्रहे ।  
 ततस्तु हृदये ज्ञानं यतो व्यज्येत तत्र तत् ॥ ५४ ॥  
 ऐश्वर्यं शिरसो देशे यस्मादुपरि तिष्ठति ।  
 प्राकृतं ताच्चिकं वापि सर्वत्र कमलेक्षण ॥ ५५ ॥  
 हार्दीग्नेरुर्ध्वगायां नु शिखायां शक्तिमन्त्रराद् ।  
 वलं चाखिलग्रामाणां तद्गतं वायुना सह ॥ ५६ ॥  
 मूर्च्छितं सर्वगात्रैर्यतद्वीर्यं हस्तयोन्यसेत् ।  
 अन्तबोधस्वरूपं यत् ग्राङ्गतध्वान्तशान्तिकृत् ॥ ५७ ॥  
 तेजस्तत्त्वैजसे स्थाने न्यायकाले समस्यते ।  
 चतुरचक्रे<sup>१</sup> नवद्वारे देहे देवगृहे पुरा ॥ ५८ ॥  
 न्यस्यैवमभिमानं तु मन्त्राख्यमवलम्ब्य च ।  
 मनस्युपरतं कुर्यादक्षग्रामं बहिःस्थितम् ॥ ५९ ॥

पूर्वं प्राणायामभूतशुद्धेः, मन्त्रन्यासानन्तरं भूषणादिन्यासस्य चानुकृतावपि नृसिंहकल्पे<sup>२</sup>  
 वक्ष्यमाणरीत्या ग्राह्यम् ॥ ५०-५८ ॥

एवमाधारनाभिहृत्कण्ठचतुर्श्चक्रविशिष्टे नवद्वारान्विते स्वशरीरे भगवन्मनिदर-  
 त्वबुद्ध्या पूर्वं मन्त्रात् विन्यस्य ‘नादेवो देवमर्चयेत्’ इति न्यायेन स्वस्मिन् ‘देवत्वाभि-  
 मानावलम्बनं च कुर्यादित्याह—चतुरचक्र इति । मन्त्राख्यमभिमानं<sup>३</sup> स्वस्मिन् मन्त्रनाथ-  
 त्वाहङ्कारमित्यर्थः । वक्ष्यति च—“देवोऽहमिति भावयेत्” (१७।३६) इति । जपाख्येऽपि  
 व्यक्तमुक्तम्—

अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः ।  
 वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥  
 एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने । (११।४१-४२)

इति ॥ ५९ ॥

अथ मानसिक्यागमुपदिशन् निरन्तरायभगवज्ञानभावनासिद्ध्यर्थं वाह्येन्द्रि-

- १. मूर्ध्वे—मु० अटी० उ० । २. भज्येत—मु० । ३. तद्गतं—व्रक० वख०, तत्कृत—अ० ।
- ४. नास्त्येषा पङ्कितः—अ० । ५. चतुःश्च—मु० । ६. पूर्वं मन्त्राराधनां—अ० । ७. सप्तदशे  
 परिच्छेदे १७ श्लोकादितः प्रकरणमेतद् द्रष्टव्यम् । ८. देवत्वावलम्बनं हि मानावलम्बनं—अ० ।
- ९. भिगमनं—अ० ।

चित्तं शुद्धौ विनिक्षिप्य तां शुद्धिं ज्ञानगोचरे ।  
ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद् वै पारमार्थिकम् ॥६०॥  
चतुश्चक्रे नवद्वारे देहे देवगृहे पुरा ।  
कण्ठकूपधरारूढं हृत्पद्मं यदधोमुखम् ॥६१॥  
तत्कर्णिकावनेमध्ये रूढमूर्धमुखं तु यत् ।  
शब्दव्यक्तिस्तदूर्ध्वे तु स्थिताकेन्द्रियिलक्षणा ॥६२॥  
त्रिदीप्तिभास्वरा नाडी त्वच्यक्तध्वनिविग्रहा ।  
व्यक्तं चक्रत्रयस्योर्ध्वे वर्तते या महामते ॥६३॥

यादीनामन्तर्नियमनमाह—मनसीति सार्थेन । एवं ज्ञानभावनया क्रियमाणस्य कर्मणः  
शुद्धसत्त्वम् (यं ? यत्वं) बाह्यस्य त्रिगुणमयत्वात् शुद्धयपेक्षत्वं चोक्तं लक्षणीतन्त्रे—

मानसीर्निर्वर्पेत् सर्वा: क्रिया ज्ञानसमाधिना ॥  
ज्ञानेन क्रियते यद्यत् कर्म ब्रह्मसमाधिना ।  
शुद्धसत्त्वमयं तत्तदक्षयर्य भवति ध्रुवम् ॥  
बाह्याऽद्वयाश्रिताऽयस्माद् दोषा राजसतामसाः ।  
ततस्तर्च्छोधनमपि कर्मणा मनसा गिरा ॥  
तस्मादेकान्तनिर्देशं भावनाऽवासितं तथा ।  
तस्माज्ज्ञानं समास्थाय शुद्धं संवित्समुद्धवम् ॥  
ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद्वै पारमार्थिकम् । (३४१३७-१४१)

इति ॥५९-६०॥

स्वहृदये भगवदभिव्यक्तिस्थाननिरूपणार्थं प्रथमतः शब्दब्रह्मावस्थानमाह—  
चतुश्च(क्रमिःक्र इ)ति द्वाभ्याम् । कण्ठकूपधरारूढं गलकूपस्थलसमुत्पन्नमधोमुखं यद्  
हृत्पद्मं तत्कर्णिकावनेमध्ये रूढं समुत्पन्नं यद् हृत्पद्ममित्यनुष्ज्यते । तदूर्ध्वे तत्कमलद्वय-  
संपुटमध्ये अधःकमलोपरीत्यर्थः । अकेन्द्रियिलक्षणा ज्योतिःस्वरूपा शब्दव्यक्तिः शब्द-  
ब्रह्म स्थिता वर्तते इत्यर्थः ॥६१-६२॥

एवं संग्रहेण शब्दब्रह्मावस्थानमुक्त्वा पुनः सुषुम्नानाडीस्वरूपकथनपूर्वकं तदेव  
विशदयति—त्रिदीप्ति(पती)ति पद्मभिः । अस्या त्रिदीप्तिभास्वरत्वं तेजस्त्रयात्मकशब्द-  
ब्रह्माधारत्वात् । अव्यक्तध्वनिविग्रहा अव्यक्तध्वनिः शब्दब्रह्म

१. शुद्धचु—अ० । २. बाह्यद्र—म० । ३. कृता—अ० । ४. चोदन—अ० म० ।  
५. भावनापदं त्रुटितमुभयोर्मातृक्योः । ६. शुद्धसं—अ० म० ।

निसूता ब्रह्मरन्ध्रेण गता सूर्यपथात् परम् ।  
 'वायुद्वारेण पातालं भित्वा याता 'सुगोचरम् ॥६४॥  
 सङ्कल्पविषयः सर्वः सम्बन्धः प्रतितिष्ठति ।  
 सूत्रे मणिगणो<sup>५</sup> यद्वन्मध्यनाडी श्वतः स्मृता ॥६५॥  
 'लक्ष्यस्थाने तु पूर्वोक्ते तस्यामभ्यन्तरे तु वै ।  
 सम्पुटे शशिसूर्याख्ये निमेषोन्मेषलक्षणे ॥६६॥  
 तत्रार्कं चाब्जमालम्ब्य परा वाग्भ्रमरी स्थिता ।  
 या सर्वमन्त्रजननी शक्तिः शान्तात्मनो विभोः ॥६७॥

शब्दब्रह्मस्वरूपेण स्वशक्त्या स्वप्रमेव हि ।  
 मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेमि परमेश्वरात् ॥  
 तदव्यक्ताक्षरं विद्धि तन्त्रीशब्दो यथा कलः । ( २०।७-८ )

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः, 'स विश्वहो यस्याः सा तथोक्ता । चक्रत्रयस्योर्ध्वं आधारनाभिक-  
 (ए)चक्रत्रयोपरि प्रकाशमाना ब्रह्मरन्ध्रेण निःसूता सूर्यपथात्<sup>६</sup>परं गता 'वायुद्वारेण  
 पातालं भित्वा स्वगोचरं याता, <sup>७</sup>आमूलाग्रं यावदन्तं व्याप्तेत्यर्थः । अत एव भगवत्संकल्प-  
 विषयः सर्वोऽपि सूत्रे मणिगण इव सुषुम्नानाडीसंबन्धः प्रतितिष्ठति, अतो मध्यनाडीति  
 स्मृता प्रसिद्धा । तस्यामभ्यन्तरे पूर्वोक्ते<sup>८</sup> लक्ष्यस्थाने, हृदयकमलस्थान इत्यर्थः । निमेषो-  
 न्मेषलक्षणे निमीलनोन्मीलनविशिष्टे शशिसूर्याख्ये, निमीलितोर्ध्वकमलस्य शशि-  
 संज्ञत्वम्, उन्मीलिताधःकमलस्य सूर्याख्यत्वम् । तत्र संपुटे कमलद्वयसंपुटे, आर्कम् अर्क-  
 संबन्धिः, अञ्जम् अधःकमलमित्यर्थः । आलम्ब्य आश्रित्य, परा सूक्ष्मा, वाग्भ्रमरी वागेव  
 भ्रमरी स्थिता । तां विशिष्टिः—ग्रा वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रजननी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य  
 परस्येति यावत्, विभोः शक्तिरित्यनेन इयमपि तथा सूक्ष्मेत्यर्थः । अकारपूर्वो हान्तः  
 अकारादिहकारान्तः, धारासन्तानरूपधृक् तैलधारावदविच्छिन्नः शब्दब्रह्मेति <sup>९</sup>यत्  
 यो नादः, तं वर्णजं नादं नदन्तीति । एवमेव नादस्वरूपमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

पृथग्वर्णात्मना याति स्थितयेऽनेकधा स तु ॥  
 सूक्ष्मवर्णस्वरूपोऽसौ धारासन्तानरूपधृक् ।  
 पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य मन्त्रिष्ठस्य विवेकिनः ॥  
<sup>१०</sup>सोऽनुभूतिपदं याति प्रसादात् परमात्मनः । ( २०।८-१० ) इति ।

१. पायु-उ० । २. स्व-वख० उ०, ख-अ० । ३. वस्तद्वर्ण-मु० । ४. गणा-मु० ।  
 ५. लक्ष-मु० । ६. 'स विश्व' न दृश्यते-अ० । ७. पारं-अ० । ८. पायु-म० । ९. आमलोप्र-अ० ।  
 १०. पूर्वोक्त-अ० । ११. 'यतः' इत्युभयमातृकास्थः पाठः । मूलानुसारी पाठेऽत्र स्थापितः ।  
 १२. अनु-मु० ।

‘नदन्ती वर्णजं नादं शब्दब्रह्मेति यत् स्मृतम् ।  
 अकारपूर्वो हानश्च धारासन्तानरूपधृक् ॥६८॥  
 नादावसानगगने देवोऽनन्तसमन्वितः ।  
 शान्तः संवित्स्वरूपस्तु भक्तानुग्रहकाम्यया ॥६९॥  
 अनौपम्येन वपुषा ह्यमूर्तो मूर्ततां गतः ।  
 विश्वमाप्याययन् कान्त्या पूर्णन्द्वयुततुल्यया ॥७०॥

एतादृशं नादं नदन्त्या वाक्शब्दतेः स्वरूपमपि त(त्राप्यु?त्रैवो)कर्तम्—  
 प्रकाशानन्दसाराहं सर्वमन्त्रप्रसूः परा ।  
 शब्दानां जननी शक्तिरुदयास्तमयोजिज्ञता ॥  
 व्यापकं ‘यत् परं ब्रह्म नारायणसमाहृयम्’ ।  
 शान्तता नाम याऽवस्था साहं शान्ताखिलप्रसूः ॥ (१८१८-१९)

इति ॥६३-६८॥

एवं हृदयकमले शब्दब्रह्मावस्थानमुक्त्वा तदन्ते द्योतमानपरब्रह्मस्वरूपमाह—  
 नादावसानेति पञ्चभिः । नादावसानगगने नादो नाम नादबिन्दुमध्यमावैखर्याल्ये  
 शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था पूर्वोक्तलक्षणा, तदवसानं तत्पराकाष्ठा, तत्र  
 यद् गगनं गगनात्मिका शक्तिः, तत्रेत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

नादस्य या परा काष्ठा साऽहन्ता परमेश्वरी ॥  
 शक्तिः सा परमा ‘सूक्ष्मा नादान्तगगनाहृया ।  
 शब्दब्रह्मयी सूक्ष्मा साहं सर्वविगाहिनी ॥  
 विरामे सति नादस्य यः स्फुटीभवति ‘ध्रुवम् ।  
 ज्योतिस्तत्परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥ (२४९-११) इति ।

शङ्खचक्राङ्कितेनेत्यत्र पाणिद्वये केवलरेखारू(पा?प)शङ्खचक्राङ्कितत्वं ज्ञेयम् ।  
 यतोऽन्यथा पाणिद्वयमात्रस्य वरदाभयमुद्रान्वितत्वमपि न संभवति, तथा चोपबृहितं  
 लक्ष्मीतन्त्रे—

व्यापको भगवान् देवो भक्तानुग्रहकाम्यया ॥  
 अनौपम्यमनिर्देशं ‘वपुः स भजते परम् ।  
 विश्वाप्यायनकं कान्त्या पूर्णन्द्वयुततुल्यया ॥  
 वरदाभयहस्तं च द्विभुजं पद्मलोचनम् ।  
 रेखामयेन चक्रेण शङ्खेन च करद्वये ॥

१. वदन्ति—मु०, नन्दती—अ० । २. स्थान—मु० । ३. मागतः—अ० । ४. धर्म—अ० ।  
 ५. मनामयम्—मु० । ६. रूपा—अ० म० । ७. स्वयम्—मु० । ८. हृयम्—मु० । ९. पुनः—अ० म० ।

‘वरदाभयदेनैव शङ्खचक्राङ्कितेन तु ।  
त्रैलोक्योद्धृतिदक्षेण युक्तः पाणिद्वयेन तु ॥७१॥  
रश्मभिर्भास्करोऽयद्वत् समुद्र इव चोर्मिभिः ।  
‘स्वमूर्तिभिरऽमूर्तीभिरच्युताद्याभिरन्वितः ॥७२॥

अङ्कितं निर्विकाराङ्ग्लिस्थितं परमशोभनम् ।  
अन्यूनानतिरिक्तैः स्वर्गुणैः षड्भिरश्लङ्कृतम् ॥  
सर्वं समविभक्ताङ्गं सर्ववियवसुन्दरम् ।  
पूर्णमाभरणैः शुभ्रैः सुधाकल्लोलसंकुलैः ॥  
‘रश्मभूतैरमूर्तैः स्वैरच्युताद्यैरविच्युतम् ।  
एका मूर्तिरियं दिव्या पराख्या वैष्णवी परा ॥  
योगसिद्धा भजन्त्येनां हृदि तुर्यपदाश्रिताम् । (१०।१—१७) इति ।

स्वमूर्तिभिरच्युताद्या भिरन्वित इत्यत्राच्युताद्या मूर्तयस्तस्य इति ज्ञेयम् ।  
तदुक्तं पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

तथा च सर्वजगतमेकबीजात्मकस्य च ॥  
सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः ।  
त्रयाणामच्युतादीनां तद्देवानां तथैव च ॥ (१५।२२—२३) इति (च ?) ।  
एवं च संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युतसत्पुरुषापरनामधेयत्वं बोध्यम् ।

ननु—

पुरुषं ‘च ततः सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर ॥  
अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।  
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ।  
वासुदेवं च राजेन्द्रं संकर्षणमथापि च ।  
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्ति ‘प्रचक्षते ॥

(महा० आश्व० ९२ अ० । पृ० ६३४२)

इति वासुदेवादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वं दृश्यते । भवता व्युत्क्रमेणानिरुद्धानां पुरुषादि-  
शब्दवाच्यत्वं कथं व्याख्यातमिति चेत्, सत्यम् । अत्र वैखानसानां तथा व्यवहार  
इत्युक्त्या नास्मद्व्याख्याविरोधः । अपि त्वनिरुद्धानां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वमत्रैव  
वक्ष्यति पञ्चमे परिच्छेदे मन्त्रोद्धारप्रकरणे “अप्यग्रावसरे” (५।६८) इत्यादिभिः । एव-

१. वरदाभयेत्यादिकः श्लोकः शान्तः संविदित्यतः पूर्वं पठितः—बक० बख० उ० ।
२. सुरो—उ०, स्वरो—अटी० । ३. स—मु०, सु—बक० अ० । ४. मुक्ता—बक०, मूर्ती—मु० बख० अ० । ५. रच्युतः—बख० अ० उ०, रच्युतम्—मु० । ६. श्रीभूतैः रम्यमूर्तैः—अ० ।
७. तु—अ० । ८. प्रवक्ष्यते—मु० ।

दीप्तिमद्भिर्मूर्त्सु      सुधाकल्लोलसङ्कुलैः ।  
पूर्णं आभरणैः      सर्वैर्निविकाराङ्ग्रिविग्रहः ॥७३॥

मत्र परात्परदशायामन्युतादिमन्वितवेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यं बोध्यम्, तत्रैकमूर्ति-प्राधान्यात् ।

ननु तर्हि शान्तोदितापरनामधेयतुर्यव्यूहतुर्मूर्तिप्राधान्यं किमिति चेन्न, “अभेदेनादिमूर्तर्वं मम्यतं वटवीजवत्” (५१८१) इति वक्ष्यमाणानुसारेण परसंज्ञस्य तद्वच्छृहस्य परात्परवासुदेवाद्यभिन्नत्वात् । अत एव सुषुप्त्यादिव्यूहवत् प्रत्येकं तद्वच्छृहवाचकमन्त्राणामनुकृत्वात् परात्परमन्त्रेणैव तस्यापि चारितार्थ्यच्च उपरात्परत्वदशायामिव परत्वेऽपि वासुदेवस्यैकस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम् । तर्हि एवमभिन्नत्वे पुनः केन तयोर्भेद इति चेत्, नित्योदितत्वेन चेति वोध्यम् । नित्योदितत्वं नाम ‘स्वविभूत्यनुभवदशाविशिष्टत्वम्’ । शान्तोदितत्वं नाम स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टत्वम् ।

ननु चैवं शान्तोदितव्यूहेऽपेकमूर्तिप्राधान्ये व्यूहशब्दस्य स्वारस्यं न संभवतीति चेदुच्यते—किं व्यूहशब्दमात्रेण चतुर्णां प्राधान्यमङ्गीकार्यम्? तथा सति परात्परत्वदशायामपि व्यूहशब्दे जागत्येव । तथाहि ईश्वरे (१५२) पारमेश्वरे (१५१) च गरुडार्चनप्रकरणे—“नित्योदितस्य व्यूहस्य तथा शान्तोदितस्य च” इति, सिद्धान्तलक्षणनिष्पत्पन्नप्रकरणेऽपि—“यत्र शान्ततरं व्यूहं शान्तोदितमन्तरम्” (ई० सं० २०। १९८; पा० सं० १६५३३) इति । पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

परात्परस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः ।  
शान्तोदितादिव्यूहानां केशवाद्यखिलस्य च ॥ (१५१२१) इति,  
तथा च सर्वजगतामेकवीजात्मकस्य च ॥  
सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः ।  
त्रयाणामन्युतादीनां तद्वेदानां तर्थैव च ॥  
शान्तोदितस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः ॥ (१५१२२-२४)

इत्येवं सर्वत्र परात्परत्वसंज्ञायां नित्योदितत्वदशायां परत्वसंज्ञायां शान्तोदितत्वदशायां च वासुदेवादिचातुरात्मप्रसङ्गावाद व्यूहशब्दचातुरात्म्यशब्दौ स्वरसावेव । किन्तु परत्वदशाद्वयेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, एक एव मन्त्रः, तद्वच्चनैवोपसर्जनभूतानामन्येषामन्यर्चनसिद्धिरित्यादिकं बोध्यम् ॥ ६९-७३ ॥

१. मुक्तै-वक्त० । २. लः-वक्त० वक्त० । ३. ‘परात्’ नास्ति-अ० । ४. ‘स्वविभू……नाम’ नास्ति-अ० ।

ततः खाब्जकमध्यात् हूर्धस्थात् संस्मरेच्युताम् ।  
गङ्गां भगवतो मूर्धिन तेनामृतजलेन तु ॥७४॥  
अर्धाद्याखिलभोगानां कार्या वै शुभकल्पना ।  
तैः क्रमात् प्रीणयेद् देवमात्रं तुर्यपदे स्थितम् ॥७५॥  
प्रणवद्वितयं चोक्त्वा प्रीयतां मे परः प्रभुः ।

अर्धाद्यादिपरिकल्पनार्थं गङ्गावतरणभावनाप्रकारमाह—तत इति सार्धन ।  
ऊर्ध्वस्थादित्यब्जविशेषणम्, “हृदयकमलद्वयसंपुटे ऊर्ध्वकमलादित्यर्थः । ऊर्ध्वस्थादि ?-स्थितामि)ति पाठे गङ्गाविशेषणं सुस्पष्टम् । इममर्थं विस्तरेण वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे आप्यायनप्रकरणे । अत्रापेक्षितं पाठकल्पनं नृसिंहकल्पे वक्ष्यति—

अथ प्रणवपूर्वेण स्वनाम्ना नतिना सह ॥  
शेषपूर्वं तु वक्त्रयन्तमासनं परिकल्पयेत् ।  
तथाक्रम्याथ तस्यैव कार्या स्वहृदि कल्पना ॥ ( १७।३६-३७ )

इति ॥७४-७५॥

अर्धाद्यादिभिर्भगवत्प्रीणनं प्रति मन्त्रं चाह—तैरिति । आद्यं परव्युहविभवाख्य-रूपत्रये प्रथमं तुर्यपदे स्थितं जाग्रत्स्वप्नसुषसितुर्याख्यपदचतुष्टये परिशुद्धये तुर्यपदारूढमित्यर्थः । जाग्रदादिपदार्थविवरणं तु लक्ष्मीतन्त्रे सुस्पष्टमुक्तम्—

जाग्रत्स्वप्नं<sup>१</sup> सुषुप्तिश्च तुर्यं चेति चतुष्टयम् ॥  
ज्ञेयं पदाध्वनो रूपं जाग्रद्बाह्येन्द्रियक्रमः ।  
बाह्येन्द्रियाणां तमसाऽभिभूतेर्व विभवे सति ॥  
अन्तःकरणवृत्तिर्या संस्कारपरिशेषिणी ।  
सा स्वप्न इति विज्ञेया तदभावे सुषुसिकां ॥  
तमसाऽनभिभूतस्य सत्त्वस्थर्य विपश्चितः ।  
बाह्यान्तःकरणस्थाया वृत्तेष्वपरमे सति ॥  
शुद्धसत्त्वस्वभावस्यै<sup>२</sup> सन्ततिस्तुर्यसंज्ञिता ।  
एवं चतुर्विधे मार्गे निर्दिष्टेऽस्मिन् पदाभिधे ॥  
तुर्यवर्जं<sup>३</sup> सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम् । ( २२।२२-२७ ) इति ।

अत्र ३५ ३५ प्रीयतां मे परः प्रभुरिति परस्य भगवतोऽर्चनप्रकरणात् परशब्द<sup>४</sup>-घटितोऽयं मन्त्रः । व्यूहाद्यर्चनप्रकरणे तु परशब्दस्थाने व्यूहादिगद्बदो योज्यः । अथवा

- १. च्युतामूर्धवस्थितां स्मरेत्—मू० । २. न्ता—अ० उ० । ३. शुद्ध—उ० । ४. स्थितः—अ० ।
- ५. ‘हृदय’ विशेषण नास्ति—अ० । ६. सप्तदशे परिच्छेदे । ७. स्वप्नौ—मू० । ८. संजाते विफले—अ० म० । ९. पितता—म०, पिता—अ० । १०. प्रसादस्य—मू० । ११. वर्ज्य—म० ।
- १२. ‘शब्द’ नास्ति—अ० ।

अथ कर्मात्मतच्चे तु कृतकृत्ये सति ग्रहुः ।  
 ‘आस्ते विलाप्य स्वं रूपं नित्यं व्यवतीकृतं च यत् ॥७६॥  
 इति श्रीपाञ्चशत्रे श्रीसात्वतसंहितायां  
 द्वितीयः परिच्छेदः ॥

सर्वसाधारण्येन नारायणवासुदेवविष्णुशब्देवन्यतमो योज्यः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे “ॐ  
 ॐ प्रीयतां भगवान् वासुदेव इति ब्रूवन्” (३६।१०) इति । अत्रैवं प्रीतिमन्त्रमात्र-  
 मुक्तम् । संकल्पभोगदानमन्त्रावप्यपेक्षितावन्यतो ग्राह्यौ, प्रतिभोगसमर्पणमेतन्मन्त्र-  
 त्रयस्याप्यावश्यकत्वात् । तथोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

संकल्पस्च प्रदानं च प्रीतिश्चेति त्रयं त्रयम् ॥

कुर्यात् सर्वेषु भोगेषु देशकालाद्यपेक्षया । (३६।१०७-१०८) इति ।

अत एव सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे (७।१४७-१४९) सुदर्शनार्चनप्रकरणे जयाख्योक्तो  
 भोगदानमन्त्रः संगृहीतः । संकल्पमन्त्रस्तु लक्ष्मीतन्त्रे उक्तः—

समाहितोऽञ्जलिं कृत्वा तत ऊँ भगवन्निति ॥

आसनेनार्चयिष्यामीत्युक्त्वा दद्यादथासनम् । (३६।१०८-१०९)

इति ॥ ७५-७६ ॥

एवं मानसाराधने संपन्ने सत्यैव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य “अभेदेनादिमूर्त्ते  
 संस्थितं वटबीजवत्” (५।८१) इति वक्ष्यमाणरीत्या भगवानेव भक्तानुग्रहकाम्यया  
 व्यक्तीकृतं निजस्वरूपमुसंहरतीत्याह—अथेति । एवमेव वक्ष्यत्युत्तरत्रापि—“विसर्जनं  
 तु बोद्धव्यं संपन्ने तु क्रियाक्रमे” (१७।४०) इति ॥ ७६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशाचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये द्वितीयः परिच्छेदः ॥

१. आत्मनोऽपि यथा रूपं—अ० । २. वानिति—अ० म० । ३. ‘अव्यक्त’...‘वक्ष्यमाण-  
 रीत्या’ नास्ति—म० । ४. जर्जे—अ० म० । ५. क्रमः—अ० म० ।

## तृतीयः परिच्छेदः

नारद उवाच

पुनराह जगन्नाथः ग्रसङ्गेन मुनीश्वराः ।  
परमारथनं आग्वत् परस्य चातुरात्मनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

हवर्णकर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यंपदे त्वधः ।  
चतुर्धा प्रेमवाख्येन क्रमेण तमजं यजेत् ॥ २ ॥  
ज्ञानविद्याचतुष्केण यथा तदवधारय ।

अथ तृतीयो व्याख्यास्यते ।

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।  
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ (१०१४२)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तरीत्या अव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य “अभेदेनात्ममूर्तेवै संस्थितं वैटबीजवत्” (५।८।) इति वक्ष्यमाणरीत्या पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्य “स्वमूर्तिभिरमूर्तीभिरच्युताद्याभिरन्वितः” (२।७।२) इति पूर्वमेव तुर्याणदाश्रितेन परेण भगवता सहै-वोक्तव्यात् तत्प्रसङ्गेन पुनः सुषुप्तिपदाश्रितस्य व्यूहस्याचर्चनां भगवान् संकर्षणायो-पदिशतीत्याह—पुनर्विति ॥१॥

सुषुप्तिव्यूहस्याचर्चनक्रमं शृणुष्वेत्याह—हवर्णेति सार्वेन । हवर्णकर्णिकायां हृदय-कमलस्याकारादिवर्णमयत्वात् तत्कर्णिकाया हकारात्मकत्वं बोध्यम् । तथा च वक्ष्यति पञ्चमे परिच्छेदे—

अनन्तसरसि क्षाणे विश्रान्तं यन्महामते ।  
अकाराक्षरमूलं<sup>१</sup> तु नित्यं सर्वश्रियाम्बुजम् ॥  
आकाराक्षरनालं तु शेषसर्वार्णपल्लवम् । (५।२-३) इति ।

१. नारद इत्येव सार्वत्रिकः पाठः । २. परमा-मू० । ३. रुद्रे-मू० वक० बख० ।  
४. प्रणवा-अटी० । ५. ‘अव्यक्तस्य’ ‘रीत्या’ नास्ति-अ० । ६. घट-म० । ७. शीलं-म० ।

वेदकत्वेन भगवान् ब्रह्मसंबलिताकृतिः ॥ ३ ॥  
 स्तम्भवत् कर्णिकामध्ये स्थित्वा वेदात्वमेति च ।  
 स्वयमेवोपकाराय कर्मिणां ब्रह्माजिनाम् ॥ ४ ॥  
 प्राग्भागादुत्तरं यावद् गुणभेदेन लाङ्गलिन् ।  
 विभजत्यात्मनात्मानं वासुदेवः परः प्रभुः ॥ ५ ॥  
 अनुज्ञातस्वरूपस्तु प्राग्भागे षड्गुणात्मना ।  
 वलसंबलितेनैव ज्ञानेनस्तेऽथ दक्षिणे ॥ ६ ॥  
 ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भागेऽवैष्ठिष्ठते ।  
 तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः ॥ ७ ॥

एतादृशकर्णिकात्मके । अधः पूर्वोक्तगगनात्मकतुर्यपदस्याधः स्थित इत्यर्थः । सुषु-  
 प्त्याख्यपदे चतुर्धा वासुदेवादिभेदैः प्रभवाख्येन क्रमेण सृष्टिक्रमेणोत्यर्थः । वासुदेवाद्यनि-  
 रुद्धान्तमिति यावत् । तमजं पूर्वोक्तं परं भगवन्तं ज्ञानविद्याचतुष्केण वक्ष्यमाणमन्त्र-  
 चतुष्केण यथा यजेत् तद्विधिमवधारय । अत्र परस्यैव भगवतस्तुर्यादिस्थानेषु वासु-  
 देवादिभेदैर्बहुत्वाश्रयणात् तमजं यजेदित्यभेदोक्तिः । वद्यति हि—

यथाम्बरस्थः सविता एक एव महामते ।  
 जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं संप्रदर्शयेत् ॥  
 एवमेकोऽपि भगवान् नानामैन्त्राश्रयेषु च ।  
 तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥ (४।३३-३४) इति ॥ २-३ ॥  
 वेदवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत्परम् ।  
 अनस्तमितभारूपं सर्वाभिन्नमहंपदम् ॥ (लक्ष्मी० २०।४)

इत्युवतस्य कर्मिणामनवगाह्यतया तेषामुपकाराय भगवान् स्वयमेव पूर्वोक्तहृत्कमल-  
 कर्णिकामध्ये स्थित्वा शब्दब्रह्मरूपेण वेदकत्वं पररूपेण वेदात्वं च यातीत्याह—वेदक-  
 त्वेनेति सार्थेन ॥ ३-४ ॥

पुनः स एव तत्र प्रागादिषु चतुर्दक्षु गुणभेदेन चतुर्धा भवतीत्याह—  
 प्राग्भागादिति ॥ ५ ॥

तेषां गुणभेदविवरणमाह—अनुज्ञातेति द्वाभ्याम् ॥ ६-७ ॥

१. गे प्रतिष्ठितः—म० अटी० । २. बाह्यात्म—म०, वाह्यारूप—अ० । ३. वर्णा—अ० म० ।  
 ४. पदम्—अ० म० । ५. महत्—अ० म० । ६. कर्मणा—अ० ।

यद्यप्यरूपो भगवान् व्यूहात्मा गुणलक्षणः ।  
 अत्रापि पूर्वमेवोक्तं रूपमस्योपचर्यते ॥ ८ ॥  
 किन्तु द्वितीयमूर्तेवं शुभपाणितलद्वये ।  
 'स्फुटो रेखामयः शङ्खः सुव्यक्तं लाङ्गलं महत् ॥ ९ ॥  
 रम्येषुणा तृतीयस्य दक्षिणशिचहितः<sup>३</sup> करः ।  
 तुर्यस्यासिवरेणैव शङ्खमाभ्यां(ङ्खाभ्यां च) करद्वये ॥ १० ॥  
 अवाङ्मुखः करवशाद्भूर्वकत्रः स्वभावतः ।  
 एतावता लक्षणेन व्यक्तीभावं गतेन च ॥ ११ ॥  
 भावस्थितिं निबध्नाति व्यूहेऽस्मिन् साधकस्य तु ।  
 सादृश्यात् षड्गुणत्वाच्च समत्वाच्च विशेषतः ॥ १२ ॥  
 शान्तत्वान्निष्कलत्वाच्च न भेदो विद्यते यतः ।  
 गुणद्वयद्वयेनैव यद्यप्युक्तं पुरा मया ॥ १३ ॥  
 एकैकं भगवद्वर्णं मुख्यवृत्त्या तथापि हि ।  
 चतुष्कमवशिष्टं यद् गुणानां समवस्थितम् ॥ १४ ॥  
 तद् भजेतानुवृत्तिं च एकैकस्य च सर्वदा ।

अस्य सुषुप्तिव्यूहस्य पूर्वोक्ततुर्यव्यूहपदरूपत्वाद् गुणमात्रलक्ष्यत्वमेव, तथापि गुणभेदवच्चक्रादिलाङ्गनभेदसत्त्वात्<sup>४</sup> परोक्तं रूपमत्राप्युपचर्यत इत्याह—यद्यपीति त्रिभिः ॥ ८—१० ॥

किन्तु पररूपवद् वरदाभयमुद्रान्वितत्वं विना केवलमवाङ्मुखकरत्वमूर्धवकत्रत्वं च चतुर्णामिष्यि विशेषमाह—अवाङ्मुख इति ॥ ११ ॥

एवं लाङ्गनादिभिर्व्यक्तत्वेऽपि सादृश्यादिहेतुभिर्भेदाभावात् साधकस्यानुभवविषयो भवतीत्याह—ईतावतेति ॥ ११—१५ ॥

१. पङ्क्तित्रयं नास्ति—३० । २. दक्षिणाभिहितः—मु० वख० । ३. प्रक्रियत्वा—वक्त्र० वख० अ० उ० । ४. क्रमशः स्थितः—अ० उ०, समवस्थिताः—मु० अटी० । ५. भेदत्वात्—अ० । ६. एतावतेति द्वाभ्याम्—म० ।

एवं ज्ञात्वा स्थिति ब्राह्मीं स्वानन्दां स्पन्दलक्षणाम् ॥१५॥  
ब्रह्मामृतमयैर्भोगैर्योऽ यजेत् समाहितः ।  
विशुद्धबुद्ध्या देहान्ते स विश्वत्यमलं पदम् ॥१६॥  
अथ मन्त्रचतुष्कं तु ब्रह्माण्डगुण्यवाचकम् ।  
कर्मिणां मोक्षदं शश्वत् पूर्वोहिष्टं निवोधतु ॥१७॥  
आदायाक्षगतं वीजं नाभिपूर्वमतः परम् ।  
अरादेकादशात् पूर्वं तस्याधो विनिवेश्यते ॥१८॥  
वर्णं नेमेस्तृतीयं यत् तृतीयमिदमक्षरम् ।  
द्वितीयमष्टमाद् वण नाभेस्तुर्यादिनान्वितम् ॥१९॥  
ततस्तु नवमं नेमेः केवलं विद्धि पञ्चमम् ।  
अष्टमादपरं वर्णं द्वितीयस्वरसंयुतम् ॥२०॥  
षष्ठमेतद्विजानीयात् सप्तमं दशमात् परम् ।  
अथ द्वितीयदशमादादायोध्वें तु विन्यसेत् ॥२१॥  
अष्टमात् द्वितीयस्य मन्त्राणामिदमष्टकम् ।  
द्वितीयात् प्रथमं वर्णमष्टमादपरं ततः ॥२२॥  
नाभ्येकादशमोपेतं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ।  
पूर्वमेकादशाच्छुद्रं तादृढनेमेस्तृतीयकम् ॥२३॥  
नेमिपूर्वं च तदनु नाभेरेकादशाङ्कितम् ।  
नेमेः षष्ठमथादाय स्थितं तत्पञ्चमोपरि ॥२४॥

अत्र चतुर्णामिपि षड्गुणत्वादियुक्तम् । बलसंवलितेनैव ज्ञानेन ज्ञानपूर्वकमर्चने  
फलमाह—एवमिति सार्वेन ॥१५—१६॥

सुषुमिव्यूहवतुष्कं शृण्वित्याह—अथेति ॥१७॥

चतुर्णामिपि मन्त्राणामुद्घारप्रकारं तत्तत्पदविभागांश्चाह—आदायाक्षगतं वीज-

१. स्मृति—मु० बक० उ० । २. न्दास्पद—अ० अटी० । ३. र्योजयेत—अ० उ० बक०,  
योजयेत् तमसाकृतः—मु० अटी० । ४. भिन्न—बक० बख० अ० उ० । ५. वेशिते—मु० अटी०,  
वेशयेत—बक० । ६. द्वितीय—बक० बख० । ७. तद् द्वि—मु० अटी० उ० । ८. मम—अ० उ० ।  
९. ताह्ये—मु०, तं ह्ये—अटी० । १०. तं प—अ० उ० ।

ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं नेमेस्तृतीयकम् ।  
 द्वितीयं केवलं नेमेरादाय च महामते ॥ २५ ॥  
 कर्त्रे नमः पदं पश्चाद् योजयेच्चतुरक्षरम् ।  
 एकविंशतिभिर्वर्णेण्यं मन्त्र उदाहृतः ॥ २६ ॥  
 अभिन्नः पदभेदेन भवेदेकाधिकस्तु वै ।  
 प्राग्वर्णेन पदं पूर्वं पञ्चाणीं द्वितीयं भवेत् ॥ २७ ॥  
 पडक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं तद्वदेव हि ।  
 द्वयक्षरं पञ्चमं विद्वि तद्वत् पष्ठं महामते ॥ २८ ॥  
 अथापरं महामन्त्रं द्वितीयमवधारय ।  
 यज्ञात्वा न पुनर्जन्म भवत्याराधकस्य च ॥ २९ ॥  
 आदायाक्षरंमध्यस्थं नाभिपूर्वमतः परम् ।  
 पूर्वं नेमेस्तु तस्यैव योज्यं नाभित्रयोदशम् ॥ ३० ॥  
 द्वितीयादपरं वर्णं भवेशक्त्यात्मने पदम् ।  
 द्वितीयं द्वादशाद् वर्णं द्वितीयात् प्रथमं ततः ॥ ३१ ॥  
 पञ्चमं च बहिष्ठेभ्यस्त्रीनेतान् विद्वि केवलान् ।  
 नाभ्येकादशसंभिन्नं द्वितीयं चाष्टमात् ततः ॥ ३२ ॥  
 नमो नमः पदयुतो मन्त्रश्चाष्टादशाक्षरः ।  
 अस्येकार्णं पदं पूर्वं त्र्यक्षरं तदनन्तरम् ॥ ३३ ॥  
 पडक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ।  
 द्वितीयं द्वयक्षरं चान्यत् पदयोः सम्प्रकीर्तिम् ॥ ३४ ॥  
 तृतीयमथ वक्ष्यामि मन्त्रं मन्त्रविदांवर ।  
 यज्ञात्वा मानसीं शुद्धिं परामभ्येति कर्मणाम् ॥ ३५ ॥  
 वीजमादाय मध्यस्थमाद्यमेकादशात् ततः ।  
 नेमेस्तृतीयं तदध ऊर्ध्वं नाभ्यपरं तु वै ॥ ३६ ॥

मित्यारभ्य अन्तस्थं द्वयक्षरं स्मृतमित्यन्तम् । एतद्वयात्यानमार्गस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात्

१. गण्डि-अ० । २. द्वितीय-उ० । ३. अस्य-वस्य० उ० । ४. पञ्च पञ्च-अ० ।  
 ५. संपर्श-अटी० । ६. तन्म-मु० अटी० । ७. मानसं शुद्धं परम-अ० वस्य० ।

अथाद्यमष्टमाद् वर्णं द्वितीयं स्वरसंयुतम् ।  
 तद्वद् एकादशादाद्यं वर्णमन्यं समाहरेत् ॥ ३७ ॥  
 दशमादपरं वर्णं नेमेष्टकमन्ततः ।  
 युक्तं नाभिद्वितीयेन त्वाद्यं नेम्यक्षरं तु यत् ॥ ३८ ॥  
 नाभित्रयोदशोपेतमादाय दशमात् परम् ।  
 द्वितीयं नवमाद्वर्णं युक्तं नाभ्यपरेण तु ॥ ३९ ॥  
 तत्संख्यं दशमाच्छुद्धं ततो वाद्यात् पञ्चमम् ।  
 नेमेद्वितीयं तदधो युक्तं नाभेः परेण तु ॥ ४० ॥  
 द्वितीयं दशमाद् वर्णं प्राणाय ऋक्षरं पदम् ।  
 ततस्त्वेकादशादाद्यं केवलं च समाहरेत् ॥ ४१ ॥  
 अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं नेमेस्तृतीयकम् ।  
 नाभित्रयोदशोपेतं वहिष्ठेष्वपरं ततः ॥ ४२ ॥  
 नेमेस्तृतीयस्योर्ध्वे तु नवमादपरं न्यसेत् ।  
 ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं प्राणेनेमिमण्डलात् ॥ ४३ ॥  
 द्वितीयमथ वै वाद्यात् सनमस्कं हि केवलम् ।  
 त्रयोविंशतिभिर्वर्णैरुपेतोऽ होष मन्त्रराद् ॥ ४४ ॥  
 पदैः पूर्वोक्तसंख्यैस्तु तेषां भेदोऽप्यथोच्यते ।  
 पूर्वमेकाक्षरं विद्वि द्वितीयं तु नवाक्षरम् ॥ ४५ ॥  
 तृतीयं द्वयक्षरं चैव चतुर्थं ऋक्षरं स्मृतम् ।  
 षड्क्षरमथोर्ध्वस्थं द्वयक्षरं तदनन्तरम् ॥ ४६ ॥  
 चतुर्थमधुना मन्त्रं निवोध गदतो भम ।  
 येन विज्ञातमात्रेण संविदुत्पद्यते परा ॥ ४७ ॥  
 आदायादौ यदक्षस्थं नाभिर्पूर्वमनन्तरम् ।  
 ततस्तृतीयादपरं वर्णमादाय लाङ्गलिन् ॥ ४८ ॥

सुगमः । प्राग् वर्णचक्रं विलिख्य उक्तक्रमेण वर्णोद्धारे कृते—ॐ अप्रतिहतानन्तगतये परमेश्वराय कर्त्तव्य नमः । ॐ अमोघसर्वशक्त्यात्मने भगवत्ते नमो नमः । ॐ प्राणापान-

१. यत्तन्ना—मु० । २. द्वितीय—अ० । ३. नियमा—मु० अटी० । ४. तोऽप्येष—अ० ।  
 ५. संख्यस्तु—मु० अटी० । ६. प्रकृतग्रन्थ इति शेषः ।

नेमिद्वितीयं तस्याधस्तदधो नाभिपञ्चमम् ।  
 द्वितीयमष्टमाद् वर्णं तत्संख्यं नेमिमण्डलात् ॥ ४९ ॥  
 आदायैतद् द्वयं कुर्याद् युक्तं नाभ्यपरेण तु ।  
 अथ नाभितृतीयेन युक्तं बाह्यात् पञ्चमम् ॥ ५० ॥  
 आद्यात् पूर्वमथादाय नाभिसप्तमसंयुतम् ।  
 द्वितीयमष्टमाद् वर्णं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ॥ ५१ ॥  
 आदायाभ्यां नियोक्तव्यं द्वितीयं नाभिगोचरात् ।  
 अथ द्वितीयं दशमात् केवलं वर्णमाहरेत् ॥ ५२ ॥  
 द्वितीयमष्टमाद् वर्णं तदूर्ध्वे दशमात् परम् ।  
 नाभिद्वितीयमस्यैव योजयेत् तदनन्तरम् ॥ ५३ ॥  
 ततो नेमिद्वितीयं तु केवलं वर्णमाहरेत् ।  
 अथ नाभेर्यदादिस्थं प्राग्वर्णं दशमादरात् ॥ ५४ ॥  
 तदधो द्वितीयं बाह्यात् प्रधिवर्णमनन्तरम् ।  
 युक्तं नाभिद्वितीयेन त्वादाय तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥  
 नेमिद्वितीयसंख्यं यन्नमस्कारपदं ततः ।  
 अष्टादशाक्षरो ह्येष द्वयधिकः पदसंख्यया ॥ ५६ ॥  
 एकार्णं पदमाद्यं तु द्वितीयं चतुरक्षरम् ।  
 पञ्चाक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ॥ ५७ ॥  
 तथैव पञ्चमं चिद्रि अन्तस्थं द्वयक्षरं स्मृतम् ।  
 यत्र यत्र पदानां च वर्णाधिक्यमुदाहृतम् ॥

समानोदानव्यानप्राणाय पैरायोद्रमाय नमः । ३५ अच्युतायांविकृतायानन्ताय अध्यक्षाय  
 नम इति क्रमेण एकविंशतिक्षरोऽष्टादशाक्षरस्त्र्योविशत्यक्षरो विशत्यक्षरदचत्वारो मन्त्रा  
 भवन्ति ॥ १८-५७ ॥

पदानां वर्णसंख्यापूरणप्रकारमाह—यत्रेति । पदानां पूर्वोक्तमन्त्रान्तर्गतपदानां  
 मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् पदे प्रथममन्त्रेजनन्तगतये इत्यत्र वर्णाधिक्यमुदाहृतम् ।

१. नेमेद्वि-मु० अटी० । २. तृतीयं-वक० । ३. पद्विक्तित्रयं नास्ति-उ० । ४. श्लोकद्वयं  
नास्ति-वक० । ५. ह्यन्तस्थ-मु० अटी०, ह्यन्तस्थं-वक० वक० अ० उ० । ६. वग-अ० ।  
७. ताय वि-अ० । ८. विशत्य-म० । ९. योऽपि शक्त्य-अ० ।

तत्रादौ नामिष्टूर्वं तु व्याहृत्याद्यं पदं न्यसेत् ॥ ५८ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां सुषुप्तिव्यूहमन्त्रोदारो नाम  
तृतीयः परिच्छेदः ॥



षडक्षरं तृतीयं त्विति अक्षराधिक्यमुक्तम् । तत्र तस्मिन् पदे, आदौ प्रथमत आद्यपदाद्  
अप्रतिहतेति पदस्य उपरि विद्यमानमकारमाहृत्यानन्तगतय इति पदस्थादौ योजयेदिति  
यावत् । तथा च अनन्तगतये इति षडक्षरत्वं संभवति । एवं चतुर्थमन्त्रे अविकृताया-  
नन्ताय इत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये तृतीयः परिच्छेदः ॥



## चतुर्थः परिच्छेदः

नारद उवाच

अथाह मागान् देवो रक्तराजीवलोचनः ।  
ग्रमन्नः सुग्रसन्नास्यो विधानंमपरं द्विजाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

येनात्मा स्वप्न एवात्मा कर्मणामनुकम्पया ।  
क्रमेण व्यक्ततां नीतो वाग्वर्णकमलोपरि ॥ २ ॥  
अभिन्नपूर्णपाङ्गुण्यविभवेनोपवृहितम् ।  
भासिः सितादिभिर्दीप्तमभिन्नाभिन्नरन्तरम् ॥ ३ ॥  
अवलोक्यामलं देवैषुदितं स्वेन तेजसा ।  
कर्णिकाग्रं समाश्रित्य दिव्यं मन्त्रतनुं पुनः ॥ ४ ॥  
पश्येत् स्वयं स्वशक्त्या वै कालेनालक्ष्यमूर्तिना ।  
संहरन्तं च तद्रूपं व्यक्तं पूर्वकितलक्षणम् ॥ ५ ॥

अथ चतुर्थो व्याख्यास्यते । स्वप्नव्यूहविधानमाहेत्याह—अथेति द्वाभ्याम् । येन कर्मणा, आत्मा परमात्मा, स्वप्ने आत्मेव जीव इव वर्णकमलोपरि व्यक्ततां नीतः प्रकाशितः । तद्विधानमाहेति पूर्वश्लोकेनान्वयः ॥ १-२ ॥

आदौ वासुदेवादीनां चतुर्णामपि मूलभूतस्य विशाख्यूपसंज्ञस्य भगवतो लक्षणमाह—अभिन्नेति सार्वश्चतुर्भिः । अभिन्नपूर्णपाङ्गुण्यविभवेनोपवृहितम् । संकर्षणादिवद्गुणद्वयभेदं विना वासुदेववद् अन्यूनाततिरक्षणाङ्गुणपरिपूर्णमित्यर्थः । अभिन्नाभिः सितादिभिर्भासिदीप्तं वासुदेवादिवत् पार्थक्येन सितादिवर्णभेदं विना श्वेतरक्तपीतकृष्णैश्चतुर्भिरपि तेजोभिर्भास्वरमित्यर्थः । स्वेन तेजसा उदितम्, केवलतेजोरुगमित्यर्थः । देवं विशाख्यूपाख्यमवलोक्य पूर्वमेव तेजोरूपं दृष्ट्वेत्यर्थः । पुनः कर्णिकाग्रं समाश्रित्यमन्त्रतनुं पश्येत्, मूर्तिभूतं पश्येदित्यर्थः । पुनस्तद्रूपं संहरन्तं च पश्येदित्यन्वयः । एवं

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वं पाठः । २. नं परमं-उ० । ३. येनात्मना स्व एवात्मा-अ० उ० । ४. देवं-वद० उ० । ५. कारं-उ० । ६. वरं-म० अटी० ।

एवं मन्त्रमयं देहमृपसंहृत्य लाङ्गुलित् ।  
 आमूलात् कर्णिकाप्रत्यं च संपूर्यास्ते स्वतेजसा ॥ ६ ॥  
 ब्रह्मयूपस्वरूपेण त्वाकमय स्वं महामते ।  
 मौष्यमूर्तिचतुष्कं तु सर्वदिक्प्रसृतं च यत् ॥ ७ ॥  
 प्राच्यां सितेन वपुषा सूर्यकान्त्यधिकेन तु ।  
 व्यक्तिमध्येति भगवान् वासुदेवात्मना स्वयम् ॥ ८ ॥  
 पद्मरागसमानेन तेजसा तदनन्तरम् ।  
 उद्देति दक्षिणस्यां वै प्रभुः सङ्कर्षणात्मना ॥ ९ ॥  
 वैर्मार्गशिमसन्तप्तशतधामाधिकेन तु ।  
 रूपेण पश्चिमस्यां च व्यक्तं प्रद्युम्नसंज्ञया ॥ १० ॥  
 शरदूगगनसंकाशवर्णेन परमेश्वरः ।  
 ममास्त उच्चरस्यां चाप्यनिरुद्धात्मना ततः ॥ ११ ॥  
 मंस्थानमादिमूर्तवै सर्वेषां तु ममं स्मृतम् ।

मन्त्रमयं देहमृपसंहृत्य आमूलात् कर्णिकाप्रत्यं स्वतेजसा संपूर्य ब्रह्मयूपस्वरूपेणास्ते, मूर्तिवर्जितः केवलतेजोरूपमाश्रित्य हृत्कमलकर्णिकारूपेण शाखाभूतानां वासुदेवादीनां संध्ययूपस्थानीयतं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

व्यूहाद् व्यूहममुत्पत्तौ पदादृ यावत् पदान्तरम् ।  
 अन्तरं सकलं देवां संपूरयति तेजसा ॥  
 पूजितस्तेजसां रागिरव्यक्तो मूर्तिवर्जितः ।  
 विशाखयूप इत्युक्तस्तत्तज्ज्ञानादिवृहितः ॥  
 तस्मिन् तस्मिन् पदे तस्मान्मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।  
 वासुदेवादिकं शक्रं प्रादुर्भवति वै क्रमात् ॥ (११११-१३) इति ।

विशाखयूपशब्दनिर्वचनं च तत्रैवोक्तम्—“शाखास्तु वासुदेवाद्या विभोदेवस्य कीर्तिः । विशाखयूपो भगवान् वितर्ता हि करोति तत् ॥” (११२९) इति ॥ २-७॥

अथ वासुदेवादीनां लक्षणान्याह—सौम्येत्यारभ्य ज्वालामण्डलमध्यगा इत्यन्तम् ॥ ७-१६ ॥

१. मम—मु० । २. वर्मा—मु० । ३. पूर्णे—अ० । ४. पद्माद्—अ० म० ।  
 ५. आन्तरं—म० । ६. तामिः—मु० ।

सूर्यकोटिप्रभाः सर्वे तेजसा कमलेक्षणाः ॥ १२ ॥  
 दन्तज्योत्सनावितानेस्तु प्रकटीकृतदिह्मुखाः ।  
 पूर्णचन्द्रायुताकारो मुक्ताहाराद्यलङ्कृताः ॥ १३ ॥  
 लसत्पीयषसदृशैः स्वाम्बरैः स्त्रग्वर्युताः ।  
 वरायुधोवर्तकराः स्वकैश्चिह्नैरनुज्ञिताः ॥ १४ ॥  
 रेखोत्थितैस्तु कहारैः पादपञ्चतलाङ्किताः ।  
 विनम्रजनसन्तापशमनव्यापृताननाः ॥ १५ ॥  
 करुणापूर्णहृदया जगदुद्धरणोद्यताः ।  
 स्वदेहतेजःसमभूतज्वालामण्डलमध्यगाः ॥ १६ ॥  
 एवमेवैष भगवान् संमूज्यः प्राक्प्रयोगांतः ।  
 एकैकेन तु भागेन प्राभवेण क्रमेण तु ॥ १७ ॥  
 पुनरेवानिरुद्धादीन्<sup>१</sup> प्राढ्मूर्त्यन्तं महामते ।  
 क्रमान्निरन्तरैर्भौगैरभ्यर्थ्य परमेश्वरम् ॥ १८ ॥  
 प्रणवद्वितयेनैव बुद्ध्या तु सुविशुद्ध्या ।  
 अथयाख्येन विधिना हृद्यागनिरत्वैर्वैः ॥ १९ ॥  
 अथ भिन्नतनोर्मन्त्रं<sup>२</sup> देवस्यास्य महात्मनः ।  
 विशाख्यूपसंज्ञस्य वक्ष्ये विद्याविवेकदम् ॥ २० ॥  
 वर्णमध्यस्थमादाय त्वाद्यमेकादशात् ततः ।  
 भिन्नं नाभिद्वितीयेन तृतीयं नेमिमण्डलात् ॥ २१ ॥

एपां वासुदेवादीनां प्रभवाप्ययक्रमेण मानसार्चनमाह—एवमवेति त्रिभिः । क्रमेण सृष्टिक्रमेणत्यर्थः । वासुदेवाद्यानिरुद्धान्तमिति यावत् । प्रणवद्वितयेन द्वितीयपरिच्छेदोक्तप्रीतिमन्त्रेणत्यर्थः । किन्तु तत्र “प्रीयतां मे परः प्रभुः” (२।७६) इत्युक्तम् । अत्र तु परशब्दस्थाने वासुदेवसंकर्षणाद्यन्यतमशब्दः प्रकरणानुरोधेनैः योज्यः ॥ १७-१९ ॥  
 आदौ विशाख्यूपमन्त्रमाह—अथेत्यारभ्य मन्त्रस्यास्य महामते इत्यन्तम् । ३५

१. कार—मु० वक्ष० वक्ष० अटी० । २. नास्त्येष एलोकः—उ० । ३. साम्बरैः—अ० ।
४. द्योति—मु० अटी० उ० । ५. लोमो—मु० अटी०, लेखो—वक्ष० अ० उ० । ६. निमग्न—वक्ष० अ० उ० । ७. ढार—मु० अटी० । ८. सन्तप्त्यः—वक्ष० अ० उ० । ९. जनः—अ० उ० ।
१०. प्रभवेन—मु० अटी० । ११. ढादि—वक्ष० अ० उ० । १२. तथेति सार्वत्रिकः पाठः ।
- भाष्यानुरोधी पाठोऽत्र स्थापितः । १३. मन्त्र—अ० उ० । १४. तुयोगेन—अ० ।

द्वितीयं केवलं बाह्यात् तेजोरूपाय वै पदम् ।  
 ततस्त्वेकादशात् पूर्वं केवलं तु समाहरेत् ॥ २२ ॥  
 तृतीयमक्षरं बाह्याद् युक्तं नाभ्यपरेण तु ।  
 दशमादपरं वर्णं पूर्वमेकादशात् ततः ॥ २३ ॥  
 एकादशस्वराक्रान्तमुद्धरेत् तदनन्तरम् ।  
 ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं प्रध्यक्षरं हि यत् ॥ २४ ॥  
 केवलं अद्वितीयं बाह्यादायमेकादशात् तथा ।  
 नेमेस्तृतीयं तदनु द्वितीयं स्वरसंयुतम् ॥ २५ ॥  
 दशमादपरं शुद्धं पूर्वमेकादशात् ततः ।  
 नाभ्येकादशसंयुक्तं तदन्तेऽमललोचन ॥ २६ ॥  
 नाभेस्तृतीयसंयुक्तं प्रधिवर्णं समाहरेत् ।  
 अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं यत्पर्मष्टमात् ॥ २७ ॥  
 नेमिद्वितीयं तदनु नमस्कारसमन्वितम् ।  
 चतुर्विंशतिभिर्वर्णैर्युक्तो मन्त्रो ह्ययं महान् ॥ २८ ॥  
 प्रणवेन पदं चास्य पूर्वमेकाक्षरं स्मृतम् ।  
 द्वितीयं अक्षरं प्रोक्तं पञ्चार्णं तदनन्तरम् ॥ २९ ॥  
 षडक्षरं चतुर्थं तु सप्तार्णं चात्र पञ्चमम् ।  
 पदं तु द्वयक्षरं षष्ठं मन्त्रस्यास्य महामते ॥ ३० ॥  
 नानामन्त्रस्वरूपेण ह्यादिदेवः परो विशुः ।  
 आदिमध्यावसानेषु स्थितः सर्वस्यं सर्वदा ॥ ३१ ॥

पराय तेजोरूपाय परानपेक्षाय परानपेक्षिताय नम इति चतुर्विंशत्यक्षरोऽयं मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २०-३० ॥

अथ विशाखयूपः पूर्वोक्तः परवासुदेव एवेत्यभिप्रायं विशदगति—नानामन्त्रेति ॥ ३१ ॥

१. पूर्ण-उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. प्रत्य-बख० विहाय सर्वत्र पाठः ।
३. द्वितीय-अ० अटी० । ४. परमा-बक० बख० अ० उ० । ५. परः प्रभुः-बक० बख० अ० उ० । ६. ने तु-बख० अ० उ० । ७. सर्वत्र-अ० उ० । ८. ‘इत्यभिप्रायं’‘वासुदेव एव’ नास्ति-म० !

चतुर्व्यूहचतुष्के स्वे शान्तादिव्यक्तलक्षणे ।  
 प्राधान्येन त्रयाणां च देवानामवतिष्ठते ॥ ३२ ॥  
 यथाम्बरस्थः सविता त्वेकं एव महामते ।  
 जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयेत् ॥ ३३ ॥  
 एवमेकोऽपि<sup>१</sup> भगवान् नानामन्त्राश्रयेषु च ।  
 तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥ ३४ ॥  
 अनुग्रहार्थं <sup>२</sup>भविनां नानाश्रद्धावशेन तु ।  
 चतुष्कमथ मन्त्राणां निवोध गदतो 'मम ॥ ३५ ॥  
 सितादिवर्णव्यवतीनां वाचकत्वेन वै क्रमात् ।  
 अक्षस्थं नाभिपूर्वं च वर्णं यद् दशमात् परम् ॥ ३६ ॥  
 नेमिपूर्वमधो नाभेस्त्रयोदशसमन्वितम् ।  
 द्वितीयं द्वादशाद् वर्णं द्वितीयात् परमं ततः ॥ ३७ ॥  
 पञ्चमं च बहिष्ठेभ्यस्त्रीनेतान् विद्धि केवलान् ।  
 ततोऽष्टमाद् द्वितीयं तु नाभ्येकादशभेदितम् ॥ ३८ ॥  
 पञ्चार्णं वासुदेवाय पदं च तदनन्तरम् ।

एवं शान्तोदितादिव्यूहचतुष्टयेऽपि परवासुदेव एव तत्तद्वृहान्तर्गतवासुदेव-रूपेणावतिष्ठत इत्याह—चतुर्व्यूहेति । अत्र शान्तोदितव्यूहान्तर्गतवासुदेवस्य परात्परवासुदेवाभिनन्तवेनोभयोरप्येकेनैव मन्त्रेण चारितार्थात् संकर्षणादीनां त्रयाणां तदङ्गत्वेन प्रत्येकं मन्त्रानुकृतेश्च शान्तोदितवासुदेवस्याङ्गित्वरूपं प्राधान्यं ज्ञेयम् । सुषुप्त्यादिव्यूहवर्णं तु प्रत्येकं चतुर्णां वासुदेवादिमन्त्राणामुक्तत्वात् तत्र वासुदेवस्याग्रगण्यैत्वरूपं प्राधान्यं बोध्यम् ॥ ३२ ॥

एवं परस्यैकस्यैव नानारूपत्वं दृष्टान्तमुखेन द्रढयति—यथेति सार्वद्वाभ्याम् ॥ ३३—३५ ॥

अथ स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्धारमाह—चतुष्कमथ मन्त्राणामित्यारभ्य यावत्

१. वाह्यात्म्रं—अ०, वाह्यार्थ—उ० । २. को हि—अ० । ३. भवतानां—बक० बख०, भावानां—अटी० । ४. प्रथमं—अ० उ० । ५. गस्यत्वरूपं—अ० ।

त्रीयोदशाक्षरो होष प्रथैमं परिकीर्तिः ॥ ३९ ॥  
 क्रमेण वक्ष्याम्यन्येषामुद्गारं तु यथा स्थितम् ।  
 अक्षस्थमक्षरं नाभेद्वितीयं तदनन्तरम् ॥ ४० ॥  
 पूर्वमन्त्रानुसारेण ततो द्यात् पदव्यम् ।  
 अथात्र पञ्चदशमः<sup>३</sup> नाभेरोद्गारपूर्वकम् ॥ ४१ ॥  
 पदव्येण तेनैव संयुक्तं विद्धि मन्त्रपम् ।  
 अथ षोडशसंख्यं यन्नाभेः प्रणवपूर्वकम् ॥ ४२ ॥  
 पूर्वोक्तलक्षणानां तु पदानां प्राणनिवेश्यते ।  
 अस्मान्मन्त्रत्रयाद् विद्धि द्वयं प्राणमन्त्रसंख्यया ॥ ४३ ॥  
 एक एकार्णहितः पदभेदमतः शृणु ।  
 पदद्वयं तु सर्वेषामाद्यमेकाक्षरं स्मृतम् ॥ ४४ ॥  
 द्वयक्षरं<sup>४</sup> च त्रृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ।  
 पञ्चाक्षरं पञ्चमं वै त्रयाणां समुदाहतम् ॥ ४५ ॥  
 तदेकस्य चतुर्वर्णं प्रद्युम्नाख्यस्य लाङ्गलिन् ।  
 एवं स्वप्नपदस्थस्य समाप्तात् परिकीर्तिम् ॥  
 ध्यानार्चनं समन्त्रं च भवतानां हितकाम्यया ॥ ४६ ॥

इति श्रीपाञ्चग्रन्थे श्रीसात्वतसंहितायां  
 चतुर्थः परिच्छेदः ॥

परिच्छेदपरिसमाप्ति । तथा च ॐ अं नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ आं नमो भगवते  
 सङ्क्षिर्णाय । ॐ अं नमो भगवते प्रच्युम्नाय । ॐ अः नमो भगवते अनिस्त्रद्धाय इति  
 मन्त्रचतुष्क्रमद्वृतं भवति ॥ ३५-४६ ॥

इति मौज्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभृताचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वतभाष्ये चतुर्थः परिच्छेदः ॥

१. पद्मकितत्रयं नास्ति-अ० । २. प्रथमः-उ० । ३. शकं-अ० । ४. वेशयेत्-उ० ।  
 ५. त्रयक्षरं-मु० बक० अटी० ।

## पञ्चमः परिच्छ्रेदः

नारद उवाचे

अथ विग्रवरा भूयः प्राह सर्वेश्वरो हरिः ।  
व्यामोहविनिवृत्यर्थं भविनां सीरिणः स्फुटम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अनन्तसरसि क्षार्णे विश्रान्तं यन्महामते ।  
अकाशाक्षरमूलं तु नित्यं सर्वाश्रयाम्बुजम् ॥ २ ॥

अथ पञ्चमो व्याख्यास्यते । अत्र पुनर्जग्निवृद्धूहलक्षणमाह<sup>३</sup>—अथेति । भविनां संसारिणां व्यामोहविनिवृत्यर्थम् । सीरिणः संकर्षणस्य प्राहेत्यन्वयः ॥ १ ॥

हृदयकमलस्य वर्णमग्रत्वनिहृषणपूर्वकं जाग्रत्पदसंज्ञे तत्पत्रे जाग्रद्वृद्धूहर्चनं कार्य-  
मित्याह—अनन्तसरसि । महासरोवर इत्यर्थः । अत्र क्षकारस्य जगदुत्पत्तिहेतुभूतवृत्त्या-  
शक्तिपञ्चकप्राथमिकत्वात् सरोवरत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

क्षादि शान्तं सुरेशान शक्त्युन्मेपविशेषितम् ॥  
४४ इत्येव महाथोम उदितः सत्यसंज्ञया ।  
वासुदेवाख्यया होऽभूत् साख्यः सङ्कृप्तेणोदयः ॥  
प्रद्युम्नः पाख्यया ज्ञेयो हृनिरुद्धस्तु शाख्यया ।  
ता एताः शक्तयः पञ्च पैञ्चव्रह्मातिकाः पराः ॥  
स्फूर्तयोँ<sup>५</sup> मदभिन्नास्ता जगदुत्पत्तिहेतवः ।  
ज्वाला इव महावह्नेर्वृद्धाणो मम शक्तयः ॥ (१६।३०—३३) इति ।

एवमेव—

अनुत्तरं स्वसंवेदां<sup>६</sup> चिद्रूपं मम शाश्वतम् ॥  
वाक्कलत्त्वं तदकाशात्मा सर्ववाङ्मयसंभवः । (१९।२-३)

इति लक्ष्मीप्रोक्तवैभवस्याकारस्य मूलत्वमपि सयुक्तिकं वोध्यम् । “तदेवानन्दरूपेण  
द्वितीयः स्वर इत्यते” (लक्ष्मी० १६।३) इत्युक्तस्याकारस्य नालत्वमप्युचितम् ।

- १. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. सीरिणे-सार्वत्रिकः पाठः ।
- ३. माहेत्याह-म० । ४. क्षमि-अ० म० । ५. ब्रह्मा ब्रह्मस्याः-अ० म० । ६. स्मूर्तयो-अ० ।
- ७. वामचिद्रूपमणा-अ० । ८. तत्तत्त्वं-अ० ।

आकाराक्षरनालं तु शेषसंवर्णपल्लवम् ।  
 दिग्घटकं समाश्रित्य यच्चैत् तिष्ठति चक्रवत् ॥ ३ ॥  
 तत्पत्रमध्ये भगवान् जाग्रत्संज्ञपदे त्वधः ।  
 यष्टव्यो भावनीयश्च यथा तदधुनोच्यते ॥ ४ ॥  
 परं प्रणवबीजेन सम्पूर्णं स्वेन तेजसा ।  
 स्थितं स्वर्कर्णिकोध्वर्च्च केसरान्तं निरीक्ष्य च ॥ ५ ॥  
 ततः प्रणवपूर्वात् तु ब्रह्मबीजचतुष्टयात् ।  
 कदम्बपुष्पसदृशान्मरीचिशतसङ्कुलात् ॥ ६ ॥  
 दिक्क्रमेणोदितं<sup>७</sup> ध्यायेद् विभोर्मूर्तिर्चतुष्टयम् ।  
 सुव्यक्तलक्षणं मान्त्रं विभावेनावृतं वहिः ॥ ७ ॥

शेषसंवर्णपल्लवं शोषाणि पूर्वोक्तावशिष्टानि सर्वाणि यानि वर्णानि इकारादीनि तान्येव पल्लवानि दलानि यस्य तत् तथोक्तम् । अत्र सर्वशब्दस्य प्रायिकत्वमङ्गीकृत्य इकारादिसकारान्तानामेव वर्णानां दलत्वं वाच्यम् । <sup>१</sup> यतस्तृतीयपरिच्छेदे—<sup>११</sup> “हर्वर्ण-कर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यपदे त्वधः”<sup>१२</sup> (३२) इति हकारस्य कर्णिकात्वमुक्तम् । यत् कमलं दिग्घटकं समाश्रित्य स्वदलैः सर्वदिशाः समाश्रित्य चक्रवद् वर्तुलाकारेण तिष्ठति, तत्पत्रमध्ये भगवान् यष्टव्यो भावनीयश्च । जाग्रत्संज्ञपदे अध इति च पदद्वयं पत्रमध्यस्य विशेषणम् । हृदयकमलाकाशस्य तुर्यपदत्वम्, तत्कर्णिकास्थानस्य सुषुप्तिपदत्वम्, केसरस्थानस्य स्वप्नपदत्वम्, तदधःस्थितस्य पत्रस्थानस्य जाग्रत्पदत्वं च सुव्यक्तम् ॥२-४॥

आदौ तत्कर्णिकोध्वर्ति केसरान्तं स्थितं तेजःपरिपूर्णं परं जाग्रद्व्यूहकारणं भगवन्तं तद्वाचकप्रणवबीजेनावलोक्य तत्स्तत्पत्रितः प्रागादिषु वासुदेवादिमूर्तिर्चतुष्टयं समुत्पन्नं <sup>१३</sup>पश्येदित्याह—परमिति चतुर्भिः । ब्रह्मबीजचतुष्टयात् श ष स हात्मकाद् वर्णचतुष्टयादित्यर्थः ।

शादिक्षान्तं तु विज्ञेयं विशुद्धं ब्रह्मपञ्चकम् ॥

शपसहोऽनिरुद्धाद्या विज्ञेयास्त्रिदशेश्वर । (१९।१६-१७)

इति लक्ष्मीतन्त्रवचनात् । अथवा वक्ष्यमाणाद् वासुदेवादिबीजचतुष्टयादित्यर्थः । सुव्यक्तलक्षणमित्यनेन केवलगुणमात्रलक्ष्यतयाऽगोचरसुषुप्तिव्यूहापेक्षया स्वप्नव्यूहस्य

१. सर्वर्ण-मु० उ० । २. यत् ति-अ० उ० । ३. संज्ञे पदे-मु० अटी० । ४. त्वथ-मु० बक० बख० अ० । ५. स्थितस्त्र-मु० अटी० । ६. सदृशं म-मु० अटी० बक० बख० । ७. णादितो-मु० । ८. तेंश्चतु-मु० बक० बख० । ९. सर्वाणि-अ० । १०. यत्-अ० । ११. हकार-अ० । १२. त्व थ-अ० । १३. पश्येत्याह-म० ।

स्फुलिङ्गकणतल्येन समुद्रभूतेन वै परात् ।  
 वाचकान्तनिविष्टेन व्यक्ततामागतेन च ॥ ८ ॥  
 तत्राद्यं भगवद्गुरुं हिमकुन्देन्दुकान्तिमत् ।  
 चतुर्भुजं सौम्यवक्रं पुण्डरीकनिमेभणम् ॥ ९ ॥  
 पीतकौशेयवसनं सुवर्णध्वजशोभितम् ।  
 मुख्यदक्षिणहस्तेन भीतानामभयप्रदम् ॥ १० ॥  
 विद्याकोशस्तु वामेन संगृहीतश्च शङ्खराट् ।  
 पृष्ठगे ह्यपरस्मिस्तुं प्रोद्यतोऽ दक्षिणे त्व(स्त्रिसिंहः) ॥ ११ ॥  
 तथाविधे गदा वामे निषणा वसुधातले ।  
 सिन्दूरशिखराकारमेकवक्रं चतुर्भुजम् ॥ १२ ॥  
 अतसीपुष्पसङ्काशैवासोभृत् ताललाज्जितम् ।  
 मुख्येन पाणियुग्मेन तुल्यमाद्यस्य वै विभोः ॥ १३ ॥  
 सीरं चक्रं च हस्तेऽस्य मुसलं तु गदा करे ।  
 प्रावृणिणशाममुदितखद्योतचयदीधितम् ॥ १४ ॥  
 रत्नकौशेयवसनं मकरध्वजशोभितम् ।  
 एकवक्रं चतुर्वाहुं तृतीयं परमेश्वरम् ॥ १५ ॥  
 मुख्यहस्तद्वयं चास्य प्राग्वद् ध्येयं महामते ।  
 वामे परस्मिन् शाङ्कं च दक्षिणे वाणपञ्चकम् ॥ १६ ॥  
 अङ्गनादिग्रतीकाशं सुसितांम्बरवेष्टितम् ।  
 चतुर्भुजं विशालाक्षं मृगलाज्जनभूषितम् ॥ १७ ॥  
 आदिवत् पाणियुगलमाद्यमस्यापि कीर्तिम् ।  
 दक्षिणादिक्रमेणाथ द्वाभ्यां वै खड्गखेठकौ ॥ १८ ॥

स्वप्नप्रत्यक्षवदीषद्वयक्तत्वम्, तदपेक्षप्राद्यस्य जाग्रद्वयूहस्य जागरप्रत्यक्षवत् सुव्यक्तत्वमुक्तं भवति ॥५-८॥

वासुदेवादीनां विशेषलक्षणान्त्याह—तत्राद्यमित्यादिभिः ॥ ९-१८ ॥

१. कान्तनि—मु० अटी०, कान्तं नि—अ० उ० । २. श्च—मु० अटी० । ३. प्रोद्यतं—  
बक० बख० थ० उ० । ४. त्वरी—मु०, त्वरि—अटी०, त्वपि—अ०, त्वरम्—उ० । ५. संकाश—  
बख० अटी० । ६. द्वितीयं—अ० उ० । ७. पीता—अ० । ८. शोभितम्—अटी० । ९. जाधः—अटी० ।

वनमालाधरः सर्वे श्रीवत्सकृतलक्षणाः ।  
 शोभिताः कौस्तुभेनैव रत्नराजेन वक्षसि ॥ १९ ॥  
 किरीटमुकुटैः रम्यैर्हरकेयूनपुरैः ।  
 ललाटतिलकैश्चित्रैः स्फुरन्मकरंकुण्डलैः ॥ २० ॥  
 स्मग्वरैर्विविघ्माल्यैः कर्पूराद्यैर्विलेपनैः ।  
 रम्यैरलङ्कुताशचैव भावनीयाः सदैव हि ॥ २१ ॥  
 पुनरप्यययोगेन प्रागुदङ्गमध्यमे दले ।  
 सितकृष्णेन वपुषा <sup>३</sup>चानिरुद्धं स्मरेत् ग्रभुम् ॥ २२ ॥  
 उदकृपश्चिममध्यस्थे प्रव्युम्नं भावयेच्छदे ।  
 रूपेण कृष्णपीतेन ह्यप्ययावसरे तु वै ॥ २३ ॥  
 प्रत्यग्दक्षिणमध्यस्थे पीतरक्तवपुर्धरम् ।  
 स्मरेत् सङ्कर्षणं देवं प्रतिस्रोतः क्रियाविधौ ॥ २४ ॥  
 मध्ये प्राग्दक्षिणस्यां च सितरक्तेत तेजसा ।  
 जासुदेवो जगन्नाथो भावनीयो महामते ॥ २५ ॥  
 अतिशुद्गाशयत्वेन स्फटिकोपलवद् विभुः ।  
 स्थानभेदं समासाद्य च च कान्तिद्वयात्तु वै ॥ २६ ॥  
 गृह्णाति शबलं रूपमुपसंहारलक्षणम् ।  
 क्रमशोऽथ चतुर्णा वै वक्ष्ये मन्त्रगणं शृणु ॥ २७ ॥  
 अक्षान्तर्गतमादाय नाभेः पूर्वमतः परम् ।  
 मिः<sup>(८)</sup> नाभिद्वितीयेन नेभिपूर्वमतः परम् ॥ २८ ॥

सामान्यलक्षणमाह—वनमालाधरा इति त्रिभिः ॥१९-२१॥

ईशानाद्याग्नेयान्तमप्यथःक्रमेण स्थितानां तेषां शबलरूपमाह—पुनरित्यादिभिः ॥२२-२७॥

ततस्तन्मन्त्रानाह—क्रमशोऽथ <sup>४</sup>चतुर्णामित्यादिभिः ।

अँक्षान्तर्गतमादायेत्यारभ्य पदं पदविदांवरेत्यन्तम् <sup>५</sup> अमाधुरायाद्भुतमयाय

१. मकुटैः—अटी० । २. न्मकुट—अटी० । ३. अनि—अ०, षाठनिरुद्धं सं—उ० ।  
 ४. अप्य—अ० उ० । ५. मनन्तरम्—अ० उ० । ६. चतुर्णामिति—अ० । ७. अत्राक्षा—म० ।

नाभिपञ्चमसंयुक्तं दशमात् प्रथमं ततः ।  
 तृतीयं च द्वितीयं च नेमेरादाय चाङ्गयेत् ॥ २९ ॥  
 नाभिद्वितीयबीजेन नवमादपरं ततः ।  
 तदधो विनियोक्तव्यं द्वितीयं द्वादशात् व्यत् ॥ ३० ॥  
 पञ्चमेनाथ वै नामेर्युक्तं कुर्यादनन्तरम् ।  
 अष्टमादपरं शुद्धं नेमिपूर्वं तथाविधम् ॥ ३१ ॥  
 युक्तं नाभिद्वितीयेन द्वितीयं नेमिमण्डलात् ।  
 भूयस्तत्केवलं दद्यात् पदं योगेश्वराय वै ॥ ३२ ॥  
 तदन्ते चक्रिणेशब्दमथ नेमेर्यदष्टकम् ।  
 परिचमेनान्वितं नामेस्तदन्ते विनिवैश्य च ॥ ३३ ॥  
 शुद्धमेकादशात् पूर्वमात्रं तदनु चाष्टमात् ।  
 नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं ध्वजायाथ पदं न्यसेत् ॥ ३४ ॥  
 भिन्नमेकादशात् पूर्वं नाभितुर्येण वै ततः ।  
 अष्टमादपरं शुद्धं पञ्चमं नेमिमण्डलात् ॥ ३५ ॥  
 द्वितीयं स्वरसंयुक्तं ससेऽथ द्वचक्षरं पदम् ।  
 वासुदेवाय तदनु सनमस्कं पदं भवेत् ॥ ३६ ॥  
 षट्त्रिंशदक्षरो मन्त्रो भेदस्तस्याधुनोच्यते ।  
 पदमेकादशार्णं तु प्रथमं परिकीर्तिम् ॥ ३७ ॥  
 पञ्चाक्षरं द्वितीयं तु तृतीयं त्यक्षरं स्मृतम् ।  
 षड्क्षरं चतुर्थं तु पञ्चार्णं पञ्चमं तु वै ॥ ३८ ॥  
 षष्ठं सप्ताक्षरं विद्वि पदं पदविदांवर ।

योगेश्वराय चक्रिणे सुपर्णध्वजाय पीतवाससे वासुदेवाय नम इति षट्त्रिंशदक्षरो  
 (क्षमा?मन्त्रः) समुद्घृतो भवति ॥२७-३९॥

१. नवमात्-अ० उ० । २. वै-मु० अटी । ३. यथाष्ट-अटी० । ४. क्रान्त-मु०  
 अटी० अ० उ० । ५. द्वितीय-मु० अटी० वक० ।

प्रणवान्ते त्वथादाय द्वितीयं नाभिमण्डलात् ॥ ३९ ॥  
 चतुर्दशेन वै नाभेर्युक्तं नेम्यष्टकं ततः ।  
 द्वितीयं दशमाच्छुद्धमथ मूयः समाहरेत् ॥ ४० ॥  
 तदधो नवमादैन्तं नाभेस्तुर्यादिनान्वितम् ।  
 एकादशस्वराकान्तं द्वितीयं दशमात् ततः ॥ ४१ ॥  
 बाह्यादथाष्टमं नाभेर्युक्तं पञ्चदशेन तु ।  
 केवलं पञ्चमं नेमेद्वितीयं चाष्टमात् ततः ॥ ४२ ॥  
 नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं वर्णमेतत् समाहरेत् ।  
 युक्तं नाभेस्तृतीयेन प्रागरात् प्रथमं तु वै ॥ ४३ ॥  
 द्वितीयं दशमाद्वर्णं नाभेरेकादशाङ्कितम् ।  
 पञ्चाक्षरं पदं द्वात् तदन्ते तालकेतवे ॥ ४४ ॥  
 भूयस्तदवसाने तु पञ्चार्णं नीलवाससे ।  
 प्रथमात् प्रथमं चाथ द्वितीयं स्वरसंयुतम् ॥ ४५ ॥  
 केवलं नेमिपूर्वं तु चायमेकादशात् ततः ।  
 वहिष्ठेभ्यश्चतुर्थं तु द्वाभ्यां नाभेः परं न्यसेत् ॥ ४६ ॥  
 द्वितीयं केवलं बाह्यात् सङ्कर्षणाय वै पदम् ।  
 तृतीयं प्रथमं नेमेरादायाकारसंयुतम् ॥ ४७ ॥  
 द्वितीयमपि वै बाह्याच्छुद्धं तदनु वै नमः ।  
 षट्त्रिंशाक्षरसंयुक्तस्त्वयं मन्त्रो महामते ॥ ४८ ॥  
 पञ्चवर्णं पदमस्याद्यं पञ्चार्णं तदनन्तरम् ।  
 दशाक्षरं तृतीयं तु त्रीणि पञ्चाक्षराण्यतः ॥ ४९ ॥

प्रणवान्ते त्वथादायेत्यारभ्य त्रीणि पञ्चाक्षराण्यत इत्यन्तम् ॐ आं सौनन्दकिने  
 संवर्तकिने तालकेतवे नीलवाससे कामपालाय संकर्षणाय रामाय नम इति षट्त्रिंश-  
 दक्षरमन्त्रः समुद्धृतः ॥ ३९-४९ ॥

१. यस्त-वक० वख० अ० उ० । २. न्त्तर्नी-अ० । ३. भितू-उ० । ४. यस्वर-मु०  
 अटी० । ५. आद्य-उ० । ६. केवलं द्वितीय-अ० उ० ।

अथादायाक्षणं वीजं नाभेः पञ्चदशात् ततः ।  
 शार्ङ्गधृते पदं दद्याच्चतुर्वर्णमतः परम् ॥ ५० ॥  
 नेमिपूर्वमेथादाय प्रागरात् प्रथमं ततः ।  
 तृतीयं च बहिष्ठेभ्यः पदं त्र्यणं ध्वजाय वै ॥ ५१ ॥  
 ततस्तृतीयं बाह्यात् तु प्रथमात् प्रथमं ततः ।  
 तदधो विनियोक्तव्यं द्वितीयं वर्णमष्टमात् ॥ ५२ ॥  
 द्वितीयस्वरसंयुक्तमथ बाह्यात् तु पञ्चमम् ।  
 अष्टमं तु तदुद्देशात् केवलं पुनरेव तत् ॥ ५३ ॥  
 नाभेरेकादशाक्रान्तं पडक्षरमतः परम् ।  
 पदं सनक्तुमाराय पञ्चाभ्यरमनन्तरम् ॥ ५४ ॥  
 पदं जगत्प्रियायेति प्रद्युम्नाय नमस्ततः ।  
 चतुर्स्त्रिशाक्षरः सोऽयं मन्त्रः श्रुणु पदान्यपि ॥ ५५ ॥  
 आद्यं पडक्षरं ज्ञेयं द्वितीयं तद्वदेव हि ।  
 पञ्चाक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं तु पडक्षरम् ॥ ५६ ॥  
 पञ्चार्णं पञ्चमं विद्वि पद्वर्णं पठेव हि ।  
 अक्षस्थं पोडशं नाभेद्वितीयं दशमात्तु वै ॥ ५७ ॥  
 केवलं ह्यथ तेनैव चाक्रान्तं नवमात् परम् ।  
 अथादाय च तस्यान्ते प्रथमात् प्रथमं परात् ॥ ५८ ॥  
 युक्तं नाभिद्वितीयेन वर्णमेकं महामते ।  
 वर्णद्वयं पदस्यादौ तदेवान्तेऽस्य वै पुनः ॥ ५९ ॥  
 अथ द्वितीयं नवमात् प्रथमात् प्रथमं ततः ।  
 तृतीयमथ वै नेमेद्वितीयस्वरसंयुतम् ॥ ६० ॥

अथादायाक्षणं वीजसित्यारभ्य पद्वर्णं पठेव त्रीत्यन्तस् ॐ अं योऽङ्गधृते मकर-  
 ध्वजाय रक्तवासमे गनतक्तुमाराय जगत्प्रियाय प्रद्युम्नाय नम इति चतुर्स्त्रिशाक्षरः  
 समुद्धृतः ॥ ५०-५७ ॥

अक्षस्थं पोडशं नाभिरित्यारभ्य पठं सप्ताक्षरं स्मृतमित्यन्तस् ॐ अः नन्दकानन्द-

१. क्षरं-उ० अटी० । २. व॒ तदा-अ० । ३. अथ तृ॑-वक० वख० अ० उ० । ४. आ-  
 अ० उ० । ५. म॒ च-अ० उ० । ६. म॒त्तम्-अ० उ० । ७. द्वितीय-अटी० । ८. तीय-अ०  
 उ० । ९. यारं चक्रधृते-अ० ।

द्वितीयं केवलं वाह्यात् सप्तमं नामिमण्डलात् ।  
 अथ षष्ठेन वै नेमेराक्रान्तं द्वितीयं न्यसेत् ॥ ६१ ॥  
 प्राग्वर्णं दशमान्नेमेः पञ्चमस्योर्ध्वं त्वथ ।  
 चतुर्थादपरं वर्णं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ॥ ६२ ॥  
 द्वाभ्यां नामिद्वितीयं तु योजयेत् तदनन्तरम् ।  
 दशमादपरं वर्णं तृतीयस्वरसंयुतम् ॥ ६३ ॥  
 तृतीयमथ वै नेमेर्नामिपञ्चमसंयुतम् ।  
 द्वितीयस्वरसंयुक्तं द्वितीयं नवमादरात् ॥ ६४ ॥  
 अस्यैवाधो नियोक्तव्यं दशमात् प्रथमं हि यत् ।  
 शुद्धं नेमिद्वितीयं तु पदं त्वसितवाससे ॥ ६५ ॥  
 विष्वक्सेनाय तदनु नमस्कारसमन्वितम् ।  
 द्वात्रिंशार्णो द्यं मन्त्रः पदभेदेन वै पुनः ॥ ६६ ॥  
 एकाधिकस्तु भवति पदान्यथ निवोध मे ।  
 द्वचक्षरं तु पदं पूर्वं द्वितीयं तु नवाक्षरम् ॥ ६७ ॥  
 त्रीणि पञ्चाक्षराण्यन्यत् षष्ठं सप्ताक्षरं स्मृतम् ।  
 अप्ययावसरे प्राप्ते स्मरणे चार्चने विभोः ॥ ६८ ॥  
 शृणु मन्त्रचतुष्कं तु पुनरन्यत् समाप्ततः ।  
 आदमेकादशाद् वर्णं पञ्चमस्वरसंयुतम् ॥ ६९ ॥  
 युक्तं स्वरेण तेनैव तृतीयं नेमिमण्डलात् ।  
 द्वितीयस्वरसंयुक्तमथ वाह्यात् तु सप्तमम् ॥ ७० ॥  
 द्वितीयं केवलं नेमेराद्यन्ते प्रणवो नमः ।  
 शुद्धं त्वथाष्टमं वाह्याद् द्वितीयमथ चाष्टमात् ॥ ७१ ॥

कराय ऋश्यब्जायानिरुद्धायासितवाससे विष्वक्सेनाय नम इति द्वात्रिंशादक्षरो मन्त्रः  
समुद्धृतः ॥ ५७-६८ ॥

अथाप्ययक्रमेण व्यूहार्चने मन्त्रचतुष्टयमाद्—अप्ययावसर इत्यादिभिः । तथा

१. न्तद्वितीयं-अ० अटी० । २. तं-अ० । ३. तु तवा-बक० बख० । ४. त्वष्टवर्ण-  
कम्-बख० । ५. वार्चने-अ० उ० ।

अथो नेमिद्वितीयेन युक्त नाभ्यपरेण तु ।  
 केवलं द्वितीयं वाह्यान्नमस्कारमतः परम् ॥ ७२ ॥  
 अथाक्षणं नाभिपूर्वं द्वितीयं त्रितयादगत् ।  
 तदधो द्वितीयं वाह्यान्नाभिपञ्चमसंयुतम् ॥ ७३ ॥  
 अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं यत् परमाष्टमात् ।  
 'द्वितीयं केवलं वाह्यान्नमस्कारं ततः परम् ॥ ७४ ॥  
 अभस्थवीजं तदनु द्वितीयं द्वादशादगत् ।  
 द्वितीयात् प्रथमं चाथ पञ्चमं नेमिमण्डलात् ॥ ७५ ॥  
 केवलं त्रितीयं द्वेतद् द्वितीयं च तथाष्टमात् ।  
 एकादशस्वग्राकान्तं वासुदेवाय वै नमः ॥ ७६ ॥  
 सप्ताभ्यस्तु प्राङ्मन्त्रो द्वितीयस्तु पडक्षरः ।  
 पूर्वतुल्यस्तुतीयस्तु चतुर्थो द्वादशाभ्यः ॥ ७७ ॥  
 पदभेदविनिर्मुक्तमेतन्मन्त्रचतुष्टयम् ।  
 गोपनीयं प्रयत्नेन विधिज्ञैः सिद्धिमीष्मुभिः ॥ ७८ ॥  
 एवं ज्ञात्वाऽमृतमयैर्भाँगैस्तोष्यक्षच पूर्ववत् ।  
 वैभवीयैर्वृतो देवैश्चतुर्मूर्तिरभोक्षजः ॥ ७९ ॥  
 चतुरङ्गादयं चक्रान्त्यातुरात्म्यस्य वै विभोः ।  
 इति मन्त्रगणः प्रोक्तः सरहस्यः समाप्ततः ॥ ८० ॥  
 अभेदेनादिमूर्त्यै संस्थितं वटबीजवत् ।  
 सर्वक्रियाविनिर्मुक्तमुत्तमं ॥ परमार्थतः ॥ ८१ ॥

न ॐ पूरुषाय नमः, ॐ भत्याय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ भगवते वासुदेवाय नम  
 इत्यनिरुद्धादिवापुदेवान्तमन्त्रचतुष्टकमूक्तं भवति ॥ ८८-८९ ॥

एतावदन्तमूक्तमर्थं निगमयनि—चतुरङ्गादिर्ति । चतुरङ्गाद नाभ्यरनेमिप्रधि-  
 मंज्ञाङ्गचतुष्टयविशिष्टादित्यर्थः ॥ ८० ॥

तुर्यव्यहर्यक्षणमाह—अभेदेनेति सार्थेन ॥ ८१-८२ ॥

१. केवल-मू० अटी० । २. द्वितीय-अटी० । ३. ह्यात् प्राप्तवायान्तमूर्पितम्-अ० उ० ।
४. वर्दि दि-अ० । ५. तृतीया-मू० वक० वग्व० । ६. द्वितीय-मू० वक० वग्व० ।
७. सप्त-वक० वग्व० । ८. केवलं द्वितीय-वक० वग्व० । ९. रमतः-वव्व० । १०. प्रगोः-अटी० ।
११. मूर्त-अ० उ० ।

चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धसंविन्मयं महत् ।  
 वहृथकेन्द्रसहस्राभमानन्दास्पदलक्षणम् ॥ ८२ ॥  
 वीजं सर्वक्रियाणां यद् विकल्पानां यदास्पदम् ।  
 चातुरात्म्यं तु तद् विद्धि द्वितीयममलेक्षणं ॥ ८३ ॥  
 नित्यं नित्याकृतिधारं तेजसा सूर्यवर्चसम् ।  
 भिन्नं सितादिभेदेन चोष्ठधिः संस्थितेन च ॥ ८४ ॥  
 कैवल्यभोगफलदं भववीजक्षयङ्गम् ।  
 चातुरात्म्यं तृतीयं तु सुधासन्दोहसुन्दरम् ॥ ८५ ॥  
 मिथन्युपत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितम् ।  
 प्रकृतिं स्वार्थाघष्टाय समुदेत्यस्तमेति च ॥ ८६ ॥  
 चतुर्थं विद्धि तद् यस्य विश्वं तिष्ठति शासनात् ।  
 धत्ते सितादिकं रूपं चतुर्धा यत् कृते युगे ॥ ८७ ॥  
 रक्ताद्यं सितनिष्ठं च त्रेतार्यां हि महाभते ।  
 यीं कृष्णं गिरं रक्तं सम्प्राप्ते द्वापरे युगे ॥ ८८ ॥

मुपुसिव्युहलक्षणमाह—वहृथकेति सार्वेन ॥ ८२-८३ ॥

स्वप्नव्युहलक्षणमाह—नित्यमिति द्वाभ्याम् ॥ ८४-८५ ॥

जाग्रद्वयुहलक्षणं तस्य युगभेदेन वर्णभेदं चाह—स्थित्युत्पत्तीत्यौदिभिर्विभागो-  
 जावथार्यं इत्यन्ते । लक्ष्मीतन्त्रेऽप्येवमेवोपवृहितानि व्युहलक्षणानि—

वहृथकेन्द्रसहस्राभमानन्दास्पदलक्षणम् ।  
 वीजं सर्वक्रियाणां तद् विकल्पानां तदास्पदम् ।  
 सौपुरं चातुरात्म्यं तत् प्रथमं विद्धि वासव ॥  
 अथ स्वैपपर्वे द्व्येवं विभज्यात्मानमात्मना ।  
 देवः प्रागादिभेदेन वासुदेवादिरूपतः ॥  
 समासव्यासभेदेन गुणानां पुरुषोत्तमः ।  
 सितरक्तसुवर्णाभ्रसदृशैः परमाद्गुतैः ॥  
 आदिमूर्तिसमै रूपैश्चतुर्धा हृष्वतिष्ठते ।  
 कैवल्यभोगफलदं भववीजक्षयङ्गम् ॥

१. नदस्पन्द-अ० उ० । २. च दि-अटी० । ३. अणम्-म० । ४. ऊर्ध्वा-अ० उ० ।

५. तपत्या-अ० । ६. नन्दस्पन्द-म० । ७. स्वाप्ने-म० । ८. देऽप्येवं-म० । ९. व्यव-म० ।

कलौ कृष्णं सितं रक्तं पीतं चानुक्रमेण तु ।  
 युग्मसन्ध्याचतुष्के तु विभर्ति परमेश्वरः ॥ ८९ ॥  
 विभिन्नमूर्तिसामान्यं रूपं यत् तन्निवोध मे ।  
 सितरक्तं कृतान्ते तु रक्तपीतमतः परम् ॥ ९० ॥  
 पीतकृष्णं च तदनु कृष्णशुक्लमनन्तरम् ।  
 भेदः प्रागुदितैर्ज्ञय आयुधाम्बरलाङ्घनैः ॥ ९१ ॥  
 समत्वादन्यथा केन विभागोऽत्रावधार्यते ।  
 युँगाद्विदिनगत्यर्थप्रहराणां क्रमणं तु ॥ ९२ ॥  
 विभागकल्पनं कृत्वा नित्यमालक्ष्य वै प्रभुम् ।  
 देहेगस्मिन् मूर्धिन हृदये नाभौ तु तदधः पुनः ॥ ९३ ॥  
 तस्मादामूर्धपादान्तं भूतये मुक्तयेऽन्यथा ।  
 ग्रीवांसजानुगुलफेषु भरेत् संन्ध्यवतलक्षणम् ॥ ९४ ॥

चातुरात्म्यं द्विनीयं तत् सुधागंदोहमुन्दरम् ।  
 अथ जाग्रत्पदे देवः सितरक्तादिभेदितैः ॥  
 चतुर्भुजरुदाराङ्ग्नैः शाङ्खचक्रादिचिह्नितैः ।  
 नानाव्यजविचित्राङ्ग्नैवासुदेवादिमंजितैः ॥  
 व्यूहैः ४०८विभज्यास्ते विभुर्नाम स्वन्तोऽया ।  
 जाग्रत्पदे स्थितं देवं चातुरात्म्यमनुज्ञम् ॥  
 मिथ्यत्युत्पत्तिप्रलर्यकृत् सर्वोपकरणान्वितम् ।  
 मैवं तच्चित्ततयेत्तस्य॑ विश्वं तिष्ठति शासने ॥  
 त्रिविंशं चातुरात्म्यं तु सुपुत्र्यादिपदविके ।  
 सुव्यक्तं तत्पदे तुयैः गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ इति ८६-९२ ॥  
 (१०२०-२७, ४०-४२)

वासुदेवादीनां स्मरणस्य कालभेदान् गाधकद्यारीरे ११स्थानभेदांश्चाह—  
 युगावदेति व्रिभिः । आलक्ष्य द्यात्वेत्यर्थः । भूतये ऐश्वर्याय । मुक्तये मोक्षाय । एवं च  
 धामचतुष्टयं मूर्धादिचतुःस्थानेषु क्रमेण वासुदेवादी(नां ? न्) समरतामैहिकं लीकिकं  
 फलम्, पुनः प्रातिलोम्येन नाभेरव्य॑स्तादारभ्य मूर्धन्तं स्थानचतुष्टयेऽनिरुद्धादि-

१. आङ्गेन-मू० वक० वख० । २. युगपदिन-वख० अ० उ० । ३. अयुत्थ-अ० उ० ।  
 ४. नां-अ० उ० । ५. संयुक्त-अटी० । ६. भेदतः-मू० । ७. संविभ-अ० म० ।  
 ८. यादि-अ० म० । ९. दिव्यं-मू० । १०. द्यस्य-मू० । ११. भेदं चाह-अ० ।  
 १२. धःस्था-अ० ।

सुष्टिसंहारयोगेन यः स याति परां गतिम् ।  
 इत्येकमूर्तेव्यूहानां विभवस्याखिलस्य च ॥ ९५ ॥  
 अवतारस्तथा ध्यानमर्चनं मन्त्रपूर्वकम् ।  
 स्वपदस्थानभेदेन प्रोक्तमेकसमाधिना ॥ ९६ ॥  
 विशेषोऽप्यथ भेदाख्यस्त्ववतारपुरस्सरः ।  
 भाँवस्थितिविधौ चैव सर्वेषामधुनोच्यते ॥ ९७ ॥  
 षाढगुण्यमादिदेवाद्यं चातुरात्म्यमलाङ्गनम् ।  
 सुष्टये त्रितयं ह्येतत् सामर्थ्यं पारमेश्वरम् ॥ ९८ ॥  
 लोलीभूतमभेदेन स्मरेत् तुर्यात्मना पुरा ।  
 नित्योदितं च सुपदे स्थितमस्पन्दलक्षणम् ॥ ९९ ॥  
 अथाचितुं यमिच्छेत् विशेषव्यवितलक्षणम् ।  
 सङ्कल्प्य तं स्वैबुद्ध्या तु तत्कालसमनन्तरम् ॥ १०० ॥  
 ध्रवा सामर्थ्यशक्तिर्वं स्पन्दतामेति च स्वयम् ।  
 सुतेऽनकणवन्मन्त्रं यत्र मन्त्री कृतास्पदः ॥ १०१ ॥

वासुदेवान्तानु स्मरतां मूर्तिरूपं फलं च सिध्यतीति भावः । 'सन्ध्युवतलक्षणं युगसन्धिभेदेन गृहीतसितरक्तादिशब्दरूपं वासुदेवादिचतुष्टयमित्यर्थः ॥९२-९५॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति साधेन । एकमूर्तेः परात्परवासुदेवस्य व्यूहानां विभवस्य वासुदेवादीनां तुर्याद्यावस्थाभेदस्येत्यर्थः ॥९५-९६॥

एतेषां विशेष उच्यते इत्याह—विशेष इति ॥ ९७ ॥

विशेषमाह—षाढगुण्यमिति द्वाभ्याम् । पारमेश्वरं सामर्थ्यं सामर्थ्यशक्तिरूपम्, एतत्वितयं सुपृष्ट्यादिव्यूहत्रयम्, सृष्टये सृष्टयर्थं लोलभूतं स्मरेत् । अस्पन्दलक्षणम् अलोलभूतम्, नित्योदितं परात् परं भगवन्तभेव तुर्यात्मना तुर्यव्युहरूपेण, अभिन्नं स्मरेदित्यर्थः ॥९८-९९॥

अर्चनार्थं भगवदवतरणक्रममाह—अथेति सार्थः पञ्चमिः । यः साधको विशेषव्यवितलक्षणं परव्यूहविभवाख्यतत्त्वमूर्तिविशिष्टं भगवन्तर्माचितुमिच्छेत्, तं साधकं स्वबुद्ध्या संकल्प्य स्वाभिमुखं ज्ञात्वा तत्कालसमनन्तरं तदिच्छानन्तरमेव सामर्थ्य-

१. स्सरम्—अ० उ० । २. भावः—म० बक० बख० । ३. लोलभूतमिति भाष्यकारसंमतः पाठः । ४. लिपतं—अटी० । ५. सु—उ० । ६. विद्धि—बक० बख० अ० उ०, धृत्वा—अटी० । ७. वित वै—अटी० । ८. संयुक्त—अ० । ९. इचतुमिः—म० । १०. ततश्चा—अ० ।

त मागतमिवाकाशात् तारकं कर्णिकान्तरे ।  
 भावयेदथ तन्मध्यादाराध्यमुदितं स्मरेत् ॥ १०२ ॥  
 आदिमूर्तिस्वरूपेण चतुर्मूर्तिमयेन वा ।  
 पृथक्त्वेन चतुर्मूर्तेरैकाकृतिनाऽप्यथ ॥ १०३ ॥  
 अथवा वैभवीयेन नानाकृत्यात्मना तु वै ।  
 अङ्गसंज्ञं तदीयं च न्यसेत् पद्मदलाश्रितम् ॥ १०४ ॥  
 परिवारं वहिः पद्मात् स्वर्कं यो यस्य विद्यते ।  
 सशक्तिकस्य मन्त्रस्य दिक्क्रमेण हृदादि यत् ॥ १०५ ॥  
 न्यसेत् केसरजालस्थं पैत्रमध्ये तु शक्तयः ।

शक्तिः स्वयमेव स्पन्दतामेति । मन्त्री साधकः, यत्र कृतास्पदः, यन्मन्त्रमिच्छति तन्मन्त्रमण्डिकणवत् सृते च । तत्स्पन्दनमात्रेणाज्ञने: स्फुलिङ्गवन्मन्त्रः समुद्भूतो भवतीति भावः । तन्मन्त्रमाकाशात् तारकमिव कर्णिकान्तरे हृत्कमलकर्णिकामध्ये आगतं भावयेत् । तन्मध्यात् मन्त्रमध्यात्, आराध्यं मन्त्रनाथम्, आदिमूर्तिस्वरूपेण परवासुदेवरूपेण । यद्वा चतुर्मूर्त्यूहस्य पृथक्त्वेन, एकैकाकृतिना केवलमेकैकमूर्तिरूपेण, आहोस्त्विन्नानाकृत्यात्मना वैभवीयेन रूपेण पद्मनाभादिभेदेन, उदितम् उत्पन्नं स्मरेत् ॥ १००—१०५ ॥

(निः ? स) शक्तिकस्य मन्त्रस्य प्रागादिदलेषु हृदयादङ्गमन्त्रन्यासं कमलाद् बहिस्तत्परिवासन्यासं चाह—सशक्तिकस्येति । एवं इलेषु लक्ष्म्यादिशक्तिन्यासनियमस्य प्रायिकत्वं बोध्यम् । यतोऽत्रैव त्रयोदशो परिच्छेदे—

षट्कं केसरजालस्थं तत्र प्राक् पश्चिमे द्वयम् ॥  
 द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये ताँसां वामकरेषु च ॥ (१३५२-५३)

इति केसरस्थानेऽपि शक्त्यवस्थानमुक्तम् । सप्तदशपरिच्छेदेऽपि—

नेमिभागे श्रियं देवीं पुष्टिमुक्तरतो न्यसेत् ।  
 पृष्ठदेशो स्थितां निद्रामग्रभागे सरस्वतीम् ॥ (१७७०)

इति कमलाद् बहिरपि शक्तिन्यास उक्तः । किञ्च, सात्वतोपबृहणे ईश्वरे पारमेश्वरे च—“देवस्य कर्णिकायां तु श्रियं पुष्टि ततोऽपरे” (ई० सं० ४७९; पा० सं० ६। २४९) इति कर्णिकायामपि देवस्य पाश्वद्वये शक्त्यर्चनमुक्तम् ॥ १०५—१०६ ॥

१. दारकर्त—उ० । २. स्वयं—अ० उ० । ३. क्रमेण हृदयादि—वक० वग० ।
४. पद्म—वक० वख० । ५. कस्येति द्वाभ्याम—अ० म० । ६. तेषां—अ० म० ।

निःशक्तिको निरङ्गो यो मन्त्रनाथस्तु केवलः ॥ १०६ ॥  
 शब्दमात्रेण तं भूयो दलजौलगतं यजेत् ।  
 इत्येवमन्तर्यागस्तु देवस्य परमात्मनः ॥ १०७ ॥  
 समासेनोदितः सम्यग्रथ मूर्तेर्यजेद् वहिः ।  
 वेद्यां पुराहृतैर्भौर्गैर्विभ्वे वा चक्रपञ्जे ॥ १०८ ॥  
 हेमादिद्रव्यजनिते चक्रे वा केवलाम्बुजे ।  
 भद्रपीठभुवो मध्ये सुश्लक्षणे केवले तु वा ॥ १०९ ॥  
 ध्यात्वा ध्यात्वा स्वमन्त्रेण द्वर्पवर्गफलाप्तये ।  
 संमर्चनीयं विधिवच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्सरम् ॥ ११० ॥

इति श्री अश्वरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां  
 पञ्चमः परिच्छेदः ॥

निःशक्तिकत्वनिरङ्गकत्वोभयविशिष्टस्य भगवतस्तु केवलमन्त्रमात्रेण भगव-  
 स्थानेऽप्यर्चनमाह—निःशक्तिक इति ॥ १०६—१०७॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति ॥ १०७—१०८ ॥

बहिर्यागस्थानान्याह—वेद्यामित्यादिभिः ॥ १०८—११० ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशाचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चमः परिच्छेदः ॥

१. तद्-मु० अटी० बक० बख० । २. जात-मु० अटी० । ३. चतुरा-अ० उ० ।  
 ४. वाचक-अ० उ० । ५. पीठे भ्रूवोर्मध्ये-बक० बख० अ० उ० । ६. अप-अ० उ० ।  
 ७. नास्त्येषा पट्क्षिः-अ० उ० । ८. 'निःशक्तिक इति' नास्ति-अ० । ९. कमलसेवा-अ० ।

## षष्ठः परिच्छ्रेदः

नारद उवाच

वक्ष्ये विप्रवराः सम्यग् य उक्तश्चक्रपाणिना ।  
प्रसङ्गाद् बलदेवस्य द्रव्ययागोऽयनन्तरम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्किञ्चित् पत्रपुष्पाद्यं परिदृश्येत् पीठगम् ।  
पाणिना तत्समाहृत्य शुचिस्थाने निधाय वै ॥ २ ॥  
गव्यैर्वा चामरैर्वलैः शिखिपङ्क्षैः कुशैरथ ।  
संमाञ्ज्यं भद्रपीठं तु वाससा सुसितेन वा ॥ ३ ॥  
बहुना वस्त्रपूतेन वारिणा तदनन्तरम् ।  
प्रक्षाल्य द्वादशार्णेन प्रणवाद्यैन्तकेन तु ॥ ४ ॥

अथ षष्ठो व्याख्यास्यते । बहिर्यां वक्ष्य इत्याह—वक्ष्य इति । द्रव्ययागः द्रव्यैरधर्मादिभिः क्रियमाणो यागः, बाह्याराधनमित्यर्थः ॥ १ ॥

आदौ भद्रपीठशोधनप्रकारमाह—यत्किञ्चिदिति त्रिभिः । पत्रपुष्पाद्यं पूर्वदिने भगवद्गुक्ततुल्सीपत्रादिकमित्यर्थः । प्रणवाद्यन्तकेन प्रणवसंपुटितेनेत्यर्थः । द्वादशार्णेन वासुदेवद्वादशाक्षरेणेत्यर्थः । एवं भद्रपीठशोधनादिकस्य<sup>१</sup> कालान्तरकर्तव्यत्वमप्युक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

यद्वा प्राण्यागभवनप्रवेशानन्तरं द्विजाः<sup>२</sup> ॥  
न्यस्य भद्रासनाद्यन्तमन्यदन्यत् समाचरेत् ।  
यद्वा तदातने काले न्यस्य भद्रासनं<sup>३</sup> ततः ॥  
आद्यं मार्गत्रयं कृत्वा यथोक्तविधिना ततः ।  
योगपीठार्चनारम्भे बिम्बोक्तं सर्वमाचरेत्<sup>४</sup> ॥ इति ॥ २-४ ॥  
( ई० सं० ३।१६-१८; पा० सं० ६।३२-३४ )

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. देवाय—मु० अटी० । ३. निवेश्य—  
अटी० । ४. पुच्छैः—मु० अटी० । ५. चां गतेन—अ०, द्यन्तगेन—उ० । ६. धिकस्य—अ० ।  
७. द्विज—पा० । ८. भद्रासनादिकम्—मु० । ९. रभैत्—पा० ।

सर्वलोकमयं तत्र सर्वदेवसमाश्रयम् ।  
 सर्वाधारमयं ध्यायेदन्तर्लीनं तु चक्रराट् ॥ ५ ॥  
 प्रणवेन स्वनाम्नाऽथ नमोऽन्तेनार्चयेच्च तम् ।  
 अधर्यालभनधूपैस्तु मालयैर्नास्त्रगुद्धवैः ॥ ६ ॥

भद्रपीठान्तर्लीनचक्रराजार्चनमाह—सर्वलोकमयमिति द्वाभ्याम् । चक्रराट् चक्रराजमित्यर्थः । विभक्तिविनिमयश्छान्दसः । आलभनम् आलभ्यते आलिप्यतेऽज्ञेनाङ्गमित्यालभनं गन्धः । नानास्त्रगुद्धवैः नानाविधाः स्त्रामुद्धवा रचनाविशेषा येषां तैः, द्विसर्वत्रिसरादिभेदेन नानारूपस्वरचनाविशिष्टैरिति यावत् । अथवा नानाविधपुष्पेजनितैरित्यर्थः । सक्षब्दस्य केवलपुष्पमात्रपरत्वं ज्ञेयम् । यत एव-मुत्तरत्राप्यग्निकार्यप्रकरणे ‘स्त्रं धूपं मधुपकं च’ (६९८, १४८) इत्यत्र सक्षब्दस्य पुष्पमात्रपरत्वमङ्गीक्रियते ।

ननु तत्रापि सक्षब्दस्य मालिकापरत्वे कः प्रत्यवाय इति चेदुच्यते, किमावयो-विवादेन, लक्ष्मीतन्त्रे—“ततः पुष्पमयीं दद्याद् धूपद्रव्यमयीं तथा” (४०६८) इति सक्ष-शब्दस्य पुष्पपरत्वेन महालक्ष्मीयैव व्याख्यातत्वात्, ततो माल्यमयीं दद्यादित्यनुक्तेः । किञ्च, सात्वतोपबृहणे ईश्वरे पारमेश्वरे च होमद्रव्यविवरणप्रकरणे—

‘सुगन्धैः स्थलपद्माद्यैः पुष्पैश्चैव<sup>१</sup> सितादिकैः’ इति,  
 (ई० सं० ५।२०६; पा० सं० ७।१६९)

तर्पितः स्थलपद्माद्यैः पुष्पैश्चान्यैः सितादिकैः ॥  
 सौभाग्यमतुलं विप्राः<sup>२</sup> अचिरादेव<sup>३</sup> यच्छति ।

(ई० सं० ५।२१६-२१७; पा० सं० ७।१८०)

इति च केवलपुष्पमात्रोक्तेः । किञ्च, पादेष्पि “आहुतिप्रमाणनिरूपणप्रकरणे—“फलैः पुष्पैरखण्डितैः” इति पुष्पाणामखण्डतत्वमात्रलक्षणोक्तेः, केवलपुष्पैरेव होम-संप्रदायाच्च सक्षब्दः पुष्पमात्रपरो बोध्यः । किञ्च, “सग्रामसूत्रसंबद्धमार्कीर्ण-च्चरणावधि” (६।५५) इत्यलङ्घारासनप्रकरणे वक्ष्यमाणं वाक्यमप्यत्रानुकूलं ज्ञेयम्, एषामेव श्लोकानां पारमेश्वरेष्पि<sup>४</sup> प्रतिपादितत्वात् । तद्व्याख्याने तु—“नानास्त्रगुद्धवै-माल्यैः नानाविधस्त्रामुद्धवहेतुभौतैः पुष्पैः, ‘माल्यं पुष्पे च दासति’ (६।३।२५) इति वैजयन्ती” इति लिखितम् । तदस्वरसम्, विशेषणस्य वैयर्थ्यात्; मालिकादिभिः पीठार्चने प्रत्यवायाऽभावाच्च । अस्मिन्नवसरे नृसिंहकल्पवद्यमाणरीत्याऽनन्तादिपीठदेवानामप्यन्तं कार्यम् ॥५-६॥

१. पुष्पगन्धै—अ० । २. द्विज—पा० । ३. विप्र—पा० । ४. रात् संप्रयच्छति—ई० पा० ।  
 ५. आवप्यत—अ० । ६. कण्ठा—म० । ७. षष्ठाध्याये । ८. कल्पे—म० । ९. सप्तादशो परिच्छेदे ।

ततः कुम्भचतुष्कं तु हेमाद्रिव्यनिर्मितम् ।  
 गालितेनाम्भसा पूर्णं स्नगाद्यैरप्यलङ्घकृतम् ॥ ७ ॥  
 गन्धसवौषधीरत्नफलबीजकुशोदैकम् ।  
 वहिःकोणचतुष्के तु न्यसेदाधारपृष्ठगम् ॥ ८ ॥  
 ॐ अश्यं कल्पयामीति शुक्त्वा वायुपदे न्यसेत् ।  
 कलशं तद्वैशान्यां न्यसेदाचमनार्थतः ॥ ९ ॥  
 स्नानार्थमग्निकोणे तु पाद्यार्थं नैऋते तथा ।  
 अथ मङ्गलकुम्भानामुपकुम्भसमन्वितम् ॥ १० ॥  
 चतुष्कं विन्यसेद् वाहो दिक्क्रमेण सुपूजितम् ।

अथ पात्रपरिकल्पनमाह—तत इति सार्वेस्त्रिभिः । अत्र गन्धसवौषधीरत्न-फलबीजकुशादिकमित्यर्थादीनां चतुर्णामिष्यविभागेन द्रव्याण्युक्तानि । एषां विभाग-स्त्वष्टादशपरिच्छेदे ( ६४-६८ श्लो० ) वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

ॐ धारोपरि पात्राणि स्वपूर्वनियमेन तु ।  
 वायव्यादिषु विन्यस्य तत्तत्कल्पनमन्त्रतः ॥ इति ।  
 (ई० सं० ३।२६-२७; पा० सं० ६।३७)

किञ्च, अत्रार्थादीनां चतुर्णामेवोक्तत्वेऽप्यष्टादशपरिच्छेदे ( ७०-७६ श्लो० ) वक्ष्यमाणं द्वितीयार्थमपि ग्राह्यम्, तस्य पीठाचर्नाच्युपयुक्तत्वात् । अत्र पात्रपरिकल्पनात् पूर्वमेव पीठान्तैर्लीनचक्रराजाचनोक्तावपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन तत् तदनन्तरमेव ग्राह्यम् । तथा वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे—

पुष्पैरथार्थ्यपात्रं तु मन्त्रैः संपूज्य निष्कलैः ।  
 पात्रे परस्मस्तस्माद्वै स्तोकमुदृत्य चोदकम् ॥  
 योगपीठाचर्नं कुर्यादनुसंधानपूर्वकम् । (१७।५२-५३) इति ॥७-१०॥

अथ परितः कलशाष्टकस्थापनमाह—अथेति । उपकुम्भसमन्वितम्, विदिक्षुस्थापनीयैश्चतुर्भिः कलशः सहितमित्यर्थः । अथवा नृसिंहकल्पपरिच्छेदे शान्तिकादिप्रकरणेषु वक्ष्यमाणरीत्योपस्थापनीयैश्चतुर्भिरुपकुम्भैः समन्वितमित्यर्थः । मङ्गलकुम्भानां चतुष्कं प्रागुदीरितं (६।७) चतुर्दिक्षु स्थापनीयकलशचतुष्टयमित्यर्थः ॥ १०-११ ॥

१. शादिकम्—भा०, दरम्—ज० । २. तीत्यु—अ० उ० । ३. पात्रविकल्पपरि—अ० ।
४. पारमेश्वरीयः पाठो मूल एव द्रष्टव्यः । ५. न्तरलीन—अ० ।

भगवद्विम्बपूर्वं तु यागाङ्कं प्रागुदीरितम् ॥ ११ ॥  
 एकं सुलक्षणं तत्र ततो मध्येऽतर्यां च ।  
 भुक्तमर्घ्यादिकं तस्मार्दपनीयाभिवन्द्य च ॥ १२ ॥  
 उशीरवंशकूर्चेन क्षालयेदम्भसा ततः ।  
 पुराङ्कितं तु चक्राद्यैर्थावद्वं तु वा शुभम् ॥ १३ ॥  
 सलिलेनार्घ्यपात्रं तु सम्पूर्णे निधाय वै ।  
 निलान् सुमनसस्तस्मिन् दूर्वीः सिद्धार्थकान् क्षिपेत् ॥ १४ ॥  
 चतुरावर्तयैन्मन्त्रं कृत्वा पाणितले स्थितम् ।  
 ततः सर्वगतं देवं मन्त्रमूर्तित्वमागतम् ॥ १५ ॥

नक्ळगाट्कमध्ये भगवद्विम्बाद्यन्तेतमस्थापनमाह—भगवदिति । प्रागुदीरितं (पट्टा॒पञ्चमा॑) ध्यायान्ते उक्तमित्यर्थः । भद्रपीठोपरि केवलचरबिम्बाद्यर्चन-प्रकरणे । एवं परितः कलघाट्कस्थापनं कार्यम् । स्थिरबिम्बार्चनविषये तु तदप्रकृतम् । अत एव ईश्वरपात्रमेश्वरयोनोक्तं च ॥ ११-१२ ॥

विम्बशोथनमाह—भुक्तमिति । भुक्तमर्घ्यादिकं पूर्वदिने, यद्वाऽभिगमनार्चनकाले भगवद्वृक्तार्घ्यपुष्पादिकमित्यर्थः । उशीरवंशकूर्चेन लाम(ञ्छ?ज्जक)पिञ्जुलेनैः ॥ १२-१३ ॥  
 अथावाह॑नक्रममाह—पुराङ्कितमिति पञ्चमिः । चक्राद्यैरङ्कितमित्यनेन मुवर्णादिकं द्रव्यमयं पात्रमुच्यते । यथावद्वं तु वेत्यनेन पलाशादिपत्रमयमुच्यते । तथा च जयाद्ये—

अर्घ्यपात्रं समादाय सुवर्णरजतादिजम् ॥  
 वैलं मृदारुजं वाऽथ पलाशाम्बुजपर्णजम् । (१३।६३-६४) इति ।

सलिलेन प्रधानार्घ्यसलिलेनेत्यर्थः । यतः—

आवाहने संनिधाने संनिरोधे तथार्चने ॥  
 विमर्जनेऽर्घ्यदानं तु प्राक्पात्रान्तित्यमाचरेत् । (१८।७०-७१)

इति वक्ष्यति । अर्घ्यपात्रम् आवाहनार्थं कृतं पृथक् पात्रमित्यर्थः । तथा च पादे—

आवाहितपदं पात्रं प्रक्षालितमथाम्बुभिः ।  
 पूरयेम्बूलमन्त्रेण हस्ताभ्यां च समुद्धरेत् ॥  
 कलाटसममेतस्मिन् अन्तरावाह्य केशवम् । इति ।

१. हाप-वक०, दाप-अ० । २. रं-अ० उ० । ३. यन-अटी० । ४. दन्ध-अ० ।  
 ५. पिञ्जीलेन-म० । ६. हित-म० ।

समाहूय स्वमन्त्रेण १ त्वागच्छान्तपदेन तु ।  
यथा सर्वगतो वायुर्व्यजनेन महामते ॥ १६ ॥  
व्यक्तिमध्येति भगवानाहूतस्तद्वदेव हि ।  
भावदर्पणसंक्रान्तं कृत्वा हृक्मलात् वै ॥ १७ ॥  
२ सन्निरुद्ध्य वहिवेद्यां मन्त्रोच्चारावसानतः ।

सिद्धार्थकान् श्वेतसर्षपानित्यर्थः । मन्त्रस् आगच्छपदसंयुक्तं तत्तन्मूर्तिमन्त्रमित्यर्थः ।  
“समाहूय” स्वमन्त्रेण त्वागच्छान्तपदेन तु” (६।१६) इत्युक्तत्वात् । तथा च पाद्येऽपि—  
“चतुरुच्चारयेन्मन्त्रमागच्छपदसंयुतम्” इति । एवमावाहनकाले मन्त्रस्य चतुरुच्चारणं  
लक्ष्मीतन्त्रेऽप्युक्तम्—‘तारक’ चतुरुच्चार्यं तारिकां तु त्रिश्चरेत् (३।१४) इति ।  
ततः सर्वगतं देवमिति श्लोकेनोक्तस्थार्थस्यानुवादः कृतः । मन्दमतीनां भगवदावाहने  
विस्मभजननार्थं यथा सर्वगतो वायुरिति दृष्टान्तकथनम् । एवमेव वक्ष्यति प्रतिष्ठा-  
ध्यायेऽपि—

सर्वत्रगोऽसि॑ भगवन् किल यद्यपि त्वा-  
मावाहयामि द्वि यथा व्यजनेन वायुम् ।  
गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति  
आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चार्चाम् ॥ (२५।१२१) इति ।

भावदर्पणसंक्रान्तं कृत्वेत्यनेन—

तमागतमिवाकाशात् तारकं कर्णिकान्तरे ।  
भावयेदथ तन्मध्यादाराध्यमुदितं स्मरेत् ॥ (५।१०२)

इत्युक्तार्थः स्मारितो भवतिर्ति । वेद्यामिति पदं विम्बाद्युपलक्षकम् । संनिरुद्ध्य पूजा-  
वसानिकां स्थितिं प्राथर्येत्यर्थः । अत्र संनिधिसाम्मुख्यकरणमप्यपेक्षितमीश्वरादिषु  
ग्राह्यम् । मन्त्रोच्चारावसानतः तत्तन्मूलमन्त्रावसानैँ इत्यर्थः । किञ्च—

आवाहयामि लक्ष्मीशं परमात्मानमव्ययम् ॥  
आतिष्ठतामिमां मूर्तिं मदनुग्रहकाम्यया ।  
श्रिया सार्थं जगन्नाथो देवो नारायणः पुमात् ॥ (३६।९४-९५)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तो मन्त्रश्चात्र प्रकृतः । नन्वेतच्छ्लोकपञ्चकस्याप्यावाहनपरत्वे पुरा-

१. ह्यागच्छेतिपदेन वै—मू० अटी० वक० । २. सन्निरोध्येति सार्वत्रिकः पाठः ।  
भाष्यानुरोधी पाठोऽत्र स्थापितः । ३. तुसारतः—अटी० । ४. मन्त्रणमित्युभयमातृकापाठः ।  
५. समा विषयः स्व—अ० । ६. एतदनुरोधेन मुद्रिते लक्ष्मीतन्त्रे पाठसंशोधनं विद्येयम् ।  
७. गो हि—म० । ८. भवतीति क्रेत्रमिति—अ० । ९. सानत—अ० ।

मन्त्रमागच्छमानं तु निर्गतं तु स्वकात् पदात् ॥ १८ ॥  
 कालं पाद्यार्थदानान्तमुत्थितं भावयेत् सदा ।  
 अथोपचर्यमाणं तं भोगे: कालानुकूलेतः ॥ १९ ॥  
 सनातालभनवस्त्रस्त्रगदानेऽलङ्करणे तथा ।  
 अन्यत्र भोगपूजायां स्मरेत् पदासनादिना ॥ २० ॥  
 पुनस्तमेवोपविष्टं सानुकम्पं च समुखम् ।  
 विम्बं विनाऽन्यत्राधारे भवत्येवं महामते ॥ २१ ॥

हिन्दुनिवादिश्लोकद्वयं सात्वतोपवृहणेश्वरपारमेश्वरयोः कुतो नोक्तमिति चेत्सत्यम्,  
तत्र—

गत्यार्थपुष्पैः संपूर्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।  
 पीठोपरि हरेरग्रे मूर्धन् पृष्ठाऽञ्जलि क्षिपेत् ॥

( ई० सं० ४५९; पा० सं० ६२२९ )

इत्यनेनैव तच्छ्लोकद्वयार्थः नंगृहीतो भवतीति बोध्यम्, तदावाहनपात्रस्थार्थजलस्या-  
 ङ्गलिङ्गरेणैव विस्वोपरि सेचनीयत्वात् । “तिलान् सुमनसस्तस्मिन् दूर्वा: सिद्धार्थकान्  
 क्षिपेत्” (६।१४) इत्युक्तस्य द्रव्यचतुष्टयप्रक्षेपस्य प्रधानार्थजलपूरणेनैव चारिताथ्याच्च ।  
 तत्वेवं तेनैव तदद्वयचतुष्टयप्रक्षेपस्य चारिताथ्येऽसात्वते पुनः किमर्थं तदुपादानमिति चेत्, सत्यम्—

पाद्यं द्रव्यान्तरालाभे दूर्वा: चाद्येऽथ सर्षपः ।

स्थानमाचमनीये तु तैक्वोलं मार्जनाम्भसि ॥

इति पाद्योक्तन्यायेनार्थादिपु द्रव्यान्तरालाभेनैकंकद्रव्यप्रक्षेपेऽप्यावाहनार्थे तिलादीनां चतुर्णामिषि प्रक्षेपसिद्धिर्थं पुनरुपादानमिति ज्ञेयम् । एवं चैवमावाहनं चर-  
 विस्वकुम्भमण्डलाद्यार्चनविषयम्, न तु स्थिरविम्बविषयम्,

स्थितमायतने वाऽथ साकारं पैरमेश्वरम् ।

शाहूचक्रधरं विष्णुं सुरसिद्धार्वतारितम् ॥

कृषिभिर्मनुर्जीवाथ भवितयुक्तेः प्रतिष्ठितम् ।

तमूर्ता च स्वमन्त्रेण यजेदावाहनं विना । (१३।५८-६०)

इति जयान्त्रोक्तेः, “संस्थितेऽभिमुखीभावस्तदेवावाहनं हरेः” इति पाद्योक्तेः,  
 तथैवेवरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितत्वाच्च ॥ १३-१८ ॥

केवलवेदिकुम्भमण्डलादिष्वावाहितस्य देवस्य तत्तदुप्रचारानुरोधेनावस्थानमेद-  
 भावनमाह—मन्त्रमिति सार्वस्त्रिभिः ॥ १८-२१ ॥

१. तु-उ० । २. रूपतः-अटी० । ३. लपन-बक० वव०, लम्भन-अटी० ।

४. दानाल-मु० अटी० । ५. पूर्व चार्थ-ब० । ६. तत्काल-अ० । ७. पार-म० ।

८. वधादि-मु० । ९. यच्छेदा-म० । १०. इन्द्रुभिः-अ० ।

विम्बाकृत्यात्मना विम्बे समागत्यावतिष्ठते ।  
करोत्यमूर्तीमस्तिलां भोगशक्ति तु चात्मगात् ॥ २२ ॥  
विनिवेद्याऽसनवरं समाहृतस्य वै प्रभोः ।  
पादपीठं तु सामान्यं मृद्वास्तरणभूषितम् ॥ २३ ॥

विम्बे ताद्वाभावनाश्रम एव नास्ति, ब्रह्मरूपेण साक्षादेव भोगानज्ञीकरोती-  
त्याह—विम्बाकृत्येति । तथा चोपवृहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

कल्पे तु विग्रहे पूर्वं तथारूपोऽवतिष्ठते ।  
भोगेषु दीयमानेषु शक्तिर्या मन्मधी परा ॥  
तत्रस्थां तां स्मरेत् साक्षादाददानो हरिर्यथा । (३८।१६—१७) इति ।  
यत्तपि पाद्ये विम्बाच्चनप्रकरणेऽपि—  
अर्धवस्त्राम्बराकल्पपुण्यगन्धानुलेपनैः ।  
प्रत्यर्चितं स्थितं ध्यायेत् पाद्याचमनयोः पूनः ॥

<sup>१</sup>(तदानीं ध्यानं चोक्तं पाद्ये—)

आभीनं स्नानकाले च पद्मासनमुखासनम् ।  
नैवेयधूपदीपादावैभीनं स्वस्तिक्रामने ॥  
उपचारेषु चान्यत्र तन्तकर्मनुसारतः ।  
स्थितमासीनमथवा देवं ध्यायेत् पूजक ॥

इत्युक्तम्, तथापि तत्कुम्भार्चनादिपरमेव । अथवा विम्बस्यैव नथा ध्यानपरम्, नहि-  
कुम्भादिप्रिव तदन्तःस्थितभगवन्मात्रध्यानपरमिति ध्येयं॑म् । अत्रापेक्षिता मन्त्रन्याम-  
लयभोगार्चनादशो वह्वा विद्या गा नूर्मिहृकल्पे वक्ष्यमाणा ग्राह्याः ॥२२॥

अथामताद्युपचारमपर्णमाह—विनिवेद्येति सार्वेन । अत्र पाठकमं विहाय  
प्रथममर्घ्यम्, ततः पाद्यम्, तदनन्तरमाचमनीयम्, ततो मधुपर्कं च समर्पणीयम् ।  
तत्रौर्ध्वं पुण्यद्वाग भगवनो मूर्त्तिं देयम्, ‘अर्द्धस्तृतीयया देयो मूर्च्यापिः  
कुमुमोदृताः’ (३८।१००) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । तदानीं धण्टानादश्च कार्यः, “आवाह-  
०नार्घ्यं ध्येत् च दीपे नैवेद्यजोपाणे” (३८।३) इति, ‘‘धण्टाशब्दसमोपेतं दत्वाऽर्घ्यं मन्त्र-  
मूर्धनिं’’ (४।१३८) इति नैवेद्यरादिगूर्वत्वात् । पाद्यं तु द्विवारं देयम्, “पाद्यादाने  
तु विप्रेन्द्र द्विरेयान्<sup>२</sup> पदाम्बुजे” (१७।८६) इत्यनिमुद्वर्त्तिहितोक्तेः । इदानीं पाद्यप्रति-  
ग्रहपादमंसार्जनवस्त्रपादानुलेपनान्यपि देयानि । आचमनं तु त्रिवारं समर्पणीयम् ।

१. नाम्ये गा पद्मिनः—म० । २. वासन—अ० । ३. वोल्यम्—म० । ४. गशदशो परिच्छेदः ।  
५. ततोऽर्घ्य—अ० । ६. अर्घ्यं तृतीयया देय—म० । ७. नैवेद्य—अ० । ८. पूक्तम्—म० ।  
९. चच—म० ।

पाद्याद्येऽ मधुपर्क च तोयमाचमनीयकम् ।  
 सपुत्रदारमात्मानमष्टाङ्गपतनेनै तु ॥ २४ ॥  
 चेतसा भक्तियुक्तेन निवेद्य तदनन्तरम् ।  
 भगवान्तथ विज्ञाप्यः कृत्वा तत्पाद्गौ करौ ॥ २५ ॥  
 स्फुटीकृतं मया देव त्विदं स्नानवरं त्वयि ।  
 सपादपीठं परमं शुभं स्नानासनं महत् ॥ २६ ॥

तथा चोक्तमनिरुद्धसंहितायाम्—“आचामं च त्रिधा दद्याद् विमूश्य च सङ्कृत् स्पृशेत्” (१७।४८) इति । ‘तदानीं ध्यानं चोक्तं पाद्ये—

ध्यायेदाचमनीयस्य दानकाले जगद्गुरुम् ।

‘आचामन्तमिवाम्भोभिः साक्षादम्भःपरिग्रहे ॥ इति ।

अत्राचमनानन्तरं गन्धपुष्पमालादीपधूपसमर्पणं मधुपर्कानन्तरं ताम्बूलनिवेदनं  
 ‘चेश्वरपारमेश्वरादिषुकृतं ग्राह्यम् । तथा चोक्ताः पाद्ये मन्त्रासनोपचाराः—

आवाहनमस्कारौ प्रत्युत्थानमनन्तरम् ।

पुष्पाङ्गज्जलिः स्वागतोक्तिरासनं भद्रपीठिका ॥

अर्ध्यं पाद्यप्रतिग्राहं पाद्यप्रोऽताभिमर्शनम् ।

आलेपनं चरणयोश्चन्दनक्षोदवारिभिः ॥

अपामाचमनीयं तु प्रतिग्रहणदर्शनम् ।

उपस्पर्शनमालेपश्चन्दनाद्यम्बुचर्चया ॥

पुष्पमाला धूपदानं मधुपर्कनिवेदनम् ।

घनसारो नागवल्ली ..... .... .... ॥ इति ॥ २३-२४ ॥

आत्मात्मीयनिवेदनमाह—सपुत्रेति । अष्टाङ्गपतनेन (६।१८७-१८८)

वक्ष्यमाणाष्टाङ्गप्रणामेन । इदानीमात्मनिवेदनविज्ञापनं चोक्तं पाद्ये—

दासोऽहं ते जगन्नाथ सपुत्रादिपरिग्रहः ।

प्रेष्यः प्रशाधि कर्तव्ये मां नियुड्क्ष्वैऽ हिते सदा ॥ इति ॥ २४-२५ ॥

अथ स्नानार्थं विज्ञापनमाह—भगवानिति द्वाभ्याम् । कृत्वा तत्पादगौ करावित्यत्र व्यस्तकरावित्यर्थः । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—

१. धर्म-८० । २. नादिना-अटी० । ३. नपि-मु० अटी० । ४. पादयो:-अ० ।

५. परे-मु० अटी० । ६. ठमपर-वक० वक० अ० । ७. आचामं तु त्रिदद्यात् तु द्विरुम्भूज्य च संस्पृशेत्-मु० । ८. सङ्कृमृजेत्-म० । ९. ‘तदानीं ध्यानं चोक्त’ नास्ति-अ० ।

१०. आचान्तमिव चाम्भोभिः-अ० । ११. क्रवशश्चतुर्थषष्ठाध्याययोद्विष्टव्यमेतत् । १२. प्लोता-म० । १३. नियोजय ते-अ० ।

आसादयाशु स्नानार्थं मदनुग्रहकाम्यया ।  
 स्नानासनं निवेद्याथ देवस्य द्वितेयं तु वै ॥ २७ ॥  
 भक्तिनम्रेण शिरसा दद्यादध्यं तु मूर्धनि ।  
 विनिवेद्य ततो हैमं सरत्नं च प्रतिग्रहैम् ॥ २८ ॥  
 दद्याद्वै पाद्यकलशात् पाद्यं पादाम्बुजद्वये ।  
 सुशुभे पादुके चाथ तदन्ते स्नानशाटकम् ॥ २९ ॥

कृत्वा भैर्यच्चर्यादिदेवस्य पाणिना दक्षिणं पदम् ।  
 दक्षिणेनाथ वासेन वासं संगृह्य मन्त्रतः ॥ (६।३०२-३०३)

इति ॥ २५-२७ ॥

स्नानासनाद्युपचारानाहौ—स्नानासनमित्यादिभिः । अत्र पाणिप्रक्षालनार्थक-  
 गन्धतोयममर्पणानन्तरं पादपीठोवतावपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य वर्लीयस्त्वेन स्नानासन-  
 समर्पणानन्तरमेव पादपीठोऽपि समर्पणीयः, “सपादपीठं” परमं शुभं स्नानासनं महत्”  
 (६।२६) इति विज्ञापनश्योक एवोक्त्वात् । अत एव सात्वतोपवृहणेश्वर(४।१४३)-  
 पारमेश्वर(६।३०८)योः स्नानासनानन्तरमेव पादपीठममर्पणमुक्तम् ।

नन्वीश्वर(४।१४६)-पारमेश्वर(६।३०८)योस्त्वयोरपि “पाणिप्रक्षालनार्थं  
 तु पादपीठं ततः यभम्” इति पाणिप्रक्षालनानन्तरमपि पादपीठोक्तिः परिदृश्यते,  
 तस्याः का गतिर्गति चेत्, सत्यम् । तत्रोभयत्रापि यथावस्थितसात्वतश्योकानामेव  
 प्रतिपादितत्वात् पोनरुक्त्यं दृश्यते । लक्ष्मीनन्दे तु—

अनुत्राप्य ततः पश्चात् स्नानासनमनुत्तमम् ।  
 पादपीठमथाध्यं च ततः पाद्यप्रतिग्रहैम् ॥  
 पादाम्बुजपादुके स्नानशाटीं मात्रा च शालिका ।  
 दद्यन्तं गन्धनांयं च पाणिप्रक्षालनार्थकम् ॥  
 दद्यन्तकाप्तं च दद्यन्तप्रक्षालाचमनाम्बुनीः ।  
 गन्धनैलं च चृणं च ॥शालिगोथूममंभवम् ॥  
 हरिद्राचूर्णमंग्रीष्मीपत् पद्यकभावितम् ।  
 उद्वर्तनार्थं नदनु स्नानार्थं ॥शालिमंयुतम् ॥  
 उपाम्बुजं नन्दनं चन्द्रमिश्रितं लेपनार्थकम् । (३।५-६)

१. इनीश-वक्तृ । २. इनः परम्—जिह्वार्थनिलेयमन्तर्मन्त्रेयम् मुखप्रक्षालनं तु वै’ इति  
 पाठी दद्यन्ते-वक्तृ ३०, ग चासावश्यकः, अये तस्यपठितत्वात् । ३. शाटिकाम्-मु० अटी० ।  
 ४. च्यांप-म० । ५. गणपाह-व० । ६. ऊपरं-म० । ७. पाणीनां-ई० । ८. ग्रहः-म० ।  
 ९. मूर्ति-व० । १०. याला-व० । ११. खलु-म० ।

सुगन्धशालिसम्पूर्णं मात्रार्थं पात्रमुत्तमम् ।  
दर्पणं पूर्णचन्द्रामं गन्धतोयमनन्तरम् ॥ ३० ॥  
पाणिभ्यां क्षालनार्थं तु पादपीठं ततः शुभम् ।  
दन्तकाष्ठं च तदनु मुखशुद्धिप्रतिग्रहम् ॥ ३१ ॥  
जिह्वानिर्लेखनं चैव मुखप्रक्षालनं तु वै ।  
पुनराचमनं देयमभ्यज्ञार्थमनन्तरम् ॥ ३२ ॥  
तैलं बहु सुगन्धं च चूर्णं गोधूमशालिजम् ।  
रजनीचूर्णसम्मिश्रमीषत् पञ्चकभावितम् ॥ ३३ ॥  
देयमुद्वर्तनार्थं तु चमंषी तदनन्तरम् ।  
स्नानार्थं खलिसंयुक्तं तोयमुष्णमनन्तरम् ॥ ३४ ॥

इति सात्वतश्लोकानामुपबृहितत्वान्नं पादपीठपुनरक्तिः । अतस्तत्वौनस्कत्यं नानु-  
ष्ठानप्रतिपादकम्, किन्तु श्लोकपूरणार्थं ज्ञेयम् । यथा पारमेश्वरे मानसे भोगयाग-  
प्रकरणे—“मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्या केसरादिषु” (ज० १२।८१; पा० ५।१३०)  
इति जयाख्यवचने प्रतिपादितेऽप्यविरुद्धार्थं परिगृह्य विरुद्धं लक्ष्म्यादित्वं परित्यज्य  
हृन्मन्त्रादित्वमेवाङ्गीक्रियते, तद्विहापीति संतोषव्यमायुष्मता । अत एवास्मत्तातपाइः  
सात्वतामृते पाणिप्रक्षालनतोयसमर्पणानन्तरं पादपीठो नोक्तः ।

प्रकृतमनुसरामः । दन्तकाष्ठमित्यत्र पारमेश्वरे—“दन्तकाष्ठं च तदनु कर्मण्य-  
क्षीरवृक्षजम्” (६।३०८) इत्युक्तम् । कपिङ्गज्ञेऽपि—“चूतदण्डेन देवस्य दन्तधावन-  
माचरत्” इति । तच्च हेमादिमयमपि ग्राह्यम् । तदुक्तं पारमेश्वर एव द्वितीयेऽध्याये—

पोडशाङ्गुलिंदीर्घेस्तु वक्रग्रन्थिवर्जितैः ॥  
हेमादिनिर्मितैर्वर्णपि कुशर्द्वार्दिभिस्तथा । (२।६१-६२) इति ।

मुखशुद्धिप्रतिग्रहं गण्डूषप्रतिग्रहमित्यर्थः । मुखप्रक्षालनं गण्डूषमित्यर्थः । पुनराचमनीया-  
नन्तरं ताम्बूलमपि देयम्, “गण्डूषाचामसलिले ताम्बूलं गन्धभावितम्” (६।३०९)  
इति पारमेश्वरोक्तेः । तैलं बहु सुगन्धं चेत्यत्र तैलसमर्पणप्रकारः पारमेश्वरे सैमारा-  
धनाध्याये मर्होत्सवाध्याये च विस्तरेणोक्तो ज्ञेयः । रजनीचूर्णं हरिद्राचूर्णम् । पञ्चकम्  
तथैव प्रसिद्धं वैद्य(क)ग्रन्थे । चमंषी तैलनिर्हरणार्थकसुगन्धद्रव्यविशेषः । इममर्थं सुस्पष्टं

१. तु-उ० । २. देवस्या-मु० अटी० । ३. मर्षी च-मु० अटी०, वमिष-बक०,  
चमिष-बख०, चमसी-अ०, चमसी-उ० । ४. सम्पूर्ण-मु० अटी० बक० बख० ।  
५. झुल-मु० । ६. दर्भा-मु० । ७. षष्ठाध्याये । ८. सप्तदशाध्याये ।

चन्दनं मुखलेपार्थं घृष्टं कर्पूरभावितम् ।  
गव्यं प्रभूतं स्नानार्थं क्षीरं दधि घृतं मधु ॥ ३६ ॥  
ऐक्षवं तु रसं हृदयसंभावे शार्करोदकम् ।  
धात्रीफलोदकं चैव लोध्रतोयमनन्तरम् ॥ ३६ ॥

वक्ष्यति प्रतिष्ठाध्याये—“पूर्ववच्च ततोऽभ्यैज्य विधिवच्चमसाम्बुद्धा । क्षालयित्वा”  
(२५।९९-१००) इति । खलीं च मलनिर्हरणसाधनद्रव्यम् ॥ २७-३५ ॥

अथ क्षीरादिपञ्चविशातिकलशस्नपनप्रकारमाह—गव्यमित्यादिभिः । धात्री-फलम् आमलकम्, लोध्रं श्वेतलोध्रम्, “गालवः श्वेतलो लोध्रः” (२।४।३३) इत्यमरः । ग्रन्थिपल्लवं स्थौणेयम् “ग्रन्थिपर्णं शुक्रं वैर्ह स्थौणेयं कुकुटम्” (२।४।१३२) इत्यमरः । तगरं तथैव प्रसिद्धम् । प्रियङ्गः फलिनी, “प्रियङ्गः फलिनी फली” (२।४।५५) इत्यमरः ।

ननु “स्त्रियौ कङ्गुप्रियङ्गू द्वे” (२।४।२०) इत्यमरवाक्यमप्यस्ति, विनिगमनाविरहात् कङ्गुरेव गृह्णतामिति चेन्न, अस्मिन् स्नपने वीजवारिणि कङ्गोः सत्त्वाद् अत्रयप्रियङ्गशब्दस्य पूर्वोत्तरयोर्गन्धद्रव्यसाहर्वाच्च फलिनीपरत्वमेवाङ्गीकार्यम् । मांसी जटामांसी । सिद्धार्थकः श्वेतसर्वपः । सर्वोषधीजल-पत्रोदक-पुष्पोदक-फलोदक-वीजोदक-गन्धोदक-रत्नोदकानां द्रव्यविवरणमीश्वरपारमेश्वरयोः स्नैपनाध्याये व्यक्तमुक्तं ग्राह्यम् । अत्रापेक्षितकलशाधिवासादिकमपि तत्रैव ग्राह्यम् । अत्र नित्यस्नपनत्वादङ्गुरादिकं न कार्यम् । तथा चोक्तं पाद्य—

नित्ये च स्नपने नापि कौतुकं नाङ्गुरार्पणम् ।  
निर्णीचूर्णेन स्नपनमिष्यते मँण्डपस्थलम् ॥ इति ॥

“स्नानार्थं कलिपतेनैव ह्यादकेन विमिश्रितम्” (६।४०) इत्युक्तत्वाद् धात्रीफलोदकादिविशातिद्रव्योप्त्वपि किञ्चित् किञ्चित् स्नानीयजलं संयोज्यम्, “स्नानीयाम्बुसमेतानि देशान्यम्बून्यमूनि तु” (३।१३) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तस्य क्षीरादिपञ्चकं विना आमलकाद्यम्बुधेव स्नानीयाम्बुसंयोजनस्य प्रतीयमानत्वात् । अर्धपुष्पसमन्वितमिति पदं क्षालनमित्यस्य विशेषणं ज्ञेयम्, पारमेश्वरेऽप्येषामेव श्लोकानां प्रतिपादितत्वात् । केषुनित् प्रयोगेषु अर्धपुष्पसमन्वितमिति पदस्य स्नपनद्रव्यविशेषणत्वाभिप्रायेण द्रव्यकलशेषु स्नानीयकलशात् किञ्चिज्जलमर्घ्यपात्रात् किञ्चित् पुष्पं च ‘निक्षिप्येत्युक्तम्’ । तत् सात्वतोपदृष्टलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम् । यतस्तत्र “क्षीरं दधि घृतं गव्यम्” (३।९) इति प्रक्रम्य,

१. मधवा—अ० । २. ग्यर्च्य—अ० । ३. शाबरो—म० । ४. वर्हिपुष्पं स्थौणेयकुकुरे—म० ।
५. ईश्वरं पञ्चदशः पारमेश्वरे च चतुर्दशोऽव्यायः स्नपनाध्यायत्वेन प्रसिद्धः । ६. निराचूर्णनि—अ० । ७. मण्डप—म० । ८. निक्षिप्येति व्याख्यानमुक्तम्, इत्येवं ग्रन्थो लापनीयः ।

रक्तचन्द्रनतोयं च रजनीनीरम्भुतम् ।  
 ग्रन्थिपल्लववायेव ततस्तु तगरोदकम् ॥ ३७ ॥  
 प्रियङ्कुवारि तदनु मांसीजलमतः परम् ।  
 सिद्धार्थकोदकं चैव सर्वौषधजलं ततः ॥ ३८ ॥

हेमरत्नसरित्तीर्थकेवलाम्बूनि वै क्रमात् ॥  
 स्नानीयाम्बुसमेतानि देयान्यम्बून्यमूनि तु ।  
 अर्धपात्रात्थैवार्ध्यं स्नानानामन्तरान्तरा ॥  
 दद्यात् सपुष्पतोयेन क्षालनं चान्तरान्तरा । (३९।१२-१४)

इति सपुष्पत्वं क्षालनतोयस्य विशेषणं क्रुतम् । अर्धपुष्पसमन्वितम् अर्धपात्रे पूजनार्थं प्रक्षिप्तपुष्पैः सहितमित्यर्थः । अत्र क्षीरादिकलशस्तपनानां मध्ये मध्येऽर्ध्योदिकेनोपस्नानं केवलमर्थ्यदानं चोक्तम् । सति विंभवे वस्त्राद्युपचारा अपि देयाः । तथा चोक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

प्रतिद्रव्यं तु वैस्त्रेण ह्यर्थालभनमात्यकैः ॥  
 धूपेन च समभ्यर्थं ततस्तेनाभिषेचयेत् ।  
 यद्वौर्ध्यं पाद्यमाचारं गन्धस्त्रग्धूपदीपकम् ॥  
 दद्याद् यथाक्रमं सर्वं केवलं चार्ध्यमेव वा । इति ।

(ई० सं० १५।१७५-१७७; पा० सं० १४।१७०-१७२)

ननु बृहद्विभ्वसनंनेऽर्थोदिकस्योपस्नानाऽपर्याप्तत्वे का गतिरिति चेत्, सत्यम् ।  
 नदानीम्

अन्तरान्तरयोगेत् कुम्भैः शुद्धोदपूरितैः ॥  
 स्नपनं चार्ध्यदानं च द्रव्याणां तु समाचरेत् ।

(ई० सं० १५।७५-७६; पा० सं० १४।७६-७७ )

इतीश्वरपारमेश्वरयोः स्नपनाध्याये गतिस्त्रवैव । एषां पञ्चविशतिकलशानामभिषेचनमन्वास्त्वाश्वरपारमेश्वरयोर्दर्मन्तकोत्सवप्रकरणे—

एको<sup>१</sup> ह वै नारायण इति प्राक्कलशेन तु ।  
 तस्य ध्यानान्तःस्थस्येति द्वितीयकलशेन तु ॥  
 अथ पुनरेव नारायण इति तृतीयकलशेन तु ।  
 अथ पुनरेव नारायण इति चतुर्थतः ॥

१. गन्धि-अ० उ० । २. च-म० । ३. धर्यादिके-अ० । ४. संभवे-अ० ।  
 न्त्रेण-ई० । ६. मालिकैः-अ० । ७. धर्यपा-अ० म० । ८. निको-अ०, नीको-म० ।  
 ई-ई० ।

पत्रपुष्पोदके चैव फलबीजोदके तंथा ।  
गन्धोदकं च तदनु हेमरत्नजले ततः ॥ ३९ ॥  
पुण्यतीर्थसरित्तोयं केवलं तदनन्तरम् ।  
स्नानार्थं कल्पितेनैव ह्युदैकेन विमिश्रितम् ॥ ४० ॥

सहस्रशीर्षः पुरुषमिति पञ्चमकुम्भतः ।  
पर्ति विश्वस्यात्मेश्वरमिति वै पष्ठकुम्भतः ॥  
नारायणः परं ब्रह्म इति वै सप्तमेन तु ।  
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्निति ह्याष्टमकुम्भतः ॥  
अनन्तमव्ययं कविमिति नवमेनाभिपेचयेत् ।  
अँधो निष्ठ्या वितस्त्यां तु इति स्याद्वशमेन वै ॥  
सन्ततं तु सिराभिस्तु लौमित्येकादशेन तु ।  
तस्य मध्ये महानग्निरिति द्वादशमेन वै ॥  
संतापयति स्वं देहमिति त्रयोदशेन वै ।  
नीलतोयदमध्यस्था इति चतुर्दशेन वै ॥  
तस्याः शिखाया मध्ये इति पञ्चदशेन वै ।  
सर्वस्य वशिनं देवमिति वै पोडशेन तु ॥  
वहिरावरणस्थैस्तु कलशैरभिपेचयेत् ।  
वहिरावरणे<sup>१०</sup> नास्ति इति प्राक्संस्थितेन तु ॥  
यन्नाभिपद्मादभवदिति वह्निगतेन तु ।  
धृतोर्ध्वपुण्ड्रः<sup>११</sup> परमेति याम्यदिक्संस्थितेन तु ॥  
दक्षिणे तु भुजे विप्र इति<sup>१२</sup> यातुगतेन वै<sup>१३</sup> ।  
विष्णुनात्तमशनन्तीति वारुणीसंस्थि॑र्धतेन तु ॥  
पुंप्रधानेश्वरो विष्णुरिति वायुगतेन वै<sup>१४</sup> ।  
इमां महोपनिषदमिति सोमगतेन वै<sup>१५</sup> ॥  
ओमिति प्रथमं नाम इतीशानगतेन तु ।  
पुरुषोऽह॑७ वासुदेव इति मध्यगतेन तु ॥

१. त्वथ—वक० अ० । २. चोद—म० अटी०, उद—वक० वख०, तूद—अ० ।
३. शीर्षा पुरुष इति—ई० पा० । ४. अतो निष्ठ्या—पा०, अथो निष्ठ्या—अ० । ५. वभि—अ० म०, इत्येकादशमेन—ई० । ६. त्रयोदशमेन—ई० पा० । ७. चतुर्दशमेन—ई० पा० ।
८. पञ्चदशमेन—पा० । ९. पोडशमेन—ई० पा० । १०. न हि—अ० म० । ११. पुण्ड्र—पा० ।
१२. धातु—म० । १३. तु—ई० । १४. दिक्स्थि—पा० । १५. तु—ई० । १६. तु—ई० ।
१७. पो ह वै—ई०, पोऽह॑७ वै—म० पा० ।

योक्तव्यं क्रमशो द्वेतद्धर्यपुष्पसमन्वितम् ।  
अन्तरान्तरयोगेन स्नानानां च महामते ॥ ४१ ॥  
क्षालनं चार्ध्यकलशाद्धर्यदानं समाचरेत् ।

यद्वा पुरुषसूक्तीयैर्मन्त्रैः पोडशंभिः क्रमात् ।  
बहिरावरणस्थैस्तु कलशैरभिषिञ्च च ॥  
पूर्वोक्तैर्ब्रह्मसूत्रस्थैर्मन्त्रैद्विद्विकसंख्यया ।  
अन्तरावरणस्थैस्तु संस्नाप्य कलशैः क्रमात् ॥  
अवशिष्टैस्त्रिभिश्चान्ते मध्यकुम्भेन सेचयेत् ।

( ई० सं० १२।६५-८०; पा० सं० १७।५६८-५८३ )

इत्युक्ताः । अत्र पूर्वोक्तैर्ब्रह्मसूक्तस्थैर्मन्त्रैः “सहस्रशीर्षम्” इत्यादिभिः “दक्षिणे तु भुजे विप्र” इत्यन्तैः षोडशमन्त्रैरित्यर्थः । द्विद्विकसंख्यया द्वाभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामित्यर्थः । अवशिष्टैस्त्रिभिः विष्णुनात्तमश्नन्तीत्यादिभिः । “एको ह वै नारायणः” इत्याद्याः “य इमां महोपनिषदम्” इत्यन्तास्त्रयोविशतिमन्त्राश्च महोपनिषद्गताः । तत्र “सहस्रशीर्ष पुरुषम्” इति प्रक्रम्य “य इमां महोपनिषदम्” इत्यन्तमेकोनर्विशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमिति ज्ञेयम् ।

ननु महोपनिषत्कोशेषु “सर्वस्य वशिनम्” इत्यादिमन्त्रा न दृश्यन्ते, कथं तेषां महोपनिषदन्तर्गतत्वमिति चेत् ? सत्यम्, इयमाशङ्का तैप्तमुद्वासमर्थनसिद्धान्तचन्द्रिकायां परिहृता । तथाहि पाद्य—

सर्वाश्रमेषु वसतां ब्राह्मणानां विशेषतः ।  
विधिना वैष्णवं चक्रं धार्य हि विधिचोदनात् ॥  
दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद् वै सुदर्शनम् ।  
सब्ये तु शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

एवं महोपनिषदि प्रोक्तं चक्रादिधारणमित्यर्थः । अस्य मन्त्रस्य महोपनिषत्कोशोष्वदर्शनात् कथं श्रुतित्वमिति चेन्न, चिरन्तनकोशेषूपलम्भात् । आधुनिककोशोष्वनुपलम्भस्त्वच लेखकदोषादिना नेयः । नैयमेव मन्त्र आधुनिककोशेषु न<sup>५</sup> दृश्यते, अपि तु सर्वस्य वशिनमित्यादिकमष्टर्च ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यते । ब्रह्मसूक्ते चायं मन्त्रः श्रूयते । न च तावता श्रुतित्वभङ्गः । भगवच्छास्त्रेषु बहुषु प्रदेशेषु ब्रह्मसूक्तस्योपात्तत्वादिति ।

नन्वत्राष्टर्च ब्रह्मसूक्तमात्रं नै दृश्यते इत्युक्तत्वात् सर्वस्य वशिनमित्याद्यष्टमन्त्राणामेव ब्रह्मसूक्तत्वं ज्ञायते । कथं भवता सहस्रशीर्षमित्याद्येकोनर्विशतिमन्त्राणा-

१. श दिक्-अ० । २. सप्त-अ० । ३. सूता-अ० । ४. नायं मन्त्रः-अ० ।  
५. ‘न’ नास्ति-अ० । ६. च्छास्त्रे-म० । ७. ‘न’ नास्ति-अ० ।

सम्पूर्णमभैसां कुम्भं हरिद्राशालितण्डुलैः ॥ ४२ ॥  
गैन्धादिभिश्च संलिप्तमथ युक्तं स्त्रगादिना ।  
पाणौ कृत्वा तमेकस्मिन्नपरस्मिन्स्तु मल्लकम् ॥ ४३ ॥

मपि ब्रह्मसूक्तत्वमुक्तमिति चेदुच्यते, सच्चरित्ररक्षामनुसृत्यास्माभिस्कृतम् । तत्र हि—“अत्रापि ब्रह्मसूक्तपरमात्मसूक्ताभ्यां महोपनिषद्पठितमेकोनविशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्म-सूक्तमेव परिगृहीतम्” (पृ० १४-१५) इति । महोपनिषदाद्ये मन्त्रे “एको ह वै नारायणः” इति, “एक एव नारायण” इति पाठद्वयं ज्ञेयम् ॥३५-४२॥

ततः स्नानान्तनीराजनविधिमाह—संपूर्णमिति द्वाभ्याम् । संपूर्णमित्यत्र स्नानीयशेषेणत्यध्याहार्यम् । तथा च लद्धीतन्त्रे—“स्नानशिष्टाम्बुसंपूर्णम्” (३९।१४) इति । ईश्वरपारमेश्वररयोरपि—“ततः स्नानीयशेषेण हेमादिद्रव्यनिर्मितम्” (ई० सं० ४।१५९; पा० सं० ६।३२७) इति । मल्लकम् शरावः । एकस्मिन् पाणौ वामपाणा-वित्यर्थः । अपरस्मिन् दक्षिणपाणावित्यर्थः । तस्य सिद्धार्थं धूम्यमानत्वोक्त्याऽग्निपैरीतत्वं ज्ञायते । धूपपात्राग्निरेव तत्र पूरणीयः । मूर्धन्ध भ्राम्येत्यत्र भगवन्मूर्धनः परितो भ्रामणम् । तच्च सकृदेव । बहिः महाद्वाराद् बहिरित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

तं कृत्वा वामपाणौ तु अपरस्मिन्स्तु मल्लकम् ।  
पुष्पकरसंपूर्णं धूपपात्राग्निना युतम् ॥  
धूमायमानं सिद्धार्थं धूपद्रव्येण वा सह ।  
एकधा देवदेवस्य भ्रामयित्वा तु मूर्धनि ॥  
दीक्षितेन जनेनैव परिचर्यापरेण तु ।  
शुद्धया योषिता वैष्णवीपि द्वारबाह्ये विसर्जयेत् ॥ इति ।  
( पा० सं० १५।१००४-१००६ )

नीराजनाङ्गाध्यादीनामर्पणमपीदानीं न प्रकृ(तमित्यु)क्तं तत्रैव—

कुर्यात् स्नानावसाने<sup>९</sup> तु ऋगाद्याध्ययनादिकम् ।  
अधर्यादिभोगैर्यजनं वर्जयेत् तत्र सर्वदा ॥ इति ।  
( पा० सं० १५।१०७९ )

एवं नीराजनस्य नैमित्तिककाम्यपूजनयोरप्यनुष्ठेयत्वं तत्रयोजनम् । इदानीम्, अलङ्कारासनोपचारान्ते वा, उभयत्र वाऽस्यानुष्ठानमप्युक्तं तत्रैव—

१. सा-अ० उ० । २. सुपिष्टैरुपरिष्टाच्च लिप्तं-बक० बख० अ० उ० ।
३. ‘उक्तम्’ नास्ति-अ० । ४. धूय-अ० । ५. पूरि-म० । ६. वा तद्-मु० । ७. नेष्टि-मु० ।

धूमायमानं सिद्धार्थैर्भ्राम्य मूर्ध्नि बहिः क्षिपेत् ।  
 सुधौतमहतं चाथ शाटकं विनिवेद्य च ॥ ४४ ॥  
 कचोदकापकषर्थमपरं देहवारिहृत् ।  
 अधरोन्तरवस्त्रे द्वे गन्धधूपाधिवासिते ॥ ४५ ॥  
 प्रणालभागादपरं स्थानं भद्रासनात् तु वै ।  
 भूरिनीरघटैः शुद्धं कृत्वा तत्रावतार्य च ॥ ४६ ॥

नित्यै नैमित्तिके विप्र तथा काम्येऽपि पूजने ॥  
 अन्ततः स्नानभोगानां कुर्यान्तीराजनं विभोः ।  
 सर्वदोषप्रशान्त्यर्थं सर्वरक्षार्थमेव हि ॥  
 अलङ्घारासनोक्तानां भोगानामन्ततोऽपि वा ।  
 उभयत्रापि वा कुर्याद् विभवेच्छानुसारतः ॥ इति ।  
 ( पा० सं० १५१९२-१९५ )

अस्यै नीराजनस्यालङ्घारासनोपचारान्तेऽप्यनुष्ठेयत्वं पुनर्वर्यक्तमाग्रेडितं तत्रैव—  
 यद्वा तत्रापि वै कुम्भं साग्निमल्कसंयुतम् ॥  
 धूमायमानं सिद्धार्थैर्भ्रामयेद् दीपवर्जितम् । इति ।  
 ( पा० सं० १५१०४१-१०४२ )

किञ्च, स्नानान्तनीराजनकुम्भस्याध्योदकैः केवलोदकैर्वा पूरणं ज्येयम्,  
 “अर्ध्यपात्रोऽद्वैतयद्वा केवलैर्गालितैः पुनः” ( पा० सं० १५१००८ ) इत्युक्तेः ॥४२-४४॥

अथाङ्गार्भिर्मर्शनार्थं वस्त्रद्वयसमर्पणं पश्चादन्तरीयोत्तरीयसमर्पणं चाह—  
 सुधौतमिति सार्वेन ॥४४-४५॥

भद्रासनशोधनमाह—प्रणालभागादिति द्वाभ्याम् । प्रणालभागात् “मकरास्य-  
 प्रणालं च प्रमाणेनोपलक्षितम्” ( २।४९ ) इति द्वितीयपरिच्छेदोक्तप्रकारेणाभि-  
 षेकादिजलनिर्गमनार्थकप्रैणालभागविशिष्टादित्यर्थः । भद्रासनात् भद्रपीठात् । अपरं  
 स्थानं भद्रपीठं विना सर्वं गर्भगैर्ह०स्थलमपीत्यर्थः । भूरिनीरघटैः शुद्धं  
 कृत्वाऽनेकजलपूर्णकुम्भैः संक्षाल्य । तत्र परिशोधितस्थले सपीठं स्नानपीठस्थितं  
 भगवद्विम्बमवतार्य संस्थाप्येत्यर्थः । क्षालयेत् भद्रासनमपीत्यनुष्ठयते । भद्रासनोपरि  
 भगवद्विम्बस्थितेस्तद्विना प्रथमं सर्वमपि स्थानं प्रक्षाल्यान्यत्र पीठोपरि बिम्बं संस्थाप्य

१. वस्त्रेण—अटी०, वस्त्रे च—मु० । २. प्रक्षाल—अटी० । ३. सने तु—मु० अटी० ।  
 ४. नील—अटी० । ५. नित्य—अ० । ६. वै चानु—अ० । ७. अस्यैव—अ० । ८. ‘भिमर्शनार्थ’...  
 ‘प्रमाणेनोपलक्षित’ नास्ति—अ० । ९. प्रक्षाल—अ० । १०. स्थमपी—अ० ।

सपीठं भगवद्विम्बं तद्विना वाचितं यदि ।  
खप्लुतं भावयेद् देवं निःशेषं क्षालयेत् पुनः ॥ ४७ ॥  
भूयो गन्धोदकेनैव पूर्यं कुम्भचतुष्टयम् ।

भद्रासनमपि क्षालयेदिति भावः । तद्विना विम्बं विना अर्चितं यदि “भद्रपीठभूयो मध्ये सुश्लक्षणे केवले तु वा” (५।१०९) इति पूर्वोक्तप्रकारेण केवलपीठोपर्येवार्चितं चेत्, तदानीं देवं खप्लुतं भावयेत्, आकाशस्थितं ध्यात्वेत्यर्थः । निःशेषं क्षालयेद् देवस्थोपरि स्थितत्वाद् एकदैव गर्भगेहस्थानं भद्रपीठमपि क्षालयेदित्यर्थः । भद्रासनोपर्येव भगवदुपवेशेन भावनायां तत्क्षालनासंभवादिति भावः । एवमेवोक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—“भद्रासनं ततः ॥ शोधयेत् पूर्णकुम्भस्त्रू खप्लुतं भावयेद्वरिस्म् ।” (३९।१७—१८) इति । एवमर्थवर्णने प्रणालभागादिति विशेषणस्य न किमपि प्रयोजनम्, अतोऽर्थात्तरं वर्णयते । तथाहि—भद्रासनात् भद्रासनसंबन्धिन इत्यर्थः । प्रणालभागात् प्रणालाव्यवहितभागादित्यर्थः । अपरस्थानम् अन्यैद् भद्रासनस्थानं सर्वमपि संक्षाल्यं शोधितस्थले विम्बमवतार्य प्रणालभागमपि क्षालयेत् । अन्यत् सर्वं पूर्वोक्तमेव । ‘स्थानं भद्रासनस्य तु’ इति पाठश्चेत्, अयमर्थः स्वरसतमो ज्ञेयः । ईश्वर(४।१६९—१७१)पारमेश्वर—(६।३४८—३४०)योरपीदमेव श्लोकद्वयमुक्तम् । अतः पारमेश्वरव्याख्याने—“तद्विना विम्बं विना कूर्चदर्पणादिष्वर्चितं यदि पात्रस्थमात्राणामपि खप्लुतमित्येष एव न्यायः” इति लिखितम् । तदसंगतम्, कूर्चदर्पणादीनामप्यन्यत्र स्थापनार्हत्वात् ॥४६—४७॥

पुनरर्घादिपरिकल्पनमाह—भूय इति । इह केवलं पुनरर्घादिपरिकल्पनस्योक्तवान्मन्त्रासनादौ परिकल्पितार्घादिपरिकल्पनस्नानासनेऽप्यर्घादिसमर्पणमिति ज्ञायते । एवमलङ्घारासनादौ कल्पितार्घादीनामेव भोग्यासनादिष्वर्वप्युपयोगो ज्ञेयः, तत्र पुनरर्घादिकल्पनोपपत्तेः । अत्र स्नानकुम्भं विनाऽन्येषामर्घादीनां कुम्भचतुष्टयं गन्धोदकेन पूर्यमित्युक्त्या मन्त्रासनादावर्घादिकुम्भपञ्चकस्य स्थापनं सिद्धं भवति ।

ननु तत्र कुम्भचतुष्टयमेवोक्तमिति चेत्, सत्यम् । वयमपि जानीमः । तथापि तत्राष्टादशपरिच्छेदे वक्ष्यमाणं द्वितीयार्घ्यकलशस्थापनमप्यभिप्रेतम्, अन्यथाऽत्र स्नानकुम्भं विना कुम्भचतुष्टयासिद्धेः ।

ननु च संहितावाक्यार्थानभिज्ञोऽसि ! तस्यैवमाशयः—कुम्भचतुष्टयं प्राग्वत् पूर्यमेव, किन्तु स्नानकुम्भं विनाऽन्येषामर्घादीनां<sup>४</sup> त्रयाणामेव कल्पना ओमर्घं कल्पयामीत्याद्याकारिका कार्येति बोध्येति चेन्न, यैतः प्रँधानस्नानकुम्भपूरणमनु-

१. तम्, यदिह—अ० । २. ‘भद्रासनं ततः’ नास्ति—अ० । ३. अन्यत्र—अ० ।  
४. दिष्वु—अ० । ५. दिना—अ० । ६. यत्—अ० । ७. वृथा—म० ।

स्नानकुम्भं विनान्येषां प्राग्वत् कार्या च कल्पना ॥ ४८ ॥  
 मध्येऽवतार्यो भगवान् विनिवेद्यासनं ततः ।  
 तृतीयं रत्नखचितं तत्रस्थं परमेश्वरम् ॥ ४९ ॥  
 विभाव्यालङ्कृतं भवत्या भोगैः स्त्रकूचन्दनादिभिः ।  
 समभ्यच्छ्याद्यपाद्येन पादुकाभ्यामनन्तरम् ॥ ५० ॥  
 देयमाचमनं भूयः पादपीठं तथैव च ।  
 समालभ्य सुगन्धेन भक्तिश्चन्दनादिना ॥ ५१ ॥  
 संबीज्य व्यजनेनैव मायूरेण ततेन च ।  
 केशप्रसादकृत् कूर्चं पुष्पताम्बूलकर्तरीम् ॥ ५२ ॥

चितम् । किञ्च, ईश्वरपारमेश्वरयोः कण्ठरवेणैः कुम्भपञ्चकस्थापनं कथयतोरपि “भूयो गन्धोदकेनैव पूर्यं कुम्भचतुष्टयम्” (ई० ४।१७।; पा० ६।३४०) इत्येवोक्तम् । तत्र भवदुक्ताभिप्राये प्रकृते पूर्यं कुम्भपञ्चकमिति वक्तव्यम्, तथा नोक्तम् ।

ननु च किमितीश्वरपारमेश्वराभिप्राये तैत्यमस्ति, पारमेश्वरे मानसभोग-यागप्रकरणे—“हृदाद्याः केसरादिषु” इति वक्तव्यत्वे सिद्धेऽपि “लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु” (पा० ५।१३०) इति जयाख्यवचनमेव (१२।८।) प्रतिपादितम् । तद्विद्वापि किं न स्यादिति चेत्, सत्यम् । तत्र मानसयागप्रकरणे “लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु” (पा० ५।१३०) इत्युक्तावपि बाह्यागेऽपि हृन्मन्त्रादीनामेवार्चनमुक्तम्, न तथान्यत्र वा कुम्भ-पञ्चकं पूर्यमिति कुत्राप्युक्तम् ॥४८॥

अथालङ्कारासनसमर्पणमाह—मध्येऽवतार्य इति सार्वेन । तत्रस्थं परमेश्वरं स्त्रकूचन्दनादिभिर्भोगैरलङ्कृतं विभाव्य कुतकृत्यो भवेदिति शेषः । यद्वा अलङ्कृत-मित्यत्रालङ्कृतिष्यमाणमिति भविष्यदर्थकर्त्वं बोध्यम् ॥४९-५०॥

अलङ्कारासने समर्पणीयानुपचारानाह—समभ्यच्छ्यर्धपाद्येनेत्यारभ्य प्रणामैः सप्रदक्षिणैः पूज्य इत्यन्तम् । चन्दनादिनेत्यत्रादिशब्देन कुङ्कुमादिकं गृह्णते । तथा च पारमेश्वरे—“घृष्टकुङ्कुमकस्तूरीमृगस्नेहानुलेपनम्” (६।३४७) इति । वीजनं च और्द्रिगन्धशोषणार्थं ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—“चन्दनाद्याः सुगन्धाश्च वीजैनं शोषणार्थकम्” (३।२०) इति । केशप्रसादकृत् कूर्चं कङ्कतमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मी-तन्त्रे—“विवेचनं च केशानां कङ्कतेन प्रशोधनम्” (३।१९) इति । पुष्पताम्बूल-

१. ‘कण्ठरवेण’ नास्ति—अ० । २. कस्य—अ० । ३. रासमर्पण—अ० । ४. आद्य—म० ।  
 ५. व्यजनं—म० । ६. शनं—अ० ।

निवेद्य देवदेवाय दुकूलवसने सिते ।  
 उपवीतं सोत्तरीयं मकुटाद्यमनन्तरम् ॥ ५३ ॥  
 पादनुपुरपर्यन्तमलङ्करणमुत्तमम् ।  
 विचित्रं हि शिरोमाल्यं मुक्तपुष्पसमन्वितम् ॥ ५४ ॥  
 स्त्रगदामस्त्रवसम्बद्धमा कर्णाच्चरणावधि ।  
 रुचिरं कङ्कणं चाथ दद्यात् प्रतिसरं ततः ॥ ५५ ॥  
 धातुभिः कुड्डुमाद्यैर्वा विचित्रं सितस्त्रजम् ।  
 पूरितं मृदुतूलेन ग्रथितं चान्तरान्तरा ॥ ५६ ॥  
 अञ्जनं सशलाकं च ताम्बूलं गन्धभावितम् ।  
 ललाटतिलकं हैमं मुखवासनरोचनैम् ॥ ५७ ॥  
 कर्णावतंसकुसुमे मण्डलं दर्पणं महत् ।  
 प्रांकारं चित्रकुसुमैर्दीप्तं रत्नप्रभोज्ज्वलम् ॥ ५८ ॥

कर्तरीम् । मुक्तपुष्पसमन्वितम्, मुक्तैः अग्रथितैः पुष्पैः सहितमित्यर्थः । पुष्पाञ्जलि-समर्पणसहितमिति यावत् । तथा च पारमेश्वरे—“मुक्तपुष्पं ततो दद्याद् यथाकाल-समुद्भवम्” ( दा३४९ ) इति । लक्ष्मीतन्नेऽपि—

मकुटाद्या अलङ्काराः प्रदेयाः परमात्मनः ।  
 सजो नानाविधाकाराः सात्त्विकैः कुसुमैश्चित्ताः ॥  
 पुष्पाञ्जलिः पदद्वन्द्वै<sup>१०</sup> प्राकारसुमनश्चयैः । (३१।२१-२२) इति ।

प्रतिसरं पवित्रमित्यर्थः । धातुभिः गैरिकादिभिः, कुड्डुमादिभिः कुड्डुमहरिद्रागोरोचनादिभिरित्यर्थः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

निशारोचनया वापि पवित्राणां च धातुना ॥  
 केनचिद् ग्रन्थयो विप्रा<sup>११</sup> विधिवत् परिरञ्जयेद् ।

( ई० सं० १४।२६७-२६८; पा० सं० १२।५००-५०१ )

मृदु<sup>१२</sup>तूलेनेति हेमरत्नाद्युपलक्षकम् । यतो हेमरत्नादिभिरपि गर्भपूरणमुपबृहितमीश्वरादिषु । मुखवासं मुखं वास्यतेजेनेति मुखवासः । कर्पूरमित्यर्थः । रोचनं गोरोचनसहितम् । प्राकारं चित्रकुसुमैः रत्नप्रभोज्ज्वलं रत्नसदृशनिजप्रभाभासुरमित्यर्थः । अत्र विशेषणान्तराण्यप्युक्तानीश्वरादिषु ग्राह्याणि—

१. मुकुटा-मु० । २. करणा-मु०, कण्ठा-उ० । ३. चित्रितं-अ० । ४. पूजितं-मु० अठी० । ५. नाम-मु० अठी० । ६. सके पुष्पे-बक० बख० अ० उ० । ७. प्रकारं-बक० बख० । ८. सितैः-अ० । ९. परमाङ्गुताः-मु० । १०. प्रकारः-अ० म० । ११. सुमश्रुङ्गैः-अ० । १२. विप्र-पा० । १३. दुकूले-अ०, कूले-म० ।

मृष्टधूपसमायुक्तं गुग्गुलं धूपयेच्छुभम् ।  
 सह घण्टारवै रम्यैश्चाल्यमानेन बाहुना ॥ ५९ ॥  
 उपानहौ सितं छत्रं शिविकां च रथादि यत् ।  
 बाहनं गजपर्यन्तं सपताकं खगध्वजम् ॥ ६० ॥  
 सितासितौ चामरौ तु मात्रावित्तमनन्तरम् ।  
 औपचारिकभोगानामेतेषां पूरणाय च ॥ ६१ ॥

प्रभूतैस्तु महाज्वालस्तिलतैलाज्यपूरितैः ॥

अभुक्ताहतसुश्वेतरचितैर्वर्तिवेष्टितैः ।

ग्रन्थीकृतत्वगेलाद्यैः पूजयेत् तदनन्तरम् ॥ (४१८३-१८४) इति ।

मृष्टधूपसमायुक्तं कृतधूपेनागर्वादिना वा विमिश्रितमित्यर्थः । कर्पूरमेलनमप्युक्त-  
 मीश्वरादिषु—“कर्पूरचूर्णसंमिश्रं सुगन्धिं मधुरं बहु (४१८५) इति । अत्राज्यमिश्रण-  
 मपि कार्यम्, “धूपार्थं गुग्गुलः साज्यो देयश्चाभावतोऽपरः” (२१३५) इति समय-  
 परिच्छेदे वक्ष्यमानत्वात् । चाल्यमानेन बाहुना परिकल्पितैरिति शेषः । अत्र दीपधूपो-  
 रुभयत्रापि घण्टानादसहितत्वं बोध्यम् । यतः—“आवाहनेऽर्ध्ये धूपे च दीपे नैवेद्यजोषणे”  
 (३१८३) इतीश्वरादिषुकम् । बाहनं सुवर्णादिमयमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—  
 “प्रदीपश्च प्रधूपश्च बाहनं चेतनेतरतः” (३१८४) इति । मात्रावित्तं मीयते परिच्छिद्यते  
 पूर्यत इति मात्रा, मात्रार्थं वित्तं द्रविणम् । औपचारिकभोगानां दृष्ट्यानन्दजनकानां  
 दीपादीनाम्, श्रोत्रानन्दजनकानां स्तुतिवादित्रिगीतानां चेत्यर्थः । एत एव भोगा लक्ष्मी-  
 तन्त्रे सांदृष्टिकत्वेनाभिमानिकत्वेन च प्रतिपादिताः । तथाहि—

दृष्टचैव जन्यते प्रीतिर्येस्ते सांदृष्टिका मताः ॥

शुभा रूपोल्बणास्ते च दीपप्रवहणादयः ।

भोगाः शुभकरौस्तद्वत् तर्पयन्ति रसेहि ये ॥

प्रापणाचमनीयाद्यास्ते स्युराभ्यवहारिकाः ।

‘सुखरम्यमृदुस्पर्शा भोगैर्ये तर्पयन्त्यजम् ॥

भोगाः सांस्पर्शिकास्ते स्युः पाद्यार्घासनपूर्वकाः ।

गन्धाः सांस्पर्शिके केचित् ‘केचिदाभ्यवहारिके ॥

‘निविष्टा अनिलाद्याः स्युरन्त्याः’ पाकजग्निधनः ।

स्तुतिवादित्रिगीताद्या भोगाः शब्दमया हि ये ॥

दैन्याव्यजलिपुटाद्याश्च ते स्मृतां आभिमानिकाः ।

इत्थं चतुर्विधैर्भोगैः शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥ (३६।८७-९२) इति ।

१. कृतम्-म० । २. नार्थे-म०, नेऽर्थे-अ० । ३. तरम्-अ० म०, चेतनेतरत्,  
 बाहनमित्यर्थः । ४. वित्तार्थं द्रवि-अ० । ५. रा: शशवत्-म० । ६. सुखा रम्या-म० ।  
 ७. क्वचिद-अ०, केचिद-म० । ८. अनिलोमा:-म०, न लोमा-अ० । ९. रस्याः-अ० म० ।

भेरीमृदङ्गशङ्कावैर्जयशब्दसमन्वितैः ।  
गीतकैर्विविधैर्नूत्यैस्तन्त्रीवाद्यसमन्वितैः ॥ ६२ ॥

अत्र तु॑ पवित्रोत्सवप्रैकरणे औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकत्वेन भोगत्रैविध्य-स्यैव वक्ष्यमाणत्वाद् औपचारिकशब्देनैव लक्ष्मीतन्त्रोक्ताः सांदृष्टिका आभिमानिकाश्च भोगाः संगृह्यन्ते । किञ्चत्रात्र औपचारिकभोगानामिति सांस्पर्शिकानामित्युपलक्षणम् । यतोऽत्र—“सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम्” (१८१६) इति मात्रावित्तस्य सांस्पर्शिकभोगपूरकत्वमपि वद्यति । अत एव पारमेश्वरे—“अंपूरणार्थं भोगानां सर्वेषां द्विजसत्तम्” (६३५९) इति मात्रावित्तस्य सर्वभोगपूरकत्वमुपवृहितम् । अपि च, औपचारिकभोगानां छिद्रपूरकैकं मात्रान्तरमपि वक्ष्यति पवित्रप्रकरणे—“औपचारिक-भोगानां बीजानि विहितानि वै” (१४१७) इति ।

एतद्बीजमात्रादानस्य कालस्तु ईश्वरपारमेश्वरयोर्भार्ज्यासने॑ मधुपकड़िगो-मात्रानिवेदनानेन्तरमुक्तः । बीजानि च ग्राम्याणि ग्राह्याणि, “मधुपकर्क च गोमात्रा साध्यबीजानि परिवमे” (१८१३६५) इति तत्रैव महात्मविद्यप्रकरणे उक्तत्वात् । साध्यबीजानि कर्षणौदिकृतिमाध्यबीजानी॑ति यावत् । आरण्यक-बीजानां कृतिसाध्यत्वाभावादिति भावः । बीजानामलाभे गतिरप्युक्ता पारमेश्वरे—

बीजानामप्यलाभे तु ‘फलमेकं प्रशस्यते ।  
बीजेष्वेकतमं वापि तत्त्वालानुरूपतः ॥ (१८१२७) इति ।

तत्प्रमाणादिकमपि तत्रैव विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम् । तण्डुलमात्रापि द्रव्यमात्रानिवेदन-समय एव दातव्या, अन्यत्रानुकृतत्वात् । गोमात्रातिलमात्रयोः कालभेदसत्रैव वक्ष्यति । लक्ष्मीतन्त्रे तु—“मात्राश्च रत्नसंपूर्णी भोगच्छद्वपुरणा:” (३९.२५) इति वहु-वचनोक्त्या द्रव्यमात्रा-तण्डुलमात्रा-बीजमात्रा-तिलमात्राणां चतसृणामपि युगपहान-मिति ज्ञायते । शालिमात्रायास्तु स्नपनमात्रनियन्त्रत्वं प्रतिपादितं पारमेश्वरे—

शालिमात्रा न कर्तव्या यागे स्नपनवर्जिते ॥  
अन्या मात्राः प्रकल्प्याः स्युः सर्वस्मिन्नर्त्तनाविधौ । (१८१२९-३०) इति ।

१. ‘तु’ नास्ति-अ० । २. चतुर्दशो परिच्छेदे । ३. पूरक-अ० । ४. भोज्यासन-प्रकरणमीश्वरे पञ्चमाध्याये पारमेश्वरे च पष्ठाध्यायसमाप्तौ सप्तमाध्याये च वर्तते । ५. ‘निवेदना’ नास्ति-अ० । ६. णाकृति-अ० । ७. ‘नि । ग्राम्यबीजा’ नास्ति-अ० । ८. मुद्दग-नु० ।

स्तोत्रमन्त्रैर्नमस्कारैः प्रणामैः सप्रदक्षिणैः ।  
 पूज्यः सपादपीठं वै दद्याद् भोज्यासनं विभोः ॥ ६३ ॥  
 छन्नं दुकूलतूलोत्थमसूरकवरेण तु ।  
 अथाहृण्डजलं स्वच्छं सुगन्धं पात्रतः कृतम् ॥ ६४ ॥  
 मधुपकं दधिमधुवृतयुक्तमनन्तरम् ।  
 शीतलं तर्पणजलमय चूर्णं पुरोदितम् ॥ ६५ ॥

अत एव लक्ष्मीतन्त्रेऽपि स्नानासन एव शालिमात्रा प्रतिपादिता, गोमात्रा तु मधुपकानन्तरमुक्ता, पादे तु सर्वा अप्येकदैव प्रतिपादिताः—

तिलान् वस्त्रं तथा हेम ताम्बूलं तण्डुलानपि ।  
 फलानि गव्यमाघारं गाश्च धान्यं यथा वसु ॥  
 गोग्रासं देशिकायैतद् दद्याद् देवस्य संनिधौ । इति ।  
 स्तोत्रमन्त्रैः जितन्ताद्यैरित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—  
 स्तोत्रमन्त्रजपं कुर्याज्जितन्ताद्यं महामते ।  
 वयस्तं चैव समस्तं च वाक्ययुक्तं विशेषतः ॥ (६३६१)  
 इति ॥ ५०-६३ ॥

अथ भोज्यासनोपचारानाह—सपादपीठमित्यादिभिः । दुकूलतूलोत्थमसूरकवरेण क्षौमाद्याच्छादितदुकूलोत्थितमृद्वास्तरणेनेत्यर्थः । अर्हण्डजलं मधुपकाङ्गमापोशनरूपं प्रधानाद्यर्योदकं पात्रतः कृतं पृथक्पात्रे<sup>१०</sup> प्रणीतमित्यर्थः । तथा च वश्यति दीक्षाधिवासपरिच्छेदे प्रधानाद्यर्यविनियोगविवरणप्रकरणे—“तदम्भसा चाहृणं तु तथैव परिखेचनम्” (१८।७।) इति । दधिमधुवृतयुक्तमित्यत्र क्षीरसपि योज्यम्, “नांविकं मधुपकार्थं दधिक्षीरादिकं शुभम्” (२१।३।) इति समयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणत्वात्, “पयसो मधुनो दध्नः संयोगो मधुपककः” (३१।२।) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेश्च । तर्पणजलं मधुपकनिवेदनानन्तरं तृप्त्यर्थं पानीयम् । तदपि प्रधानाद्यर्योदकमेव, “कुर्यात् प्रणयनादानम्” (१८।७।२) इति प्रधानाद्यर्यविनियोगस्य वक्ष्यमाणत्वात् । प्रयणनं पात्रान्तरे सेचनम्, तत्पूर्वकमादानं ग्रहणमित्यर्थः । तथा च व्यक्तमुपवृहितमीश्वरपारमेश्वरयोः—“तर्पणं संप्रतिष्ठाप्य वासितं चार्धवारिणा” (ई० सं० ५।३; पा० सं० ६।३।७।६) इति । पुरोदितं चूर्णं स्नानासनोक्तमुद्वर्तनचूर्णमित्यर्थः । निष्पुंसनार्थं हस्तोद्वर्तनार्थम् । गां विनिवेद्य । इदं गोविनिवेदनं मधुपकंछिद्रसंपूरणार्थमिति ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

१. त्थं-बक० अ०, त्थमधूकप्र-मू० अटी० । २. ण-मू० अटी० बक० बख० ।  
 ३. णं च पूजायां-अ० । ४. पत्रतः-मू० अटी० । ५. जलं मधि-मू०, जलमधि-अटी० ।  
 ६. तन्त्रे हि-अ० । ७. लपूरित-म० । ८. हर्षण-अ० । ९. नार्धं पा-अ० ।  
 १०. ‘पात्रे’नास्ति-अ० ।

देयं निष्पुंसनार्थं तु पुनराचमनं विभोः ।  
 स्वलङ्कृतां सुरूपां च स्वग्रुक्तां विनिवेद्य गाम् ॥ ६६ ॥  
 प्रभूतमथ नैवेद्यं भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ।  
 मधुराद्या रसाः सर्वे शाकाः सफलमूलकाः ॥ ६७ ॥  
 पानकानि पवित्राणि स्वादूनि मधुपक्वत ।  
 सर्वमाचमनार्थं तु प्रदद्यादर्हणोदकम् ॥ ६८ ॥

“देयमाचमनं पश्चान्मात्रा गौमधुपर्किकी” (३९।३०) इति । एतदगोमात्रानन्तर वीजमौत्रा विनिवेदनीया । “ओषधीः शालिपूर्वाश्च स्कृफलाद्यं वनस्पतिम् । मूर्त्ति निवेदयेत् पूर्वम्” (ई० सं० ५।७; पा० सं० ६।३७९-३८०) इतीश्वरादिषु प्रतिपादनात् । प्रभूतं प्रचुरमित्यर्थः । नैवेद्यं पायसान्तादिहविरष्टकम् । भक्ष्याणि अपूपानि, भोज्यानि फलानि । तथा च पारमेश्वरे—“भक्ष्याण्यपूपूर्वाणि भोज्यानि तु फलानि च । लेहानि मधुपूर्वाणि चोष्याण्याग्रादिकान्यपि ॥ पेयानि क्षीरपूर्वाणि अनुपानान्वितानि च ॥” (१८।३८६-३८७) इति । मधुराद्या रसाः सर्वे इत्यनेन षण्णामपि रसानां भगवन्निवेदनहृत्वमुक्तं भवति । यद्यपि —

अपक्वव्रीहिविहिततण्डुलेनैव साधितम् ।  
 भैश्यं दुग्धाज्यसंसिक्तं गुलखण्डफलान्वितम् ।  
 अक्षारलवणोपेतं देवानां हविस्त्वयते ॥  
 ( ई० २५।८८-८९; पा० १८।१६४-१६५ )

इति मधुररसमात्रस्य देवताहृत्वमुक्तम्, तथापि व्रतयज्ञादिविषयत्वमात्रं बोध्यम्; अन्यत्र सर्वेषामपि रसानां समर्पणीयत्वोक्तेः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

अक्षारलवणं सिद्धं गुलक्षीरफलान्वितम् ।  
 शान्तैर्ये व्रतयज्ञे च संसाध्यं हविस्त्वम् ॥ इति ।  
 ( ई० २५।९०-९१; पा० १८।१६७ )

शाकफलमूलानां ग्राह्याग्राह्यत्वविवेचनं हृविः साधनविधानं पानकादिप्रकल्पनं तत्तन्निवेदनप्रकारादिकं सर्वमीश्वरादिषु विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम् । सरत्नतिलमात्रा सुवर्णदिपात्रेण निवेदनीया । तथा चेश्वरे—

१. त्वत्रापि—वक० वख० अ० उ० । २. नान्तं च—अ० । ३. णादिकम्—वक० वख० अ० उ० । ४. गौमाधुपर्किकीम्—अ० । ५. मात्रेऽपि निवे—अ० । ६. गव्य—मु० । ७. शान्तिके—पा० । ८. मूलफलानां—अ० । ९. ईश्वरसंहितायां पञ्चमे पारमेश्वरे च षष्ठसप्तमाध्याययोद्विष्टव्यम् ।

तिलान्यथ ैसुरत्नानि ताम्बूलं पुनरेव हि ।  
 गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा मुद्राबन्धमथाचरेत् ॥ ६९ ॥  
 मध्यमानामिकाभ्यां तु द्वन्द्वयुक्तं करद्वयात् ।  
 पराङ्मुखं च सुस्पष्टं कृत्वा ैयोज्यं परस्परम् ॥ ७० ॥  
 आमूलान्नखपर्यन्तं नैरन्तर्येण यत्नतः ।  
 समुक्ताने करत्तले शेषाच्चाङ्गुलस्तथा ॥ ७१ ॥  
 अधरोत्तरयोगेन वामदक्षिणतस्तथा ।  
 तर्जन्यामूर्धतोऽङ्गुष्ठे सम्मुखे सम्प्रसार्य च ॥ ७२ ॥

तिलान्यथ सुरत्नानि सुवर्णे वाथ राजते ॥  
 पात्रे कृत्वाऽथ मात्रार्थं देवाय विनिवेदयेत् । (५१२२-२३) इति ।

## ताम्बूलम्

लवङ्गतककोलैलात्वक्कर्पूरपरिभावितम् ।  
 जातीपूणकलोपेतं ससुगन्धच्छदं वहु ॥  
 कर्पूरचूर्णसंमिश्रं मुक्ताचूर्णविमिथितम् ।  
 मातुलुङ्गफलोपेतं नालिकेलफलान्वितम् ॥

प्रदद्यात् प्रणतश्चान्ते ताम्बूलं जगतः पतेः ॥

(ई० सं० ५१२३-२५)

इत्युक्तलक्षणं ज्ञेयम् । पूर्वमलङ्गारासने ताम्बूलस्य सर्मपितत्वात् पुनरित्युक्तम् ॥ ६३-६६ ॥

मुद्राबन्धलक्षणमाह—गन्धदिग्धावित्यारभ्य कार्येत्यन्तम् । अत्र हस्तयोर्ग्रन्थलेपनात् पूर्वं द्वितीयार्थदिकेन हस्तप्रकाशलनं गन्धलेपनानन्तरं तेनैवाधर्येण हस्तयोः परस्परमर्चनं च कार्यम् । यतः—“मुद्राबन्धं कराभ्युक्तं तदर्चाक्षालनं तथा” (ई० ३।९६; पा० ६।१।७) इतीश्वरपारमेश्वररथाद्वितीयाध्याविनियोग उक्तः । तथैव मुद्राबन्धप्रकरणेऽपि—

प्रक्षाल्य गन्धतोयेन अर्धपात्रोद्भूतेन वै ।  
 माणियुग्मं यथा वै स्यांत् स्वच्छमत्यन्तनिर्मलम् ॥  
 नैवैद्यधूपपात्रादैः पात्रैश्चानिर्मलीकृतम् ।  
 कृत्वा संदिग्न्धदिग्धौ तावधर्येणार्चर्यं परस्परम् ॥  
 मुद्रा मूलादिमन्त्राणां दर्शयित्वा यथाक्रमम् ।

(ई० ५।२६-२८; पा० ६।४००-४०२)

१. स-अ० । २. तु-अ० । ३. युग्म-अ० । ४. चैव-अ० । ५. योर्यथा-अ०,  
 योः स्थितः— उ० । ६. भ्युक्तां-पा० । ७. मोहात्-अ० । ८. तु-पा० । ९. मुद्रां-ई० ।

निविष्टा हृदयोदेशे कार्यात्थ जपमाचरेत् ।  
स्फाटिकेनाक्षमूत्रेण स्वकंवा करपवंभिः ॥ ७३ ॥  
यथासिमतसंख्यं च जपान्ते स्मग्वरेः सह ।  
सम्पूज्य गन्धधूपश्च ततस्तु भगवन्मयान् ॥ ७४ ॥

इति व्यवत्सुकतम् । मद्रावन्धप्रकारम्—मध्यमानामिकायगते पराकृमये गुरुपराम् आमूलान्तस्यपर्यन्तं निरन्तरं यथा तथा परम्परं संयोज्य समन्वानाः कर्तव्यास्तज्जनीद्वितये कनिष्ठाद्वितये चोत्तरेन स्यांगेन वामदक्षानः कृत्वा तज्जन्यामृत्युनः संमुच्चेद्वृष्टे गंपयाम्य उमां मद्रां हृदये निविष्टा कुर्यात् । इति व्यवत्सुकम् ॥ ७३-७४॥

जपमाह—‘अथेति । रक्षादिकेनाक्षमूत्रेणोन्यत्राक्षमादाप्रतिष्ठादिकं जेयाख्यातुमारेण ईश्वरादृष्टु प्रतिष्ठादितं द्रष्टव्यम् । स्वकंवा करपवंभिरन्यत्र पौड्यनगत्रक्षायां (पृ० १०८) विशेष उक्तः—

कनिष्ठामूलमारभ्य प्रादक्षिणयक्षमेण तु ।  
अनामिकान्तं देवेण जपेत् कोटिमहस्यकम् ॥ (अनं०, पृ० ११) इति ।

जपस्य वाचिकादिभेदेन कलभेद उक्तां लक्ष्मीनन्दे—

वाचिकं धुद्रकर्मर्थमपाप्य गिद्विकर्मणि ।  
मानसो मोक्षकल्पमीदो ध्यानान्मा सर्वसिद्धिकृत् ॥ (३१३५) इति ।

जपान्ते पूनर्भगवद्वृपाचारानाह—‘मैवर्वर्गिति । कौशिग्रदानविधिमाह—‘न इति । भगवन्मयान् भागवतानिष्ठयः । पौड्यनगत्रिकानिनि यावत् । अत्र बहुवन्ननेन तत्त्वारो विविधानाः । तथा वदयति ननुदेहो परिच्छेद—‘एवमुक्त्वा समश्यन्यं चतुरः पौड्यनगत्रिकान्’ (१८२७) इति ।

समश्यन्यं गत्राद्येगत्युपूर्वपूर्विति द्वीप्यम् । तथा चाकृत पारमेश्वर—‘प्रधर्मालभन्तुर्वै न पौरुषयत्वं ततः’ इति । सेवयां प्रतिषाद्य चतुर्धा विभक्तेष्वेकं भागं दत्तव्यत्वे । तथा च पारमेश्वर—

१. नमस्ते मूर्त्तिः वृपाचारानाह । २. नमस्ते मूर्त्तिः वृपाचारानाह—म० । ३. ‘वेत्तव्य’ नाम्न—प्र० । ४. नमस्ते मूर्त्तिः वृपाचारानाहमीष्वर्महिनाया । ५. भगवत्याक्षमे पारमेश्वरमहिनाया । ६. नमस्ते मूर्त्तिः विष्णवान्त्ये प्रतिषादितः । ७. ‘प्रतिषादित’ नाम्न—प्र० । ८. पौड्य—म० । ९. नमस्ते मूर्त्तिः नाम्न—प्र० । १०. वायप्रधान—प्र० ।

यथाक्रमं समभ्यर्थं नैवेद्यं प्रतिपाद्य च ।  
तेषां मात्रावसानं चाप्यग्नौ सन्तर्पयेत् ततः ॥ ७६ ॥

प्राङ्गनिवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ।  
प्रापणं मधुपकर्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ॥  
तेभ्यो दैवादेकभागमध्योदकपुरस्सरम् । इति ।

मात्रावसानं मात्रादानान्तमित्यर्थः । तथा च तत्रैव—“मात्रां चतुर्विधां चापि आचार्याणां प्रदापयेत्” । चतुर्विधां शालितण्डुलबीजतिलभेदभिन्नामित्यर्थः । आदौ भगवन्निवेदितानामेव मात्राद्रव्याणाम्, इदानीं भागवतेभ्यः प्रदानं पार्थक्येनेति बोध्यम् । भगवन्निवेदनसमय एव आचार्याणां मात्रादाने कृते पुनरिदानीं मास्त्वत्युक्तमौश्वरे—

यद्वैभ्यो देवयज्ञान्ते तन्मात्रान्तं प्रदाय तु ।  
अस्मिन् कालेऽर्हणाद्यं तु ताम्बूलान्तं निवेदयेत् ॥ (५४५) इति ।  
एवंकारिणां पूजनमपि भगवदर्चनवद् भगवन्मन्त्रैरेव कार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—  
ततो गुरुन् समानीय मन्मयान् वापि वैष्णवान् ।  
प्रदद्यात् प्रापणार्थं तु तेभ्यो मन्मन्त्रमुच्चरन् ॥ (४०२९-३०) इति ।

एवंकारिणदानस्य पञ्चमाङ्गत्वमुक्तं जयाख्ये—

अन्तःकरणयागादि यावदात्मनिवेदनम् ॥  
तदाद्यमङ्गं यागस्य नाम्नाऽभिगमनं महत् ।  
पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यभौगैर्यदखिलं सुने ॥  
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंजं तु नारद ।  
मध्वाज्याकरेन दध्ना च पूजा च पशुनां च या ॥  
तत्तृतीर्थं हि यागाङ्गं तुर्यमन्नेन पूजनम् ।  
निवेदितस्य यद्वानं पूर्वोक्तविधिना सुने ॥  
संप्रदानं तु तैन्नाम यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम् ।  
वह्निसंतर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तमः ॥  
प्राणार्णिनहवनं नाम्ना अनुयागस्तदष्टमम् । (२२७५-८०)  
इति ॥ ७३-७५ ॥

१. दत्त्वा एकपाद-अ० । २. मात्रा चतुर्विधान्तापि-अ० । ३. समर्पयेत्-ई० ।  
४. योगस्येत्युभयमातृकापाठः । ५. नाऽपि वा-मु० । ६. यन्नाम-अ० ।

प्रमाणपरिशुद्धं च विभवानुगुणं शुभम् ।  
 चतुरावरणं कुण्डं कृत्वा ऽङ्गुष्ठविभूषितम् ॥ ७६ ॥  
 च्यंशेनार्थीशतो वापि खाताद् व्यांसो विधीयते ।  
 चैक्रशङ्काम्बुजाकारं वृत्तं वा चतुरश्रकम् ॥ ७७ ॥  
 गदाद्यैश्चक्रपर्यन्तैर्लोऽज्ञैर्लोऽज्ञितं तु वा ।  
 अग्निकार्योपयोगीनि तानि यानि महामते ॥ ७८ ॥  
 सुक्ष्मसुवादानि भाण्डानि त्वङ्कृतव्यानि तैरपि ।  
 सुधाद्यैर्वर्णकैः शुद्धैभूषयित्वोपलिप्य च ॥ ७९ ॥  
 सुगन्धैश्चन्दनाद्यैश्च पञ्चगच्यपुरस्सरैः ।  
 तन्मध्ये च कुशाग्रेण प्राग्भागमवलम्ब्य च ॥ ८० ॥  
 आरम्भ्य दक्षिणाशाया लिखेल्लेखामुदग्गताम् ।  
 तस्यामुपरि संलिख्य लेखानां त्रितयं स्फुटम् ॥ ८१ ॥  
 प्रागग्रं दक्षिणाशादि ह्युदीच्यन्तं च सान्तरम् ।  
 चतुर्धा प्रणवेनाथ प्रोक्षयेदर्घ्यवारिणा ॥ ८२ ॥

अथ पष्ठमङ्गं वह्निमंतर्पणं निरूपप्रन्नादौ कुण्डलक्षणमाह—प्रमाणपरिशुद्धमिति सार्वद्वाभ्याम् ॥७६-७८॥

कुण्डवत् सुक्ष्मसुवादिप्राणामपि चक्रशङ्कादिभगवल्लाङ्गनं कार्यमित्याह—  
 अग्निकार्यति । कुण्डोललेखनादिकमाह—सुधाद्यैरिति । अत्रापेक्षिताः पुष्पताडनाद्यष्टविधकुण्डमस्कारा ३०जयार्थ्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोः संगृहीता ग्राह्याः ॥७८-८०॥

कुण्डमध्ये कुशाग्रेण प्राग्भागदक्षिणादि उत्तरान्तमेकामर्गलरेखां लिखेदित्याह—  
 तन्मध्य उत्ति । तद्रुपरि दक्षिणाद्युत्तरान्तं सान्तरालं प्रागग्रं रेखात्रयं कुर्यादित्याह—  
 तस्यामिति । तद्रेखात्रयस्य सुपुम्नापिङ्गलेडादेवताकत्वमुक्तमीश्वर(५।६७-६८)-  
 पारमेश्वर(७।२९)योग्रह्यम् ॥८०-८२॥

१. विभा-उ० । २. कुम्भ-उ० । ३. ह्योप-वक०, ह्योप-वख०, नाम्याट-अ०,  
 भ्योट-उ० । ४. धौं नवांशेन-वक० वख०, द्विनवांशेन-अ० । ५. द्रासो-मु० अटी० ।  
 ६. शङ्कचक्रा-वक० । ७. न्तला-मु० अटी० । ८. ग्यानि-वक० वख० उ० ।  
 ९. न्धन्त-मु० अटी० । १०. जयार्थ्यसंहितायां पञ्चदशो पठले प्रतिपादिता एते संस्कारा  
 ईश्वरसंहितायां पञ्चमेऽप्याये पारमेश्वरसंहितायां च सप्तमाध्यायारम्भे संगृहीताः ।

तदभ्यन्नर्थार्थपुष्पाद्यैध्ययेत् तद् भद्रपीठवद् ।  
 प्रणवैस्तु प्रतिष्ठानं प्राग्वदस्य समाचरेत् ॥ ८३ ॥  
 चतुरश्चे स्थले कौण्डे दिग्बिंदिगष्टके वहिः ।  
 सम्पूर्णपात्रं कुम्भानामष्टकं विनिवेश्य च ॥ ८४ ॥  
 ऊर्ध्वाधो मेखलानां च चतुर्णा दिक्चतुष्टये ।  
 कौशेयविष्टरस्थांश्च वासुदेवादिकान् यजेत् ॥ ८५ ॥  
 विदिक्षवप्ययोगेन द्यूध्वन्तमधरात् तु वै ।  
 तद्वेवाध्यपुष्पाद्यैः पूजनीयाः क्रमेण तु ॥ ८६ ॥  
 मृदुदर्भसमृहं च नीरसं चाश्मकुट्टिमम् ।  
 शुष्कगोमयचूर्णेन युक्तं गन्धाशमना सह ॥ ८७ ॥  
 कुण्डे द्रोणांशमात्रं तु समारोप्य प्रसार्य च ।  
 ताम्रपात्रेऽयवाऽन्यस्मिन् समादाय हुताशनम् ॥ ८८ ॥

प्रणवेनाध्यवारिणा चतुर्धा प्रोक्षणम्, प्रणवेन पुष्पैरभ्यर्चनम्, कुण्डमध्यस्य  
भद्रपीठवद् ध्यान चाह—चतुर्धेति साधेन ॥ ८२-८३ ॥

कुण्डस्याष्टदिक्षु पूर्णकुम्भाष्टकस्थापनमाह—चतुरश्च इति ॥ ८४ ॥

कुण्डस्य वहिः प्रागादिचतुर्दिक्षु मेखलास्थकुशकूर्चेषु ऊर्ध्वाद्यधरान्तं प्रभवक्रमेण  
वासुदेवादीनामर्चनम्, तथैवाग्नेयादिविदिक्षवप्ययक्रमेणाधराद्यूध्वन्तमनिस्त्रद्धा-  
दीनामर्चनं चाह—ऊर्ध्वाध इति द्वाभ्याम् । एवं द्वात्रिशत्कुशकूर्चेष्वर्चनं चतुर्मेखल-  
कुण्डमात्रविषयकम्, अन्यत्रैवमनवकाशात् । अत्र विदिक्षवप्ययक्रमेणानिस्त्रद्धादीनामर्चने  
अँ पुरुषाय नमः, अँ सत्याय नमः, अँ अच्युताय नमः, अँ भगवते वासुदेवाय नम इति  
पुर्वोक्तमन्त्रचतुष्टयं ज्ञेयम्,

अप्ययावसरे प्राप्ते स्मरणे चार्चने विभोः ।

शृणु मन्त्रचतुर्कं तु पुनरन्यत् समासतः ॥ (५१६८-६९)

इत्युक्ते: । प्रभवक्रमेणार्चने जाग्रद्वयूहमन्त्रचतुष्टयं जागत्येव ॥ ८५-८६ ॥

कुण्डे शीघ्रमनिप्रज्वालनसाधनदर्भचूर्णादिप्रक्षेपमाह—मृदुदर्भेति साधेन ।  
गन्धाशमना गन्धकेन, “गन्धाशमनि तु गन्धकः” (२११०२) इत्यमरः ॥ ८७-८८ ॥

१. तदर्थं गन्ध—अ० । २. कुण्डे—बक० बख० । ३. दिशि दिश्य—बक०बख० अ० उ०,  
दिग्बिदिशा—मु० । ४. प्यथ—मु० । ५. तू—अ० उ० । ६. वै—उ० । ७. तम—अ० ।  
८. गन्धमनासहा—मु०, वत्तगन्धात्मना—शटी० । ९. व्यूहे—म० ।

आरण्यं लौकिकं वाथ मणिं दर्पणोद्भवम् ।  
कालवैश्वानराख्यस्य हृदयेशम्य वै प्रभोः ॥ ८९ ॥  
मारुतानुगता भासा योज्या बाह्याग्निना सह ।

अग्न्यानयनमाह—ताम्रपात्र इति । आरण्यं अर(ण्ण?णि)संभवमित्यर्थः ।  
अरणिनिर्मर्थनप्रकार उक्तो लक्ष्मीतन्त्रे—

ध्यायेत् सर्वात्मिकां शक्तिं तामेव त्वधरारणिम् ।  
उत्तरं चारणं ध्यायेत् सर्वतेजोमयं हरिम् ॥  
मथनीयात् तारया सम्यक् तथा चैवानुतारया । (४०।४१-४२) इति ।  
एवमरणिजनितस्पाग्नेरिदमेव जातकर्मेति ज्ञेयम् । इतः परं नामाद्यग्निसंस्काराः  
कार्याः, मणिजात्मग्निस्तु गर्भधानादिभिरेव संस्कार्यः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

लोहपाणाणमण्युत्थवह्नौ कार्यवशात् कृते ।  
लौकिके वापि संस्कारं निषेकादि समाचरेत् ॥ (४०।४६) इति ।

अग्नेनिषेकादिसंस्कारविधानं तु श्रीजयैराख्यानुमारेणेश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितम् ।  
तदर्थं कुण्डमध्ये लक्ष्म्यावाहनादिकमण्युक्तम्, अन्येऽपि वहवो विशेषास्तत्र तत्रापेक्षिता-  
स्तयोरेव संगृहीता ग्राह्याः ॥ ८९ ॥

स्त्रहृदयस्थितभगवत्तेजसः पात्रस्थाग्निना संयोजनमाह—कालेति । प्रसिद्धं  
हि कालवैश्वानराख्यत्वं भगवतः । तथा च पौष्टकरे विष्वक्सेनार्चनप्रकरणे—

कालवैश्वानराख्या या मूर्तिस्तुर्यात्मेनो विभोः ।  
स एव द्विज देवोऽहि विष्वक्सेनः प्रकार्तितः ॥  
स्थित आहवनीयादिभेदेन मखयाजिनाम् ।

ऋक्पूर्वं हुतमादाय तर्पयत्यखिलं जगत् ॥ (२०।५४-५५) इति ।  
मारुतानुगता मारुतो रेचकरूप इत्यर्थः । मन्त्र एव मारुत इत्यर्थः, उभयथाप्युक्त-  
मीश्वरादिषु—“मन्त्रानिलकराकृष्टं कृत्वा तस्माद्विनिर्गतम्” (५।८६) इति, “विरेच्य  
विन्यसेत् तस्मिन् वह्निपात्रे पुरार्चिते” (५।८७) इति । भासा तेजस्संज्ञो भगवतः पष्ठो  
गुण इत्यर्थः । तथा वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

वस्तो गुणगणात् पष्ठस्तेजो नाम गुणो हि यः ॥  
परस्य व्रह्मणः सोऽप्यं सामान्यं सर्वतेजसाम् ।  
ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण निक्षिपेत् कुण्डमध्यतः ॥ (१७।११—११२) इति ॥९०॥

१. विभोः—बक० बग्व० अ० उ० । २. जयाख्यसंहितायां पञ्चदशे पटले प्रतिपादिता  
एते संस्कारा ईश्वरसंहितायां पञ्चमेऽध्याये पारमेश्वरसंहितायां च सप्तमाध्याये द्रष्टव्याः ।
३. प्रसिद्धमिति—अ० । ४. तमना—अ० । ५. वः स्याद्—मु० । ६. पतितमित्यशोभनः पाठः—मु० ।
७. आदिना पारमेश्वर(७।४७-४८)परिश्रहः । ८. विरोच्य—म० ।

भ्रामयित्वा चतुर्धा वै ततः कुण्डान्तरे क्षिपेत् ॥ १० ॥  
 पूर्तं समिच्चतुष्कं तु प्रणवैरभीमन्त्रितम् ।  
 दत्वा तदृच्छेऽ तदनु कुर्यात् परिसमूहनम् ॥ ११ ॥  
 प्रदक्षिणक्रमेणैव ह्याद्रिपाणितलेन तु ।  
 तिर्यक् चाधोगुखस्तेन नखपृष्ठमदर्शयन् ॥ १२ ॥  
 ततस्त्वभग्नमूलाग्रैः समैर्दद्यात् कुशः स्तरम् ।  
 दिशि दिश्युत्तराशान्तं याम्याशादौ तु सान्तरम् ॥ १३ ॥  
 चतुर्गुणैश्चतुर्धा तु अग्रच्छन्नैः परस्परम् ।  
 प्राक्प्रान्तैः पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरम् ॥ १४ ॥

कुण्डेऽग्निस्थापनं तदृच्छेऽ प्रज्वालनार्थं समिच्चतुष्कप्रक्षेपं चाह—भ्रामयित्वेति ।  
 अत्र समिच्चतुष्कमिति याजीयेन्धनानामुपलक्षणम् । तथा वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे—  
 “पावनैरिन्धनैः शुक्कैः कृत्वा निर्धूममेव तम्” (१७।११३) । परिसमूहनमाह—तदन्विति । परिसमूहनं नाम कुण्डमध्ये विशकलितानामग्नीनां पुञ्जीकरणम् ॥ १०-१२ ॥

परिस्तरणमाह—तत इति द्वाभ्याम् । अभग्नमूलाग्रैः समैः कुशैर्दिशि दिशि स्तरं परिस्तरणं दद्यादिति सामान्यमुक्तम् । याम्याशादौ तु उत्तराशान्तं दिक्क्रये चैक्रमेण चतुर्भिश्चतुर्भिः सान्तरम् अन्तरसंहितं स्तरं दद्यादिति विशेष उक्तः । अत्र याम्यादित्रये चतुर्धा सान्तरालपरिस्तरणकथनं द्वन्द्वप्रसङ्गेन करिष्यमाणपैत्रासादनार्थमिति ज्ञेयम् । दक्षिणादित्रय एव द्वन्द्वक्रमेणासादनस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्राग्दिशि तथासादनाभावान्निरन्तरालमेव षोडशदर्भैः परिस्तरणमिति च बोध्यम् ।

अत्र प्राक्प्रान्तैरित्यनेन पूर्वपश्चिमपरिस्तरणानामुत्तराग्रत्वमप्युपलक्ष्यते । दिशि दिशि स्तरं दद्यादिति पूर्वं सामान्यत उक्तत्वात् पुनः पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरमिति विशेषः प्रदर्शितः । एत एव श्लोका बहुशः १०पारमेश्वरादिषु प्रतिपादिताः ।

अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—“याम्याशादौ तु वा इति विकल्पः” इत्युक्तम् । तदबुद्धिविकल्प एव, तथा पाठ्वर्णेऽन्तरपदस्यागतिकत्वात्, १०प्रागभागेऽपि वृथा चतुर्धा परिस्तरणप्रसक्तोः, पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरमित्यस्य पौनश्वत्यापत्तेश्च ॥ १३-१४ ॥

१. रथ-अ० उ० । २. कुर्यात्-ब्रक० वख० । ३. प्रष्ठ-म०, पृष्ठं विमर्शयन्-अटी० ।
४. सादरम्-उ० । ५. मग्न-म० । ६. चक्रश्वभ्रैः-अ० । ७. पात्रसाधना-अ० ।
८. साधया-अ० । ९. ‘मुक्ताद्युपयुक्तकूर्चः कौश्येण धूतकेशं कुण्डशोधनोपयुक्तः कुशकूर्चो विष्टरं ‘प्रागादिकलशार्चनप्रणीतासंस्कारादिरूप’ इति पाठोऽध्यारपुस्तके ‘णाना’...‘मुत्तरा’ इत्यस्य मध्ये दृश्यते । स चात्रानावश्यकः ७७ श्लोकव्याख्यायां संशोध्य स्थापनीयः ।
१०. ईश्वरे पञ्चमाध्याये पारमेश्वरे च सप्तमाध्याये । ११. प्रागभागेऽपि-म० ।

होमोपकरणं सर्वं होमभाण्डपुरस्सरम् ।  
 अवतार्य तदूर्ध्वे तु दक्षिणस्यां तथात्मनः ॥ ९५ ॥  
 द्वन्द्वद्वयप्रयोगेण द्रव्यस्थापनमाचरेत् ।  
 द्विरष्टसंख्यमित्यं तु संयुक्तं च महामते ॥ ९६ ॥  
 द्वितीयेनाष्टसंख्येन मुक्तदर्भेस्तरणिष्ठकाम् ।  
 सुक्स्तुवौ च चतुष्कं यदेकत्र विनिवेश्य तत् ॥ ९७ ॥  
 सग् धूपं मधुपर्कं च वीजान्येकत्र वै ततः ।  
 कौशेयं धूतकेशं तु विष्टरं च घृतं चरुम् ॥ ९८ ॥  
 आज्यस्थालीचतुष्कं च निधाय तदनन्तरम् ।  
 प्रणीतापात्रयुगलं कर्कं चार्द्यभाजनम् ॥ ९९ ॥  
 चतुष्कमेतदपरमग्रतो विनिवेश्य च ।  
 प्रादेशमात्राः समिधः प्रभूतं शुष्कमिन्धनम् ॥ १०० ॥  
 पक्षमकं स्वेदहृद्वस्त्रं वामभागे निधाय च ।  
 अर्द्यपात्रोदकेन प्राक् कृत्स्नं पावनतां नयेत् ॥ १०१ ॥

अथ परिस्तरणोपरि होमोपकरणसंनिधापनमाह—होमेति । होमभाण्डपुरस्सरं सुक्स्तुवपुरस्सरमित्यर्थः । “सुक्स्तुवादीनि भाण्डानि” (६७९) इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । प्रथमं दक्षिणपरिस्तरणे आसादनक्रममाह—दक्षिणस्यामित्यादिभिः । मुक्तदर्भेः कूर्चादिरूपेणाग्रथितैः, केवलकुशैरित्यर्थः । तैरूपलक्षिता तरणिका । सुक्स्तुवरजोमार्जनशोधनाद्युपयुक्तः कूर्चः । कौशेयं धूतकेशम् । कुण्डशोधनोपयुक्तः कुशः कूर्चः । विष्टरं प्रागादिकलशार्चनप्रणीतासंस्काराद्युपयुक्तकूर्चम् ॥ ९५—९९ ॥

पश्चिमपरिस्तरणोपयसिद्याद्रव्याण्याह—प्रणीतेति । उत्तरपरिस्तरणे आसनान्याह—प्रादेशमात्रा इति । पक्षमकं(वक्ष्य?पक्ष्य)तेऽग्निप्रज्वालनार्थं परिगृह्यत इति पक्षमकं व्यजनमित्यर्थः । ‘पक्ष परिग्रहे’ (चु० १७) इति धातोः । पारमेश्वरव्याख्याने पक्षमकं सूक्ष्ममिति स्वेदहृद्वस्त्रविशेषणं कृतम्, तदसंगतम्, द्वन्द्वक्रमेणासादनासंभवात् । क्वचित् पारमेश्वरप्रयोगे समस्तपदभ्रान्त्यां पक्षमस्थं कं बाष्पमित्यभिप्रायेण बाष्पस्वेदहृद्वस्त्रद्वयमिति लिखितम्, तदपि विरुद्धम्, दीक्षापरिच्छेदे—

१. स्तुग्—सार्वत्रिकः पाठः । २. धूमं—मु० । ३. धौत—मु० वक० बख० ।
४. स्थाली—मु० अ० उ० । ५. तत्—उ० । ६. पूर्वमुक्त—अ० । ७. तरूप—अ० ।
८. ‘मार्जनशोधककूर्चमाह’ इत्येव पाठः—अ०, ९० पृष्ठस्य ९ संख्याकटिप्पणीस्थः पाठोऽन्नं संशोध्य मूले स्थापितो म० मातृकानुसारम् । ९. स्त्रज्या—अ० ।

आदाय सोदकं चाथ प्रणीताख्यं च भाजनम् ।  
 पवित्रकं तु तन्मध्ये चतुर्दर्भकृतं न्यसेत् ॥१०२॥  
 उद्घृत्योद्घृत्य हस्तेन जलं तत्रैव निक्षिपेत् ।  
 चातुरात्मीयं मन्त्रं च जपमानो हि साधकः ॥१०३॥  
 भूयस्तदम्भसा सर्वं प्रोक्षयेद् विष्टरेण तु ।  
 शेषस्यासावणं कुर्यात् सर्वादिक्षु स्तरोपरि ॥१०४॥  
 पुनरेवाम्भसाऽपूर्यं तन्मध्ये परमेश्वरम् ।  
 ध्यात्वाऽर्चयित्वा संस्थाप्य त्वग्रतस्तदन्तरम् ॥१०५॥  
 सम्प्रोक्ष्याध्याम्भसा चेष्टांश्चतुर्धा संविभज्य च ।

प्रागुक्तं स्तुकस्तुवादं च होमोपकरणं च यत् ॥

सर्वं पक्षमकपर्यन्तं बृहत्पात्रद्वयान्वितम् । (१८।४६-४७)

इति वक्ष्यमाणत्वात् । किञ्चन, पारमेश्वरव्याख्यायामासादनविषये—“अत्रैवं विवेकः”  
 इति प्रक्रम्य स्वच्छन्दमासादनमुक्तम् । तदविवेकोत्थपितम्, यतस्तत्र दक्षिणपरि-  
 स्तरणोपरि परिध्यादीनां स्त्रैगादीनां धूतकेशादीनां चतुर्णा चतुर्णामासादनम्, अतः  
 स्वाग्रतः पश्चिमपरिस्तरणोपरि प्रणीतादीनां चतुर्णामासादनम्, उत्तरपरिस्तरणोपरि  
 समिदादीनां चासादनं कार्यमित्यर्थः सुस्पष्टमुपलभ्यते । आसादितानां प्रोक्षणमाह—  
 अर्घ्येति । अस्मिन्नवसरे कुण्डस्य चतुर्दिक्षु परिधिस्थापनं कार्यम्, “पलाशपूर्वा: समिधः  
 साग्राः परिधयस्तु वै” (१८।४५) इत्यष्टादशपरिच्छेदे परिधीनां वक्ष्यमाणत्वात् ।  
 “चतस्रो वै परिधयः शिखामन्त्रेण पूजयेत्” (५।१०२) इतीश्वराद्युपबृहितत्वाच्च ।  
 एवं परिधिन्यासानन्तरं प्रागादिषु कुम्भेषु कूर्चन्यासपूर्वकमिन्द्राद्यर्चनं च कार्यम्,

विष्टराणि ततो द्वयाद् हृदा कुम्भाष्टके ततः ।

तेषु क्रमात् पूजयेच्च लोकपालान् स्वदिकस्थितान् ॥ (५।१०३)

इतीश्वरोक्तेः । जयाख्यपारमेश्वरयोः परितः कुम्भानां केवलकूर्चेष्वेव लोकपालार्चन-  
 मुक्तम् ॥९९-१०१॥

प्रणीतासंस्कारविधिमाह—आदायेति चतुर्भिः । चातुरात्मीयं मन्त्रं पूर्वोक्तं  
 वासुदेवादिमन्त्रचतुष्टयमित्यर्थः ॥१०२-१०५॥

इधमप्रक्षेपणमाह—संप्रोक्ष्येति । द्वादशाक्षरविद्यया व्यापकद्वादशाक्षरमन्त्रे-

१. च—मु० अटी० । २. स्य सा-बक० बख० । ३. ततो—अटी०, स्वको—उ० ।

४. चोद्वर्ण—बक० बख०, वेद्या च—उ० । ५. सुगा—म० । ६. ‘चतुर्णाम्’ नास्ति—अ० ।

७. पालाश—म० मु० । ८. रमाह—म० ।

पूजयेदर्थपुष्पाभ्यां द्वादशाक्षरविद्या ॥१०६॥  
 प्रणीते चापरस्मिन् वै पात्रे चाग्रे कृते सति ।  
 संपवित्रं तु तत्राधर्य दत्वा चक्रं तु विन्यसेत् ॥१०७॥  
 चतुर्सूर्ति तदूर्ध्वं तु ध्यात्वाऽभ्युच्चर्य यथाक्रमम् ।  
 तत्पात्रमुत्तरस्यां च कृत्वा सम्पूज्य वै पुनः ॥१०८॥  
 आज्यस्थालीमथादाय त्वाज्यं यत्प्राग् द्रवीकृतम् ।  
 विनिक्षिप्याज्यभाण्डान्तमुच्चस्थेन करेण तु ॥१०९॥  
 पुनर्रादाय कृत्वाग्र आधारोपरि यत्नतः ।  
 दार्भं काण्डचतुष्कं तु द्वादशाङ्कुलसम्मितम् ॥११०॥  
 तिर्यगुच्चानपाणिभ्यामवष्टभ्य च सान्तरम् ।  
 अनामाङ्गुष्ठयुग्मेन यथा मध्यं नतं भवेत् ॥१११॥  
 तैराज्यं चतुरो वारानानयेच्चतुरुरुन्नयेत् ।  
 अन्तरान्तरयोगेन श्वात्मनोऽग्नेस्तु सम्मुखम् ॥११२॥  
 ग्रणवेनोक्तैसंख्येन कुण्डमध्येऽर्थं निक्षिपेत् ।

णेत्यर्थः ॥१०६॥

अन्यप्रणीतासंस्कारमाह—प्रणीत इति द्वाभ्याम् ॥१०७-१०८॥

आज्यसंस्कारमाह—आज्यस्थालीमिति सार्वैश्चतुर्भिः । अत्र द्रवीकृतमाज्य-  
 माज्यस्थाल्यां विनिक्षिप्येत्यनेन जयाख्योक्तदशविधाज्यसंस्कारेषु—“उपाधिश्रयणं नाम  
 यैदाद्रावणमुच्यते । परिवर्तनमन्यस्मिन् भाण्डे दोषापूर्णुतये ॥ प्रसादीकरणं ह्येतत्”  
 ( १५।११७-११८ ) इत्युक्तसंस्कारद्वयमुक्तं भवति । तैराज्यं चतुरो वारान् आनयेच्चतु-  
 रुन्नयेदित्यनेन—

नयेत्तच्चानयेद्विप्रं प्रतपारनौ क्षिपेत् कुशम् ।

संप्लवोत्प्लवनावेतौ संस्कारौ परिकीर्तिं ॥ (ज्या० १५।११६)

इत्युक्तसंस्कारद्वयं चोक्तं भवति । अन्ये षड्विधसंस्काराश्च जयाख्योक्ता<sup>१०</sup> ईश्वरतन्त्रे  
 संगृहीता ग्राह्याः । उक्तसंख्यानप्रणवेन अष्टवारेणेत्यर्थः । चतुरो वारानानयेत्, चतुरुन्न-  
 येदित्युक्तत्वात् ॥१०९-११३॥

१. सपात्रं तु तदत्राधर्य—अ० उ० । २. न्यत्र—उ० । ३. भाण्डेन तूच्च—अ०, आण्डेन उच्च—  
 उ० । ४. राधाय—मू० अटी० । ५. वोक्तेन—मू० अ० उ० । ६. तु—अ०, च—उ० ।  
 ७. आद्रा—अ०, यत्तद—मू० । ८. दोषपुन्तये—अ० । ९. प्रतापा—म०, तमग्नौ नि—मू० ।  
 १०. जयाख्यसंहितायां पञ्चदशे पटलेऽत्रैवोक्ता ईश्वरसंहितायां पञ्चमेऽध्याये द्रष्टव्याः ।

सुक्सुवावथ चादाय दर्भपुञ्जीलकेन तु ॥११३॥  
 रजोपनयनं कुर्यात् प्रक्षाल्योषेन वारिणा ।  
 निर्मलीकृत्य कूचेन ज्वालाभिः सम्प्रताप्य च ॥११४॥  
 प्रोक्षयित्वाऽर्थ्यतोयेन पूजयित्वा निधाय च ।  
 बहुशाखैरभग्नाग्रैः समूलैः सुसमैः कुशैः ॥११५॥  
 चतुर्भिर्वामहस्तेन त्वादायाथ पवित्रकम् ।  
 दक्षिणानामिकायां तु चतुर्ष्काण्डविनिर्मितम् ॥११६॥  
 अङ्गुलीयकरूपं च कृत्वा वै तदनन्तरम् ।  
 संस्कृताऽज्यस्य विप्रुड्भिः संस्पृशेदिन्धनादिकम् ॥११७॥  
 निःशेषदोषशान्त्यर्थमथानेराहृतस्य च ।  
 शतं शतार्धं पादं वा त्वाहुतीनां स्वशक्तिः ॥११८॥  
 तिलानां घृतसिक्कानां शुद्धेन हविषा सह ।  
 होतव्यं कर्मसिद्धव्यर्थं यथा तदवधारय ॥११९॥  
 आहृत्यामुद्घृतायां च मूलमन्त्रावसानतः ।  
 प्रणवान्तं पदं ब्रूयादग्निं शोधय शोधय ॥१२०॥

सुक्सुवसंस्कारमाह—सुक्सुवाविति द्वाभ्याम् । पूजयित्वेत्यत्र सुक्सुवाधिदेवतास्तन्मन्त्राश्च जैयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीताः ॥११३-११५॥

अथ वामहस्ते वलयपवित्रधारणं दक्षिणानामिकायां पवित्रधारणं चाह—बहुशाखैरिति द्वाभ्याम् । पवित्रलक्षणं तु पारमेश्वरे—

चतुर्डशुलमात्रं<sup>१</sup> तु सदा विष्णवधिदैवतम् ।  
 महाविष्णवधिदैवस्तु ग्रन्थिरेकाङ्गुलो भवेत् ॥  
 विष्णवधिदैवं वलयं द्वयमङ्गुलमुच्यते । (३२२-२३) इति ।  
 समिदादिषु संस्कृताऽज्यसेचनमाह—संस्कृतेति । विप्रुड्भिः बिन्दुभिरित्यर्थः ॥११५-११७॥

अथाग्निशुद्धव्यर्थं होममाह—निःशेषेति चतुर्भिः । चतुष्पलीं चतुष्पलमितामित्यर्थः । पलप्रमाणं तु पारमेश्वरे—

चत्वारो त्रीह्यः कुञ्जस्तेऽष्टौ माञ्जिष्ठमुच्यते ॥

तच्छतं षष्ठिरधिकं निष्कं निष्काष्टकं पलम् । इति ।

(१८१३१-१३२)

१. पुञ्जलिकेन-अटी० । २. णेडना-बक० बख० अ० उ० अटी० । ३. तनुं पञ्च-अ० ।
४. त्याज्यस्य—मु० बक० बख० उ० । ५. पूर्वोक्तेष्वेव प्रकरणेषु । ६. मग्रं-मु० । ७. झास्तेषां मौ-अ० ।

यथावस्थितरूपेण ततस्तेनैव बुद्धिमान् ।  
 दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चात् क्रतेन तु चतुष्पलीम् ॥१२१॥  
 तस्य संशुद्धदोषस्य पुनरेव समाचरेत् ।  
 सम्बोधजनकं होमं जडभावप्रशान्तिदम् ॥१२२॥  
 उच्चार्य मूलमन्त्रं तु प्रणवद्वितैयान्वितम् ।  
 जुहुयादाहुतीनां च सहस्रं शतमेव वा ॥१२३॥  
 तद्वाज्येन सन्तर्प्य दद्यात् पूर्णाहुतिं तथाँ ।  
 तदा सँलब्धवसौन्तः स्यात् पश्यत्यन्तर्गतं विभुम् ॥१२४॥  
 प्राणभूतमजं विष्णुं तन्मयत्वमथाश्रयेत् ।  
 अथ सद्यज्ञनिष्ठस्य कर्मिणोऽस्यापवर्गिणः ॥१२५॥  
 याति याग्नैङ्गभावित्वं स्वयमेव तदिच्छया ।  
 विभजत्यात्मनात्मानं चतुर्धा कुण्डमध्यतः ॥१२६॥  
 अधिभूतस्वरूपेण समाश्रित्य च दिक्क्रमम् ।  
 पूर्वमाहवनीयाख्यस्वरूपेणाथ दक्षिणे ॥१२७॥  
 समास्ते सम्भ्यवपुषा पश्चिमस्यामनन्तरम् ।  
 गाहूपत्याख्यभेदेन ततस्तिष्ठति चोत्तरे ॥१२८॥  
 ओदनम्पचनात्मा तु सर्वात्मत्वेन मध्यतः ।  
 आधाराधेयभावेन त्वास्ते संवलिताकृतिः ॥१२९॥

अस्मिन्नवसरेऽन्नेनिषेकादिविवाहान्तसंस्कारा जिह्वाकल्पनाश्चेश्वरपारमेश्वरादिषु  
 संगृहीता ग्राह्याः ॥११८-१२१॥

अथाग्ने: संबोधजनकहोममाह—तस्येति सार्धद्वाभ्याम् ॥१२२-१२४॥

अनेन होमेनाग्निर्लब्धसत्ताको भूत्वाऽन्तर्गतं भगवन्तं दृष्ट्वा तन्मयत्वं प्राप्य  
 स्वयमेव<sup>१०</sup> याजककर्तृकयागाङ्गत्वमाश्रित्य चातुरात्म्याराधनार्थं स्वयमपि चतुर्धा  
 आहवनीय-सम्भ्य-गाहूपत्योदनंपचनात्मभेदैः प्रागादिषु स्वात्मत्वेन मध्ये चाधाराधेय-  
<sup>११</sup>भावसंवलिताकृतिस्तिष्ठतीत्याह—तदेति सार्धैः पञ्चभिः ॥१२४-१२९॥

१. च-बक० बख० अटी० । २. द्विद्वया-बक० बख० अ० । ३. तदा-बक० ।  
 ४. स लब्ध...याति' नास्ति-उ० । ५. सत्तस्य-म० अटी० । ६. श्रितम्-अटी० ।  
 ७. गान्न-म० अटी० । ८. यद्-म० अटी० । ९. पूर्व आ-अ० उ० । १०. स्वयमेव  
 स्वयमेक एव-अ० । ११. तस्तुति-अ० ।

अङ्गाराण्यर्चिषश्चैव शक्तिर्या दहनात्मिका ।  
 त्रिलक्षणोऽयमधार आधेयो हुतभुग् विभुः ॥१३०॥  
 आत्मयोनिस्तु<sup>१</sup> विश्वेशो वासुदेवः सनातनः ।  
 एवं ज्ञात्वा परा सम्यक् सत्तां वैश्वानरीं पराम् ॥१३१॥  
 ततः कर्मणि वर्तेत नैष्ठिकः कृतनिश्चयः ।  
 कुर्यादुदकपूर्वं तु प्राग्वदावाहनं ततः ॥१३२॥  
 व्यक्तेविगलितेनैव तत्त्वेनाप्यव्ययात्मना ।  
 सर्वेश्वरस्य वै यस्माद् यद्यन्मानं महद्रूपः ॥१३३॥  
 वाच्यवाचकरूपं तद् विज्ञेयममलेक्षण ।  
 तत्पुनः शुद्धसामान्यमुपचारविधौ स्थितम् ॥१३४॥  
 यद्गोगदानमन्त्रैस्तु रहितं मान्त्रमैश्वरम् ।  
 प्राक् चतुर्धा विभक्तो यस्तमादायेधमसञ्चयम् ॥१३५॥  
 आज्येनोभयतः<sup>२</sup> सिक्तं ब्रह्मक्षीरद्रुमोद्भवम् ।  
 कुण्डस्य ब्रह्मभित्तिभ्यां मध्ये भागचतुष्टये ॥१३६॥  
 निदध्यादुत्तराशान्तं प्राग्भागादादितः क्रमात् ।  
 इशानानेयपादाभ्यां पतितं प्राक् चतुष्टयम् ॥१३७॥

आधाराधेयविवरणमाह—अङ्गाराणीति सार्थेन । एवं सम्यग्नेन सत्तापरिज्ञानान्तरमेव कर्मणि प्रवृत्तिमाह—एवमिति । अस्मिन्नर्वसरेऽन्यर्चनमीश्वराद्युपबृहितं ग्राहम् ॥१३०—१३१॥

अथाग्निमध्ये भगवदावाहनमाह—कुर्यादिति । व्यक्तेविगलितेनेत्यनेत्र बिम्बादिष्वर्चितस्यैवात्रावाहनमित्यवगम्यते । तत्त्वेन मान्त्रपूर्णेणेत्यर्थः ॥१३२—१३३॥

मन्त्रशरीरस्यैव मुख्यत्वं तस्य वाच्यवाचकरूपेण द्वैविध्यं चाह—सर्वेश्वरस्येति द्वाभ्याम् । अत्रावाहनमित्यनेन भैद्रपीठपरिकल्पनादिलयभोगार्चनान्तविधयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । तथैवोपवृहितमीश्वरादिषु च ॥१३३—१३५॥

ततः पूर्वं प्रणीतासंस्कारकाले चतुर्धा विभक्तस्य षोडशेधमस्येदानीं कुण्डमध्ये

१. योने—अ०, नोऽने—म० अटी० बक० बख० । २. दद्यान्मात्र—म० अटी०, दद्यान्मान्त्र—बक० बख० । ३. शब्द—अ० उ० । ४. मात्र—म० अटी० । ५. दिक्सिद्धं—अ०, दिक्सिक्तं—उ० । ६. सरेऽर्चन—अ० । ७. 'भद्र' नास्ति—अ० । ८. ईश्वरे पञ्चमाध्याये, आदिना पारमेश्वरे सप्तमाध्याये ।

आग्नेयनैऋताशाभ्यां विश्रान्तमपरं न्यसेत् ।  
 नैऋतानिलसंस्पर्शि॑ तृतीयं विनिवेश्य च ॥१३८॥  
 वाय्वीशपदसंरुद्धं चतुर्थं तु चतुष्टयम् ।  
 एवं चतुर्विभक्तेनै सामिधेन समाप्तः ॥१३९॥  
 कुण्डमेकं चतुर्धा वै चतुर्णा संविभज्य च ।  
 अग्नीनामेकदेहानां चातुरात्म्यव्यपेक्षया ॥१४०॥  
 यदाय उपयोग्यैः स्यात् यस्मिन् यस्मिन् हि वस्तुनि ।  
 स्वमूर्तेस्तर्पणार्थं च कर्मणि स्थापनादिके ॥१४१॥  
 तदा तदा स आदेयः स्वकात् स्थानाच्च यत्नतः ।  
 द्वितीयमिधमादाय त्वष्टकाष्ठमयो हि यः ॥१४२॥  
 द्विधा कृत्वा पुराज्येन पूर्ववत् सेचयेच्च तम् ।  
 निधाय दक्षिणस्यां च मध्य आग्नेयदिग्गतम् ॥१४३॥

आ(वाह?हव)नीयादिविभागार्थं प्रागादिषु ब्रह्मस्थानभित्योर्मध्ये तत्त्वोणद्वयसंरोधेनेध्मै-  
 प्रक्षेपमाह—प्राक् चतुर्धेत्यादिभिः स्वकात् स्थानाच्च यत्नत इत्यन्तैः ॥१३५-१४२॥

इधमविभागादिकमाह—द्वितीयमिति । इधमाष्टकं पुरा द्विधा कृत्वा तदनन्तरं  
 पूर्वदुभयत आज्येन सेचनीयम् । यद्यपीश्वरपारमेश्वरयोः—“आज्येनोभ्यतः सिकतं  
 ब्रह्मक्षीरदुमोद्भवम् । सैमादाय द्विधा कृत्वा” (ई० सं० ५।१८६; पा० सं० ७।१४८)  
 इति चोक्तवाद इधमानामाज्यसेकानन्तरं द्वेधा विभजनं प्रतीयते, तथापि मूला-  
 विरोधेनार्थस्य वर्णनीयत्वात् मूले च द्विधा कृत्वा पुराज्येन पूर्ववत् सेचयेच्च  
 तमित्युक्तवात्, षोडशोधमप्रकरणेऽपि चतुर्धा विभजनानन्तरमेवाज्यसेकस्योक्तवाच्च  
 पाठकमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन तयोरपि द्वेधाकरणानन्तरमेवाज्यसेचनमित्यर्थो  
 वर्णनीयः । अत एवास्मत्तातपादैरीश्वरानुसारिण्यपि सात्वताभृते मूलाविरोधेनार्थो  
 वर्णितः । कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे—“आज्येन सर्वतः संसिच्य द्विधा कृत्वा”  
 इत्युक्तम्, तद्विरुद्धम् ॥१४२-१४३॥

इधमप्रक्षेपक्रममाह—निधायेति सपादेन । अग्नौ दक्षिणस्यां मध्ये नैऋताग्नेय-  
 को(ण)संरुद्धमिधमचतुष्टयं निधाय तथैवापरं चतुष्कमुत्तरस्यां मध्ये वायव्येशानकोण-

१. श—अ०, श—अटी० । २. समिद्वेन—मु० अटी० बब० । ३. ग्यस्य—बक० बब० ।

४. स्याद्विरस्मिन्—अ० । ५. रोधेन प्रक्षेप—म० । ६. न सर्वतः—पा० । ७. इधमाष्टकं समा—ई० ।

विश्रीन्तं नैऋतपदे चोचरस्यां तथाऽपरम् ।  
 वौश्वीशपदसंरुद्धमाज्यमादाय वै ततः ॥१४४॥  
 चतुःसंख्येन मन्त्रेण प्रणवालङ्कृतेन च ।  
 दक्षिणे सुकृचतुष्कं तु जुहुयादुत्तरे तथा ॥१४५॥  
 सूर्यसोमात्मकं चाग्नेरिंद्रि तल्लोचनद्वयम् ।

संरुद्धं निदध्यादित्यर्थः । एवं नैऋताग्नेयसंरुद्धत्वोक्त्या वायव्येशानसंरुद्धत्वोक्त्या चाग्नौ दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च पूर्वपश्चिमायतने वेधमप्रक्षेपः कार्य इत्यर्थः सिद्धच्छति ।

ननु पूर्वपश्चिमान्तमिधमप्रक्षेपः स्वतः सिद्ध इति चेन्न, पूर्वं षोडशोधमप्रक्षेप-प्रकरणे—“ईशानाग्नेयपादाभ्यां पैतितं प्राक्चतुष्टयम्” (६।१३७) इति, “नैऋतानल-संस्पर्शं ‘तृतीयं विनिवेश्य’” (६।१३८) इति च दक्षिणोत्तरायतमर्पीधमप्रक्षेपस्योक्त-त्वात् । इममर्थमविज्ञाय कस्मिन्श्चित् पारमेश्वरप्रयोगे वृथा पाण्डित्यं कृतम् । तथाहि—इधमाष्टकपक्षे कुण्डादन्तः दक्षिणभित्तौ मध्यत उर्ध्वाश्रमेकमिधमं मूलेन संयोज्य तथा कुण्डमध्यत आग्नेये नैऋते वेधमत्रितयं निधाय तथापरचतुष्कमुत्तर-भित्तिकुण्डमध्यवायीशानकोणेषु निदध्यादिति ॥१४३-१४४॥

ततोऽग्नौ दक्षिणे उत्तरे वेधमप्रक्षेपस्थाने तत्संख्यानुगुणमाज्यहोमं तत्स्थानद्वयस्य सूर्यसोमात्मकाग्निलोचनत्वं चाह—चतुःसंख्येनेति सार्थेन । ज्याख्ये तु—सूर्यसोमयो-स्ततन्मन्त्राभ्यामाहुतिद्वाराऽग्नौ दक्षिणोत्तरयोः संयोजनमुक्तम् । तदपि संगृहीत-मीश्वरपारमेश्वरयोः । किञ्च, एवमाज्यभागाभ्यां पूर्वमाघारहोमोऽपि संगृहीत-स्तत्रैव—

.... .... .... अँधाराज्यं ततः क्षिपेत् ।  
 इधममूलादथार्कान्तमिधमेधमोपरि संस्थितम् ॥  
 सुवमाज्येन संपूर्यं सूर्यबीजेन चिन्तयेत् ।  
 सहस्रांशुं च तन्मध्ये दद्यात् कुण्डस्य दक्षिणे ॥  
 अपरस्मिन् सुचि ध्यात्वा सोमाख्येनाक्षरेण तु ।  
 पूर्णं शशाङ्कबिम्बं च प्रदद्यात् ततौ उत्तरे ॥ इति ॥१४५-१४६॥  
 ( ई० सं० ५।१८८-१९०; पा० सं० ७।१५०-१५२)

१. श्रान्तनै-बक० बख० उ० । २. वारीश-मु०, वागीश-उ० । ३. तं लो-मु० अटी० बक० बख० । ४. ‘पतितं’ नास्ति-अ० । ५. स्पर्शनितयं-अ० । ६. ज्याख्यसंहितायां पञ्चदशो पटले, ईश्वरसंहितायां पञ्चमे, पारमेश्वरसंहितायां सप्तमे चाध्याये विषयोऽयं द्रष्टव्यः । ७. आघाराभ्यन्ततः-ई० । ८. ग्रान्त-पा० । ९. सांशुश्च-म०, सान्तं च-अ० । १०. चु तदुत्तरे-पा० ।

एतयोरन्तरं यद् वै तदग्नेर्वदनं स्मृतम् ॥१४६॥  
 तत्र वै जुहुयात् पूर्वं समिधां सप्तकं क्रमात् ।  
 घृतसिक्तां चतुःसंख्यामैकैकां हि सुपुष्कलाम् ॥१४७॥  
 प्राक् कुड्कुमादिना लिप्तां काष्ठसंख्यां तु होमयेत् ।  
 ३स्ग्न्धूपं मधुपकं च बीजान्नाज्यं यथाक्रमम् ॥१४८॥  
 तत्रान्नसमिधो दाने विशेषोऽयं विधीयते ।  
 साधितं संस्कृताऽनौ प्राक् तन्निधायाग्रतश्चरुम् ॥१४९॥  
 समुद्घात्यावलोक्यादौ सम्प्रोक्ष्याध्याम्भसा ततः ।  
 दर्भकाण्डचतुष्कणे साज्जिना तदनुस्पृशेत् ॥१५०॥

एतयोरन्तरालस्य वदनत्वं तत्र सप्तसमिधां होतव्यत्वं चाह—एतयोरिति ।  
 समिधां सप्तकं समित्-पूष्प-धूप-मधुपकं-बीज-च्चरु-घृतानीत्यर्थः । समिध्यते दीप्यतेऽग्नि-  
 रनयेति व्युत्पत्त्या समित्पुष्पादीनां सप्तानामपि समिदित्येव व्यवहारात् ॥१४६—१४७॥

तासां होमक्रममाह—घृतसिक्तां चतुःसंख्यामित्यारभ्य आज्याख्यां जुहुयात्  
 तत इत्यन्तम् । घृतसिक्तां घृतेनोभयतः सिक्तामित्यर्थः, “आज्येनोभयतः सिक्तम्”  
 (६।१३६) इति पूर्वोक्तेः । एकैकाम् पूर्वमिधमहोमप्रकरणे चतुर्वचतुस्समिधां युगपत्  
 प्रक्षेपस्योक्तत्वादत्रापि तादृशत्वशङ्काया निवृत्यर्थमेककामित्युक्तम् । सुपुष्कला-  
 मित्यनेन कृमिभक्षितत्वादिदोषराहित्यमुच्यते । प्राग् आसादनकाल इत्यर्थः ।  
 कुड्कुमादिना, आदिशब्देन कैपूरं रकस्तूर्यौ गृह्णेते, स्वग्न्धूपमधुपकं स्त्रकं पुष्पमित्यर्थः ।  
 “ततः पुष्पमयीं दद्यात्” (४०।६८) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । धूपः गुणगुल्वादि । मधुप-  
 (कं?कं?) संमिलितपयोदधिमध्वाज्यम् । बीजानि मुदगादीनि । अन्नानि पायसादीनि ।  
 आज्यं गोघृतम् । आहृत्य सप्त समिधो ज्ञेयाः । यथाक्रमम् उक्तक्रममनतिक्रम्येत्यर्थः ।  
 पूर्वं काष्ठसमिधम्, ततः पुष्पम्, ततो धूपम्, तैँतो मधुपक्रमम्, ततो बीजानि, ततश्चरुम्,  
 ततस्त्वाज्यं क्रमेण जुहुयादिति यावत् । क्वचित् सात्वतपुस्तकेषु ईश्वर (५।१९४)-  
 पारमेश्वरपुस्तकेषु च “बीजान्याज्यं यथाक्रमम्” इत्यशुद्धपाठो लिखितः । तदनुसारेण  
 केषुचित् पारमेश्वरप्रयोगेषु बीजाहृत्यनन्तरमाज्याहृतिस्तदनन्तरं चर्वाहुतिरिति  
 लिखितम्, तदसंगतम्, यतः पूर्वं सामान्यतोऽन्नसमिद्वानोक्तिमन्तरा तत्रान्नसमिधो  
 दाने विशेषोऽयं विधीयत इत्युक्तेरवतरणासंभवात्, आज्याख्यां जुहुयात् तत इति

१. तत्रैव—उ० । २. पूर्ण—अटी० । ३. स्वग्न्धूप—बक० वख० । ४. क्रमात्—मु० अटी० ।
५. तत्रान्ने—मु०, तन्त्रान्ते—अटी० । ६. कस्त्रूरकर्षूर्यै—अ० । ७. ‘ततो मधुपक्रमम्’ नास्ति—अ० ।
८. मुद्रिते पारमेश्वरपुस्तके ‘बीजान्याज्यम्’ (७।१५६) इत्येव पाठः ।

तन्मध्ये सुकृचतुष्कं तु मन्त्रैराज्यस्य निक्षिपेत् ।  
 अथादाय सुचं तत्र तद्वद् दद्याच्चतुष्टयम् ॥१५१॥  
 चतुरङ्गुलमानेनाऽप्यनग्रासमथाहरेत् ।  
 तन्निधाय सुचो र्भे तदूर्ध्वे पूर्ववद् घृतम् ॥१५२॥  
 दद्यादग्नौ चतुष्कं तु क्षिपेदन्नाहुतिं ततः ।  
 भूयोऽग्नौ सुकृचतुष्कं तु चाज्यस्यापाद्य यत्नतः ॥१५३॥  
 ततोऽन्नमाज्यसंसिक्तं प्राग्वत् कृत्वाहुतिं पुनः ।  
 दद्यात् पूर्वप्रयोगेण त्वेवमेव चतुष्टयम् ॥१५४॥  
 हुत्वाऽप्यन्नाहुतीनां च द्वाज्याख्यां जुहुयात् ततः ।

चर्वाहुत्यनन्तरमाज्याख्यसमिद्वानस्योक्तत्वाच्च । प्राक् संस्कृताग्नौ साधितमित्यत्र चरस्त-  
 धनप्रकारस्तु दीर्क्षाप्रकरणे वद्यप्रमाणो ज्ञेयः । तन्मध्ये चरुमध्ये । आज्यस्य सुकृचतुष्कं  
 निक्षिपेत्, सुचाज्येन चतुर्वार्मभिधार्येत्यर्थः । अन्नग्रासं कुकुटाण्डप्रमाणमन्नकबलमि-  
 त्यर्थः । “कुकुटाण्डप्रमाणं तु ग्रास इत्यभिधीयते” (अ० स० १२१-१२२) इति स्मृतेः ।  
 अथादाय सुचं तत्र तद्वद् दद्याच्चतुष्टयमित्यत्र, तदूर्ध्वे पूर्ववद् घृतमित्यत्र, दद्यादग्नौ  
 चतुष्कं तु इत्यत्र च सुवेणोति ज्ञेयम् । ततोऽन्नमाज्यसंसिक्तं प्राग्वत् कृत्वा सुचाज्येन  
 चरुं चतुर्वार्मभिधार्येत्यर्थः । पूर्वप्रयोगेणेत्यनेन सुचि सुवेण चतुरभिधारः, तत्र  
 चरनिक्षेपः, तदुपरि पुनश्चतुरभिधारसुवेणाज्यान् तिचतुष्टयम्, चर्वाहुत्यनन्तरं पुनः  
 सुचाऽज्याहुतिचतुष्टयं च संगृह्यते । एवमन्नाहुतीनां चतुष्टयं हुत्वेत्यनेनान्नाहुतीना-  
 मपि चतुःसंख्याकत्वमेव ज्ञेयम् । एवं काष्ठसमिधोऽन्नसमिधश्च चतुःसंख्याकत्वोक्त्या  
 पुष्पादीनां पञ्चसमिधामपि चतुःसंख्या होमो ज्ञायते । पारमेश्वरव्याख्याने तत्प्रयोगे  
 च पोडशसंख्याऽन्नाहुतयस्तत्संख्याऽज्याहुतयश्च प्रतिपादिताः । तदभ्रान्तिमूलकम्,  
 दद्यात् पूर्वप्रयोगेण त्वेवमेव चतुष्टयम् । हुत्वाऽप्यन्नाहुतीनां त्वित्यन्नाहुतिचतुष्टयस्य  
 कण्ठरवेणोक्तत्वात्, एकैकान्नाहुतेः पुरस्तात् परस्ताच्च चतुश्चतुःसंख्याक्रिय-  
 माणाज्याहुतीनां द्वात्रिंशत्संख्याकत्वाच्च ।

वस्तुतस्तु वदुशः पारमेश्वरपुस्तकेष्वस्मिन् प्रकरणे च चतुष्कं तु मन्त्रैराज्यस्य  
 निक्षिपेदित्यादि दद्यादग्नावित्यत्तग्रथपातादेवं व्याख्यातारः प्रयोगकाराश्च बभ्रमुरिति  
 ज्ञेयम् । अत एव पारमेश्वरव्याख्याने—“तत्रान्नसमिधविशेषमाह—तत्रान्नसमिधो  
 दान इति पञ्चभिः” इति लिखितम् । मध्ये पतिं श्लोकद्वयं न किञ्चिदपि तेषा-  
 माकाङ्क्षापदवीमधिरूढम् ॥१४७-१५५॥

१. सुचो गर्भे-अ० । २. हुतम्-अटी० । ३. श्लोकद्वयं नास्ति-बक० । ४. त्वप्याज्य-  
 अ० । ५. न्य-मु० अटी० । ६. चाप्या-अ० । ७. भ्यां-मु० । ८. अष्टादशे परिच्छेदे ।  
 ९. पाठान्तरेण सहात्र वचनमेतदुपलभ्यते ।

तदन्ते तोयनिर्मुक्तैः कुसुमैर्धर्यमिश्रितैः ॥१५६॥  
पूजयेच्चतुरो वारान् मन्त्रैर्वा प्रणवैः प्रभुम् ।

ततोऽग्निस्थदेवानां पुष्पैश्चतुर्वारमर्चनमाह—तदन्त इति । अर्धमिश्रितैराज्याधर्यमिलतैरित्यर्थः, अन्यथा तोयनिर्मुक्तैरित्यनेन विरोधात् । अत एवाज्येनैवाधर्यदानादिकमुक्तं पाद्मे—“अर्धपूर्वं निवेद्यान्तं सर्पिषा जुह्यात् सकृत्” इति । मन्त्रैः वासुदेवादिमन्त्रैरित्यर्थः । यद्वा प्रणवैः, बहुवचनेन चतुर्वारमुच्चरितैरित्यर्थः । मूर्तिमन्त्राः प्रतिव्यक्तिविभिन्नाः, प्रणवस्तु व्यापकत्वात् सर्वेषामक एवेति भावः । अत्र प्रणवैरित्यनेनाष्टाक्षरादयश्चत्वारो मन्त्रा अप्युपलक्ष्यन्ते, तेषामपि प्रणवार्थविवरणरूपतया व्यापकत्वात्, तेषु प्रणवपदमन्त्रत्वेनोक्तत्वाच्च । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

पदमन्त्रास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्चरात्रिके ॥  
विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।  
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ॥  
जितं ते पुण्डरीकाक्षं नमस्ते विश्वभावन ।  
नमस्तेऽस्तु हृषीकेशं महापुरुषं पूर्वजं ॥  
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।  
ॐकारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ॥  
केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।  
पञ्चतैर्व्यापका मन्त्राः पैञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

( २४।६७-७०, ७४ )

अत एव—

संप्रोक्ष्याधर्यास्मिभसा चेध्मान् चतुर्धा संविभज्य च ।  
पूजयेदर्धपुष्पाभ्यां द्वादशाक्षरविद्यया ॥ ( ६।१०६ )

इति वासुदेवाद्युद्देशेन चतुर्धा विभक्तानामिधानां तन्मन्त्रैरर्चनीयत्वेऽपि द्वादशाक्षरस्य व्यापकत्वाद् द्वादशाक्षरविद्ययेत्युक्तम् । एवं भद्रपीठशोधनप्रकरणेऽपि—“प्रक्षाल्य द्वादशौर्णेन प्रणवाद्यन्तकेन तु” ( ६।४ ) इत्युक्तम् ।

तन्वत्रोभयत्रापि व्यापकं वासुदेवद्वादशाक्षरमिति को वा नियमः, तस्य पूर्वमनुकृतत्वात् । उक्तेऽये योऽस्मौ द्वादशाक्षरः, स तु ग्राह्यः । स चाप्याच्चनप्रकरणोक्तश्चतुर्थमन्त्रः स्यादिति चेन्न, तस्याप्ययक्रमेणाच्चनप्रकरण एवोपयुक्तत्वात्, एकव्यक्तिमात्रनियततया चातुरात्म्याच्चनप्रकरणेऽनुपयुक्तत्वाच्च, अत्र केवलप्रणवेनाप्यर्चनोक्तया उक्तेऽयेवान्यतमो ग्राह्य इति नियमाभावाच्च व्यापकं द्वादशाक्षरमेव ग्राह्यमिति सिद्धम् । एवं पुष्पाच्चनान्तं नित्ययागो ज्ञेयः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

ततो मोक्षाप्तये होमं यथाशक्ति समाचरेत् ॥१५६॥  
 शतपूर्वं सहस्रान्तं दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।  
 एकं मन्त्रचतुष्केण चतुर्भिर्श्चतुरोऽथवा ॥१५७॥  
 प्राग्वत् पूजां पुनः कुर्याद् दर्भैः संमार्ज्य च सुचम् ।  
 यथा भवति निःस्नेहमथ प्राक् स्थापितेन तु ॥१५८॥  
 पुरतश्चाम्भसाऽपूर्य तां च पात्रेण तेन वा ।  
 प्रागादौ कुण्डबाह्ये तु प्रादक्षिण्येन सेचयेत् ॥१५९॥  
 पवित्रकेणाथ ऊर्ध्वे विनिक्षिप्य करेण वा ।  
 शेषं स्वशिरसो दद्यात् स्वस्थानेऽथ त्वधोमुखे ॥१६०॥  
 निदध्याद्वोमभाष्टे ते भस्मना तदनन्तरम् ।  
 जलनिर्मिथितेनैव हृष्वपुण्ड्रचतुष्टयम् ॥१६१॥

पुष्पाब्जलिमुपादाय वह्निस्थामर्चयेत् ततः ।  
 नित्ययागोऽयैमेतावौनूर्ध्वं कामाहुतिं क्षिपेत् ॥  
 यदि कामयमानः स्थात् तत्तद्विध्यनुरूपिणीम् । ( ४०।७१-७२ )  
 इति ॥१५५-१५६॥

ततः शतादिसंख्या यथाशक्ति मोक्षार्थं होमम्, तदन्ते वासुदेवमन्त्रचतुष्टयेन सँकृदेव पूर्णाहुतिम्, यद्वा प्रतिमन्त्रं पूर्णाहुतिचतुष्टयं जुहुयादित्याह—तत इति सार्वेन । अत्रापेक्षिताः काम्याहुतिभेदा होमद्रव्यप्रमाणादीनि स्वष्टकृत्प्रायश्चित्तपूर्णाहुतिप्रकारादयो बहवो विशेषा ईश्वरादिषु प्रतिपादिता ग्राह्याः ॥ १५६-१५७ ॥

उत्तरपूजापूर्वकं स्तुक्सुवसंमार्जनपरिषेचनादिकमाह—प्राग्वदिति सपादैस्त्रिभिः । प्राग् आसादनकाले पुरतः स्वाग्रतः स्थापितेनाम्भसा अधर्योदकेनेत्यर्थः, “अर्ध्यपात्रात् चापूर्यं कुण्डबाह्ये प्रदक्षिणम्” ( ई० सं० ५।२७६; पा० सं० ७।२४५ ) इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः । तां सुचमित्यर्थः । चकारेण तस्या अपि दर्भैः संमार्जनमर्घ्यपूरणं चोच्यते । पात्रेण तेन वा सुचा सुवेणेत्यर्थः । ऊर्ध्वे कुण्डोद्धर्व इत्यर्थः । स्वस्थाने पूर्वं यत्रासादितौ तत्रेत्यर्थः । होमभाष्टे सुक्स्मुवावित्यर्थः ॥ १५८-१६१ ॥

१. एकां-अ० । २. येद् धिया-मु० । ३. गो ममै-मु० । ४. न् पूर्व-अ० ।
५. हुतीः-अ० म० । ६. ‘मन्त्र’ नास्ति-अ० । ७. स तदेव-अ० । ८. ईश्वरे पञ्चमाध्याये, आह्वाना पारमेश्वरे सप्तमाध्याये विषया इमे प्रतिपादिताः ।

हृदयं संयोर्ललाटे च कुर्याद् दीपशिखाकृति॑ ।  
 एवं परिसमाप्ते तु अग्निकार्येऽपिते सति ॥१६२॥  
 संविभागः पितृणां च यथा कार्यस्तथोच्यते ।  
 कुण्डस्य योनिनिकटे दक्षिणाग्रान् स्तरेत् कुशान् ॥१६३॥  
 भद्रणीठसमीपे तु क्षमातले वा तदूर्ध्वतः ।  
 स्तरोपरि विकीर्याथ तिलान् सरजतोदकान् ॥१६४॥  
 क्रमेण भावयेत् तत्र पितृनथ पितामहान् ।  
 तृपत्ये ह्यथ सर्वेषां देवायै विनिवेद्य च ॥१६५॥

होमाङ्गं तिलकधारणमाह—<sup>०</sup>भस्मनेति । अत्र मन्त्राश्चोक्ताः पारमेश्वरे—  
 “शिरस्तनुत्रहन्मन्त्रैर्ललाटे चांसयोर्हृदि” (७।१४।) इति ।

एवं भस्मना तिलकधारणं वैष्णवानां विश्वद्विति न शङ्कनीयम्, अग्निकार्याङ्गत्वात् । तथा च सच्चरित्ररक्षायामूर्धवृपुण्ड्राधिकारे—“तत्र हि पूर्वमेव धृतोधर्व-  
 पुण्ड्रस्य समाराधितवामुदेवस्याग्निकार्यसमन्तरमिदं विधीयमानं त्वं वाग्निकार्यानु-  
 प्रविष्टं मन्त्रव्याप्त्यमता” (पृ० ६९) इति ॥ १६१—१६२ ॥

एवं कृतस्य होमस्य भगवदर्पणानन्तरं पितृसंविभागः कार्य इत्याह—एवमिति ।  
 भगवते होमसमर्पणप्रकारस्त्वीश्वरादिषु प्रदाशितो ग्राह्यः ॥ १६२—१६३ ॥

संविभागस्थानमाह—कुण्डस्येति ॥ १६३—१६४ ॥

तत्र दक्षिणाग्रकुशास्तरणोपरि तिलोदकविकिर<sup>०</sup>णपूर्वकं पित्रादीनां भावना-  
 माह—स्तरोपरीति । अत्र पितृपितामहशब्दाभ्यां प्रपितामहवृद्धप्रपितामहौ चोपलक्ष्यते,

स्तरोधर्वे स्वस्वसंज्ञाभिरुग्मान्तं तु यथाक्रमम् ।

भावयेत् पुरुषादीनां सारूप्यं समुपागतान् ॥

पितृन् पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान् ।

तपितृश्चाथ शंसन्तः <sup>०</sup>सन्तानं स्वविभागतः ॥ (७।२९४—२९५)

इति पारमेश्वरोक्ते: ॥ १६४—१६५ ॥

१. कृतिम्-अ०, कृति-उ० । २. शान्-अ० । ३. कायार्थ-म० । ४. इतः परम्-  
 ‘तर्पयेदथ सर्वाश्च देवस्य विनिवेदनात्’ इति पाठोऽनावश्यको दृश्यते-उ० । ५. तृप्त्यर्थमय-अ० ।  
 ६. देवस्य-उ० । ७. भस्मनेति-म० । ८. तत्रत्या-म० । ९. ईश्वरे पञ्चमाध्यायसमाप्तौ  
 पारमेश्वरे सप्तमाध्यायमध्ये प्रकारोऽयं द्रष्टव्यः । १०. विकीरण-म० । ११. सन्तानमिति  
 पदं त्रृटितम्-अ० ।

प्रोक्षितान्यन्नपात्राणि चत्वारि कबलानि वा ।  
 स्तरोध्वें तु निधायाथ सम्पूज्याध्यादिना ततः ॥१६६॥  
 क्रमेण चातुरात्मीयैर्मन्त्रैरप्ययोगतः ।  
 ततस्तु नामना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकम् ॥१६७॥

अथ तेषां पिण्डनिर्विषणमध्याद्यर्चनं तिलोदकप्रदानं चाह—तृप्तय इति त्रिभिः ।  
 अत्र देवाय विनिवेदेत्यत्र पाकपात्रावशिष्टान्नादिकमिति ज्ञेयम्, निवेदितस्य पुनर्निवेदनायोगात् । तथा च पारमेश्वरे—

ये यजन्ति पितृन् देवान् गुरुनपि तथैव च ।  
 स्थापितस्त्वनुयामार्थं प्रापणांशः पुरा तु यः ।  
 तस्मात् किञ्चित् समादाय संविभागं समाचरेत् ।  
 पितृणां चैव बन्धूनामाश्रितानां तथैव च ।  
 संविभागावशिष्टेन स्वानुयागं समाचरेत् ।  
 यद्वा स्थाल्यवशिष्टं च किञ्चिचदादाय पात्रगम् ।  
 प्राग्वन्निवेद्य देवाय तेन पित्र्यं समाचरेत् ।  
 ये वैश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्णवाश्च ते ।  
 यल्लभ्यं भगवद्भूतं तस्मादादाय चांशकम् ।  
 तेन कृत्वा वैश्वदेवमवशिष्टांशकेन तु ।  
 कुर्युः प्राणादियात्रां तु विधानेन द्विजोत्तम ॥ इति ।

सच्चरित्ररक्षायां ( पृ० १२७-१२८ ) चोदाहृता इमे श्लोकाः । अन्नपात्राणीत्यत्र पारमेश्वरे—

तमालकदलीपूर्वदलेषु क्षालितेषु च ॥  
 संविभज्य चतुर्धन्तं निधाय प्रणवेन तु । ( ७।२९९-३०० )

इत्युक्तं ज्ञेयम् । स्तरोध्वें निधायेत्यत्र मन्त्रश्चोक्तः पारमेश्वरे—

प्राग्वत् स्वधावसानाद्यैर्मन्त्रैरोङ्गारपूर्वकैः ।  
 हृन्मन्त्रालङ्घकृतैर्विप्र तथा संज्ञापदान्वितैः ॥  
 पिण्डं प्रकल्पयामीति ततः पूर्ववदाचरेत् । ( ७।३०३-३०४ ) इति ।

पिण्डोपरि दर्भैराश्छादनं पूर्वमास्तरणोपरि भावितानां पितृपितामहादीनां तत्रावाहनं च प्रतिपादितं तत्रैव—

प्रणवैर्दक्षिणाग्राणि सेचितानि तिलाम्बुना ॥  
 नाडीरूपाणि दर्भाणि पिण्डानामूर्धवर्तो न्यसेत् ।  
 प्रविष्टान् भावयेत् तेषु नाडीमार्गैरनुक्रमात् ॥  
 पितृनावाहयामीति स्तरोध्वें प्राक्स्थितांस्ततः । ( ७।३०४-३०६ ) इति ।

१. च—मु० अटी० । २. लिङ्गितैः—मु० । ३. भैश्छा—अ० । ४. षुना—अ० ।

सर्वेषामध्यकलशात् प्रदद्याच्च यथाक्रमम् ।  
 तोदध्येनाथं चतुरो विनिवेश्यासनेषु च ॥१६८॥  
 लब्धलक्षान् परे तत्त्वे ब्राह्मणान् पाञ्चरात्रिकान् ।  
 प्राङ्मुखं द्वितयं चैव द्वितयं चाप्युद्भूमुखम् ॥१६९॥  
 सम्पत्यभावेऽप्येकं वा विनिवेश्योत्तराननम् ।  
 अथ तेषां क्रमात् कुर्यादर्चनं चातुरात्म्यवत् ॥१७०॥  
 अद्यानुलेपनाद्यैस्तु भोगैर्मात्रावसानिकैः ।  
 तत्त्वकालोचितैः सर्वेनुपादेयवर्जितैः ॥१७१॥  
 तैश्चापि मौननिष्ठैस्तु भवितव्यं सुयन्त्रितैः ।  
 वाग्यताः शुद्धलक्षाश्चाप्यन्नमूर्तौ जनादेने ॥१७२॥  
 येऽनन्ति पितरस्तेन त्रुप्तिमायान्ति शाश्वतीम् ।  
 अतः सव्यभिचारं तु मौनं वज्र्यं क्रियापरैः ॥१७३॥  
 शुभमव्यभिचारं यत् तत् कार्यं सर्वस्तुषु ।  
 यदङ्गमङ्केतमयैरव्यक्तैर्नामिकाक्षरैः ॥१७४॥

अद्यादिनेत्यत्रादिशब्देन गन्धादयो ग्राह्याः । अप्य(थ योज्ज्व नाव ? ययोगतः पितृनावाह)यामीति स्तरोवर्वं गतः । चातुरात्मीयमन्त्रैः ३५ पुरुषाय नम इत्यादिभिश्चतुर्भिः पूर्वोक्तैर्मन्त्रैरित्यर्थः । नाम्ना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकं दद्यादित्यत्रैवं प्रयोगः—३५ पुरुषाय नमः, मौञ्ज्यायनगोत्राय नृसिंहशर्मणं पुरुषरूपिणे पित्रे इदं तिलोदकं ददामीति । एवं पितामैहादीनामप्यूह्यम् । अद्यादिसमर्पणेऽप्येर्वमेव मन्त्रा ज्ञेयाः ॥१६५—१६८॥

अथ पितृनुद्दिश्य ब्राह्मणतुष्टयमेकं ब्राह्मणं वा भोजयेदित्याह—तादात्म्येनेति । दत्तदृष्टीन्, ब्रह्मज्ञानिन इति यावत् । भोगः आभ्यवहारिकैरित्यर्थः । मात्रावसानिकैः भोजनानन्तर्यतिलमात्रादानान्तैरित्यर्थः । अत्रापि पितृतृ(सि?स्ये) पूर्वोक्त(१) एव मन्त्राः । अन्यत् सर्वं श्राद्धवज्ज्ञेयम् । अत्रापेक्षिता वहूँ विशेषाः पारंमेश्वरोक्ता ग्राह्याः ॥१६८—१७१॥

श्राद्धभोक्तृणां मौनं पितृतृसिकरमित्याह—तैरिति सार्धेन ॥१७२—१७३॥

तत्रापि दुष्टस्य मौनस्य त्याज्यत्वमदुष्टस्य ग्राह्यत्वमाह—अत इति ॥१७४॥

१. तादात्म्ये—अटी० । २. मन्त्रा—मु० अटी० बक० बख० अ० । ३. बद्ध—अ० ।

४. प्यन्ते—मु० अटी० बक० बख० । ५. मयम्—मु० अटी० बक० बख० । ६. पुं—अ० ।

७. महाना—अ० । ८. प्येव मन्त्राः—अ० । ९. पारमेश्वरे सप्तमाध्याये उक्ताः ।

कृतमोष्ठपुर्वैर्बद्धैमौनं तत्सिद्धिहानिकृत् ।  
 स्वयमेव सुबुद्ध्या यत् सर्ववस्तुषु वैर्तते ॥१७५॥  
 शब्दैरनुपदिष्टैस्तु तन्मौनं सर्वसिद्धिदम् ।  
 तस्माद्वै श्राद्धभोक्तृणां दिव्ये वा पितृकर्मणि ॥१७६॥  
 दद्यान्नैवेद्यैवत् सर्वं मर्यादाभ्यन्तरेऽग्रतः ।  
 येनाचमनपर्यन्तं कालं तिष्ठन्ति वाग्यताः ॥१७७॥  
 विधिनानेन वै नित्यं यागयज्ञे तु वैष्णवे ।  
 संविभागः पितृणां च कार्यः सद्रविणैर्नरैः ॥१७८॥  
 कृत्वा तिलोदकान्तं वा फलमूलैः स्वशक्तिः ।  
 तदर्थं ग्रासमात्रं तु दद्याद् गोष्वथ मैक्षुके ॥१७९॥  
 यस्माद् दिव्यैर्महामन्त्रैर्दत्तं यत्पूजितेऽच्युते ।  
 पित्र्यर्थमन्यं वा भूरि तत्त्वेषामक्षयं भवेत् ॥१८०॥

मौनस्य दोषगुणावाह—यदिति द्वाभ्याम् ॥१७४-१७६॥

°अथोत्तराचमनपर्यन्तमङ्गसंकेतादिदोषाभावसिद्ध्यर्थं तदपेक्षितसर्ववस्तुन्यपि  
 तत्पुरतो मर्यादान्तराले °०(त्यादी?स्थापनीयानी)त्याह—तस्मादिति । मर्यादाकल्पना-  
 प्रकारस्तूक्तः पारमेश्वरे—“अथास्त्रपरिजप्तेन भूतिना वाऽथ शङ्खुना । °१मसृणेनाशम-  
 चूर्णेन परिघां स्वधयाऽव्यवा ॥ बहिस्नदासने कुर्यादग्रे°२ दैव्यच्छमाधिकम्°३ । °४वैपूल्या-  
 च्छममानं तु प्रावत् पावनतां नयेत् ॥ (७३२७-३२८) इति ॥ १७६-१७७॥

एवंविधपितृसंविभागस्य धनिकविषयतामाह—“विधिनेति ॥१७८॥

तदन्यैस्तु तिलोदकं कृत्वा पितृनुदिश्य यथाशक्तिं फलमूलैर्ग्रासिमात्रं गवे वा  
भिक्षवे वा देयमित्याह—कृत्वेति ॥ १७९ ॥

एवं पितृनुदिश्य किञ्चिद् दत्तमपि मन्त्रमहिम्ता तदनन्तं भवतीत्याह—यस्मा-  
दिति । एवमेव पितृसंविभागस्त्रिकालेष्वनुष्ठीयपानेष्वपि प्राभातिकार्चनानन्तरं माध्या-  
ह्निकार्चनानन्तरं वा सकृदेव कार्यं इति ज्ञेयम्, “वह्निसंतर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु

१. स्व—बक० बख० अ० उ० । २. वर्त्यते—अटी० । ३. विद्धि सर्वदम्—उ० अ०,  
 विद्धि सर्वदा—बक० बख० । ४. पित्र्य—अटी० । ५. दिकं—उ० । ६. रे गतः—अटी० । ७. ति  
 वाग्यतः—अ० उ० । ८. तदर्थ—अटी० । ९. अत उत्त—अ० । १०. ‘त्यादी’—शङ्खुना’  
 नास्ति—अ० । ११. स्तलयनात्म—अ० । १२. त्वये—मु० । १३. काम—मु० ।  
 १४. वैफल्या—अ० म० । १५. तस्मादिति त्रिभिः—अ० ।

सैमसम्” ( ज्या० २२।७९ ) इति । पितृसंविभागस्य भगवदाराधनाङ्गत्वोक्त्या साङ्गानुष्ठानसिद्धयर्थं प्रत्याराधनमनुष्ठेयमित्याशङ्का त्वीश्वरपारमेश्वरयोः परिहृता । तथाहि—

यत्र द्वादशकालेज्या कर्तव्या भूतिविस्तरात् ।  
तत्र प्राभातिकीं कुर्यात् पूजामष्टाङ्गसंयुताम् ॥  
अङ्गद्वयं तु पाश्चात्यं विना वाँ तां समाप्य च ।  
पितृणां संविभागं च अनुयागं यथोदितम् ॥  
देशिकः ३स्वेच्छया कुर्यान्नितयं माध्यन्दिनेऽर्चने ।  
त्रिकालेष्वेकमष्टाङ्गं षडङ्गं चाचरेद् द्वयम् ॥ इति ।  
( ई० सं० ६।७६-७८; पा० सं० ७।४३१-४३४ )

एतेन स्वार्थपरार्थार्चिनद्वयेऽप्येकेनैवानुष्ठिते सत्यपि न प्रत्येकं पितृसंविभागः कार्यं इति सिद्धम्, तस्यैकस्मिन्नहनि सकृदेव कर्तव्यत्वात् ।

नन्वभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपपाञ्चकालिकधर्मनुष्ठानं भागवतस्य विहितम्, तत्र परार्थानिधिकारिभिः स्वार्थेज्या क्रियते, तदधिकारवतां युष्माकं परार्थसंज्ञकश्रीयादवाद्र्वयादिदिव्यस्थलाविभूतश्रीमन्नारायणाद्यच्चनैव कृतकृत्यत्वात् पुनः कि स्वार्थसंज्ञकस्वगृहार्चनेनेति चेत्, सत्यम्, “परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्” इतीश्वरोक्तेः, सूर्यप्रकाशेनैव कृतार्थत्वेऽपि स्वगृहेऽपि दीपारोपणवत् स्वार्थार्चिनस्याप्यपेक्षितत्वात्,

केशवाच्चार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते ।  
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभव्येण समं हि तत् ॥

इति स्वगृहेऽपि भगवद्विभिर्मार्चनस्यावश्यकत्वोक्तेः । “स्वार्थस्यापि परार्थस्य पूजायामधिकारिणः” इत्युभयत्राप्यधिकाराच्चास्माकमपि स्वार्थं भगवदाराधनमावश्यकमिति वोध्यम् ।

ननु चाऽस्तु नाम भवतां स्वार्थपरार्थार्चिनयोरधिकारः, स्वगृहे भगवदर्चनावश्यकत्वमपि । स्वार्थपरार्थाधिकारिणो भवदीया बहवः सन्ति । न हि सर्वैरपि सर्वदा परार्थयजनं क्रियते । अतः परार्थाराधनं कुर्वतैव स्वार्थाराधनमपि कार्यम् । पितृसंविभागस्तु प्रत्येकं न कार्यं इति को वा नियम इति चेत्, केनोक्तं तथा । जनान्तराविद्यमानत्वदशायामेकेनैव स्वार्थपरार्थार्चनद्वयमपि कृतं चेत्, तदा परार्थं भगवन्मन्दिरे स्वगृहे वाऽस्तु देवपितृसंविभागानुष्ठानम्, कर्तृमेदे तु प्रत्येकानुष्ठानमित्यस्माकमप्याशयो ज्ञेयः ।

१. सप्तमः—मु० । २. धातां—ई० । ३. स्वेज्यया—ई० । ४. नार्चने—ई० पा० ।  
५. वा सकृ—अ० । ६. अत्र—अ० ।

नन्वेवं सति परार्थभगवन्मन्दरेऽपि प्राभातिकार्चनादिषु कर्तृभेदे सति प्रत्यर्चनं पितृसंविभागः स्यादिति चेन्न, तत्र कर्तृभेदस्यानुकृत्वात्, एकं कर्तारमुद्दिश्यैव प्राभातिकार्चनादिद्वादशकालविभागोक्तेः, प्रत्यर्चनं पितृसंविभागस्य कर्तव्यत्वानुकृतेश्च । न च स्वार्थेऽपि होमः पितृसंविभागश्च नोक्त एव, अत्र तु “कुण्डस्य योनिनिकटे दक्षिणांगांस्तरेत् कुशान्” (६।१६३) इति वह्निसमर्पणानन्तरं कुण्डसमीपे कर्तव्यत्वे-नोक्तः पितृसंविभागः परार्थार्चनविषय इति वाच्यम्, स्वार्थे चाराधनस्यैकरूप्यैणानुष्ठेयत्वात् ।

ननु तर्हि भवदुक्तसंप्रदायप्रदीपिकायां स्वार्थार्चने बहुशो वैरूप्यं दृश्यते । होमः पितृसंविभागश्च नोक्त इति चेत्, सत्यम् । तत्र स्वार्थमात्राधिकारिणां सुखबोधाय श्रीमद्भाष्यकारोक्तरीत्यनुसारेणाराधनक्रमः प्रदर्शितः । स्वार्थपरार्थोभयाधिकारिभिरसमाभिस्तु स्वसिद्धान्तस्वैसंहितोक्तक्रमेणौभयत्राप्याराधनप्रतिष्ठादेरनुष्ठेयत्वं बोध्यम् ।

ननु श्रीसात्वताद्युक्तप्रकारेणानुष्ठानं कुर्वद्भिरपि स्वार्थे वह्निसंतर्पणं कुतो न क्रियत इति चेदुच्यते,

मुख्यकल्पे तु होमान्तौ नित्यनैमित्तिकात्मिकाम् ॥

पूजां क्रमेण वै कुर्यात् तत्तद्वोमावसानिकाम् ।

अनुकृते तु जप्यान्तोम् (पा० सं० ९।९-१०)

इति जपान्तानुष्ठानस्यापि पारमेश्वराद्युपबृहितत्वाज्जपान्तमस्माभिरनुष्ठीयत इति बोध्यमायुष्मता । अत एव नित्ये जपान्तमाराधनमुक्तम् । नित्यानुसारिण्यपि क्रियादीपे होमान्तो मुख्यकल्प एव दर्शितः ।

ननु भवत्कृतेश्वरसंहिताव्याख्याने एवं<sup>१</sup>पितृसंविभागः प्राभातिकार्चनमात्रानुष्ठाने होमानन्तरं कार्यं इत्युक्तम्, तदसंगतम्,

प्रातर्मध्यन्दिनं सायं त्रयः काला यथाक्रमम् ।

तदानीमवशिष्टास्तु<sup>२</sup> घटिकाः स्वस्य कर्मणः ॥

अनुकृते तु कालः स्यादेको मध्यन्दिनोर्ज्ञवा ।

माध्यन्दिनश्च नैशश्च द्वौ कालौ शक्तितो द्विज ॥ (पा० सं० ९।३६-३७)

इति माध्यन्दिनार्चनमात्रस्य पारमेश्वराद्युक्तत्वात् प्राभातिकार्चनमात्रस्य कुत्राप्यनुकृतत्वादिति चेत्, उच्यते—प्राभातिकार्चनमात्रस्याप्यनुष्ठानं द्वादश्यादिषु संभवतीति संतोष्टव्यमायुष्मता ॥ १८०॥

१. ‘स्व’ नास्ति-अ० । २. ‘न्ता’<sup>३</sup>त्विकाः । पूजाः<sup>४</sup>निकाः ॥’ इति बहुवचनान्तः पाठः-पा० । ३. कात्मनाम्-अ० । ४. वा-अ० । ५. जप्यान्तम्-अ० । ६. प्रति-अ० । ७. षटा स्व-अ० म० । ८. न्दने-अ० ।

पश्चाच्छरीरयात्रार्थमभ्यर्थ्य  
लब्धानुजस्तु वै कुर्यादात्मयागं यथाविधि ॥१८१॥  
भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु सर्वमादाय पात्रगम् ।  
विनिवेद्य च देवाय पवित्रीकृत्य चाम्भसा ॥१८२॥

अथानुयागविधिमाह—पश्चादिति षड्भिः । आत्मयागम् अनुयागमित्यर्थः ।  
अैवात्मतत्त्वं विज्ञेयं विहितं तस्य सर्वदा ।  
आत्मनैवात्मसिद्ध्यर्थं यागमनेन तेन च ॥  
सह यज्ञावशिष्टेन साम्बुना च फलादिना ।

( पौ० सं० ३१।१७१-१७२ )

इति पौष्करोक्ते: । पवित्रीकृत्य चाम्भसेत्यत्र सच्चरित्ररक्षायाम्—“अयोध्यजननिरी-  
क्षितत्व-यातयामत्वादिदोषसंभावनायां तन्निवृत्यर्थं पवित्रीकरणोक्तिः” (पू० १२५)  
इति व्याख्यातम् । विनिवेद्य च देवायेत्यत्राऽन्तरात्मनिवेदनं बोध्यम् । तथा च सच्चरित्र-  
रक्षायाम्—

हृदि ध्यायन् हर्िं तस्मै निवेद्यान्नं समाहितः ।  
मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्गृहीत्वान्नं मितं पुनः ॥  
प्राणाय चेत्यपानाय व्यानाय च ततः परम् ।

उदानाय समानाय स्वाहेति जुहुयात् क्रमात् ॥ (पू० ९७)

इति कर्मकाण्डवचनमुदाहृतम् । पारमेश्वरव्याख्याने तु—“देवाय स्वगृहार्चाभूताय विनि-  
वेद्य” इति लिखितम्, तदप्रकृतम्, अस्य वाक्यस्यान्तरात्मनिवेदनपरत्वात् । तथा च  
सच्चरित्ररक्षायाम्—“ओदनपचने शुच्यन्नं श्रपयित्वा वेद्यां भगवते नैयति । वेद्यां  
भगवन्तमिष्टवा तत्कारिभ्यः प्रयच्छति । कारिणोऽर्पि प्रासेनान्नेन वेद्यां भगवन्तमिष्टवा  
तद्वात्र उपनयन्ति । उपनीतेन १०धाता स्वयं च कुरुते ११शिष्टेन च भूत्यान् विभर्ति”  
इत्यादिरहस्याम्नायवाक्यार्थविचारणप्रकरणे धात्र उपनयन्तीति वाक्यस्यान्तरात्म-  
परत्वमुक्त्वा तत्साधकत्वेन च—“विनिवेद्य च देवाय पवित्रीकृत्य चाम्भसा” (द१८२)  
(पू० १२४) इत्यादिसात्वतवचनमुदाहृतम् ।

ननु भवदुदाहृतरहस्याम्नायवाक्येष्वेव भगवन्निवेदितान्नस्य कारिभ्यः  
प्रदानम्, तेनैवान्नेन कारिभिः स्वार्थभगवद्यजनं कार्यमित्युक्तं खलु, तत्पुनः कथमप्रकृत-  
मिति चेत्, अनभिप्रायज्ञोऽसि । तस्मिन्नर्थे को वा<sup>१२</sup> विवादः । तथा कारिप्राप्नान्नेन भगव-  
द्यजनं सर्वसंमतम् । <sup>१३</sup>किन्तु विनिवेद्य च देवायेत्यत्र तादृशार्थो वर्णितुं न शक्यते । यत

१. जः स—वक० । २. असावात्मत्वं—अ० । ३. विहितस्य—अ० म० । ४. नया—मु० ।
५. समाहितः—मु० । ६. शुद्धचन्नं—अ० म० । ७. नयेति—अ० म० । ८. ‘अपि’ नास्ति—मु० ।
९. ‘वेद्य’ नास्ति—अ० म० । १०. याताः—मु०, यातायाः—म० । ११. शिष्येण—अ० ।
१२. ‘वा’ नास्ति—अ० । १३. किञ्च—अ० ।

सत्यरूपा ह्यलक्ष्या चाप्यन्नदोषक्षयङ्करी ।  
 चेतसा चातुरात्मीया भावनीया च भावना ॥१८३॥  
 रसात्माऽध्यक्षसंज्ञोऽन्ने स्वादुभावे व्यवस्थितः ।  
 प्रद्युम्नो भगवान् रूपे चैत्तद्वीर्ये तु लाङ्गलिन् ॥१८४॥

एतद्वाक्यं नहि कारिणां कर्मानुष्ठाननिरूपकम्, अपि तु भगवन्तमिष्टवतः कारिप्रदानं कृतवतोऽनुयागं कुर्वतस्तत्प्रकारनिरूपकमिति बोध्यम् ।

ननु परार्थमिष्टवता स्वार्थे भगवान् परित्याज्यः किमिति चेत्, ब्रूमः—परिश्राह्य एव पैत्रादिभिः पूजनीयः, स्वेन साष्टाङ्गप्रणामादिना सेव्यश्च । किन्त्वस्यापि साष्टाङ्गयजनं कर्तुं स्वस्यानवकाश इति ज्ञेयम् । अत एव पारमेश्वरादिषु द्वादशकालार्चनं कुर्वतः कालत्रयेऽप्याह्निकमात्रस्यावकाश उक्तः, न तु स्वार्थाराधनस्य प्रत्येकं कालः प्रदर्शितः । न च द्वादशकालार्चनं कुर्वतः स्वार्थार्चनावकाशो माऽस्तु, त्रिकालार्चनं कुर्वतः स्वार्थार्चने को विरोध इति वाच्यम्, तदानीमपि स्वार्थार्चनकालस्यानुकृतवमेव विरोधः । ननु—

प्रातर्मध्यन्दिनं सायं त्रयः कालाः प्रकीर्तिताः ।  
 तदानीमवशिष्टास्तु घटिकाः स्वस्य कैर्मणः ॥  
 इति स्वार्थाविरोधेन परार्थाधिकृतस्य च० ।  
 एकायनस्य विदुषः प्रोक्ताः कालाः क्रमेण तु ॥  
 तथैव॑ दीक्षितस्यापि सिद्धान्तरतचेतसः ।

( पा० सं० १३६, १५२-१५३ )

इति पारमेश्वरोक्तः किं न श्रुत इति चेत्, ब्रूमः—तत्र स्वस्य कर्मण इत्यनेन स्वार्थाविरोधेनेत्यत्र स्वार्थशब्देन च स्नानादिनित्यकर्माण्येवोच्यन्ते, न स्वार्थाराधनमपि । यतस्तत्परार्थयजनवद् बह्वीभिर्धिकाभिः कर्त्रन्तरेणैव साध्यम् । ( नास्ति? अस्ति ) च स्वार्थपरार्थयोरभयोरप्येकैनैवाराधनं कार्यमिति पूर्वं भवदुक्तं खलु । तत्र किं नियामकमिति, अनुपपत्तिरेव नियामिका ।

ननु तदानीं बहुघटिकासाध्यं स्वार्थार्चनं कथं शीघ्रं साध्यत इति चेदुच्यते—

उत्सवावधिकं श्रेष्ठमाराधनमुदाहृतम् ।  
 होमान्तं मध्यमं प्रोक्तं प्रापणान्तमथाधमम् ॥  
 क्षुद्रं तु धूपदीपान्तमिदमाराधनं हरेः ।

१. क्ष्यात्मा-अटी० । २. ज्ञो वै-मु० अटी० अ० । ३. साधु-मु० अटी० ।  
 ४. एत-बख० अ० उ० । ५. ली-अ० उ० । ६. तत्रा-अ० । ७. नवमाध्याये ।  
 ८. यथाक्रमम्-मु० । ९. कर्मिणः-म० । १०. तु-मु० । ११. तथा वै-मु० ।

सोक्ता महात्मा भगवान् वासुदेवः स्वयं हीजः ।  
चतुःप्रणवसंज्ञेष्टं ततोऽम्भश्चुलुकं पिवेत् ॥१८७॥

इति पाद्योक्ते�;

संक्षेपविस्तरे कुर्याद् देशकालानुकूलतः ॥  
नैव कुर्यादैपच्छेदं यजेदञ्जलिनापि मासु । (४०।१०४-१०५)

इति लक्ष्मीतन्नोक्तेश्च लघुपक्षः साध्यत इति बोध्यम् । तथा चोक्तं पाञ्चरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे—“ईषच्छक्तौ संकुचितपूजनम्, एकोपचारमारभ्य तत्तच्छक्त्याद्यनुसारेण सहवोपचारान्तविधानात्” (पृ० १६८) इति । “यत्पुनरूपचारलोपे प्रत्यवायादिक-मुक्तम्—

गन्धहीने भग्रोक्तिश्चेष्टं पूष्पहीने तु संकुलम् ।  
नैवेद्यहीने दुर्भिक्षं मरणं मन्त्रहीनके ॥  
अमन्त्रमविधि चैवमकालं चैव पूजनम् ।  
नित्यं राष्ट्रभयं कुर्यात् तैत्तद्ग्रामं तु नश्यति ॥

इत्यादि, तदेतत्सर्वं राजराष्ट्रादिसमृद्ध्यर्थं काम्याराधनेष्वन्येष्वपि पूर्णानुष्ठानशक्तस्य संपूर्णानुष्ठानद्रव्यस्य लोभादिभिस्तत्तद्वानौ मुख्यकल्पसमर्थस्यानुकल्पेन वृत्तौ च दोषमाह, न तु नित्ये कर्मणि निष्कामस्य यथाशक्तिकरणे” (पृ० १७५-१७६) इति च स्पष्ट-मुक्तम् । रसात्माऽध्यक्षसंज्ञेन्न इत्यत्रान्स्य वीर्यरूपरसेषु क्रमेण संकर्षणादीनां केवलं बलवीर्येजोरूपेणावस्थानं भाव्यम्, बलादीनां भोज्यगुणत्वात् । भोक्ता वासुदेवस्तु ज्ञानैवर्यशक्तिरूपेण भाव्यः, ज्ञानादीनां भोक्तुगुणत्वात् । तथा च पारमेश्वरे महाहृषि:-प्रकरणे—

बलं वीर्यं च तेजश्च अर्धयुष्णं समुक्षिपेत् ।  
केवलेन च सास्त्रेण नेत्रमन्त्रेण भावयेत् ॥  
ततः स्वदक्षिणे हस्ते विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ।  
स्मर्तव्याः स्वस्वमन्त्रेण भोजकाः करणात्मकाः ॥  
स्पृष्टट्वा स्पृष्टट्वा यथाभोगं बद्ध्या ग्रासमुद्रया ॥  
निवेदनीया वै विष्णोरन्नमूर्त्यन्तरस्थिताः ।  
रसवीर्यादिभेदोत्थास्तेजोवीर्यबलात्मकाः ॥१०॥ इति ।  
( १८।३७८-३८१ )

१. त्वजः-अ० उ० । २. संभक्तं-म० वक०, संभुक्तं-अटी० वख० । ३. दव-अ० म० ।
४. तपत्ति-म० । ५. पुष्टि-अ० । ६. तद्ग्रामं तु विनश्यति-म० । ७. कवचेन-म० ।
८. शास्त्रेण-अ० । ९. रूपादि-म० । १०. तिमकाः-अ० म० ।

वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवाप्यन्नाहुतिचतुष्टयम् ।  
हुत्वा चाभिमतैर्ग्रासैस्ततोऽश्नीयाद् यथारुचि ॥१८६॥

लङ्घमीतन्त्रेऽपि—

तारिकामुच्चरन् कुर्यान्मामैन्नस्थां विभावयेत् ॥  
सोमानन्दमयीं दिव्यां क्रमाद्यन्नाद्यतां गताम् ।  
वीर्यरूपरसाकारां तेजोवीर्यबलात्मिकाम् ॥  
ऐश्वर्यशक्तिविज्ञानरूपं भोक्तारमव्ययम् ।  
आत्मानं पुण्डरीकाकां भावयेत् पुरुषोत्तमम् ॥ (४०१९६-९८) इति ।

अम्भश्चुलुकं पिबेदित्यत्र परिषेचनमपि कार्यम् । तथा च लङ्घमीतन्त्रे—

अस्त्रेण तारया प्रोक्ष्य तारया परिषिच्य च ।  
उपस्तीर्य तत्तेश्चापो दद्यात् प्राणाहुतिं ततः ॥ (४०१९५) इति ।

वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवेति प्रणवेनैव प्राणाहुतयः प्रतिपादिताः । अतः प्रसिद्धप्राणाहुतिमन्त्र-परित्यागान्न भेत्तव्यम् । यतः सच्चरित्ररक्षायाम्—“येषां<sup>५</sup> तु तत्र भगवदसाधारण-मन्त्रैर्वक्त्रकुण्डे होमो विहितः, न तेषु वैदिकमर्यादाविरोधः शङ्खनीयः, कल्पसूत्रप्रतिनियतधर्मान्तरवत् तदुपत्तेः” (पृ० १३०) इति प्रत्यपादि । एवं च प्रणवेनैव प्राणाहुतिरिति नियमोऽपि नास्ति । यतः सच्चरित्ररक्षायाम्—

येन येन तु मन्त्रेण बहिराराधनक्रमे ।  
वेद्यादिस्थैर्स्य देवस्य प्रापणं विनिवेदितम् ॥  
तेन तेन तु मन्त्रेण जुहूयुर्वक्त्रकुण्डके ।  
चतुःपञ्चत्रिधा वापि प्राण्यपूर्वेद्विजोत्तम ॥  
केवला भक्तपूतास्तु त्र्योधर्मरता द्विजाः ।  
प्राणापानादिभिर्मन्त्रैर्जुहूयुः पञ्चधा क्रमात् ॥

हृदयस्थाय देवाय विष्णवे सर्वजिष्णवे । (पृ० १३०) इति ।

नन्वेवं प्राणापानादिमन्त्रान् विना साक्षात् तदन्तरात्मभगवदसाधारणमन्त्रैराहुतिपक्षे निवेदितशेषं विना पृथग्नेनानुयाग उदितः । अन्यथा निवेदितनिवेदनाख्यदोषः संभवति । अत एवात्र भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु समादायाथ पात्रगमिति नैवेद्यशब्दः प्रयुक्तः, न निवेदितशब्दः । नैवेद्यम् अन्तरात्मनिवेदनाय कलिपतमित्यर्थः स्वरसः । तथा सति पवित्रीकृत्य चाम्भसेत्युक्तेरपि सार्थक्यं भवतीति चेति सच्चरित्ररक्षादिकं कदापि न श्रुतवानसि, यतस्तर्व सवन्दनाभिषेकन्यायेन निवेदितनिवेदनाख्यदोषः परिहृतः । निवेदितार्थकनैवेद्यशब्दा अपि बहुशस्तत्र तत्रोदाहृताः ॥ १८१-१८६ ॥

१. मां चान्तस्थां-मु० । २. तथा चापो-मु० । ३. हृतीस्तया-मु० । ४. एषां-अ० ।  
५. स्थलदेवस्य-म० । ६. जुहूयाद्-अ० । ७. प्रान्तपवै-अ० म० । ८. तत्र सच्चरित्ररक्षायां  
१२२-१३१ पृष्ठेषु विषयोऽयं प्रपञ्चितः ।

समाचम्य पुनर्यात् प्रयतो भगवद्गृहम् ।  
 मनोबुद्धयमिमानेन सह न्यस्य धरातले ॥१८७॥  
 कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरसत्रैव पञ्चमम् ।  
 प्रदक्षिणसमेतेन त्वेवंरूपेण सर्वदा ॥१८८॥  
 अष्टाङ्गेन नमस्कृत्य ह्युपविश्याग्रेतः प्रभोः ।  
 आगमाध्ययनं कुर्यात् तद्वाक्यार्थविचारणम् ॥१८९॥

अथैवमनुयागानन्तरं पुनराचमनपूर्वकं भगवद्गृहप्रवेशं तत्र कर्तव्याष्टाङ्ग-  
 प्रणामप्रकारामागमाध्ययनरूपस्वाध्यायं चाह—समाचम्येति त्रिभिः । अत्राष्टाङ्गेनत्येक-  
 वचनेन सकृतप्रणामप्रतिपादकश्लोकद्वयमिदमेवेति सूच्यते । अत एव श्रीमद्भाष्य-  
 काररूपि नित्यग्रन्थे—“भगवन्तमष्टाङ्गप्रणामेन प्रणम्य” (पृ० १८७) इत्येकवचनमेव  
 प्रयुक्तम्, अष्टाङ्गप्रणामप्रतिपादकश्लोकद्वयमिदमेवोदाहृतं च (पृ० १८८) ।

नन्वत्र समयपरिच्छेदे—

प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पाञ्चरात्रिकम् ॥  
 अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं गुरोर्गृहम् ।  
 दूरात् प्रदक्षिणं कुर्यान्तिकटात् प्रतिमां विभोः ॥  
 दण्डवत् प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्याच्चतुर्दिशम् । (२१११-१३)

“इति बहुवचनमपि वद्यति । तस्य का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्र चतुर्दिशमिति  
 स्थानभेदोऽप्यस्तीति ज्ञेयम् ।

तनु च—“एकत्रिपञ्चसौप्तादिगणनाविपमं हि ग्रन्” (३७।५३) इति विपम-  
 प्रणामनिषेधकपौष्टिकरोक्तिः, तदनुमारिणी—“तत्र प्रदक्षिणानि प्रणामांश्च युग्मान्  
 कुर्यात्” (पृ० १४) इति पञ्चरात्ररक्षोक्तिश्च भवता न श्रुता किमिति चेत्, उच्यते—  
 पौष्टिकरनिष्ठानामेव नदुक्तानुष्ठानम्, सात्वतनिष्ठानां तु सकृदेव प्रणामानुष्ठानं बोध्यम्,  
 “सकृत्ते नमः, द्विस्ते नमः” इत्यादिभिः पक्षद्वयस्यापि श्रुत्युक्तत्वात्, तथैव शिष्टाचा-  
 राच्च । आगमाध्ययनं कुर्यात् तद्वाक्यार्थविचारणमित्यत्र षष्ठ्वरात्ररक्षायाम्—  
 “तदिह भगवत्प्रीणनस्वचित्तरञ्जकेतिहासपुराणस्तोत्रनिगमान्तद्वयव्यापकमन्त्रादीनां  
 श्रवणमननप्रवचनजपादयो वादसंवादादयश्च योगिकज्ञानप्रदीपस्तेहायमानाः

१. तो विभोः—वक० वरख० अ० उ० । २. णाम्—अ० उ० । ३. मिदह्लैः—अ० ।  
 ४. त्रिणी—म० । ५. इत्यपि—अ० । ६. सत्तादि—अ० । ७. सारीण—अ० । ८. पाञ्च—म० ।

ग्राप्ते तु सन्ध्यासमये स्नात्वा वा जघनावधि ।

क्षालयित्वा ततः कुर्याद् वौसः सम्परिवर्तनम् ॥१९०॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैवं सर्वतः ।

<sup>३</sup>अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ (मनु० १२६)

इत्यादिनिर्दिशितवाचिकापापोदयप्रतिबन्धिनश्च सर्वे व्यापारा यथासंभवं संभूय पृथग्भूय वा स्वाध्यायीभवन्ति” (पृ० १४९) इति संगृहीतं द्रष्टव्यम् ॥१८७-१८९॥

अथ सायन्तनस्नानादिनिद्रान्तं कर्तव्यकर्मणां क्रमं संक्षेपेणाह—प्राप्त इति सार्थस्त्रिभिः । अत्र स्नात्वेत्यादिना सन्ध्योपासनादिकमुपलक्ष्यते । देवमर्चयित्वेत्यत्राचनप्रकारः, अग्निं यजेदित्यत्र होमप्रकारश्च पूर्वोक्तं एव ग्राह्यः । एतेन स्वार्थपरार्थयोरुभयत्रापि कालद्वयार्चनं मुख्यं भवति, अविशेषेणोक्तत्वात् । सति विभवे पारमेश्वराद्युक्तं द्वादशकालार्चनादिकं परार्थे कार्यम्, तदुद्दिश्यैवोक्तत्वात् । सायमाचमनं चानुयागान्तमिति ज्ञेयम्,

सायंप्रार्त्तिद्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।

नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ (मनु० २५२)

इति रात्रिभोजनस्यापि शास्त्रीयत्वात् ।

नन्वत्रानुयागः कण्ठरवेण नोक्तः, लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

सन्ध्यामुपास्य विधिवदभिगम्य च मां धिया ।

योगं युज्जीत विधिवच्छास्त्रशुद्धेन चेतसा ॥ (४०।१०२)

इत्यत्रानुयागो नोक्तः, ईश्वरपारमेश्वरयोरपि—“सायन्तनार्चनं कुर्यात् षड्जं बलिपश्चिमम्” (ई० सं० ६।७८; पा० सं० ७।४३७) इति, “त्रिकालेष्वेकमष्टाङ्गं षड्जं चौचरेद्द्वयम्” (ई० सं० ६।७८; पा० सं० ७।४३४) इति च वह्निसंतर्पणान्तमेवार्चनमुक्तम् । एवं वचनेषु जागरूकेषु कथं रात्रावनुयागः शास्त्रीयो भवतीति चेत्, सत्यम् । अत्र सर्वत्रापि रात्रिभोजनस्य नैयत्यभावात् तथोक्तमिति ज्ञेयम् । यतः पाद्ये—

ततः पश्चिमसंध्यायां प्राप्तायां तत्र चोदितम् ।

जपहोमादिकं सर्वं कृत्वा परमपूरुषम् ॥

अर्चयित्वा यथान्यायं यथापूर्वमशेषतः ।

भुक्त्वा संविश्य शयने समुत्थाय महानिशि ॥

आचम्य प्रयतो भूत्वा ध्यात्वा परमपूरुषम् ।

१. वाससां परि-बक० बख० अ०, द्वाससः परि-उ० । २. चापि सर्वशः—म०

३. असंबद्ध-म० । ४. इत्यादीनि—अ० । ५. चापरे—अ० म० । ६. नन्तर—अ० ।

अर्चयित्वार्घ्यपुण्ड्रैवमग्निं यजेत् ततः ।  
 यथाशक्ति जपं कुर्यादासाद्य शयनं ततः ॥१९१॥  
 समाधाय बहिर्देवं निरालम्बपदे स्थितम् ।  
 अप्रयत्नेन वै तावदनिरुद्धेन तेजसा ॥१९२॥

इति<sup>१</sup> रात्रिभोजनमप्युक्तम् । ननु रात्रिभोजनस्य नैयत्याभावेन तदप्रतिपादने समर्थित एकादश्याद्युपवासदिवसेषु<sup>२</sup> दिवाभोजनस्यापि नैयत्याभावात् तत् कथं प्रतिपादितमिति चेत्, ब्रूमः—दिवोपवासस्य क्वाचित्कृत्वाद् रात्र्युपवासस्य पञ्चपर्वादिषु बाहुल्याद् दिवावारात्र्यनुयागयोः प्रतिपादनाप्रतिपादने बोध्ये ।

नित्यग्रन्थेषु<sup>३</sup> दिवानुयागस्याप्यनुक्तिरेवमेव समर्थिता वेदान्ताचार्यैः पञ्चरात्र-रक्षायाम्—“तथाहुपवासदिवसेष्वेकादश्यादिष्वनुयागस्य लोपो भवति । सप्ताङ्ग-मेव तदानीं यजनम् । अत एवानुयागस्यानियत्वव्यञ्जनाय भाष्यकारणां तदनुक्तिः । तदर्थकालश्च तस्मिन् दिवसे स्वाध्याययोगादिष्वन्यतमेन यथोचितं यापनीयः” ( पृ० १६७ ) इति । अत्र सप्ताङ्गमित्यनेनैकादश्यादिष्वपि पितृसंविभागः कार्य इत्युक्तं भवति । स च तिलोदका ( न्तरूपं ? न्नरूपो ) न ब्राह्मणभोजनरूप इति ज्ञेयम्, यतस्तत्रैव कदाचिद् द्वादश्यादिषु प्रभाते पारणं भवति । तदर्थं पूर्वं यजने कृतेऽपि स्वकालप्राप्तं मध्यन्दिनयजनं सप्ताङ्गमिति भोजनानन्तरमपि पितृसंविभाग उक्तो नान्तश्चाद्वरूपः, अपि तु तिलोदका(न्त?न्न)रूप एव ।

ननु भवता द्वादश्यादिषु प्राभातिकार्चनानन्तरमपि पितृसंविभागः कथमुक्त इति चेत्, सत्यम् । तीत् परार्थविषयम्, तत्र प्राभातिकार्चनस्याप्युक्तत्वात्, “तत्र प्राभातिकीं कुर्यात् पूजामष्टाङ्गसंयुताम्” ( ई० सं० ६।७६; पा० सं० ७।४३२ ) इति कण्ठेकतेश्च । स्वार्थं माध्याह्निकार्चनमात्रस्योक्त्वात् । तदनन्तरमेव पितृसंविभागानुष्ठानमप्यस्माकमप्यविरुद्धं बोध्यम् ।

ननु च स्वार्थे इज्याकाले माध्याह्निकार्चनमात्रमुचितम् । सायन्तनार्चनमपि भवता कथमङ्गीकृतमिति चेत्, सत्यम् । तद्योगाङ्गं जयाख्यपाद्यादिष्वपि कण्ठरवेणोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाशक्तिं जपं कुर्यादित्यत्रागमाध्ययनरूपस्वाध्यायमन्त्रजपो बोध्यः, प्रसिद्ध-जपयज्ञस्य हर्विनिवेदनानन्तरमेव कर्तव्यत्वात् । तथा च पञ्चरात्ररक्षायां संग्रहः—“अथ लोहितायति भास्करे यथासूत्रं सायंसन्ध्योपासनं सायंहोमः, पुनर्यथाशक्तिभगवदभिगमनहर्विनिवेदनपूर्वकं भोजनम् । केनचिन्निमित्तेन विलुप्ते भोजने प्राणग्निहोत्रमन्त्रज्ञः, ततश्च रात्रियोग्यस्वाध्यायो योगश्चेति क्रमः” ( पृ० १५० ) इति ।

१. इति ननु-अ० । २. सेऽपि-अ० । ३. ग्रन्थे तु-अ० । ४. व्याप-अ० ।
५. संप्राप्ताङ्ग-म० । ६. ‘तत्’ नास्ति-अ० ।

सह तेनैव वै निद्रा यावदभ्येति साम्प्रतम् ।  
 समुत्थायार्घरात्रेऽथ जितनिद्रो जितश्रमः ॥१९३॥  
 कमण्डलुस्थितेनैव समाचम्य तु वारिणा ।  
 गुरुं देवं नमस्कृत्य ह्युपविश्याजिनासने ॥१९४॥

समाधाय बहिर्देवमित्यत्र तेन सह बहिःस्थितेन भगवता सहेत्यर्थः । निद्रा यावदभ्येति तावदन्तं बहिर्निरालम्बपदे स्थितं देवं समाधाय ध्यात्वेत्यर्थः । इह प्रयत्नपूर्वकं चित्तनिरोधं कृत्वा ध्याने कृते निद्रा न संभवति । तदभावे योगं कर्तुं चित्तस्वास्थ्यं न जायत इत्याशयेनाप्रयत्नेनानिस्फद्देन चेतसेत्युक्तम् । अस्य पदद्वयस्यापि समाधायेत्यत्रान्वयः । पारमेश्वरव्याख्याने तु—“अबहिः हृत्कमले” इति व्याख्यातम् । तन्मन्दम्, यतः सात्वतेश्वरपारमेश्वरादिषु पञ्चरात्ररक्षादिषु (पृ० १६४) च समाधाय बहिर्देवमित्यकरूपः पाठो दृश्यते । तथा पाठाङ्गीकारेऽर्थ(१)सामञ्जस्यमपि न संभवति ॥ १९०-१९३ ॥

अथ योगं दर्शयन् तत्पूर्वक्त्यमाह—समुत्थायेति सार्वेन । अयं इलोकः पञ्चरात्ररक्षायामेव व्याख्यातः । तथाहि—“एतत्संहितानिष्ठानामेष योगकालनियमः । निश्चब्दे सर्वसुप्तिकाले चैकाश्यातिशयसंभावनया च तद्विधिः । तत्तत्पुरुषशक्त्याद्यनुसाराञ्च तत्कालविधेर्न विरोध इत्युक्तम् । तेत्र—

वैर्णवीं धारयेद् यष्टि सोदकं च कमण्डलम् ।  
 यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ (४।३६)

इत्यादिभिर्मन्वाद्युपदिष्टसोदककमण्डलधारणादिकं भगवद्योगिनोऽपि विहितमिति ज्ञापनाय कमण्डलुस्थितेनैवेत्युक्तम्, निद्रान्तनिमित्ततयोत्तरकर्माङ्गतया च तन्त्रेणाचमनम् । तुशब्देन स्वशास्त्रोक्तविशेषः, तोयालाभदशायां दक्षिणश्रवणस्पर्शश्च वर्ज्यते । स्मरन्ति हि—

एवमाचमनाशक्तावलाभे सलिलस्य च ।  
 पूर्वोक्तेषु निमित्तेषु दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥” (प० पृ० ८२-८३) इति ।  
 अजिनासन इति “चेलाजिनकुशोत्तरम्” (भ० गी० ६।११) इति गोते प्रधानांशग्रहणमिति ॥ १९३-१९४ ॥

१. उप—बक० । २. यत्ननिर०—म० । ३. अद्य—अ० । ४. तपा—अ० । ५. अत्र—म० ।  
 ६. वैर्णवी—प० अ० म० । ७. नोऽप्यनपोदितमिति—म० । ८. व्यज्येते—म० ।

न्यासं मन्त्रचतुष्केण कुर्यात् संहारलक्षणम् ।  
 आपादाज्जानुपर्यन्तमनिरुद्धं च विन्यसेत् ॥१९५॥  
 प्रद्यम्नाख्यं न्यसेन्मन्त्रं नाभ्यन्तं जानुमण्डलात् ।  
 नाभेराकर्णदेशं तु मन्त्रं साङ्कर्षणं न्यसेत् ॥१९६॥  
 आकर्णाद् ब्रह्मरन्थान्तं चतुर्थं विनिवेद्यं च ।  
 ततस्त्वभिमतेनैव त्वास्ते पद्मासनादिना ॥१९७॥  
 स्वात्मना चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेत् ।  
 समं कायशिरोग्रीवं सन्धाय सह वक्षसा ॥१९८॥

अथ वासुदेवादिमन्त्रचतुष्टयस्य स्वशरीरे संहारक्रमेण न्यासं पद्मासनादिवन्य-  
 तमेनोपवेशनं स्वस्मिन् चातुरात्मीयमभिमानावलम्बनं चाह—न्यासमिति सार्वस्त्रिभिः ।  
 चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेदित्यत्र तत्तन्मन्त्रजपध्यानकाले तत्तन्मूर्तितादात्म्या-  
 वलम्बनं बोध्यम्, अन्यथा युगपत्सर्वमूर्तितादात्म्याश्रयणस्याशक्यत्वात् तस्य प्रत्येकमेव  
 वक्ष्यमाणत्वाच्च । अत्र चातुरात्म्यार्चनप्रकरणादेवै चतुर्भिर्मन्त्रैर्योगानुष्ठानादिक-  
 मुक्तम् । नह्येकमूर्त्यर्चनविभवार्चनादिप्रकरणेऽप्येतैरेव मन्त्रैर्योगोऽनुष्ठेय इति नियमः,  
 अपि तु तत्तत्प्रकरणानुसारिमन्त्रैरिति बोध्यम् ।

ननु <sup>१</sup>पञ्चरात्ररक्षायामत्र मन्त्रचतुष्कादिव्यतिरिक्तं सर्वं संहितान्तर-  
 निष्ठानामपि साधारणमित्युक्तम् । एतेनैतत्संहितानिष्ठानां सर्वप्रकरणेष्वपि मन्त्रचतु-  
 ष्केणैव योग इति ज्ञायते, यतस्तत्र प्रकरणान्तरनिष्ठानामपीति नोक्तमिति चेत्, ब्रूमः—  
 अत्रै चातुरात्म्याराधनस्यैव विस्तरात् प्रकरणान्तरस्य संकुचितत्वात् प्रकरणान्तरेऽपि  
 साधारणमिति नोक्तम् । संहितान्तरनिष्ठानामपि साधारणमित्यनेनैव तदर्थोऽपि किं-  
 पुनन्ययेन सिद्धो भवतीति ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वेषामपि व्यूहचतुष्टयेनैव योगानुष्ठान-  
 नियमे—

कैवल्यफलदा ह्वेका भोगकैवल्यदा परा ।  
 भोगदैव तृतीया च प्रवृद्धानां सदैव हि ॥ (१९४)

इति वक्ष्यमाणपरादिमन्त्रदीक्षितृफलभेदानुसारेण कैवल्येच्छया केवलं परात्परमन्त्रं  
 प्राप्तवतां काम्येच्छया विभवमन्त्रमात्रमधिकृतवतां च योगानुष्ठानं न संभवेत् । अतो  
 यस्य यस्मिन् मन्त्रेऽभिरतिस्तस्य तेन योगानुष्ठानमिति सिद्धम् ॥ १९५-१९८ ॥

१. कण्ठ-उ० । २. साङ्कर्षणं च मन्त्रराट्-वक्त० वख० अ० उ० । ३. कण्ठा-उ० ।  
 ४. योज्य-वक्त० वख० अ० । ५. धार्य-वक्त० वख० अ० उ० । ६. त्विक्याभि-अ०, रात्मी-  
 कथाभि-म० । ७. जात्, एवं म० । ८. श्रीपञ्च-म० । ९. अतः-अ० ।

दृढनासाग्रगता कार्या विनिमीलितलक्षणा ।  
जिह्वा तालुतलस्था च सान्तरे दशनावली ॥१९९॥  
ईषदोषपुटौ लग्नौ धार्ये द्वे बाहुकूपरे ।  
ऊरुमध्यप्रदेशे तु हस्तौ नाभावधोऽ न्यसेत् ॥२००॥  
अधरोन्तरयोगेन वामदक्षिणतः क्रमात् ।  
अचलं योगपद्मेन त्वेवं सन्धार्य विग्रहम् ॥२०१॥  
सङ्कोच्यापानदेशं त्वं प्युपरिष्टात् तमेव हि ।  
विकास्यावर्णहीनेन हार्णेनालक्ष्यमूर्तिना ॥२०२॥  
विषयान्तर्निविष्टं तु क्रमाच्चित्तं समाहरेत् ।  
कुर्याद् वै बुद्धिलीनं तु तां च कुर्यात् स्वगोचरे ॥२०३॥

अथ योगानुष्ठानकाले कायशिरःप्रभूत्यवयवानां<sup>१</sup> सन्धारणक्रममाह—सममिति सार्थेश्चतुर्भिः<sup>२</sup> ॥१९८-२०२॥

ततो विषयेभ्यश्चित्तमाकृष्य बुद्धौ संयोज्य बुद्धिं स्वगोचरे भगवति न्यसेदित्याह—विषयेति । तथा च<sup>३</sup> पञ्चरात्ररक्षायां शाण्डिल्यस्मृतौ—

ईदृशः परमात्माऽयं प्रत्यगात्माऽयमीदृशः<sup>४</sup> ।  
तत्संबन्धानुसंधानमिति योगः प्रकीर्तिः ।  
योगो नामेन्द्रियर्वैश्यैबुद्धेऽर्ब्धाणि सस्थितिः ।  
प्रयुक्तैरप्रयुक्तैर्वा भगवत्कर्मविस्तरैः<sup>५</sup> ॥ (पृ० ५९) इति ।  
( शा० स्म० ५१३-१४ )

तत्रैव तृतीयेऽधिकारे (पृ० १५८) पराशरः—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।  
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यमिधीयते ॥ इति ॥ २०३ ॥  
( विष्णु० पु० ६।७।३१ )

जाग्रत्पदमारभ्य तुर्यपदान्तं तत्तत्पदस्थितेन परमात्मना सह तत्तन्मन्त्रजपपुरस्सरं प्रत्यगात्मनः संयोगभावनामुक्त्वा तां विस्तरेण वच्यामि शृण्वत्याह—समाधायेति । तथा च पञ्चरात्ररक्षायां दक्षः—

१. रा-उ० । २. कोष-बक० बख० अ० उ० । ३. धस्त्यजेत्-अ० उ० ।  
४. तु उ-बक० बख० अ० । ५. स्य-बक० बख, र्या-अ० । ६. तच्च-मु० अटी० ।  
७. साधा-अ० । ८. सार्थः पञ्चभिः-अ० । ९. पाञ्च-अ० । १०. तथेदृशः-मु० ।  
११. विस्तरः-अ० म० ।

समाधायात्मनात्मानं सह मन्त्रैस्ततः क्रमात् ।  
 आ जाग्रत्पद्मभूमैव यथा तद् गदतः शृणु ॥२०४॥  
 मध्याह्नभास्कराकारैः सर्वैः संशान्तविग्रहैः ।  
 स्मरेत् पूर्वोदितं पदं चातुरात्म्यैरधिष्ठितम् ॥२०५॥  
 ततो जाग्रत्पदस्थं चाप्यनिरुद्धं च मन्त्रराट् ।  
 परावर्त्य शतं बृद्धया तदभिन्नेन चात्मना ॥२०६॥  
 तन्मन्त्रजंपसामर्थ्यात् तादात्म्यस्थितिवन्धनात् ।  
 महिमा तु सविज्ञानस्तदीयस्तस्य जायते ॥२०७॥  
 अभ्यासाद् वत्सरान्ते तु तदद्वैतसमन्वितम् ।  
 अथ प्रद्युम्नमन्त्रं तु परावर्त्य शतद्वयम् ॥२०८॥  
 योऽयं सोऽहमैनैवाप्यद्वैतेन सदैव हि ।  
 एवमेव समभ्यासाद् मतिमार्णिष्ठन्नसंशयः ॥२०९॥

सर्वं भावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।  
 एतद्वद्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ (द० स्मृ० ७।२०) इति ।

याज्ञवल्क्यश्च—“वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत्” इति । वृत्तिहीनं बाह्य-  
 वृत्तिरहितमित्यर्थः” (प० ७६) ॥ २०४ ॥

विस्तरेण योगप्रकारमाह—मध्याह्नभास्कराकारैरित्यारभ्य ब्रह्म संपद्यते  
 तदेत्यन्तम् । अस्यार्थः—स्वहृदयकमलं तत्तत्पदभेदेन चातुरात्म्यैरधिष्ठितं स्मृत्वा  
 जाग्रत्पदस्थेनानिरुद्धेन सह आत्मानमेकीभूतं ध्यायन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतवारं  
 जपेत् । एवं तन्मन्त्रजपसामर्थ्यच्च तदीयं ज्ञानं माहात्म्यं च स्वस्यापि संभवति ।  
 एवमेकं संवत्सरं योगाभ्यासे कृतेऽनिरुद्धतादात्म्यसमन्वितो भवति । तदनन्तरमनि-  
 रुद्धं मन्त्रेण सह प्रद्युम्ने<sup>१०</sup> संहृत्य प्रद्युम्नोऽहमिति तादात्म्यभावनां कुर्वन् प्रत्यहं  
 तन्मन्त्रं शतद्वयं जपन् पुनरेकं संवत्सरं नयेत् । एतेन प्रद्युम्नप्रभावो<sup>११</sup> भवति । एवं-  
 रीत्या संकर्षणमन्त्रं वासुदेवमन्त्रं ३स्वप्नव्यूहानिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्टयं तथा  
 सुषुप्तिव्यूहचतुष्टयं च प्रत्येकमेककं संवत्सरं जपवृद्धिक्रमेण तत्तादात्म्यभावनया  
 सहाऽभ्यसन् तत्तन्मन्त्रं तदुत्तरमन्त्रे उपसंहरन् सुषुप्तिव्यूहवासुदेवमपि पूर्वोक्तलक्षण-

१. पाद—बक० बख० अ० । २. जाप—अ० उ० । ३. तः—अ० उ० । ४. वृत्य—मु०  
 अटी०, वर्ति—बख० । ५. मतो नैव ह्यद्वैतेन सदेव—मु० अटी० । ६. सर्वोपाधि—मु० ।  
 ७. एतद्वचनमपि दक्षस्मृतौ ( ७।१५ ) समुपलभ्यते । ८. परमात्मनि—मु० । ९. आत्मना  
 एकी—अ० । १०. प्रद्युम्नेन—अ० । ११. प्रकारो—अ० । १२. स्वप्न—अ० ।

तत्प्रभावाच्च तेनैव तथा कालेन जायते ।  
 अनेन क्रमयोगेन जपवृद्धयाऽन्वितेन तु ॥२१०॥  
 निखिलं चाप्यधीकुर्याद् मन्त्रवृन्दं पुरोदितम् ।  
 यावदाभाति भगवान् स्थाने पूर्वोक्तलक्षणे ॥२११॥  
 प्रलीनमूर्तिरमलो द्यनन्तस्तेजसां निधिः ।  
 चिदानन्दधनः शान्तो ह्यौपम्यो ह्यनाकुलः ॥२१२॥  
 समाधायात्मनात्मानं तत्र त्यक्त्वा जपक्रियाम् ।  
 ध्यातृध्येयाविभागेन यावत् तन्मयतां व्रजेत् ॥२१३॥

तुर्यस्थाने स्थिते परात्परवासुदेवे उपसंहरन् तत्तादात्म्यभावनया तन्मन्त्रं ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयत्वं व्रजेत् तावदन्तं जपन् ततो जपक्रियां त्यजेत् । एवमभ्यासाद् भगवद्यो(गि?गी) वेदवेदकभावं रहिते समाधौ यदा स्थिरितं लभते, तदा ब्रह्म संपद्यते । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । परमसाम्यं भजतीति यावत् । यत्र यत्र योऽयं सोऽहमित्येवंरीत्या तत्पृथ्वैरहतादात्म्याश्रयणमर्प्युक्तम्, तेन स्वस्य तदद्वैतसिद्धिश्च प्रतिपादिता । अत्रै सर्वनामस्वरूपैक्यं चिन्तनीयम् । यतः—

‘योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।  
 किं न तेन कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

इत्यन्यथा ज्ञानेन फलवैपरीत्यमुक्ततम् । अपि तु तत्र सर्वप्रकारैक्यं बोध्यम्, यतः प्रकारैक्ये चास्ति तत्त्वव्यवहारः—सोऽयं गौरिति<sup>११</sup> ।

ननु “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” (छा० उ० ६।२।१), “तत्त्वमसि” (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिश्चुतिशतसिद्धं स्वरूपैक्यम्<sup>१२</sup>पलपतां युष्माकमेवान्यथा ज्ञानमिति चेत्, ब्रूमः—किमिदानीमस्माभिस्तत्त्वनिर्णयः क्रियते ? श्रीमद्भाष्यकारप्रभृतिभिर्निर्णीति विषये किमावश्चार्विवादेन । नन्वत्र समाधायात्मनात्मानं सह मन्त्रैस्ततः क्रमादिति, तदभिन्नेन चात्मनेति, तदद्वैतसमन्वितविति, योऽयं सोऽहमनेनैवाप्यद्वैतेन सदैव हीति, ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयतां व्रजेदिति, ब्रह्म संपद्यते तदेति च सुस्पष्टं शुद्धाद्वैतमसकृदुपदिश्यते । एतद्वाक्यजातं सर्वमद्वैतमनङ्गीकुर्वतां भवतां विरुद्धम्, भवद्भाष्यादिषु न विचारितं च । अतोऽस्मिन् विषये वर्यं विप्रतिपद्यामहे, इति चेत्, सत्यम् । स्वशास्त्रतया न तद्वचनजातं भाष्यादिषु (न ?) विचारितम्, तथाये-

१. प्ययी—अ०, प्यथे—उ० । २. मो—मु०, नो—अटी० । ३. ह्यनु—बक० बख० ।  
 ४. ध्येय—मु० । ५. स्तुर्य—अ० । ६. त्यजन्—अ० । ७. पाष—अ० । ८. मुक्तम्—म० ।  
 ९. तत्र—अ० । १०. मनुस्मृतौ (४।२५५) स्वरूपान्तरेण दृश्यतेऽयं श्लोकः । ११. गौरीति—अ० ।  
 १२. मफलयतां—अ० ।

यदा संवेदनिर्मुक्ते समाधौ लभते स्थितिम् ।  
 अभ्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२१४॥  
 तैतः श्रमजयं कुर्यात् त्यक्त्वा ध्यानासने क्रमात् ।  
 समाप्ते शयनस्थश्च कौलं रात्रिक्षयावधि ॥२१५॥  
 ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते ह्युत्थाय शयनात् ततः ।  
 स्नात्वाऽभ्यर्थ्य जगन्नाथं समिदानं समाचरेत् ॥२१६॥  
 जुहुयाच्च यथाशक्ति ततस्तिलघृतादि यत् ।  
 ऊनातिरिक्तशान्त्यर्थं सर्वकर्मसमाप्तये ॥२१७॥  
 दद्यात् पर्णाहुतिं कृत्वा पूर्ववत् सेच्चनादिकम् ।  
 तैतो देवं तु पीठस्थं कुण्डस्थमनलं ततः ॥२१८॥  
 न्यासद्वयं च संहृत्य मनसा च स्वविग्रहात् ।  
 निःशेषस्योपसंहारं कुर्यादधर्यादिकस्य च ॥२१९॥

तत्सजातीयशुतीतिहासपुराणवाक्यानां विचारितत्वादेषामपि चारितार्थं बोध्यम् ।  
 विचारितं चैतत् सर्वमपि वेदान्ताचार्यः पैच्चरात्ररक्षायां द्रष्टव्यम् ॥२०५-२१४॥

एवं योगानुष्ठानानानन्तरं पुनर्व्राह्ममुहूर्तपर्यन्तं विश्राममाह—तत इति ॥२१५॥

ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य कर्तव्यक्रमं संक्षेपेणाह—ब्राह्म इति पञ्चभिः । न्यासद्वयं करन्यासाङ्गन्यासयोर्द्वयमित्यर्थः । एवं न्यासोपसंहारानन्तरमनुयागादिकं कार्यम् । तथा च जयाख्ये—

यागस्थानाच्च तिलकं कृत्वा न्यासं स्वविहगात् ।

उपसंहृत्य मेधावी कुर्यादि वै भोजनादिकम् ॥ (१५।२६१) इति ।

लह्मीतन्त्रेऽपि—

अध्याद्यमुपसंहृत्य वर्मास्त्रैः प्रतिगृह्य च ।

उपसंहृत्य च न्यासमनुयागं समाचरेत् ॥ (४०।९४) इति ।

एवं भोजनात् पूर्वं न्यासस्योपसंहृतत्वात् पुनः सायंपूजारम्भे न्यासोऽनुष्ठेय इति ज्ञायते ।  
 यद्यपिपारमेश्वरे—

श्रेष्ठः प्रभातकालः स्थात् त्रिषु कालेषु वै पुनः ।

यथावन्मन्त्रविन्यासमात्मनः करदेहयोः ॥

हृद्यागं स्थानसंशुद्धि सायामां भौतिकीं ततः ।

नित्यं प्रार्भातिके कुर्यादन्यत्रेच्छानुसारतः ॥ (९।४-५)

१. तत्र—मु०, तत्राश्रमजपं—बक० । २. काल—बक० । ३. न्यूना—बक० बख० ।

४. स्नपना—अ० । ५. कृत्वा—बक० बख०, धान्त्वा—अ० उ० । ६. तृतीयाधिकारारम्भे विषयोऽयं विचारितः । ७. 'पुनः' नास्ति—अ० । ८. वर्मास्त्रे प्रतिहृत्य—मु० । ९. प्रभातके—अ० ।

यांगोदेशात्तथा कुण्डात् स्तराद्यस्याखिलस्य च ।  
 सहोपलेपनेनैव सर्वमम्भसि निक्षिपेत् ॥२२०॥  
 सकृत् त्र्यहं च सप्ताहं पक्षं मासमथापि वा ।  
 यो यजेद् विधिनाऽनेन भक्तिश्रद्धासमन्वितः ॥२२१॥  
 सोऽपि यायात् परं स्थानं किं पुनर्योऽन्न संस्थितः ।  
 यावज्जीवावधि कालं बद्धकश्यो महामतिः ॥२२२॥  
 इत्युक्तं चातुरात्मीयं समासादमलेक्षणं ।  
 सवाह्याभ्यन्तरं सम्यङ्गमया ते यजनं शुभम् ॥२२३॥  
 यज्ञात्वा क्षयमायाति त्वविद्याबीजमक्षयम् ।  
 अचिरादेव भैविनां भक्तानां भावितात्मनाम् ॥२२४॥  
 इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां चातुरात्म्याराधनं नाम  
 षष्ठः परिच्छेदः ॥

इत्युक्तम्, तथापि तन्माध्याह्निकार्चनादिष्वनुपसंहृतन्यासपूजकविषयम् । सायंपूजारम्भे  
 तु यांसोऽवश्यमनुष्टेयः, मध्याह्नानुयागात् पूर्वमेव न्यासस्योपसंहृतत्वात्, न्यासं विना  
 पूजनानौचित्याच्च ॥ २१६-२२० ॥

एवमाराधनस्य यथाशक्त्यनुष्ठानेऽपि साफल्यमाह—सकृदिति द्वाभ्याम्  
 ॥ २२१-२२२ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति द्वाभ्याम् ॥ २२३-२२४ ॥  
 इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये षष्ठः परिच्छेदः ॥

१. यागा—मु० अटी० । २. सहोपलेन केनैव सर्वमम्भसि—मु०, सहोपलेन केन वै सर्वं  
 मनसि—अटी०, सहोपलेनैव सर्व—उ० । ईश्वरसंहिता(६।१५)नुसारी पाठो मूले स्थापितः ।  
 ३. विक्षि—उ० । ४. म्यक् प्रभाते—अटी० । ५. क्षरम्—मु० अटी० ६. हविनां—अ० ।  
 ७. सो वाक्य—अ० ।

## सप्तमः परिच्छेदः

नारद उवाच

प्रसन्नेनाथ विभुना यदुक्तो लाङ्गली पुनः ।  
निश्चेयस्सकरं कर्म तदाकर्णयैत द्विजाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु ब्रह्मयं पुण्यमपुण्यचयदाहकृत् ।  
तत्त्वतः प्रतिपन्नानामचिरादेव सिद्धिदम् ॥ २ ॥  
परं ब्रह्म परं धाम चातुरात्मकमव्ययम् ।  
जाग्रत्संज्ञे स्वयं यत्तु पदे व्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ३ ॥  
नूनं कर्मात्मतत्त्वानां भवदुःखप्रशान्तये ।  
भावमाक्रम्य रूपेण तेन मोक्षग्रदेन च ॥ ४ ॥  
ततस्त्वप्ययोगेन स्वस्वमूर्तिचतुष्टयम् ।  
नीत्वा परिणति योगादात्मन्यास्ते च पूर्ववत् ॥ ५ ॥  
अनुग्रहार्थं भविनां नानाकृत्या तु वै पुनः ।  
देहकान्तिमनुजिज्ञत्य दिक्क्रमेण तु वै सह ॥ ६ ॥

अथ सप्तमो व्याख्यास्यते । नारदो मुनीन् प्रति वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टं  
व्रताख्यं कर्म शृणुध्वमित्याह—प्रसन्नेनेति ॥ १ ॥

भगवान् संकर्षणं प्रत्याह—शृण्विति । पुण्यं पुण्यावहम् । अपुण्यचयदाहकृत्  
पापविध्वंसकम् । कर्मेत्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

पूर्वोक्तं परात्परं नित्योदितव्यूहाख्यं वासुदेवादिचतुष्टयमेव पूर्वोक्तजाग्रद्वयूह-  
रूपेणाविभूतम्, तज्जीवात्मनां संसारखेदनिवृत्यर्थं तेनैव रूपेण च व्यक्तीभूय जाग्रत्पदे  
विदिक्षवप्यक्रमेणावतीर्णं पुरुषादिमूर्तिचतुष्टयं स्वात्मन्युपसंहृत्य पुनः संसारिणामनु-  
ग्रहार्थं प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा वासुदेवः केशवादित्रिकरूपेण, संकर्षणो गोविन्दादित्रिक-

- १. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. य साम्प्रतम्—वक० वख०, यतः शृणु—उ० ।
- ३. न्यूनं—मु० वक० वख० अ० अटी० । ४. भक्तानां—वख०, हविनां—अ० । ५. न्ति ह्यनु—  
वक० वख० उ० । ६. वृत्याख्यं—अ० ।

पौरुषेण तु रूपेण प्रत्येकेन त्रिधा त्रिधा ।  
 वासुदेवादिकेनैव व्यक्तचक्रादिना युतम् ॥ ७ ॥  
 उत्कृष्टादिगुणादयानामा सुष्टेनन्ययाजिनाम् ।  
 वर्णानां जनकत्वेन व्यक्तिमध्येति शाश्वतीम् ॥ ८ ॥  
 यां समालम्ब्य संसारादचिरादेव यान्ति च ।  
 सुप्रबुद्धः परं धाम दानधर्मवतादिना ॥ ९ ॥  
 कर्तव्यमिति वै कर्म त्वैश्वर्यं यः समाचरेत् ।  
 भवत्या व्रतच्छलेनैव तस्यायं विहितः क्रमः ॥ १० ॥  
 कार्तिकस्य दशम्यां तु मासस्य तु निशागमे ।  
 घृतेन पञ्चगव्येन विम्बपादाम्भसा तु वा ॥ ११ ॥

रूपेण, प्रद्युम्नस्त्रिविक्रमादित्रिकरूपेण, अनिरुद्धो हृषीकेशादित्रिकरूपेण व्यक्तचक्रादिलाङ्छनैः सह भगवदेकान्तिनां पोषकत्वेन शाश्वतीमधिव्यक्तिमध्येतीत्याह—परं ब्रह्मेति षड्भिः । देहकान्तिमनुज्ञितवेत्यनेन जाग्रद्यूहवासुदेवादिवत्पुष्टयस्य पूर्वं यादृशे वर्णभेद उक्तः, केशवादित्रिकचतुष्टयस्यापि तादृशं एवेत्युक्तं भवति ॥ ३-८ ॥

एवं केशवादिरूपेणाभिव्यक्तेः प्रयोजनमाह—यामिति ॥ ९ ॥

अतो वासुदेवादीनां केशवादीनां च प्रीणनव्रतानुष्ठानक्रमो वक्ष्यत इत्याह—कर्तव्यमितीति । ऐश्वर्यम् ईश्वरसंबन्धि, तत्प्रीणनमित्यर्थः । यद्वा ऐहलौकिकैश्वर्यादिसंपादकमित्यर्थः । उभयथा कर्मणो विशेषणम् ॥ १० ॥

दशम्यां सायंकाले पञ्चगव्यां(च)न्यतमप्राशनेन स्वशरीरघुद्विमाचमनप्राणायामौ कुशोदकप्रक्षेपपूर्वकं संकल्पं चाह—कार्तिकस्येति सार्धद्वाख्याम् । घृतेन पञ्चगव्येन विम्बपादाम्भसा तु र्तु वेत्यत्रोत्तरोत्तरं श्रेष्ठं संबोध्यम् । तथा च सच्चरित्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे ब्रह्माण्डे—

“पृथिव्यां यानि तीर्थीनि तेषु स्नातेषु<sup>१०</sup> यत्फलम् ।

विष्णोः पादोदकं मूर्ध्नि<sup>११</sup> धारयेत् सर्वमान्यात् ॥

मानवो यस्तु गङ्गायां स्नानं पानं समाचरेत् ।

तस्य यादृग् भवेत् पुण्यं तादृक् पादाम्बुधारणात् ॥

त्रिषु लोकेषु यत्तीर्थं प्रयागं पुष्करादिकम् ।

तत्पादयुग्मे कृष्णस्य तत्र तिष्ठति नित्यशः ॥

१. तस्यायं विहितः क्रमः—उ० । २. घञ्चादिगुणाध्यनामकृष्टे—म० अटी० ।

३. प्रबुद्धां—म०, प्रसिद्धं—अटी० बक०, प्रबुद्ध—बख० । ४. नाम—बक० बख० अ० उ० ।

५. श्वरं—बख० अ० । ६. ‘पूर्वं’ नास्ति—अ० । ७. गव्यप्राश—म० । ८. कृत्वे—अ० ।

९. त्रोत्तरव—अ० । १०. स्नानेषु—अ० म० । ११. मूर्धनी—म० म० ।

कृत्वा स्वकोष्ठसंशुद्धिं निस्मृत्योदरगं मलम् ।  
 स्मरन् प्रभुं समाचम्य पाणौ कृत्वा कुशोदकम् ॥ १२ ॥  
 तत्सेपपूर्वं सङ्कल्प आवर्तव्यो ब्रतं प्रति ।  
 ॐ ब्रताधिष्ठये देव नित्यनिर्मलमूर्तये ॥ १३ ॥  
 वत्सरं परिपीडैस्तुं त्वामहं तोषयाम्यजम् ।  
 प्रयतो दर्भशश्यायां क्षमातले रजनीं नयेत् ॥ १४ ॥  
 एकादश्यां प्रभातेऽथ स्नात्वा देवमधोक्षजम् ।  
 ध्यात्वाऽभ्यर्थ्य यथापूर्वं नानानामान्तरैः शुभैः ॥ १५ ॥

श्रीभागवते—

पादोदकस्य माहात्म्यं जानात्येव हि शङ्करः ।  
 विष्णुपादोद्भवां गङ्गां शिरसा धारयन् हि सः ॥  
 प्रायश्चित्तमनुप्राप्तेः कृच्छ्रं वाप्यघमर्षणम् ।  
 विष्णुपादोदकं पीत्वा शुद्धिमाप्नोति तत्क्षणात् ॥” ( पृ० ११० )  
 इत्यादि । एतदलाभे पञ्चगव्यम्, तस्याप्यलाभे घृतं वा ग्राह्यमिति भावः । तथा  
 च पादे स्नपनाध्याये—

अलाभे पञ्चगव्यानां घृतमेवैकमिष्यते ।  
 पञ्चगव्येषु यस्य स्यादलाभस्तत्कृते घृतम् ॥ इति ।  
 प्रभुं स्मरन् उदरगं मलं निस्सृत्येत्यनेन प्राणायामः क्षूच्यते यैर्था, तथा वक्ष्यति प्राणा-  
 यामं नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—  
 नाभिदेशस्थितं ध्यात्वा देवं संगृह्य कल्पषम् ।  
 निस्सृतं वायुमार्गेण द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् ॥  
 निरस्तपापमाकृष्य वातचक्रसमन्वितम् ।  
 नासाग्रेण तु मन्त्रेण देहसंपूरणाय च ॥  
 तं ध्यायेद् हृदयस्थं च गतिरुद्धेन वायुना । ( १७।१८-२० )

इति ॥ ११-१३ ॥

संकल्पमन्त्रमाह—ॐ ब्रताधिष्ठय इति । परिपीडैः, उपवासैरित्यर्थः ॥ १३-१४ ॥  
 एवं संकल्पानन्तरं तस्यां रात्रौ केवलभूतले कुशोपरि शयनमाह—प्रयत इत्य-  
 र्धेन । एकादशीप्रभातकृत्यमाह—एकादश्यामिति । नानानामान्तरैः सहस्रनामादिभि-  
 रित्यर्थः । स्तुत्वेति शेषः ॥ १४-१५ ॥

१. निर्हृत्येति सार्वत्रिकः पाठः, टीकानुसारी पाठो मूले स्थापितः । २. परपिण्डैः—मु०,  
 परपीडैः—उ० । ३. यद्वि—म० । ४. प्रासं—म० । ५. यतस्तथा—म० । ६. स्तुत्ये—अ० ।

कराभ्यां लम्बमानाभ्यां संस्थितौ दक्षिणादितः ।  
 पद्मशङ्खौ सुशोभाट्ठौ यथा तदवधारय ॥ १६ ॥  
 तर्जनीमध्यमाभ्यां तु नैग्राभ्यां मध्येतः स्थितम् ।  
 निषण्णं तलपर्यन्ते शङ्खमूर्धमुखं शुभम् ॥ १७ ॥  
 सनालं कमलं तद्वत् सितं विकसितं तु वै ।  
 मणिबन्धादतिक्रान्तं किञ्चिच्छेषलतागणम् ॥ १८ ॥  
 लम्बमानमधोवक्त्रं साङ्घुष्ठं संस्मरेद् विभोः ।  
 होमान्तमखिलं कृत्वा ध्यायेदनिमिषस्ततः ॥ १९ ॥  
 दिनमध्येऽर्चनं कुर्याद् दिनान्ते स्नानवर्जितम् ।  
 महार्थैर्विविधैः स्तोत्रैर्गीतवाद्यसमन्वितैः ॥ २० ॥  
 निशां नीत्वा प्रभातेऽथ स्नानपूर्वमजं यजेत् ।  
 चतुरात्मानमव्यक्तमनुयाँगान्तकर्मणा ॥ २१ ॥  
 उदितेऽथ निशानाथे चास्तं याते दिवाकरे ।  
 क्षान्त्यर्थमर्चनं कुर्याद् दण्डवत् प्रणमेत् क्षितौ ॥ २२ ॥

वौसुदेवस्य लाञ्छनध्यानप्रकारमाह—कराभ्यामिति सार्वैस्त्रिभिः । लम्बमान-दक्षिणहस्ते तर्जन्यङ्घुष्ठाभ्यां संगृहीतं तलप्रदेशोऽधोमुखं स्थितं शङ्खवत् सितं विक-सितं मणिबन्धादतिक्रान्तं किञ्चिच्छेषलतागणं सनालं कमलं तथा वामहस्ते नैग्राभ्यां तर्जनीमध्यमाभ्यां मध्यतो गृहीतं तलप्रदेशो ऊर्ध्वमुखं स्थितं शङ्खं च ध्याये-दित्यर्थः ।

ननु जाग्रद्वयहवासुदेवस्य पूर्वं चतुर्भुजत्वमुक्तम्, इदानीं लाञ्छनद्वयमात्रस्योक्त्या द्विभुजत्वमेव ज्ञायत इग्नि चेत्, किं तावता भवतो विरोधः, उभयथापि लक्षणं स्यात् ॥ १६-१९ ॥

ततो होमान्तं सर्वं कृत्वा पुनस्तमेव ध्यायन् प्राप्ते मध्याह्ने यथाविध्यर्चनं कृत्वा सायन्तनार्चनं तु स्नपनवर्जितं कृत्वा गम्भीरार्थर्गम्भितविधस्तोत्रगीतवाद्यादिभिः सह तां निशां जागरेण नीत्वा १८द्वादश्यां प्रभाते स्नानपूर्वकं यथाविधि चतुरात्मानं प्रभुं समभ्यर्थ्य पारणान्तं कृत्वा सायन्तनार्चनं च कृत्वाऽपराधक्षमापणं कुर्वन् चतुर्दिक्षु चतु-

१. नेत्राभ्यां-वक० । २. मध्यमस्थितम्-मु० । ३. यङ्घे-उ० । ४. महाक्षैः-मु० बक० बख० । ५. यागं तु कर्मणः-मु० अटी० । ६. परवासु-म० । ७. मुखस्थितं-म० । ८. क्रान्त-म० । ९. द्वाभ्यां-म० । १०. तादृश्यां-अ० ।

चतुर्धा वै चतुर्दिशु ततः कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।  
एकैकस्याग्र उच्चार्य चतुर्धा तु पदं पदम् ॥ २३ ॥  
तद्वाचकांस्तोत्रमन्त्रांस्ततः कृत्वा स्वभावगम् ।  
तद्वयक्तिव्यञ्जकेनैव सह वाक्यगणेन तु ॥ २४ ॥  
जितं ते पुण्डरीकाक्ष वासुदेवामित्युते ।  
रागदोषादिनिर्मुक्तो समस्तगुणमूर्तिमान् ॥ २५ ॥  
नाथ ज्ञानवलोक्तकृष्ट नमस्ते विश्वभावन ।  
सङ्खर्षण विशालाक्ष सर्वज्ञ परमेश्वर ॥ २६ ॥  
देवं ऐश्वर्यवीर्यात्मन् प्रद्युम्न जगतांपते ।  
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश सर्वेश्वर जगन्मय ॥ २७ ॥

वारं दण्डवत् प्रणम्य चतुर्वारं प्रदक्षिणं कुर्वन् एकैकस्याग्रतः स्थित्वा तत्तद्वाचकस्तोत्र-  
मन्त्रवाक्यादीनि पठेदिति प्रयोगपद्वितिमाह—होमान्तमित्यादिभिः ॥१९-२४॥

वासुदेवादीनां जितन्तौदिस्तोत्रमन्त्रचतुर्ष्टयं स्वयमेवाह—जितं त इति  
चतुर्भिः । अत्र प्रथमश्लोके प्रथमं पादम्, द्वितीये द्वितीयम्, तृतीये तृतीयम्, चतुर्थ चतुर्थ  
च संग्रहैकश्लोकरूपेण लक्ष्मीतन्त्र(२४६९)पाद्यादिषु प्रतिपादितम् । तस्याष्टाक्षरादि-  
व्यापकत्वं चोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

पदमन्त्रास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्चरात्रिके ॥  
विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।  
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ॥  
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।  
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषं पूर्वज ॥  
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।  
ओङ्कारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ॥……  
केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।  
पञ्चते व्यापका मन्त्राः पैञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

( २४६७-७०, ७४ )

इतोऽप्यधिकं पद्यादिषु प्रतिपादितं स्तोत्रश्लोकजातमेतद् जितन्ताख्यमन्त्रस्यार्थविवरण-

१. कात्-मु० अटी० । २. मन्त्रात्-मु० अटी० । ३. मूर्तये-वक० वक० अ० उ० ।
४. पञ्चक्तिव्यविषयः-अ० उ० । ५. न्तास्तोत्र-म० । ६. पाञ्च-मु० ।

स्थित्युत्पत्तिलयत्राणहेतवे शक्तितेजसे ।  
 जयानिरुद्ध भगवन् महापुरुष पूर्वज ॥ २८ ॥  
 विधिनानेन वै कार्यं पक्षयोरुभयोरपि ।  
 अब्दान्तमर्चनं विष्णोनिष्कामेनाग्रजन्मना ॥ २९ ॥  
 एवं सङ्कर्षणाद्यं तु वासुदेवान्तमर्चनम् ।  
 विहितं क्षत्रजातेवं कर्तव्यत्वेन सर्वदा ॥ ३० ॥  
 प्रद्युम्नाद्यं तु वैश्यस्य मुसल्यन्तमुदाहृतम् ।  
 सच्छूद्रस्यानिरुद्धाद्यं प्रद्युम्यान्तं सदैव हि ॥ ३१ ॥  
 मूर्तीनां ध्यानकाले तु विशेषमवधारय ।  
 सङ्कर्षणेऽब्जवद् रम्यां दक्षिणे तु करे गदाम् ॥ ३२ ॥  
 गृहीतां चिन्तयेन्मध्यादधोवक्त्रेण पाणिना ।  
 अङ्गुलिद्वितयेनैव त्वड्गुष्ठाद्येन लीलया ॥ ३३ ॥  
 प्राणवद् वामकरे पद्मं प्रद्युम्नस्य निवोधृतु ।  
 दक्षिणे हेतिराद् तद्वद्गुलिद्वितयोपरि ॥ ३४ ॥  
 पूर्ववत् कंमलं वामे चतुर्थस्याधुनोच्यते ।  
 आदिवद् दक्षिणे पद्मं गदा वामे यथोदिता ॥ ३५ ॥

रूपं बोध्यम् । जितन्ताख्यमन्त्रव्याख्यानमहिर्बुद्ध्यसंहितार्थामुक्तं द्रष्टव्यम् ॥२५-२८॥

एवं प्रतिमासं पक्षद्वयेऽपि दशभ्यां पञ्चगग्यप्राशननियमनपूर्वकमुपवासं जागरणं द्वादश्यां व्रताराधनपूर्वकं पारणं सायमपराधक्षमापणार्थमर्चनादिकं च कुर्वन् संवत्सरान्तं ब्राह्मणो निष्कामं यथा तथा व्रतं कुर्यादित्याह—विधिनेति ॥२९॥

क्षत्रियस्य विशेषमाह—एव मिति । वैश्यस्य विशेषमाह—प्रद्युम्नाद्यमित्यर्थेन । मुसल्यन्तं संकर्षणान्तमित्यर्थः । शूद्रस्य विशेषमाह—सच्छूद्रस्येत्यर्थेन ॥३०-३१॥

पूर्वं वासुदेवलाञ्छनध्यानमात्रस्योक्तत्वादिदानीं संकर्षणादीनां लाञ्छनभेदध्यानमाह—मूर्तीनामित्यारभ्य निःश्रेयसपदास्थ इत्यन्तम् । अब्जवदित्यनेन पूर्वं वासुदेवस्य दक्षिणकरेऽब्जस्य यादृशः संनिवेशो यादृशो धारणप्रकारश्चोक्तः, इदानीं संकर्षणस्य दक्षिणे<sup>१</sup> करे गदाया अपि तादृश इति बोध्यते, अधोवक्त्रेण लम्बमानेने-

१. अब्जा—मु० । २. मुसला—मु० अटी० । ३. शूद्रस्य चानि—ब्रह्म ० अ० उ० ।  
 ४. ध च—मु०, ध्य च—अटी०, धय—ब्रह्म० । ५. कमले—मु० अटी० बक० ।  
 ६. जितन्ताख्यमन्त्रार्थनिरूपणात्मके त्रिपञ्चाशेऽव्याये । ७. दक्षिणकरे—म० ।

इति प्रथममूर्तीनां ध्यानमुक्तं तु सार्चनम् ।  
 नित्यनैमित्तिकार्थं तु निःश्रेयसपदाप्तये ॥ ३६ ॥  
 भक्तिपूर्वात् तु कैवल्याद् यत्नेनाभ्यर्थयन्ति ये ।  
 वर्णा विग्रादयस्तेषां व्रताचरणमुच्यते ॥ ३७ ॥  
 श्रावणस्य दशम्यां तु सर्वं पूर्वोक्तमाचरेत् ।  
 कृत्वा कुशोदकाभ्यङ्गं स्मैरन् देवामिंदं पठेत् ॥ ३८ ॥  
 सर्वभूतंमयाऽनादे यच्छ मे परमं पदम् ।  
 छिन्धि सांसारिकान् बन्धानज्ञानतिमिरं हर ॥ ३९ ॥  
 ततो ध्यात्वा यज्ञदेवं चतुर्मूर्तिं तु पूर्ववत् ।  
 गौणमुख्यमहच्छब्दैजितन्ताद्यैः पदैस्ततः ॥ ४० ॥  
 व्यस्तैस्ततः समस्तैश्चाण्येकैकं पुनरेव हि ।  
 वाच्यमेदोक्तियोगेन समस्तेनान्यथात्मनाऽ ॥ ४१ ॥  
 इत्यर्चनं क्रमात् कुर्यान्मूर्तैर्मूर्तैर्महामते ।  
 प्रणिपातादिकं सर्वमावतीव्य<sup>११</sup> यथास्थितम् ॥ ४२ ॥  
 तुर्यान्तं<sup>१२</sup> मौद्गलान्तस्तु<sup>१३</sup> मोक्षैकफललम्पटैः<sup>१४</sup> ।  
 विन्यासं लाङ्छनानां तु ग्रहणेनान्वितं शृणु ॥ ४३ ॥  
 अस्मिन् व्रते चतुर्णा तु देवानां वस्तुस्वचनम् ।  
 तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां<sup>१५</sup> स्तनाख्यान्मण्डलाद् वहिः ॥ ४४ ॥

त्वर्थः । अङ्गुष्ठाद्येन अङ्गुलीद्वितयेन, तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यामित्यर्थः । प्राणवदित्यनेन वासु-  
देवकमलवदधो मुखत्वादिकमुच्यते ॥ ३२-३६ ॥

अथ <sup>१६</sup>केवलमुमुक्षुभिरनुष्ठेयव्रते कालमेदं संकल्पश्लोकानन्तरं लाच्छनन्यास-  
ध्यानमेदं चाह—भक्तिपूर्वादित्युपक्रम्य फलमाप्नोति साधक इत्यन्तम् । तुयन्ति म  
अनिरुद्धान्तम् । मौद्गलान्तैः<sup>१७</sup> शूद्रान्तैरित्यर्थः । दक्षिणे तु गदाद्यस्येत्यत्र आद्यस्य

१. प्रशस्त—अ०, प्रशम—उ० । २. वृत्ते—वक० वख०, व्रते—अ० उ० । ३. स्मृत्वा—  
मु० अटी० । ४. दक्ष्यागं—अ० उ० । ५. स्मरेदेव—वख० । ६. मिम—वख० अ० उ० ।  
७. व्रत—अ० । ८. ते—मु० अटी० उ० । ९. स्तेन एकै—वख० अ० उ० ।  
१०. त्मनः—मु० अटी० । ११. चर्ते—वख० अ० । १२. थ—मु० वक० वख० ।  
१३. लान्नै—मु० वक० वख० । १४. लक्ष्मैः—उ० । १५. ध्यानाभ्यां—अटी०, स्थानाभ्यां—  
मु० वक० । १६. केवलं—म० । १७. लान्नै: शूद्रान्नै—अ० ।

दक्षिणे तु गदाद्यस्य स्पष्टमुष्टिगदा भवेत् ।  
 वामेन कुक्षिकुहरात् समाकान्तश्च शङ्खरात् ॥ ४५ ॥  
 परिधेवीद्यतोऽड्गुष्ठं निषण्णं सर्वदा स्मरेत् ।  
 मुख्यहस्ते द्वितीयस्य ध्येयः शङ्खवरस्तथा ॥ ४६ ॥  
 चक्रमङ्गुष्ठं ऊर्ध्वस्थं वामहस्ते समुष्टिके ।  
 प्रद्युम्नस्य गदा वामे शब्दपूर्णस्तु दक्षिणे ॥ ४७ ॥  
 दक्षिणे त्वनिरुद्रस्य कमलं सूर्यवर्चसम् ।  
 वामतज्जेनिगं चक्रं त्रिष्वङ्गुष्ठं स्मरेत् स्थितम् ॥ ४८ ॥  
 एवं यथास्थिताद् ध्यानात् फलमाप्नोति साधकः ।  
 सक्षीरमन्नपात्रं तु विहितं मासि मासि च ॥ ४९ ॥  
 दानार्थं व्रतपर्यन्ते हेमरत्नतिलान्वितम् ।  
 निष्कामव्रतिनां नित्यमन्ते गोदानमेव च ॥ ५० ॥  
 प्रतिमासं सकामानां दधिपात्रं च सोदनम् ।  
 फलानि हेमयुक्तानि त्वन्ते भूदानमेव च ॥ ५१ ॥  
 तिलान्युदककुम्भं च पत्रपुष्पादिनार्चनम् ।  
 यथाशक्ति दरिद्राणां हिरण्यं गोसमं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

वासुदेवस्येत्यर्थः । तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां स्तैराख्यान्मण्डलाद् बहिः पाश्वद्येऽपि वैक्षस्थलाद् बहिरित्यर्थः । तत्सम इति यावत् । मुख्यहस्ते दक्षिणहस्त इति यावत् । द्वितीयस्य संकर्षणस्य । तथा वासुदेवहस्तवदित्यर्थः । शब्दपूर्णः शङ्खः । त्रिषु तर्जन्यादिष्वत्यर्थः ॥ ३७-४९ ॥

निष्कामानां व्रते प्रतिमासं कर्तव्यदानद्रव्यं संवत्सरान्ते देयद्रव्याणि चाह—  
सक्षीरमिति सार्वेन ॥ ४९-५० ॥

तथा सकामानां देयद्रव्याण्याह—प्रतिमासमिति सार्वेन । अशक्तानां तु गोदान-  
भूदानप्रत्याम्नायत्वेन यथाशक्ति हिरण्यदानमाह—दरिद्राणामित्यर्थेन । गोसममित्यत्र  
गोशब्देन भूमिरप्युच्यते ॥ ५१-५२ ॥

१. परितो वा-मु० अटी० बक० । २. क्र अ-मु० अटी० । ३. ष्ठम०-बख० उ० ।
४. कम-मु० अटी० । ५. पूर्णा-मु० अटी० । ६. त्यं त्व-मु० अटी० बक० ।
७. नि उद-बख० । ८. स्नानाख्या-अ० । ९. पक्ष-अ० ।

दानेऽर्चने तु शूद्राणां व्रतकर्मणि सर्वदा ।  
 असिद्धान्नं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया ॥ ५३ ॥  
 स्वकर्मणा यथोत्कर्षमभ्येति न तथार्चनात् ।  
 तस्मात् स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा ॥ ५४ ॥  
 सर्वत्राधिकृतो विग्रो वासुदेवादिपूजने ।  
 यथा तथा न क्षत्राद्यास्तस्माच्छास्त्रोक्तमाचरेत् ॥ ५५ ॥  
 नयेन्नैक्ताशनैर्भक्त्या दिनान्येतानि मौद्गलः ।  
 व्रताद्यन्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वै ॥ ५६ ॥  
 यथाभिमतमासाद् वै समारभ्य क्रमेण तु ।  
 इतिकर्तव्यतासक्तमैक्षकामैस्तु चाग्रजैः ॥ ५७ ॥  
 दशम्यां चैव सङ्कल्पः कार्यो द्वादशवार्षिकः ।  
 प्राग्वदबदं तु सम्पूर्य दानैर्मासानुमासिकैः ॥ ५८ ॥  
 व्रतेश्वरं जगन्नाथं श्रीणयेद् वत्सरे गते ।  
 पुनरारम्भमासाच्च त्वग्र्यमासस्य तदिनात् ॥ ५९ ॥  
 आरभ्य वत्सरं प्राग्वत् पूजयेत् श्रीणयेत् प्रभुम् ।  
 क्रमेणानेन सम्पाद्य द्वादशाब्दं व्रतं महत् ॥ ६० ॥

शूद्रैस्तु व्रतान्तेऽपव्वान्नं देयम्, सत्यां ब्राह्मणानुज्ञायां पक्वान्नं वा देयमित्याह—  
 दान इति । “आयध्युषिताः शूद्राः पाकं कुर्याः” ( आ० ध० २।३।४ ) इति ब्राह्मणानु-  
 ज्ञया शूद्राणामपि पाकाधिकारविधानात् सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छयेत्युक्तमविरुद्धं ज्ञेयम् ।  
 एवं स्वस्ववर्णश्रिमधमार्गविरुद्धमेवाराधनं कार्यमित्यर्थः ॥५३॥

सँहेतुकमाह—स्वकर्मणेति ॥५४॥

भगवदाराधने ब्राह्मणवत् ( नै ) क्षत्रियादीनामपि सर्वत्राधिकारोऽस्ति, अतो  
 यथाधिकारमनुज्ञेयमित्याह—सर्वत्रेति ॥५५॥

शूद्रस्य प्रतिपक्षमेकादश्यां नक्ताशनम्, व्रताद्यन्तैकादश्योरेवोपवास इत्याह—  
 नयेदिति ॥५६॥

अथ ब्राह्मणस्य द्वादशवार्षिकं व्रतान्तरमाह—यथाभिमतमासादित्यारभ्य  
 यष्टव्यमधिकारिणेत्यन्तम् । पूर्वोक्तैरित्यर्थः । पूर्वं प्रतिमासं यदानं विहितं तदत्र

१. त् त्यक्ता—अ० । २. व्रतशब्दं—बक० । ३. सकैः—मु० अटी० । ४. स्व—अ० ।
५. मूलानुरोधेन ‘न’पदसंयोजनमत्रावश्यकम् । ६. सार्वत्रिका—म० ।

तदन्ते तु यथाशक्त्या दानैर्वस्त्रानुलेपनैः ।  
 द्विषट्कं ब्राह्मणानां तु यष्टव्यमधिकारिणी ॥ ६१ ॥  
 स्वमूल्यरिधनाद्येन कर्मणा ह्येतदेव हि ।  
 कार्यं व्रतमिदं भक्त्या ज्येष्ठाद्यं क्षत्रियेण तु ॥ ६२ ॥  
 वैश्येनाश्वयुजादादावाचर्तव्यं समाप्तः ।  
 मौद्गलेन तु माघाद्यं पालनीयं यथाक्रमम् ॥ ६३ ॥  
 इदं व्रतोच्चमं दिव्यमपवर्गफलप्रदम् ।  
 विहितं सर्ववर्णानामैविस्तुं च सर्वदा ॥ ६४ ॥  
 चान्द्रायणायुतसममा सृष्टेः कल्मैषापहम् ।  
 वक्ष्ये व्रतवरं चान्यत् कर्तव्यत्वेन कर्मणाम् ॥ ६५ ॥  
 मोक्षैकफलकामानामन्येषां भावितात्मनाम् ।  
 मोक्षदं देहपाताद् यैच्चातुरगत्यैक्याजिनाम् ॥ ६६ ॥  
 यथाभिमतमासस्य दशम्यां पातयेज्जलम् ।  
 नत्वा व्रतेश्वरं प्राग्वद् वत्सरद्वितयस्य च ॥ ६७ ॥  
 विशेषाच्छ्रावणे कुर्यात् सङ्कल्पं कार्तिकेऽपि च ।  
 आरम्भमासादारम्भ्य निष्ठाख्यं यावदेव हि ॥ ६८ ॥  
 द्विषट्कमुपवासानामेकवृद्ध्या तु वर्धयेत् ।  
 होमान्तर्मर्चनं कृत्वा पूर्ववत् तन्मयान् यजेत् ॥ ६९ ॥  
 ततस्तु<sup>१०</sup> परिपीडानां वत्सरं हासमाचरेत् ।  
 कार्यमारम्भमासे तु पूर्वं द्वादशरात्रिकम् ॥ ७० ॥

प्रतिसंवत्सरं कार्यम् । संवत्सरान्तविहितदानं त्वत्र द्वादशवर्षान्ते कार्यमित्यर्थः ॥ ५७—६१ ॥

अस्य व्रतस्य क्षत्रियादीनामपि कालभेदेनानुष्ठानमाह—स्वमूर्तीति त्रिभिः ।  
स्वमूल्यरिधनाद्येन स्वस्ववर्णोक्तसंकर्षणादिक्रमेणेत्यर्थः ॥ ६२—६४ ॥

अथ संवत्सरद्वयानुष्ठेयमुपवासवृद्धिहासान्वितं व्रतान्तरमाह—चान्द्रायणा-

१. णाम्—अ० उ० । २. व्रतवरं—अ० उ० । ३. वर्त—अटी० । ४. मनि—मु०  
अटी० बक० बख० । ५. कलुषा—उ० । ६. कर्मणाम्—मु० अटी० बक० बख० ।  
७. यं च—बक० । ८. नम्—बक० बख० उ० । ९. मयो न्यसेत्—मु० अटी । १०. ततः सु—  
मु० अटी० बक० बख० । ११. ग्रास—मु० अटी० बक० बख० ।

एकैकं लोपयेत् तावद् यावदैवदः समाप्यते ।  
 कुर्याद् व्रतसमाप्ति तु पूर्ववत् पूजनादिना ॥ ७१ ॥  
 वृद्धिहासक्रमेणैतद् व्रतमुक्तं मया च ते ।  
 अनायासेन वै येन ग्राप्यते शाश्वतं पदम् ॥ ७२ ॥  
 व्रतानामुक्तमं धन्यं द्वादशाख्यमतः शृणु ।  
 अकामानां सकामानामन्ते तुल्यफलं हि यत् ॥ ७३ ॥  
 सितपक्षात् तु चैत्रस्य कार्याऽद्योऽहनि कल्पना ।  
 गतेऽर्थरात्रसमये चा प्रभातात् ततोऽच्युतम् ॥ ७४ ॥  
 उपवासं विनाऽभ्यर्थ्यं कार्यं वै नक्तमोजनम् ।  
 एकादश्यैन्तमेवं हि पौनःपुन्येन लाङ्गलिन् ॥ ७५ ॥  
 कार्यमप्ययुक्त्या वै चातुरात्म्यस्य पूजनम् ।  
 एकादश्यां न भुजीत विहितस्तत्र जागरः ॥ ७६ ॥  
 द्वादश्यामादिदेवं तु समाराध्य यथाविधि ।  
 मध्याह्नसमये ग्राप्ते विधिवत् तन्मैयान् यजेत् ॥ ७७ ॥  
 भक्त्या शक्त्या तु चतुर एकैकं प्रत्यहं त्वपि ।  
 ग्रावां ग्रासां स्वसामधर्याल्लोपनीयो न सर्वदा ॥ ७८ ॥  
 सह पूर्वोक्तदानैस्तु व्रतकर्मपरायणैः ।  
 ग्राप्ते तु तद्दिने भूयः कृष्णपक्षस्य लाङ्गलिन् ॥ ७९ ॥

युतसममित्यारभ्य ग्राप्यते शाश्वतं पदमित्यन्तम् ॥ ६५-७२ ॥

अथ द्वादशाख्यव्रतमाह—व्रतानामुक्तमं धन्यमित्यारभ्य तस्य तुष्ट्यधोक्षज इत्यन्तम् । आद्योऽहनि प्रतिपदि । कल्पना संकल्पः । द्वादश्यामादिदेवं वासुदेवमित्यर्थः । एवं च चैत्रशुक्लप्रतिपदमारभ्य तैद्वद्वादश्यन्तं पुरुषसत्याच्युतवासुदेवानामेव पुनस्तेषामेव प्रत्यहमेकैकमेणार्चनं कुर्वन् कृष्णप्रतिपदमारभ्य तद्वद्वादश्यन्तं तथा केशवादिमूर्तीनामर्चनं च कुर्यात् । पक्षद्वयेऽप्येकादश्यामुपवासो जागरश्च । अवशिष्ट-

१. वदं समापयेत्-अ०, वदं समाप्यते-उ० । २. निरायासात् तु-बक० बख० अ० उ० ।
३. च-अ० । ४. य आ-अ० उ० । ५. श्यां-बक० अ० उ० । ६. मयो न्यसेत्-मु० अटी० ।
७. सस्त्व-अ० । ८. 'तद्' नास्ति-अ० ।

अर्चनं केशवादीनां त्रिसन्ध्यं प्राग्वदाचरेत् ।  
 द्वादश्यां सोपवासस्तु यजेद् दामोदरं प्रभुम् ॥ ८० ॥  
 दानान्तमर्चनाद्यं तु सितपक्षोक्तमाचरेत् ।  
 प्राभवेण क्रमेणैव चैवं मूर्त्यन्तरं यजेत् ॥ ८१ ॥  
 मूर्तिभिश्चाप्ययाख्येन संवत्सरमतन्द्रितः ।  
 यो योऽधिकारी भक्तो वा तस्य तुप्यत्यधोक्षजः ॥ ८२ ॥  
 षोडशाख्यमतो वक्ष्ये व्रतं धन्यतमं हि यत् ।  
 पूर्ववद् रात्रिसमय आषाढस्याद्यवासरे ॥ ८३ ॥  
 गृहीत्वा नियमं कुर्यादा प्रभातादिष्ठूजनम् ।  
 त्रिसन्ध्यं वामनादीनां विधिवद् द्वादशाहूकम् ॥ ८४ ॥  
 त्रयोदश्यां ततोऽभ्यर्च्यं चतुर्वर्गप्रदं प्रभुम् ।  
 आद्यन्तमनिरुद्धादि तदाद्यमपरेऽहनि ॥ ८५ ॥  
 तृतीयं पञ्चदश्यां तु संशान्तव्यक्तलक्षणम् ।  
 एवं मूर्त्यन्तरैर्युक्तं चातुरात्म्यं त्रिधा स्थितम् ॥ ८६ ॥  
 आराध्य परया भक्त्या चैकादश्यामनशनतः ।  
 पूर्णं तदर्चनं कुत्वा पञ्चदश्यां यथाविधि ॥ ८७ ॥  
 चत्वारस्तन्मयाः पूज्याः श्रद्धापूतेन चेतसा ।  
 आत्मयागं ततः कुर्याद् दिनान्तेर्चन्पूर्वकम् ॥ ८८ ॥

दिनेषु नक्तभोजनम् । मध्याह्नसमये ब्राह्मणभोजनम्, तदशक्तौ गोग्रासकल्पनं वा,  
प्रतिपक्षं पूर्वोक्तदानं च कार्यम् ॥ ७३-८२ ॥

अथ व्रतान्तरमाह—षोडशाख्यमिति प्रक्रम्य षोडशानां स्वशक्तिं इत्यन्तम् ।  
अत्र केशवादयो द्वादश वासुदेवादयश्चत्वारः, आहृत्य षोडशमूर्त्यः । एतेषां षोडशानां  
मुक्तक्रमेणार्चनादिकं षोडशाख्यव्रतमित्युच्यते । यद्वा आषाढादिमासचतुष्टये प्रतिमासं  
वासुदेवादीनां चतुर्णामिर्चनात् षोडशाख्यमिति ज्ञेयम् । आषाढे वामनादीनाम्,  
आश्वयुजे पद्मनाभादीनाम्, पुष्ये नारायणादीनाम्, चैत्रे विष्णवादीनां चार्चनं तत्तन्मासे  
तत्तन्मासाधिपतिमारभ्याच्चनीयत्वादुक्तमिति ज्ञेयम् । केशवादीनां मार्गशीषाद्याधिपत्यं

१. न्यसेत्—मु० अटी० । २. एवं—बक० बख० अ० उ० । ३. तुष्येत् तथाक्षजः—अ०  
४. मधो—बक० । ५. हिकम्—अ० । ६. शान्तिव्यक्ति—मु० अटी० बक० । ७. एका—बक०।  
बख० अ० उ० । ८. पूर्णन्तिम—अ० उ० । ९. ‘चार्चन’ नास्ति—अ० ।

एवमाश्वयुजे भूयः पर्वादौ प्रारभेत् क्रियाम् ।  
 पद्मनाभादिमूर्तीनामर्चनं विहितं क्रमात् ॥ ८९ ॥  
 एकादश्यामनश्नन्स्तु सर्वं निर्वर्त्य पूर्ववत् ।  
 सम्प्राप्ते च ततः पौषे यजेन्नारायणादिकम् ॥ ९० ॥  
 द्वादश्यां तद् द्विषट्कं च तथा व्यूहत्रयं त्वपि ।  
 चैत्रे तद्विसादादौ विष्णवादीनां समर्चनम् ॥ ९१ ॥  
 विहितं संदूतज्ञानां सह व्यूहत्रयेण तु ।  
 विशेषपूजनं कुर्यात् सम्पन्ने वत्सरे सति ॥ ९२ ॥  
 विभोरगे द्विजेन्द्राणां पोषणानां स्वशक्तिः ।  
 दत्तशिष्टमतृपतं च दैवीयान्नेन भावितम् ॥ ९३ ॥  
 हविशेषेण संयुक्तं व्रतिनां भोजनं हितम् ।  
 एवं सितेऽसिते वापि ह्युभ्योरपि पक्षयोः ॥ ९४ ॥  
 यथाभिमतमासाद् वै समारम्भ्य यजेत् क्रमात् ।  
 एकादशं च मासेशान् पर्वादौ तु सकृत् सकृत् ॥ ९५ ॥

प्रसिद्धं खलु । आद्यन्तमनिरुद्धादि पुरुषादिवासुदेवान्तमित्यर्थः । अपरेऽहनि चतुर्दश्यां तदाद्यां वासुदेवाद्यां स्वनन्यूहमिति भावः । पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां संशान्तव्यक्तलक्षणम् अभिव्यक्तानभिव्यक्तमित्यर्थः । तृतीयं सुषुप्तिव्यूहमित्यर्थः । चातुरात्म्यं त्रिधास्थितं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदेन त्रिविधमित्यर्थः ॥८३-९३॥

अथैवं व्रतनिष्ठानां भोज्यद्रव्यमाह—दत्तशिष्टमिति । अर्यं श्लोकः सच्चरित्ररक्षायां व्याख्यातः । तथाहि—“दत्तशिष्टं १कारिसंप्रदानावशिष्टम् । ‘दैवीयान्नेन पाकपात्रावशिष्टेन हृविशेषेण चरुशेषेण व्रतिनां भगवद्गुपनिष्ठानां सर्वेषां हितम् अनिष्टनिर्वर्तकत्वादिष्टप्रापकत्वाच्चावश्यं २भोक्तव्यमित्यर्थः । अत्र भोजनमिति कर्मणि ल्युडन्तम्’” ( पृ० ९४-९५ ) इति ॥९३-९४॥

मुनर्वतान्तरमाह—एवं सितेऽसिते वापीति प्रक्रम्य भैक्षपूर्वेण सर्वदेत्यन्तम् । अस्यार्थः—यथाभिमतमासे शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वोभयोर्वा प्रतिपदमारभ्यैकादश्यन्तं

१. निरशनन्नेकादश्यां तु—बक० बख० अ० उ० । २. सद्व्रत—मु०, सद्वृत्त—बक० ।
३. स्थितम्—उ० । ४. उभयो—उ० । ५. तथा—बक० । ६. दशे—मु० अटी० बक० बख० उ० ।
७. कार्य—मु० । ८. दैवीया—म०, देवान्नेन—मु० । ९. द्वृत—म०, च्छास्त्र—मु० ।
१०. श्यभो—भ० म० ।

द्वादश्यां सोपवासस्तु तन्मासेशमथार्चयेत् ।  
 तत्कारणादिभेदोत्थं चातुरात्म्येन वै सह ॥ ९६ ॥  
 पुण्यं व्रतमिदं विद्वि बृद्धस्त्रीबालसिद्धिकृत् ।  
 नित्यं सदैष्णवैः कार्यमविरुद्धमखेददम् ॥ ९७ ॥  
 प्राक्प्रणीतैर्महाभोगैः शक्त्या दानसमन्वितैः ।  
 गृहस्थैर्ब्रह्मचर्यस्थैर्वानप्रस्थैस्तु भिक्षुकैः ॥ ९८ ॥  
 येन केन प्रकारेण विच्चं सम्भूत्य वै पुरा ।  
 नित्यं धर्माविरुद्धेन भैक्षंपूर्वेण सर्वदा ॥ ९९ ॥  
 कुटुम्बभरणावर्थं लाभे भैक्षादिके तु वै ।  
 अवज्ञा परमा यत्र बुद्धिमांस्तत्र संवैसेत् ॥ १०० ॥  
 दाता ददाति यत् किञ्चित् पूजापूर्वं हि भक्तिः ।  
 कृत्स्नं तदीयमशुभं तिष्ठत्यर्थिजनाश्रितम् ॥ १०१ ॥  
 परिभूते तु वै लाभे सन्तोषो यस्य जायते ।  
 प्रतिग्रहोत्थितो दोषस्तस्य दूरतरं व्रजेत् ॥ १०२ ॥

तन्मासेशस्योत्तरादिनैकादशमासेशान् प्रत्यहमेकैकक्रमेणाभ्यच्यैकादश्यां कृतोपवा(सम् ?  
 सो) द्वादश्यां तन्मासेशम्, तत्कारणभूतो वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धो  
 वा यस्तददिचातुरात्म्यं च संपूज्य दानादिकं कुर्यात् । एवं चेदं सुस्पष्टं बोध्यम्—  
 चैत्रमासे यदि व्रतमनुष्ठीयते तन्मासेशो विष्णुः, तदुत्तरं मधुसुदनादयो वैशाखाद्येका-  
 दशमासेशाः प्रतिपदादिष्वर्चनीयाः । तन्मासेशो विष्णुः, तत्कारणभूतसंकर्षणादिवासुदेवा-  
 न्ताश्चत्वारश्च द्वादश्यामर्चनीयाः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । केशवादीनां त्रिकं त्रिकं  
 प्रति वासुदेवादीनामेकैकस्य कारणत्वमुत्तरत्र (८५५-५६) सुस्पष्टं वच्यति ॥ ९४-९५ ॥

अथ प्रसक्तं भैक्षादिद्रव्यविचारं विवृण्वन् तल्लाभे प्रतिग्रहीतुर्यत्र बहुशोऽवमानं  
 जायते, तत्रैव बुद्धिमता प्रतिग्रहीत्रा वस्तव्यमित्याह—कुटुम्बेति । भैक्षं याचितम् ।  
 “भिक्षा याच्च्रवार्थनार्दना” (३।२।६) इत्यमरः । अवज्ञा अवमाननम् । “रीढँवमानना-  
 वज्ञा” (१।७।२३) इत्यमरः ॥ १०० ॥

यतः संमीनं प्रतिग्रहीतुरेव बाधकमित्याह—दातेति ॥ १०१ ॥

अतोऽनादरपूर्वकं दत्तेऽपि यः प्रतिग्रहीता संतुष्टो भवति, स प्रतिग्रहोऽ दोषेण  
 विलुप्तो भवतीत्याह—परिभूत इति । लाभे भैक्षादिद्रव्यलाभे । परिभूते तिरस्कृते,

१. वनवासैः—बक० बख० उ० । २. वृत्तं—अटी० । ३. भैक्ष्य—उ० । ४. वरेत्—मु० अटी०  
 बक० बख० । ५. पीडा—अ० म० । ६. संमाननं—म० । ७. ग्रही इह—अ० । ८. निहक्तो—अ० ।

एवं ज्ञात्वा<sup>१</sup> तु पात्राणां भक्तानां भावितात्मनाम् ।  
जनयेद् बुद्धिमेदं तु नेतरेषां कदाचन ॥१०३॥  
यत्र दाता ग्रहीता च द्वावेष कलुषात्मकौ ।  
दृष्टादृष्टविनाशार्थं दानं द्वाभ्यां हतं तु तत् ॥१०४॥  
प्रागेव<sup>२</sup> चित्तसंशुद्धिं भावशुद्धिसमन्विताम् ।  
निश्चयीकृत्य यत्नेन दिव्यमायतनं व्रजेत् ॥१०५॥  
व्रतसंसिद्धये नूनं सिद्धायतनमेव वा ।  
अथवाऽऽयतनं रम्यमासन्ननगरादिकम् ॥१०६॥  
निर्विघ्नेन व्रतं यस्मान्निष्पद्येतात्र कर्मणाम् ।  
कर्मवाङ्मनसैः शुद्धस्तपोनिष्ठः क्रियापरः ॥१०७॥  
यो नान्यदेवतायाजी तच्चतो भगवन्मयः ।  
कस्मिंश्चिद्वैभवे रूपे व्यूहीये वा सुबुद्धिमान् ॥१०८॥  
बद्धलक्ष्यो भवेद् भक्त्या त्वाप्तागमनिदर्शनात् ।  
तस्यापि तादृशानां च भविनामनुकम्पया ॥१०९॥  
व्यक्ततामगमद् देवः स्वयमेव धरात्मना ।  
यत्र मोक्षप्रदं विद्धि दिव्यमायतनं हि तर्त ॥११०॥

अनादरपूर्वकं दत्ते सतीति भावः । “अनादर परिभवः” ( १७।२२ ) इत्यमरः । एवं च आदरपूर्वकं दानं दातुः श्रेयः संपादकमिति ज्ञात्वादरपूर्वकमनिच्छतां पात्राणां<sup>३</sup> सविनयप्रार्थनादिभिस्तदङ्गीकाराय बुद्धिं जनयेत् । अपात्राणां तां न जनयेदित्याह—  
एवमिति ॥१०२—१०३ ॥

दातृप्रतिग्रहीत्रोरभ्योरपि कलुषात्मकत्वे दानवैफल्यमाह—यत्रेति ॥१०४॥

एवं भावशुद्धिसंपादितां चित्तशुद्धिं पूर्वं निश्चित्य व्रतानुष्ठानार्थं सैद्धमानुष-  
स्थानेष्वन्यतमं गत्वा तत्र विभवाकृतौ व्यूहाकृतौ वा भगवति व्रतान्तः<sup>४</sup> न्यस्तचित्तो  
भवेदित्याह—प्रागेवमिति सार्धेश्चतुर्भिः । दिव्यं स्वयंव्यक्तमित्यर्थः ॥१०५—१०९॥

प्रसङ्गाद् दिव्यायतनलक्षणमाह—तस्यापीति सार्धेन ॥१०९—११०॥

१. त्वाऽप्यया—मु० अटी० । २. प्रागेव—वक० वख० अ० । ३. वित्त इति सार्वत्रिकः  
पाठः । ४. द्वि—वक० वख० अ० उ० । ५. ताः—उ० । ६. व्रतं—वक० वख० ।  
७. शुद्ध—वक० । ८. यत्—अ० उ० । ९. कर—अ० । १०. विनय—अ० । ११. न्तर—अ० ।

मन्त्रसिद्धैश्च विबुधैर्मुनिमुख्यैस्तथामलैः ।  
 शान्तये देशजानां त्वंप्यात्मनश्चापि कीर्तये ॥१११॥  
 मन्त्राकृतिमयं ध्यात्वा पाषाणं वसुधातले ।  
 पावनं वा ततं वृक्षं ज्ञात्वा वा देवताश्रयम् ॥११२॥  
 कृत्वा तच्छक्तिसंरुद्धं विसृज्य च तदाश्रितम् ।  
 विद्वि सर्वेश्वरस्यैवं स्थितं निलयलक्षणम् ॥११३॥  
 स्वमन्त्रसन्निधिं तत्र कृत्वा तद्विग्रहान्वितम् ।  
 पूजितं पत्रपुष्पाद्यैस्तत्सिद्धायतनं स्मृतम् ॥११४॥  
 फलाप्तये तु विप्राद्यैः स्वकुलोद्धारणाय च ।  
 स्थापितं भगवद्विम्बं ज्ञेयमायतनं हि तत् ॥११५॥

सिद्धायतनलक्षणमाह—मन्त्रसिद्धैरिति प्रक्रम्य तत्सिद्धायतनं स्मृतमित्यन्तम् ।  
 विसृज्य च तदाश्रितमित्यत्र विसर्जनप्रकारश्चर्तुर्विशेषं परिच्छेदे—

इहाश्रितात्मने तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय च ।  
 क्षमस्वावतरान्यत्र संतिष्ठात्र चिदात्मना ॥ ( २४।८५ )

इति वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । अत्र—

स्वयंव्यक्तं तथा सैद्धं<sup>३</sup> विबुधैश्च प्रतिष्ठितम् ॥  
 मुनिमुख्यस्तु गन्धर्वैर्यक्षविद्याधरैरपि ।  
 रक्षोभिरसुरैर्मुख्यैः स्थापितं मन्त्रविग्रहम् ॥  
 स्थापितं मनुजेन्द्रैस्तु ह्यनुवेदादिकोविदैः ॥  
 ( पा० सं० १०।३।१७-३।१८,३।२१ )

इति पारमेश्वरोक्तसैद्धायष्टविधभेदानामपि सैद्धायतनं एवान्तर्भावो बोद्धयः, सिद्ध-  
 गन्धर्वादीनामपि विबुधेष्वन्तर्भावात्, मुनिमुख्यैस्तथामलैरित्यत्रामलशब्देनान्येषामपि  
 सूचितत्वाच्च ॥ १११-११४ ॥

मानुषायतनमाह—फलासय इति ॥ ११५ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—क्रियेति ॥ ११६ ॥

१. मन्त्रैः—अ० । २. तु आ—बक०, चाप्या—अ० । ३. येत्—बक० बख० अ० उ० ।  
 ४. फलप्राये—मु० । ५. द्वर—मु० । ६. तदाश्रय—अ० । ७. विशति—म० । ८. षट्स्वा—अ० म० ।  
 ९. सिद्धवि—मु० ।

क्रियाङ्गभागं यातंस्य सर्वगस्यै च वै विभोः ।  
 विद्वि सर्वेश्वरस्यैवं स्थितं नियंतलक्षणम् ॥११६॥  
 प्रासादद्वारदेशाच्च यत्र शङ्खधनिक्षयः ।  
 पूर्वीदि सर्वदिक् तावत् क्षेत्रं भवति वैष्णवम् ॥११७॥  
 सिद्धावतारिताद् देवात् तदेतद् द्विगुणं स्मृतम् ।  
 त्रिगुणं च स्वयंव्यक्ताद् देहान्ते भावितात्मनाम् ॥११८॥

मानुषभगवन्मन्दिरस्य परितो वैष्णवक्षेत्रप्रमाणमाह—प्रासादेति । विमान-द्वारसमीपे कृतः शङ्खनादो यावदद्वारं श्रूयते, तावदन्तं परितो वैष्णवक्षेत्रमिति भावः ॥ ११७ ॥

सैद्धस्थाने तदद्विगुणं स्वयंव्यक्तस्थाने तत्त्विगुणं च वैष्णवक्षेत्रमानमाह—सिद्धावतारितादिति त्रिभिः पादैः । वैष्णवक्षेत्रस्य स्वयंव्यक्तत्वादिभेदेन सालोक्यादिफल-प्रदत्वमाह—देहान्त इति त्रिभिः पादैः । यतो वैष्णवक्षेत्रादित्यर्थः । सालोक्यतापूर्व-मित्यत्र पूर्वपदेन सामीप्यसारूप्यसायुज्यानि गृह्णन्ते । क्रमाद् मानुषादिक्रमेणत्यर्थः ।

ननु देवतान्तरप्राप्तौ हि सालोक्यादिभेदावासिः, भगवत्प्राप्तौ तु “परमं साम्य-मुपैति” ( मुण्ड० ३।१।३ ), “मम साधर्म्यमागताः” ( भ० गी० १।४।१ ), “भोगमात्र-साम्यलङ्घाच्च” ( ब्रह्म० ४।४।१।१ ) इति श्रुतिस्मृतिसूत्रैः सालोक्यादिचतुष्टय-मप्येकैकस्यैव संभवतीति प्रतिपादितम् । अत्रोक्तं सालोक्याद्येकैकफलभेदमात्रावासिकथनं कथं तदविरुद्धमिति चेत्, सत्यम् । इयमाशङ्का निगमान्तदेशिकैरपि सच्चरित्र-रक्षायां परिहृता । तथाहि—“भगवत्प्राप्तावपि विष्णुलोकादिषु द्वारपालादिष्विवत्थाविधभेदोऽस्तीति तदपेक्षिणां १०प्राप्यभेदद्योतनाय पृथड्निर्देशः । यथाहुः—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।  
 अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥ इति” ( पू० ३।१ )

१. भावं-अ० उ० । २. यागस्य-अ० । ३. स्यापि-अ० उ० । ४. निलय-अ० ।
५. इतः परम्—‘स्वमन्त्रसन्निर्धि तत्र कृत्वा तद्विग्रहान्वितम्’ इत्येषा पद्धक्षिः ११४ श्लोकस्था पुनरत्र दृश्यते-मु० अटी० । ६. यम्-अ० उ० । ७. प्रयाति-बक० बख० अ० उ० ।
८. क्यादेकैक-अ० । ९. द्वारकादिष्विव-अ० म० । १०. प्राप्ति-मु० ।

कलं सालोक्यतापूर्वं परिज्ञेयं क्रमाद् यतः ।  
दुष्टेन्द्रियवशाच्चित्तं नृणां यत्कल्मषैर्वृतम् ॥११९॥  
तदन्तकाले संशुद्धि याति नारायणालये ।  
व्रतान्येतानि यः कुर्यादभिसन्धाय चेतसा ॥१२०॥  
अभीष्टमतिरीत्रेण तदाप्नौत्यचिरात् तु सः ।  
श्रद्धानैरतस्तस्माद् दृष्टादृष्टफलाप्तये ॥१२१॥  
व्रतान्येतानि कर्तव्यान्यभिसन्धाय चेतसा ।  
नावसादस्तु कर्तव्यो व्रतभङ्गात् कदाचन ॥१२२॥  
सङ्गल्पादेव भगवांस्तत्त्वतो भावितात्मनाम् ।  
व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु ॥१२३॥

यद्वा क्रमादित्यत्र सालोक्यसामीप्यादिक्रमेणेत्यर्थवर्णने नास्त्येतदाशङ्काया एवावकाशः, सर्वस्यापि क्षेत्रस्य सालोक्यादिफलचतुष्ट्यप्रदत्वसम्भवात् ॥११८-११९॥

वैष्णवक्षेत्रस्य मनःपरिशुद्ध्यावहत्वं चाह—दुष्टेति त्रिभिः पादैः । यत इत्यस्याप्नुषङ्गः कार्यः । भगवन्मन्दिरे व्रतानुष्ठानस्य शीघ्रफलप्रदत्वमाह—नारायणालय इति ॥ ११९-१२१ ॥

अत एतेषां व्रतानामवश्यानुष्ठेयत्वमाह—श्रद्धानैरिति ॥ १२१-१२२ ॥

आरब्धे व्रते मध्ये येन केनैपि हेतुना विघ्नतेऽपि ततो न भेत्तव्यम् । यतो व्रतं करिष्यामीति संकल्पमात्रादेवारभ्य व्रतसमाप्तिपर्यन्तं यावदनुष्ठानं संभवति, तावतैव फलसिद्धिर्भवतीत्याह—नावसाद इति सार्वेन । अवसादो न कार्यः, अधैर्यं नाधिगत्तव्यमित्यर्थः । अयमेवार्थो वङ्गिवंशेश्वरैः प्रतिपादितः सच्चरित्ररक्षायामुदाहृतः—

ऐवमेकदिनं वाथ द्विदिनं त्रिदिनं तु वा ॥  
मासं संवत्सरं वापि यावज्जीवितमेव वा ।  
वर्तेत भक्त्या परया वैष्णवः सुन्धिरं सुखी ॥  
प्रारब्धे मध्यतो ९ विघ्नाद् विच्छिन्नेऽप्यत्र कर्मणि ।  
नानर्थो न च नैषफलं न कृतांशस्य संक्षयः ॥  
प्रारब्धेष्वसमाप्तेषु विच्छिन्नेष्वन्यकर्मसु ।  
भवत्येवैतदखिलं वैदिकेष्वितरेष्वपि ॥

१. व्रतम्-बक० । २. पड्किरेषा नास्ति-अ० । ३. ग्लानिभ-अ० उ० ।  
४. येन केन वा-म० । ५. वङ्गिवंशेश्वरविरचितायामाह्निककारिकायां ५०४-५०८  
संख्याका इमे श्लोका द्रष्टव्याः । ६. मुखम्-म० । ७. धनैवि-म० ।

ज्ञात्वैवं बद्धलक्ष्येण भवितव्यं सदैव हि ।  
 प्राप्तये सर्वकामानां संसारभयभीरुणा ॥१२४॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां व्रतविधिनाम  
 सप्तमः परिच्छेदः ॥

---

कृतः स्वल्पांशकोऽप्यस्य स्थित्वा सुचिरमक्षयः ।  
 त्रायते च<sup>३</sup> स्वकर्तारं स्वशक्त्या भवभीतिः ॥ इति ।

नन्विदं भगवदाराधनविषयम्, नहि व्रतानुष्ठानविषयमिति चेन्न, अस्य  
 व्रतस्यापि भगवदाराधनरूपत्वात्, भगवदाराधनस्यापि शातवाषिकव्रतरूपत्वात् । अत  
 एव वङ्गिवंशेश्वरैनित्याराधनप्रकरणेऽपि—

४त्वदाराधनकामोऽयं व्रतं चरितुमिच्छति ।  
 संकल्पसिद्ध्यै भगवन् पूरयाऽस्य मनोरथान्<sup>५</sup> ॥ ( श्लो० ३९ )

इति व्रतविधाने वद्यमाण(८७-८)श्लोकस्यैव संगृहीतत्वाद्बुभयोरप्यविशेषो बोध्यः  
 ॥ १२२-१२३ ॥

इमर्थं ज्ञात्वा निखिलं?लं पुरुषार्थप्राप्त्यर्थं भगवति दृढचित्तेन भवितव्य-  
 मित्याह—ज्ञात्वेति ॥ १२४ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये सप्तमः परिच्छेदः ॥

---

१. स्तवः सुषिरमव्ययम्—अ० । २. त्रायेतैव—प० २० । ३. वर्ष—अ०, विश्व—म० ।

४. त्वया—मु० । ५. रथम्—म० ।

## अष्टमः परिच्छेदः

श्रीभगवानुवाच

व्रतमेतदमन्त्रं च सामान्यं सार्वलौकिकम् ।  
 सितेतरविभागेन ग्रोक्तं मन्त्रद्वयं शृणु ॥ १ ॥  
 प्राग् गुरुं प्रार्थयित्वा तु दृष्टादृष्टप्रदः स हि ।  
 ज्ञात्वा स्थिरमेंति कुर्यात् तदर्थे चक्रमण्डलम् ॥ २ ॥  
 तन्मध्ये चतुरात्मा तु यष्टव्यः कर्णिकोपरि ।  
 चतुर्दिक्षवीक्षमाणस्तु वासुदेवादितः क्रमात् ॥ ३ ॥  
 हृदादिनेत्रपर्यन्तमङ्गपटकं यजेत् ततः ।  
 अध्यादिभिः क्रमाद् भौगैर्वतज्ञे पुराहृतैः ॥ ४ ॥

अथाष्टमो व्याख्यास्यते । पूर्वममन्त्रकं व्रतमुक्तम्, इदानीं समन्त्रकं शृण्वित्याह—  
 व्रतमिति । सामान्यं सार्वलौकिकं ब्राह्मणादिचतुर्वर्णनामिति साधारणमित्यर्थः ।  
 समन्त्रकं व्रतं तु ब्राह्मणमात्रकार्यम् । उक्तं खलु ( प्रथमे ? द्वितीये ) परिच्छेदे—  
 व्यामिश्रागयुक्तानां प्रिप्राणां वेदवादिनाम् ॥  
 समन्त्रे तु चतुर्व्यूहे अधिकारो न चान्यथा ।  
 त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ॥  
 अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे । (२८-१०) इति ॥ १ ॥

प्रथमं शिष्यो <sup>१</sup>गुरुं प्रार्थयेत्, गुरुः शिष्यं स्थिरबुद्धिं ज्ञात्वा तदवतार्थं मण्डलं  
 विलिखेदित्याह—प्रागिति । प्रार्थयित्वा कृतकृत्यो भवेदिति भावैः ॥ २ ॥

तन्मण्डलमध्ये कर्णिकोपरि वासुदेवादिचातुरात्म्यार्चनं कार्यमित्याह—  
 तन्मध्य इति ॥ ३ ॥

तदनन्तरमङ्गमन्त्रार्चनं वासुदेवादीनामध्यादिभिः पूजनं चाह—हृदादीति ।  
 अङ्गमन्त्राणामर्चनस्थानं तु—

१. 'भगवान्'-मु० अटी० बक० बख० । २. मयं-अ० उ० । ३. प्राग्रं-मु०  
 अटी० बक० । ४. मतिः—मु० बख० अ० उ०, वतः—अटी० । ५. पुरो—मु०, पुरोहि—अटी० ।  
 ६. गुरुन्—म० । ७. शेषः—म० ।

ततः कुण्डान्तरे चैव संस्कृतेऽग्नौ च विन्यसेत् ।  
 चक्रं मन्त्रगणोपेतं समिद्धिस्तर्पयेत् क्रमात् ॥ ५ ॥  
 पश्चात् तण्डुलसंमिश्रैः सघृतैर्बहुभिस्तिलैः ।  
 अध्योदकेन शिरसा पवित्रीकृत्य साम्प्रतम् ॥ ६ ॥  
 नतजानुशिरः शिष्यं कृत्वासौ आवयेत् प्रभुम् ।  
 त्वदाराधनकामोऽयं व्रतं चरितुमिच्छति ॥ ७ ॥  
 सङ्कल्पसिद्धै भगवन् पूरयास्य मनोरथान् ।  
 इति विज्ञाप्य देवेशं ततः पुष्पाणि दापयेत् ॥ ८ ॥  
 अष्टाङ्गमथ वै कुर्यात् प्रणामं सप्रदक्षिणम् ।  
 भूयो भूयोऽनवच्छिन्नं भक्तिश्रद्धापुरस्सरम् ॥ ९ ॥

तदोदितं विभोदेहाद् हृदयाद्यं चतुष्टयम् ॥  
 न्यसेत् कमलपत्राणामा पूर्वादुत्तरान्तिमैः ।  
 अग्नीशरक्षोवायव्यादलेष्वस्त्रे यथाक्रमम् ॥  
 नेत्रं केसरजालस्थं चक्रं नाभित्रयोपरि । (१७।६५-६७)

इति नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

संचक्रमण्डलस्य भगवतोऽग्निमध्ये ध्यानं संतर्पणं चाह—तत इति सार्वेन ॥५-६॥

ततः शिष्यं शिरोमन्त्रेण प्रोक्ष्य तं नतजानुशिरस्कं कृत्वा त्वदाराधनश्लोकं विज्ञाप्य शिष्याऽजलिस्थपुष्पाणि मण्डलोपरि प्रदापयेदित्याह—अध्योदकेनेति सार्ध-द्वाभ्याम् । यद्यप्यस्मिन् त्वदाराधनकामोऽयमित्यादिश्लोके व्रतशब्दस्य विद्यमानत्वात्, अयमस्येति पदद्वयेन पुरोव(र्ति)शिष्यस्योक्त्वाच्च व्रतप्रकरण एवाचार्येण विज्ञापनीयोऽयं श्लोकः, तथापि नित्याराधनस्यापि शातवाषिकव्रतरूपत्वात्, अयमस्येति पदद्वयस्य स्वात्मव्यवहारेऽपि योग्यत्वाच्च वज्ज्विंश्वरकृतनित्याचर्चनकारिकादिष्वप्ययं श्लोकः प्रतिपादितः । अतोऽस्मत्तातपादैरपि सात्वतामृते चोक्त इति बोध्यम् ॥ ६-८ ॥

प्रदक्षिणप्राणामावाह—अष्टाङ्गमिति । चतुर्मूर्तीनामैः पि चतुर्वर्णं प्रणामस्य कर्तव्यत्वाद् भूयो भूय इत्युक्तम्, नैतावताऽसकृत् प्रणामसिद्धिः ॥ ९ ॥

१. त्वय्या-मु० अटी० । २. कम्-मु० । ३. 'स' नास्ति-अ० । ४. 'शिष्य' नास्ति-अ० ।  
 ५. नित्याचर्चनप्रकरणं नित्याचर्चनकारिका वाऽङ्गककारिकातोऽभिन्नो ग्रन्थः । तत्र ३९ संख्याकोऽयं श्लोकः । ६. मिति-अ० ।

ततस्तस्योपदेष्टव्यं विधानं मन्त्रपूर्वकम् ।  
 सान्तं षष्ठस्वरारूढमनुस्वारविभूषितम् ॥ १० ॥  
 बीजमाद्यस्य च विभोर्वासुदेवस्य कीर्तिम् ।  
 तदेव जीवबीजस्थं षष्ठस्वरविवर्जितम् ॥ ११ ॥  
 द्वितीयस्वरसंयुक्तं सङ्कर्षणस्य बीजराट् ।  
 उभयोरन्तरे रेफमाद्यबीजस्य योजयेत् ॥ १२ ॥  
 बीजं प्रद्युम्ननाथम्य तृतीयं सर्वकामदम् ।  
 जीवारूढं हकारं तु लान्तस्योपरि विन्यसेत् ॥ १३ ॥

शिष्यस्य व्रतार्थं मन्त्रोपदेशमाह—तत इत्यर्थेन । वासुदेवादिबीजचतुष्टयमाह—  
 सान्तमिति चतुर्भिः । सान्तं सकारान्ते स्थितं हकाराख्यं वर्णं षष्ठस्वरारूढम् ऊकारा-  
 न्वितम् अनुस्वारविभूषितं बिन्दुसंयुक्तम् । तथा च हूमिति वासुदेवस्य बीजं भवति ।  
 तदेव हकाराख्यं वर्णमेव । जीवबीजस्थं सकारान्वितम् षष्ठस्वरविवर्जितम् ऊकाररहितम्  
 द्वितीयस्वरसंयुतम् आकारान्वितम् । तथा च हूमिति सङ्कर्षणस्य बीजं भवति । आद्य-  
 बीजस्य वासुदेवबीजस्य, उभयोरन्तरे हकारोकारयोरन्तरे, रेफं योजयेत् । तथा च  
 हूमिति प्रद्युम्नस्य बीजं भवति । जीवारूढं सकारस्थं हकारं लान्तस्य वकारस्योपरि  
 न्यसेत्, विसर्गसहितम् अन्तिमस्वरसंयुक्तं च कुर्यात् । कथा च हूमित्यनिरुद्ध-  
 बीजं भवति ।

ननु मकारस्य जीवबीजत्वं युक्तं प्रसिद्धं च, सकारस्य जीवबीजत्वं कथमिति  
 चेदुच्यते—

त्रिधा हकारं कृत्वादौ जीवबीजं तथैव च ॥  
 कक्तारं च क्षकारं च लिखेत् तद्वत् त्रिधा त्रिधा । ( ८२२-२३ )

इति वक्ष्यमाणश्लोकस्थितजीवबीजशब्दस्य पारमेश्वरे—

नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ॥  
 त्रिधैकैकं क्रमात् कृत्वा बीजद्वादशकं यथा । ( २४।७७-७८ )

इति सकारपरत्वं सुस्पष्टं व्याख्यातं पश्यतु भवान् । किञ्च,

वासुदेवाख्यया होऽभूत् साख्यः संकर्षणोदयः ॥  
 प्रद्युम्नः वाख्यया ज्ञेयो ह्यनिरुद्धस्तु शाख्यया । ( ११।३१-३२ )

१. सोऽन्तं—मू० । २. र्तनम्—वक० बख० उ० । ३. अकारं—म०, हकारं—अ० ।

विसर्गसहितं बीजमनिरुद्धस्य वाचकम् ।  
 द्विभुजाः सर्व एवैते सूर्येन्दुशतसन्निभाः ॥ १४ ॥  
 तेजसा त्वत्र भेदोधस्ति स्वरूपेण सितादिना ।  
 दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां तर्जनीभृथमान्तरे ॥ १५ ॥  
 आद्यस्य चक्रशङ्खौ द्वौ ध्येयावसद्योपरि ।  
 स्कन्धसूत्रसमस्थेन दक्षिणेन तु पाणिना ॥ १६ ॥  
 गृहीत्वा मुष्ठिबन्धेन विश्रान्ता पीठपृष्ठतः ।  
 ध्येया गदा द्वितीयस्य तथाभृते करे परे ॥ १७ ॥  
 संस्मरेद्वेतिराङ् दीप्ते लीलाक्षेपकरोद्यतम् ।  
 एवं प्रब्रुम्ननाथस्य व्यत्ययेन तु ते उभे ॥ १८ ॥  
 दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां श्रोत्रमण्डलसम्मुखौ ।  
 शङ्खपद्मौ चतुर्थस्य तथाकृष्टौ तु संस्मरेत् ॥ १९ ॥  
 किन्तु वै पङ्कजं नालमस्य वै पाणिपृष्ठगम् ।  
 हकारं च सकारस्थं कृत्वा षोढा निवेश्य च ॥ २० ॥  
 द्वितीयतुर्यष्ठाष्टद्विषट्कदशकैः क्रमात् ।  
 स्वरैर्नियोजयेद् विद्वि हृदयान्नेत्रपरिच्चमान् ॥ २१ ॥

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तरीत्या सकारस्य सङ्कृष्टेण बीजत्वाद् जीवबीजत्वव्यवहारः । जीवाधिष्ठातृत्वात् सङ्कृष्टेण स्य जीवव्यवहारः “वासुदेवात् सङ्कृष्टेणो नाम जीवो जायते” ( २१२३९ श्रीभाष्ये ) इत्यत्र प्रसिद्धः । तथा च श्रीमद्भाष्ये—

“अत्र जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कृष्टेण प्रब्रुम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्” ( २१२४१ ) इति ॥ १०-१४ ॥

वासुदेवादिमूर्तिध्यानप्रकारमाह—द्विभुजा इत्यारभ्य पाणिपृष्ठगमित्यन्तम् ॥ १४-२० ॥

अथ वासुदेवादीनां चतुर्णामिषि साधारणानि हृदयाङ्गमन्त्रबीजान्याह—हकारमिति द्वाभ्याम् । हकारं सकारस्थं कृत्वा षोढा विलिख्य द्वितीयतुर्यष्ठाष्टद्विषट्कदशकैः स्वरैः, आकारेण ईकारेण ऊकारेण ऋकारेण ‘ऐकारेण लृकारेण च क्रमेण योजयेत् । तथा च—हृसां हृसीं हृसूं हृसृं हृसैं हृलृं इति बीजषट्कं भवति ।

१. दीप्त-बक० बख० अ० उ० । २. इवो-मु० बक० बख० अ० उ० । ३. षट्क-द्वादशकैः-अ० उ० । ४. रं नि-बक० । ५. द्यन्तेऽव-अ० । ६. ‘ऐकारेण’ नास्ति-अ० ।

चातुरात्मीयमन्त्राणां साधनत्वेन सर्वदा ।  
 त्रिधा हकारं कृत्वादौ जीवबीजं तथैव चै ॥ २२ ॥  
 ककारं च क्षकारं च लिखेत् तद्वत् त्रिधा त्रिधा ।  
 द्विषट्कमेव बीजानां क्रमादादौ निवेश्य च ॥ २३ ॥  
 ततो वायुधरावारिसंज्ञं यच्चाक्षरत्रयम् ।  
 पौनःपुन्येन सर्वेषामधोभागे नियोजयेत् ॥ २४ ॥

एतद् हृदादिनेत्रमन्त्रषट्<sup>३</sup>के क्रमाद् योजयेत् । एवं कवचमन्त्रादिबीजत्रयेष्टमदादश-  
 दशमस्वराणां संयोजनं कवचित्कम्, न सार्वत्रिकम् । यतोऽत्रैव नृसिंहकल्पे—  
 द्वितीयतुर्यषष्ठैश्च द्वादशेनान्तिमेन च ।

चतुर्दशेनाराद्वर्गात् क्रमादै विनियोजयेत् ॥ (१७।९.)

इति कवचादिबीजत्रयस्य स्वरान्तसंयोजनमपि वक्ष्यति ॥२०-२२॥

अथ केशवादीनां द्वादशबीजान्त्याह—त्रिधेति सार्वेस्त्रिभिः । आदौ त्रिधा  
 त्रिवारं हकारं विलिख्य, तथैव जीवबीजं सकारं विलिख्य, ककारं क्षकारं तद्वत् त्रिधा  
 विलिखेत् । एवं बीजानां द्विषट्कमादौ निवेश्य वायुधरावारिसंज्ञं यदक्षरत्रयं यकार-  
 लकारवकारत्रयम्, सर्वेषां पूर्वं विलिखितद्वादशबीजानामधोभागे पौनःपुन्येन योजयेत् ।  
 सर्वे षष्ठस्वराहुषा उकारान्विताः, अनुस्वारविभूषिता बिन्दुयुक्ताः केशवादिबीजा  
 ज्ञेयाः । तथा चैवं प्रयोगः—हृष्टं हृलूं हृवूं स्यूं स्लूं स्वूं कृष्टं कृलूं कृवूं क्ष्यूं क्ष्यलूं क्ष्यूं इति ।  
 अथमेवार्थः पारमेश्वरेऽपि सुस्पष्टमुपबृहितश्चतुविशेषाद्याये—

क्रमशः केशवादीनां मन्त्राणां लक्षणं शृणु ।  
 नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ॥  
 त्रिधैकं क्रमात् कृत्वा बीजद्वादशकं यथा ।  
 पौनःपुन्येन सर्वेषां यलवान् योजयेदधः ॥  
 नाभिषष्ठासैनोर्धर्वस्थानं छ्वयेद् बिन्दुनोपरि ।  
 तारादिहृदयान्तानि संज्ञाभिस्तुर्यया सह ॥  
 केशवः प्रथमो वाच्यस्ततो नारायणः परः ।  
 माधवश्चैव गोविन्दो विष्णुश्च मधुसूदनः ॥  
 त्रिविक्रमो वामनाख्यः श्रीधरः पद्मलोचनः ।  
 हृषीकेशः पद्मनाभो दामोदर इति श्रुतः ॥  
 बीजैर्दर्घस्वरोपेतैः प्राग्वदञ्जानि कल्पयेत् । इति ।

( पा० सं० २४।७७-८२ )

१. हि—उ० । २. क्रमेणा—उ० । ३. षट्क—अ० । ४. तुरीय—अ० । ५. षष्ठस्वरो—म० ।  
 ६. न्यञ्ज—अ० म० । ७. दिव्य—अ० म० ।

सर्वे षष्ठस्वरगुडा अनुस्वारविभूषिताः ।  
 बोद्धव्याः केशवादीनां बीजास्त्वेते पृथक् पृथक् ॥ २५ ॥  
 क्षेसहत्रितयं ह्येतच्चतुर्धा विलिखेत् क्रमात् ।  
 ततो द्विषट्कं बीजानां तस्याधो विनिवेश्य च ॥ २६ ॥  
 क्रमेण सप्तमाद् वर्गाद् द्वितीयं च चतुर्थकम् ।  
 पुनस्तृतीयं तुर्यं च द्वितीयं च तृतीयकम् ॥ २७ ॥  
 द्वितीयं च चतुर्थं च चतुर्थं तदनन्तरम् ।  
 तृतीयमष्टमान्त्याथ तृतीयं सप्तमात् पुनः ॥ २८ ॥  
 नवमद्वादशाभ्यां तु विशेषमिममाचरेत् ।  
 अथो नियोजयेद् रेफं तत्रयाणां तु मूर्धनि ॥ २९ ॥  
 षट्सप्तमाष्टसंज्ञानामीकारमुपरि न्यसेत् ।  
 सानुस्वारं च सर्वेषामिति देवीगणस्य च ॥ ३० ॥

अत्र नेमौ नवमं हकारमित्यर्थः । अष्टमं सकारम् । अराद्यं ककारम् । मातृकान्तिमं क्षकारमित्यर्थः । नाभिषष्ठासनोर्ध्वस्थानि ऊकारान्वितानीत्यर्थः । हृदयान्तानि नमः-पदान्तानीत्यर्थः । एवं च सात्वतोक्तं पारमेश्वरोक्तं चैककण्ठयम् । पारमेश्वरे व्याख्याने तु—सं हं कं क्षं सं हं कं क्षं सं हं कं क्षं इति केशवादिबीजानि लिखितानि । तान्य-पहास्यानि, यतो हकारात् पूर्वं सकारलेखनं हकारादीनां प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा लेखनं विना परस्परवर्णव्यवहितलेखनं बीजैकदेशमात्रमपि लेखनं चोन्मत्तकार्यम् ॥२२-२५॥

ततः केशवादिदेवीनां बीजद्वादशकमाह—क्षेसहत्रितयमित्यादिभिः । क्षेसहत्रियं क्षकारसकारहकारत्रयमपि क्रमेण चतुर्धा चतुर्वारं विलिखेत् । एवं कृते बीजानां द्विषट्कं भवति । तेषां बीजानामधस्तात् क्रमेण सप्तमाद्विगदि यरलवात्मकाद् द्वितीयं रेफम्, चतुर्थकं वकारम्, तृतीयं लकारम्, तुर्यं वकारम्, द्वितीयं रेफम्, तृतीयकं लकारम्, द्वितीयं रेफम्, चतुर्थं वकारम्, पुनश्चतुर्थं वकारम् । अष्टमात् शकारादिवर्णात्मकाद् वर्गात् तृतीयं सकारम् । सप्तमात् पूर्वोक्ताद् वर्गात् तृतीयं लकारं पुनरित्यनेन पुनश्च लकारमेव नियोजयेत् । नवमद्वादशाभ्यां बीजाभ्यामधो रेफं नियोजयेत् । षट्सप्तमाष्टसंज्ञानां बीजानां तु मूर्धनि रेफं नियोजयेत् । अयमेव विशेषः । सर्वेषां द्वादशबीजानामप्युपरि सानुस्वारम् ईकारं न्यसेत् । एवं बीजद्वादशकमुक्तं भवति । एषां

१. क्षहस—मु० । २. मष्टमं चा—मु० अटी० बक० बख० । ३. मिममास च—मु० अटी० । ४. मिकार—मु० अटी०, मौकार—अ० ।

बीजद्वादशकं प्रोक्तं यथा चानुक्रमेण तु ।  
 श्रीश्च वागीश्वरी कानितः क्रिया शक्तिविभूतयः ॥ ३१ ॥  
 इच्छा प्रीति रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च ।  
 समुद्रमूर्तये स्वाहा पद्मस्य प्रणवादिकः<sup>१</sup> ॥ ३२ ॥  
 सर्वान्तश्चारिणे कृत्वा ततो गगनमूर्तये ।  
 स्वाहान्तः प्रणवाद्यैश्च मन्त्रः शङ्खस्य कीर्तिः ॥ ३३ ॥  
 अँ कारो वेदमात्रेऽथ विद्ये स्वाहा पदं तु वै ।  
 गदामन्त्रस्त्वयं प्रोक्तश्चक्रस्याथ निगद्यते ॥ ३४ ॥  
 अँकारान्ते पदं दद्यात् पञ्चाणीं प्रभविष्णवे ।  
<sup>२</sup>तदन्ते कालशब्दं तु मूर्तये हुँ ततस्तु फट् ॥ ३५ ॥

बीजानां क्रमेण वाच्याः श्रीवागीश्वर्यादयः । अयमेवार्थः सुव्यक्तमुपबृहितः पारमेश्वरेऽपि—

तेषां श्रियादिकान्तानां शृणु मन्त्राननुक्रमात् ॥  
 मातृकान्त्यत्रयं<sup>३</sup> क्षाद्यं चतुर्धा प्रस्तरेत् पुरा ।  
 द्विष्टसु योज्यान्यर्णानि त्वधोभागे यथाक्रमम् ॥  
 अग्न्यम्बुपृथिवीवारिवह्निभूज्वलनाः क्रमात् ।  
 वारिद्वयं च सोमं च पार्थिवद्वितयं ततः ॥  
 योजयेदनलं वर्गं षट्सप्ताष्टमु मूर्धनि ।  
<sup>४</sup>अथो नवद्वादशयोः सर्वेषां चोर्धवतः पुनः ॥  
 स्वरशक्त्या समेतेन नाभ्यन्ताद्येन भूषयेत् ।  
 स्वरजात्यादियुक्तानि बीजानि सुहृदादयः ॥ (२१८२-८६)इति ।

तथा चात्रैवं प्रयोगः—क्षीं स्वीं हूलीं क्षीं स्वीं हूलीं क्षीं स्वीं हूलीं क्षीं स्वीं स्लीं हूलीं इति ॥ २६-३२॥

अथ पद्मशङ्खगदाचक्राणां मन्त्रचतुष्टयमाह—समुद्रमूर्तय इत्यादिभिः । तथा चात्रैवं प्रयोगः—अँ समुद्रमूर्तये स्वाहा, अँ सर्वान्तश्चारिणे गगनमूर्तये स्वाहा, अँ वेदमात्रे विद्यार्थं स्वाहा, अँ प्रभविष्णवे कालमूर्तये हुं फट् इति । अत्र समुद्रस्य पद्माधिष्ठानं नास्ति—मु० अटी० बक० बख० अ० ।

१. दिकाः—अटी०, कम्—अ० । २. वान्त—मु० अटी० बक० बख० अ० ।
३. पद्मशङ्खचतुष्टयं नास्ति—मु० अटी० । ४. वाच्यम्—अ० । ५. कान्तं क्षयं—अ० म० ।
६. विष्ववसु—मु० । ७. अधो—मु० । ८. हृदयादयः—मु० ।

पद्मादीनां चतुर्णीं तु एतन्मन्त्रचतुष्टयम् ।  
 सामान्या सर्वमन्त्राणामेका मुद्राङ्गलिः कृता ॥ ३६ ॥  
 स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण संयुक्तानां प्रयोजयेत् ।  
 शिलष्टौ विकसितौ हस्तौ योज्यौ चामणिबन्धनात् ॥ ३७ ॥  
 तद्वाहुकूर्परौ द्वौ च नामौ संरोध्य दण्डवत् ।  
 इष्टैवै डोलयेत् पश्यादथै ऊर्ध्वे च तौ करौ ॥ ३८ ॥  
 गुप्तिं कृत्वा तु योज्यैषा मुद्राऽराधनकर्मणि ।  
 आसाद्य प्राक्षिस्थतामर्ची स्वयं वा समपृष्ठताम् ॥ ३९ ॥  
 सर्वलक्षणसम्पन्नां यस्यां चेतः प्रसीदति ।  
 हेमादिनिमितं कुर्यात् पीठं वा लक्षणान्वितम् ॥ ४० ॥

षातृत्वात्, गगनस्य शङ्खाधिष्ठातृत्वात्, सरस्वत्या गदाधिष्ठातृत्वात्, कालस्य चक्राधिष्ठातृत्वाच्च समुद्रमूर्तीदिशब्दैः पद्मादीन्युक्तानीति बोध्यम् ।

समुद्रादीनां पद्माद्यधिष्ठातृत्वं त्रयोदशपरिच्छेदे वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् । इदं पद्मादिमन्त्रचतुष्टयं वासुदेवादिव्यूहार्चने केशवादिव्यूहान्तराचर्ने<sup>१०</sup> च कार्यम् । विभवार्चने तु प्रकारान्तरेण वक्ष्यमाणायुधमन्त्रा ग्राह्याः । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते नारायणमूर्त्यर्चनप्रकरणादिदमेव पद्मादिमन्त्रचतुष्टयं प्रतिपादितम् ॥ ३२-३६ ॥

अथ सर्वमन्त्रसाधारणाङ्गलिमुद्रामाह—सामान्येति । गद्यप्येवमञ्जलिमुद्राया एव सर्वसाधारणत्वोक्त्या सर्वत्रेयमेव प्रयोक्तव्या, तयाप्यत्रैव कतिपयमुद्राविशेषाणां नृसिंहकल्पादिषु वक्ष्यमाणत्वात् तदनुरोधे(च? न) सात्वतोपबृहणे ऐश्वरतन्त्रे<sup>११</sup> च केषाङ्गिच्चन्मुद्राविशेषाणां प्रदर्शितत्वाच्च तद्वयतिरिक्तानां केवलमञ्जलिमुद्रैव प्रदर्शनीयेति बोध्यम् ॥ ३६-३७ ॥

आराधनकाले प्रयोज्यां मुद्रामाह—शिलष्टाविति द्वाभ्याम् । स्वहस्तौ परस्परं संशिलष्टौ विकसितौ च<sup>१२</sup> कृत्वा तद्वाहुकूर्परौ द्वौ मणिबन्धपर्यन्तं निरन्तरं संयोज्य दण्डवत् स्वनामौ संरोध्य हस्तौ अ(थ?ध) ऊर्ध्वं च किञ्चिच्चालयेत् । एषा मुद्रा गुप्ति कृत्वा योज्या, गोप्येत्यर्थः ॥ ३७-३९ ॥

<sup>१३</sup>व्रताराधनार्थं स्वयंव्यक्तान्यतमविम्बं सलक्षणं सुप्रतिष्ठितं बिम्बं वा स्वेच्छानुसारेण प्राप्यमित्याह—आसाद्येति ॥ ३९-४० ॥

१. णमिष्ये—अ०, णीं त्वप्ये—उ० । २. स्मृता—अ० उ० । ३. कासि—म० । ४. कौ सरौ—म०, कौपरौ—अ०, कौपरि—उ० । ५. दध—म० अटी० अ० उ० । ६. तु—बक० बख० अ० उ० । ७. गुप्तिः—म० अटी० । ८. गाम—अटी० । ९. सम्पूर्णी—बक० बख० अ० उ० । १०. न्तरेऽर्चनाच्च—अ० । ११. चतुर्मिश्रोऽध्याये । १२. 'च' नास्ति—म० । १३. वृथा—अ०, वृता—म० । १४. न्तादन्य—म० ।

शमं त्रिभागन्यूनं वा द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ।  
 चतुरश्रं चतुष्पादं विस्तरार्थेन चोन्नतम् ॥ ४१ ॥  
 तृतीयं भागमादाय विस्तराच्च स्वँकं स्वकम् ।  
 तेन तन्मध्यगं कुर्यात् कमलं लक्षणान्वितम् ॥ ४२ ॥  
 द्विषट्कारं तु तद्वाहे चक्रं सर्वाङ्गाच्चिह्नितम् ।  
 सिद्धामरनरादीनां हृदयस्थाऽक्षैयाऽच्युती ॥ ४३ ॥  
 मृदूच्चचरणाक्रान्तिनिर्मुक्ताऽकृतिलक्षणा ।  
 पांदाम्बुरुहमुद्राऽथ कार्या वै कर्णिकोदरे ॥ ४४ ॥  
 सम्पाद्य चैवमाधारं पीठं वाञ्चान्वितं स्मरेत् ।  
 पादाब्जमुद्रारहितं कुण्डं तदनु कल्पयेत् ॥ ४५ ॥  
 कुल्लपद्मसमाकारमोष्ठयोनिसमन्वितम् ।  
 चलमेकदिशस्थं वा ततो नियममाचरेत् ॥ ४६ ॥

विम्बं विनाऽर्चनार्थं केवलपीठं वा कुर्यादिति तल्लक्षणमाह—हेमादिनिर्मित-मित्यादिभिः । शमं चतुरङ्गुलविस्तृतमित्यर्थः । “शमः स्याच्चतुरङ्गुलः” (३।१५२) इति वैजयन्ती । सममिति पाठे समं निम्नोन्नतत्वरहितमित्यर्थः । १ यद्वा आयामविस्तराभ्यां सममित्यर्थः । त्रिभागन्यूनं वा अष्टाङ्गुलं वेत्यर्थः । द्वादशाङ्गुलस्य त्रिष्वेकभागराहित्येष्टाङ्गुलं भवति । एवमुक्तं १० द्वितीयपरिच्छेदेऽपि—“मृक्ताठो११पलधातृत्थमेकद्वित्रिशमं तु वा” (२।४७) इति । द्विषट्कारं द्वादशारमित्यर्थः । सिद्धामरनरादीनां हृदयस्था, तेषां ध्यानविषयीभूतेत्यर्थः । अक्षया॑ अन्तरहिता, आच्युती भगवदीया, चरणाक्रान्ति-निर्मुक्ताकृतिलक्षणा चरणयोराक्रान्तिराक्रमणं ३४८न्यास इति यावत्, तेन निर्मुक्ताया आकृतिस्तल्लक्षणा, तथेत्यर्थः । भगवत्पादपद्मस्यातिकोमलत्वेऽपि तत्सुखस्पर्शपीठ-पद्मस्य ततोऽप्यतिशयितमृदुत्वात् तदुपरि पादलाङ्घनं स्फुटीभवतीति ज्ञेयम् । पादाम्बु-रहमुद्रा पद्मसदृशश्रीपादद्वन्द्वलाङ्घनमित्यर्थः ॥४०-४५॥

कुण्डलक्षणमाह—पादाब्जेति सपादेन । कुण्डस्य पादाब्जमुद्रारहितत्वोक्त्या केवलसच्चक्रपद्मालाङ्घनं कुण्डमध्येऽपि कार्यमित्युक्तं भवति । पादाब्जमुद्रारहितमित्यस्य

१. समं-मू०, सम०-बख० अ० उ० । २. गं-बक० बख० अ० उ० । ३. स्तारा-बख० अ० उ० । ४. स्वरं-मू० अटी० । ५. क्षराच्युति-मू० अटी० । ६. कान्ति-मू० अटी० । ७. पदा-बक० बख० । ८. यतः-अ० । ९. झमि-अ० । १०. तृतीय-अ० । ११. षोपलया-म० । १२. अन्तरहिता-अ०, अन्तरहिता-म० । १३. पाद-म० ।

संवत्सरस्य पूजार्थं विभोवै द्वादशात्मनः ।  
 मार्गशीर्षात् समारभ्य मासाद्वै कौमुदान्तिम् ॥ ४७ ॥  
 मासेशमन्त्रसंजप्तं युक्तं हेमेकुशाम्बुना ।  
 दशम्यां पञ्चगच्यं च पिवेत् सम्पूज्य केशवम् ॥ ४८ ॥  
 तन्निवेदितमन्नं च प्राग्भुक्त्वा तु घृतादिकम् ।  
 नातीव तृप्तिजनकं दन्तकाष्ठमथाचरेत् ॥ ४९ ॥  
 शयनं मन्त्रतोयेन प्रोक्षयेत् सकुशं ततः ।  
 शयनस्थो जपेन्मन्त्रं शतमष्टाधिकं तु वै ॥ ५० ॥  
 एकादश्यां प्रभातेऽथ मध्याह्ने वै दिनक्षये ।  
 केशवाय नमस्कुर्याद् बहुशः प्रणवादिकम् ॥ ५१ ॥  
 तस्य वै पूजनं भक्त्या कर्यात् कालत्रयं तु वै ।  
 सर्वगं परमं ज्योतिरमूर्तममलं हि यत् ॥ ५२ ॥  
 स एव वासुदेवेति मत्वा सम्यग् यजेत् ततः ।  
 चेतसामृतसंकाशैः पुण्याद्यैरखिलैः प्रभुम् ॥ ५३ ॥

पूर्वैवान्वये पीठलक्षणस्यैव पक्षान्तरमुक्तं भवति । ओष्ठयोनिसमन्वितमित्यत्र तल्लक्षणं कुण्डलक्षणप्रकरणे वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् । चलं जङ्गमरूपमित्यर्थः । एकदिशिस्थं स्थावरमित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—“तस्मात् कुण्डं सदा कार्यं सौत्रं वा जङ्गमं स्थिरम्” (७।३) इति । व्रताचरणमाह—तत इति सपादेन । द्वादशात्मनः केशवादिरूपस्येत्यर्थः ॥४५—४७॥

मार्गशीर्षशुक्लदशम्यां रात्रौ कर्तव्यक्रममाह—मासेति सार्धत्रिभिः । मासेशमन्त्रसंजप्तम् प्रकृतमासेशाः केशवः, तन्मन्त्राभिमन्त्रितमित्यर्थः ॥४७-५०॥

एकादश्यां केशवस्य कालत्रयस्याचनमाह—एकादश्यामिति सार्धेन । केशवाय नमस्कुर्याद् बहुशः प्रणवादिकमित्यन्तेन ॐ केशवाय नम इति मन्त्रमसकुञ्जपेदित्युक्तं भवति ॥५१-५२॥

अथ परात्परवासुदेवस्य मानसाच्चनपूर्वकं मूर्तिध्यानम्, तस्माद्वासुदेवादिव्यूहोत्पत्तिकथैतम्, तेभ्यः केशवादीनामुत्पत्तिभावनां चाह—सर्वगं परमं ज्योतिरित्या�-

१. कम्—बक० बल० अ० उ० । २. होम—मु० अटी० । ३. दिवस—अ०, वा दिवा—उ० ।  
 ४. वश्च त्विति मत्वा यजेत् ततः—अ० उ० । ५. चिन्तनम्—म० ।

पश्चात् तममलं धाम ध्यायेन्मुक्तमनश्वरम् ।  
 श्रोणीतटार्पितकरं सानुकम्पमैनूपमम् ॥ ५४ ॥  
 दक्षिणेन तु हस्तेन भक्तानामभयप्रदम् ।  
 पुष्पाभरणवस्त्राढ्यं शङ्खचक्रद्वयान्वितम् ॥ ५५ ॥  
 ततस्तस्मात् वै धाम्नो युगपनिस्सृतं स्मरेत् ।  
 महत्स्फुलिङ्गसंकाशं महस्तु सततोदितम् ॥ ५६ ॥  
 तेन चाक्रमरावृन्दं समाक्रान्तं च भावयेत् ।  
 अथ प्रत्येकतेजोऽशादुद्भूतं भावयेत् क्रमात् ॥ ५७ ॥  
 त्रयं त्रयं सिर्तांश्च केशवाद्यं चतुर्भुजम् ।  
 दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां पृष्ठतः केशवादिषु ॥ ५८ ॥

दिभिः । अँत्र त्रयं त्रयं सिताद्यमित्यनेन केशवादित्रिकस्य वासुदेववत् सितवर्णत्वं गोविन्दादित्रिकस्य संकर्षणवद्रक्तवर्णत्वं चोक्तं भवति । तथा च पौष्करे पञ्चर्त्रिशेऽध्याये—

मूर्ति॑त्रयमिदं दिव्यं कुन्देनुरुप्टिकप्रभम् ।  
 भगवद्वासुदेवेन सहास्य चतुरात्मैता ॥……  
 त्रयमेवं हि देवानां सह वै ज्ञानमूर्तिनां० ।  
 चातुरात्म्यद्वितीयं१ तु पद्मरागोज्ज्वलद्वृति ॥  
 मूर्तित्रितयमेतद् वै संहैज्ज्वलमिना द्विज ।  
 हेमधामप्रभं ज्ञेयं चातुरात्म्यतया स्थितम् ॥……  
 अतसीपुष्पसंकाशमिदं मूर्तिगणं स्मृतम् ।  
 सहानिरुद्धदेवेन अस्यापि चतुरात्मता ॥ इति ।  
 ( ३६१५०, १५६, १६२, १६८ )

पारमेश्वरे तु सुदर्शननारार्चिंहयन्त्रप्रकरणे ( २३७२-७८ ) पौष्करोक्तक्रमं विहाया-हिर्वृद्ध्यसंहि(तायामु?तो)करीत्या केशवादीनां वर्णभेदा उक्ताः । तत्रापि तथा ध्यानं यन्त्रमात्रविषयम् । अन्यत्र पौष्करोक्तध्यानमेव सार्वत्रिकं ग्राह्यम्, पौष्करोपबृहणत्वात् ॥५२-५८॥

१. न्मूर्ति-अ०, न्मूर्ति महेश्वरम्-उ० । २. वनो-उ० । ३. समूहं-बक० बख० अ० उ० ।
४. सिताद्य-मु० बक० बख० । ५. अथ-अ० । ६. मुद्रिते पुस्तके पट्टिशेऽध्याये दृश्यन्ते इमे श्लोकाः । ७. मूर्धन-अ० । ८. दिव्य-अ० । ९. त्वना-अ० मु० । १०. मूर्तिनाम्-अ० मु० ।
११. रात्म्याद् द्वितीयां तु पद्मरागोत्पलद्वृतिम्-मु० । १२. सह च स्वामिना-मु० ।

युग्मं युग्मं परिज्ञेयं क्रमेणोर्ध्वगतं त्विर्दम् ।  
 शङ्खचक्रकजं विद्यां साथ शङ्खोऽथैँ हेतिराह् ॥ ६९ ॥  
 तंच्छङ्खं सकजं विद्याऽशङ्खं चक्रं गदा त्वरिं ।  
 गदा चक्रं कजं पद्मं चक्रं शङ्खं ततो गदा ॥ ६० ॥  
 तद्वद् भूयोऽग्रसंस्थाभ्यामधरस्थं द्वयं द्वयम् ।  
 ज्ञेयं दामोदरान्तानां द्वादशानामिदं शृणु ॥ ६१ ॥  
 पद्मं गदा ध्वनिश्चक्रं तंतपद्मं हेतिराह् ध्वनिः ।  
 विद्यां चक्रं च तद्विद्यात् पद्मं शङ्खं च साऽम्बुजम् ॥ ६२ ॥

केशवादीनां पश्चात्करद्वयस्थितलाङ्घनक्रममाह—दक्षिणोत्तरेति सार्थ-  
 द्वाभ्याम् । कजं पद्ममित्यर्थः । विद्या गदेत्यर्थः । तद् अम्बुजं सशङ्खमित्यर्थः । विद्या-  
 शङ्खमित्यत्र विद्याऽशङ्खमिति पदच्छेदः । अशङ्खं चक्रमित्यर्थः । यतोऽन्यथा त्रिवि-  
 क्रमस्य शङ्खद्वयसाधारणं भवति । ननु किं तावता प्रत्यवाय इति चेन्न, प्रत्येकमायुध-  
 चतुष्टयधारणनियमात् । विद्या चक्रमिति पाठश्चेदेवं क्लिष्टकल्पनश्रम एवं नास्ति ।  
 अरि चक्रमित्यर्थः ॥ ५८-६० ॥

अथ मुख्यहस्तद्वयस्थितायुधक्रममाह—तद्विति सार्धद्वाभ्याम् । ध्वनिः शङ्ख-  
 मित्यर्थः । तत् चक्रमित्यर्थः । पुनः तच्चक्रमित्यर्थः । स शङ्खं इत्यर्थः । पुनः स शङ्खं  
 इत्यर्थः । एवं च पद्मगदाशङ्खचक्रां<sup>१</sup>ख्यायुधै<sup>२</sup>चतुष्टयधारणं केशवादिद्वादशमूर्तीनामपि  
 समानम्, किन्तु हस्तभेदैस्तद्वारणमेव तत्तन्मूर्तेर्विशेषः । स च तन्त्रभेदेन नैकरूपः ।  
 वस्तुतस्तु पाद्मोक्त एव प्रायेणैतदेककण्ठो भवति । तथाहि—

केशवस्याम्बुजं शङ्खं चक्रं दण्डस्तथा<sup>३</sup>युधम् ।  
 प्रादक्षिण्येन बाहूनामन्येषामुच्यते क्रमात् ॥  
 नारायणः शङ्खपद्मगदाचक्रधरः स्मृतः ।  
 माधवो गदया सार्धं शङ्खचक्राम्बुजायुधः ॥  
 गोविन्दश्चक्रदण्डाब्जशङ्खायुधधरो भवेत् ।  
 विष्णुर्गदाब्जशङ्खारिधरः स्यान्मधुसूक्ष्मनः ॥  
 चक्रशङ्खाब्जदण्डास्त्रधरः कार्यस्त्रिविक्रमः ।  
 पद्मशङ्खारिदण्डास्त्रो वामनः शङ्खचक्रधृत् ॥

१. च तम्-मु० अटी०, च तत्-उ० । २. विद्यात्-इति सार्वत्रिकः पाठः ।  
 ३. गदाम्बुजम्-वक० बख० अ० उ० । ४. पद्मक्षिपञ्चकं नास्ति-मु० अटी० ।  
 ५. त्वरिम्-बक० बख० उ० । ६. तं पद्मं-बक० । ७. गदा-बक० । ८. पद्मः शङ्खश्च-  
 मु० अटी० । ९. सोऽम्बुजम्-इति सार्वत्रिकः पाठः । १०. 'एव नास्ति' पुन सशङ्खं इत्यर्थः'  
 नास्ति-म० । ११. चक्राद्या-अ० । १२. 'चतुष्टय' नास्ति-अ० । १३. स्तदा-म० ।

पद्मध्वनिगदाशङ्काः सविद्याम्बुरुहं त्वरि ।  
भूयो धामगणात् तस्मात् संस्मरेन्निस्मृतं मँहः ॥ ६३ ॥

गदाबजपाणिश्च तथा श्रीधरो धृतवारिजः ।  
साधं चक्रगदाशङ्को हृषीकेशमतः शृणु ॥  
गदाचक्राब्जशङ्कास्त्रधरो दामोदरः स्मृतः ।  
अब्जशङ्कगदाचक्रधरा द्वादश मूर्तयः ॥ इति ।

अत्र त्रिविक्रमपद्मनाभोक्तलक्षणं विनाड्यत् सर्वमेकरूपं ज्ञेयम् ।

नन्वेतदुक्तं नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणमूर्तौ न लक्ष्यत इति  
चेत्, सत्यम् । न तावता प्रत्यवायोऽस्ति, स्वयंव्यक्तस्य निरङ्गुत्वात् । ननु स च नारा-  
यणमूर्तिरेवेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, अस्ति पौराणिकी प्रसिद्धिः । न च पौराणिक-  
नारायणशब्दस्य व्यापकत्वान्न मूर्तिनिर्णयिकत्वमिति वाच्यम्,

केशवः केशिहा लोके कुरुक्षेत्रादिषु स्थितः ।  
नारायणो मुनिश्रेष्ठाः स्थितो नारायणाचले ॥

(पौ० सं० ३६।३०६; ई० सं० २०।२१-२२)

इति पौष्टरेश्वरयोमूर्तिविशेषनियतशब्देनैव व्यक्तोक्तेः । किञ्च, पौष्टरोक्तं नारायण-  
मूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणे लक्ष्यत एव । तथाहि—

सव्यापसव्यहस्ताभ्यां मुखाभ्यां तु गदाम्बुजे ।  
वामादौ शङ्कचक्रौ तु संधते पश्चिमद्वये ।  
नारायणाख्यो भगवान् (पौ० सं० ३६।१४७-१४८) इति ।

ननु तत्र मुख्यदक्षिणहस्तेऽम्बुजमपि न लक्ष्यत इति चेत्, अस्ति सूक्ष्मरेखारूपं  
कमलं तत्रोति संतोष्टव्यमायुष्मता । वक्ष्यति हि द्वादशो परिच्छेदे—

यस्मात् कार्यवशेनैव मूर्तीनामपि पाणिगाः ।  
चतुःपद्मादयो मूर्ता मूर्ता: शान्तास्तथोद्यताः ॥ (१२।१४५) इति ।  
नास्त्रैर्वस्त्रैर्वर्जैर्येषां व्यक्तिर्वर्यक्ता जगत्त्रये ॥  
तेऽपि लाङ्घनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्गिगोचरे ।  
ललाटे चांसपटे तु पृष्ठपाणितलद्वये ॥  
तनुरुहद्वये<sup>९</sup> मूर्धिन कर्मिणां प्रतिपत्तये । (१२।१६८-१७०) इति ।

अत एवेश्वरनारायणाच्चनप्रकरणे पद्मन्यासादिकमप्युक्तम् । अलं प्रसङ्गेन ॥६१-६३॥

१. स्व-मू०, स्त्व-अटी० । २. बुद्ध्या-अ० । ३. हस्तवरी-मू०, हस्तवरि-अटी०  
बख० । ४. महत्-बक० बख० अ० उ० । ५. 'सत्यम्' नास्ति-अ० । ६. णिक-अ० ।  
७. चये-मू० ।

केशवादिविभागेन श्रियाद्यं च त्रयं त्रयम् ।  
 कमलादित्रयेणैव त्वन्योन्यत्वेन लाज्जिष्ठतम् ॥ ६४ ॥  
 बद्धपञ्चामनस्थं च दिवि॑ दिक्षु च समुखैः ।  
 संबीजयेत् तु विनयाच्चामरेण सितेन च ॥ ६५ ॥  
 देवीद्वादशकं चैव तासां रूपमथोच्यते ।  
 पूर्णचन्द्राननाः सर्वाः सर्वतुकुसुमान्विताः ॥ ६६ ॥  
 सर्वलक्षणसंम्पन्नाः सर्वाभरणभूषिताः ।  
 विंद्रुमाभं त्रयं त्वाद्यमपरं चम्पकप्रभम् ॥ ६७ ॥  
 श्रियङ्गुमञ्जरीश्यामं तृतीयं देवतात्रयम् ।  
 चतुर्थं त्रितयं ध्यायेऽजातीपुष्पसमप्रभम् ॥ ६८ ॥  
 आद्यायाः कमलं पाणावन्यस्यां हेतिराट् करे ।  
 शङ्खं ध्यायेत्तृतीयस्यामेवं ध्यायेत् त्रिषु त्रिषु ॥ ६९ ॥  
 चतुर्स्त्रिदेवतान्तानामेवमाद्यं त्रयं क्रमात् ।  
 समृत्वा सम्पूजनं कुर्याज्जागरेण समन्वितम् ॥ ७० ॥

अथ केशवादिपत्नीवर्गस्योत्पत्तिमाह—भूय इति । तस्माद्वामगणाद् वासुदेवादि-  
मूर्तिचतुष्टयादित्यर्थः । एवमेवोक्तं पाद्येऽपि—

सुदर्शनाद्यायुधानि किरीटादिविभूषणम् ।  
 मूर्त्याविभविसमये सहैवतानि जज्ञिरे ॥  
 देव्यः श्रियादयस्तत्तन्मूर्तिभेदसमाश्रिताः ।  
 श्रीवत्सादेव सकला जज्ञिरे दिव्यलाङ्घनात् ॥ इति ॥ ६३-६४ ॥  
 देवीद्वादशकं विशिनष्ट—कमला(दि?दी)ति सार्धेन ॥ ६४-६५ ॥

तद्वूपलाङ्घनादिक्रममाह—तासामित्यादिभिः । आद्यायाः श्रियः, अन्यस्यां  
वागीश्वर्यम्, तृतीयस्यां कान्त्याम्, त्रिषु त्रिषु क्रियादिकेच्छादित्रिके  
चेत्यर्थः । चतुर्स्त्रिदेवतान्तानां महिमान्तानामित्यर्थः । एवमाद्यं कमलादित्रयमेव पौनः-  
पुन्यैन ध्यायेदित्यर्थः ॥ ६६-७० ॥

१. दिशि—वक० वख० । २. संभवम्—उ० । ३. सम्पूर्णाः—अ० उ० । ४. विच्छु-
- दाम—अटी० । ५. पङ्क्तिचतुष्टयं नास्ति—उ० । ६. 'यस्या एवम्' इति सार्वात्रिकः पाठः ।
७. ध्यात्वा—अ० ।

स्तोत्रैः<sup>१</sup> कथानकैर्वैद्यैर्गीतकैः क्षपयेन्निशाम् ।  
 रात्रिक्षये ततः स्नायात् सिताम्बरधरः शुचिः ॥ ७१ ॥  
 मासेशमन्त्रसन्नद्वं कृत्वा देवं स्मरेत् तथा ।  
 पूजापनयनं कृत्वा स्नानकर्म समाचरेत् ॥ ७२ ॥  
 मध्यतः केशवस्यादौ केवलस्य महात्मनः ।  
 वासुदेवस्वरूपस्य चक्रस्थस्य त्वनन्तरम् ॥ ७३ ॥  
 प्रांगरेऽभिनिविष्टस्य संकलस्याव्ययस्य च ।  
 तदादिद्वादशानां च दद्यात् स्नानादिकं क्रमात् ॥ ७४ ॥  
 अम्बुना पञ्चगव्येन क्षीरेण तदनन्तरम् ।  
 दध्ना घृतेन मधुना सर्वौषधिजलेन च ॥ ७५ ॥

एवं ध्यानपूर्वकमेकादश्यां कालत्रयार्चनं कृत्वा जागरणं कुर्यादित्याह—  
 स्मृत्वेति ॥७०-७१॥

द्वादश्यां प्रातः स्वनित्यकर्मनिष्ठानपूर्वकं तन्मासेशकेशवध्यानं रात्रौ तदर्पित-  
 पूजाद्रव्यापनयनादिकं कृत्वाऽर्चनकाले वक्ष्यमाणं स्तर्पनं कुर्यादित्याह—रात्रिक्षय इति  
 सार्धेन ॥७१-७२॥

केशवादीनामर्चनस्थानान्याह—मध्यत इति द्वाभ्याम् । मध्यतः पीठमध्यस्थ-  
 कर्णिकामध्य इत्यर्थः । केवलस्येत्यनेनारस्थाने देव्या सहार्चनम् । अत्र तु केशवस्येति  
 ज्ञायते । वासुदेवस्वरूपस्येत्यनेन चक्राधिष्ठातुः कालस्यापि प्रागरे केशवेन सहार्चनं  
 ज्ञायते । तदादिद्वादशानां केशवादिद्वादशमूर्तीनामित्यर्थः ॥७३-७४॥

स्नपनद्रव्याण्याह—अम्बुनेति द्वाभ्याम् । अत्राम्बुना मध्यस्थकेशवस्य, पञ्च-  
 गव्येनारंस्थकेशवस्य, क्षीराद्येकादशकलशैर्नारायणादिदामोदरान्तानां च स्नपनमिति  
 ज्ञायते ।

नन्वीश्वरपारमेश्वरयोः—

अम्बुना पञ्चगव्येन क्षीरेण तदनन्तरम् ।  
 दध्ना घृतेन मधुना सर्वौषधिजलेन तु ॥  
 बीजाम्बुफलतोयेन गन्धपुष्पाम्बुना ततः ।  
 हेमरत्नोदकेनाथं पूरितं तु यथाक्रमम् ॥

१. स्तोत्रैस्तथा—मु० अटी० । २. मासेश—अ० । ३. केवल—मु० अटी० । ४. केशवस्य—  
 मु० अटी० । ५. पङ्क्तित्रयं नास्ति—अ० । ६. सकाल—बख० उ० । ७. तु—अ० उ० ।  
 ८. स्मरण—अ० । ९. ‘स्वरूप’ नास्ति—अ० । १०. न अरके—अ० ।

बीजाम्बुफलतोयेन गन्धपुष्पाम्बुना ततः ।  
हेमरत्नोदकेनाथ कुम्भस्थेन पृथक् पृथक् ॥ ७६ ॥

कलशानां द्विषट्कं यत् परमेतदुदाहृतम् ।  
( ई० सं० १५।७८-८०; पा० सं० १४।७९-८१ )

इतीदमेव स्नपनं द्वादशकलशात्मकत्वेन प्रतिपादितम्, इह भवता त्रयोदशकलशात्मकत्वेन व्याख्यातं कैथमेतदविरुद्धं भवतीति चेत्, सत्येऽम् । अविरोधं ब्रूमः—किमीश्वरपारमेश्वरयोरम्बुनेत्युक्तमात्रेण विरोधः ? तत्र यथा मूलमम्बुनेत्यादिप्रतिपादनेऽपि तन्न विवक्षितम्, कलशानां द्विषट्कमित्युक्तत्वात्; पञ्चगव्यादीन्येव विवक्षितानि । यथा पारमेश्वरे भोगयागप्रकरणे(५।१३०)“लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु”(१२।८१)इति जयाख्यवचने प्रतिपादितेऽपि तत्र लक्ष्मीनं विवक्षिता, हृन्मन्त्र एव विवक्षितः, तद्विद्वापि विवक्षाधीनं बोध्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते पञ्चगव्यादीन्येव प्रतिपादितानि ।

ननु च किमेतावता प्रयासेन, मध्यस्थकेशवस्याप्यभिषेकसिद्ध्यर्थं खलु भवता त्रयोदशकलशात्मकत्वमङ्गीक्रियते, तथा त्रयोदशकलशात्मकत्वं ममापीष्टमेव । अपि तु मध्यस्थितकेशवस्यास्थितकेशवस्य चैकदेवतात्वादम्बुनैव पृथक् कलशाभिषेकः, नारायणादीनां तु पञ्चगव्यादिभिरिति ज्ञेयम् । एवं चात्र त्रयोदशकलशात्मकमेव स्नपनम् । तत्र तु अम्बुना कलशद्वयपूरणस्याप्रकृतत्वाद् द्वादशकलशात्मकत्वेनैव प्रतिपादितत्वाच्चाम्बुनैकं एव कलशः पूर्यः । तथा चाम्बुनेति पदस्यापि सार्थकं भवतीति चेन्न, अम्बुनैव कलशद्वयपूरणे पञ्चगव्यादिद्वादशद्रव्येष्वेकतमस्य गत्यभावात् । नै च गन्धपुष्पाम्बुनेत्यत्रैकवचनाद् गन्धसहितपुष्पोदकमेवार्थः, न तु द्रव्यद्वयेऽम् । अतः पञ्चगव्यादीन्येकादशैवेति वाच्यम्, हेमरत्नोदकेनेत्यत्राप्येकवचनेन विनिगमनाविरहात् पञ्चविशतिकलशस्नपनप्रकरणे गन्धपुष्पोदकयोर्हेमरत्नोदकयोश्च पार्थक्येनोक्तत्वाच्च ।

नन्वम्बुना पञ्चगव्येनेत्याद्युक्तद्रव्येष्वेकं परित्यज्य पञ्चगव्यादीनामेव ग्रहण-मनुचितमिति चेन्न, श्रीसात्वतषष्ठपरिच्छेदोक्तपञ्चविशतिकलशस्नपने क्षीरादीनि परित्यज्य धात्रीफलोदकादिभिरेव द्वादशकलशस्नपनमीश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितं यथा समुचितं भवति, तद्विदिमपि बोध्यम् ।

ननु च तत्र निर्विवादं द्वादशैव द्रव्याणि प्रतिपादितानि, अत्र तु त्रयोदशद्रव्याणामप्युक्तत्वात् तन्मध्ये किं त्याज्यम्, कानि ग्राह्याणि, तत्र किं विनिगमकमिति चेदुच्यते, मध्यस्थितैस्य केशवस्याभिषेकार्थं यदुक्तं तत् त्याज्यम्, अरस्थकेशवादिकमेण यान्युक्तानि, तानि द्वादशद्रव्याण्यपि ग्राह्याणि । केशवादिकमेणोक्तानां द्रव्याणां मध्ये

१. तम्। कथमेतदुदाहृतमिति । अवि—अ० । २. मपि विरोधं—अ० । ३. ‘न च’ नास्ति—अ० । ४. चयम्—म० । ५. व्यान्ये—अ० । ६. ‘तु’ नास्ति—म० । ७. स्थितकेशवाभि—म० ।

सितं विलेपनं पुष्पं धूपं मधुं घृतं दधि ।  
 नैवेद्यं विविधं पूतं ब्रीहीयो यवसंयुताः ॥ ७७ ॥  
 निवेद्य राजते पात्रे यथाशक्तिविनिर्मिते ।  
 पात्राभावाच्च रजतं स्वल्पमात्रं न लोपयेत् ॥ ७८ ॥  
 पश्चात् तद्भगवत्पूतं मधुपर्कादिकं तु वै ।  
 प्रतिपाद्य गुरोर्भक्त्या प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ ७९ ॥  
 यवान्नं ब्रीहिजं त्वादौ समश्नीयाद् घृतान्वितम् ।  
 ततः प्रभृतिकालाच्च प्रत्यहं केशवस्य तु ॥ ८० ॥  
 स्थानद्वैयं निविष्टस्य पूजनं च समाचरेत् ।  
 प्राणवन्मध्ये केशवस्य देवीयुक्तस्य वाह्नतः ॥ ८१ ॥  
 ततो नारायणादीनां सदेवीनां च च क्रमात् ।  
 सर्वेषां पूजनं कुर्यात् प्रादक्षिण्येन यत्नतः ॥ ८२ ॥  
 यथासम्भवतो भक्त्या पुष्पधूपादिकेन तु ।  
 यावदभ्येति दशमी सिता गौप्यस्य वै तिथिः ॥ ८३ ॥

कस्यचित् परित्यागानौचीर्त्यमेव तत्र विनिगमकमिति सूक्ष्मदृष्ट्या द्रष्टव्यमायुष्मता ॥ ७५-७६ ॥

अथ केशवादित्रिकस्य सितवर्णत्वात् श्वेतवर्णचन्दनकुसुमादिभिरेव तदर्चनम्, रजतपात्रे यवब्रीहिमात्रानिवेदनम्, पात्रालाभे मात्रादानेन सह किञ्चिद्वज्रतं वा देयमिति चाह—सितमिति द्वाभ्याम् ॥ ७७-७८ ॥

अनन्तरं गुरुर्चनमाह—पश्चादिति ॥ ७९ ॥

त्रितीनो भोज्यद्रव्यमाह—यवान्नमित्यर्थेन ॥ ८० ॥

एवं पुष्पशुद्धदशमीपर्यन्तं प्रत्यहं केशवस्य कर्णिकामध्येऽप्रदेशे च स्थानद्वयेऽर्चनम्, तत्र मध्ये केवलस्य, अरस्थाने देव्या सहार्चनम्, तथैवारस्थितानां नारायणादीनामपि तत्तदेवीभिः सह प्रादक्षिण्येनार्चनं च कार्यमित्याह—तत इति सार्वेस्त्रिभिः ॥ ८०-८३ ॥

१. ‘ब्रीहीयो’…‘पश्चात्तद्भगवत्पूतं’ नास्ति—अ० । २. तम्—मु० अटी० । ३. यत्रा—मु० ।
४. मत्र—बक० बख० उ० । ५. द्वये—मु० अटी०, द्वय—अ० उ० । ६. गादौचि—अ० ।
७. केशवस्य—म० ।

ततः प्रभृतिकालाच्च प्रागुक्तविधिनाऽखिलम् ।  
 नारायणाख्यमन्त्रेण व्रतकर्म समापयेत् ॥ ८४ ॥  
 तमर्चयेत् तु प्रथमं मध्ये कारणमूर्तिगम् ।  
 बहिर्देवीसमेतं च प्राग्वत् स्नानादिना प्रभुम् ॥ ८५ ॥  
 द्वादश्यन्तं विधानेन केशवेन समन्वितम् ।  
 किञ्चित्वत्र विहितं पश्चात् पूजनं केशवस्य च ॥ ८६ ॥  
 दिनावसाने द्वादश्यां धूपं दत्त्वा क्षमापयेत् ।  
 कान्तासमन्वितं देवं केशवं क्लेशनाशनम् ॥ ८७ ॥  
 अथ दामोदरान्ताभिर्मूर्तिभिश्च समन्वितम् ।  
 देवं नारायणं भक्त्या परेऽहनि समर्चयेत् ॥ ८८ ॥  
 मध्ये केशववत् पश्चाच्चक्रस्थं केशवारके ।  
 केशवं च तदीयेऽरे यजेत् कान्तासमन्वितम् ॥ ८९ ॥  
 एवं प्रतिदिनं तावद् यावन्मासस्य सा तिथिः ।  
 ततो माघवमूर्तेवं प्राग्वदाराधनं भवेत् ॥ ९० ॥

अथ तद्वामीमौरभ्य नारायणमन्त्रेण व्रतानुष्ठानम्, तदर्थं पूर्वोक्तकर्णिकामध्ये केवलस्य स्वकारणभूतवासुदेवाकारनारायणस्याचनम्, बहिररस्थाने नारायणस्य तद्वेद्या सहाचर्चनम्, दशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रये नारायणस्याचर्चनानन्तरं केशवस्यापि स्थानद्वयेऽचर्चनम्, द्वादश्यां रात्रौ केशवस्योत्तरपूजां चाह—ततः प्रभृतीति चतुर्भिः ॥८४-८७॥

तदपरदिनमारभ्य माघशुक्लदशम्यन्तं नारायणस्यैव केशववत् स्थानद्वयेऽचर्चनम्, तदनन्तरं केशवमाधवादीनां द्वितीयाद्यरेषु क्रमेण पूजनं च कार्यमित्याह—अथेति सार्धद्वाभ्याम् । केशवारके पूर्वकल्पे केशवो यस्मिन्नरे पूजितस्तस्मिन्नित्यर्थः । तदीयेऽरे नारायणः पूर्वं यस्मिन्नर्चितस्तस्मिन्नर इत्यर्थः । माघमासे माघवमन्त्रेण व्रतानुष्ठानं पूर्ववदेवं कार्यमित्याह—तत इत्यर्थेन । अत्र <sup>९</sup>(प्रतिपदी?प्राग्वदि)त्यनेन माघशुक्लदशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रयेऽपि माघवस्य स्थानद्वयाचर्चनानन्तरं नारायणस्यापि स्थानद्वयेऽचर्चनम्, द्वादश्यां रात्रौ नारायणस्योत्तरपूजनम्, तदपरदिनमारभ्य फालगुनशुद्धद्वादश्यन्तं माघवस्यैव स्थानद्वयेऽचर्चनम्, द्वितीयाद्यरेषु केशवनारायणगोविन्दा-

१. कारण्य—मू० अटी० । २. द्वादश्यां तं—मू० अटी० । ३. तत्र—बक० बख०  
 मु० अटी० । ४. पङ्कित्रयं नास्ति—अ० । ५. मीमित्या—अ० । ६. पूर्वदेव—अ० ।  
 ७. प्रापदि—म० ।

तदर्चने समाप्ते तु द्वादश्यां फाल्गुनस्य च ।  
 सङ्कर्षणं परत्वेन भावयेद् वासुदेववत् ॥ ९१ ॥  
 तदाश्रितं तु गोविन्दं मध्ये मूर्त्ति समाहयेत् ।  
 चक्रस्थं सह देव्या वै तत्स्तं पूज्य पूर्ववत् ॥ ९२ ॥  
 रक्तचन्दनयुक्तेन कुड्कुमेन तथैव च ।  
 पुष्पस्माग्वासमा तद्वद् रक्तशाल्योदनेन च ॥ ९३ ॥  
 सुगन्धेन फलै रक्तलिप्तैर्वा रक्तधातुभिः ।  
 आरक्तरत्नमंसिद्वैविंद्रुमैः पुंरुभूषितैः ॥ ९४ ॥  
 सर्वतूस्तु ताम्रपात्रे तु कृत्वाऽथ विनिवेद्य तु ।  
 तदर्चने च होमान्ते सम्पन्ने सति वै व्रती ॥ ९५ ॥  
 याते मांसत्रये चैव प्रसन्नेऽन्तःस्थितेऽच्युते ।  
 गुरुमूर्तिंगतो देवः पूजनीयश्च भक्तिः ॥ ९६ ॥  
 वस्त्रैर्विलेपनैर्माल्यैः कटकैरङ्गुलीयकैः ।  
 यथाशक्तिं विना शाठयं पारणे पारणे ततः ॥ ९७ ॥

दीनामर्चनम्, तदद्वादश्यां रात्रौ माधवस्योत्तरपूजनं चोक्तं भवति । तद्वशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रयेऽपि माधवार्चनात् पूर्वमेव गोविन्दादित्रिकारणभूतस्य संकर्षणस्य कर्णिकामध्ये वासुदेववत् परत्वेन ध्यानम्, तत्र तदाकारस्य गोविन्दस्यार्चनम्, तस्यारस्थानेऽपि देव्या सहार्चनम्, संकर्षणसमुत्पन्नगोविन्दादित्रिकस्य रक्तवर्णत्वेन चन्दनकुमुमवस्त्रभूषणनैवेद्यादीनामपि रक्तवर्णत्वम्, केषात्तिवत् कुमुमादीनामपि रक्तवर्णत्वाभावेऽपि केनचिद्रक्तधातुना तद्रक्तीकरणम्, ताम्रपात्रे सकुमात्रनिवेदनं च ॥ ८८-९० ॥

विशेषमाह—तदर्चने समाप्त इत्यादिभिः । अत्र द्वादश्यमित्यनेन दशम्यादिद्वादश्यन्तदिनत्रयमध्युपलङ्घ्यते ॥ ९१-९५ ॥

एवं होमान्ते गोविन्दार्चनप्रारम्भानन्तरं मार्गशीर्षादिमासत्रयकृतप्रसादगुणार्थं विशेषेण गुरुर्चनम्, पारणानन्तरं प्रणवनमःपूर्वकश्लोकद्वयात्मकमन्त्रेण दक्षिण-

१. मूर्ति—अटी० उ० ।      २. ततः सं—अ०, समस्तं—उ० ।      ३. रत्न—बक० ।  
 ४. सगुडेन—अ०, संशुद्धेन—उ० । ५. रक्त—बक० बख० मु० अटी० । ६. परि—अटी० उ० ।  
 ७. च—बक० बख० अ० उ० । ८. प्रति—मु० अटी० बक० बख० उ० । ९. वास—मु० अटी० ।

प्रीणयेद् वासुदेवं च मूर्तित्रयसमन्वितम् ।  
 एहिकान् धर्मकामार्थान् मम यच्छन्तु शक्तयः ॥ ९८ ॥  
 मोक्षविघ्नोपशमनं नित्यं कुर्वन्तु मूर्तयः ।  
 सर्वदा नित्यशुद्धो यः परमात्मा परः प्रभुः ॥ ९९ ॥  
 पतितस्य भवाम्बोधौ वासुदेवोऽस्तु मे गतिः ।  
 कृत्वैवं प्रीणनं सम्यग् वासुदेवस्य भक्तिः ॥ १०० ॥  
 तन्मूर्तित्रितयस्यापि शक्तित्रययुतस्य च ।  
 अथ त्रितययुक्तस्य द्वितीयस्य महात्मनः ॥ १०१ ॥  
 सङ्कर्षणाभिधानस्य तत आगम्य यत्नतः ।  
 प्राग्वदाराधनं कुर्यात् प्रत्यहं मासभेदतः ॥ १०२ ॥  
 पश्चान्मासत्रये याते प्राप्ते ज्येष्ठस्य तदिने ।  
 त्रिविक्रमाख्यमन्त्रेण चान्यत् सर्वं पुरोदितम् ॥ १०३ ॥  
 मध्यतोऽम्बुजगम्भस्थं प्रद्युम्नं सर्वगं स्मरेत् ।  
 त्रिविक्रमं तदाकारं भावयित्वा ततो यजेत् ॥ १०४ ॥  
 अनन्तरं च संस्थानादानीय प्राग्गरान्तरम् ।  
 यष्टव्यः सविशेषेण त्वनुज्ञाततनुः क्रमात् ॥ १०५ ॥

पाणिस्थसपुष्पाद्योदकेन वासुदेवप्रीणनं चाह—तदर्चन इति षड्भिः । शक्तयः श्रियादय-स्तस्म इत्यर्थः । १५५—१०१॥

अथ तदारभ्य ज्येष्ठशुक्लद्वादशश्यन्तं मासत्रये क्रमेण गोविन्दविष्णुमधसूदनमन्त्रै-व्रतानुष्ठानम्, तेषां कारणभूतसंकर्षणस्य कर्णिकामध्ये मासत्रयेऽपि परत्वेनार्चनं चाह—अथेति सार्वेन ॥१०१—१०२॥

तन्मासत्रयानन्तरं तद्शम्यां त्रिविक्रममन्त्रेण व्रतप्रारम्भम्, त्रिविक्रमादित्रिककारणभूतप्रद्युम्नस्य परत्वेन कर्णिकामध्ये ध्यानम्, तदाकारत्वेन धर्यातस्य त्रिविक्रमस्य तस्यार्चनम्, तस्यारस्थानेऽपि देवता सहार्चनं चाह—पश्चादिति त्रिभिः ॥ १०३—१०५ ॥

१. ३५ ऐहि-बक० वख० अ०, ३५ ऐहिकं धर्मकामार्थ-उ० । २. तृती-मु०, मूर्तिशस्य-अ० उ० । ३. सर्वं कुर्यात्-अ० उ० । ४. गनन्तरम्-उ० । ५. व्यस्य-मु० अटी० बक० बख० । ६. तिथत-अटी० । ७. 'मूर्तयः केशवादयस्त्रय इत्यर्थः' इत्ययं पाठोऽप्रिमश्लोकव्याख्यानस्थितस्य 'कारणभूत' इति पदस्थानन्तरं स्थापितः-अ० । ८. व्यानस्य-म० । ९. रस्थापि-अ० ।

श्रीखण्डं च सकर्परमीषत् कुड्कुमभावितम् ।  
 पीतं विलेपनं चात्र तथा पुष्पफलादिकम् ॥ १०६ ॥  
 पीतानां फलपुष्पाणामभावे मसृणेन तु ।  
 ३ पीतेन धातुचूर्णेन रङ्गयेत् कुड्कुमेन वा ॥ १०७ ॥  
 मघृतं हेमपात्रं च पूजान्ते विनिवेद्य च ।  
 पात्राभावे यथाशक्ति काञ्चनं च वृतोपरि ॥ १०८ ॥  
 ततः सम्पूजनं कुर्याद् व्रतादेष्टरि पूर्ववत् ।  
 गोहेमवस्त्रपूर्वस्तु यथा सन्तोषमेति सः ॥ १०९ ॥  
 तत्पूजान्ते पारणेन द्वितीयं च जगत्पतिम् ।  
 प्रीणयेत् सङ्कर्षणं च गृहीत्वा पाणिना जलम् ॥ ११० ॥  
 प्रणवाद्येन तेनैव मन्त्रेणाद्योदितेन च ।  
 सनमस्केन किन्त्वन्त गतिः<sup>१</sup> सङ्कर्षणोऽस्तु मे ॥ १११ ॥

प्रद्युम्नोत्पन्नत्रिविक्रमादित्रिकस्य पीतवर्णत्वेन तादृशवर्णेरेव गन्धपुष्पादिभिरचनम्, केषाच्चित् पीतानामलाभेऽपि हरिद्राकुड्कुमादिना पीतीकरणम्, घृतपूरितहेमपात्रदानम्, तदशक्तौ यथाशक्ति काञ्चनान्वितघृतदानं वा कार्यमित्याह—श्रीखण्डमिति त्रिभिः ॥ १०६—१०८ ॥

अथ गुर्वर्चनमाह—तत इति । व्रतादेष्टरि गुरावित्यर्थः ॥ १०९ ॥

अथ पारणानन्तरं पूर्वोक्तरीत्या संकर्षणप्रीणनम्, पूर्वोक्तमन्त्रे वासुदेवोऽस्तु मे गतिरिति वाक्यं विहाय संकर्षणोऽस्तु मे गतिरिति वाक्यप्रयोजनं चाह—तत्पूजान्त इति द्वाभ्याम् । पारणेन ब्राह्मणभोजनेनेत्यर्थः । गृहीत्वा पाणिना जलमित्यत्र सपुष्पं प्रधानार्थ्यजलं ग्राह्यम् । दीक्षापरिच्छेदे—

तदम्भसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम् ॥

कुर्यात् प्रणयनादानं प्रीणनं प्रीतिकर्म च । (१८१७१—७२)

इति प्रधानार्थ्यजलेन प्रीणनस्य वक्ष्यमाणत्वात्, ईश्वरपारमेश्वरयोः—

इत्युक्त्वा सोदकं<sup>१०</sup>पश्चात् पुष्पं दक्षिणपाणिगम्यम् ॥

अग्रतो निक्षिपेद् विष्णोमूलमन्त्रेण नारद । (१३. २३१—२३२)

(इ० सं० ५।३७—३८; पा० सं० ६।४।१—४।२)

इति जयाख्यवचनेनोदाहृतेन<sup>११</sup> सपुष्पस्योक्तत्वाच्च ॥ ११०—१११ ॥

१. दयः—बक० बख० अ० उ० । २. मभावान्म—बक० बख० अ० उ० । ३. पूतेन—मू० ।

४. पात्राभावात्—बक० बख० अ० उ० । ५. तु—उ० । ६. पूर्वं तु—बक० बख० ।

७. वै—बक० बख० अ० उ० । ८. कि चात्र—अ० । ९. सङ्कर्षणोऽस्तु मे गतिः—बक० बख०

अ० उ० । १०. पष्पं कृत्वा—ज० । ११. वचनोदाहृणेन—म० ।

अथ त्रिविक्रमं देवं वाग्मनं श्रीधरं प्रभुम् ।  
 यजेन्मासत्रयं तौवद्यावत् स्याद् दशमी सिता ॥ ११२ ॥  
 तदादि वै हृषीकेशमन्त्रेणाखिलमाचरेत् ।  
 परत्वमनिरुद्धस्य प्राप्ते चावसरे स्मरेत् ॥ ११३ ॥  
 तदाकारं हृषीकेशं पश्चोदसगतं स्मरेत् ।  
 इष्टवा सम्यग्विधानेन चक्रारस्थं यथा पुरा ॥ ११४ ॥  
 अत्र राजोपेचारैस्तु षट्पदाभैस्तु चाऽचर्नम् ।  
 पुष्पौदनाम्बरैः कुर्यादभावादञ्जनादिना ॥ ११५ ॥  
 पिङ्गरीकृत्य यत्नेन देवाय विनिवेद्य च ।  
 कृष्णागरुविमिश्रं च लेपनं चात्र कुड्कुमम् ॥ ११६ ॥  
 घौतायसमयं पात्रं मणिभिश्चासितैश्चिंतम् ।  
 सम्पूर्णं च तिलैः कृष्णैः पूजान्ते विनिवेद्य च ॥ ११७ ॥  
 सम्यक् तदर्चनं कृत्वा यथासम्पर्चि भक्तिः ।  
 तृतीयं प्रीणयेत् प्राग्वत् प्रद्युम्नो मेऽस्तु वै गतिः ॥ ११८ ॥  
 ततो मासानुमासं च हृषीकेशादनन्तरम् ।  
 पद्मनाभं समभ्यर्च्य ततो दामोदरं तु वै ॥ ११९ ॥  
 गते मासत्रये ह्येवं सम्प्राप्य पुनरेव हि ।  
 दशमीं मार्गशीर्षस्य तदा कर्मणि कर्मणि ॥ १२० ॥

अथ त्रिविक्रमादिमन्त्रत्रयेण भाद्रपदशुक्लदशम्यन्तं व्रतानुष्ठानम्, तदारभ्य हृषीकेशमन्त्रेण व्रतारम्भम्, हृषीकेशादित्रिककारणमूतानिरुद्धस्य कृष्णवर्णत्वे कृष्णवर्णरेव गन्धपुष्पवस्त्ररत्नफलादिभिरर्चनम्, केषाञ्जित् कृष्णवर्णनामलामेऽप्यञ्जनादिना तत्कृष्णीकरणम्, कृष्णतिलपूरितधूपपात्रमात्रादानम्, गुरुर्चन्नम्, ततः पूर्वोक्तरीत्या प्रद्युम्नप्रीणनं चाह—(अत्र राजोपेचारैरिति चतुर्भिः ? अथ त्रिविक्रममिति सप्तभिः )। सम्यक् तदर्चनं कृत्वेत्यत्र तदर्चनं गुरुर्चन्नमित्यर्थः ॥ ११२-११८ ॥

अथ हृषीकेशादिमन्त्रत्रयेण मार्गशीर्षशुक्लदशम्यन्तं मासत्रयं व्रतानुष्ठानम्,

१. यावन्नभस्यदशमी—अ० उ० । २. पलाभैस्तु—बक० वख० अ० उ० । ३. वाऽचर्न—  
 बक० वख० । ४. युतम्—अटी० । ५. वस्त्रैश्च चित्रितैः—मु० अटी०, सम्पूर्ण वासितैः कृष्ण—अ० ।  
 ६. ग् गुर्वर्चनं—अ०, ग् देवार्चनं—उ० । ७. 'अत्र' नास्ति—अ० । ८. पलाभैः—म० ।

१ चतुर्षु चातुरात्मीयं मन्त्राणां विनियोज्य च ।  
 चतुर्मूर्त्यभिधानं च समालम्ब्य यजेच्च तत् ॥ १२१ ॥  
 कर्णिकोपरि पत्रेषु प्रागादि हृदयादिकम् ।  
 विदिक्षवस्त्रं विभोरग्रे नेत्रं वै केशवाश्रितम् ॥ १२२ ॥  
 अरान्तरे ततः स्वे स्वे दश द्वौ केशवादिकान् ।  
 चतुर्वर्णस्तु कुमुमैस्तथा वस्त्रानुलेपनैः ॥ १२३ ॥  
 तद्वद् भक्ष्यैश्च नैवेद्यैः पानकैः पावनैः फलैः ।  
 अथान्यैविविधैर्भौगैर्वजाद्यैर्नवाहनैः ॥ १२४ ॥  
 मात्राभिः सहिरण्याभिस्ताम्बूलेनात्मना ततः ।  
 तर्पयेद् वह्निमध्यस्थं मन्त्रग्रामं यथोदितम् ॥ १२५ ॥  
 ततोऽर्चनं गुरोः कुर्याद् विशेषेण पुरोदितम् ।  
 ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चात्तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् ॥ १२६ ॥  
 प्रीणनं च पठेत् प्राग्वदनिरुद्धोऽस्तु मे गतिः ।  
 ततः पूर्णाहुतिं दद्यात् पश्चादिदमुदाहरेत् ॥ १२७ ॥  
 ४ व्रतोत्तमेनानेनाद्य मया भवत्या कृतेन च ।  
 चत्वारो वासुदेवाद्या मूर्तयः शक्तिभिः सह ॥ १२८ ॥

---

तदारभ्ये द्वादश्यन्तं दिनत्रये कर्णिकामध्ये वासुदेवादीनां चतुर्णमिष्यर्चनम्, प्राग्दलादिषु  
 हृन्मन्त्राद्यर्चनम्, अरेषु केशवादिद्वादशमूर्तीनामर्चनं च पूर्वोक्तैश्चतुर्वर्णचन्दन-  
 कुमुमादिभिश्चतुर्विधमात्राभिश्च<sup>१०</sup> तत्तन्मूर्त्यनुसारेण कार्यमित्याह—ततो मासानुमासं  
 चेत्यादिभिः ॥ ११९-१२५ ॥

एषां सर्वेषामपि वह्निमध्ये संतर्पणम्, ततो गुर्वर्चनम्, ब्राह्मणभोजनम्, अनि-  
 रुद्धप्रीणनम्, पूर्णाहुतिम्, वासुदेवादीनां चतुर्णमिष्य युगपत् प्रीणनं चाह—तर्पयेदिति  
 चतुर्भिः ॥ १२५-१२९ ॥

१. चतुर्ष्क-अ० उ० । २. मूर्तिवि-उ० । ३. क्षवग्रं-अ० । ४. राणि च-म०, राणि  
 तम्-अ० उ० । ५. दयः-बक० बख० अ० उ० । ६. पद्मक्षिद्वयं नास्ति-उ० । ७. भक्ष्यैः  
 सत्तैवे-अ० । ८. श्वापि वाहनैः-म० अटी० । ९. ३० व्रतो-बक० बख० अ० उ० ।  
 १०. मात्रादिभि-अ० ।

प्रयान्तु प्रीतिमतुलां दिशन्तु भैविनोऽभयम् ।  
धन्यं व्रतमिदं पुण्यं संसाराध्वनिवर्तनम् ॥ १२९ ॥  
अल्पव्लेशमसङ्कीर्णमनन्तफलदं नृणाम् ।  
नावसादस्त्वतः कार्यं एतदाचरणे तु वै ॥ १३० ॥  
यथोपसदनैः कार्यमध्मैर्मध्यमैर्जनैः ।  
अशाठयेन यथाशक्ति त्वारण्यैः कुसुमादिकैः ॥ १३१ ॥  
अद्विद्वौड्डकुरैः पत्रैर्जपजागरणादिना ।  
दीपेनाभ्युक्षणेनैव मार्जनेनोपलेपनैः ॥ १३२ ॥  
ब्रीहीन् सक्तूनथाजयं च तिलान्यन्नान्यथाहरेत् ।  
संवत्सरस्य पूजार्थं दानार्थं प्राशनाय च ॥ १३३ ॥  
पूर्वं मासत्रयं द्वादू ब्रीहीन् वै विनिवेद्य च ।  
द्वादश्यां भोजनात् पूर्वं हितं तत्प्राशनं सदा ॥ १३४ ॥  
अपरं सक्तवश्चैव तृतीयं त्रितयं षृतम् ।  
तिलानां त्रितयं चान्यत् प्राशनं चैवमेव हि ॥ १३५ ॥

अस्य व्रतस्यासंपूर्णत्वेऽप्यनन्तफलप्रदत्वान्मध्ये विद्धनान्न भेतव्यमित्याह—  
धन्यमिति सार्थेन ॥ १२९—१३० ॥

इदं व्रतं यथाशक्ति मध्यमकल्पेनाध्रमकल्पेन वा केवलं पत्रपुष्पफलतोयादिभिर्वा  
जपजागरणदीपारोपणमार्जनानुलेपनादिकैङ्कर्येण वाऽनुष्ठेयमित्याह—यथोपसदनैरिति  
द्वाभ्याम् ॥ १३१—१३२ ॥

ब्रतार्थं पूर्वं चतुर्विधमात्रा(द्या?)र्जनमाह—ब्रीहीनिति ॥ १३३ ॥

मार्गशीर्षीदिमासत्रयेऽपि द्वादश्यां भोजनात् पूर्वं ब्रीहिमात्रादानम्, ततो ब्रीह्यन्न-  
भोजनम्; फाल्गुनादित्रये सक्तुदानम्, तत्प्राशनम्; ज्येष्ठादित्रये आज्यदानम्, तत्प्रा-  
शनम्; भाद्रपदादित्रये तिलदानम्, तिलप्राशनं चाह—पूर्वमिति द्वाभ्याम् ॥ १३४—१३५ ॥

१. हविनो—अ० । २. दिनिवृत्तिदम्—अ०, द्विनिवृत्तिदम्—उ० । ३. मसम्पूर्ण—मु०  
अटी० । ४. यथोक्तं सधनैः—अ० उ० । ५. न् समा—बक० बख० अ० उ० । ६. तृतीयं—उ० ।

स्यौद् यद्येकादशी पूर्णा द्वादश्यर्थं तथा सह ।  
परेऽहनि तदा कुर्याद् द्वादश्यामर्चनादिकम् ॥ १३६ ॥  
संवत्सरस्य वै मध्याद् यस्त्वेकां कर्तुमिच्छति ।  
तस्यामपि स्वमन्त्रेण कर्म पूजान्तमाचरेत् ॥ १३७ ॥  
यथाप्राप्तैस्तु पुष्पाद्यैः प्रागुक्ताङ्गैः सहार्चनम् ।  
परस्त्वय भध्ये तु पूजनं स्वैऽन्वगेव हि ॥ १३८ ॥  
केवलस्य तु तस्यैव स्वनाम्ना ग्रीणनं हितम् ।  
पारणं प्राग्विधानेन त्वेकं भूरिफलप्रदम् ॥ १३९ ॥  
तस्माद्द्वे ग्रीणि वा कुर्यात् स्वशक्त्या श्रद्धयान्वितः ।  
नारी श्वनन्यशरणा यद्येवं हि समाचरेत् ॥ १४० ॥

द्वादशीनिर्णयमाह—स्यादिति । एकादशी पूर्णा स्याद्यदि द्वादशीदिनेऽप्यवशिष्टा चेदित्यर्थः । तथा सह एकादश्या सह द्वादशी च पूर्णा स्याद्यदि त्रयोदशीदिनेऽप्यवशिष्टा चेदित्यर्थः । तदा परेऽहनि द्वादश्यां त्रयोदशीदिनावशिष्टद्वादश्यामेवार्चनादिकं पूर्वोक्तव्रतार्चनपारणादिकं कुर्यादित्यर्थः । तथा च दशनिर्णये चन्द्रिकायाम्—

संपूर्णेकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा ।  
वैष्णवी च त्रयोदश्यां घटिकैकापि दृश्यते ॥  
गृहस्थोऽपि परां कुर्यात् पूर्वा नोपवसेद् गृही ।

इति पूर्णशब्दार्थं उक्तः । अत्रैकादश्याः पूर्णशब्दविशेषणेनैव दशमीवेधराहित्यमप्युच्यते, यतो दशनिर्णये—

उदयात् प्राग् यदा विप्र मुहूर्तद्वयसंयुता ।  
संपूर्णेकादशी नाम तैत्रैवोपवसेद् गृही ॥

इति पूर्णशब्दार्थं उक्तः ॥ १३६ ॥

एवमेकं वत्सरं प्रतिद्वादशीव्रतानुष्ठानाशक्तावेकस्यां वा द्वादश्यां तन्मासेशमन्त्रेण तदनुगुणवर्णफलपुष्पादिवस्तुभिस्तत्कारणभूतवासुदेवाद्यन्यतमाकारस्य केवलस्य कर्णिकामध्येऽर्चनम्, बहिररस्थाने तद्वेष्या सहार्चनम्, एकस्य त्रप्राणां वा ब्राह्मणानां भोजनम्, तेन तन्मासेशग्रीणनं च कार्यमित्याह—संवत्सरस्येति सार्वेस्त्रिभिः ॥ १३७-१४० ॥

१. स्यादद्वै-मु० अटी०, दृ० दृष्टै०-उ० । २. श्याथ-मु० अटी० । ३. स्वैरके बहिः—  
बक० बख० अ० उ० । ४. तम्-बक० बख०, ता-उ० । ५. पूर्व-अ० । ६. 'पूर्ण' नास्ति अ० ।  
७. अत्रैवो-अ० ।

निःस्वामिका वानुज्ञाता पत्या साऽथानुयाच्च तत् ।  
 अथापवर्गदं वक्ष्ये चातुर्मास्यं व्रतोत्तमम् ॥ १४१ ॥  
 यत्कृत्वाऽभिमतान् कामानिहैव लभते नरः ।  
 गृहमासाद्य निर्बाधं देशे वा नैं जनाकुले ॥ १४२ ॥  
 यथाविभवविस्तीर्णं तुर्याश्रं वा यथायतम् ।  
 धूमनिर्गमनोपेतं गवाक्षगणभूषितम् ॥ १४३ ॥  
 इष्टकाद्यैश्चितं कुर्यात् तन्मध्ये पिण्डिकात्रयम् ।  
 चतुरश्रं च विच्छिन्नं भूमेः किञ्चित् समुन्नतम् ॥ १४४ ॥  
 ततो दक्षिणदिग्बदेशधर्वे कुण्डं तु पूर्ववत् ।  
 मध्ये चन्दनमिश्रेण रोचनाकुड्कुमेन च ॥ १४५ ॥  
 गोक्षीरमदितेनैव मासि मासि लिखेच्छुभम् ।  
 चक्रं पट्पत्रगर्भं तु स्नानपीठमुदग्निदशि ॥ १४६ ॥  
 ततस्त्वाषाढमासस्य दशम्यामुदितेन्दुना ।  
 वासुदेवाख्यमन्त्रेण तोयमादाय पाणिना ॥ १४७ ॥

इदं व्रतं स्त्रीभिरपि सुमङ्गलाभिः पूर्वसुमङ्गलाभिवज्ञुषेयमित्याह—नारीति ।  
 तद व्रतफलमित्यर्थः । सुमङ्गलायाः स्त्रियः पत्युरनुज्ञां विना व्रतानुष्ठानानौचित्यात्  
 पत्याऽनुज्ञातेत्युक्तम् । तथा च गारुडे—

नारी खल्वननुज्ञाता पित्रा भर्ता सुतेन वा ।  
 निष्कलं तु भवेत् तस्या यत् करोति व्रतादिकम् ॥  
 अनापृच्छय तु भर्तारमुपोष्य व्रतमाचरेत् ।  
 आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत् ॥  
 नास्ति स्त्रीणां पृथक् कर्म न व्रतं नाप्युपोषणम् ।  
 पतिशुश्रूषणं तासां तेन स्वर्गे विधीयते ॥ इति ॥ १४०-१४१ ॥

अथ चातुर्मास्यविधिमाह—अथापवर्गदं वक्ष्य इत्यारभ्य यावत्परिच्छेदपरि-  
 समाप्तिः । सुखबोधनायैतद्व्याख्या प्रयोगरूपेण विलिख्यते ।

१. निः वै—अ० । २. जनना—मु० अटी० बक० उ०, जनता—बख० ।

भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वत्रतपतेऽच्युत ।  
 व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ १४८ ॥  
 ततोऽर्चयेद् वासुदेवं द्वादश्यां कमलोदरे ।  
 प्रागादावथ पत्राणां त्रयं सङ्कर्षणादिकम् ॥ १४९ ॥  
 प्रादक्षिण्येन विन्यस्य यावद्रक्षःपदच्छदम् ।  
 ईशानपदपत्रौत् तु अनिरुद्धादिकत्रैयम् ॥ १५० ॥  
 अप्ययेन तु सम्पूज्य यावत् पश्चिमदिग्दलम् ।  
 भूतावासं पुनर्मध्ये ततश्चक्रारकेषु च ॥ १५१ ॥  
 क्रमेण पूर्वादारभ्य न्यासं पूजनमाचरेत् ।  
 वामनं चाथ तद्वेदीं हृन्मन्त्रं च ततः शिरः ॥ १५२ ॥  
 श्रीधरस्त्वथ तत्कान्ता शिखा कवचमेव च ।  
 हृषीकेशश्च तत्पत्नी ह्यस्त्रं तदनु लोचनम् ॥ १५३ ॥

निबध्नि स्वगृहे विजनेऽन्यत्र वा देशो यथाविभवविस्तारायामं धूमैनिर्गमनार्थ-  
 मध्वंगवाक्षान्वितं परितश्च गवाक्षोपशोभितं यागमण्डपं परिकल्प्य तन्मध्ये इष्टकाभि-  
 विरचितं चतुरश्रं भूमेः किञ्चिद्दुन्ततं वेदिकात्रयं निर्माय तत्र दक्षिणदिवेदेष्वर्षे  
 पूर्वोक्तं कुण्डं कल्पयेत् । मध्यवेद्यां गोक्षीरमदितेन चन्दनमिश्रेण रोचनासहितेन  
 कुञ्जुमेन प्रतिमासं षड्दलपद्मगर्भं द्वादशारं चक्रं विलिखेत् । उत्तरवेदेष्वर्षं स्नानपीठं  
 स्थापयेत् । अथाषाढशुक्लदशम्यां सायं वासुदेवमन्त्रेण दक्षिणपाणिना तोयमादाय,

भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वत्रतपतेऽच्युत ।  
 व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ (८१४८)

इत्युदकप्रक्षेपपूर्वकं संकल्प्य, एकादश्यां समुपोष्य, द्वादश्यां प्रातः कर्णिकामध्ये वासुदेवं  
 प्रागाग्नेयनैऋतदलेषु प्रादक्षिण्येन संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धान्, ऐशान्यवायव्यपश्चिम-  
 दलेष्वप्यक्रमेणानिरुद्धप्रद्युम्नसंकर्षणांश्च संपूज्य, पुनर्मध्ये वासुदेवमध्यच्युतं, चक्रस्य  
 प्रागाद्यरेषु वामनं प्रीतिसंज्ञां तद्वेदीं हृन्मन्त्रं शिरोमन्त्रम्; श्रीधरं रतिसंज्ञां तद्वेदीं  
 शिखामन्त्रं कवचमन्त्रम्; हृषीकेशं मायाख्यां तद्वेदीमस्त्रमन्त्रं नेत्रमन्त्रं च क्रमेणा-  
 भ्यच्युतं, ध्यानार्चनस्नपननिवेदनहृष्मजपादिभिः सर्वान् संतोष्य, अथ श्रावणशुक्ल-

१. भूत—मू० बक० बख० अ । २. त्राच्चाप्य—मू० अटी० । ३. दितस्त्रयम्—बक०  
 बख० अ० उ० । ४. भूमन्त्र—मू० अटी० बक० बख० । ५. धूमे—अ० ।

ध्यानं स्नानं तथा पूजां होमं जपसमन्वितम् ।  
क्रमेणानेन सर्वेषां सर्वदैव समाचरेत् ॥ १५४ ॥

द्वादश्यां श्रावणस्याथ मध्ये सङ्कर्षणं यजेत् ।  
तत्पत्राभ्यां वासुदेवं चक्रारेष्वयं पूर्ववत् ॥ १५५ ॥

त्रितीयं पञ्चनाभाद्यं तथा देवीं हृदादि यत् ।  
ततो नभस्यद्वादश्यां प्रद्युम्नः कर्णिकांगतः ॥ १५६ ॥

आद्यस्तत्पत्रगोडराणां त्रयं नारायणादिकम् ।  
देव्यश्चैवाङ्गपटकं तु पूर्ववच्चारकान्तरे ॥ १५७ ॥

ततस्तदग्रद्वादश्यामनिरुद्धं यथा पुराँ ।  
पत्रयुग्मे तर्दये तु आदिदेवं यजेत् क्रमात् ॥ १५८ ॥

त्रिविक्रमान्तं विष्णवाद्यं शक्तिरङ्गान्यथादिवत् ।  
एवं तावद् यजेद् यावैद् द्वादशी कार्तिकस्य तु ॥ १५९ ॥

तत्राखिलैर्मन्त्रवरैः कर्म निशेषमाचरेत् ।  
द्वादश्यां पूर्ववन्मध्ये पष्ठङ्गं तुल्यरूपघृक् ॥ १६० ॥

मूर्तयोडरान्तरस्थाश्च नेमिस्थो देवतागणः ।  
पूजाहोमं विशेषेण पूर्णान्तं पूर्वचोदितम् ॥ १६१ ॥

द्वादश्या कर्णिकामध्ये संकर्षणं दलेषु संकर्षणस्थानयोर्वासुदेवमरेषु पञ्चनाभदामोदर-केशवान् धीमहिमाश्रीदेवीत्रयं हृन्मन्त्रादिष्टकं चाभ्यर्च्य, भाद्रपदशुक्लद्वादश्यां मध्ये प्रद्युम्नं दलेषु प्रद्युम्नस्थानयोर्वासुदेवमरेषु नारायणमाधवगोविन्दान् वागीश्वरीकान्ति-क्रियाख्यदेवीत्रयं हृन्मन्त्रादिष्टकं चाभ्यर्च्य, आश्वयुजशुक्लद्वादश्यां मध्येऽनिरुद्धं दलेष्वनिरुद्धस्थानयोर्वासुदेवमरेषु विष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमान् शक्तिविभू<sup>१०</sup>(तिच्छाया?ती-च्छार्य)देवीत्रयं हृन्मन्त्रादिष्टकं च क्रमेणाभ्यर्च्य, कार्तिकशुक्लद्वादश्यां कर्णिकामध्ये वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयं दलेषु हृन्मन्त्रादिष्टकमरेषु केशवादिर्मूर्तिद्विष्टकं नेमिस्थाने

१. तृतीय-मु० अटी० । २. कां गतः-अ० अटी० । ३. पुरम्-मु०, परम्-अटी० ।
४. चादि-मु० अटी० । ५. पद्मितरेषा नास्ति-मु० अटी० । ६. तद्वद्-बक० बख० ।
७. दशमोति सार्वत्रिकः पाठः । ८. स्था देवतागणाः-मु० अटी० अ० । ९. होमो-मु० अटी० ।
१०. तीच्छाया-अ० ।

इत्येतत् सविशेषं च व्रतमुक्तं समाप्तः ।  
 यत्कृत्वा पुनरप्यत्र जायते न पुनर्भवे ॥ १६२ ॥  
 इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां संवत्सरव्रतविधिर्नाम  
 अष्टमः परिच्छेदः ॥

श्रियादिदेवीद्विषट्कं च यथाविधि विशेषणाभ्यच्युर्य होमं पूर्णहृत्यन्तं कुर्यात् ॥ १४१-  
 १६२ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमङ्गलाचर्कस्य  
 श्रीयोगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्येऽष्टमः परिच्छेदः ॥

१. न पुनर्भूयो जायतेऽस्मिन्-बक० बख० अ० उ० । २. 'व्रत' नास्ति-म० अटी० ।  
 ३. कमलसेवाचर्कस्य-अ० ।

## नवमः परिच्छेदः

नारदं उवाच

अथ लाङ्गलिना देवश्चक्रधृक् परिचोदितः ।  
यत् तच्छृणुत विश्रेन्द्राः कर्थमानं मयाऽधुना ॥ १ ॥

सङ्कर्षणं उवाच

सूक्ष्मव्यूहविभागेन सवाह्नाभ्यन्तरं हि यत् ।  
परस्य ब्रह्मणः सम्यग् ज्ञातमाराधनं मया ॥ २ ॥  
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विभोः सद्विभवात्मनः ।  
आराधनं यथावच्च भविनामीष्मितप्रदम् ॥ ३ ॥

भैंगवानुवाच

वैभवीयो महाबुद्धे देवतानिचयो महान् ।  
य उक्तस्ते मया पूर्वमेकैकं विद्धि तत्त्विधा ॥ ४ ॥  
चतुर्णा युगसन्धीनां युगानां च तथैव हि ।  
विश्वविष्लवदोषाणां विनाशाय समृद्धयतम् ॥ ५ ॥

अथ नवमो व्याख्यास्यते । संकर्षणपरिपृष्ठेन वासुदेवेन यदुक्तं तच्छृणुध्वमिति  
नारदो मुनीन् प्रत्याह—अथेति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—सूक्ष्मेति द्वाभ्याम् । सूक्ष्मव्यूहविभागेन परव्यूहमेदेनेत्यर्थः ।  
सवाह्नाभ्यन्तरं मानसयगवाह्न्यागभेदभिन्नमित्यर्थः ॥ २-३ ॥

एवं पृष्ठो भगवान् स्थूलसूक्ष्मपरत्वमेदेन विभवावतारस्य त्रैविध्यमाह—वैभवीय  
इत्यारभ्य आमोक्षान्निविचारेणेत्यन्तम् । अत्र युगानां युगसन्धीनामिति पष्ठच्चा  
अधिकरणत्वर्थः । विश्वविष्लवदोषाणां विनाशाय समृद्धयतम् । युगेषु तत्सन्धिकालेषु  
च ये ये दोषाः संभवन्ति, तेषां प्रशमायाविर्भूतमित्यर्थः । अनेन—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।  
धर्मसंस्थापनार्थीय संभवामि युगे युगे ॥ ( भ० गी० ४८ )

१. 'नारदः' इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. 'सङ्कर्षणः' इत्येव उ० विहाय सर्वत्र  
पाठः । ३. श्रीभग—अ० उ० । ४. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति ।

सितरक्तादिरूपेण ज्वलदस्त्रकराङ्कितम् ।  
 कायरिम्भे तथा मध्ये ह्यवसाने तु सर्वदा ॥ ६ ॥  
 सन्धत्ते रूपमात्मीयमेकं एव त्वनेकधा ।  
 श्रेयसे सर्वलोकानां स्थूलं तत् कामरूपधृक् ॥ ७ ॥  
 अनुद्यतेन वपुषा कुन्देन्दुधवलेन च ।  
 वीरासनादिना चैव स्थितं मुदितमानसम् ॥ ८ ॥  
 लीलाविधृतसर्वास्त्रं सौम्यवक्त्रमनाकुलम् ।  
 धिया दोषगणं सर्वं धंसैयन्तं च मोक्षिणाम् ॥ ९ ॥  
 तद्वक्तं शान्तसंज्ञं च रूपं रूपवतांवैरम् ।  
 प्रकाशयति सन्मार्गं समाधिनिरतात्मनाम् ॥ १० ॥

इत्यर्थः स्मारितो भवति । सितरक्तादिरूपेण तत्तद्युगानुसारिवर्णमेदेनेत्यर्थः । तथा च  
श्रीभागवते—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।  
 शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ इति ।

(श्रीमद्भागवत १०।८।१३)

कायरिम्भे मध्येऽत्रसाने च सृष्टिस्थितिसंहारकालेष्वित्यर्थः । एक एवानेकधा रूपं  
 सन्धत्ते । सृष्टिकाले रक्तं रूपम्, रक्षणकाले शुक्लं रूपम्, संहारकाले कृष्णं रूपं  
 बिभर्तीत्यर्थः । स्थूलं जाग्रत्पदस्थितमित्यर्थः । कामरूपधृक् स्वेच्छया नानारूपधर-  
 मित्यर्थः । तद्वक्तं शान्तसंज्ञं च रूपमित्यत्र व्यक्तमित्यनेन स्वप्नसुषुप्तिपदाश्रितत्वम्,  
 शान्तसंज्ञमित्यनेन तुर्यपदाश्रितत्वं चोच्चते । ५यतो लक्ष्मीतत्वे—

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।  
 सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ ( १०।४।२ )

इति स्वप्नसुषुप्तिपदस्थस्य सुव्यक्तत्वं तुर्यपदस्थस्य शान्तत्वं चोक्तम् । एवं स्वप्नसुषुप्ति-  
 तुर्यपदाश्रितत्वादिना विभिन्नस्यापि रूपस्पैक्यकथनं हृदयान्तःस्थितत्वेन सूक्ष्मत्वेन  
 चाविशेषादिति बोध्यम् । रूपं सूक्ष्मरूपमित्यर्थः । तथा च जयाख्ये चतुर्थं पटले—

सष्टा पालयिता चाहं संहर्ता पुनरेव च ।  
 स्वकीययोगयुक्त्या तु स्थूलरूपेण नारद ॥

१. मेकमेव—अ० उ० । २. स्थूलवत्—म० अटी० । ३. धृत्—म० अटी० । ४. धंसन्तं  
 तं—बक० बख० । ५. वर—बख० उ०, वरः—अ० । ६. यतः श्री—म० ।

तेजोमयं यत् तद्रूपं वैभवं शान्तसंज्ञकम् ।  
 उपासकानां भक्तानां सर्वे सर्वफलप्रदाः ॥ ११ ॥  
 आमोक्षान्निविचारेण एकैकस्य महामते ।  
 आराधनार्थं विहितो वाचको हि चतुर्विंशः ॥ १२ ॥  
 संज्ञानानापदमयः पिण्डारुयो बीजलक्षणः ।  
 एभ्यो मैध्याच्यथैकेन वाच्यमामन्त्य भक्तिः ॥ १३ ॥

सूक्ष्मेण सर्वभूतानां निवसामि हृदन्तरे ।  
 करोम्यनुग्रहं चापि भक्तानां भावितात्मनाम् ॥  
 परेणानन्दरूपेण व्यापकेनामलेन च ।  
 व्यासयाम्यखिलं विप्र रसेनेव तरूत्तमम् ॥ (४२३-२५) इति ।  
 नन्वत्र व्यूहस्यैव तुर्यसुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदाश्रितत्वेन चातुर्विध्यमुक्तम्, तद्विभवा-  
 वतारेऽपि भवता कथमुच्यते इति चेत्, वूमः—

स्वप्नाद्यवस्थाभेदस्तु ध्यायिनां खेदशान्तये ।  
 तत्तत्पदस्थजीवानां तन्निवृत्यर्थमेव च ॥  
 स्वप्नाद्यवस्थजीवानामधिष्ठातार एव ते ।  
 कर्मात्मनां च सेनेश तत्पदस्थो ममेच्छया ॥  
 उपास्योऽहं महाभाग पैदभेदप्रयोजनम् ॥

( तत्त्व०, पृ० १३३-१३४ )

इत्युक्तस्य फलस्य विभवावतारेऽप्यपेक्षितत्वाद् व्यूहवद् विभवस्यापि तुर्यादिपदभेदेन  
 चातुर्विध्यमुपपन्नम् । अत एवोक्तं जगज्जनन्या—

पराद्यच्चावितारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये ॥  
 तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः । (लक्ष्मी० २।६०-६१) इति ।

वैभवं शान्तसंज्ञकमित्यत्र शान्तसंज्ञकं परात्परमित्यर्थः ॥ ४-१२॥

अथ संज्ञापदपिण्डबीजभेदेन मन्त्राणां चातुर्विध्यं तेष्वेकतमेन भगवदावा-  
 हनाद्यर्चनं चाह—एकैकस्य महामते इत्यादिना सार्थेन । वाच्यं भगवन्तमामन्त्य  
 समावाह्य, अचर्येदिति शेषः ॥ १२-१३ ॥

बीजपिण्डमन्त्रयोरन्यतरेण संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरेण चोभयेनाप्यभिन्नरूपस्यै-  
 कस्यैव भगवतोऽर्चनं यत्र कार्यम्, तत्र तन्मन्त्रद्रव्यस्यापि समेलनप्रकारम्, तदाद्यन्तयोः

१. त्वेकै—मु० वक० बख० उ० । २. ध्यात्वा त्व—उ० । ३. तमान्—अ० ।
४. यद—मु० ।

यत्रैकपिण्डवाक्योत्थमन्त्रेणाथोभयात्मना ।  
 अभिन्नलक्षणो वाच्य एक एवोपचर्यते ॥ १४ ॥  
 तत्र वै विधिनानेन कुर्यात्ताभ्यां हि कल्पनाम् ।  
 कृत्वादौ नाममन्त्रस्य बीजं पिण्डाक्षरं तु वा ॥ १५ ॥  
 नयेत् तेनाभिमुख्यं च वाच्यमाद्यन्तकेन वा ।  
 संतत्त्वं पदमन्त्रं तु विधिनानेन वै ततः ॥ १६ ॥  
 कुर्यात् प्रणवपीठस्थं नमस्कारध्वजान्वितम् ।  
 आभ्यां शान्तस्वरूपत्वादेकत्वमत एव हि ॥ १७ ॥  
 संज्ञाख्यं पदमन्त्रं च विद्वि संसिद्धिलक्षणम् ।  
 स्वरोत्थं व्यञ्जनोत्थं वा बीजमेकाक्षरं स्मृतम् ॥ १८ ॥  
 स्वरव्यञ्जनसंयोगाद् बहुर्णः पिण्डमन्त्रराद् ।  
 द्वाभ्यामाद्यात् तथान्ताच्च स्वरवर्गान्महामते ॥ १९ ॥  
 स्वरूपेण हि मन्त्रत्वमन्येषां सह विन्दुना ।

प्रणवनमः संयोजनमन्त्रं चाह—यत्रेति सार्थेश्चतुर्भिः । आद्यन्तकेन वा आदिबीजमन्ते यस्य तत् तथोक्तेन, अन्तेऽपि बीजसहितेनेत्यर्थः । यद्वा अन्त एव बीजसहितेनेत्यर्थः । उभयथाप्युक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

आदौ मध्ये तथान्ते च त्रिषु वान्यतरत्र वा ॥  
 येषां पिण्डोऽथवा बीजं ते मन्त्राः सार्वकालिकाः । (२१२२-२३)  
 इति ॥ १४-१८ ॥

बीजस्वरूपं पिण्डस्वरूपं चाह—स्वरोत्थमिति । स्वरोत्थम् अकारादिस्वरे-  
 ष्वन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा, उत्थम् उत्पन्नमित्यर्थः । तथा चोपबृहितं लोकमात्रा—  
 एकस्वरं द्विस्वरं वा स्वरव्यञ्जनयोद्यम् ॥  
 बीजं बहुस्वरं वापि विज्ञेयं बहुवेश्वर । (लक्ष्मी० २१११-१२)  
 इति ॥ १८-१९ ॥

अकारादिषोडशस्वरेष्वाद्यस्वरद्वयस्यान्त्यस्वरद्वयस्य च स्वरूपेणैव मन्त्रत्वम्,  
 अन्येषां स्वराणामनुस्वारसहितत्वे मन्त्रत्वमित्याह—द्वाभ्यामिति । आद्यद्वाभ्याम्  
 अकाराकाराभ्याम्, अन्त्यद्वाभ्याम् अनुस्वारविसर्गभ्यामित्यर्थः । इदं बीजचतुष्टयं  
 पूर्वं स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्के च प्रतिपादितं ज्ञेयम् ॥ १९-२० ॥

१. विक-अटी० । २. न्तर्गतेति सार्वत्रिकः पाठः । ३. स तत्र-अटी० बक० वख० ।  
 ४. स्कारं-बख० । ५. सत्रिवि-अ० ।

स्वरेणैकेन युक्तस्य स्वरयुग्मान्वितस्य च ॥ २० ॥  
 सानुस्वारस्य वीजत्वं व्यञ्जनस्यापि लाङ्गलिन् ।  
 य ऽकाराराख्यशब्दस्य विवर्तो दीधितिप्रभः ॥ २१ ॥  
 चिल्लक्षणस्त्वनाकारो विद्धि तद्वाचकं त्रिधा ।  
 क्वचित् पिण्डं क्वचिद्वीजं क्वचिच्छब्दमनाहतम् ॥ २२ ॥  
 तस्य चोद्गीर्यमाणस्य परिणामः स्फुटो हि यः ।  
 बहुक्षरो बहुपदः स्तुतिसम्बोधलक्षणः ॥ २३ ॥  
 अविनाशी म ऽकारो वीजादीनां महद्विदिः ।  
 प्राग् दद्यात् प्रणवेनातः सत्याख्येनासनं महत् ॥ २४ ॥

---

ककारादिव्यञ्जनस्यापि विन्दुसहितत्वेनैव मन्त्रत्वमाह—स्वरेणेति ॥२०-२१॥  
 वीजपिण्डसंज्ञापदमन्त्राश्चत्वारोऽपि प्रणवस्य परिणामाः । तत्राचास्त्रयः सूक्ष्म-  
 परिणामाः, अन्त्यः स्थूलपरिणाम इत्याह—य ऽकाराराख्यशब्दस्येति सार्धद्वाभ्याम् ।  
 औकारभेद इति यावत्, दीधितिप्रभः केवलतेजोरूप इत्यर्थः । चिल्लक्षणः चिद्वूपः ।  
 अनाकारो गुणलक्ष्य इत्यर्थः । एवमेवोपबृहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

शब्दत्रह्यविवर्तोऽयं                    किरणायुतसंकुलः ॥  
 चिल्लक्षणः सँडगुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः ।  
 क्वचिद्वीजं क्वचित्पिण्डं क्वचित्संज्ञा क्वचित्पदम् ॥  
 तुर्यं सुषुप्तिः स्वप्नं च जाग्रद्वैहादयः क्रमात् ॥ (२१९-११)

एवं च मन्त्रप्रतिपाद्यस्य भगवतः पूर्वं पैरसूक्ष्म(स्य?)स्थूलभेदेन त्रैविध्यम्, तत्र  
 सूक्ष्मस्य तुर्यसुषुप्तिस्वप्नभेदेन त्रैविध्यं च यथा प्रतिपादितम्, तद्विद्वापि प्रणवस्य  
 परत्वम्, वीजपिण्डसंज्ञामन्त्राणां तुर्यसुषुप्तिस्वप्नक्रमेण सूक्ष्मत्वम्, पदमन्त्रस्य स्थूलत्वं  
 चोक्तं भवतीति ज्ञेयम् ॥ २१-२३ ॥

एवं प्रणवस्य नित्योदितत्वात् सर्वमन्त्राणामप्याधारत्वेनादौ निवेशनम्, तदुपरि  
 तद्विवृत्तस्य वीजस्य न्यासम्, प्रत्यहमाराधनकाले वीजात् तत्परिणामाकारेण संज्ञापद-  
 मन्त्रयोरन्यतरस्योत्थानम्, समाप्ते यजने पुनस्तत्रैव लयं चाह—अविनाशीति त्रिभिः ।  
 वीजस्य क्षेत्रज्ञरूपत्वात् तदुपरि स्थितानां वर्णानां क्षेत्ररूपत्वाच्च मूर्त्युत्थानमुक्तम् ।  
 विप्रलयं स्मरेदित्यनेन मूर्तिरूपस्य मन्त्रस्य वीजे उपसंहारः, वीजस्य तत्कारणे प्रणवे  
 चोपसंहारो बोध्यः । तथा च जयाख्ये—

१. चोद्गीर्यमानस्य—मु० अटी० । २. प्राग् वि—बक० बख० उ० । ३. विवर्तपदस्य  
 व्याख्यानमेतत् । ४. षड्—मु० । ५. द्वीजा—मु० । ६. पूर्वापरसूक्ष्मस्य—अ० ।

तस्माद् वै सत्यमिन्नं तु वीजं तदुपरि न्यसेत् ।  
 स्वविवरेन वीजस्य मूर्त्युत्थानं प्रकल्पयेत् ॥ २५ ॥  
 प्राप्तेज्यावसरे नित्यं सम्पन्ने यजने सति ।  
 तप्तोपले जलं यद्वत् तद्वत् विश्रेत्यं स्मरेत् ॥ २६ ॥  
 भानुप्रसरसंकोचतुल्यमेतद् महामते ।  
 क्रियावशान्तु किन्त्वत्र भैदमात्रोपलक्षणम् ॥ २७ ॥  
 नै यत्र वीजं पिण्डं वा तत्र वै प्रणवादनु ।  
 प्राप्तवर्णं पदमन्त्रस्य यत् तदालोकवाचकम् ॥ २८ ॥  
 तच्छिष्टं विग्रहं वर्णेस्तस्मादुत्थाप्य वृक्षवत् ।  
 केवलं यत्र वै वीजं पिण्डं वा पदवर्जितम् ॥ २९ ॥

भोगस्थानगता मन्त्राः पूजिता ये यथाक्रीमम् ॥  
 मुख्यमन्त्रशरीरं तु संप्रविष्टांश्च संस्मरेत् ।  
 ज्वाला ज्वालात्तरे यद्वत् समुद्रस्येव निम्नगाः ॥  
 तं मन्त्रविग्रहं स्थूलं सर्वमन्त्रास्पदं द्विज ।  
 प्रविष्टं भावयेत् सूच्मे बुद्ध्यक्षे ह्यभग्रात्मके ॥  
 परे प्रागुक्तरूपे तु तं सूक्ष्ममुभयात्मकम् ।  
 तं परं प्रस्फुरदूषं निराधारपदाश्रितम् ॥  
 सन्धिमार्गेण हृत्पद्मे संप्रविष्टं तु भावयेत् । ( १५२३३-२३७ )

इति ॥ २४-२६ ॥

( पृथिवीभिन्नस्थ ? ) संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरस्य पूजाकाले वीजात् प्रसरणं तत्समाप्तौ तत्र संकोचश्च कथमुपपद्यत इति शङ्खां किरणसादृश्येन परिहरति—भानु-प्रसरेति ॥ २७ ॥

बोजेन पिण्डेन वा विरहिते मन्त्रे प्रथमाक्षरस्यैव वीजत्वम्, तदवशिष्टानां वर्णानां तद्विश्रहत्वेन तस्मादुत्पादनं चाह—न यत्रेति साधेन । उत्थाप्येत्यत्राऽर्चर्येदिति शेषः । एवमेवोपबृहितं हरिवल्लभयापि—

बीजं वीजवतां जीवः शिष्टं क्षेत्रं प्रकीर्तितम् ॥  
 निर्बोजानामादि जीवः क्षेत्रं तु परिशेषितम् । इति ।  
 ( लक्ष्मी० २११७-१८ )

आदि प्रथमवर्णमित्यर्थः ॥ २८-२९ ॥

१. रूपं-मू० अटी० । २. मृत्युस्थानं-मू० अटी० । ३. प्रविलयमिति सार्वत्रिकः पाठः ।
४. प्रसव-मू० । ५. आनीय वीर्यपिण्डं वा—उ० । ६. क्रमात्-मू० । ७. तन्मन्त्र-अ० म० ।
८. सुधी-अ०, सिद्धिमार्गण-मू० । ९. पृथिवीभिन्नस्येत्यनावश्यकं पदमुभयोर्मातृकयोर्दृश्यते ।

तत्राकाराग्व्यवर्णस्य क्षेत्रज्ञत्वं विधीयते ।  
 क्षेत्रत्वमवशिष्टानां वर्णानां पिण्डरूपिणाम् ॥ ३० ॥  
 केवलस्य हि वीजस्य स्वस्थितिब्रह्मवर्णता ।  
 स्वभावप्रचयुतिर्बीजं वीजोच्चारस्तथाकृतिः ॥ ३१ ॥

संज्ञापदमन्त्ररहिते वीजे पिण्डे वाऽकारस्य वीजत्वम्, तदवशिष्टानां वर्णानां विग्रहत्वं चाह—केवलमिति सार्थेन । एवमेवोक्तं कमलवासिन्यापि—

बीजानां चैव पिण्डानामस्तु क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥  
 शिष्टं तु क्षेत्रमुद्दिष्टम् .... .... .... (लक्ष्मी० २१।१८-१९) इति ।

बीजानां पिण्डानां पदवर्जितकेवलवीजपिण्डानामित्यर्थः । अस्तु अकारस्त्वत्यर्थः ॥ २९-३० ॥

अकारेणापि रहितं बीजपिण्डविषयमाह—केवलस्येति सार्थेन । केवलस्य वीजस्य स्वस्थितिरेव ब्रह्मवर्णता स्वस्य स्थूलरूपा च स्थितिरेव ब्रह्मता वर्णता च । ब्रह्मता स्थूलता, मूर्त्त्वमिति यावत् । वर्णता बीजत्वमित्यर्थः । क्षेत्रत्वं क्षेत्रज्ञत्वमप्यवस्थाभेदेनैकनिष्ठमिति भावः । तथाहि—स्वभावप्रचयुतिः स्थूलताविरहः, मध्यमावस्थेति यावत् । सैव बीजं जीव इत्यर्थः । वीजोच्चारार्थे वीजस्य स्थूलरूपेण स्फुटोच्चारणमेव आकृतिः क्षेत्रमित्यर्थः । एवमेव पिण्डमन्त्राणामप्युदयः परिज्ञेयः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावो बोध्य इत्यर्थः । लक्ष्मीतन्त्रे त्वेवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञभाव एकमात्रबीजविषये प्रतिपादितः । अकारहितबीजविषये तु स्वरस्यैव क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम् । तथाहि—

.... .... .... .... .... अकाररहिते पुनः ।  
 क्षेत्रज्ञ स्वर उद्दिष्टः केवले चै स्वरे पुनः ॥  
 जीवः स्यात् प्रथमा मात्रा द्वितीयादि तनुर्भवेत् ।  
 एकमात्रे तु जीवः स्यात् संस्कारोऽ भूतलक्षणम् ॥  
 उच्चार्यमाणं क्षेत्रं स्यान्निःस्वरे पिण्डके पुनः ।  
 प्रथमो जीव उद्दिष्टः शिष्टं क्षेत्रं प्रचक्षते ॥ (२१।१९-२१) इति ।

संस्कारः शब्दस्य मध्यमावस्थेत्यर्थः । उक्तं खलु तत्रैव—

ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः ।  
 मध्यमा सा दशा तत्र संस्कारैयति संगतिम् ॥  
 वाच्यवाचकमेदस्तु तदा संस्कारतामयः ॥ (१८।२५-२६) इति ।

१. मूर्त्तित्व—म० । २. केवल—अ० । ३. चास्वरे—अ० म० । ४. रोड़द्वृतलक्षणः—मु० ।

५. संस्कार इति—अ० म० ।

बीजवत् पिण्डमन्त्राणां परिज्ञेयः सदोदयः ।  
 यद्गीजलक्षणं मन्त्रं सामर्थ्यं वैष्णवं महत् ॥ ३२ ॥  
 असंख्येयमसंख्यानां वाच्यानां भिन्नरूपिणाम् ।  
 तद्यथावत् परिज्ञानाज्जपाद् ध्यानात् समर्चनात् ॥ ३३ ॥  
 हवनात् तन्मयत्वाच्च निर्बीजं पदमृच्छति ।  
 सहाभिमतसिद्धिः स्यात् साधकानां सदैव हि ॥ ३४ ॥  
 पिण्डादिभैर्गवन्मन्त्रमूर्तीनामेवमेव हि ।  
 परिज्ञानाद् भवेत् किन्तु पिण्डात् तत्स्थैर्यमुत्तमम् ॥ ३५ ॥  
 नानात्वं नाममन्त्राच्च नानालोकान्तरोत्थितम् ।  
 भवेत् सर्वपदप्राप्तिः परिज्ञानात् पदाभिधात् ॥ ३६ ॥  
 सबीजं वा सपिण्डं वा मन्त्राणां यत्पैरं द्रुयम् ।  
 विदधाति फँलं स्वं स्वं किन्त्वाद्यं भावयेत् परम् ॥ ३७ ॥

भूतलक्षणं स्थूलरूपम्, उच्चार्यमाणं वैखर्यवस्थापन्नमित्यर्थः । तथा चोक्तं तत्रैव—  
 “वैखरी नाम सावस्था वर्णवीक् संस्कृतोदया ( १८।२७ ) इति ॥३१-३२ ॥

बीजमन्त्रफलमाह—यदिति सार्धद्वाभ्याम् । वैष्णवं सामर्थ्यं भगवत्सामर्थ्य-  
 रूपमित्यर्थः । असंख्येयं मन्त्रप्रतिपाद्य नानारूपतयाऽसंख्यात्तत्वात् तत्प्रतिपादकमपि  
 तथा नानाविधाकारमित्यर्थः । तद्यथावत् परिज्ञानात् तस्य बीजस्य सप्रकारज्ञाना-  
 दित्यर्थः । निर्बीजं पदम् अनाद्यन्तं ॐ परमं धामेत्यर्थः । ऋच्छति प्राप्नोति, साधक  
 इति शेषः । सहाभिमतसिद्धिः स्यादिति तेन मोक्षरूपफलेन सहाभिमतार्थसिद्धेरुक्त-  
 त्वान्मोक्षस्य प्राधान्यमन्येषामानुषङ्गिकत्वमुक्तं भवति ॥ ३२-३४ ॥

पिण्डसंज्ञापदमन्त्राणामप्येवमेव चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्वमस्ति, किन्तु तत्र मोक्षे-  
 तरफलस्थैर्यादिकं भवेदित्याह—पिण्डादीति सार्धद्वाभ्याम् । तत् स्थैर्यं मोक्षेतराभिमता-  
 र्थस्थैर्यमित्यर्थैः । नानात्वं तेषामेव नानाविधत्वमित्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥

बीजपिण्डाभ्यां सह संज्ञापदमन्त्रयोः संयोजनमुक्तम् । तत्र फलप्रदत्वं पूर्वस्य  
 वा परस्य वौभयोर्वेत्याकाङ्क्षायां परस्यैव स्वफलप्रदत्वम्, पूर्वस्य तु क्षेत्रज्ञरूपेण भावना-  
 मात्रं चाह—सबीजमिति सपादेन ॥ ३७-३८ ॥

१. स्वाराध्यं-मु०, स्वाराज्यं-अटी० । २. जपध्या-बख० उ० । ३. सर्वा-मु०  
 अटी० अ० । ४. कस्य-मु० अटी० । ५. दिर्भग-मु० अटी० । ६. यत्पद-उ० । ७. पदं-  
 मु० अटी० । ८. पदम्-बक० बख० । ९. वाक्यस्फुटो-मु० । १०. परं-म० ।

मन्त्रक्षेत्रज्ञरूपत्वाद् यस्मात् सर्वेश्वरोऽच्युतः ।  
 व्याप्यव्याप्तकरूपेण वर्ततेऽनुग्रहेच्छया ॥ ३८ ॥  
 व्याप्यरूपेण भूलोकाद् भोगादारभ्य चाखिलात् ।  
 षाढ़गुण्यमहिमान्तं च ददाति फलमुत्तमम् ॥ ३९ ॥  
 स्वपदं भोगखिन्नस्य दिव्यदेहस्य कर्मिणः ।  
 क्षेत्रज्ञबीजपिण्डात्मा निरावरणलक्षणः ॥ ४० ॥  
 ज्ञानं यदमलं शुद्धं संयच्छत्यात्मलाभदम् ।  
 शक्तिव्यक्तिमयत्वं च जाग्रद्वृत्तेः पृदात्मनः ॥ ४१ ॥  
 एवं संज्ञात्मनः स्वप्नवृत्तेरेकत्वमस्ति च ।  
 सुषुप्तिवृत्तेः पिण्डाख्यमन्त्रस्यैव महामते ॥ ४२ ॥  
 बीजात्मनस्तुर्यवृत्तेः शक्तिव्यक्तित्वमस्ति वै ।  
 व्यक्तिर्ज्ञानफलोपेता नियता यद्यपि स्मृता ॥ ४३ ॥  
 भगवन्मन्त्रमूर्तीनां तथापि परमात्मनः ।  
 आद्यस्य चातुरात्म्यस्य केवलस्याथवा विभोः ॥ ४४ ॥  
 चतुष्प्रकारं यन्मन्त्रं विद्वि तन्मोक्षभूतिदम् ।

पुनरिममेवार्थं सहेतुकं द्रढयन् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरभयोरपि भगवद्वृपत्वात् क्षेत्रस्यैव भोगमोक्षप्रदत्वं क्षेत्रज्ञभूतस्य बीजपिण्डान्यतरस्य तु मोक्षसाधकज्ञानप्रदत्वं चाह— यस्मादिति सपादैस्त्रिभिः । व्याप्यव्याप्तकरूपेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपेणेत्यर्थः । निरावरणलक्षणो व्यापकरूप इत्यर्थः ॥ ३८-४१ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिर्यावस्थानां पदसंज्ञापिण्डबीजानां च क्रमेण परस्परं शक्ति-व्यक्तित्वमाह—शक्तीति द्वाभ्याम् ॥ ४१-४२ ॥

यद्यपि बीजादिभगवन्मन्त्रव्यक्तेज्ञानप्रदत्वं भोगमोक्षफलप्रदत्वं च नियमेनोक्तम्, तथापि तसुषुप्तिव्यूहादिमन्त्रव्यक्तिविषयम्, परमन्त्राणां तु चतुर्विधानामपि मोक्ष-प्रदत्वमेवेत्याह—व्यक्तिरिति त्रिभिः । आद्यस्य चातुरात्म्यस्य, तुर्यव्यूहस्येत्यर्थः । केवलस्य विभोः, परात्परस्येत्यर्थः । अतोऽन्यथा यदुद्दिष्टं सुषुप्तिव्यूहादिक्रमेणोक्तं मन्त्रजातमित्यर्थः । अमिश्रं फलं केवलमोक्षमित्यर्थः । मिश्रं फलं भोगसहितं मोक्ष-मित्यर्थः । भाववशात् तत्तदभिसन्ध्यनुसारेणेत्यर्थः । ददातीति शेषः । एवं च द्वितीय-

१. कृपया-अ० ।    २. मभिमानं-मु० अटी० ।    ३. परा-मु० अटी० ।  
 ४. ख्यं-बक० बख० अ० उ० । ५. स्तस्य-मु० अटी० । ६. वलो-मु० अटी० ।

अतोऽन्यथा यदुद्दिष्टममिश्रं मिश्रमेव हि ॥ ४५ ॥  
 फलं भाववशाच्चैव तत्त्वा विद्वा नान्यथा ।  
 ज्ञात्वैवमर्चयेत् पश्चान्नानामन्त्रैर्महामते ॥ ४६ ॥  
 गौणमुख्यादिंगुद्यैस्तु प्रादुर्भावगणं विभोः ।  
 महाज्योतिस्वरूपस्य सह वै चतुरात्मना ॥ ४७ ॥  
 प्राग् जाग्रत्पदसंस्थस्य लेशेनोक्तं तदर्चनम् ।  
 इदानीं संविशेषेण मन्त्रध्यानक्रियान्वितम् ॥ ४८ ॥  
 प्रवक्ष्यामि समासेन शृणुष्वायतलोचन ।  
 विशाखयूपो भगवान् स्वयं विश्वसिसृक्षया ॥ ४९ ॥  
 अध्यक्षेण स्वरूपेण समुदेत्येक हि ।  
 महिमानं तु निशेषं शुद्धसंवित्पुरस्सरम् ॥ ५० ॥

परिच्छेदोक्तस्य परमन्त्रत्वेऽपि मुख्यतो मोक्षप्रदत्वात्, अत एव तन्मन्त्रस्य योगिभिरुपास्यत्वेन पूर्वमुक्तवाच्चेदानीं संज्ञापदमन्त्रसामान्यस्य भोगप्रदातृत्वोक्ति-विरुद्धयतीत्यभिप्रायेणैवं विषयव्यवस्था कृतेति बोधम् ॥ ४३-४६ ॥

एवं तत्तन्मन्त्रफलभेदादिज्ञानपूर्वकं भगवदर्चनं कुर्यादित्याह—ज्ञात्वेति । प्रादुर्भावगणं वक्ष्यमाणपद्यनाभाद्यवतारसमूहमित्यर्थः ॥ ४६-४७ ॥

परेण भगवता सह जाग्रद्वयूहस्याचैनं पूर्वं संश्लेषणोक्तम्, इदानीं संविशेषं वक्ष्यामीत्याह—महाज्योतिरिति द्वाभ्याम् । महाज्योतिस्वरूपस्य परस्येत्यर्थः । चतुरात्मना सह वासुदेवादिचातुरात्म्येन सहेत्यर्थः । “स्वमूर्तिभिरमूर्तीभिरच्युतादाभिरन्वितः” ( २।७२ ) इति तत्रापि चातुरात्म्यमुक्तं हि । जाग्रत्पदसंस्थस्य जाग्रद्वयूहस्येत्यर्थः । प्राक् पूर्वम्, तदर्चनं तथाविधमर्चनम्, लेशेनोक्तं द्वितीयपरिच्छेदे मानसार्चनम्, षष्ठ-परिच्छेदे बाह्यार्चनं चोक्तमित्यर्थः ॥ ४७-४९ ॥

आदौ सकलविभवदेवानामधिपतेर्विशाखयूपसंज्ञस्य भगवतः प्रादुर्भावरीतिमाह—विशाखयूप इति द्वाभ्याम् । आद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य ( च ? ) तुर्यव्यूहस्य । शुद्धसंवित्पुरस्सरं महिमानमादाय व्यूहविभवावतारसाधनोपकरणं संगृहेत्यर्थः । एवमेवोपर्वृहितं जगज्जनन्यापि—

१. भाग-मु० । २. तिगु-मु० । ३. सहैव-उ० । ४. तु वि-अटी० । ५. आध्य-उ० ।
६. शुद्ध-अ० उ० । ७. तुर्यव्यूहस्य-अ० ।

आदायाद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य वै वि भोः ।  
 तैर्या चाधारभूयिष्ठेदेवानां चेष्टितं हि यत् ॥ ५१ ॥  
 सितादयः कान्तयोऽथ श्यादिकं च महामते ।  
 सलाङ्घनं वैभवीयं सायुधं बीजमेव तु ॥ ५२ ॥  
 ज्ञानाद्यं गुणषट्कं च तदुक्ताः शक्तयोऽखिलाः ।  
 अणिमाद्यष्टकं चैव स्थित्युत्पत्तिलयोदयाः ॥ ५३ ॥  
 शक्तिः सा चातुरात्मीया त्वैश्वरीत्यभिधीयते ।  
 यथार्ककिरणव्रातं त्यक्त्वा तेजःकणो महान् ॥ ५४ ॥

---

तुयाद्यैस्वप्नपर्यन्ते चातुरात्म्यादिके हि यत् ॥  
 तत्तदैश्वर्यसंपन्ने पाङ्गुण्यं सुव्यवस्थितम् ।  
 तदादायाखिलं दिव्यं शुद्धसंवित्पुरस्सरम् ॥  
 विभजत्यात्मनात्मानं वासुदेवादिरूपकैः । (लक्ष्मी० १११५-१७)

इति ॥ ४९-५१ ॥

तदुपकरणानां विवरणमाह—तथा चेति त्रिभिः । श्यादिकं श्रीदेव्यादिकं शक्तिजालमित्यर्थः । एपां सर्वेषामपि पाङ्गुण्यमयत्वमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

परादिविभवान्तानां सर्वेषां देवतात्मनाम् ।  
 शुद्धधाइगुण्यरूपाणि दध्युषि त्रिदशोश्वर ॥  
 यावन्त्यस्त्राणि देवानां चक्रशङ्कादिकानि वै ।  
 भूषणानि विचित्राणि वासांसि विविधानि च ॥  
 ध्वजाश्च विविधाकाराः कान्तयश्च सितादिकाः ।  
 वाहनानि विचित्राणि सत्याद्यानि सुरेश्वर ॥  
 शक्तयो भोगदाश्चैव विविधाकारसंस्थिताः ।  
 आन्तःकरणिको वर्गस्तदीया वृत्तयोऽखिलाः ॥  
 यच्च यच्चोपकरणं सामान्यं पुरुषान्तरैः ।  
 पाङ्गुण्यनिर्मितं विद्वि तत्सर्वं बलसूदन ॥ ( ११३२-३६ )

इति ॥ ५१-५४ ॥

- 
१. यथा—मु० बक० । २. भूयिष्ठ—बक० अ०, भूमिष्ठ—उ० । ३. यो या—अ० उ०, यो यत्—मु० अटी० । ४. यादयः—अ०, लोदयः—उ० । ५. यथार्क—अ० । ६. तुयाद्यै—मु० । ७. रूपतः—मु० । ८. शङ्कचक्रा—अ० । ९. संस्थितिः—अ० म० ।

स्वकारणं विना सर्वमापूरयति गोचरम् ।  
 स्वातन्त्र्यात् परिपूर्णत्वात् तद्वत् स परमेश्वरः ॥ ५६ ॥  
 विहाय वासुदेवाद्यं मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।  
 वैभवीयस्य यूथस्य पतित्वेनावतिष्ठते ॥ ५६ ॥  
 सम्भूतिस्थितिसंहारभोगकैवल्यलक्षणम् ।  
 प्रेरयन् वै धिया चक्रं पञ्चारमिदमुच्चमम् ॥ ५७ ॥  
 स्मर्तव्यः स्वपदस्थः स स्वैर्वीजेनामलात्मना ।  
 आमूर्धतोऽडिग्रपर्यन्तं तदीयं गात्रमण्डलम् ॥ ५८ ॥  
 रत्नवद् वैभवीयैस्तु वीजैर्भाव्यमलङ्कृतम् ।  
 क्रमादुच्चार्यमाणैस्तैरमृतौधेन पूर्ववत् ॥ ५९ ॥  
 पूजनात् परमेशत्वमचिरादेव गच्छति ।  
 शृणु तद्वीजनिचयं सावधानेन चेतसा ॥ ६० ॥  
 तत्प्रसादात् परां सिद्धिं प्रयान्ति भगवन्मयाः ।  
 शुचौ देशे मनोज्ञे च सुलिप्ते पुष्पभौषिते ॥ ६१ ॥  
 चन्दनक्षोदसंयुक्ते सुधूपेनाधिवासिते ।  
 विलिख्य मातृकाचक्रं भेदेनानेन वै पुनः ॥ ६२ ॥

सूर्यतेजःकणदृष्टान्तपूर्वकं तस्य विशाख्यूपस्यैव विभवदेवताधिपत्यमाह—  
 यथेत्यादिभिः सार्थैः ( षड्भिः ? त्रिभिः ) । एवमेवोपबृहितं लोकमात्रापि—  
 पुर्नविभववेलायां विना मूर्तिचतुष्टयम् ॥  
 विशाख्यूप एवैष विभवान् भावयत्युत । इति ।  
 ( लक्ष्मी० ११।१७-१८ )

ननु भवता प्रथमपरिच्छेदव्याख्यानप्रकरणे विभवदेवानामनिरुद्धोत्पन्नत्व-  
 मुक्तम्, इदानीं विशाख्यूपस्य तत्कारणत्वमुच्यते । कथमुभयोरविरोध इति चेत्,  
 सत्यम् । उभयोरभेदेनाविरोधो बोध्यः ॥ ५४-५७ ॥

विशाख्यूपस्य तद्वीजेन स्वपदे ध्यानम्, पद्मनाभादिबीजैस्तदीयगात्रालङ्घरण-  
 ध्यानम्, तदर्चनफलं चाह—स्मर्तव्य इति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५८-६० ॥

विभवदेवबीजोद्धर्मणार्थं वर्णचक्ररचनां तदर्चनं चाह—शृणिवति सार्थैः

१. द्यमूर्तीः-अ० । २. शशाख-बक० वख० । ३. स्वबीजेन स्वामलात्मना-म० अटी० ।  
 ४. यच्छति-अ० उ० । ६. धूपिते-बक० । ६. ढार-म० ।

येन सन्दृष्टमात्रेण शतधा याति कल्पम् ।  
 प्रागादौ पञ्चवर्गान्तं मध्यान्तं मध्यतो लिखेत् ॥६३॥  
 यादयो नव नाभिस्था आदयः पोडशारगाः ।  
 कादयो नेमिगाः सर्वे पूर्वचक्रे यदक्षम् ॥६४॥  
 तदस्मिन् प्रथिंभूतं तु पूजयेद् विधिना ततः ।  
 शब्दब्रह्ममयं चक्रमध्यपुष्पादिकैः क्रमात् ॥६५॥  
 तन्मध्यादुद्धरेदादौ सर्वेषां कारणं हि यत् ।  
 उदकस्थमक्षरं चाक्षादरान्तादेन भूषितम् ॥६६॥  
 विद्धि सर्वेश्वरस्येदं बीजं निर्वैजकारणम् ।  
 एतदेवाब्जनाभस्य विसर्गसहितं स्मृतम् ॥६७॥  
 नेमिवर्गाद् द्वितीयं वै ततोऽरात् पष्ठमक्षरम् ।  
 अष्टमं नाभिदेशाच्च तत्संख्यं नेमिमण्डलात् ॥६८॥  
 नेमिपूर्वमतो नाभेः सप्तमं पञ्चमारगम् ।  
 अराच्चतुर्दशं त्वक्षात् पश्चिमाशागतं हि यत् ॥६९॥  
 नेमेरेकादशं चाथ पोडशं च त्रयोदशम् ।

पञ्चभिः । वर्गान्ता डकारत्रकारणेकारनकारमकारा इत्यर्थः । यादवो नव यकारादिक्षकारान्ताः । पूर्वचक्रे द्वितीयपरिच्छेदोक्ते चक्रे । अक्षगं यद्वर्णं प्रणव इत्यर्थः ॥ ६०-६५ ॥

बीजोद्धारक्रममाह—तन्मध्यादित्यारभ्य तेजसाऽतीव निर्भरा इत्यन्तम् । अक्षाद् उदकस्थमक्षरं नकारमुद्धत्य, अरान्ताद्येनानुस्वारेण भूषितं कुर्यात् । तथा च नमिति प्रयोगः । इदं सर्वेश्वरस्य विशाख्यूपस्य बीजम् । एतदेव विसर्गसहितं चेद् अब्जनाभस्य बीजं भवति । ध्रुवबीजं तु नेमिवर्गाद् द्वितीयं खकारः । अनन्तबीजं तु अरात् पष्ठमक्षरम् ऊकारः । एवं क्रमेण षष्ठं नाभेरथाहरेदिति पातालशयन-बीजान्तमर्थो बोध्यः ।

सर्वे बीजाः कारणवत् पूर्वोक्तविशाख्यूपवत्, मूर्धन्ति अनुस्वारेण योजनीयाः । प्रणवाद्या नमोन्ताश्च ज्ञेयाः । तथा चैषां प्रयोगः—

ॐ नो नमः, ॐ खं नमः, ॐ ऊं नमः, ॐ हं नमः, ॐ टं नमः, ॐ कं नमः, ॐ सं नमः, ॐ उं नमः, ॐ औं नमः, ॐ णं नमः, ॐ डं नमः, ॐ यं नमः, ॐ

१. न्तात्-बक० बख०, न्तान्-उ० । २. पृथिवीभूतं-अ० । ३. शान् पक्षान्-अ० ।

४. तत्-अ० । ५. 'णकार' नास्ति-अ० ।

पञ्चमं नाभिदेशाच्च नेमेरेकोनविंशकम् ॥७०॥  
 तदन्तं सप्तमं चैव नवमं हि महामते ।  
 नाभेस्त्रीयं तदनु नेमेस्तसंख्यमेव च ॥७१॥  
 द्वादशं च वहिष्ठेभ्यो दशमं षोडशात् परम् ।  
 नाभिपूर्वं ततो वर्ण नेमेः पञ्चदशं हि यत् ॥७२॥  
 तुर्यसंख्यमराद्वीजं ततो नाभिचतुर्थकम् ।  
 षष्ठं नेमेश्चतुर्थं च मध्यमेक्षात् तथा हरेत् ॥७३॥  
 तत्रैव पूर्वदिक्संस्थं यद् बाह्यादौ पञ्चमं ततः ।  
 अक्षाद् दक्षिणादिक्संस्थं नेमेरष्टादशं ततः ॥७४॥  
 द्वितीयं नाभिदेशाच्च तदन्ते सप्तमारगम् ।  
 चतुर्दशमतो<sup>३</sup> नेमेः षष्ठं नाभेरथाहरेत् ॥७५॥  
 सर्वे कारणवन्मूर्धनी योजनीयाः समासतः ।  
 प्रणवाद्या नमोन्ताश्च तेजसातीव निर्भर्णाः ॥७६॥  
 पद्मनाभादयो देवा वाच्यास्तेषां क्रमेण तु ।  
 पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्त्यात्मा मधुसूदनः ॥ ७७ ॥

तं नमः, ॐ शं नमः, ॐ नं नमः, ॐ अं नमः, ॐ जं नमः, ॐ टं नमः, ॐ लं नमः,  
 ॐ गं नमः, ॐ ढं नमः, ॐ ठं नमः, ॐ पं नमः, ॐ यं नमः, ॐ दं नमः, ॐ रं नमः,  
 ॐ वं नमः, ॐ लं नमः, ॐ धं नमः, ॐ मं नमः, ॐ ङं नमः, ॐ चं नमः, ॐ अं  
 नमः, ॐ फं नमः, ॐ रं नमः, ॐ ऋं नमः, ॐ थं नमः, ॐ षं नमः ।  
 इत्यष्टत्रिशद् बीजानि ॥ ६६-७६ ॥

एषां वाच्यान् पद्मनाभाद्यष्टत्रिशद्वात् क्रमेणाह—पद्मनाभादय इति प्रक्रम्य  
 इत्युक्तस्ते समासत इत्यन्तम् । देव इति पदमेकार्णवशयस्य विशेषणम् । पातालधारक  
 इति कूर्मविशेषणम् । दिव्यदेह इति श्रीपतिविशेषणम् । अमृतधारक इति कान्तात्मनो  
 विशेषणम् । महानिति पारिजातहरस्य विशेषणम् । शान्तात्मेति लोकनाथस्य विशेष-  
 णम् । महाप्रभुरिति दत्तात्रेयस्य विशेषणम् । भगवानिति न्यग्रोधशायिनो विशेषणम् ।  
 देव इति वामनस्य, सर्वव्यापीति त्रिविक्रमस्य च विशेषणम् । उवलत्परशुधृगिति  
 रामस्य, धनुर्धर इत्यन्यस्य रामस्य च विशेषणम् । भगवानिति कल्किनः, प्रभुरिति  
 पातालशयनस्य च विशेषणम् । एवं विशेषणविशेष्यमबुद्ध्वा पारमेश्वरव्याख्याने  
 विमानार्चनप्रकरणे एकशृङ्गतन्वादिषु द्वादशमूर्तिषु, कूर्मादिषु द्वौदशमूर्तिषु च जागरूका-

१. नवमं-बक० बख० । २. माक्षा-मु० अ० अटी० । ३. मधो-मु०, मथो-अटी० ।  
 ४. निर्भर्णा:-अ० । ५. 'द्वादशमूर्तिषु' नास्ति-अ० ।

स्वप्येकश्रुज्ञादिपातालशयनान्तमेकादश मूर्तयः, कूर्मादिन्यग्रोधशायग्रन्तमेकादश मूर्तय इति च लिखितम् । अतः सावधानं बोद्धेभ्यम् ।

एवं चात्र पद्मनाभादिपातालशयनान्ता अष्टत्रिशट्टिभवदेवा ज्ञेयाः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—“पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः” (१११९) इति प्रकम्य “त्रिशच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः” (११२५) इत्युक्तम् । अहिर्बुद्ध्यसंहितायां तु पञ्चमेऽध्याये एवमेव विभवदेवानुकृत्वा “त्रिशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः” (५५७) इत्युक्तम्, नैतावता परस्परविरोधः शङ्कनीयः । पद्मनाभादयोऽष्टत्रिशट्टिभवदेवाः, तेषामधिपतिर्विशाखयूपस्त्वेकः । तेन सहैकोनचत्वारिंशट्टिभवदेवा इत्यभिप्रायेण “त्रिशच्च नव चैवैते” (५५७) इत्युक्तमिति बोध्यम् । यैतो विशाखयूपस्य विभवदेवाधिपत्यं पूर्वमेवोक्तम्—“वैभवीयस्य यूथैस्य पतित्वेनावतिष्ठते” (६५६) इति । अत एवात्र विशाखयूपपुरस्सरमेकोनचत्वारिंशट्टिभवदेवा न्युक्तानि । किञ्च ध्यानप्रकरणेऽपि—

त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम् ।

शेषादीनामशेषाणामिदानीमवधारय ॥

ध्यानं पातालनिलयपर्यन्तानां यथास्थितम् । ( १२३-४ )

इति विशाखयूपस्यापि विभवदेवैः साहचर्यं वक्ष्यति । ननु—“पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः” (५५०) इति प्रकम्य, “त्रिशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः” (५५७) इति पद्मनाभादीनामेवैकोनचत्वारिंशट्टित्वात्संख्याकृत्वेनोक्तत्वादनुक्तविशाखयूपस्य संख्यापूरणार्थं तत्र संयोजनमनुच्छितम् । तथा गत्यभावे तद्योजनं कार्यम् । अस्ति च गत्यन्तरम् । तथाहि—“श्रीपतिर्भगवान् देवः” (अहिं० ५५३) इत्यत्र देवशब्देन पौष्ट्ररोक्तमन्दरोत्पाटकृद्देवो ग्राह्यः, उभयत्राप्येकल्पदेवशब्दप्रयोगात्, प्रकरणाच्च । पौष्ट्रे हि—

मन्दरोत्पाटकृद्द देवस्त्वमृताहरणस्तथा ।

सुधाकलशधृक् चैव वनिताकृतिविग्रहः ॥

भूयो रूपान्तरं चैव राहोश्चिच्छेद मस्तकम् ।

एवं चतुर्धा भगवान् एष एव महामते ॥

प्रादुर्भावान्तरोपेतः प्रादुर्भावोत्तमोत्तमः । ( ३६२१५-२१७ )

इति मन्दरोत्पाटकृद्दवतारस्य पार्थक्येन निर्देशः कृत इति चेन्न; अहिर्बुद्ध्ये—“पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः” (५५०) इति प्रकम्य सात्वतोक्तानुपूर्वी एव पठितत्वात्, “सात्वते शासने सर्वं तत्तदुक्तं महामैते” (५५९) इति पद्मनाभादिलक्षणानां सात्वते द्रष्टव्यत्वेनोक्तत्वाच्चाहिर्बुद्ध्यस्थवाक्यानामपि सात्वतानुसारेणैव व्याख्येयत्वात् । सात्वते हि मन्दरोत्पाटकृद्द देवो न पृथग् निर्दिष्टः । तस्मात्—

आप्तकामः स भगवान् स्वव्यापारवशेन तु ॥

स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते पद्मनाभात्मना पुनः । ( ९९७-९८ )

१. बोध्यम्—म० । २. ‘यतो’ नास्ति—अ० । ३. यूपस्य—म० । ४. सुने—म० ।

विद्याधिदेवः कपिलो विश्वरूपो विहङ्गमः ।  
क्रोडात्मा वडवावक्त्रो धर्मो वागीश्वरस्तथा ॥ ७८ ॥

इति पूर्वे ? त्यु)क्तेः पद्मनाभविशाखयूपयोरभेदात् । अत एवेश्वरपारमेश्वरयो-  
रङ्गुरार्पणप्रकरणे—“अब्जनाभं परं चैव पद्मनाभं ध्रुवं तथा” (५० सं० १०।१७४;  
पा० सं० १५।१५९) इति विशाखयूपस्यापि पद्मनाभशब्देनैव व्यवहृतत्वाच्च । अहिर्वृद्ध्ये  
—“पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः” (५५०) इत्यत्र पद्मनाभदेनैव विशाखयूपोऽपि संगृहीत  
इति सूक्ष्मदृष्ट्या बोध्यम् । नन्वहिर्वृद्ध्यवाक्यैवं कथच्चिद् गतिरुक्ता,

पद्मनाभादिकाः सर्वे वैभवीयास्तथैव च ।  
षट्क्रिशत्संख्यासंख्याताः प्राधान्येन गणेश्वर ॥  
षट्क्रिशद्भैर्दभिन्नास्तु पद्मनाभादिकाः सुराः ।  
अनिश्चात् समुत्पन्ना दीपादीपैः इवेश्वराः ॥ (तत्त्व०, पृ० १३४)

इति विष्वक्सेनसंहितावाक्यस्य का गतिरिति चेत्, तदगतिकल्पनं तु श्रीमद्रम्य-  
जामातृमुनिभिरेव तत्त्वत्रयव्याख्याने कृतम् । तथाहि—अहिर्वृद्ध्यसंहितोक्तैकोन-  
चत्वारिंशद्विभवदेवेषु कपिलदत्तात्रेयजामदग्न्यानां गौणप्रादुर्भावितया मुमुक्षुभि-  
रन्नचितत्वात् तात् विहाय मुमुक्षुभिरच्चाः पद्मनाभादयो मुख्यप्रादुर्भावाः षट्क्रिशदिति  
विष्वक्सेनसंहितायामुक्तमिति ।

नन्वेवं गतिकल्पनमज्ञानमूलकम्, यतः—“पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः” (५५०)  
इत्यहिर्वृद्ध्योक्तानुपूर्वी स्थितस्य वेदविच्छिन्नबद्स्य वेदव्यासोर्थं इति रम्यजामातृमुनि-  
भिर्न ज्ञातम्, तस्य वेदव्यासपरत्वनिरणियिकसहस्रनामभाष्यवाक्यमपि नाथीतमिति  
चेत्, किमरे मूढाग्रगण्य ! तेषामाचार्याणामाशयमविदित्वा दूषयसि—

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।  
को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद् भवेत् ॥  
(वि० पु० ३।४।५)

इत्युक्तमहामहिम्नि सूत्रकृति श्रीकृष्णद्वैपायने साक्षाद् भगवदवतारत्वमेव तेषामभि-  
मतम् ।

ननु तर्हि व्यासस्यावेशावतारत्वं मुमुक्षुभिरनुपास्यत्वं च तैरेव कथमुक्तमिति  
चेत्, सत्यम् । न तत् कृष्णद्वैपायनविषयम्, अपि तु विष्णुपुराणोक्ताष्टाविशतिसंख्याक-  
व्यासान्तरविषयम् ।

१. क्यस्यैव वा-अ० । २. दीपा-मू० । ३. इवेश्वर-अ० । ४. विष्णुपुराणे तृतीयेऽशे  
तृतीयाध्याये वर्णिता अष्टाविंशतिसंख्याका व्यासाः ।

देव एकार्णवशयः कूर्मः पातालधारकः ।  
वाराहो नरसिंहश्चाप्यमृताहरणस्तु वै ॥ ७९ ॥

ननु च सहस्रनामभाष्ये—“तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्य-कूर्मादियः । अन्ये तु ऋष्यादिविशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन; यथा भार्गवरामकृष्णद्वैपाय-नादयः” (प० १८२) इति कृष्णद्वैपायनस्यैवावेशावतारत्वमुक्तम्, तस्य का गतिरिति चेत्, तच्च कल्पभेदेनावतीर्णकृष्णद्वैपायनविषयं बोध्यम्, अन्यथा आचार्योक्तिविरोधात् । यथा तत्त्वत्रयव्याख्याने बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपादितम् । विष्वक्सेन-संहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम् । उभयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीय इति व्याख्यातम्, तद्विद्वापीति<sup>३</sup> संतोष्टव्यमायुष्मा ।

ननु “प्रादुर्भावगणो मुख्यः” (१८४) इति<sup>४</sup> पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्वेवानामपि मुख्यप्रादुर्भावत्वमुक्तम्, तदन्तःपातिकपिलादीनां गौणत्वं कथं वक्तुं शक्यमिति चेत्, ब्रूमः—अत्र “प्रादुर्भावगणो मुख्यः” (१८४) इत्यत्र स्थितो मुख्यशब्दो विष्वक्सेन-संहितोक्तो मुख्यशब्दश्च न समानार्थकः, यतो विष्वक्सेनसंहितायाम्—

प्रादुर्भावो द्विधा प्रोक्तो गौणमुख्यविभेदतः ।  
मदिच्छया हि गौणत्वं मनुष्यत्वमिवेच्छया ॥  
‘सूकरत्वं च मत्स्यत्वं नारसिंहत्वमेव च ।  
यथा वा दण्डकारण्ये कुञ्जाग्रत्वं ममेच्छया ॥  
यथा वाजिमुखत्वं च मम संकल्पतो<sup>५</sup> भवेत् ।  
सेनापते ममेच्छातो गौणत्वं न च कर्मणा ॥  
प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदंशत्वाद्विशेषतः ।  
अजहस्त्वभावैविभवदिव्याः प्राकृतविग्रहाः ॥  
दीपाद् दीप<sup>६</sup> इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते ।  
अचर्या एव हि सेनेश अनचर्यादितरान् विदुः ॥  
अनचर्यनिषि वक्ष्यामि प्रादुर्भावान् यथाक्रमम् ।  
चतुर्मुखस्तु भगवान् सृष्टिकार्यं नियोजितः ॥  
शङ्कराख्यो महारुद्रः संहारे विनियोजितः ।  
मोहनाख्यस्तथा बुद्धो व्यासश्चैव महानृषिः ॥  
वेदानां व्यसने तत्र देवेन विनियोजितः ।  
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो जामदग्न्यो महानृषिः ॥

१. नार-वक्त० वख० अ० उ० । २. भरण-अ० उ० । ३. ‘इति’ नास्ति-अ० ।  
४. ‘इति’ नास्ति-अ० । ५. शूकर-मु० । ६. ल्पतोऽभवत्-मु० । ७. वा विभवा-मु० ।  
८. दीपा-मु० ।

श्रीपतिदिव्यदेहोऽथ कान्तात्माऽमृतधारकः ।  
राहुजित् कालनेमिघ्नः पारिजातहरो महान् ॥ ८० ॥

वसूनां पावकश्चापि वित्तेशश्च तथैव च ।  
एवमाद्यास्तु सेनेश प्रादुर्भावैरधिष्ठिताः ॥  
जीवात्मानः सर्वे एते नोपास्तिवैष्णवी हि सा ।  
आविष्टमात्रास्ते सर्वे कार्यार्थममितद्युते ॥  
अनच्याः सर्वे एवैते विश्वदत्तवान्महामते ।  
अहङ्कृतियुताश्चैवै जीवमिश्रा ह्यैधिष्ठिताः ॥

(तत्त्व०, पृ० १३०-१३२)

इत्यादिभिर्मुख्यः साक्षादवतारः, गौणस्त्वावेशावतार इति प्रतिपादितम् । अत्र तु साक्षादवतारानावेशावतारांश्च सह पठित्वा प्रादुर्भाविगणो मुख्य इत्युभयेषामपि मुख्यप्रादुर्भावित्वप्रतिपादनादुभयसाधारणप्रसिद्धत्वमेव मुख्यशब्दार्थः, न तु साक्षादवतारत्वमिति बोध्यम् ।

किञ्च, “प्रादुर्भाविगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समाप्तः” (१८४) इत्यत्र प्रादुर्भाविशब्देन मुख्यप्रादुर्भावा गौणप्रादुर्भावाश्च यथा संगृहीताः, तथा प्रादुर्भावान्तराण्यपि संगृहीतानि बोध्यानि, त्रिविक्रमादीनां प्रादुर्भावान्तरत्वात् । प्रादुर्भावान्तरं नाम तत्तदवताराणामवान्तरभेदाः । तथा च पौर्करे—

स्वभावमज्हृच्छश्वदाकारान्तरमाकृतेः ।  
यत्तेंदशसमुद्भूतं प्रादुर्भावान्तरं तु तत् ॥ इति । (३६२०१-२०२)

कण्ठरवेण च प्रतिपादितास्तत्रैव—

तथा वामननाथेन खर्वमूर्तिधरेण च ।  
स्नातकब्रह्मचारीयलाच्छनैर्लाङ्गिर्तेन च ॥  
तस्य रूपान्तरेणैव सुखानां सुखदेन च ।  
त्रिविक्रमाख्यसंज्ञेन त्रैलोक्याकान्तमूर्तिना ॥ (३६१९६-१९८)

इत्यादिभिः । विष्वक्सेनसंहितायां चैवमेवोक्तम्—

पूर्वोत्पन्नाद वैभवीयात् प्रादुर्भूती महेश्वराः ।  
प्रादुर्भावान्तरान् विद्धि तान् गणेश्वर मुख्यतः ॥  
उपेन्द्राच्च यथा <sup>१०</sup>मुख्यात् त्रिविक्रमतनुर्हरिः । (तत्त्व०, पृ० १३५)

१. काल-अ० । २. माद्यास्तु-म० । ३. नोपास्या वैष्णवैः सदा-म० । ४. श्चेमे-म० ।  
५. व्यधि-म० । ६. ‘पौर्करे’ नास्ति-अ० । ७. यत्तत्वमंशसंभूतं-म० । ८. भूषितेन-म० ।  
९. भूतो महेश्वरः-म० । १०. मुख्या-म० ।

लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः ।  
 न्यग्रोधशायी भगवानेकशृङ्गतनुस्ततः ॥ ८१ ॥  
 देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी<sup>१</sup> त्रिविक्रमः ।  
 नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च ॥ ८२ ॥

इत्यादिभिः । लक्ष्मीतन्त्राहिर्बृंध्यसंहि(ताया?तयो)स्त्वावेशावताराणां प्रादुर्भावान्तरत्व-  
 मुक्तम्—

आविश्यविश्य कुरुते यत्र देवनरादिकम् ।  
 जगद्वितं जगन्नाथस्तज्जेयं विभवान्तरम् ॥ इति, (लक्ष्मी० ४।३०)  
 विभवान्तरसंज्ञं तद् यच्छक्त्यावेशासंभवम् । इति च । (अहि० ८।५१)

वस्तुतस्तु “प्रादुर्भाविणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः” (९।८४) इति पद्मनाभा-  
 दीनां मुख्यत्वोक्त्या तदन्येऽमुख्या विभवावतारा बहवः सन्तीति ज्ञायते । अत्र  
 श्रीकृष्णस्य पारिजातहरशब्देनोक्तत्वात् तदनुकीर्त शङ्खनीया ।

ननु “नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च” (९।८२) इति कृष्णस्तूच्यैत एव,  
 तदनुक्तिः केनोच्यत इति चेन्न, यतोऽत्र प्रतिपादितः कृष्णो न वसुदेवात्मजः, अपि  
 तु धर्मात्मज इति बोध्यम् । तथा च पौष्करे—

धर्मतिमा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भविं च शाश्वतम् ।  
 प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराद्यां कृष्णपश्चिमम् ॥ इति । (३६।२०७)

ननु चात्र केवलकृष्णशब्दस्योक्तत्वाद् वैसुदेवपुत्रः प्रसिद्धः कृष्ण एव  
 स्यादिति चेन्न, साहचर्यविरोधाद् वक्ष्यमाणध्यानविरोधाच्च । किञ्च, अत्रानन्तस्यो-  
 क्तत्वाद् बलभद्रलक्ष्मणावप्युक्तप्रायाविति बोध्यम्,

अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणश्च ततः परम् ।  
 बलभद्रस्तृतीयस्तु कलौ कश्चिद् भविष्यति ॥

इति प्रसिद्धेः ।

ननु भगवदवतारमध्ये शेषावतारयोर्बलभद्रलक्ष्मणयोः कथनं कस्यापेक्षितमिति  
 चेन्न, शेषस्यैव भगवतारत्वात् । अत एवात्र—“पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः” ( ९।७७ )  
 इत्यनन्तस्याप्युक्तत्वाच्च ।

ननु तर्हि मत्स्याद्यवतारदशकेऽप्यन्तर्भूतस्य बलभद्रस्यास्मिन् पद्मनाभाद्यष्ट-  
 त्रिशावतारगणे कथैमप्रतिपादनमिति चेत्, सत्यम् । यथा श्रीरामस्योक्त्या लक्ष्मणाद्या-

१. प्रभः—अ० ८० । २. प्यति—अ० । ३. स्त्वच्युत—अ० । ४. वासुदेवपुत्रप्रसिद्धः—अ० ।  
 ५. हितस्य—म० । ६. मिति प्रति—अ० ।

ज्वलत्परशुधृग्रामो रामश्चान्यो धनुर्धरः ।  
 वेदविद् भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः ॥ ८३ ॥  
 प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः ।  
 शक्तिसंघीतं प्रधानो यः शक्तिसंघः स उच्यते ॥ ८४ ॥

स्त्रयोऽप्युक्तप्रायाः, तथा पारिजातहरस्योकत्या तद्वातपुत्रपौत्राः सङ्क्षिप्तं प्रद्युम्नानिरुद्धा अप्युक्तप्राया इति बोध्यम् ।

ननु किं प्रद्युम्नानिरुद्धयोरपि भगवदवतारान्तर्गतत्वमङ्गीक्रियत इति चेत्, निःसंशयमङ्गीक्रियते । ननु तर्हि पुराणार्थनिभिज्ञोऽसि, श्रीभगवते दशमस्कन्धे—  
 कामस्तु वासुदेवांशो दर्शः प्राग् रुद्रमन्युना ।  
 देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥  
 ( १०।५।१ )

इत्यत्र मुनिभावप्रकाशिकाख्यायां व्याख्यायाम्—“वासुदेवांश इति विशेषणम् । अनेन भाविजन्मप्रभृति संबन्ध उक्तः । न(नु?तु) चतुर्व्यूहेष्वयं तृतीयव्यूह उच्यते, नामसाम्यं तु तद्विभूतिविनवन्धनमिति विवेकः । वासुदेवाधिष्ठितवित्तप्र(भा?प्र)वत्वाद् वासुदेवांशस्तसृष्टिहेतुत्वाद्वा” इति व्याख्यातम् । अतः प्रद्युम्नानिरुद्धयोर्भगवदवतारत्वं न संभवतीति चेन्न, यतस्तद्वयाख्यातृभिः सहस्रनामभाष्यादिकं कदापि न दृष्टम् । भगवच्छास्त्रमपि न श्रुतम् । सहस्रनामभाष्ये हि—“कृष्णत्वेऽप्यजहद्वासुदेवादिचतुर्मूर्तिवादिति विभवेऽपि तन्मूलैव्यूहं प्रत्यभिज्ञापयति—चतुर्मूर्तिः । बलभद्रवासुदेवप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चतस्रो मूर्तयो यदुकुलेऽप्यस्येति व्यूहमूलेन निरूपाधिकपररूपेण देवक्यामवतार” ( पृ० ६५८-६५९ ) इति, “अत्रापि तथैव समस्तव्यस्तषाङ्गुण्यावस्थत्वच्चतुर्व्यूहः” ( पृ० ६६० ) इति च प्रद्युम्नानिरुद्धयोरपि भगवदवतारत्वमसङ्कुदक्तम् । भगवच्छास्त्रेऽपि लक्ष्मीतन्त्रे—

अवतारो हि यो विष्णोश्चतुर्धा संभविष्यति ।

मधुरायामहं व्यक्तिं चतुर्व्यूष्यामि वै तथा ॥

रेवती रुक्मिणी चैव रतिर्नाम्ना तथाप्युषा । ( ८४५-४६ )

इति बलभद्रादीनां चतुर्णामिपि भगवदवतारत्वं सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । अलं प्रसक्तानु-प्रसक्त्या ॥ ७७-८४ ॥

१. संघ—म० अटी० । २. ‘कृष्णत्वेऽप्यजहद्वासुदेवादिचतुर्मूर्तिवादिति’ न दृश्यते—म० ।  
 ३. तन्मूलं—अ० । ४. ह्युषा—म० ।

लक्ष्मीः पुष्टिर्दया निद्रा क्षमा कान्तिः सरस्वती ।  
 धृतिमैत्री रतिस्तुष्टिर्मतिद्वादश्मी स्मृता ॥ ८५ ॥  
 प्रधानभूतांश्छारीरानलङ्घारान्निवोध मे ।  
 किरीटः कौस्तुभो भौद्यः श्रीवत्सोऽमृतलक्षणः ॥ ८६ ॥  
 वनमालेति गरुडः प्रधानान् हेतिकान् श्रृणु ।  
 चक्रं शङ्खो गदा पद्मं लाङ्गलं मुसलं शरः ॥ ८७ ॥  
 शाङ्कं च खड्गखेटौ तु दण्डः परशुरीतिहा ।  
 पाशाङ्कुशौ मुद्रगरश्च वज्रः शक्तिसमन्वितः ॥ ८८ ॥

अथ प्रधानं देवीवर्गमाह—शक्तिं सार्थेन । शक्तिसंघादिति जात्येकवचनम् ।  
 यतः ॑श्यादिदेवीनामेकद्विकचतुष्प्रष्टकष्टकष्टकद्विषट्कभेदैः पोढा संघान् वक्ष्यति  
 द्वादशो परिच्छेदे । अयमपि संघो वच्यमाणान्तर्गत एव । अत्रापि मुख्यतमत्वात् प्रति-  
 पादितः । पद्मनाभादीनां प्रैसिद्धा देव्यस्त्वीश्वरलक्ष्मीतन्त्रयोः प्रतिपादिताः । तथाहि—

धीस्तारा वारुणी शक्तिः पद्मा विद्या तथैव च ।  
 ॒संख्या विश्वा खगा भूर्गैर्लक्ष्मीर्वार्गीश्वरी तथा ॥  
 अमृता धरणी च्छाया नारसिंही तंथा सुधा ।  
 श्रीः कान्तिर्विश्वैकीमा मा सत्या ॑शान्तिः सरोरुहा ॥  
 माया पद्मासना खर्वी विक्रान्तिरसंभवा ।  
 नारायणी हरिश्चीतिगन्धारी काश्यपी तथा ॥  
 वैदेही वेदविद्या च पद्मिनी नागशायिनी ।  
 त्रिशच्चाष्टाविमा<sup>१२</sup> देव्यः पद्मनाभादिशब्दतयः ॥ इति ॥ ८४-८५ ॥  
 ( लक्ष्मी० २०।४५-४८, ई० सं० ७।३३-३७ )

अथ किरीटादिभूषणप्रधानचतुष्टयं वाहनं चक्रादिसमदशप्रधानायुधानि चोक्त्वा  
 एषामङ्गमन्त्रैः सह भगवद्विग्रहे संलीनत्वमाह—प्रधानभूता इति चतुर्भिः । ईतिहन्तेति  
 ईतिहेति परशोर्विशेषणम् । अत्र विशेष्यभ्रान्त्या पारमेश्वरव्याख्यातृभिर्विमानदेवता-  
 कथनप्रकरणे चक्रादिशक्त्यन्ताष्टायुधन्यास इत्युक्तम्, सहस्रकलशाभिषेकप्रकरणोऽपि—

चक्रादिवज्जपर्यन्तमस्त्रष्ठोऽशक्तिः यजेत् ॥  
 कोणस्थेषु चतुष्केषु न्यसेच्छक्तिं ततः परम् । ( १४।४७-४८ )

१. शक्ती—अ० । २. भास्यः—म० अटी० । ३. शराः—अ० उ० । ४. तौ—उ० ।
५. रीरितिः—म० अटी० । ६. श्रीयादि—म० । ७. 'प्रसिद्धा' नास्ति—म० । ८. संख्या—अ० म० ।
९. सुधा तथा—ल० । १०. वीरा कामा च—अ० म० । ११. कान्तिः—ल० । १२. मदंशका इमा  
 देव्यो विज्ञेयाः कादिशब्दतयः—ल० ।

इत्येतद् देवताचक्रमङ्गमन्त्रगणान्वितम् ।  
 विग्रहे देवदेवस्य संलीनमवतिष्ठते ॥ ८९ ॥  
 वश्ये भैरोपकरणं गीर्वाणिगणमुच्चमम् ।  
 नानाविभवमूर्तीनां योऽवतिष्ठेत शासने ॥ ९० ॥  
 कालो वियन्नियन्ता च शास्त्रं नानाङ्गलक्षणम् ।  
 विद्याधिपतयश्चैव सरुद्रः संगणः शिवः ॥ ९१ ॥  
 प्रजापतिसमूहश्च इन्द्रः सपरिवारकः ।  
 मुनयः सप्त पूर्वेऽन्ये ग्रहास्तारादिकैर्वृताः ॥ ९२ ॥  
 जीमूताश्चाखिला नागास्त्वप्सरोगण उत्तमः ।  
 ओषध्यश्चैव पश्वो यज्ञाः साङ्गाखिलाश्च ये ॥ ९३ ॥  
 विद्या चैव पराविद्या पावकश्चैव मारुतः ।  
 चन्द्राकौ वारिवसुधे इत्युक्तममलेक्षण ॥ ९४ ॥  
 चतुर्विंशतिसंख्यं च भैरोपकरणं महत् ।  
 भवः साक्षात् प्रधानं तु व्यापको जडलक्षणः ॥ ९५ ॥  
 मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सोऽपि पूज्यत्वमैति च ।  
 इत्येवमादि सर्वेषां भैरविनां परमेश्वरः ॥ ९६ ॥  
 स्थितोऽन्तर्यामिभावेन रूपमासाद्य निष्कलम् ।  
 आप्तकामः स भगवान् स्वव्यापारवशेन तु ॥ ९७ ॥

इति श्लोकव्याख्यावसरे पूर्वोक्तभ्रान्तिजल्पतस्य दृढीकरणार्थं चक्रादिवज्जपर्यन्तमित्यत्रातदगुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति चौक्तम् ॥ ८६-८९ ॥

अथ भवोपकरणदेवतावर्गमाह—वश्य इत्यादिभिः । १० सरुद्रः सगण इति च शिवस्य विशेषणम् । रुद्रैरेकादशभिः सह वर्तत इति तथोक्तः ॥ ९०-९५ ॥

एवं भवोपकरणदेवता<sup>११</sup> विवृत्य भवस्यापि पूज्यत्वमाह—भव इति । भवत्यस्मात् सर्वमिति भवः, प्रकृतिरित्यर्थः । प्रधानं <sup>१२</sup>प्रधानशब्दवाच्यः । एतद्भवोपकरणादीनां सर्वेषामपि प्रकृतियुक्तानामन्तर्यामिभावेन स्थितोऽपि स्वयं पूर्णकामोऽपि भक्तानुग्रहार्थ

१. भावो—ब्रक० मु० । २. वा तिष्ठेत—अटी०, वतिष्ठति—उ० । ३. समुद्रः—मु० अ० उ० । ४. सगणः शिवाः—मु० अटी० अ० । ५. स्तु—अ० उ० । ६. चैवा—मु० अटी० । ७. भावो—मु० । ८. भावः—उ० । ९. हविनां—अ० । १०. समुद्रः—अ० । ११. देवतां—अ० । १२. तथाशब्द—अ० ।

स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते पद्मनाभात्मना पुनः ।  
धराम्बुहुतभुग्वातमूलनालदलोदरे ॥ ९८ ॥  
चतुस्तत्त्वमये पद्मे गंगनैकार्णवोदरे ।  
मानसेऽनन्तशयने दिव्यबोधतनुविंशुः ॥ ९९ ॥  
सहस्रांशुसहस्राभ उत्तानस्थो हि लीलया ।  
ततो विविधरत्नाभे तदीये नाभिपुष्करे ॥ १०० ॥  
प्रोद्धंस्तु स्ववीर्येण विद्यां सामर्थ्यविग्रहाम् ।  
मूर्तैर्ध्वजादिकैः सर्वैरावृतस्तप्तरायणैः ॥ १०१ ॥  
अनन्तचेष्टस्य विभोगित्येवं त्वीश्वरात्मनः ।  
भोगापवर्गदं रूपं शान्तव्यक्तं च वैभवम् ॥ १०२ ॥  
ग्राग्वत् तुर्यपदावस्थं स्मरेद्युत्कमलाम्बरे ।  
तदधः कणिकामध्ये त्वभिजातोपलद्युतिम् ॥ १०३ ॥

पद्मनाभाख्यविभवरूपमङ्गीकरोतीत्याह—इत्येवमिति द्वाभ्याम् । निष्कलं निराकार-  
मित्यर्थः ॥ ९५-९८ ॥

तत्पद्मनाभरूपं विशिनष्टि—धरेति सार्वैस्त्रिभिः । धराम्बुहुतभुग्वातमूल-  
नालदलोदरे चतुस्तत्त्वमये पृथिवीतत्त्वस्य मूलत्वम्, अप्तत्त्वस्य नालत्वम्, तेजस्तत्त्वस्य  
दलत्वम्, वायुतत्त्वस्य कमलोदरत्वं च क्रमेण ज्ञेयम् । गग्नैकार्णवोदरे आकाशतत्त्वा-  
त्मकसमुद्रमध्य इत्यर्थः । मानसेऽनन्तशयने मनस्तत्त्वात्मकनागपर्यङ्क इत्यर्थः ।  
दिव्यबोधतनुः बुद्धितत्त्वात्मकदिव्यशारीर इत्यर्थः । उत्तानस्थः उत्तानशायीत्यर्थः ।  
तदीये नाभिपुष्करे प्रकृतितत्त्वात्मकनाभिपद्म इत्यर्थः । विद्यां चतुर्मुखमूर्तिरूपां वेद-  
विद्यामित्यर्थः । तस्य विद्यादेहत्वं प्रतिपादितं खलु ज्याल्यादिषु—

तन्मध्ये मानवो व्रह्मा मया सृष्टश्चतुर्मुखः ।  
जगतां प्रभवस्तस्माद् विद्यादेहः सनातनः ॥ ( २१७ )

इति ॥ ९८-१०१ ॥

एवं पद्मनाभरूपस्य हृदयकमले ध्यानस्थानमाह—अनन्तेति सार्वेन । शान्तं  
निराकारम्, अन्तर्यामिभावेन स्थितमिति यावत् । व्यक्तं साकारमित्यर्थः । साकारत्वेन  
निराकारत्वेनोभयथापि ध्येयमिति भावः । प्राग्वत् तुर्यपदावस्थं द्वितीयपरिच्छेदोक्त-  
रोत्या ( २१९ ) नादावसानगगनस्थितमित्यर्थः ॥ १०२-१०३ ॥

१. गग्ने चा—अ० । २. स्थोऽभि—अ० । ३. मार्यीये—बक० बख० अ० उ० ।

४. द्युतिः—बक० बख० ।

दिशो दश ब्रोतयन्तं नानागात्ररुहैश्चितम् ।  
 सौम्यं द्विष्टवैष्ठं च राजीवदल्लोचनम् ॥१०४॥  
 भैचकचक्रभृद्वेवं गदादेहं तथैव च ।  
 शक्तिमाधारसंज्ञां च प्रोद्धहन्तं स्मरेद् ध्रुवम् ॥१०५॥  
 स्थितो यः स्तम्भभूतस्तु अस्मिन् वै विश्वमन्दिरे ।  
 नभोऽनिलात्मना चैव भूमिकाभिन्नलक्षणे ॥१०६॥  
 प्रागादावीशकोणान्तं संस्मरेत् कर्णिकोपरि ।  
 द्विष्टकं यदनन्ताद्यं सरशाश्यन्तमग्निगम् ॥१०७॥  
 तत्संख्यं केसरोर्ध्वस्थं तद्रत् कूर्मादिकं न्यसेत् ।  
 न्यग्रोघशायिपर्यन्तममृताधारमण्डले ॥१०८॥  
 सूर्यचैक्रसमारुढं दलभूमिगतं ततः ।  
 पातालशायिपर्यन्तमेकशृङ्गादिकं हि यत् ॥१०९॥

तदधः कर्णिकामध्ये सुषुप्तिस्थाने ध्रुवस्य ध्यानप्रकारमाह—तदध इति सार्वे-स्त्रिभिः । नायं प्रसिद्धोर्वाचीनो ध्रुव इति मन्तव्यः । अपि तु तस्यापि ध्रुवत्वप्रदः साक्षाद् भगवद्गुपोऽन्य इति बोधः । तथा च सहस्रनामभाष्ये—“अतिशयेन धीयते बैद्धतेऽस्मिन् ज्योतिश्चक्रमिति व्यवसायः”…“नक्षत्राधारव्योमशरीरत्वात् । अतो हि “गगनमूर्तये” ( सा० २३।४४ ) इति मन्त्रवर्णः । “भैचकचक्रभृद्वेवम्” ( सा० ९।१०५ ) इति हि ध्यानम् । सर्वमस्मिन् संतिष्ठते समाप्तत इति संस्थानः । स एव “परमपदप्राप्तिसिद्धेतुः” ( सा० २३।४५ ) इति मन्त्रवर्णात् स्थानदः । स खलु तुङ्गपद-प्रदानेनावीचीनं ध्रुवमपि ध्रुवीचकार, अंतो ध्रुवः” ( पृ० ३६४-३६६ ) इति ॥ १०३-१०६ ॥

तस्मिन्नेव स्थाने प्रागादीशानान्तमनन्तादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—प्रागादाविति । अग्निगम् अग्निमण्डलस्थमित्यर्थः ॥ १०७ ॥

केसरस्थाने स्वप्नपदे कूर्मादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—तत्संख्यमिति । अमृताधारमण्डले चन्द्रमण्डल इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

दलस्थाने जाग्रत्पदे एकशृङ्गादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—सूर्येति । एषामनन्तादिषट्ट्रिशहृदेवानां ध्यानप्रकारा वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

१. शीर्ष—अ० । २. भू—अ०, भा—म० । ३. युग्—म० अटी०, धृग्—अ० उ० ।

४. लक्षणः—अ० । ५. चन्द्र—म० अटी० बक० बख० । ६. यज्ञस्मिन्—अ० ।

७. प्राप्तिरिति—अ० म० । ८. हेतवे इति—म० ।

न्यस्यैवममृतोत्थैस्तु भोगैरभ्यर्च्य मानसैः ।  
 यथावद् ध्यानयोगेन प्राग्वत् सृष्टिक्रमेण तु ॥११०॥  
 पुनः संहतियोगेन पातालशयनात् तु वै ।  
 यावद् गगनशास्यन्तमर्चनीयं फलाप्तये ॥१११॥  
 यै उक्तः समुदायेऽस्मिन् हृद्यागे देवतागणः ।  
 यजेद् भिन्नक्रमेणैव विधिनानेन<sup>३</sup> तं पुनः ॥११२॥  
 त्रिकं यदौ द्विषट्कानां त्रिस्थानस्थं प्रकाशितम् ।  
 पृथक् पृथक् तदेकैकं न्यस्य न्यस्य यजेत् क्रमात् ॥११३॥  
 प्रतिद्वादशकस्याद्यं ग्रागुक्तेन क्रमेण यत् ।  
 तैन्द्रिष्कलात्मना पूर्वमिष्ट्वा वै कर्णिकोदरे ॥११४॥  
 समुत्थाप्य ततो मध्यात् तमेव सकलात्मना ।  
 न्यसेदाधारभूतं च सर्वत्र कमलादर्घः ॥११५॥

पद्मनाभाद्यष्टित्रिशट्वानामपि सृष्टिक्रमेण संहारक्रमेण च मानसार्चनं कार्य-  
 मित्याह—न्यस्येति द्वाभ्याम् । गगनशास्यन्तं पद्मनाभान्तमित्यर्थः ॥ ११०-१११ ॥

अनन्तादिद्वादशकस्य कूर्मादिद्वादशकस्य मीनादिद्वादशकस्य च प्रत्येकं प्रत्येक-  
 मध्यर्चनं कुर्यादित्याह—य इति द्वाभ्याम् ॥११२-११३॥

प्रत्येकार्चनप्रकारमाह—प्रतिद्वादशकस्येत्यारभ्य दिव्यैर्भौंस्तु पूर्वदित्यन्तम् ।  
 प्रतिद्वादशकस्याद्यं यद् अनन्तः कूर्मो मीनश्चेत्यर्थः । द्वितीयं शक्त्यात्मानं वराहं वामनं  
 चेत्यर्थः । तृतीयं मधुसूदनं नारसिंहं त्रिविक्रमं चेत्यर्थः । अष्टकं विद्यादेवाष्टकं  
 श्रीपूर्णिमाद्यष्टकं नराद्यष्टकं चेत्यर्थः । द्वादशाख्यम् एकार्णवशायिनं न्यग्रोधशायिनं  
 पातालशायिनं चेत्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—अनन्तादिद्वादशकार्चनप्रकरणे प्रथममनन्तं स्वहृदयकमल-  
 कर्णिकामध्ये निराकारं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, पुनस्तमेव तस्मात् स्थानादुत्थाप्य, हृदयकमला-  
 धस्थाद् आधारभूतं साकारं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, तमेव हृत्कमलदलाग्रेऽप्यभ्यर्च्य, कर्णिकामध्ये

१. उक्ते हि—अ० । २. तेन—उ० । ३. काणां—बख० अ० उ० । ४. ग् यदे—बख०,  
 क् सदै—उ० । ५. स्याद्यः—मु० अटी० । ६. यः—मु० अटी० । ७. तं नि—मु० अटी० उ० ।  
 ८. दयः—बक० उ० । ९. श्रीपद्मा—म० ।

तमेवाद्यर्यादिनाऽभ्यर्थ्यं कमलच्छदकोटिगम् ।  
 द्वितीयं कर्णिकामध्ये तदग्रे केसरोर्ध्वगम् ॥११६॥  
 ध्यात्वा न्यस्य तृतीयं तु ततः पत्राष्टकेष्टकम् ।  
 द्वादशाख्यं हि सर्वत्र गगने पञ्चनाभवत् ॥११७॥  
 भवोपकरणीयाभिर्देवताभिः समावृत्तम् ।  
 यस्त्वज्जदेवतासंघः सर्वः स कमलाद् बहिः ॥११८॥  
 न्यस्यैवमर्चनं कुर्याद् दिव्यैर्भौगैस्तु पूर्ववत् ।  
 मूर्तौ मण्डलमध्ये च बहिरग्नौ जलाशये ॥११९॥  
 स्वमन्त्रेणाम्बरस्थस्य मूर्ति स्तकचन्दनादिकम् ।  
 दातव्यं कर्णिकामध्ये न्यस्तमन्त्रस्य मूर्धनि ॥१२०॥  
 प्रतिबिम्बति तद् यस्मात् तद् ब्रह्मद्वारदर्पणे ।  
 यस्य यस्य यदा यस्मिन्नाकारे रमते मनः ॥१२१॥

---

शक्त्यात्मानं तत्पुरतः केसरस्थाने मधुसूदनं दलाष्टके विद्याधिदेवाद्यष्टकं चाभ्यर्थ्यं, नादावसानगगने पञ्चनाभवत् साकारं निराकारं चैकार्णवशायिनं ध्यात्वाऽभ्यर्थ्यं, लक्ष्म्यादिशक्तिरीटादिभूषणचक्रादिलाङ्गनौनि कालादिभवोपकरणदेवताश्च कमलाद् बहिरभ्यर्थयेत् । कूर्मादिद्वादशकार्चनप्रकरणे त्वनन्तस्थाने कूर्मम्, शक्त्यात्मस्थाने वराहम्, मधुसूदनस्थाने नृसिंहम्, विद्याधिदेवाद्यष्टकस्थाने श्रीपत्याद्यष्टकम्, एकार्णवशायिस्थाने न्यग्रोधशायिनं चार्चयेत् । मीनादिद्वादशकार्चप्रकरणे तु कूर्मस्थाने मीनम्, वराहस्थाने वामनम्, नृसिंहस्थाने त्रिविक्रमम्, श्रीपत्याद्यष्टकस्थाने नराद्यष्टकम्, न्यग्रोधशायिस्थाने पातालशायिनं चार्चयेत् ॥ ११४-११९ ॥

एवं मानसार्चनमुक्तवा बिम्बादिबाह्वार्चनैऽप्येवमेव देवतान्यासक्रमः । किन्तु गगनस्थमूर्तेर्चनार्थं पुष्पचन्दनादिकं कर्णिकामध्यस्थितमूर्तमूर्ध्येव समर्पयेत् । यतः कर्णिकामध्यैस्थितमूर्तिब्रह्मप्रदर्पणे गगनस्थमूर्तिः । प्रतिबिम्बतीत्याह—मूर्ताविति द्वाभ्याम् । मूर्तौ बिम्बे, मण्डलमध्ये वस्यमाणमण्डले, अग्नौ प्रतिष्ठेऽग्नौ, जलाशये तीर्थमध्य इत्यर्थः । मानसिकत्वनिवृत्यर्थं मूर्तमिति स्तकचन्दनादिकस्य विशेषणमुक्तम् । मूर्ति बाह्येन्द्रियविषयमित्यर्थः ॥ ११९-१२१ ॥

१. शाख्या—मु० अटी० बक० । २. वृत्तः—मु० अटी० । ३. मूर्तम्—बक० अ० उ० ।  
 ४. वा—बक० बख० अ० उ० । ५. पुनः—उ० । ६. नादि—अ० । ७. मध्ये—म० ।

भोगाप्तये वा मोक्षार्थं तं तं मध्येऽर्चयेत् तदा ।  
 तदुद्देशेऽर्चनं कुर्यात् तत्स्थानप्रच्युतस्य वा ॥१२२॥  
 नानासिद्धिप्रदानाच्च उह संहारमूर्तिना ।  
 एवमेवाङ्गमन्त्राणामर्चनादीप्सितं लभेत् ॥१२३  
 तत्रायं हि विशेषः स्याद् विन्यासे तत्रिवोध मे ।  
 भूलोकाखिलसिद्धीनामाप्तये तावदुच्यते ॥१२४॥  
 प्राग्वद् द्वादशकादन्त्यादेकशृङ्गमथोऽ यजेत् ।  
 श्याँस्यं यदङ्गमन्त्रं तु कर्णिकायां न्यसेत् ततः ॥१२५॥  
 अथ केसरकोटिस्थं स्मरेत् तत्परतोऽपरम् ।  
 पश्चात् क्रमाद् दलान्तस्थं दलाग्रस्थं द्विरष्टकम् ॥१२६॥  
 पातालशायिनं मध्ये मन्त्रस्योपरि पूर्ववत् ।  
 श्यायेन्निश्चेष्वपातालसिद्धीनामालयं परम् ॥१२७॥  
 तच्छक्त्यनुगृहीतस्तु मन्त्रेशः कर्णिकागतः ।  
 समस्तसिद्धिदाने स्यादाश्रितस्याङ्गसंज्ञकः ॥१२८॥

यस्य साधकस्य यस्मिन् भगवदवतारे विशेषणाभिरुचिः, तेन स एव भगवान् प्राधान्येन कर्णिकामध्ये तदूर्ध्वगग्नस्थितार्णवशाय्याद्यन्यतमसूर्तिना सह पूजनीयः, तस्य स्थाने तु पूर्वं कर्णिकामध्येऽर्चनीयत्वेन य उक्तः, स पूजनीय इत्याह—यस्येति ( सार्ध ? ) द्वाभ्याम् । तत्स्थानप्रच्युतस्य कर्णिकामध्यादुत्थापितस्येत्यर्थः । संहारमूर्तिना एकार्णवशायिन्यग्रोधशायिपातालशाय्यन्यतमेनेत्यर्थः ॥ १२१—१२३ ॥

अथ भूलोक एव पातालाद्यखिललोकभोगसिद्ध्यर्थं श्रियादिशक्तिकीरीटादिभूषणचक्रादिलाङ्घनसंज्ञमन्त्रानेवार्चयेत्, तदानीं देवताविन्यासप्रकार उच्यते इ(युत आ ? त्वा)ह—एवमिति सार्वेन ॥ १२३—१२४ ॥

प्रथमं पाताललोकसिद्ध्यर्थं लक्ष्मीमन्त्रस्य प्राधान्येनार्चनक्रममाह—प्राग्वदिति चतुर्भिः । अन्त्याद् द्वादशकाद् एकशृङ्गाद्वादशकादित्यर्थः । एकशृङ्गं मीनमित्यर्थः । श्रियारूपं लक्ष्मीसंज्ञमित्यर्थः । अपरं पुष्टिमन्त्रमित्यर्थः । पश्चात् क्रमादलान्तस्थं द्विरष्टकं निद्रादिदशकं किरोटादिचतुष्टयं गरु(इश्व ? डं चक्रं) चाहृत्य द्विरष्टकं बोध्यम् । दलाग्रस्थं द्विरष्टकं तु शङ्खादिशकत्यन्तं ज्ञेयम् ॥ १२५—१२८ ॥

१. च—अ० उ० । २. मधो जयेत्—बख० उ० । ३. श्राव्यं—मू० अटी०, श्याख्ये—अ० ।  
 ४. द्वलात् क्रमान्तस्थं—मू० अटी० । ५. महत्—बख० । ६. सिद्धिदमर्थं—अ० ।

एवमेव भुवर्लोकसिद्धीनां प्राप्तये सदा ।  
 स्मर्य ऊर्ध्वे सरशायी त्वनन्तः कमलादधः ॥१२९॥  
 यजेद् गगनसिद्धीनामशेषाणामथाप्तये ।  
 स्वस्थं न्यग्रोधशयनं कूर्मं कमलमूलगम् ॥१३०॥  
 एतेषामपि सञ्चारं नानासिद्धिच्यपेक्षया ।  
 प्रधानमन्त्रवत् कुर्यात् प्राग्वत् सर्वत्र सर्वदा ॥१३१॥  
 एवमौद्यैस्तु विधिवद् भोगैर्नानाविधोतिथैः ।  
 यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः ॥१३२॥  
 पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते ।  
 सूक्ष्मत्वेन च निशेषं प्रत्येकस्मिन् हि वर्तते ॥१३३॥  
 समाश्रित्य वृहत्त्वं च तृतीयांशेन तिष्ठति ।  
 यथोक्तक्रमयोगेन युक्तः सर्गत्रये तु वै ॥१३४॥

अथ भुवर्लोकसिद्ध्यर्थमर्चने विशेषमाह—एवमिति । सरशायी एकार्णवशय इत्यर्थः ॥१२९॥

सुवर्लोकादीनां सिद्ध्यर्थमर्चने विशेषमाह—यजेदिति । स्वस्थं कणिकामध्यगत-लक्ष्मीयन्त्रस्योपरि स्थितमित्यर्थः ॥१३०॥

एवं लक्ष्मीमन्त्रवत् पुष्पाद्यङ्गमन्त्राणामपि तत्तत्कलप्राप्तिच्छया प्राधान्येनार्चनं कुर्यादित्याह—एतेषामिति ॥१३१॥

उक्तमर्थं निगमयति—एवमिति ॥१३२॥

सर्गत्रयविवरणं तत्र सूक्ष्मस्थूलभेदेनावस्थानं चाह—पौष्करा(ख्य) इति सार्वेन । पौष्करे पाद्यकल्प इत्यर्थः । प्राजापत्ये ब्राह्मकल्प इत्यर्थः । यथा च श्रीभागवते—

पूर्वस्यादौ पराधर्षस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।  
 कल्पो यत्राभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥  
 तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पाद्यमभिचक्षते ।  
 यद्वरेन्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥

१. तदा—उ० । २. संचारो—मु० अटी० । ३. मर्च्य—बख०, मर्च्य—अ० उ० । ४. भेदै—बख० अ० उ० । ५. पर—बक० बख० अ० उ० । ६. 'कस्मिन्'... भवोप' नास्ति—उ० ।  
 ७. उक्तं—बक० बख० ।

परिवारं समादाय भवोपकरणान्वितम् ।  
 दिंकपालकगणोपेतं समाक्रम्य तमेव हि ॥१३५॥  
 अभिधानाक्षरं पूर्वमरन्ताद्येन भूषितम् ।  
 योक्तव्यमभिधानेन पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥  
 पूजार्थं चैव सर्वेषां क्रमेऽस्मिन् सम्प्रकाशितम् ॥१३६॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवतान्तर्यागो नाम  
 नवमः परिच्छेदः ॥

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।  
 वाराह इति विख्यातो यत्रासीत् सूकरो हरिः ॥ ( ३।१।३४-३६ )  
 इति ॥ १३३-१३४ ॥

पौष्करादिसर्गत्रयेऽपि पूर्वोक्तलक्ष्म्यादिपरिवारसंग्रहणमाह—यथोक्तेति ॥१३४-१३५॥

परिवाराणां बीजपिण्डयोरनुकृत्वात् तत्तन्नाम्नामाद्याक्षरमेवानुस्वारान्वितं  
 कृत्वा तत्तसंज्ञामन्त्रैर्योज्यमित्याह—अभिधानेति सार्थेन । अरान्ताद्येन पूर्वोक्तवर्ण-  
 चक्रे, अरान्तो विसर्गः, तदा(द्य?द्येन) अनुस्वारेणेत्यर्थः ॥ १३६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 श्रीसात्वततन्त्रभाष्ये नवमः परिच्छेदः ॥

१. तत्पा-अ० । २. क्षरे-अ० उ० । ३. सहो-बक० बख० अ० उ० । ४. शिते-  
 बख० अ० उ० ।

## दशमः परिच्छेदः

नारद उवाच

अथ लाङ्गलिना विप्राश्चोदितः परमेश्वरः ।  
यत् तदाकर्ण्यतामध्य चेतसा संयतेन तु ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

मण्डलेऽनौ बहिर्नाथ जलमध्ये त्वैयाऽर्चनम् ।  
नोक्तं विभवदेवानां व्यवतं कृत्वा तदादिश ॥ २ ॥

भगवानुवाच

सुलक्षणे तु भूभागे समे पूर्वोक्तलक्षणे ।  
तत्र मण्डलमालेख्यं सर्वेषामेकमर्चने ॥ ३ ॥  
चतुरश्च चतुर्द्वारं पीठाद्यवयवान्वितम् ।  
षट्ट्रिंशद्लपद्मेन मध्यतश्चाप्यलङ्कृतम् ॥ ४ ॥  
वितानध्वजसंबीतं किञ्चिणीदर्पणान्वितम् ।  
तोणव्यजनच्छत्रचामरसग्रविमण्डितम् ॥ ५ ॥  
उक्तानुक्तमशेषं तु कृत्वा पूर्वोक्तलक्षणम् ।  
ततस्तु करयोन्यस्य विग्रहे वीजमैश्वरम् ॥ ६ ॥

अथ दशमो व्याख्यास्थते । पुनः संकर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्ठस्तच्छृणुध्वमिति  
नारदो मुनीनाह—अथेति ॥ १ ॥

संकर्षणो बाह्यप्रागं पृच्छति—मण्डल इति ॥ २ ॥

वासुदेवस्तमुपदिशन् पूर्वं षट्ट्रिंशद्लपद्मगर्भितवच्यमाणपीठाद्यवयवान्वित-  
मण्डलेखनं यागमण्डलालङ्करणं च कार्यमित्याह—सुलक्षण इति सार्वेस्त्रिभिः  
॥ ३-६ ॥

१. ‘उवाच’ उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । २. विप्रचो—बक० बख० । ३. त्वथा—  
बख० । ४. त्तरप्लवे—अ० उ० । ५. पङ्कित्रयं नास्ति—अ० । ६. सद्वस्त्र—बक० बख० उ० ।

समालम्ब्य च तादात्म्यमभिमानं सुनिश्चलम् ।  
 वद्ध्वा चै वैभवीं मुद्रां स्पृशेत् सर्वाङ्गेकं तया ॥ ७ ॥  
 समुच्चार्य धिया सर्वं मन्त्रग्रामं क्रमस्थितम् ।  
 सर्वदेवमयं देहमेवं स्मृत्या स्वकं पुरा ॥ ८ ॥  
 अन्तश्चक्रनिविष्टं तु संस्मरेद् भद्रपीठवत् ।  
 मण्डलं देवताधारं चक्रमन्त्रेण तद् यजेत् ॥ ९ ॥  
 तैतस्तु सर्वमन्त्राणां विन्यासं तत्र चेतसा ।  
 समाचरेद् यथायोगं पुष्पदानपुरस्सरम् ॥ १० ॥  
 ध्रुवात्मा भगवान् मध्ये कर्णिकायामर्तः क्रमात् ।  
 दिक्चक्रमभिवीक्षनं प्राग्दलादादितो न्यसेत् ॥ ११ ॥  
 पातालशायिपर्यन्तमनन्ताद्यं महामते ।  
 न्यसेत् कमलवाह्ये तु ईशाद् वह्निपदावधि ॥ १२ ॥

अथ करयोदेहे च विशाख्यूपबीजन्यासम्, विशाख्यूपोऽहमिति तत्त्वादात्म्यावलम्बनम्, वक्ष्यमाण(१०।४१-४४)वैभवमुद्रयां सर्वाङ्गस्पर्शम्, पद्मनाभाद्यष्टर्त्रिशन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं स्वदेहस्य सर्वमन्त्रमयत्वापादानं चाह—तत इति सार्वद्वाभ्याम् । ऐश्वरं बीजं विशाख्यूपबीजमित्यर्थः । नमिति यावत् । विशाख्यूपतादात्म्याश्रितस्य पुनः पद्मनाभादिसर्वदेवमयविग्रहत्वम् ।

आमूर्धतोऽडिग्रपर्यन्तं तदीयं गात्रमण्डलम् ॥  
 रत्नवद् वैभवीयस्तु बीजैर्भाव्यमलङ्कृतम् । (९।५८-५९)

इति पूर्वोक्तप्रकारेण बोध्यम् ॥ ६-८ ॥

मण्डले भद्रपीठवंदन्तर्लीनचक्रकराजस्मरणं तदर्चनं चाह—अन्तरिति ॥ ९ ॥  
 तस्मिन् मण्डले प्रत्येकं पुष्पदानपूर्वकं मन्त्राणां न्यासमाह—तत इति ॥ १० ॥  
 मण्डले ध्रुवादीनां स्थानान्याह—ध्रुवात्मेति प्रक्रम्य भासयन्तं निवेश्य चेत्यन्तम् । तथा च प्रयोगः—कर्णिकामध्ये ध्रुवं प्रागादिषट्ट्रिशह्लेषु दिङ्मण्डलमभिवीक्षतोऽनन्तादीन् पातालशयनान्तान् षट्ट्रिशाद् देवान् तद्विहरैश्यान्यादिवायव्यन्तकोणचतुष्ठये किरीटश्रीवत्सकौस्तुभवनमालाः, ततः पीठे उत्तरदिशि लक्ष्मीम्, दक्षिण-

१. महि—म० अटी० । २. तु—बक० बख० । ३. ङ्गिकं तथा—बक० बख० उ० ।  
 ४. कृत्वा—बख० अ० उ० । ५. श्चक्रं—अ० उ० । ६. पद्मित्रयं नास्ति—उ० ।  
 ७. चेतसः—अ० । ८. मधः—अ० ।

चतुष्टयं किरीटाद्यं मन्त्राणां पूर्वचोदितम् ।  
 उदगदक्षिण आप्याद्ये पैठीये दिक्चतुष्टये ॥ १३ ॥  
 द्वन्द्वद्वयं तु लक्ष्म्याद्यं विनिवेश्यं यथाक्रमम् ।  
 तत्रैव चेशकोणात् तु यावद्वायुपदावधि ॥ १४ ॥  
 द्वयं द्वयं क्षैमाद्यं च मत्यन्तं सञ्चिवेश्य च ।  
 बहिः पीठस्य निकटे चाग्रतो वै पत्रिग्राद् ॥ १५ ॥  
 चक्रात् कमलपर्यन्तं चतुष्कं शाङ्करात् पदात् ।  
 वायुकोणावैर्यावैत् पीठबाद्ये तु योजयेत् ॥ १६ ॥  
 सौम्ययाम्याप्यपूर्वशावैस्थितं च द्वयं द्वयम् ।  
 लाङ्गलाद्यं परश्वन्तमष्टकं तद्वदेव हि ॥ १७ ॥  
 याम्यसौम्याप्यपूर्वशागतं दद्याच्चतुष्टयम् ।  
 पाशाद्यं वज्रपर्यन्तं शक्तिकोणचतुष्टये ॥ १८ ॥  
 आ ईशकोणनिकटात् पदात् तन्निकटे स्थितम् ।  
 प्रदक्षिणक्रमेणैव पदं यावद् द्वितीयकम् ॥ १९ ॥  
 कालादीनां च विन्यासः कार्यश्चानुक्रमेण तु ।  
 यज्ञान्तानां महाबुद्धे षोडशानां यथास्थितम् ॥ २० ॥  
 क्रमात् पूर्वोत्तरे कोणे न्यसेद् दक्षिणपश्चिमे ।  
 विद्याऽविद्याद्वयं यद् वै स्वपदस्थेऽग्निमारुते ॥ २१ ॥  
 चन्द्रादित्यावुदग्याम्ये द्वारयेविनिवेश्य च ।  
 प्रत्यग्द्वारशगतं तोयं प्राग्द्वारे विन्यसेद्<sup>१०</sup> धराम् ॥ २२ ॥

दिशि पुष्टिम्, पश्चिमदिशि दयाम्, पूर्वदिशि निद्राम्, ईशानकोणे क्षमां<sup>११</sup> क्षान्ति च,  
 आग्नेयकोणे सरस्वतीं धूर्ति च, नक्रैर्दत्तकोणे भैर्वीं रत्ति च, वायव्यकोणे तुष्टि मत्ति  
 च, तद्वबहिः पीठसमीपे पुरतो गडस्म, पीठाद् बहिरैशान्यादिवायव्यान्तकोणचतुष्टये  
 क्रमेण चक्रशङ्खगदापद्मानि, सौम्यदिशि पाशम्, याम्यदिश्यङ्खशम्, वारुणदिशि मुद्द-

१. वेश्य—बख० उ० । २. वेश—मु० अटी०, शेष—बक० । ३. क्षामा—मु० ।  
 ४. विनि—बख० । ५. अग्रतो—अ० उ० । ६. धि या—अ० उ० । ७. ‘वस्थितं’‘पूर्वशा’  
 नास्ति—बक० बख० । ८. शक्ति—मु० अटी० । ९. साः कार्या—अ० । १०. दराम—बक० मु०,  
 दरान—अटी० । ११. कान्ति—म० ।

चतुर्णामथ कोणानामव्यक्तं मण्डलाद् बहिः ।  
 संयजेद् भवनाम्ना वैयस्मान्नान्यो भवैः स्मृतः ॥ २३ ॥  
 ततः कामात्मतच्चानां दशकं सिद्धतां गतम् ।  
 भगवत्तुल्यसामर्थ्यं सर्वज्ञादिगुणैर्युर्तम् ॥ २४ ॥  
 वियुक्तं प्राकृताद् दुःखान्नियुक्तं चेश्वरेण तु ।  
 भवसन्तारकत्वेन मण्डलस्य बहिन्यसेत् ॥ २५ ॥  
 उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे दुरतिक्रमः ।  
 महाहृदः पश्चिमे तु वसुरेतास्तथोत्तरे ॥ २६ ॥  
 न्यस्यस्तेजो धरात्म्यस्तु पूर्वदक्षिणमध्यगः ।  
 नैऋते तु महाकर्मा त्वग्राह्यः पश्चिमोत्तरे ॥ २७ ॥  
 पूर्वोत्तरे वर्धमानः साक्षी गगनगोचरे ।  
 आधारनिलयं नाम्ना सर्वस्याधोगतं स्मरेत् ॥ २८ ॥  
 तेषां बहिः स्वर्मन्त्रेण दिक्क्रमेण तु हेतिराद् ।  
 स्वमरीचिगणेनैव भासयन्तं निवेश्य च ॥ २९ ॥  
 न्यस्यैवमर्चनं कुर्यान्मन्त्रमुद्रान्वितेन च ।  
 निरीक्षणादिशुद्धेन अर्घ्यस्त्रकचन्दनादिना ॥ ३० ॥

गरम्, पूर्वदिशि वज्रम्, कोष्टचतुष्टये शक्तिम्, ईशानकोणममीपस्थपदादारभ्य तत्समीप-स्थद्वितीयपदपर्यन्तमध्यशोभापूर्णशोभास्थितनीलोत्पलरकोत्पलाख्यघोडशपदेषु प्रादक्षिण्येन कालादियज्ञान्तं भवोपकरणदेवताषोडशकम्, ईशानकोणे विद्याम्, नैऋतकोणे-अविद्याम्, अग्निकोणेऽग्निम्, वायुकोणे वायुम्, उत्तरद्वारे चन्द्रम्, दक्षिणद्वारे सूर्यम्, पश्चिमद्वारे तोयम्, पूर्वद्वारे वसुधां च, मण्डलाद् बहिःकोणेषु प्रकृतिम्, तद्बहिः पूर्वादिदिक्षु विदिक्षु ऊर्ध्वमध्यश्च उपेन्द्रादिसिद्धदशकं च, तद्बहिः सर्वदिक्षु चक्रराजं च न्यसेत् ॥११-२९॥

एवं मण्डलदेवतान्यासानन्तरं तेषां यथाक्रममर्चनम्, मध्ये उपरिष्टात् पदानाभार्चनं च कार्यमित्याह—न्यस्येति द्वाभ्याम् । निरीक्षणादिशुद्धेनेत्यत्रादिशब्देन दहनाप्याय-

१. भवत्—वख० । २. कर्मान्त-अ०, कर्मात्म-उ० । ३. सार्वज्ञा-मु० अटी० ।
४. वृतम्-उ० । ५. सन्धा-अ० । ६. ह्लादः-अ० । ७. न्यस्य ते—वक० । ८. तन्त्रेण-उ० ।
९. अर्घ्य-वक० वख० ।

यथाक्रमेणोदितानामादिदेवं यजेत् ततः ।  
 उपरिष्टात् तु सर्वेषां स्वपदस्थं तु पूर्ववत् ॥ ३१ ॥  
 प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्डे ततः संस्कृत्य पावकम् ।  
 तन्मध्ये सर्वमन्त्राणां न्यासं कुर्याच्च यागवत् ॥ ३२ ॥  
 प्राक् समित्सप्तकेनैव तर्पयेद् वै यथाक्रमम् ।  
 मैन्त्रपूतं हि निश्चेषं हवनान्तं सकृत् सकृत् ॥ ३३ ॥  
 मवन्ति समुखा मन्त्राः साधकस्याग्निमध्यगाः ।  
 सन्तप्यथ तथा कुर्यात् सहस्रशतसंख्यया ॥ ३४ ॥  
 एकैकस्य तु वै होमं तिलैराज्यसमन्वितैः ।  
 दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चात् सर्वेषां तर्पणे कृते ॥ ३५ ॥  
 पुनरप्यर्चनं कुर्यादेत्य वै मण्डलान्तरे ।  
 यथाक्रमेण सर्वेषां पुष्पधूपैस्तु केवलैः ॥ ३६ ॥  
 सकृद् ध्यानसमेतं तु चतुर्धाप्यथवाष्टधा ।  
 क्रमात् समस्तमन्त्राणां परावर्तनमाचरेत् ॥ ३७ ॥  
 मुशुभेनाक्षसूत्रेण स्वकैर्वा करपर्वाभिः ।  
 ततोऽर्घ्यकुमुर्मैर्गन्धैः पूरयित्वा कराञ्जलिम् ॥ ३८ ॥  
 सर्वदेवमयं मन्त्रं स्मृत्वोच्चार्यं च तं क्षिपेत् ।  
 सर्वत्र सर्वदानेन क्रमेणेष्टवा च भक्तिः ॥ ३९ ॥  
 प्रदर्श्य सर्वमन्त्राणामेकां मुद्रां च वैभवीम् ।  
 ग्रणवेन सहस्रांशुसन्निभां सर्वसिद्धिदाम् ॥ ४० ॥

नादिकं संगृह्यते ॥३०-३१॥

अथैतेषां वह्निमध्ये संतर्पणप्रकारं पुनर्मण्डलार्चनपूर्वकजपयज्ञविधिं पुष्पाञ्जलि-  
समर्पणपूर्वकमुद्रादर्शनं चाह—प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्ड इत्यादिभिः ॥३२-४०॥

श्लेष्ये पाणितले द्वे प्राङ्गनं कुर्याल्लतागणम् ।  
 विविक्तमन्तरीकृत्य सहाङ्गुष्ठद्वयेन तु ॥ ४१ ॥  
 मणिबन्धद्वयं कुर्यात् सुलग्नमतिनिश्चलम् ।  
 करयुगमं संगर्भं तु सन्धार्य स्वधिया चलम् ॥ ४२ ॥  
 ऊरुमध्यनिषणे तु कुर्याद् वै वाहुकूर्परे ।  
 गुप्तं कृत्वा प्रयत्नेन बन्धमस्याः समाचरेत् ॥ ४३ ॥  
 सर्वदाँ सर्वसिद्धीनामाप्तये त्वमलेखण ।  
 तीर्थमध्ये स्वहृत्पदे विम्बे वेदां स्थले तु वा ॥ ४४ ॥  
 वह्निगर्भे तु निर्धौमे नित्यमस्मिश्चतुष्टये ।  
 मन्त्राणामर्चनं कुर्यात् सिद्धवर्थमपि मुक्तये ॥ ४५ ॥  
 सजलाञ्जलिपूरस्तु तीर्थेऽथ हृदयाम्बुजे ।  
 भावनामृतजैर्भौगैर्मूर्तैरर्घ्यादिकैर्वहिः ॥ ४६ ॥

वैभवमुद्गालक्षणमाह—श्लेष्येति सार्धेस्त्रिभिः । द्वे पाणितले संश्लिष्य अङ्गुलिगणं नम्रं कृत्वा अङ्गुष्ठद्वयेन सह विविक्तमन्तरीकृत्य मणिबन्धद्वयं सुसंलग्न(मि?म)ति-निश्चलं कृत्वा संगर्भं करयुगमं तु स्वधिया चलं संधार्य वाहुकूर्परे ऊरुमध्यनिषणे ऊरुमध्ये निषणे स(ति ? ती) कुर्यात् । सर्वेषां विभवदेवानां साधारणोयं मुद्रा ॥४१-४४॥

प्रत्यहं तीर्थादिस्थानचतुष्टये भगवदर्चनं कार्यमित्याह—तीर्थेति सार्धेन । वेदां विम्बं विना केवलभद्रपीठ इत्यर्थः । स्थले मण्डल इत्यर्थः ॥४४-४५॥

तत्तत्स्थानोचितार्चनद्रीवैभेदानाह—सजलेति सार्धेन । एवं सजलाञ्जलिभिस्तीर्थमध्ये भगवदर्चनं जग्रास्येऽपि विशदमुपपादितम्—

आधारमासनं ध्यात्वा जलमध्येऽच्युतस्य च ।  
 मन्त्रग्रामसमोपेतमाहूय विनिवेश्य तस्म ॥  
 तर्पयेदुदकेनैव विष्वक्सेनावसानकम् ।  
 स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण पाणिभ्यामग्रतः क्रमात् ॥ (९५५-५६)

१. श्लेष्ये—अ० । २. द्वै—मु० । ३. विश्रामभ्रं—अ०, चेप्रान्न—उ० । ४. मिति—अटी० ।
५. सुगर्त—अ० । ६. मध्ये—मु० बक० बख० उ० । ७. सर्वथा—मु० । ८. ‘ऊरुमध्ये निषणे’ नास्ति—म० । ९. स्नानादिचतु—अ० । १०. चना—अ० । ११. भेदेनाह—म० ।

समित्सप्तकपूर्वेस्तु सौज्यैर्वहिगतं तिलैः ।  
 पूजयित्वा यथान्यायं प्रत्येकस्मिन् पदे क्रमात् ॥ ४७ ॥  
 संन्यासं सञ्चयं वापि कृत्वा सम्यक् कृतस्य वै ।  
 मन्त्ररूपानुकारिण्या मुद्रणीयं च मुद्रया ॥ ४८ ॥

इत्यादिभिः । एवं पारमेश्वरेऽपि करशुद्धिसमोपेतमित्यादिभिरष्टभिः श्लोकैर्जल-मध्यार्चनक्रमो विस्तरेणोक्तः । वस्तुतस्तु पारमेश्वरोक्तरीत्या जलमध्येऽर्चनात् पूर्वमेव करशुद्धिप्राणायामभूतमुद्धिमन्त्रन्यासभगवत्तादात्म्यावलम्बनानुष्ठानमुचितम् । बिम्बार्चनप्रकरणे मानसार्चनात् पूर्वं तदनुष्ठानोक्तिस्त्वौदकस्नानाद्यशक्त्या तीर्थमध्ये भगवदर्चनमकृतवद्विषयेति बोध्यम् ।

ननु “नित्यमस्मश्वतुष्टये । मन्त्राणामर्चनं कुर्यात्” (१०।४५) इत्युक्त्या जलमध्येऽर्चनं कृतवतैव मानसार्चनादिकं कार्यमिति चेन्न,

यावज्जीवं यथाशक्ति सस्थितो यत्र कुत्रचित् ।  
 स्थानेषु हृदयाद्येषु कुर्यान्मन्त्रगणार्चनम् ॥  
 द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वेस्तु तदभावात् तु वैहृदि ।  
 मानसीं पूर्ववत् पूजां निर्वपेन्यासपूर्विकाम् ॥

(१७।१२६-१२७)

इत्यशक्तानां हृदयादिस्थानेऽव्यन्यतमात्रार्चनस्यापि वद्यमाणत्वात् । किञ्च, पारमेश्वरे तीर्थमध्यार्चनं मानसार्चनं च होमान्तमुक्तम् । सात्वतनिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम् । यतोऽत्र सप्तदशे परिच्छेदे—

ध्यात्वाऽथ भावनाजातैर्भौगोः परमपावनैः ॥  
 पूजयित्वा जपान्तं चाप्यवत्तार्य बहिर्यजेत् । (१७।४२-४३)  
 इति जपान्तमेव वक्ष्यति ॥ ४६-४७ ॥

एवं तीर्थमध्यादिपदेषु क्रमेण भगवन्तमभ्यर्च्य तत्तदर्चनानन्तरं निष्कामश्चेत् कृतस्य कर्मणः परित्यागं कुर्यात्, सकामश्चेत् तदार्जनं कुर्यात् । उभयत्रापि पूर्वोक्तमुद्राबन्धं कुर्यादित्याह—पूजयित्वेति साधेन ।

ननु फलान्तरसंपादककर्मणां निष्कामत्याज्यत्वमुचितम्, प्राधान्येन मोक्षसंपादकभगवदाराधनकर्मणोऽपि त्याज्यत्वं कथमुक्तमिति चेन्न, सिद्धोपायनिष्ठैर्भगवदाराधनकर्मणोऽपि स्वयं प्रयोजनतयाऽनुष्ठेयत्वात् ॥ ४७-४८ ॥

१. याज्यै-मु० अटी० उ० । २. ससञ्च-बख० । ३. ‘त्याज्यत्वं’“कर्मणोऽपि” नास्ति-म० ।

फलार्थं प्रसवं येन नैति संन्यासकारिणाम् ।  
 फलपर्यवसानं च कालमागमचोदितम् ॥ ४९ ॥  
 हेतुं नो युज्यते येन सिद्धाद्यैस्तुं फलार्थिनाम् ।  
 कालानुकालमुद्राणां यो बन्धः परिचोदितः ॥ ५० ॥  
 उक्तं प्रयोजनादन्यः स विघ्नविनिवृत्तये ।  
 मुदं कर्मत्मतच्चानां ददत्यमल्याजिनाम् ॥ ५१ ॥  
 द्रावयित्री च दोषाणां बाह्याभ्यन्तरचारिणाम् ।  
 तेन मुद्रा समाख्याता कृतस्यापि च मुद्रणात् ॥ ५२ ॥  
 तस्मात् स्वाभाविकं कृत्वा बद्धं वा मानसं पुरा ।  
 स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण स्मरेद्दृव्याप्तिं सदैव हि ॥ ५३ ॥

ननु संचितकर्मणामुपरि मुद्राबन्धः समुचितः । संन्यस्तकर्मणामुपरि मुद्राबन्धेन कि प्रयोजनमित्याशङ्कायामुभयत्रापि सार्थक्यमाह—फलार्थमिति सार्वेन । येन मुद्राबन्धेन हेतुना संन्यासकारिणां कर्मत्यागिनां फलार्थं प्रसवं पृष्पमेव नैति नोत्पद्यत इत्यर्थः । फलार्थिनां कर्मसंचितवतां तु शास्त्रोक्तफलानुभवकालपर्यन्तं येन मुद्राबन्धेन हेतुना सिद्धाद्यैरन्यैर्हेतुं नो युज्यते । यथा जतु मुद्रितधनग्रन्थेर्धनमनपहार्य भवति, तथा कर्माप्यन्यैरनपहार्य भवतीति भावः ॥ ४९-५० ॥

एवं पूजानन्तरकालीनमुद्राया उक्तं प्रयोजनं संभवति, पूजामध्यकालेषुक्तानां कर्मणां कि प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां विघ्नविनिवृत्तिरूपं फलमाह—कालेति ॥ ५१ ॥

एतदुभयप्रयोजनानुसारेण मुद्राशब्दनिर्वचनमाह—मुदमिति सार्वेन । अमलयाजिनां शुद्धयाजिनामित्यर्थः । कर्मत्मतत्वानां यजनादिकर्मनिष्ठचेतनानामित्यर्थः । दोषाणामिति कर्मणि षष्ठी । एवं च मुद्राशब्दे मुदित्यत्र ददातीति शेषः । द्रेत्यत्र दोषानिति शेषः । पूजामध्यकालीनमुद्राणां प्रयोजनानुसारीदं निर्वचनम् । मु(द्राणां? द्रणाद) मुद्रेति निर्वचनं तु पूजानन्तरकालीनमुद्राया इति ज्ञेयम् ॥ ५१-५२ ॥

कायिकं मानसिकं वा मुद्राबन्धं कृत्वा तत्र तत्त्वमन्त्रव्याप्तिं स्मरेदित्याह—तस्मादिति । मानसाच्चने मानसिको मुद्राबन्धः, बाह्याच्चने कायिक इति विवेकः ॥ ५३ ॥

१. ‘भर्तुर्नी’ इति सार्वत्रिकः पाठः । २. थैस्तु—मू० बक० । ३. थिना—उ० ।
४. कर्मर्थ—अ० । ५. यन्ती—बख०, यन्ति—उ० । ६. स्मरेत् प्राप्तं [ द्वयासं ]—मू०, स्मरेदाप्तं—बक०, स्मरेद्याप्तं—बख० उ०, स्वरैव्याप्तिं—अ० । ७. ‘फलार्थमिति सार्वेन’ नास्ति—अ० ।

चैतन्येनानुविद्धो यः शाखासंघश्च यद्यपि ।  
 तत्रापि मन्त्रोऽत्राध्यक्षस्तत्कार्यं सम्प्रयच्छति ॥ ५४ ॥  
 एवं कृते ततः कुर्यान्मन्त्राणां मण्डलान्तरात् ।  
 पूर्ववच्चोपसंहारमेकस्मिन् गगनस्थिते ॥ ५५ ॥  
 स्मृत्वा परात्मना तं च स्वसंविद्गगने हृदि ।  
 विश्रान्तं भावयेद् देवं स्वभावेन समन्वितम् ॥ ५६ ॥  
 द्विजातेदेवशिष्टस्य पुष्पपत्रादिकस्य च ।  
 विहितश्चाम्भसि त्यागो विष्वक्सेनार्चने<sup>३</sup> कृते ॥ ५७ ॥

केवलचैतन्यानुविद्धाङ्गुलिगणस्यैवं विघ्ननिवृत्यादिफलप्रदानसामर्थ्यं मन्त्राधिष्ठितत्वात् संभवतीत्याह—चैतन्येनेति ॥५४॥

मण्डलस्थदेवानामुपसंहारकममाह—एवमिति द्वाभ्याम् । एकस्मिन् गगनस्थिते पद्मनाभ इत्यर्थः । परात्मना निष्कलरूपेणत्यर्थः । स्वसंविद्गगने नादान्तर्गगन इत्यर्थः ॥५५—५६॥

कारिप्रदानाद्यवशिष्टनैवेद्यपत्रपुष्पफलादीनां विष्वक्सेनार्चनानन्तरं जलमध्ये प्रक्षेपमाह—द्विजातेरिति ॥५७॥

तत्र हेतुमाह—र्धत्यमिति । यद्यस्मात् कारणात् पुरा निवेदितं मन्त्रमूर्तीनां नैवेद्यं भगवन्निवेदितहविरादिकं किञ्चित् पुष्पफलादृते स्वप्राशनोपयुक्तं किञ्चिच्च भागं विनाइन्यत् सर्वं चिरं बहुकालं नैव धार्यम् । शीघ्रं जलमध्ये प्रक्षेपव्यमित्यर्थः । इममेवार्थं सुस्पष्टं वच्यति सप्तदशे परिच्छेदे च—

ततो विसर्जनं कुर्यादुपसंहत्यं चाखिलम् ।  
 विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये पत्रपुष्पफलादि यत् ॥  
 निष्कामः पावनार्थं तु स्तोकमुदधृत्य वै पुरा ।  
 संधार्य मन्त्रपूतं प्राक् तमश्नीयाच्च मौनवान् ॥(१७।१४५—१४६) इति ।

ननु स्तोकमुदधृत्य वै पुरेत्यत्र किं विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्तोकोद्धरणम्, अथवा तदर्चनानन्तरं जलप्रक्षेपात् पूर्वं वेत्यार्वमिकाङ्क्षायां तत्पक्षद्वयमध्युपपन्नमिति ज्ञेयम् । यतः पारमेश्वरे—

स्वप्राशनार्थमिकांशं स्थापयित्वा निरीक्षितम् ।  
 शोषाशनाभिधानस्य गणेशस्यार्चनाय वै ।  
 भागमेकं तु संस्थाप्य भागेनात्येन तोषयेत् ।  
 ब्राह्मणादीन् शुभाचारान् भक्तान् प्रामाधिवासिनः ॥

१. गगने—बख० अ० उ० । २. येदेवं—बख० अ० । ३. नादृते—मु० ।

४. नादान्तगगन—म० । ५. 'न' नास्ति—अ० ।

धर्तव्यं न चिरं चाग्रे यत्पुरा विनिवेदितम् ।  
 नैवेद्यं मन्त्रमूर्तीनां किञ्चित् पुष्पफलादृते ॥ ५८ ॥  
 इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवंतार्चनं नाम  
 दशमः परिच्छेदः ॥

इति विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्वप्राशनार्थभागोद्धरणमुक्तम् । तत्रैव महाहविः-  
 प्रकरणे तु—

प्रक्षिपेऽजलमध्ये तु विष्वक्सेननिवेदितम् ॥  
 जलजानां नीरगाणां जन्तुनां तृप्तयेऽथवा ।  
 जले किञ्चिच्चिद्विनिक्षिप्य शेषमन्नं तदग्रतः ॥  
 तद्वक्तानां द्विजातीनां निरतानां स्वकर्मसु ।

(पा० सं० १८।४०५-४०७)

इति तन्निवेदितस्वीकारोऽप्युक्तः । अत एव सच्चरित्ररक्षायाम्—“विष्वक्सेननिवेदिते  
 च विकल्पभेदास्तत्संहितानुसारेण प्रयोगपद्धतिरत्नावल्यादिषु भोजराजादिभिः  
 स्थापिता द्रष्टव्याः” (पू० ११७) इत्युक्तम् ॥५८॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥

१. देवा—अ० । २. ‘दशमः’ नास्ति—उ० ।

## एकादशः परिच्छेदः

नारद उवाच

श्रुत्वैवमच्युतमुखाद् वनमाली मुनीश्वराः ।  
युनः सञ्चोदयायास यदाकर्णयताद्य तत् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

यथावज्ञातुमिन्छामि मण्डलध्यानलक्षणम् ।  
भगवन् भवभीतानामुपकाशय तद्वद् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

संसाध्य यष्टियोगेन सूत्रात् पूर्वापरे पुरा ।  
तदिग्द्वयान्तरे दद्यात् प्रांग् वै सूत्रचतुष्टयम् ॥ ३ ॥  
समांशेन द्विधा कृत्वा स्फुटं मध्यात् तदङ्गच्च च ।  
साधितेनार्धमानेन प्राक्प्रत्यक्स्थेन तन्तुना ॥ ४ ॥  
दक्षिणोत्तरभागभ्यां समुत्पाद्य चतुष्पथौ ।  
सूत्रं पूर्वापरसमं कृत्वा तदुपरि क्षिपेत् ॥ ५ ॥

अथैकादशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र संकर्षणेन भगवान् यत्संपृष्टस्तदाकर्ण-  
यतेत्याह—श्रुत्वेति ॥ १ ॥

संकर्षणः पृच्छति—यथावदिति ॥ २ ॥

तेन पृष्ठो भगवान् पूर्वं मण्डललक्षणमाह—संसाध्य यष्टियोगेनेत्यारभ्य क्रमाद्  
रेखागणं बहिरित्यन्तम् । अस्यैवं प्रयोगः—संसाध्य यष्टियोगेनेत्यायुक्तप्रकारेण वेदिको-  
परिभागं सूत्रपातादिना चतुरश्चीकृत्य तत्क्षेत्रं समैरष्टादशपदैर्विभज्य घटिकारेण

१. ‘नारदः’ नास्ति—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति उ० विहाय सर्वत्र । ३. सूर्योति—  
मु० अ० उ० । ४. प्राप्तवत्—अ० । ५. षककम्—बक० बख०, षकरम्—अ० उ० । ६. सफुटम्—  
बक० बख० । ७. दन्त्य—मु० बक० ।

पुनर्धसमं दिक्षु दत्वा कोणचतुष्टयम् ।  
 चतुष्पथचतुष्केण नयेह भक्ति प्रसार्य वै ॥ ६ ॥  
 समं सूत्रचतुष्कं च चतुरश्राश्रसिद्धये ।  
 तद्विभज्याष्टदशभिश्चतुर्दिक्षु पदैः समैः ॥ ७ ॥  
 क्षिपेत् सूत्रगणं तत्र घटिकारेण रञ्जितम् ।  
 मध्ये पदावनि कुर्याद् भागपडक्तित्रये क्रमात् ॥ ८ ॥  
 तद्वहिः पदपडक्त्या तु पीठमष्टदिग्निवितम् ।  
 तस्य भागचतुष्कोत्थं दिवचतुष्कं प्रकल्प्य च ॥ ९ ॥  
 विदिकचतुष्कं त्रिपदं पडक्त्या पीठप्रदक्षिणम् ।  
 प्रदक्षिणं क्षितेवाद्याच्चतुष्कं दिकचतुष्टयात् ॥ १० ॥  
 चतुर्णा तु चतुर्णा तु वाह्याद् वाह्यं द्वयं द्वयम् ।  
 शोधयित्वा तु तद्वाह्याच्चतुष्कं द्वारासद्धये ॥ ११ ॥  
 चतुष्टयं क्रमेणैव भूयो दिक्षु पदं पूर्दम् ।  
 सवाह्याभ्यन्तरगतं शोधनीयं प्रयत्नतः ॥ १२ ॥

रञ्जितं सूत्रगणं तत्र प्रक्षिप्य मध्ये पडक्तित्रयस्य षट्त्रिशत्कोष्ठेषु पद्मां कुर्यात् ।  
 १० तद्वहिरेकया पडक्त्या पीठं कुर्यात् । तत्र चतुर्भिश्चतुर्भिः कोष्ठः प्रागादिदिकचतुष्टयं त्रिभिस्त्रिभिः कोष्ठैराग्नेयादिविदिकचतुष्टयं कुर्यात् । तद्वहिरेकया पडक्त्या प्रदक्षिणविर्धि कृत्वा तद्वहिः पडक्तिद्वये पूर्वादिदिक्षु पूर्णशोभाच्चतुष्टयसिद्ध्यर्थं प्रागादिष्वन्तः पडक्त्यां कोष्ठचतुष्कं बहिः पडक्त्यां कोष्ठद्विकं चैकीकृत्य ॥ ११ तद्वहिः पूर्वादिषु पडक्तिद्वयस्थ-कोष्ठचतुष्केण चतुर्द्वाराणि परिकल्प्य पूर्णशोभापाश्रयोरर्धशोभासिद्ध्यर्थं बहिः पडक्त्यां कोष्ठद्विकमन्तः पडक्त्यामेकं कोष्ठं चैकीकृत्य प्रागादिपूर्णशोभाचतुष्के रक्तोत्पलाष्टक-मर्धशोभाष्टके नीलोत्पलाष्टकं च विलिखेत् । आग्नेयादिविदिक्षु उपशोभयोरन्तरालेजन्तः-पडक्तिस्थं कोष्ठपञ्चकं वीथ्या सहैकीकृत्य बहिः पडक्तिस्थकोष्ठसप्तकेन कोणानि तद्वहिः पडक्तिद्वये सान्तरं रेखात्रयं कृत्वा मध्ये षट्त्रिशत्क्षालसंयुक्तं कमलं लिखेत् ।

१. ष्टोशं-उ० । २. व्यक्तित-म० बक० बख० अ० । ३. प्रसाध्य-उ० । ४. सम-म० अटी० । ५. तु-अटी० । ६. रेणु-म० अटी० अ०, कण-म० । ७. त्थदि-म० अटी० । ८. द्वयम्-अटी० । ९. तृण-अ० । १०. 'तद्वहिरेकया'...चतुष्टयं कुर्यात्' नास्ति-अ० । ११. कृत्यात-अ० ।

पुनः सर्वपदाभ्यां तु पट्कं पट्कं तु चान्तरात् ।  
 संमाज्यं पूर्णशोभार्थं तत्र रक्तोत्पलाष्टकम् ॥ १३ ॥  
 यथा दिक्ष स्थितं कुर्यात् पूजनाय दिवौकसाम् ।  
 बाह्यस्थपैदपाश्वर्ति तु त्रीणि त्रीणि चै लोपयेत् ॥ १४ ॥  
 त्रयाणामन्तरस्थं यत्पदमेकात्मैतां नयेत् ।  
 उपशोभं तु तं विद्धि कुर्यान्नीलाङ्गभूषितम् ॥ १५ ॥  
 पञ्चकं पञ्चकं कोणाद् वीथौ नीत्वा लयं पुरा ।  
 शेषैः कोणं तु निर्वर्त्य मान्तरं च ततो ब्रह्मः ॥ १६ ॥  
 दद्यात् सूत्रत्रयं चैव मध्येष्ठैः कमलं लिखेत् ।  
 पट्टिंशदलसंयुक्तं तस्य लक्षणमुच्यते ॥ १७ ॥  
 पीठावनिसमीपे तु चतुर्थीशपदात् पुरा ।  
 समुद्धृत्य भ्रमं कुर्याद् ब्रह्मस्थानाच्च तन्तुना ॥ १८ ॥  
 दिक्सूत्राणां चतुर्णां तु एकैकं हि यदन्तरम् ।  
 वृत्तावधेः समैर्भागैः पत्रसंरूपैर्विभज्य च ॥ १९ ॥  
 पट्टभिर्हीनं शतं सार्धं सूत्राणां तत्र निक्षिपेत् ।  
 सूत्रं प्राक्पदसंस्थं यत् तदाश्रित्याङ्गपल्लवम् ॥ २० ॥  
 कुर्याद् भागचतुष्केण यथा तदवधारय ।  
 सव्यापसव्ये ये सूत्रे अन्तरस्य निरन्तरे ॥ २१ ॥

तत्प्रकारः—पीठावनिसमीपे पादाच्चतुर्थीशं विहाय ब्रह्मस्थानगतेन तन्तुना भ्रमणं कृत्वा तद्वृत्तमध्ये पूर्वपश्चिमायतमेकं सूत्रं तदुपरि दक्षिणोत्तरायतमेकं सूत्रं च दत्त्वा दिक्सूत्राणां चतुर्णामिकैकं यदन्तरालं तद्वृत्तावधेः समैर्भागैर्नवधा नवधा विभज्यैकैकं भागं पुनश्चतुर्धा चतुर्धा विभज्य सूत्राणि प्रक्षिपेत् । आहत्य चतुश्चत्वारिंशदुत्तर-शतसूत्राणि भवन्ति । तत्र प्राक्दिक्सूत्रमारभ्य चतुर्भिश्चतुर्भिर्भागैरेकैकं दलं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—एकस्मिन् भागे <sup>१</sup>मध्यमसूत्रस्य दक्षिणभागयोरव्यवहिते ये सूत्रे, तयोरन्तरालं यत्प्रमाणं तत्प्राणसमं दलाग्रान्मध्यमसूत्रे लाङ्गूलं कृत्वा तल्लाङ्गूलान्

- १. पद्मा—बक० बख०, पीठा—मु० । २. तु—बक० बख० अ० उ० । ३. र्णतां—अटी० ।
- ४. द्विधौ—बक० बख० अ० । ५. ध्ये ह—बक०, ध्ये तत्—अ० । ६. कृत्तावधेः—उ०, वृत्तावधेः—मु० ।
- ७. संघै—मु० अटी० अ० । ८. व्यक्ते—अ०, व्ययोः—अटी० । ९. र्यस्य—बख०, स्थस्य—अ० उ० ।
- १०. मध्यसूत्रस्य—म० । ११. मध्यसूत्रे—म० ।

तयोरंशं<sup>१</sup> समं कुर्याद् दलाग्रादङ्गमन्तरे ।  
 तदुदेशात् तु सूत्रेण तदङ्गान्तर्गतेन च ॥ २२ ॥  
 अर्धचन्द्रद्वयं कुर्यात् तेन सूत्रेण वै समम् ।  
 पुनरभ्यन्तरे सूत्रं तत्सूत्राभ्यां निरोध्य च ॥ २३ ॥  
 पत्राग्रमानयेत् तस्माद् बहिस्तं शृङ्गसन्निधेः ।  
 लाञ्छयमानं दलाग्रं तु विधिनानेन सिद्ध्यति ॥ २४ ॥  
 दलाग्रब्रह्मदेशाभ्यां तुरीयांशेन चान्तरात् ।  
 भ्राम्य वै कर्णिकावृत्तं द्वयंशमानेन केसरम् ॥ २५ ॥  
 दलाग्रगांशं<sup>२</sup> वै मध्याद् व्योमार्थं भ्रामयेत् ततः ।  
 कृत्वैवं वर्णकैः पूर्तैः पूरणीयं महोज्ज्वलैः ॥ २६ ॥  
 उच्चाग्रविततां पीतां सर्वीजां विद्धि कर्णिकाम् ।  
 रेखान्वितानि पत्राणि सर्वाणि सुसितानि च ॥ २७ ॥  
 केसरत्रितयं कुर्यात् पत्रे पत्रेऽरुणप्रभम् ।  
 दलान्तरालमौसितं वृत्तवाद्यं ज्वलत्प्रभम् ॥ २८ ॥  
 सितानि पीठकोणानि रक्तं तंदिक्चतुष्टयम् ।  
 राजोपलग्रमां वीथीं पत्रमालाद्यलङ्घकृताम् ॥ २९ ॥  
 पश्चिमांशाद्<sup>३</sup> विना सर्वद्वाराण्यम्बुजपत्रवत् ।  
 कृष्णानि सर्वशोभानि द्वारोदेशस्थितानि च ॥ ३० ॥

न्तर्गतेन सूत्रेण दलाग्रमारभ्य सव्यदक्षिणयोरर्धचन्द्राकाररेखाद्वयं विलिख्य पुनरभ्यन्त-  
 रस्थं सूत्रं तद्रेखाभ्यां संयोज्य तस्मात् शृङ्गसन्निधेवर्हिः पत्राग्रं चानयेत् । ततो दलाग्र-  
 ब्रह्मदेशयोरन्तरालं यत्प्रमाणं तच्चतुर्थीशेन<sup>४</sup> मध्यात् कर्णिकार्थं मण्डलं परिभ्राम्य  
 तद्विद्विगुणमानेन केसरार्थं वृत्तं परिभ्राम्य दलाग्रांशमध्येऽपि व्योमार्थमेकं मण्डलं  
 परिभ्रामयेत् । एवं कृत्वा ततो वर्णपूरणं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—कर्णिकां पीतवर्णेन, पीठदिक्चतुष्टयं र(त्ने?क्ते)न, तत्कोणचतुष्कं  
 श्वेतेन, प्रदक्षिणविर्धि कृष्णवर्णेनापूर्य, वीथ्यां नानावर्णेः पत्रमालादींश्च विलिख्य,

१. रंशससं-मु० बक० बख० । २. स्थं-अ० उ० । ३. कांशं-बक० बख० ।  
 ४. ढोमा-अ० उ० । ५. समितं-मु० अटी० बक० । ६. तद्वच्च-अ० । ७. प्रभावीथी-बक०  
 बख० उ० । ८. तम्-बक० बख० उ० । ९. मांशं-बक० बख० । १०. धर्शेन-म० ।

तदधीकृतितुल्यानि तूपशोभानि गर्भवत् ।  
 कोणानि केसराभानि सितशङ्खान्वितानि च ॥ ३१ ॥  
 शोणहेमादिवर्णं च क्रमाद् रेखाणणं वहिः ।  
 कृत्वैवमनुसन्धाय सर्वात्मत्वेन देहवत् ॥ ३२ ॥  
 रजांसि विद्वि भूतानि सितपीतादिकानि च ।  
 तन्मात्राण्युपशोभानि शोभानि करणानि तु ॥ ३३ ॥  
 एवं सर्वाणि कोणानि सद्वाराणीन्द्रियाणि च ।  
 बहिरावरणं यद्वै सन्वादं त्रितयं हि यत् ॥ ३४ ॥  
 मनः सुवितता वीथी गर्वः पीठमुदाहृतम् ।  
 धीः पद्मं तदधिष्ठाता वीजात्मा चिन्मयः पुमान् ॥ ३५ ॥  
 अमूर्ते ईश्वरश्चात्र तिष्ठत्यानन्दलक्षणः ।  
 यस्य सन्दर्शनादेव शशवङ्गावः प्रसीदति ॥ ३६ ॥  
 ससङ्घानामसङ्घानां वैपुष्पाते कृते सति ।  
 प्रायशो मुक्तिभाजां च त्विह जन्मैकशेषिणाम् ॥ ३७ ॥  
 देव आस्ते ज्ञतां हित्वा बहिरन्तश्च कर्मिणाम् ।  
 अन्यथा दृष्टमात्राद् वै कथमाहादमेति वै ॥ ३८ ॥  
 अन्तःसंवेदनसमम् अस्तित्वप्रतिपादकम् ।  
 यद्यत् स्वलक्षणं तत्त्वं तत्त्वत् सर्वत्र सिंद्विगम् ॥ ३९ ॥

पश्चिमांशं विना सर्वद्वारा(णि) अपि मध्यस्थितकमलदलवत् इवेतेन, पूर्णशोभाचतुष्टय-  
 मपि कृष्णवर्णेन, अर्धशोभाष्टकं कमलगर्भवत् पीतेन, कोणानि केसरवद् रक्तेन  
 चापूर्य, कोणेषु इवेतरेखाभिः १० शङ्खांश्च विलिख्य, रक्तपीतश्वेतवर्णैः क्रमेण रेखात्रयं  
 पूरयेत् । एवं मण्डलेखनप्रैकारः ॥ ३२-३५ ॥

एतन्मण्डलस्य भगवच्छरीरतयाऽत्रापि प्रसिद्धदेहवद् भूततन्मात्राणि ११ दर्शयति—  
 कृत्वैवमित्यादिभिः ॥ ३२-३५ ॥

मण्डले भगवदवस्थानं सहेतुकमाह—अमूर्त इत्यादिभिः ॥ ३६-३९ ॥

- |                              |                          |                                 |
|------------------------------|--------------------------|---------------------------------|
| १. उप-उ० ।                   | २. न्तानि-अटी० ।         | ३. पद्मवित्त्रयं न दृश्यते-उ० । |
| ४. सत्त्वाद्य-मु० अटी० बख० । | ५. गर्व-मु० अटी० अ० ।    | ६. पुष्पपाते-अ० उ० ।            |
| ७. अतः-मु० अटी० ।            | ८. खल-बक० बख० उ० ।       | ९. सिद्धगम्-बक० बख०,            |
| सन्धिगम्-मु० अ० ।            | १०. शाखांश्च-अ० ।        | ११. प्रयोगः-म० ।                |
|                              | १२. मात्रा निर्दर्श-म० । |                                 |

वस्तुत्वेन गृहीत्वैवं मण्डलं पूर्वनिर्मितम् ।  
 नाम्नाऽब्जनाभभुवनं सर्वदुःखक्षयङ्करम् ॥ ४० ॥  
 ततस्तस्मिन् क्रमेणैवं ध्यात्वैकैकं निवेशयेत् ।  
 पूर्वोद्दिष्टेन वीजेन त्वाकारं पारमेश्वरम् ॥ ४१ ॥  
 अथैवं भाजितात् क्षेत्राच्चतुरश्चाद् महामते ।  
 पूर्वोद्दिष्टानि धिष्यानि यथा कार्याणि तच्छृणु ॥ ४२ ॥  
 पञ्चमं ब्रह्मकर्माण्यं मर्म प्राञ्छिदश्यवस्थितम् ।  
 अंशं दीर्घेण तत्स्थेन कुर्यात् सूत्रेण लाङ्छनम् ॥ ४३ ॥  
 अर्धचन्द्रसमाकारं भागयुग्मस्य चान्तरे ।  
 दक्षिणोत्तरभागाभ्यां तदधस्तत्समं तथा ॥ ४४ ॥  
 लाङ्छनद्वितयं कुर्यात् तिर्यक्संस्थानसंस्थितम् ।  
 भागद्वादशकस्यैवं स्यात् पड्किद्वितयाद् यथा ॥ ४५ ॥  
 ब्रह्मर्म चतुर्थं यत् संख्यामानं च पूर्ववत् ।  
 मर्म तस्य च पक्षस्थावेकमैर्मान्तरीकृतौ ॥ ४६ ॥  
 ताभ्यामवस्थितेनैव सूत्रेणैतत् प्रजायते ।  
 पुनर्मध्याद् द्वितीयं यद् मर्म चोर्ध्वं प्रवर्तते ॥ ४७ ॥  
 तस्माद् वै त्र्यन्तरीभूतं चतुर्थं पक्षयोर्द्वयोः ।  
 मर्म तत्स्थेन सूत्रेण वृत्तार्थं पूर्ववल्लिखेत् ॥ ४८ ॥

एवमब्जनाभभुवनाख्यं<sup>१०</sup> मण्डलं परिगृह्य तत्र पूर्वोक्तक्रमेण तद्वेवान्<sup>११</sup> तत्तद-  
वीजादिमन्त्रैर्निवेशयेदित्याह—वस्तुत्वेनेति द्वाभ्याम् ॥ ४०-४१ ॥

एवं मण्डललक्षणमुक्तवा कुण्डलक्षणं शृण्वित्याह—अथेति । एवं भाजितात्  
क्षेत्रात् पूर्वं मण्डलोक्तप्रकारेण सूत्रपातैरष्टादशधा विभक्तादित्यर्थः । पूर्वोद्दिष्टानि  
पूर्वमाराधनप्रकरणादिषुक्तानीत्यर्थः । धिष्यानि वह्निगृहाणि कुण्डानीति यावत् ॥ ४२ ॥

प्रथमं शङ्खकुण्डलक्षणं दर्शयन् तत्कुण्डक्षेत्रमध्यखातस्य शङ्खाकारतासिद्ध्यर्थं  
परितो लाङ्छनक्रममाह—पञ्चममित्यारभ्य धिष्यः शङ्खाकृतिर्भवेदित्यन्तम् ।

- १. भवनं-अ० । २. जैवं-मु० अटी० अ० । ३. परमे-मु० अटी० वक० अ० उ० ।
- ४. कर्माद्यान् मम-मु० अटी०, मर्माद्यं-वक० वक० । ५. तथा-मु० अटी० अ० ।
- ६. कर्म-मु० अटी० वक० वक० । ७. कर्म-मु० अटी० अ० । ८. चोर्ध्वे-अ० उ० ।
- ९. वृत्तार्थं-अ० उ० । १०. स्थम-अ० । ११. तत्तद्वेवानां-अ० ।

ब्रह्ममर्णि पष्ठस्य प्रत्यग्दिक्संस्थितस्य च ।  
 मर्णोऽप्यथ वै सूत्रं कृत्वा तत्सम्प्रसार्य च ॥ ४९ ॥  
 यावद् वृत्तार्थबुध्नैस्थं शृङ्गकोटेस्तु सन्नाधिष्ठै ।  
 एवं सूत्रद्वये दत्ते धिष्यः शङ्खाकृतिभवेत् ॥ ५० ॥  
 तस्य भागसमा कार्या लाज्जनैर्मेखला बहिः ।  
 पूर्वोक्तमर्मगैः सूत्रैर्था तदवधारय ॥ ५१ ॥  
 द्वयंशदीर्घेण सूत्रेण नवचन्द्रकलासमम् ।  
 चतुर्णाभन्तरेशानां प्राग्दिक् कुर्याच्च लाज्जनम् ॥ ५२ ॥  
 ईशवह्विपदाभ्यां तु वृत्ततुर्याशसम्मिते ।  
 द्वे लाज्जने समे कुर्यादेकभागाधिके ततः ॥ ५३ ॥  
 तत्समे ह्यपरे द्वे वै यत्तदौ लाज्जय लाज्जनैः ।  
 दक्षिणोत्तरभागाभ्यां पक्षात् सूत्रद्वयं क्षिपेत् ॥ ५४ ॥  
 कृत्वा सप्तममर्मस्थं पूर्वोद्दिष्टक्रमेण तु ।  
 जीवसूत्रस्य पाशचात्ये भागे पाश्वद्वये स्थितम् ॥ ५५ ॥  
 भागद्वयं द्वयं लाज्जयं योन्यर्थं चार्थवृत्तवत् ।  
 तच्छृङ्गकोटिगे सूत्रे कृत्वा ते सम्प्रसार्य च ॥ ५६ ॥  
 खातभूभागपर्यन्तं तत्पदाद् वटपत्रवत् ।  
 जायते सर्वकुण्डानां योनिरेवंविधा शुभा ॥ ५७ ॥  
 भागाधीभानसूत्रेण योनेरभ्यन्तरे पुनः ।  
 अर्धवृत्तद्वयं दद्यात् तद्वत् सूत्रद्वयान्वितम् ॥ ५८ ॥

ब्रह्मकर्माद्यं मध्यमैप्रारम्भकमित्यर्थः । मर्म प्राक्पश्चिमायतसूत्रस्य दक्षिणोत्तरायतसूत्रस्य चै सन्धिस्थानमित्यर्थः ॥ ४३-५० ॥

तत्खातस्य बहिः शङ्खाकारमेखलानिमणिप्रकारमाह—तस्य भागसमेत्यारभ्य पूर्वोद्दिष्टक्रमेण त्वित्यन्तम् ॥ ५१-५५ ॥

तद्वहिः पङ्किमारभ्य खातपर्यन्तं प्रागादिषु योनिनिमणिप्रकारं खातस्य परितः

१. धनस्थ—मु० अ०, धनस्य—अटी० । २. विः—मु० अटी० । ३. वृत्तात् कुर्याच्च—अ० ।
४. दिके ततम्—मु० अटी० । ५. यदा लाज्जय—मु० अटी० बक० बख० । ६. न्यर्थ—अ० ।
७. तत्पादा—बख० अ० उ० । ८. राख्य—मु० अटी० बक० बख० । ९. मर्मक—अ० ।
१०. ‘च’ नास्ति—अ० ।

खातस्यान्तर्गतो वर्जयश्चतुर्थीशस्तु कोष्ठकात् ।  
 कोष्ठार्थं निखनेच्छेषं तत्समं वा पुरोदितम् ॥ ५९ ॥  
 दैव्यात् पादाधिका कार्या योनिवै पृष्ठतोन्नता ।  
 गजोष्ठसदृशी चाग्रात् स्पृशन्ती दशनच्छदम् ॥ ६० ॥  
 पुरोभागचतुर्थीशं योनेरग्राद् विसृज्य तु ।  
 दद्यात् प्राक्सूत्रसम्बन्धं सूत्राणां द्वितयं परम् ॥ ६१ ॥  
 अनुपातेन वै ताभ्यामग्रात् सङ्घोचमाचरेत् ।  
 भागपङ्क्तित्रयेणैव मेखलात्रितयं बहिः ॥ ६२ ॥  
 सम्पाद्य चतुरथं तु शङ्खं तैत्रितयोपरि ।  
 आशङ्खं मेखलानां तु ग्रोन्नतत्वं स्वविस्तृतेः ॥ ६३ ॥  
 मेखलानां तु शङ्खस्य यन्मध्ये ऽश्रिचतुष्टयम् ।  
 तच्चक्रचिह्निं कुर्यात् तल्लक्षणमथोन्यते ॥ ६४ ॥

कोष्ठचतुर्थीशेनौष्ठनिर्माणप्रकारं चाह—जीवसूत्रस्येत्यारभ्य स्पृशन्ती दशनच्छद-  
 मित्यन्तम् । जीवसूत्रस्य मध्यसूत्रस्येत्यर्थः । पाश्वद्वये मध्यसूत्रस्य दक्षिणवामभागयो-  
 रित्यर्थः । तत्समं निखनेत् । खातभूभागविस्तारायामतुल्यं खातं कुर्यादित्यर्थः । अथवा  
 पुरोदितं “ऋणेनार्थेन वांशेन खाताद् व्यासो विधीयते” (६।७७) इति नित्याग्निकार्य-  
 प्रकरणोऽक्तं वेत्यर्थः । एवमेवोक्तं पारमेश्वरेऽपि—

खातार्थमन्तरावृत्तादन्तरं निखनेत् समम् ॥  
 त्रिपादमर्धपादं वा (२६।१२-१३) इति ।

दशनच्छर्द्दमोष्ठमित्यर्थः ॥ ५५-६० ॥

पूर्वोक्तलाङ्गनानुसारेण खातार्थमेकं तद्वहिरोष्ठार्थमेकं तद्वहिर्मेखलार्थमेक-  
 मिति सूत्रवयं दद्यादित्याह—पुरोभागेति ॥ ६१ ॥

ओष्ठाद्यङ्गानां क्रमेण संकोचमाह—अनुपातेति । एवमुक्तं पारमेश्वरेऽपि—

“मेखलावधिपर्यन्तं नीचान्यङ्गानि मीलयेत्” (२६।२३) इति ।

मेखलात्रयनिर्माणमाह—भागपङ्क्तित्रयेणेति सार्वेन ॥ ६२-६३ ॥

अथ चक्रकुण्डलक्षणमाह—मेखलानां तु शङ्खस्येत्यारभ्य शिष्टं पुरोदितं<sup>१</sup> सर्व-

१. पृष्ठ उन्नता—मु० अटी० बक० । २. रदन—अ० । ३. तु त्रित—मु० अटी०,  
 तत्र तथो—मु० अटी० । ४. सवि—बख० । ५. घ्ये श्री—अटी० उ० । ६. नार्थीशतो वापि—मु० ।  
 ७. जोक्तमिवे—म० । ८. दमिष्ट—अ० । ९. दितमि—अ० ।

ब्रह्ममर्मनिरुद्धेन चतुर्भागसमेन तु ।  
 खातार्थं प्राग् अमं दद्यात् क्षेत्रमध्ये महामते ॥ ६५ ॥  
 बहिर्भागसमानाभिस्तद्विद्वयश्चविस्तृतम् ।  
 औरक्षेत्रं च तस्यापि नेमिभागसमा बहिः ॥ ६६ ॥  
 भागेन तद्विद्वयेका चतुरश्चा च मेखला ।  
 भ्रांस्य मध्यादरक्षेत्रं वृत्तेनैकेन वै पुनः ॥ ६७ ॥  
 ततः सूत्राष्टकं दद्याद् दिग्विदिक्सस्थितं पुरा ।  
 तस्य चान्तर्गतं पश्चादष्टकं पातयेत् परम् ॥ ६८ ॥  
 ततस्तेषां समापाद्यम् अरत्वमलेक्षण ।  
 अन्तर्वृत्तनिरोधेन प्रतिसूत्रस्य पक्षयोः ॥ ६९ ॥  
 सूत्रेण लाज्जनं कुर्यान्नाभिनेमिभ्रमावधेः ।  
 एकांशादर्थमानं च नेमिवृत्तस्य चान्तरे ॥ ७० ॥  
 द्वाभ्यां द्वाभ्यामराभ्यां तु मध्ये कुर्यात् प्रधिं प्रधिम् ।  
 विस्तारप्रोन्नता नाभिः कूर्मपृष्ठोपैमाऽरका ॥ ७१ ॥  
 नेमिं दर्पणवत् कुर्यात् त्वीषन्निम्नावसानतः ।  
 शिष्टं पुरोदितं सर्वम् अथ पञ्चाकृतिं शृणु ॥ ७२ ॥  
 भागार्थं आमयेन्नाभेद्यहिः केसरसिद्धये ।  
 आमयेदपरं चार्धमरक्षेत्रस्य बाह्यगंम् ॥ ७३ ॥  
 नीत्वा लोपमनेनैव विधिना नेमिमण्डलम् ।  
 अरसूत्राश्रितं कुर्यात् ततः पञ्चदलाष्टकम् ॥ ७४ ॥

मित्यन्तम् । अत्र प्रतिसूत्र(स्य) पक्षयोः सूत्रेण लाज्जनं कुर्यादित्यरलक्षणमुक्तम् । पारमेश्वरे—“मत्स्यवल्लाच्छनं कुर्यात्” (२६।२१) इति व्यक्तमुक्तं ज्ञेयम् ॥ ६४-७२ ॥

- 
१. अर्द धत्र-मु०, अरक्षत्र-अटी० । २. आममध्यावर-मु० अटी० । ३. तत्र-उ० ।
  ४. पाद्या-अ० अटी० । ५. लाज्जने-मु० अटी० । ६. पमाऽरकः-मु० अटी०, पमाः कराः-बक० बख० । ७. नेमिद-बक० बख० अ०, नेमी द-उ० । ८. कार्या-बक० बख० ।
  ९. बाह्यतः-बक० बख०, बाहुकम्-अ० । १०. ‘ततः पच्च’‘पत्राग्रं कुर्याद्’ नास्ति-अ० ।

केसरभ्रमरुद्रेन सूत्रेणाधेन्दुलक्षणम् ।  
 तच्छृङ्खोटिसंस्थेन परिधेवीहकेन तु ॥ ७५ ॥  
 सूत्रद्वयेन पत्राग्रं कुर्याद् ब्रह्मभ्रमावनेः ।  
 निरन्तराणामामूलात् केसराणां महामते ॥ ७६ ॥  
 कणिकोच्छायंतुल्यानां विभागं जनयेत् स्फुटम् ।  
 शङ्खकोणचतुष्के तु शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥ ७७ ॥  
 योनिमेकेन भागेन चतुर्भिर्मेखलागणम् ।  
 खातं पूर्वसमं किन्तु वृत्ते वृत्तास्तु मेखलाः ॥  
 चतुर्श्रे तदाकारा इत्युक्तं कुण्डपञ्चकम् ॥ ७८ ॥

पद्मकुण्डलक्षणमाह—अथ पद्माकृति शृणित्यारभ्य शेषं पूर्ववदाचरेदित्य-  
 न्तम् ॥ ७२-७७ ॥

वृत्तचतुरश्चकुण्डयोर्लक्षणमाह—योनिरिति सार्थेन ॥ ७८ ॥

होमाधिकायानुसारेण कुण्डविस्ताराभिवृद्धिमाह—कालमिति । अत्रैकहस्ता-  
 दारभ्याष्टहस्तपर्यन्तमेककाञ्जुलवृद्धया नवषष्ट्यवृत्तरूपतसंख्याकमानभेदा ज्ञेयाः । पार-  
 मेश्वरे द्वादशाञ्जुलमारभ्याष्टहस्तपर्यन्तमेकाशीत्यधिकशतसंख्याकमानभेदा उक्ताः—

आद्वादशाञ्जुलान्मानादेकैकाञ्जुलवर्धनात् ।

द्विचतुर्हस्तपर्यन्तमेकाशीत्यधिकं शतम् ॥

एतेष्वेकतरं प्रोक्तमन्येषामेवमेव हि । (२६।२८-२९) इति ।

द्वादशाञ्जुलमारभ्य कुण्डमानाभिवृद्धिरवश्यमपेक्षिता । यतोऽत्र प्रतिष्ठाप्रकरणे—

ह्रीसादञ्जुलयुग्मस्य यावद्वौ पोडशाञ्जुलम् ।

स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं कार्या वा मेखलाधिका ॥ (२५।१४)

इति पोडशाञ्जुलकुण्डमप्युक्तम् । एवमेतावत्संख्याकहोम एतावन्मानमितं कुण्डमिति  
 व्यक्तमुक्तं जयाख्ये—

शतार्धसंख्याहोमे च कुण्डं स्याद् द्वादशाञ्जुलम् ॥

होमे सौष्टशते चैव मुष्टचरत्नसमं भवेत् ।

होमे चार्धशते चैव सारतिः सकनिष्ठिकः ॥

१. गेत-उ० । २. वने-बक० बख० उ० । ३. च्छय-मु० अटी० बक० बख० ।

४. नव-अ० । ५. मारभ्य पर्य-अ० । ६. हृदा-य०, ह्रादा-म० । ७. चाष्ट-अ० ।

८. सार्थ-मु० । ९. छिका-मु० ।

कालमाहुतिसंख्यां च होमद्रव्यश्च भूतताम् ।  
 ज्ञात्वैव मेकहस्तात् तु कुर्यादष्टकरावधि ॥ ७९ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां यागकुण्डविधिर्नीम  
 एकादशः परिच्छेदः ॥

हैस्तं सहस्रहोमे तु अयुताख्ये द्विहस्तकम् ।  
 लक्षहोमे चतुर्हस्तं कोटिहोमेष्टहस्तकम् ॥ (१५१२-१४) इति ।

द्वादशाङ्गुलादिकुण्डानां मेखलाप्रमाणमपि तत्रैव स्पष्टमुक्तम्—  
 प्रमाणं मेखलानां च यैवद्वादशासंमितम् ॥  
 द्वादशाङ्गुलमानस्य कुण्डस्य परिकीर्तितम् ।  
 विस्तारतुल्यमुच्छ्रायो मेखलानां महामते ॥  
 मेखलात्रितयं चैव मेकीकृत्य तु जायते ।  
 विस्तारस्तु ततोच्छ्रौयः सार्धं तु चतुरङ्गुलम् ॥  
 रत्निमात्रस्य कुण्डस्य मेखलाद्वयङ्गुलाः स्मृताः ।  
 अङ्गुलं सकनिष्ठस्य कुण्डस्याधौर्तरं द्वयम् ॥  
 अङ्गुला हस्तमात्रस्य कुण्डस्य समता स्मृता ।  
 द्विहस्तस्य द्विजश्रेष्ठ मेखलाश्चतुरङ्गुलाः ॥  
 चतुर्हस्तस्य कर्तव्याः सर्वाश्चैव षडङ्गुलाः ।  
 अष्टाङ्गुलिश्च कुण्डस्य अष्टहस्तस्य कीर्तिताः ॥ (१५१६-२१)

इति ॥ ७९ ॥

तथा चैवं कुण्डनिर्माणप्रकारः—कुण्डस्थानं पूर्वं मण्डलोक्तप्रकारेण सूत्रपातै-  
 रष्टादशधा विभज्य तत्र मध्यमा<sup>१०</sup>न्मर्मस्थानात् पञ्चमं प्राक्-दिक्स्थं<sup>११</sup> यन्मर्म तत्सं-  
 स्पर्शानामेककोष्ठदीर्घेण सूत्रेण कोष्ठद्वयेऽर्धचन्द्राकारं लाङ्घनं कृत्वा तदधः पङ्किद्वये  
 कोष्ठद्वादशकस्यैक्यसिद्ध्यर्थं तदशकाद् बहिर्दक्षिणकोष्ठद्वये तदुत्तरकोष्ठद्वये च  
 पूर्ववर्दधंचन्द्राकारं लाङ्घनद्वयं तिर्यग्विलिख्य मध्याच्चतुर्थं यन्मर्म तदक्षिणभागस्थं<sup>१२</sup>-  
 मर्मद्वयावस्थितेन सूत्रेण तद्वामभागमर्मद्वयावस्थितेन सूत्रेण च पूर्वं विलिखितमर्धचन्द्रा-  
 कारलाङ्घनत्रयं चैकीकृत्य पुनर्मध्याद् द्वितयमूर्धस्थं यन्मर्म तस्मात् अन्तरीभूतं

१. पञ्च-उ० । २. विधिरेका-उ० । ३. अष्ट-अ० । ४. यावद् द्वा-अ० म० ।  
 ५. च्छाये-अ० म० । ६. लैः-अ० म० । ७. ला-अ० म० । ८. द्वय-अ० । ९. स्पृहा-अ० ।  
 १०. मध्यमान-अ० । ११. दिक्संस्थं-अ० । १२. गस्थं मर्म-अ० ।

चतुर्थं दक्षिणं?पाश्वस्थं वामपाश्वस्थं च यन्मर्मं तदवस्थितेन सूत्रेण पूर्ववद् दक्षिण-  
कोष्ठद्वये वामकोष्ठद्वये चार्धचन्द्राकारं लाङ्छनद्वयं तिर्यग्गिवलिखेत् । एवं कृते पूर्वोक्त-  
द्वादशाकस्याधः पद्मकिंद्रियेऽपि भागद्वादशकस्यैवं भवति । अथ पश्चिमदिशि मध्यात्  
षष्ठस्य मर्मणः सूत्रद्वयं प्रसार्य पूर्वोक्तयोर्दक्षिणोत्तरभागस्थार्धचन्द्राकारलाङ्छनयोः  
शृङ्गाग्राभ्यां सह योजयेत् । एवं कृते शङ्खाकारता सिद्ध्यति ।

एवं खातार्थं परितो लाङ्छनं कृत्वा तद्बहिस्तथैव शङ्खाकारैकभागमिति  
मेखलासिद्ध्यर्थं प्राग्दिशि कोष्ठद्वयदीर्घेण सूत्रेण कोष्ठचतुष्टयेऽर्धचन्द्राकारं लाङ्छनं  
कृत्वा तथैवैशान्यकोणं आग्नेयकोणे च कोष्ठपञ्चके लाङ्छनद्वयं कृत्वा तदधः पाश्व-  
द्वयैऽपि कोष्ठचतुष्टये पूर्ववद् द्वे लाङ्छने विलिख्य पूर्वोक्तरीत्या पश्चिमभागस्थसप्त-  
मर्मणः सूत्रद्वयं प्रसार्य पूर्वोक्तलाङ्छनद्वययोः शृङ्गाग्राभ्यां सह योजयेत् । एवं कृते  
मेखलारूपं सिद्ध्यति ।

अथ पाश्चात्ये भौंगे योनिसिद्ध्यर्थं मध्यसूत्रदक्षिणभागकोष्ठद्वये वामभागकोष्ठ-  
द्वये चार्धचन्द्राकारलाङ्छनद्वयं विलिख्य दक्षिणलाङ्छनस्य दक्षिणशृङ्गाग्र एकं सूत्रं  
वामभागस्थलाङ्छनस्य वामशृङ्गाग्रेणैकं सूत्रं संयोज्य तद्वयमपि वटपत्रवत् खात-  
भागपर्यन्तं प्रसारयेत् । एवं कृते योनिः सिद्ध्यति । इयं योनिर्वक्ष्यमाणकुण्डानामपि  
साधारणा ।

पुनस्तद्योनेरभ्यन्तरे मध्यसूत्रस्य दक्षिणकोष्ठे च कोष्ठार्धमानसूत्रेण पूर्ववदर्ध-  
चन्द्राकारं लाङ्छनद्वयं विलिख्य पूर्ववत् तयोः शृङ्गाग्राभ्यां सूत्रद्वयं प्रसारयेत् । अथ  
खातस्य परित ओष्ठसिद्ध्यर्थं खातस्यान्तः परित एकं कोष्ठं चतुर्धा विभज्य तेष्वेकं  
भागं विसृज्य शेषं सर्वमपि खातभागविस्तारसमं तत्प्रशामधं वा निखनेत् । पूर्वोक्त-  
योनिदैर्घ्यात् सपादकोष्ठद्वयमित्ता पृष्ठतो गौजोष्ठसदृशी पूर्वोक्तमोष्ठं स्पृशन्ती संती  
कर्तव्या । एवं च खातप्रदेशे परितो योन्यप्ये पूर्वोक्तरीत्या कोष्ठचतुर्थांशि विसृज्य खातार्थं  
शङ्खाकारं सूत्रं पूर्ववद् दत्वा तदनन्तरमोष्ठार्थमित्तं सूत्रं मेखलार्थमेकं सूत्रं च दद्यात् ।  
उद्धर्वे ओष्ठं तदधो मेखला यथा स्यात् तथा तत्सूत्रयोः पातं संकुचितं कुर्यात् । तदबहिः  
परितः पद्मकिंद्रियेण चतुरश्रं मेखलात्रयं कुर्यात् । शङ्खान्तानां मेखलानामौन्नत्यं तु  
कुण्डविस्तारसमं कुर्यात् ।

इति शङ्खकुण्डलक्षणम् ॥

अथ चक्रकुण्डलक्षणमुच्यते—पूर्वोक्तप्रकारेणाष्टादशधा विभक्ते चतुरश्रे क्षेत्रे<sup>७</sup>  
मध्ये मर्मस्थाने सूत्रं संस्थाप्य मध्यात् पञ्चमरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं मण्डलं विलिख्य  
पुनः षष्ठरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृत्तमापाद्य पुनर्नवमरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृत्तं कुर्यात् ।

१. तथैवे—अ० । २. भागयोनि—अ० । ३. रण—अ० । ४. मिति—अ० । ५. ‘गज’  
नास्ति—अ० । ६. सति—अ० । ७. क्षेत्रमध्ये—अ० । ८. पञ्चरेखा—अ० । ९. ‘वृत्तमापाद्य’  
सूत्रेणैकं नास्ति—अ० ।

तेषु प्रथमं मण्डलं खातार्थं द्वितीयं नाभिस्थानं तृतीयमरस्थानं चतुर्थं नेमिस्थानमिति ज्ञेयम् । तद्विः पड़कौ चतुरश्चा एकैव मेखला कर्तव्या । पूर्वोक्तमरस्थानं मध्यात् पुनरेकेन वृत्तेन परिभ्राम्य तत्र प्रागादिदिक्षामेयादिविदिक्षु च सूत्राष्टकं दत्त्वा तेषां मरत्वसिद्ध्यर्थमन्तर्वृत्तनिरुद्धेन सूत्रेण प्रतिसूत्रस्य पक्षयोर्नाभिवृत्तपर्यन्तं नेमिवृत्तपर्यन्तं च मत्स्यवल्लाङ्घनं कृत्वा नेमिवृत्तस्यान्तरे द्वयोर्द्वयोररयोर्मध्ये एकैकं प्रधिं कुर्यात् । अत्र नाभिः कुण्डविस्तारसदृशोच्छाया कूर्मपृष्ठसदृशी कार्या । नेमिदर्पणसदृश्यग्रे इष्टन्तिम्ना च कर्तव्या । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् ।

इति चक्रकुण्डलक्षणम् ॥

अथ पद्मकुण्डलक्षणमुच्यते—तत्रापि चक्रकुण्डलवत् प्रथमं मण्डलं खातार्थं कृत्वा द्वितीये नाभिमण्डले भागार्थं कर्णिकासिद्ध्यै अपरार्थं केशरसिद्ध्यै द्वेधा मण्डलीकृत्याऽरक्षेत्रस्य बहिरेवमेव नेमिमण्डलं द्वेधा कृत्वा प्रथमभागमरक्षेत्रेण सहैकीकृयात् । उत्तरभागं पत्राग्रसिद्ध्यै स्थापयेत् । अरक्षेत्रेऽष्टदलसिद्ध्यर्थं प्रागाद्यष्टदिव्वपि केसरमण्डलरुद्धेन सूत्रेणाऽर्थचन्द्राकारं लाङ्घनद्वयं (द्वयं ?) परस्पराभिमुखं कृत्वा तच्छृङ्खाग्रसंस्थितेन दलमण्डलबाहुगेन्नं सूत्रद्वयेन पत्राग्रं कुर्यात् । आमूलान्तिरन्तराणां कर्णिकोच्छायतुल्यानां केसराणां व्यक्तं यथा तथा विभागं जनयेत् । पत्राग्रमण्डलाद्बहिश्चतुष्कोणेषु शङ्खचतुष्टयं कुर्यात् । शेषं पूर्ववत् ।

इति पद्मकुण्डलक्षणम् ॥

अथ वृत्तचतुरश्योर्लक्षणमुच्यते—पूर्वोक्तरीत्याऽष्टादशधा विभक्ते क्षेत्रे मध्ये पूर्ववच्चतुःषष्ठिकोष्ठानि खातार्थं विहाय तद्विरेक(धा?या) पड़क्त्या योनिकल्पनं चतुर्भिः पड़क्त्याभिर्मेखलाचतुष्टयकल्पनं च कुर्यात् । किन्तु खातं मेखलाश्च वृत्ते कुण्डे वृत्ताकाराश्चतुरश्चे तदाकारा इति ज्ञेयम् । ओष्ठं योनिं चानयोः कुण्डयोरपि पूर्ववदेव कुर्यात् ।

इति कुण्डपञ्चकलक्षणानि ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यद्युगिरीशचरणकमलाचकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये एकादशः परिच्छेदः ॥



## द्वादशः परिच्छेदः

नारद उवाच

एवमाकर्ण्य स त्वेवं मुसली मुनिनायकाः ।  
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा पप्रच्छ जगतां पतिम् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

यथाक्रमस्थितानां च मन्त्राणां लक्ष्मनन्दन ।  
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि सर्वेषां ध्यानलक्षणम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम् ।  
शेषादीनां च शेषाणामिदानीमवधारय ॥ ३ ॥  
ध्यानं पातालनिलयपर्यन्तानां यथास्थितम् ।  
एक एव जगन्नाथः स्वरूपाद्यैस्तु शक्तिभिः ॥ ४ ॥  
नानात्वेनाप्यनन्तो यो भक्तानुग्रहकाम्यया ।  
तस्याभिमानिकं रूपं शृणु सर्वेश्वरस्य तु ॥ ५ ॥

अथ द्वादशो व्याख्यास्यते । इह संकर्षणो वासुदेवं विभवदेवध्यानं पप्रच्छेत्याह—  
एवमिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—यथाक्रमस्थितानामिति । लक्ष्मीं नन्दयति संतोषयतीति  
लक्ष्मीनन्दनेति वासुदेवसम्बोधनम् ॥ २ ॥

एवं पृष्ठो भगवान् प्रत्याह—त्रयाणामिति सार्वेन । मुख्यपूर्वाणां विशाखयूपा-  
दीनामित्यर्थः । त्रयाणां विशाखायूपपद्मनाभध्रुवाणामित्यर्थः । पूर्वं नवमपरिच्छेदे—  
“विशाखयूपो भगवान् स्वयं विश्वसिसूक्ष्या” ( ९।४९ ) इत्यादिभिर्विशाखयूपध्यानम्,  
“इत्येवमादिः सर्वेषाम्” ( ९।५६ ) इत्यादिभिः पद्मनाभध्रुवध्यानं च प्रतिपादित-  
मित्यर्थः । शेषाणाम् अवशिष्टानामित्यर्थः । शेषादीनामनन्तादीनां पातालनिलय-  
पर्यन्तानां पातालशाय्यन्तानां षट्क्रिशद्विभवदेवानामित्यर्थः ॥ ३-४ ॥

तत्रादावनन्तस्य रूपं शृणिवत्याह—एक इति सार्वेन ॥ ४-५ ॥

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र । २. त्वेव—मु० अटी० बक० बख० । ३. सङ्कर्षण  
इत्येव उ० विहाय सर्वत्र । ४. सर्वेषां—मु० अटी० । ५. मन्त्राणां—मु० अटी० । ६. भग-  
वानित्येव उ० विहाय सर्वत्र । ७. नामशे—मु० अटी० ।

तुहिनाचलसंकाशं पूर्णचन्द्रसमाननम् ।  
 स्वमणिव्यञ्जितेनैव युक्तं फणगणेन तु ॥ ६ ॥  
 प्रोद्धहन्तं हलं चक्रमपसव्यद्वयेन तु ।  
 वामहस्तद्वयेनैव शङ्खं मुसलमेव च ॥ ७ ॥  
 नित्यसन्निहिताशेषैशक्तिं सर्वज्ञमच्युतम् ।  
 मनस्यन्तर्मुखानां यत् कर्मिणां पूरयेच्च तत् ॥ ८ ॥  
 शक्तीशोऽप्यथ सञ्चिन्त्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः ।  
 इच्छारूपधरश्चैव सौम्यः प्रहसिताननः ॥ ९ ॥  
 व्यक्तये च फलादीनां भक्तानामनुकम्पया ।  
 पीडयन् स्वाङ्गिध्रयुग्मेन वसुधां च करद्वयम् ॥ १० ॥  
 युग्मानुसारिकान्तिश्च चतुर्वक्त्रश्चतुर्भुजः ।  
 मूर्तचक्रगदाहस्तः अमूर्ताङ्गाम्बुजाङ्गितः ॥ ११ ॥  
 शमं नयति सन्तापं कमलेनदुकान्तिना ।  
 नानामन्त्रमयीं विद्यां व्यञ्जयत्यमलात्मनाम् ॥ १२ ॥

तस्य ध्यानप्रकारमाह—तुहिनेति त्रिभिः। शेषकृत्यं भगवत्कैङ्गर्यधुरीणमित्यर्थः।  
 नन्वनेनानन्तस्य भगवदाविष्टत्वमात्रं ज्ञायते, न साक्षादवतारत्वम्, कर्थं तस्य मुख्य-  
 प्रादुर्भविष्वन्तर्भाव इति चेन्न, भगवदधिष्ठितबद्धचेतनानामेव मुख्येष्वनन्तर्भावात्।  
 अन्तर्मुखानां निजभक्तानां मनसि यद्वाङ्गित्तमस्ति तत् पूरयेत् प्रयच्छेदित्यर्थः। अनन्त-  
 स्थानं तु श्रीविष्णुपुराणे—

आस्ते पातालमूलस्थः शेषोऽशेषसुरार्चितः ॥  
 तस्य वीर्यं स्वभावं च स्वरूपं रूपमेव च ।  
 नहि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातुं वा त्रिदशैरपि ॥  
 यैस्य सा सकला पृथ्वी फणामणिशिखारणा ।  
 आस्ते कुसुममालैव कस्तद्वीर्यं वदिष्यति ॥ ( २५।२०-२२ )  
 इति ॥ ६-८ ॥

अथ शक्त्यात्मध्यानमाह—शक्तीश इत्येकादशभिः। इच्छारूपधरः, वक्ष्य-  
 माणवाहनदेवीभुजास्त्रभेदैर्नानारूपधर इत्यर्थः। अमूर्ताङ्गाम्बुजाङ्गितः, अमूर्तः केवल-

१. रञ्जिते—अ० । २. शेषकृत्य—अ०, शेषवृत्ति—म० । ३. स्वेति सार्वत्रिकः पाठः ।  
 भाष्यानुरोधी ‘हस्तो ह्यमू’ इति पाठः शोभनः स्यात् । ४. तर्च्छेति सार्वत्रिकः पाठः ।  
 ५. भाव—म० अटी० । ६. वृत्ति—म० । ७. यस्यैषा—म० ।

सम्यग् वाक्पतिना चैव कम्बुना शब्दमूर्तिना ।  
 आज्ञाप्रतीक्षकेणैव गदाचकट्येन तु ॥ १३ ॥

प्रेरितेन हिनस्त्याशु साधुसन्तापकारिणाम् ।  
 नारभिहेन वंक्रेण भवभीतिविधातक्तु ॥ १४ ॥

पूष्णाति सर्वभूतानि वाराहेणामृतात्मना ।  
 कुरुते पश्चिमस्थेन कापिलेनोपसंहृतिम् ॥ १५ ॥

भक्तिश्रद्धापराणां च स्मृतमात्रः संदैव हि ।  
 हृनमध्ये गगने भूमौ वह्निमध्ये जलान्तरे ॥ १६ ॥

चतुर्णि ब्राह्मणादीनां स्वयमेवानुकम्पया ।  
 चातुरात्म्येन रूपेण चतुर्धा व्यक्तिमेति च ॥ १७ ॥

आत्मतुल्येन देहेन शङ्खपद्माङ्कितेन तु ।  
 मूर्तिमङ्किर्हलाद्यैस्तु युक्तेन वदनैर्विना ॥ १८ ॥

वर्णानुरूपवर्णेन समेनाप्यसमेन तु ।  
 अन्योन्यानुगतेनैव पूर्वोदिष्टेन नान्यथा ॥ १९ ॥

रेखारूपः, अब्जः शङ्खः, अम्बुजं कमलम्, ताभ्यामङ्कितः । एवं शक्तीशावतारो व्यूहाद् विभवाद्वा संभवतीति बोध्यम् । यतोऽस्मिन्नेव परिच्छेदे वक्ष्यति—

चातुरात्म्यसमूहं<sup>१</sup> तु यत्पद्मदलभूस्थितम् ।  
 तथा विभवेवानां मध्यात् पद्मदलक्षण ॥  
 एकस्त्वनुग्रहार्थं तु शक्त्यात्मा भावितात्मनाम् ।  
 विभर्ति बहुभेदोत्थं रूपं सद्वाहनस्थितम् ॥ ( १२१७५-१७६ )

इति । अंशावतारत्वमेवोक्तमस्य सहस्रनामभाष्ये—“अथांशावताराः—युगानुसारि-कान्निश्चेति । एवं व्यासिनियमनादिशक्तिद्वारा विश्वस्य व्याप्तेविष्णुः, “सर्वशक्त्यात्मने” (सा० सं० २३।४८) इति मन्त्रवर्णात्” (पृ० ५७६) इति । एवं च त्रिमूर्तिष्वयमेकतम इति बोध्यम्, “नारायणावतारो यः शक्तीशो नाम नामतः” ( ८।१९ ) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः ॥ ९-१९ ॥

१. शक्ति—उ० । २. कारिणा—अटी०, कारिणः—अ० उ० । ३. चक्रेण—अ० ।

४. समेत्य वै—मु० अटी० । ५. हात्तु—मु० ।

प्रलयानलसूर्याभः स्मर्तव्यो मधुसूदनः ।  
 अष्टबाहुविंशालींसोऽप्यग्निष्ठोमकराङ्कितः ॥ २० ॥  
 शङ्खचक्रधरश्चैव वाणकार्मुकधृक् तथा ।  
 रजस्तमोभ्यां मूर्तम्भ्यां सम्प्रवृत्तिनिवृत्ये ॥ २१ ॥  
 कर्णपीठनिविष्टं च ध्येयं पाणियुगं विभोः ।  
 विद्याधिदेवं भगवच्चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ २२ ॥

अथ मधुसूदनध्यानमाह—प्रलयानलेति सार्धद्वाभ्याम् । अस्यावतारस्य प्रादुर्भावान्तरत्वमुक्तं पौष्करे—

मधुकैटभमाथी च प्रादुर्भाविश्वरस्य च ।  
 प्रादुर्भावान्तरं विद्धि पद्मनाभस्य वै विभोः ॥ ( ३६।२१४ ) इति ।  
 अस्य स्थानमप्युक्तं तत्रैव—

मधुकैटभमाथी च संस्थितः सोऽवनीतले ॥  
 क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रे सुरासुरनिषेविते । ( ३६।३४३-३४४ )  
 इति ॥ २०-२२ ॥

अथ विद्याधिदेवध्यानमाह—विद्याधिदेवमिति सार्धेन । यद्यपि चतुर्वक्त्रमित्यस्य श्रुतीर्वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमित्यस्य चैककण्ठचाद “वेदविदे” ( सा० सं० २३।५० ) इति विद्याधिदेवमन्त्रवर्णलिङ्गाद् उत्तरत्र स्मरेद् ध्यायेदिति पौनस्त्यप्रसङ्गासंभवाच्च “श्रुतीऋग्गाद्या वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमतः स्मरेत् ” ( १२।२४ ) इति वाक्यस्यापि पूर्वेणान्वयः स्वरसः, तथापि सर्वज्ञैः श्रीमत्पराशरभट्टारकैः सहस्रनामभाष्ये ( पृ० ४८३ ) तस्य वाक्यस्य कणिलध्यानपरत्वेनोत्तरत्र योजितत्वादस्मादूशैस्तच्चलयितुं न शक्यम् । किञ्च, यद्यप्यस्य विद्याधिदेवस्य चतुर्वक्त्रत्वजटाकमण्डलवक्षसूत्रधरत्वादिलक्षणानामुक्तत्वादयं विरिज्ज्वरिति ज्ञायते, तथापि सहस्रनामभाष्ये ( पृ० १८३ ) नियमेन तेषां ब्रह्मादीनां भगवदवतारगणनास्वपरिगणनात्, देवमनुष्यादिवत् सृष्टिप्रकरणेषु सृज्यतया परिगणनात्, प्रत्युत तेषां प्रादुर्भाविभ्यो भेदव्यपदेशात्, प्रादुर्भाविलक्षणेन प्रादुर्भावान्तरशब्देन निर्देशात्, भगवद्विभूतिलेशोऽद्भुतत्प्रादुर्भाविविशेषाधीनप्रवृत्तित्वादिव्यवहाराच्च ब्रह्मणः प्रादुर्भावित्वं निहृतम् । किञ्च,

कौलो वियन्नियन्ता च शास्त्रं नानाङ्गलक्षणम् ।  
 विद्याधिपतयश्चैव सरद्रः सगणः शिवः ॥  
 प्रजापतिसमूहस्तु इन्द्रः सपरिवारकः । ( ९।९१-९२ )

लम्बकूचं जटादण्डकमण्डलवक्षसूत्रिणैम् ।  
 फुल्लरकताम्बुजाभासं श्वेतपद्मकराङ्गितम् ॥ २३ ॥  
 श्रुतीन्ध्रगाया वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमतः स्मरेत् ।  
 निर्धूमाङ्गारवणीभं शङ्खपद्माक्षसूत्रिणैम् ॥ २४ ॥  
 फुल्लरकताब्जविभवं देवतादात्मसूत्रकम् ।  
 ध्यायेदभयपाणिं तं कपिलं तेजसां निधिम् ॥ २५ ॥

इत्यादिपूर्वोक्तभवोपकरणदेवतावर्ग एव प्रजापतिसमूह इत्यत्र चतुर्मुखस्याप्यन्तभाविश्चोक्तः । तस्मात् “परमात्मने” ( सा० सं० २३।५१ ) इति मन्त्रवर्णलिङ्गाच्च नायं विद्याधिदेवो विरिच्छिः, अपि तु साक्षात् प्रादुर्भाव इति ज्ञेयम् ।

ननु श्रीपौष्टकरे—

मधुकैटभमाथी च प्रादुर्भवेश्वरस्य च ।  
 प्रादुर्भावान्तरं विद्धि पद्मनाभस्य तद्विभोः ॥ ( ३६।२।१४ )

इत्यादिभिर्मधुसूदनादीनामपि प्रादुर्भावान्तरत्वं बहुशः कण्ठरवेणोक्तम्, किं तावता तेषामपि प्रादुर्भावित्वविरोध इति चेन्न, समुच्चितैः पूर्वोक्तैहेतुभिश्चतुर्मुखादीनां प्रादुर्भावित्वविरोधात्, मधुसूदनादिषु तथाविधेतुसमुच्चयस्यानवकाशाच्च ॥ २२-२३ ॥

अथ कपिलध्यानमाह—श्रुतीरिति द्वाभ्याम् । वक्त्रेभ्य इति पूजायां बहुवचनं बोध्यम् । यद्वा तस्याप्यैच्छिकं चतुर्मुखत्वं वक्तव्यम् । अस्य श्रुतिप्रवर्तकत्वं तु सहस्रनामभाष्य एव प्रतिपादितम् “सत्यवृत्तिस्त्रिविक्रमः । महर्षिः कपिलाचार्यः” ( ५७-५८ श्लो० ) इत्यत्र—“ईदृशेन महामहिम्ना वाच्येन विक्रान्तत्रिवेदस्त्रिविक्रमः ।

त्रिरित्येवं त्रयो वेदाः कीर्तिता मुनिसत्तमैः ।  
 क्रमसे तांस्तथा सर्वान् त्रिविक्रम इति स्मृतः ॥ ” ( पृ० ४८१-४८२ )

इति, “यथोक्तवेददर्शनान्महर्षिः” ( पृ० ४८२ ) इति च । अस्य पातालतलवासित्वं सुप्रसिद्धम् । अर्चार्घ्यपस्थानं तु श्रीपौष्टकरे—

प्राकूसमुद्रापयाने तु भूभागे शुभलक्षणे ॥  
 कापिलीं मूर्तिमासाद्य वासुदेवः स्थितः प्रभुः । ( ३६।३५७-३५८ )

इति प्रतिपादितम् ॥ २४-२५ ॥

१. कूचं-मु० अटी०, कण्ठ-मु० । २. सूत्रकम्-मु० अ० उ० । ३. मनु-मु० अटी० बक० बख० । ४. सूत्रकम्-उ० । ५. पड्किरेषा न दृश्यते-बख० अ० उ० ।

योऽन्तः सर्वेश्वरो देवः साक्षिभूतो व्यवस्थितः ।  
 स्फटिकोपलब्द भावान् स्वशक्त्युत्थान् विभर्ति च ॥ २६ ॥  
 अविद्याविष्कृतानां तु भक्तानां संत्पदाप्तये ।  
 तमनादिं जगन्नाथं वहिः स्थूलतरात्मनाम् ॥ २७ ॥  
 द्यावापृथिव्योरन्तःस्थं विश्वरूपमनुस्मरेत् ।  
 अनेकवक्त्राङ्गुप्रिकरम् अनेकमकराङ्गुतम् ॥ २८ ॥  
 यद्यप्यनेकवदनम् अनेकभूषितम् ।  
 तथापि वै त्रयस्त्रिशद् वदनैविविधैर्युतम् ॥ २९ ॥  
 चतुरभ्यधिकैर्दिव्यैश्चत्वारिंशन्महाभुजैः ।  
 ब्रह्मरुद्रेन्द्रदक्षाकंचन्द्रसिद्धास्तथा श्रुतिः ॥ ३० ॥  
 पौरुषस्य तु वक्त्रस्य चोर्ध्ववक्त्रस्थितास्त्वमी ।  
 पिशाचादिनमरुच्छैलद्वीपैगन्धर्ववारिभिः ॥ ३१ ॥  
 वक्त्रैरुर्ध्वस्थितैर्ध्यायेद् दक्षिणं वदनं विमोः ।  
 पातालादिलमहामेघलोकराशिग्रहोस्तितैः ॥ ३२ ॥  
 वक्त्रैस्तारासमेतैस्तु ध्यायेद् वक्त्रं तु पश्चिमम् ।  
 यक्षान्तकाम्बुर्नागाद्यैर्वसुनक्षत्रगोणैः ॥ ३३ ॥  
 वक्त्रैर्वराहवक्त्रोर्ध्वस्थितैर्ध्यायेच्च दक्षिणम् ।  
 पद्माद्यं चातुरात्मीयमंस्त्राणां दशकं महत् ॥ ३४ ॥

अथ विश्वरूपध्यानमाह—योऽन्तः सर्वेश्वरो देव इत्यारभ्य स्मरेद् हृत्कमलादिष्वत्यन्तम् । प्राङ्मुखस्य पौरुषस्य वक्त्रस्योर्ध्वे ब्रह्मादिश्रुत्यन्तवक्त्राष्टकम्, दक्षिणस्य नारसिंहवक्त्रस्योर्ध्वे ११ पिशाचादि(वारि)पर्यन्तवक्त्रसप्तकम्, पश्चिमस्य कपिलवक्त्रस्योर्ध्वे पातालादितारान्तवक्त्रसप्तकम्, औतरस्य १२ वैराहवक्त्रस्योर्ध्वे १३ यक्षादिगोणान्तवक्त्रसप्तकम्, आहृत्य त्रयस्त्रिशद्वक्त्राणि ज्ञेयानि । तारासमेतैरित्यत्र ताराशब्देन १४ अश्वन्यादिप्रधाननक्षत्राणि, नक्षत्रशब्देन तदन्यानि नक्षत्राणि ज्ञेयानि, अन्यथा

१. सम्पदा—बक० अ० उ० । २. तमना—अ० उ० । ३. मतः—अ० उ० । ४. शुचिः—अटी० ।  
 ५. द्विष्प—म० अटी० बक० बख० अ० । ६. पाताला—म० अटी० बक०, पातालादिर्म—बख० अ० ।  
 ७. वर्ण—म० अटी० बक० बख० । ८. ब्जनाभाद्यैरिति सार्वत्रिकः पाठः । ९. धर्व ध्यायेच्चैवमतः  
 शुभैः—बक० बख० अ० उ० । १०. यं मन्त्राणां—अटी० । ११. विशाखादि—म० ।  
 १२. वराह—म० । १३. यक्षादिदिक्कोणगणान्त—अ० । १४. 'ताराशब्देन' नास्ति—अ० ।

प्रोच्छितं हि सुवर्णीद्यं तल्लाङ्गनचतुष्टयम् ।  
 लोकेशास्त्राष्टकं चैव पुस्तकं चाक्षमूत्रकम् ॥ ३५ ॥  
 दर्वी कमण्डलुहैमश्चाभयं हि वरान्वितम् ।  
 दर्माजिनं ततश्छत्रं सुशुभं चामरं सितम् ॥ ३६ ॥  
 सूक्ष्मुवौ चापि कलशौ वेदिर्विहिममन्विता ।  
 चन्द्राकर्मण्डले पूर्णे नागेन्द्रो मणिदर्पणैः ॥ ३७ ॥  
 पुष्पस्त्रग् व्यजनं दिव्यं विश्वपत्रलता तथा ।  
 स्मर्तव्यास्तु भुजेष्वस्य विभोः संस्थानकैः समैः ॥ ३८ ॥  
 यथोदितक्रमेणैव व्यत्ययो न भवेद् यथा ।  
 भाभिर्नानाप्रकाराभिर्देहोत्थाभिरिदं जगत् ॥ ३९ ॥  
 भासयन्तं जगन्नाथं स्मरेद् हृत्कमलादिषु ।  
 हंसमूर्तिमथात्मानं ज्ञानयज्ञभुजं स्मरेत् ॥ ४० ॥  
 कुन्देनदुस्निष्ठकान्ति च हेमतुण्डं महातनुम् ।  
 रजस्तमोऽङ्गिर्षं सत्सच्चविग्रहं परमेश्वरम् ॥ ४१ ॥  
 धर्माधर्मेभणं ध्यायेदग्नीषोमात्मकेन तु ।  
 दक्षिणोत्तरसंस्थेन पक्षयुग्मेन राजितम् ॥ ४२ ॥

पौनस्त्रयात् । एवं वारिभिरित्यत्र वारिधिर्विवक्षणीयः । अम्बुशब्देन केवलमुदकं विवक्षणीयम् । नागाद्यैरित्यत्र नागानामाद्यः प्रथमोऽनन्त इत्यर्थः । चातुरात्मीयं वासु-देवादिव्यूहीयमित्यर्थः । पद्माद्यमस्त्राणां दशकं पद्माशङ्खचक्रगदाखङ्गलमुसलशर-शाङ्गखेटाख्यमायुधदशकमित्यर्थः । एतेषामायुधानां पूर्वं जाग्रद्यूहवासुदेवचतुर्मूर्ति-लाङ्गनत्वेनोक्तत्वाच्चातुरात्मीयत्वं सुस्पष्टम् । लोकेशास्त्राष्टकं तु वज्रशक्त्यादिकं प्रसिद्धमोश्वरादिषु (११६-११७) प्रतिपादितं च । विश्वरूपस्थानं तु श्रीपौष्करे—

श्वेतद्वीपे कुरुक्षेत्रे हिमवन्ताचलेऽञ्जज ।  
 वेदिकायामपि तटे विश्वरूपः स्थितः प्रभुः ॥ (३६३३७)

इति ॥ २६-४० ॥

अथ हंसध्यानमाह—हंसेति सार्वैस्त्रिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—“सिद्धा-

१. स्वपर्णीद्यं-अ०, हिमवर्णीद्यं-उ० । २. णम्-मु० अटी० बख० । ३. होम-मु० अटी० । ४. कुण्ड-मु० अटी० बक० बख० । ५. ननम्-उ० । ६. ‘खड्ग’ नास्ति-अ० ।

बहिस्तमेवोदकस्थं तुहिनाचलसन्निभम् ।  
 ध्यात्वाऽर्चयेत् तु विधिवद् हंसविग्रहमच्युतम् ॥ ४३ ॥  
 बहिर्द्रव्यमयस्त्वेकः सामान्येनैकलक्षणः ।  
 सम्यडनिर्वर्तिं त्वं पूर्वमृच्छति चार्थिनाम् ॥ ४४ ॥  
 अन्तर्वेद्यां चतुर्धा यस्त्वेक एव महामखः ।  
 तं पोयागजपध्यानस्वरूपः शशवदेव हि ॥ ४५ ॥  
 याजिनामपवर्गं तु विदधाति समापनात् ।  
 तं यज्ञपुरुषं ब्रह्म वासुदेवमजं हरिम् ॥ ४६ ॥  
 ध्यायेद् वै सूकारात्मानमज्जनाद्रिसमप्रभम् ।  
 यज्ञाङ्गचिह्निताङ्ग्निं च महाव्याहृतिदण्डिणम् ॥ ४७ ॥  
 भूर्भुवः स्वः शरीरं च शब्दब्रह्मैकमानसम् ।  
 निर्णुदन्तं प्रपन्नानामविद्यापङ्कमञ्जसा ॥ ४८ ॥  
 वैद्येन पोत्रप्रान्तेन त्वक्षयेनामलेन च ।  
 वासनावासितानां च जीवानां भवशान्तये ॥ ४९ ॥

मरार्चिंतं विद्धि श्वेतद्वीपे तु हंसराट्” (३६।३१७) इति ॥ ४०-४३ ॥

अथ वराहध्यानमाह—बहिर्द्रव्यमर्यै इत्यादिभिः । वैद्येन विद्यामयेन । पोत्र-प्रान्तेन वराहवक्त्राप्रेणोत्थर्थः । एवं यज्ञाङ्गदेहत्वं विष्णुपुराणेऽपि स्पष्टमुक्तम्—

पादेषु वेदास्तव यूपदण्डू दन्तेषु यज्ञाविचतग्रश्च वक्त्रे ।  
 हुताशजिह्वोऽसि तनूरुहाणि दर्भाः प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव ॥  
 विलोचने रात्यहनी महात्मन् सर्वात्मैदं ब्रह्मपदं शिरस्ते ।  
 सूक्तान्यशेषाणि सटाकलापो द्वाणं समस्तानि हृवीषि देव ॥  
 स्मुक्तुण्ड सामस्वरधीरनाद प्राग्वंशकायाविलसत्रैसन्धे ।  
 पूर्तष्टधर्मश्रवणेऽसि देव सनातनात्मन् भगवन् प्रसीद ॥ इति ।  
 (११।३२-३४)

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्टरे—

“सौकरीयेन रूपेण क्षेत्रे तत्संज्ञके तु वै” (३६।३१९)  
इति ॥४४-४९॥

१. निवेदितः—अटी० । २. पङ्क्तिक्रयं नास्ति—उ० । ३. वपुषं—मु० । ४. चिता—अ० ।
५. रूपे—अ० । ६. मधः—म० । ७. श्रयं ब्रह्म परं—म० । ८. स्त्रकुण्ड—अ० म० ।
९. शास्त्र—अ० म० ।

महाविभूतिर्भगवान् पूर्णषाङ्गुण्यविग्रहः ।  
 स्वैकाच्छान्ततराद् ब्रह्मतच्चादादाय चाञ्जलिम् ॥ ५० ॥  
 करोति सेचनं दोषदंधानां च स्वतेजसा ।  
 स्थूलरूपेण तमजं बहिराराधनाविघौ ॥ ५१ ॥  
 आध्मातं वायुना यद्वन्निर्घमाङ्गारपर्वतम् ।  
 ध्यायेत् तद्वन्महादीप्तं वाजिवक्त्रमलाञ्छनम् ॥ ५२ ॥  
 बद्धब्रह्माञ्जलिं कस्थं द्रवत्कनकलोचनम् ।  
 घोणाग्रेणाहरन्तं च त्रैलोक्योत्थं जलेन्धनम् ॥ ५३ ॥  
 कुत्वा तद् भस्मसात् सम्यक् स्फूर्कुर्वन्तं मुखेन तु ।  
 घर्मसामान्यममलमनादिनिधनं विशुम् ॥ ५४ ॥  
 दुर्लभं यत् प्रबुद्धानां यत्प्रसादधिया विना ।  
 तस्य स्थूलतरं रूपं शृणु तत्प्राप्तये परम् ॥ ५५ ॥  
 तुहिनाचलसंकाशं सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम् ।  
 कामार्थावुद्वहन्तं च शङ्खपद्मच्छलेन तु ॥ ५६ ॥  
 साधुमार्गे स्थितानां तु संर्यच्छन्तं धिया च तौ ।

वडवानलध्यानमाह—महाविभूतिरित्यादिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्टकरे—  
 “अश्वात्मौ वडवासुखे<sup>११</sup>” (३६।३१८) इति ॥ ५०-५४ ॥

अथ धर्मध्यानमाह—धर्ममिति सार्थस्त्रिभिः । तौ कामार्थावित्यर्थः, कामार्थ-  
 वुद्धहन्तमिति पूर्वोक्ते: । अनेन प्रसिद्धस्यैव धर्मस्य भगवदवतारत्वमिति न भ्रमितव्यम्,  
 तस्य तदुपकरणत्वमात्रात् । तथा च सहस्रनामभाष्ये—“तच्छीलभगवदुपकरत्वाद्वि-  
 प्रसिद्धस्यापि धर्मस्य ताच्छील्यमिति, प्रसिद्धोऽपि धर्मोऽस्य सर्वसाधारणोपकरमिति  
 धर्मी” (पृ० ४३५) इति । किञ्चच,

धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम् ।  
 प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम् ॥  
 सपञ्चकालषट्कर्ममखधर्मः समन्वितम् ।  
 जपध्यानसमोपेतमेवं यः पाति सर्वदा ॥

१. स्वकराङ्जान्तराद्—मु० अटी० बक० बख० । २. वचनं—अ० । ३. दधानां—मु० अटी०  
 बक० बख० । ४. लीकस्थं—बक० बख० उ०, लीखस्थं—अटी० । ५. त्थमलेन्धनम्—मु० अटी० ।  
 ६. स्फूर्त्कु—बक० बख० उ० । ७. तत्—उ० । ८. प्रय—मु० अटी० बक० । ९. वतौ—मु० अटी० ।  
 १०. अञ्जात्मा—अ० । ११. मुखः—अ० । १२. अत्रत्यं प्रथमं वाक्यं प्रसुतस्थले नोपलभ्यते ।

सिताक्षमालं धर्मं तु वरपाणिमतः स्मरेत् ॥ ६७ ॥  
 वाङ्मयं निखिलं यस्य वस्तुजातमनश्वरम् ।  
 शक्तित्वेन स्वभावस्थं चिद्रूपस्यामलद्युतेः ॥ ६८ ॥  
 वरवाजिमुखं ध्यायेदथ वागीश्वरं विभूम् ।  
 सूर्यकौन्ताग्निसंकाशमनेकश्चज्ञानभूषितम् ॥ ६९ ॥  
 कमलं चाक्षसूत्रं च वेदिं त्रेताग्निभूषिताम् ।  
 साज्यधारौ सुक्षुवौ तु विष्टरं सोमसंयुतम् ॥ ६० ॥  
 दर्माजिनं मेखलां चौप्यपसव्येषु षट्स्वंमी ।  
 स्मरेद् वामकरेष्वस्य पुस्तकं शङ्खमेव च ॥ ६१ ॥  
 दण्डं कमण्डलुं दर्वीमेकस्मिस्त्रितयं करे ।  
 पूर्णं ग्राम्यैस्तथारण्यैश्चरुबीजैस्तु पञ्चमे ॥ ६२ ॥  
 'सुहृमूलफलपत्रैस्तु यज्ञद्रव्यैः सदक्षिणैः ।  
 सर्वाश्रमोपकरण्युक्तं चमसभाजनम् ॥ ६३ ॥

चतुर्मूर्तिमयो विप्रं नरो नारायणो हरिः ।  
 कृष्णसंज्ञश्च भगवान् प्रादुर्भावान्तरं विभोः ॥ (३६।२०७-२०९) इति,  
 धर्ममूर्तिर्महात्मा वै धर्मारण्ये सुरार्चिते ।  
 अनुग्रहपरस्त्वास्ते लोकानां लोकपूजितः ॥ (३६।३२२)

इति च श्रीपौष्टके सुस्पष्टं प्रतिपादितम् ॥५४-५७॥

अथ हयग्रीवध्यानमाह—वाङ्मयमित्यादिभिः । सोमसंयुतं सोमलत्तौन्निवित-  
 मित्यर्थः । ग्राम्यारण्यबीजभेदास्त्वीश्वरैपारमेश्वरयोर्हविःपाकप्रकरणे प्रतिपादिता  
 द्रष्टव्याः । विष्णुपुराणे च—

त्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः ।  
 प्रियञ्जुससमा होते अष्टमास्तु कुलुत्थकाः ॥  
 श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्तिलाः सगवेधुकाः ।  
 तथा वेणुयवाः प्रोक्कास्तद्वन्मर्कटका मुने ॥  
 ग्राम्यारण्याः स्मृता होता ओषध्यस्तु चतुर्दश ।

(१६।२४-२६) इति ।

१. प्रभुम्-बक० बख० । २. कान्ताद्रि-अ० उ० । ३. च व्यप-बक० बख० ।  
 ४. स्वमूः-मु० अटी० । ५. स्त्र-अटी०, सूक्-बख० । ६. तान्वय-अ० । ७. ईश्वरे  
 पञ्चविंशेऽध्याये पारमेश्वरे चाष्टादशोऽध्याये । ८. मत्क-अ० ।

ध्येयमस्य भुजे षष्ठे वृत्तभूतैर्वृगादिभिः ।  
 वेदाङ्गैरुपवेदैस्तु संस्कारैः समख्येस्तथा ॥ ६४ ॥  
 विकारवसुधाधारे<sup>३</sup> ह्यमावे तु गुणोदधौ ।  
 स्वशक्तिभावितं कृत्वा मनःपूर्वं चतुष्टयम् ॥ ६५ ॥  
 प्रकृत्यन्तं समास्ते यः सर्वज्ञः पुरुषात्मना ।  
 निष्पण्णं भोगिंशश्यायायां तपनीयरुचिं स्मरेत् ॥ ६६ ॥  
 देवमर्णवशाय्याख्यं मूर्तैश्चक्रादिकैर्वृतम् ।  
 लक्ष्म्या संवाहामानं च समाक्रान्तं च निद्रया ॥ ६७ ॥  
 वीज्यमानं हि वै प्रीत्या गीयमानं हि विद्यया ।  
 कूर्मात्मा कूर्मवद् बुद्ध्या ध्यातव्यस्त्वथ लाङ्गलिन् ॥ ६८ ॥

एतैर्बीजैः पूर्णं पात्रं चतुर्थे, यज्ञद्रव्यैः पूर्णं पात्रं पञ्चमे, आश्रमोपकरणैर्युक्तं चमस-  
 भाजनं षष्ठे हस्ते च ध्येयम् । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्टके—“कृष्णाश्वेऽश्वशिरोदेवो  
 क्षितिक्षेत्रे मर्मार्चिते” (३६।३२१) इति ॥ ५८-६४ ॥

एकार्णवशायिध्यानमाह—विकारेति सार्धेस्त्रिभिः । मनःपूर्वं चतुष्टयं मनो-  
 बुद्ध्यहङ्कारप्रकृतिचतुष्टयमित्यर्थः । अस्य लक्ष्म्यादिर्शक्तिचतुष्टयान्वितत्वं लक्ष्मी-  
 तन्त्रेऽपि प्रतिपादितम्—

अवतारो हि यो विष्णोः सिन्धुशायीति सञ्जितः ।  
 स्थिताऽहं परितस्तस्य चतुर्धा रूपमेयुषी<sup>१०</sup> ॥  
 लक्ष्मीर्निंद्रा तथा प्रीतिर्विद्या चेति विभेदिनी । (१।३०-३१) इति ।

ननु किमयं चतुर्मुखरूपो भगवदवतारः । यतः श्रीविष्णुपुराणे—

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।  
 भोगिशश्यागतः शेते त्रैलोक्यप्रासादृहितः ॥ (१।३।२४)

इति ब्रह्मण एवैकार्णवशायित्वं प्रतिपादितमिति चेन्न, यतो ब्रह्मणोऽप्याधारभूतोऽय-  
 मर्णवशाय्यवतारः । ब्रह्मणस्तु तदानीं तन्नाभिकमलशायित्वम् । भोगिशश्यागत-  
 वत्वनं तु “भगवन्नाभिसरोरुद्यवधानसहम्” (१।३।२४) इति विष्णुचित्तीयै<sup>११</sup> प्रति-  
 पादितम् ॥ ६५-६८ ॥

१. व्रतमूर्त्ते—मु० बक० बख०, व्रतभूतैः—अटी० । २. संस्कारः—मु० अटी० बक० बख० ।
३. रेज्य्य—अ० । ४. भोग—अ० उ० । ५. मूर्ते—मु० बक० बख० । ६. चैव—उ० ।
७. ह्वेवो—बख०, ह्वेहो—अ० । ८. क्षमा—मु० । ९. ‘शक्ति’ नास्ति—अ० । १०. मीयुषी—अ०म० ।
११. विष्णुचित्तविरचिते विष्णुपुराणव्याख्यान इत्यर्थः ।

द्रवत्कनकवर्णाभः स्वसामर्थ्याज्जलाश्रयः ।  
शैक्त्यादिकक्लाद्वन्द्वद्वित्याङ्गिः सनातनः ॥ ६९ ॥  
शैक्त्यादिकक्लाद्वश्च प्रोद्वगिरंस्तु श्रुतित्रयम् ।  
अतसीपुष्पसंकाशः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ७० ॥  
मखोपकरणाङ्गश्च निमग्नोद्वरणक्षमः ।  
स्वशक्तिविभवाधारमिच्छाज्ञानक्रियाचिष्म् ॥ ७१ ॥  
नानाविशेषविज्ञानस्फुलिङ्गोमिसदोदितम् ।  
दारयन्तं स्थितं हार्दमनूनं मोहमुल्बणम् ॥ ७२ ॥  
नदन्नादमनाख्येयं तमजं परमेश्वरम् ।  
निष्टप्तकनकामं च ध्यायेद् देवं नुकेसरिम् ॥ ७३ ॥  
ज्वलदग्निस्फुलिङ्गाभिः स्वदेहोत्थाभिरावृतम् ।  
रथाङ्गशङ्खधातारं बृहन्मूर्तिं सुभीषणम् ॥ ७४ ॥

अथ कूर्मध्यानमाह—कूर्मात्मेति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—“रसात्ले तु कूर्मात्मा” (३६।३१८) इति पौष्करे दर्शितम् । अयं तु निखिलजगदाधारभूतकूर्मावतारः, “भुवनधृते” (२३।४४) इति मन्त्रवर्णाति, “द्वन्द्वद्वित्याङ्गिः” (१२।६९) इति ध्यानाच्च । केवलकूर्मवक्त्रावतारश्च विद्यते । तथा च पौष्करे—  
लवणोदधिपर्यन्ते भूभागे सिद्धसेविते ।  
कूर्मवक्त्रश्च भगवान् संस्थितः शङ्खचक्रधृक् ॥ (३६।३२२)  
इति ॥६८-७०॥

वराहध्यानमाह—अतसीपुष्पसंकाशा इति त्रिभिः । पूर्वोक्तो वराहस्तु साक्षाद् वराहः, अयं नृवराह इति ध्येयम्; “शङ्खचक्रगदाधरः” (१२।७०) इति ध्यानात्, “कोकामुखे वराहस्तु वाराहे तु नगोत्तमे” (३६।३२४) इति पौष्करे पुनर्वराहस्थानप्रदर्शनाच्च ॥७०-७३॥

अथ श्रीनृसिंहध्यानमाह—निष्टसेति सार्वद्वाभ्याम् । मूर्त्तं ब्रह्म साकारं परं ब्रह्मोत्थर्थः । ब्रह्ममूर्तिमिति पाठे बृहत्कायमित्यर्थः । सत्सत्त्वकरजश्रेणीदीप्तेनोभय-

१. शान्त्या—अ० उ० । २. ‘कलाद्वन्द्व’—‘शैक्त्यादिक’ नास्ति—उ० । ३. द्वितीया—मु० अटी० बक०, वित्ता—अ० । ४. इतः परम—“अनभिव्यक्तवाग्वर्णकदम्बाकृतिविग्रहः । तदुत्थध्वनिसन्तानगोग्रीवो विश्वस्पधृक् ॥ वराहमूर्तिर्भगवानथ हृत्कमलान्तरे ।” इत्यधिकं पद्धितत्रयं दृश्यते—अ० । एतदनुसारं कूर्मतिमध्यानं पद्धितत्रयात्मकं वराहध्यानं च श्लोकपञ्चकात्मकं बोध्यम् । ५. ध्यातव्योभयपाणिश्च—अ० । ६. द्वयम्—अटी० । ७. धार—मु०अटी० बक० अ० । ८. मूर्त्तं ब्रह्मेति ब्रह्ममूर्तिमिति वा भाष्यध्याख्यातः पाठः । ९. बोध्यम्—म० ।

सत्सत्त्वकरज्जश्रेणीदीप्तेनोभयपाणिना ।  
 संयच्छन्तं धिया सम्यग् भविनां साभयं वरम् ॥ ७५ ॥  
 अमृताध्मातमेवाभममृताहरणं विभुम् ।  
 पीताम्बरधरं ध्यायेदेकवक्त्रं चतुर्मुजम् ॥ ७६ ॥  
 श्रोणीतटार्पितकरं शङ्खचक्रविभूषितम् ।  
 मध्यतो दक्षिणैव वहन्तं गिरिरूपवृक्षं ॥ ७७ ॥  
 शुद्धज्ञानानुविद्धं च कर्मसम्भवभीतिहम् ।  
 दिशन्तं स्वधिया सम्यग् भक्तानां भक्तवत्सलम् ॥ ७८ ॥  
 मन्थामौथितदुग्धादिधि क्षोभयित्वा प्रकाशितम् ।  
 अमृतं क्षुत्त्रादीनां प्रतिपक्षमनामयम् ॥ ७९ ॥  
 शुद्धं चानश्वरं भाव्यं मायारूपार्णवमध्यगम् ।  
 आत्मामृतमनौपम्यम् आहारध्वंसकर्मणा ॥ ८० ॥

---

पाणिना साभयं वरं संयच्छन्तं शुद्धसत्त्वमयनखपद्वितविराजिताभ्यां कराभ्यामभय-  
 वरदमुद्रान्वितमित्यर्थः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

नृहरिः कृतशौचे तु उज्जयिन्यामपि द्विज ।  
 विशाखमूलसंज्ञे तु स्थाने त्वेव स्थितस्त्रिधा ॥ (३६।२२३) इति ।

केवलनृसिंहावतारस्थानमपि तत्रैव प्रतिपादितम्—‘विन्ध्यारण्ये तु पौष्कर ।  
 विज्ञातव्यो मृगेन्द्रात्मा पापहा सर्वदेहिनाम्’ (३६।३१८-३१९) इति ॥ ७३-७५ ॥

अमृताहरणध्यानमाह—अमृतेत्यादिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रे सुरासुरनिषेविते ।  
 मन्दराद्रिकरो देवो वर्तते देवपूजितः ॥  
 तत्रैवामृतजिद् देवः संस्थितः सिद्धसेवितः ।  
 कान्तारूपधरश्चैव सुधाकलशधृक् तथा ॥  
 सिद्धानां च मुनीनां च देवानां मृत्युजित् स्थितः । (३६।३४४-३४६)  
 इति ॥ ७६-८० ॥

---

१. श्रेणि—मु० वक० वख० । २. हविनां—अ० । ३. धृत—मु० । ४. इतः पूर्वम्—‘मध्यतो  
 दक्षिणैव’ इत्यविक्षिप्तः पाठः—अ० । ५. मया—वक० वख० अ० उ० । ६. यथेम—अ० उ० ।

ध्यायेत् कमलगभीमं देवदेवं श्रियः पतिम् ।  
 कमलालयहेतीशविभूषितकरद्वयम् ॥ ८१ ॥  
 द्रुयं देवीपरिणये लीलयैव समर्पयन् ।  
 प्रकाशयन्नादित्वमात्मनः प्रकृतेः सह ॥ ८२ ॥  
 मत्करैरनुविद्रैयं प्रकृतिः प्राकृतैरहम् ।  
 यतोऽहमाश्रयश्चास्या मूर्तेमर्यथेतदात्मिका ॥ ८३ ॥  
 यामालम्भ्य सुखेनेम् दुस्तरं हि गुणोदधिम् ।  
 निस्तरन्त्यचिरेणैव व्यक्तं ध्यानपरायणः ॥ ८४ ॥  
 मदविहूलनेत्रं च देवमुद्भूत्यौवनम् ।  
 फुल्लरक्ताम्बुजाभासमत्यजन्तं निजां स्मृतिम् ॥ ८५ ॥  
 त्रैलोक्यविस्मयकरं कान्ताकृतिधरं स्मरेत् ।  
 आनन्दामृतसम्पूर्णवदनेनेन्दुकान्तिना ॥ ८६ ॥  
 कलशाकृतिरूपेण करस्थेन विराजितम् ।  
 लीलाकटाक्षवाग्वाणैः सूदयन्तं सुरद्विषः ॥ ८७ ॥  
 द्विरेफपटलाक्रान्तसहकारलताकरम् ।  
 कलामूर्त्यभिमानात्मा राहुसंज्ञो विभीषणः ॥ ८८ ॥

श्रीपतिध्यानमाह—ध्यायेदित्यादिभिः । “प्रकृतिर्जगन्माता लक्ष्मीः” (पृ० ३५१)  
 इति सहस्रनामभाष्ये व्याख्यातम् ॥ ८१-८४ ॥

कान्तात्मध्यानमाह—मदविहूलनेत्रैरिति सार्वेस्त्रिभिः । अस्यावतारस्य लक्ष्मी-  
 नारायणोभयात्मकत्वमुक्तं जगज्जनन्या—

यत्तु तैन्मोहनं रूपं श्रूर्यतेऽमृतधारकम् ॥  
 भवद्भ्रावौ तदा तत्र रूपे तुल्योपलक्षितौ ।  
 देवैः पुरुषरूपेण स्त्रीरूपेण सुरेतरैः ॥  
 सह सिद्धं <sup>१०</sup>मयीत्येतज्जन्म मे महदद्वृतम् । ( ८४८-५० )  
 इति ॥ ८५-८८ ॥

१. देवं लक्ष्मीपतिं ततः—अ० उ० । २. मध्ये तदा—अटी० । ३. नैनं—अ० उ० ।  
 ४. व्यक्त—मु० बक० बख० अ० उ० । ५. नैत्रैश्चेति भाष्यानुसारी पाठः ।  
 ६. नात्म रा—मु० बक० बख० । ७. मे मो—मु० । ८. श्रीयते—अ० । ९. तथे—मु० ।  
 १०. पृथक् सिद्धमित्येतज्जन्म मेऽद्वृतम्—मु० ।

मूर्तमूर्तेन रूपेण संग्रसत्यनिशं किल ।  
 अग्नीषोममयीं मूर्ति कर्मिणागुपकारिणीम् ॥ ८९ ॥

योऽन्तःप्राणादिरूपेण चन्द्रादित्यात्मना बहिः ।  
 स्थितस्तद्विजयेऽध्यक्षः सत्यध्यानरतात्मनाम् ॥ ९० ॥

निष्पैन्दं बोधभावेन तं तु व्यक्तं स्मरेद् बहिः ।  
 नीलनीरदवर्णभं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ ९१ ॥

मध्याह्नभास्कराकारं द्वादशारकरोद्यतम् ।  
 श्रोणीतटनिविष्टेन वामहस्तेन लीलया ॥ ९२ ॥

ध्रियमाणं गदां गुर्वीं निष्पणां धरणीतले ।  
 अविद्याख्या च या नेमिः कालचक्रस्य दुर्घरा ॥ ९३ ॥

सामाधीयं समाश्रित्य विग्रहं विधुनोति च ।  
 जपयज्ञक्रियादीनां तामसेन बलेन च ॥ ९४ ॥

ध्यायेत् तत्प्रसरणं च देवं राजोपलब्धुतिम् ।  
 विज्ञानरशिमिर्दीप्तं सत्सञ्चगरुडासनम् ॥ ९५ ॥

नानास्त्ररूपभूतात्मसद्विद्याभुजभूषितम् ।  
 चक्रं पैद्वं गदां बाणमङ्गुशं कुन्तमेव च ॥ ९६ ॥

षट्सु दक्षिणहस्तेषु शँक्ति पाशौ च कार्मुकम् ।  
 मुसलं मुद्गरं भीमं खेटकं वामवाहुषु ॥ ९७ ॥

राहुजिद्वयानमाह—कलामूर्तीत्यादिभिः । अस्यापि क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रवासि-  
 त्वमेव बोद्धयम्, “सिद्धानां च मुर्नानां च देवानां मृत्युजित् स्थितः” (३६।३४६) इति  
 पौष्करोक्ते ॥८८-९३॥

कालनेमिधनध्यानमाह—अविद्याख्येत्यादिभिः ॥९३-९७॥

१. रिणाम्—मु० अटी० अ० । २. स्पन्दबोध—बक० बख० अ० उ० ।
३. निष्पण्ण—अ० उ० । ४. सामाधीयं—मु० अटी०, सामाधियं—बक० बख०, सामयीयं—अ० ।
५. तात्मा—बख० अ० उ० । ६. खड्गं—बख० अ० उ० । ७. शक्तिपाशौ—मु० अटी० ।
८. क्षेत्रे—म० ।

देव आप्रदेलाभश्च सर्वत्वः पारिजातजित् ।  
 अक्लिष्टकर्मा देवेशस्त्वनेकाद्युतविक्रमः ॥ ९८ ॥  
 प्रवन्धप्रतिपन्नानां भक्तानामपि देहिनाम् ।  
 यो वोधभूमौ संरुढो ह्यनित्यश्चानुरञ्जकः ॥ ९९ ॥  
 न्यग्रोधविट्ठपाकारोऽप्यविद्याबन्धलक्षणः ।  
 कर्मवृक्षः सुविततो मोहमायाफलावृतः ॥ १०० ॥  
 तदुत्पाटनसिद्ध्यर्थमनुग्राह्यजनं सदा ।  
 आविश्याऽस्तेऽशमात्रेण कृपया स जगत्प्रभुः ॥ १०१ ॥  
 स विवेकात्मना भूत्वा ज्ञानवाहुवितानधृक् ।  
 ऐश्वर्यधर्मवैराग्यशमास्यशिच्चितशक्तिभृत् ॥ १०२ ॥  
 आदाय संयमास्त्रौघं नियमास्त्रगणं तथा ।  
 इन्द्रियादिगणं जित्वा कर्मिणां दोषदो हि यः ॥ १०३ ॥  
 यदस्य सुरजिदूरुपं तद् द्वादशभुजं स्मरेत् ।  
 दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्याभरणभूषितम् ॥ १०४ ॥  
 चतुर्वक्त्रं सुनयनं वामोत्सङ्गर्पितप्रियम् ।  
 खड्डं चक्रं गदां बाणं मुसलं च तरुत्तमम् ॥ १०५ ॥  
 षट्कु दक्षिणहस्तेषु शङ्खमङ्गुशकार्मुके ।  
 छत्रं च फणभृत्पाशं विमोर्वामभुजेष्वमी ॥ १०६ ॥  
 षष्ठेनालङ्घिता देवी सारविन्देन बाहुना ।  
 तेदं(शैस)लग्नकरया देव्या तच्चित्तयाऽनिशम् ॥ १०७ ॥

पारिजातहरध्यानमाह—देव आप्रफलाभ इत्यादिभिः । दोषदो दोषच्छेदक  
 इत्यर्थः । “दो अवखण्डने” ( ११४८ दि० ) इति धातोः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—  
 आसाद्य सूकरक्षेत्रं देवो गरुडवाहनः ।  
 संस्थितो गरुडारुदः पारिजातकराङ्कितः ॥  
 सिद्धैः सुरगणैः सार्धं गगने चापि पौष्कर । ( ३६ । ३५३-३५४ )  
 इति ॥ ९८-१०८ ॥

१. आमृद-मु० बक० बख० । २. फलाभश्चेति भाष्यानुसारी पाठः । ३. संस्मार्य-बक०  
 बख० अ० उ० । ४. ग्राह्य-बक० बख० उ० । ५. कृत-उ० । ६. धृक्-बक० बख० अ० उ० ।  
 ७. दोषहा-अटी० बक० बख० । ८. कम्-बक० बख० अ० उ० । ९. तदङ्ग-अ० ।

संवीज्यमानं विनयाच्चामरेण सितेन तु ।  
 लोकनाथं विशालाक्षं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥ १०८ ॥  
 नरसिंहासनारुद्धं ध्यैषेन्मीलितलोचनम् ।  
 पद्मासनेनोपविष्टं पद्मगर्भोपमद्युतिम् ॥ १०९ ॥  
 करुणाविष्टबुद्धिं च शङ्खपद्मकराङ्गितम् ।  
 ज्ञानवैराग्यसद्वर्मार्गत्रयनिर्दर्शकम् ॥ ११० ॥  
 संस्मरेदथ दत्ताख्यं ज्ञानमूर्तिमलेपकम् ।  
 मनुष्यमुनिदेवानां समाधिनिश्चत्तमनाम् ॥ १११ ॥  
 ईपलब्धरसानां च ब्रह्ममार्गानुसारिणाम् ।  
 स्वप्रभानिकरेणैव भासयन्तं च तत्पथम् ॥ ११२ ॥  
 मनसा सह वायूनामाकृतिप्रतिषेधकृत् ।  
 श्रुतीनां मानसानां चाप्याचाराणां तथैव च ॥ ११३ ॥  
 वर्णनामाश्रमाणां च परिरक्षक एव हि ।  
 मानसैकार्णवान्तस्थे निष्क्रम्ये बुद्धिपादपे ॥ ११४ ॥  
 अभिमानलताद्ये चौप्युपरिस्थमनुस्मरेत् ।

---

लोकनाथध्यानमाह—लोकनाथमिति सार्धद्वाभ्याम् । अस्य रूपान्तरं बुद्धावतार  
इति बोध्यम्,

लोकेश्वरः शान्ततनुबैद्धं यस्यापरं वपुः ।  
नियन्ता बुद्धिर्घर्माणां हिंसादोषस्य दूषकः ॥ ( ३६२२६ )

इति पौष्करोक्तेः । अस्य स्थानं तु—

मगधामण्डले विप्र महाबोधधराश्रितः ।  
संस्थितो लोकनाथात्मा देवदेवो जनर्दनः ॥ ( ३६३५९-३६० )

इति पौष्करे ॥ १०८-११०॥

अथ दत्तात्रेयध्यानमाह—संस्मरेदथ दत्ताख्यमित्यादिभिः । संस्मरेदित्यस्य

१. च-अ०, तम्-म० अटी० । २. ध्यानोन्मी-बक० बख० अ० उ० ।  
 ३. मागति-बख० उ० । ४. नामागमानां च आचा-अ० उ० । ५. तु उ-अ०, त्वप्यु-उ० ।  
 ६. तनुः सौद्धं-अ० ।

प्रावृद्गिरिव श्यामं तेजसा ज्वलनोपमम् ॥ ११५ ॥  
ध्वंसकृद् विघ्नजालस्य निन्द्रालस्य वयस्य यः ।  
उत्कृष्टद्विजरूपेण विकसत्पद्मपिणा ॥ ११६ ॥  
स एव द्विभुजो ध्येयो दण्डदर्भाक्षसूत्रवृक्षं ।  
दन्तज्योत्सनाजिताज्ञानं न्यग्रोधशयनं विभूम् ॥ ११७ ॥  
निषण्णमीषदुत्तानं द्विभुजं शिशुरूपिणम् ।  
एवंमेव निरस्तासं शान्तनिद्रार्सं स्थितम् ॥ ११८ ॥  
अनुज्ञितस्वभावं च योगमायावलेन च ।  
त्यजन्तमाहरन्तं च श्वासोच्छ्वासद्वयेन तु ॥ ११९ ॥  
आत्रह्वासुवैनं सर्वं कर्म प्राधानिकं हि यत् ।  
अपौरुषेण रूपेण सर्वतावयवात्मना ॥ १२० ॥  
स्वमायाजलमध्यस्थम् अध्यक्षमथ संस्मरेत् ।  
ज्ञानादिगुणवृन्देन पक्षभूतेन भूषितम् ॥ १२१ ॥

पूर्वोन्नेवान्वयः ॥ १११-११७ ॥

न्यग्रोधशयनध्यानमाह—दन्तज्योत्सनेति त्रिभिः । प्राधानिकं प्राकृतमित्यर्थः ।  
पूर्वोक्त एकार्णवशायी नैमित्तिकप्रलयकर्ता, अयं तु प्राकृतिकप्रलयकर्तेति बोद्धयम् ।  
नैमित्तिकप्राकृतिकयोर्लक्षणं तु श्रीविष्णुपुराणे—

ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यैच्छेते जगतः पतिः ।  
प्रायाति प्रीकृतिं चैव ब्रह्माण्डं प्राकृतो लयः ॥ ( १७।४२ )  
इति ॥ ११७-१२० ॥

अथ मत्स्यावतारध्यानमाह—अपौरुषेणेति चतुर्भिः । <sup>१२</sup>नौरूपां तरणिरूपा-  
मित्यर्थः । “स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः” ( ११०।१० ) इत्यमरः । तदानीं महालक्ष्मी-  
रेवैवं <sup>१३</sup>नौरूपं बिभर्तीति ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

अवतारो हि यो विष्णोर्नाम्ना मीनधरः शुभः ।

<sup>१४</sup>अनुग्रहक्रमात् तत्र साऽहं नौरूपधारिणी ॥ ( ८।३३-३४ ) इति ।

१. पमः—मु० अटी० । २. च—अ० उ० । ३. धृत—मु० अटी० । ४. श्रुतीनामित्यादिपद्भिर्वितपञ्चकमितः परं स्थापितम्—अ० । ५. एष एव—अटी० । ६. रस—बक० बख० उ० ।  
७. भवनं—मु० अटी० बक० । ८. संहृता—अटी० । ९. शेतेऽयं जगतीपतिः—मु० ।  
१०. प्राकृते—मु०, प्रकृतं—अ० । ११. प्रकृतौ लयम्—मु० । १२. ननु रूपान्तराणि—अ० ।  
१३. ‘नौ’ इत्येव—अ०, नौरूपा—म० । १४. अनुभ्रमामि तं तत्र—मु० ।

स्वोत्थं सन्निःसृतं ब्रह्म एकशृङ्गविराजितम् ।  
 कल्पावसानसमये वहन्तं चैव चिन्तयेत् ॥ १२२ ॥  
 नौरूपां वितां क्षोणीं प्रजापतिगणान्वितम् ।  
 मुक्ताकलगणेनैव वपुषा निर्मलेन च ॥ १२३ ॥  
 अनिमीलितनेत्रः सै मीनात्मा भगवानथ ।  
 यो नित्यं भवभीतानां बुधानां कृपया स्वयम् ॥ १२४ ॥  
 हृत्स्थो निर्यतिदण्डेन मार्ताण्डायुतसञ्चिभः ।  
 जित्वाऽज्ञानबलं भीममिन्द्रियारिगणान्वितम् ॥ १२५ ॥  
 संयच्छत्यचिराद् ब्रह्मनन्दनं सत्सुखाय च ।  
 ध्यायेत् तमेव हस्वाङ्गं श्यामं पश्चदलेखणम् ॥ १२६ ॥  
 अन्तर्निविष्टभुवनं जटावल्कलभूषितम् ।  
 छत्रं तद्वामहस्तेऽस्य दण्डमन्यत्र वैष्णवम् ॥ १२७ ॥  
 आक्रम्य जाग्रदादित्यः सूर्येन्दुहुतभुक्प्रभाम् ।  
 तिष्ठत्यनन्तो भगवांस्तुर्याख्यश्चिद्भूतिधृक् ॥ १२८ ॥

अस्य स्थानं तु पौष्करे—“मत्स्यात्मा भगवांप्सु” (३६।३१८) इति । मीन-  
 वक्त्रस्थानमप्युक्तं तत्रैव—“नौबन्धनगिरावेव मीनवक्त्रः स्थितः प्रभुः” (३६।३२१)  
 इति ॥ १२०—१२४ ॥

वामनध्यानमाह—यो नित्यमित्यादिभिः । अज्ञानं जित्वा अविद्यामपोहोत्यर्थः ।  
 ब्रह्म नन्दयतीति ब्रह्मनन्दनं ज्ञानमित्यर्थः ।

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—  
 कन्दमाले विवैतस्ते कुलकुक्षौ हिमाचले ॥  
 वामनं खर्वमूर्तिं च वैश्वरूप्येण संस्थितम् । (३६।३२४—३२५)  
 इति ॥ १२४—१२७ ॥

त्रिविक्रमध्यानमाह—आक्रम्येत्यादिभिः । आह्लादजननीं शक्ति गङ्गामित्यर्थः ।  
 तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

१. क्षोणी—मु० अटी० बक० बख० । २. निभे—अ० उ० । ३. सन्—बक० बख० अ० ।
४. नियम—उ० । ५. वैष्णवम्—बक० बख० । ६. दित्य—मु० अटी० बक० बख० ।
७. भान्—बख०, प्रभः—अ० । ८. धृत्—मु० अटी० । ९. वान् विष्णुरप्सु—अ० ।

सम्प्रेरयन्ननिच्छातः स्वपदादमृतप्रभाम् ।  
 आह्लादजननीं शक्तिं कर्मिणां भावितात्मनाम् ॥ १२९ ॥  
 त्रैलोक्यपूरकं ध्यायेत् तमेव हरितशुतिम् ।  
 नानामुद्रास्त्रयुक्तेन भुजवृन्देन भूषितम् ॥ १३० ॥  
 खेटकेनाङ्गिदण्डेन वहन्तमरिसूदनम् ।  
 वैहन्तं सद्वैजयन्तीं देवानां च जयार्थिनाम् ॥ १३१ ॥  
 खड्गचक्रगदादण्डवाणाङ्गुशसमुद्गराः ।  
 शक्तिः परशुरौलेन्द्रौ दश दक्षभुजेष्वमी ॥ १३२ ॥  
 शङ्खतोमरशाङ्गं च पाशशूलमहीरुहाः ।  
 कुलिशं क्षुरिका चैव लाङ्गलं मुसलं महत् ॥ १३३ ॥  
 वामहस्तेष्वमी ध्येया अन्ये मुद्रान्विता दश ।  
 भयविस्मयहृङ् वेणीकण्ठग्रहणलक्षणाः ॥ १३४ ॥  
 ध्येया मुद्रा विभोः पञ्च सव्ये तु करपञ्चके ।  
 वराख्यां भूतिसंज्ञां च युक्ताख्यां साभयां तु वै ॥ १३५ ॥  
 गोपनीं दक्षहस्तेषु तत्संख्येषु च संस्मरेत् ।  
 जगत्सूत्रं सहाक्षैस्तु येनोक्तममितात्मनाम् ॥ १३६ ॥

त्रैविक्रीमाह्नयो विष्णोरवतारः परः स्मृतः ॥  
 आह्लादजननी गङ्गा तत्पादात् प्रभवाम्यहम् । (१३४-३५) इति ।

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्टके—

मध्यदेशे तु गङ्गायाः कुरुक्षेत्रे तु पौष्टके ॥  
 यामुनं कूलमासाद्य प्रादुर्भावान्तरं महत् ।  
 स्थितं त्रिविक्रमाख्यं प्रस्त्रैलोक्याक्रान्तविग्रहः ॥ (३६।३२५-३२६)  
 इति ॥ १२८-१३६ ॥

१. खे गतेना-बक० बख० उ० । २. द्युसिन्धुं-अ० उ० । ३. खङ्गं चक्रं गदां दण्डं  
 बाणं मुसलमुद्गरान्-अ० । ४. मृद-मु० अटी० बक० बख० । ५. मसितात्मना-अ० उ० ।  
 ६. त्रैविक्रमोदयो-मु० ।

गुणषट्कस्वरूपेण पूर्वोक्ताकृतिभविना ।  
 स्मर्तव्यः स चतुर्धा वै लाङ्घनास्त्रविवर्जितः ॥ १३७ ॥  
 सर्वदा परिरक्षन्तु जपपूर्वं चतुष्टयम् ।  
 योगक्रियातेपोऽन्तं च सद्विभूत्यपवर्गदेशम् ॥ १३८ ॥  
 नरायः कृष्णनिष्ठश्च पृथगेकत्र चेच्छया ।  
 नरं तत्र प्रवालाभमधीन्मीलितलोचनम् ॥ १३९ ॥  
 अन्तनिविष्टभावं च शब्दब्रह्मैकमौनसम् ।  
 पैदोपलक्षणं मन्त्रं लपमानमलक्षितम् ॥ १४० ॥  
 स्फाटिकेनाभस्त्रेण करस्थेन च शोभितम् ।  
 गणयन्नक्षसूत्रीयानावर्तान् वामपाणिना ॥ १४१ ॥  
 अथ नारायणं देवं ध्यायेत् कुमुदपाण्डरम् ।  
 बद्रब्रह्माञ्जलि शान्तं हृत्पद्मार्पितमानसम् ॥ १४२ ॥  
 युज्जानं च स्वमात्मानं परस्मिन्नव्यये पदे ।  
 कमण्डलुधरं ध्यायेत् काञ्चनाभमतो हरिम् ॥ १४३ ॥  
 विष्टराविष्टपाणि च क्रियाकाण्डग्रदर्शकम् ।  
 पठन्तमनिशं शास्त्रं पञ्चरात्रपुरस्सरम् ॥ १४४ ॥  
 कृष्णमिन्दीवरश्याममूर्धवंबाहुं जटाधरम् ।  
 पादेनैकेन तिष्ठन्तमाहरन्तं च मारुतम् ॥ १४५ ॥

अथ नरादीनां चतुर्णा ध्यानमाह—जगत्सूत्रमित्यादिभिः । जप-योग-क्रिया-तपः-  
 परिरक्षकत्वं नर-नारायण-हरि-कृष्णानां क्रमेण बोध्यम् । एषां स्थानानि तु—

नरसंज्ञो जगन्नाथः सिद्धैः संपूजितेषु च ।  
 भूभागेषु च रम्येषु नित्यं सनिहितः स्थितः ।  
 गिरौ गोवर्धनाख्ये तु देवः सर्वेश्वरो हरिः ।  
 संस्थितः पूजिते स्थाने गर्वां निष्क्रमणेषु च ॥

१. तपोऽन्ते—अटी० । २. वर्गदः—वक० उ० । ३. मासनम्—वक० वख० ।  
 ४. यदोप—वक० वख०, यदोप—मु० अटी० । ५. पाण्डु—मु० अटी० । ६. भवान्निष्क—अ० म० ।

एकंत्रिष्ठद्विष्ठद्वरात्राद्यतिकुच्छपरायणम् ।  
 पक्षमासोपवासांश्च दिशन्तमनुचिन्तयेत् ॥ १४६ ॥  
 कृष्णाजिनोत्तरीयाश्च सर्वे काषायधारिणः ।  
 ब्रह्मलिङ्गधराः सर्वे सर्वे ब्रह्मपरायणाः ॥ १४७ ॥  
 मुख्यमंकपरिक्रान्ताः साधूनां प्रेरणाय च ।  
 कालानुकालमाश्रित्य सर्वे सर्वपरायणाः ॥ १४८ ॥  
 असङ्गशक्त्या भगवान् सत्कुठाराभिधानया ।  
 छिन्ति बद्धमूलान् यः कर्मवृक्षांस्तु कर्मणाम् ॥ १४९ ॥  
 तमेव द्विभुजं ध्यायेदुदयादित्यवर्चसम् ।  
 कृष्णैषचर्मवसनं सत्कुठारकराङ्कितम् ॥ १५० ॥  
 दशेन्द्रियाननं धोरं यो मनोरजनीचरम् ।  
 विवेकशरजालेन शमं नयति योगिनाम् ॥ १५१ ॥  
 ध्येयः स एव विश्वात्मा सतोयजलदग्रमः ।  
 रक्तराजीवनयनो धनुशशरकराङ्कितः ॥ १५२ ॥

सालिग्रामे च भगवान् राजेन्द्राख्ये वने द्विज ।  
 तथैव वसुधाशोन स्थितो देवन्रताभिधे ॥  
 कृष्णोऽपरश्चतनुर्मूर्तिरवतीर्य धरातले ।  
 स्थितः पिण्डारके विप्र मोचयन् दुष्कृताज्जनान् ॥ इति ॥ १३६-१४८ ॥  
 (पौ० सं० ३६।३३३-३३६)

परशुरामध्यानमाह—असङ्गशक्त्येति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—  
 नगोत्तमे महेन्द्राख्ये परश्वथकरो द्विजः ।  
 रामसंज्ञश्च भगवान् संस्थितः क्षत्रियान्तकः ॥ इति ॥ १४९-१५० ॥  
 (पौ० सं० ३६।३२७)

श्रीरामध्यानमाह—दशेन्द्रियाननमिति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—  
 धराधरे चित्रकूटे रक्षःक्षयकरो महान् ।  
 संस्थितश्चापरो रामः पद्मपत्रायतेक्षणः ॥ (पौ० सं० ३६।३२८)

इति ॥ १५१-१५२ ॥

वाग्वेदमण्डलं यो वै स्वरूपद्युतिलक्षणम् ।  
 स्वयं स्वोत्थं विभजति त्रिधा पश्यन्तिपूर्वकम् ॥ १५३ ॥  
 बोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमात् ।  
 स्मर्तच्यः सोऽपि भगवानतसीकुसुमद्युतिः ॥ १५४ ॥  
 वहन् वै वामहस्तेन सर्वशास्त्रार्थपुस्तकम् ।  
 दक्षिणेन तु शास्त्रार्थमादिशंश्च यथास्थितम् ॥ १५५ ॥  
 युगानुसारिषोधानामखेदजननाय च ।  
 विभजस्तु चतुर्थी वै वेदमेकं त्रिकालवित् ॥ १५६ ॥

अथ वेदव्यासध्यानमाह—वाग्वेदमण्डलमित्यादिभिः । स्वरूपद्युतिलक्षणम्, अन्तःस्थितज्योतिःस्वरूपमित्यर्थः, “स्वरूपज्योतिरेवान्तर्भवियन् संस्थितं हृदि” (३४।६३) इति पौष्टकरोक्ते: । केवलशान्तरूपमिति यावत् । वाग्वेदमण्डलं शब्दब्रह्मेत्यर्थः । पश्यन्तीपूर्वकं त्रिधा विभजति पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदस्त्रेधा विभक्तं करोतीत्यर्थः । एताः शब्दब्रह्मणोऽवस्थाः सुव्यक्तमुक्ता लक्ष्मीतन्त्रे—

बोधोन्मेषः स्मृतः शब्दः शब्दोन्मेषोऽर्थं उच्यते ।  
 उद्यच्छब्दोदयः शक्तेः प्रथमः शान्ततात्मनः ॥  
 स नाद इति विख्यातो वाच्यतामसृणस्तदा ।  
 नादेन सह शक्तिः सा सूक्ष्मेति परिगीयते ॥  
 नादात् परो य उन्मेषो द्वितीयः शक्तिसंभवः ।  
 (बिंदुरित्युच्यते सोऽत्र वाच्योऽपि मसृणः स्थितः ॥)  
 पश्यन्ती नाम साऽवस्था मम दिव्या महोदया ।  
 ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः ॥  
 मध्यमा सा दशा तत्र संस्कारयति सङ्ग्रहितम् ।  
 वाच्यवाच्यकभेदस्तु तदा संस्कारतामयः ॥  
 चतुर्थस्तु य उन्मेषः शक्तेमध्यमिकात् परः ।  
 वैखरी नाम साऽवस्था वर्णवीक्यस्फुटोदया ॥  
 अस्ति शक्तिः क्रियात्मा मे बोधरूपाऽनुसारिणी ।  
 सा प्राणयति नादादिं शक्त्युन्मेषपरम्पराम् ॥

शान्तरूपाऽथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा<sup>११</sup> । (१८।२२-२९) इनि ।

बोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमादिति पश्यन्त्याद्यवस्थात्रयस्य विशेषणं बोध्यम्,

१. वाग्वेदमण्डलं—मु० अटी० बक० अ० उ० । २. स्वार्थ—अ०, खोत्थं—उ० ।  
 ३. हृत्पद्म—उ० । ४. दुस्तरम्—उ० । ५. सारी—अ० उ० ! ६. एतच्छब्द—अ० ।  
 ७. उभयोर्मातृक्योर्न दृश्यते पद्मकिरेषा । ८. मंध्यात्मिका परा—अ० म० । ९. वाक्—  
 संस्फुटोदयः—अ० म० । १०. नुयायिनी—मु०, नुशाधिनी—म० । ११. तदा—म० ।

दानधर्मरतानां च यागयज्ञानुयाजिनाम् ।  
 तपःस्वाध्यायसंक्तानां<sup>१</sup> मुक्तानां वै पुनर्भवात् ॥ १५७ ॥  
 संरक्षणाय योग्यत्वविज्ञानव्यक्तयेऽपि च ।  
 समुदेति जगन्नाथस्तेषां हृत्कमलावनेः ॥ १५८ ॥  
 मनोवाजिनमाक्रम्य त्वादायात्मगुणायुधान् ।  
 नूनमुत्पाटयत्याशु जन्मान्तरशतोत्थितम् ॥ १५९ ॥  
 वैषयं वासनाजालं शुद्धविज्ञानसिद्धये ।  
 ध्यायेद् वराश्वगं तं वै तनुत्रावृतविग्रहम् ॥ १६० ॥  
 सितोष्णीषल्लाटं च नातिदीर्घजटाधरम् ।  
 द्रवत्कनकवर्णभम् इषुधिद्रुयमध्यगम् ॥ १६१ ॥  
 शरचापकरव्यग्रं खड्डकुन्तकुठारिणम् ।  
 यज्ञाध्ययनदानानानि परिरक्षन्तमेव हि ॥ १६२ ॥  
 शातयन्तमवर्णिश्चाप्यधर्मनिरतात्मनः<sup>२</sup> ।

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा बुद्धिसंयुता ।  
 द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ १५३-१५६ ॥

अथ कल्किध्यानमाह—दानधर्मरतानां चेत्यादिभिः । अस्य स्थानं तु  
 श्रीपौष्टके—

कल्की विष्णुर्च भगवान् स्तूयमानो द्विजैः स्थितः ।  
 समासाद्य विपाशां च नदीं नियतमानसः ॥ (३६।३३१)

इति ॥ १५७-१६३ ॥

१. रक्तानां—अटी० । २. नाममुक्तानां—अ० । ३. सने—अ० । ४. युतान्—मु० अटी०  
 वक० बख० । ५. त्पाद—मु० अटी० वक० बख० अ० । ६. नाशयत्यात्म—मु०अटी० वक०  
 बख० अ० । ७. करं—अ० उ० । ८. रिणाम्—मु० । ९. दानादि—मु० अटी० वक० बख० अ० ।  
 १०. मवर्णनाम—वक० बख० अ० उ० । ११. त्पनाम्—वक० बख० अ० उ० अटी० ।  
 अस्मिन् पाठेऽधर्मनिरतात्मनामवर्णन् परीवादान् शातयन्तमित्यर्थः, “अवर्णक्षेपनिर्वादपरी-  
 वादापवादवत्” (१।६।१३) इत्यमरकोशात् । मूलस्थस्य पाठस्याधर्मनिरतात्मनो वर्णश्रिमा-  
 चारहीनान् शातयन्तमित्यर्थः, वर्णश्रिमव्यवस्थायै हि कल्पयत्वारः प्रवर्तते ।

सर्वतत्त्वाश्रयं तत्त्वं सर्वशक्तिमयं विभुम् ॥ १६३ ॥  
 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।  
 औधारं भुवनानां च ध्यातव्यस्तदधः स्थितः ॥ १६४ ॥  
 अनन्तशयनारूढः कल्पान्तहुतभक्त्रैः ।  
 ज्वलज्ज्वालावलीयुक्तो ज्वलनांशुकवैष्टितः ॥ १६५ ॥  
 चक्राद्यायुधवृन्देन मूर्तेन परिवारितः ।  
 स्थिताङ्गिरेशतो लक्ष्मीश्चन्ता दक्षिणतो विभोः ॥ १६६ ॥  
 मूर्धदेशगता निद्रा पुष्टिस्तद्रामतः स्थिता ।  
 प्रधानदेवताध्यानमिदमुक्तं समाप्तः ॥ १६७ ॥

पातालशयनध्यानमाह—सर्वतत्त्वाश्रयमित्यादिभिः । पद्मनाभपातालशाय्येकार्णवशायिन्यग्रोधशायिनां स्थानानि श्रीपौष्टकरे प्रतिपादितानि—

क्षीरोदधौ पद्मनाभः शेषाहिशयनो हरिः ।  
 स्थितो नाभ्यब्जसंभूतो यस्माच्चैवै पितामहः ॥  
 चतुर्धा रूपमाश्रित्य विश्वेऽस्मिन् सैव वर्तते ।  
 हिताय सर्वलोकानां १०यथा तदवधारय ॥  
 आसाद्य शयनं ब्रह्मन् पातालतलसंस्थितः ।  
 वटमादाय चाग्नेयं योज्ञे संहरते जगत् ॥  
 वटमूलं समाश्रित्य प्रयागे सुरपूजिते ।  
 जगदेकार्णवं कृत्वा दिव्यमासाद्य पादपम् ॥  
 संतिष्ठते स भगवान् तस्मिस्तीरे क्षितौ द्विज ।  
 न्यग्रोधशयनं<sup>११</sup> चैव ध्यायेद दिव्यगतिप्रदम् ॥ (३६।३३८-३४२)

अस्यैवं शक्तिचतुष्टयान्वितत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽप्युक्तम्—

अनन्तशयनो नाम योजवतारो हरेरहम् ॥  
 स्थिता चतुर्दिशं तस्य चातुरात्म्ययुपेयुषी ।  
 लक्ष्मीश्चन्ता तथा निद्रा पुष्टिश्चेत्याख्यया युता ॥ (८।३५-३६)

इति ॥१६३-१६७॥

१. निःशेष-बक० बख० अ० उ० । २. व्यं तदधः स्थितम्-बक० बख० अ० उ० ।
३. रुद्धम्-बक० बख० अ० उ० । ४. प्रभुः-मु०, प्रभुम्-बक० बख० अ० उ० ।
५. युक्तम्—बक० बख० अ० उ० । ६. छुश-अ० । ७. तम्-बक० बख० अ० उ० ।
८. तम्-बक० बख० अ० उ० । ९. च्चेद-अ० म० । १०. यथावद-मु० । ११. शायिनं-मु० ।

यज्ञात्वा विनिवर्तन्ते जन्ममृत्युजराहुजः ।  
 नास्त्रैवस्त्रैर्धर्वजैर्येषां व्यक्तिर्वर्यका जगत्रये ॥ १६८ ॥  
 तेऽपि लाज्जनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्गिगोचरे ।  
 ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥ १६९ ॥  
 तनूरुहच्ये मूर्धिन कर्मिणां प्रतिपत्तये ।  
 अपि संसारिणो जनतोः स्वभावाद् वैष्णवस्य च ॥ १७० ॥  
 न जहात्यच्युतं लिङ्गं किं पुनर्विभवाकृतेः ।  
 सर्वेषां कामचारित्वं यदुक्तं वै मया पुरा ॥ १७१ ॥  
 तदङ्गिभुजवणीस्यवृहन्मध्याणुलक्षणम् ।  
 एकाद्यनेकसंख्यं च दृश्यं सर्वत्र सर्वदा ॥ १७२ ॥

फलकथनेन सहोक्तमर्थं निगमयति—प्रधानेति । एषां विभवदेवानामुक्तक्रमेण हस्तादिषु तत्त्वमूर्तिज्ञापकायुधादिलाङ्घनराहित्येऽपि तेषामङ्गिललाटादिषु लाज्जन-मस्ति, तत्सावधानं परीक्षितव्यमित्याह—नास्त्रैरिति द्वाभ्याम् । इदं श्लोकद्वयमीश्वर-(३१८२-१८३)-पारमेश्वर(१०९३-९५)योरपि विमानार्चनप्रकरणे प्रतिपादितम् । किन्तु तयोः केषुचित् कोशेषु—“अस्त्रैवस्त्रैर्धर्वजैर्येषाम्” इति नैकारो न दृश्यते । तल्लेखकप्रमादकृतम्, मूलविरुद्धत्वात् । यद्वा ईश्वरव्याख्याने तत्पाठस्यापि गतिर्दर्शितैव । पारमेश्वरव्याख्याने—“अङ्गिगोचरे स्थित्यासनादिना, ललाटे नेत्रत्रयादिना, अंसपट्टे भुजभेदेन, पृष्ठे शर्त्रचक्रादिना” इत्यादिक्रमेण व्याख्यातम् । तदसंगतम्, लाज्जनशब्दस्य चक्रादिपरत्वेनैव सार्वत्रिकप्रसिद्धे । उत्तरश्लोक एव “न जहात्य-च्युतं लिङ्गम्” (१२।१७।) इति कण्ठरवेणात्र वक्ष्यमाणत्वाच्च ॥ १६७-१७० ॥

उक्तमर्थं किपुनन्ययेन द्रढयति—अपीति । जन्तोरिति, विभवाकृतेरिति च कर्मणि षष्ठी । केवलवैष्णवजनस्यैव सामुद्रिकलक्षणपरीक्षणकाले हस्ताद्यवयवेषु चक्रादिलाङ्घनं दृश्यते । साक्षाद्विष्णोर्विभवावतारस्य तथा लाज्ज(नस्त्वेकः?ने कुतः) संदेह इति भावः । उक्तानां विभवदेवानां सर्वेषामपि “कृष्णरूपाष्टसंख्यानि” इतिवद् भुजवणीयुधादिभिरसंख्यातकामरूपधरत्वमाह—सर्वेषामिति सार्वेन ॥ १७०-१७२ ॥

१. चाङ्ग-मू० बक० बख० अ० उ० ।

२. नकरो-अ०, नाकरो-म० ।

३. शिरश्च-अ० ।

न त्वन्यरूपता कार्या करणं कामरूपतां ।  
 यस्मादस्ति पृथग्भूतो व्यापागे विश्वमन्दिरे ॥ १७३ ॥  
 देवानां स्थितिसंहारसूष्टिकाले स्वकः स्वकः ।  
 सत्येवं नियमे सिद्धे तथापि भगवद्वशात् ॥ १७४ ॥  
 चातुरात्म्यसमूहात् तु यत्पद्मदलभूस्थितम् ।  
 तथा विभवदेवानां मध्यात् पद्मदलेक्षण ॥ १७५ ॥  
 एकस्त्वनुग्रहार्थं तु शक्त्यात्मा भावितात्मनाम् ।  
 विभर्ति वहुभेदोत्थं रूपं सद्वाहनस्थितम् ॥ १७६ ॥  
 यदनुस्मरणाद् ध्यानादर्चनादचिरात् पुमान् ।  
 प्राप्नोति मनसोऽभीष्टं तन्मे निगदतः शृणु ॥ १७७ ॥  
 सत्यः सुपर्णो गरुडस्ताक्ष्यश्च विहगेश्वरः ।  
 पञ्चात्मकस्य ग्राणस्य विकारस्त्वेष पञ्चधा ॥ १७८ ॥

एवं सर्वेषां कामरूपवत्तापि नहि मूर्तिविपरीतज्ञानजननी, तत्तन्मूर्तिनिर्णयिक-  
 विजातीयस्वव्यापारसत्त्वादित्याह—न त्विति सार्वेन । यद्यप्येवं सर्वेषां कामरूप-  
 धरत्वनियमः सिद्धः, तथापि सर्वे देवौ युगपत् कामरूपधरा न भवन्ति, जाग्रद्वच्यूह-  
 वासुदेवादीनां मध्ये पद्मनाभादिविभवदेवानां मध्ये वा एको जगदेक्षणार्थं वक्त्रभुजास्त्र-  
 शक्तिवाहनभेदैर्बहुधा रूपं विभ्रन् शक्त्यात्मसंज्ञां भजतीत्याह—सत्येवमिति सार्धद्वा-  
 भ्याम् । यत्पद्मदलभूस्थितं जाग्रद्वच्यूहसं(ज्ञां?ज्ञं) चातुरात्म्यमित्यर्थः,

तत्पत्रमध्ये भगवान् जाग्रत्संज्ञे पदे त्वर्थै ।

यष्टव्यो भावनीयश्च यथा तदधुनोच्यते ॥ (५।४)

इति जाग्रद्वच्यूहस्य हि पद्मदलभूस्थितत्वमुक्तम् ॥ १७३—१७६॥

अथ प्रसक्तस्य वाहनस्य भेदान् तल्लक्षणं चाह—यदनुस्मरणादित्यादिभिर्भगव-  
 न्मयमित्यन्तैः । आ चाङ्गिगोचरात् चरणादारभ्य यस्य सर्वो देहः पौरुषः समस्तोऽपि  
 कायः पुरुषाकृतिरित्यर्थः । प्राणादैवतं प्राणाधिपतिरित्यर्थः । केकराक्षः केकरे वक्रे  
 अक्षिणी यस्य स तथोक्तः । “वलिरः केर्करे” (२।६।४९) इत्यमरः । केकरपदेनैव  
 वक्राक्षत्वे सिद्धेऽप्यत्र पृथगक्षिपदनिर्देशात् केकरशब्दस्य वक्रमात्रपरत्वं बोध्यम् ।

१. कारणं-मु० अटी० बक० बख० । २. ताम्-मु० अटी० बक० बख० ।

३. भूषितम्-अ० । ४. ‘सर्वेषां’ नास्ति-अ० । ५. वेदा-अ० । ६. विभ्रत् सन्-म० ।

७. त्वधः-अ० । ८. केकरः-अ० ।

आचाङ्गिगोचरात् सर्वे यस्य देहस्तु पौरुषः ।  
द्विभुजस्तुहिनाभश्च स सत्यः प्राणदैवतम् ॥ १७९ ॥  
सुपर्णः पद्मरागाभो निर्मलः स्वर्णलोचनः ।  
गरुडः काश्चनाभस्तु कुटिलभ्रणेक्षणः ॥ १८० ॥  
केकराक्षस्तु ताक्ष्यो वै प्रावृद्धजलदसन्निभः ।  
द्रवत्कनकनेत्रस्तु शबलाभश्च पञ्चमः ॥ १८१ ॥  
चतुर्भुजाः सुपर्णीयाः सौम्यरूपास्त्वनाकुलाः ।  
पतत्रिचरणाः सर्वे पक्षमण्डलमण्डिताः ॥ १८२ ॥  
लम्बोदराः सुपीनाङ्गाः कुण्डलाद्यस्तु भूषिताः ।  
कुटिलभ्रूसुवृत्ताक्षां वक्त्रतुण्डाः स्मिताननाः ॥ १८३ ॥  
अपानादिसमीरणामाधिपत्येन संस्थिताः ।  
महावला महाकाया रक्ततुण्डोऽत्र पञ्चमः ॥ १८४ ॥

पारमेश्वरव्याख्याने तु—“केकराक्षो भगवद्व्यानवशादधोन्मीलितलोचनः” इति  
लिखितम् । तद्विचारणीयम् । शबलाभः चित्रवर्णीभ इत्यर्थः । आद्यस्य सत्यस्य सव्यः  
करो वामहस्तः । आधेयचरणाधस्थः आधेयस्य निजस्कन्धाधिरूढस्य भगवतः पाद-  
पद्माधः स्थित इत्यर्थः । दक्षिणस्तु अक्षसूत्रेण भासितः । अत्र चकारद्वयेन कदाचिद्वाम-  
हस्तस्याप्यक्षसूत्रभासितत्वम्, दक्षिणस्याप्याधेयचरणाधः स्थितत्वं च संभवतीत्यर्थः  
मूच्यते—

आधेयचरणाक्रान्तो यदि वै दक्षिणः करः ।  
संचारो विहितो वामे त्वक्षसूत्रस्य वै तदा ॥ (१२१८९-१९०)  
इत्युक्तेः । नैनु—

स्वस्वाङ्गुण्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिना ।  
पुष्पाञ्जलिधराः सर्वे मुख्येन विहगोत्तमाः ॥

(इ० सं० ८४८; पा० सं० ८४७-४८)

इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः करद्वयेऽप्यक्षसूत्रधारणं स्यात्, किन्तु दक्षिणहस्ते भगव-  
चरणाक्रान्ते सति तदा वामहस्तस्थितस्याक्षसूत्रस्य संचारो गणनार्थं संचालनं स्यादि-  
त्यर्थः सरस इति चेन्न,

१. दैवतः—बक० । २. भस्तु—अ० उ० । ३. नीला—अ० । ४. क्षपत्र—मु० ।  
५. ‘नैनु’ नास्ति—अ० ।

आधेयचरणाधःस्थः सवय आद्यस्य वै करः ।  
 दक्षिणश्चाक्षसूत्रेण सुसितेन च भासितः ॥ १८५ ॥  
 एवमेव सुपर्णस्य परिज्ञेयं भुजद्वयम् ।  
 नाभ्युदेशोऽप्यरो वाम उत्तानस्तु सविस्मयः ॥ १८६ ॥  
 पुष्पस्तबकसम्पूर्ण ऊर्ध्ववक्त्रस्तु दक्षिणः ।  
 गरुडस्य द्रव्यं विद्धि हृदेशोऽजलिरूपिणम् ॥ १८७ ॥  
 तत्रैव सम्पुटाकारं चतुर्थस्य करद्वयम् ।  
 दक्षिणेऽमृतकुम्भस्तु वामे तु विषमः फणी ॥ १८८ ॥

आधेयचरणाधःस्थं यस्य पाणितलद्वयम् ।  
 निरस्तसूत्रं तं विद्धि वाहनं भगवन्मयम् ॥ (१२१९०-१९१)

इति वचनविरोधात् । भ(ग?)वदुक्तार्थे सिद्धे निरस्तसूत्रसंचारं तं विद्धीति वचनं (कथं) प्रवर्तते । स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोत्कतगणित्रोभयपाणिनेत्यत्रापि पुष्पाङ्गजलिप्रकरणादङ्गुष्ठ-द्वयप्रोत्तमेवाक्षसूत्रमिति ज्ञायते । यद्वां दक्षिणे वामे वाऽङ्गुष्ठोऽक्षसूत्रं धार्यमिति ज्ञापनार्थमङ्गुष्ठद्वयमप्युक्तमिति ज्ञेयम् ।

सुपर्णस्य भुजद्वयं मुख्यहस्तद्वयमेवमेव सत्योक्तलक्षणमेवेत्यर्थः । अपरो वामः पाश्चात्यो वामहस्तः सविस्मयः, विस्मयमुद्रान्वित इत्यर्थः । दक्षिणः पाश्चात्यो दक्षिण-हस्तस्तु पुष्पस्तबकसंपूर्णः, मन्दारपुष्पस्तबकान्वित इत्यर्थः । ऊर्ध्ववक्त्र उत्तानश्चेत्यर्थः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

सुपर्णः पश्चिमाभ्यां तु पाणिभ्यां दक्षिणादितः ।  
 मन्दारपुष्पस्तबकं दधद विस्मयमुद्रिकाम् ॥ इति ।  
 (ई० सं० ८४९; पा० सं० ८४८-४९)

गरुडस्य द्रव्यं पश्चात्करद्वयमित्यर्थः । चतुर्थस्य करद्वयं ताक्षर्यस्य पश्चात्करद्वय-मित्यर्थः । पञ्चमस्य विहगेश्वरस्य दक्षिणे पश्चाददक्षिणकरे । वामे पश्चाद्वामकर इत्यर्थः । त्रयाणां गरुडताक्षर्यविहगेश्वराणाम् । शेषं द्वयमवशिष्टं मुख्यहस्तद्वयम् । द्वयोः समं सत्यसुपर्णयोः समम्, तन्मुख्यहस्तयोः सदृशमिति यावत् ।

तनु गरुडस्य द्वयमित्याद्युक्तमेव मुख्यहस्तद्वयं स्यात् । त्रयाणां शेषं पश्चात्करद्वयं द्वयोः सुपर्णपश्चात्करयोः सदृशमित्यर्थः सरस इति चेन्न, तथाऽर्थवर्णने तत्त-

१. हेशपरो—मु० अटी० । २. इतः परम् ‘आधेयचरणाधःस्थः’ इति श्लोकार्धस्य पुनरावृत्तिरत्र दृश्यते—मु० अटी० बक० बख० ।

पञ्चमस्य द्रव्यं शेषं त्रयाणां च द्रव्योः समम् ।  
 आधेयचरणाक्रान्तो यदि वै दक्षिणः करः ॥ १८९ ॥  
 सञ्चारो विहितो वामे त्वक्षसूत्रस्य वै तदा ।  
 आधेयचरणाधस्थं यस्य पाणितलद्वयम् ॥ १९० ॥  
 निरस्तसूत्रं तं विद्धि वाहनं भगवन्मयम् ।  
 अनुग्रहपरस्त्वास्ते पक्षिपक्षाब्जविष्टरे ॥ १९१ ॥

त्स्कन्धाधिरूढभगवच्चरणारविन्दयोराधारासिद्धेः; “पञ्चमो विहगेश्वरः । दक्षिणेन सुधाकुम्भं वामेन तु फणीश्वरम्” (ई० सं० ८५१; पा० सं० ८५०-५१) इतीश्वरपार-मेश्वरोपबृहणविरोधाच्च ।

ननु किं तर्हि मूलोपबृहणयोः सर्वत्रैकार्थ्यं संभवति ? अत्र भवदुक्तरीत्या विरोधे परिहृतेऽपि,

तथाविधाभ्यां गरुडस्ते धत्ते व्यत्ययेन तु ।  
 ताच्चर्यः पश्चिमयोर्नित्यं धत्ते दक्षिणवामयोः ॥  
 कदूं तथाऽमृतं कुम्भम् (ई० सं० ८५०-५१; पा० सं० ८४९-५०)

इति वचनम्,

स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिना ।  
 पुष्पाञ्जलिधराः सर्वे मुख्येन विहगोत्तमाः ॥  
 (ई० सं० ८४८; पा० सं० ८४७-४८)

इति वचनं च मूलविश्वदं भवति । तत्र का गतिरिति चेत्, सत्यम् । उपबृहण-वचनविरोधेऽपि न प्रत्यवायः । तथाहि—तत्र सत्यादीनां प्रधानपक्षीश्वरपरिवारत्व-दशाप्रकरणाद् भगवद्वाहनत्वस्य तदानीमप्राप्तत्वाच्च सर्वेषामपि मुख्यहस्ताभ्यां पुष्पाञ्जलिधरत्वमेवोक्तम्, सुपर्णविहगेश्वरयोर्मूलानुसारेणैव सामञ्जस्यात् । पश्चात्कराभ्यां पुष्पस्तबकविस्मयमुद्दिकाधारणं सुधाकुम्भफणीश्वरधारणं चोक्तम् । गरुड-तार्क्ष्ययोस्तु मुख्यहस्ताभ्यामेव पुष्पाञ्जलिधारणस्योक्तत्वात् पुनः पश्चात्कराभ्यामञ्जलिपुट्ठीरणस्यासामञ्जस्यात् सुपर्णविहगेश्वरोक्तलाञ्छनयोरेवाभ्यां व्यत्ययेन धारणमुक्तमिति ज्ञेयम् । भगवद्वाहनत्वदशायां सैत्यादीनां ध्यानं तु यथामूलं विलिखितमीश्वरे ॥ १७७-१९१ ॥

१. वारण—अ० । २. सुवर्ण—अ० । ३. स्यादीनां तु—अ० । ४. अष्टामाध्यायेऽस्मिन्नेव प्रकरणे ।

स्वतेजोनिजसामर्थ्यमैसूरकवरान्विते ।  
 पैश्चासनादिना चैव केवलं वा श्रियान्वितः ॥ १९२ ॥  
 सुन्यक्तावयवस्थित्या विद्धि तं गरुडासनम् ।  
 मेद्भूः सोदराऽस्यैव गोपिता वेगगामिना ॥ १९३ ॥  
 वीर्यपातात् स्वशिरसा गच्छतश्चाण्डजेन तु ।  
 लोकान्तराणां कार्यार्थं वात्सल्याद् ध्यायिनामपि ॥ १९४ ॥  
 प्रत्यक्षदर्शनार्थं तु स्मृतो गरुडवाहनः ।  
 तस्माद् भगवतो विष्णोरेवं रूपधरस्य तु ॥ १९५ ॥  
 समाहूतस्य सिद्धवर्थमासीनां संस्मरेत् स्थितिम् ।  
 उपसंहृतवामाङ्गिः कञ्जस्थो वा खगस्थितः ॥ १९६ ॥  
 वाममिच्छाफलानां यो ध्वंसयत्यन्यचिन्तितम् ।  
 आजानोर्दक्षिणस्यैवमविक्षिप्तः स्मृतोऽन्युतः ॥ १९७ ॥  
 आमोक्षात् सर्वसिद्धीनां दक्षिणोऽध्यायिनां भवेत् ।  
 सर्वमेव ऋजुस्थित्या संस्थितश्चार्थिना स्मृतेम् ॥ १९८ ॥

---

एवमुक्तलक्षणे वाहने भगवदवस्थानक्रममाह—अनुग्रहेति द्वाभ्याम् । स्वतेजो-  
निजसामर्थ्यमेव मसूरकैवरमास्तरणोत्तमं तेनान्विते ॥ १९१—१९३ ॥

भगवन्मेद्भूप्रदेशस्य पक्षीश्वरशिरसा गोपने प्रयोजनमाह—मेद्भूरिति । सोदरा  
उदरसहितेत्यर्थः । वीर्यपातादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अण्डजेन पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः  
॥ १९३—१९४ ॥

भगवतो गरुडारोहणप्रयोजनमाह—लोकेति ॥ १९४—१९५ ॥

साधकेन तत्तफलसिद्धवर्थं भगवदासनभेदः स्मर्तव्य इत्याह—तस्मादिति  
॥ १९५—१९६ ॥

आकुञ्चितवामपादो भगवाननिष्टं निवारयतीत्याह—उपसंहृतेति । वामं  
प्रतिकूलमित्यर्थः । कुञ्चितदक्षिणाङ्गिस्त्वष्टं प्रापयतीत्याह—आमोक्षादिति । दक्षिण  
उदार इत्यर्थः । तदुभयं विना ऋजुस्थितो भगवाननिष्टनिवारमिष्टप्रदानं च सर्वं

- 
- |                               |                                     |
|-------------------------------|-------------------------------------|
| १. संसूचककरान्वितः—मु० अटी० । | २. पञ्चव्योर्विगर्यस्तः पाठः—अटी० । |
| ३. नं—मु० अटी०, ना—वक० बख० ।  | ४. स्थितिः—वक० बख० ।                |
| ५. स्मृतः—मु० अटी० ।          |                                     |
| ६. रवमुमास्तरेणोक्तमतेना—अ० । |                                     |

स्वस्तिकाद्यैर्भवत्येव<sup>१</sup> किन्तु ते वाहनं विना ।  
 विहिताः पीठकहारसिंहासनगतस्य च ॥ १९९ ॥  
 विहगाधिपतिश्वात्र योगैश्वर्याद् विभर्ति च ।  
 सवक्त्रं भुजवृन्दं तु नागेन्द्रास्त्रवरान्वितम् ॥ २०० ॥  
 विभोराजावशेनैव तुष्ट्यर्थं वा स्वयं विभोः ।  
 जगज्जयोदयार्थं तु शान्तये शरणैषिणाम् ॥ २०१ ॥  
 विभिन्नेन च रूपेण नानालोकान्तरेण च ।  
 अनिरुद्धगतिर्वारो विचरयेक एव हि ॥ २०२ ॥  
 तदारूढस्य यद् रूपं शक्तीशस्य च सम्प्रति ।  
 अनेकभेदभिन्नं तु निबोध गदतो मम ॥ २०३ ॥  
 संयच्छन्तं सदा शान्तिं भविनां दक्षिणेन तु ।  
 प्रोद्धहन्तं च वामेन शङ्खं पूर्वोक्तक्षणम् ॥ २०४ ॥  
 द्विभुजस्य त्विदं रूपं शक्तीशस्य तु केवलम् ।  
 रूपेणानेन च पुनः षोढा समुपयाति<sup>२</sup> च ॥ २०५ ॥  
 सह कान्तागणेनैव त्वेकाद्येन पृथक् पृथक् ।  
 प्राणवल्लक्ष्म्या समेतं यत्तदेकं रूपमैश्वरम् ॥ २०६ ॥  
 श्रीपुष्ट्योरथं मध्यस्थं द्वितीयं परिकीर्तितम् ।  
 श्रियादिमायानिष्ठेन चतुष्कर्णावृतं परम् ॥ २०७ ॥

करोतीत्याह—सर्वमित्यर्थेन । एवं स्वस्तिकाद्यासनभेदा वाहनं विना पीठाधिरुद्धस्यापि संभवन्तीत्याह—स्वस्तिकाद्यैरिति ॥ १९६—१९९ ॥

स्वाधिरुद्धशक्तीश इव पक्षीशोऽपि तदाज्ञया निखिलजगत्संरक्षणार्थं वक्त्रभुजायुधादिभिर्विविधस्वरूपः स्वयमेक एव सर्वत्र विचरतीत्याह—विहगाधिपतिरिति त्रिभिः ॥ २००—२०२ ॥

शक्तीशस्य रूपभेदान् शृण्वत्याह—तदारूढस्येति ॥ २०३ ॥

पूर्वं केवलं द्विभुजरूपं तस्य लक्ष्म्यादिभिः षोढा भेदांश्चाह—संयच्छन्तमित्यादिभिः ॥ २०४—२०७ ॥

१. त्येव—मु० अटी० । २. साम्प्रतम् अटी० उ० । ३. यान्ति—मु० अटी० ।  
४. ष्केण वृत्तं—मु० अटी० बक० बख० ।

शुद्धयादिकेन पटकेन चतुर्थं विद्वि संवृत्तेम् ।  
 पुष्ट्यन्तेन श्रियाद्येन त्वष्टकेन तु पञ्चमम् ॥ २०८ ॥  
 लक्ष्म्याद्येन द्विषट्केन षष्ठं विद्वि समन्वितम् ।  
 ३ श्रीदेवी कीर्तिदेवी च जयादेवी हलायुध ॥ २०९ ॥  
 चतुर्थी भगवन्माया विश्वस्यास्य निवन्धनी ।  
 शुद्धिनिरञ्जना नित्या ज्ञानशक्त्यपराजिते ॥ २१० ॥  
 प्रकृतिः सुन्दरी पट्कमित्युक्तं सर्वसिद्धिदम् ।  
 लक्ष्मीः शब्दनिधिः सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी ॥ २११ ॥  
 यशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिदाष्टकम् ।  
 द्विषट्कं वैभवे योगे देवीनां कीर्तिंदं हि यत् ॥ २१२ ॥  
 लक्ष्म्याद्यं तच्च बोद्धव्यं भेदेऽस्मिन् पारमेश्वरे ।

श्रियादिचतुष्टयस्य शुद्धयादिषट्कस्य लक्ष्म्याद्यष्टकस्य च नामधेयान्याह—  
 श्रिग्रेति (त्रिभिः ? पञ्चभिः) । शब्दनिधिः सरस्वतीत्यर्थः ॥ २०७-२१२ ॥

लक्ष्म्यादिद्विषट्कं पूर्वं नवमपरिच्छेद ( ६।८५ ) एवोक्तं द्रष्टव्यमित्याह—  
 द्विषट्कमिति । वैभवे योगे विभवदेवताकथनप्रकरण इत्यर्थः ।

नन्वेवं व्याख्यानं सात्वतोपबृहणलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम्, यतस्तत्र—

एकधा द्विचतुर्धा च पोढा चैव तथाष्टधा ।  
 पुनर्द्वादशधा चैव तत्र नामानि मे श्रृणु ॥  
 श्रीनामि द्विभुजस्याहम्ङ्गस्था वरवर्णिनी ।  
 तस्यौभयतो रूपे श्रीश्च पुष्टिश्च वासव ॥  
 चतुर्दिशं तु तस्यैव श्रीः कीर्तिश्च जया तथा ।  
 मयेति कृत्वा रूपाणि भुज्येऽहं<sup>१</sup> तेन विष्णुना ॥  
 तस्यैव कोणघटकस्था षोडाझं शृणु नाम च ।  
 शुद्धिनिरञ्जना नित्या ज्ञानशक्तिश्च वासव ॥  
 तथाऽपराजिता चैव षष्ठी तु प्रकृतिः परा ।  
 तस्यैव चाष्टधा दिक्षु साहं रूपैर्व्यवस्थिता ॥

१. मध्यादिकोण—अटी० । २. साम्प्रतम्—मु० अटी० । ३. श्रिया विमलकीर्तिर्जय-  
 लक्ष्मीर्जलाशयः—बक०, श्रिया विमलकीर्तिं जया लक्ष्मीहलायुधः—अ० उ० । ४. मुर्क्क  
 चेत्य—मु० अटी० । ५. मङ्ग—अ० म० । ६. भुज्येयं—अ० म० ।

लक्ष्मीः सरस्वती सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी ।  
 प्रशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिरष्टमी ॥  
 \*कोणद्विषट्के तस्यैव स्थिता द्वादशाऽस्म्यहम् ।  
 श्रीश्च वौंगोश्वरी कान्तिः क्रियाशक्तिविभूतयः ॥  
 इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च । (८२०-२७)

इति श्रीसात्वताष्टमपरिच्छेदोवतं (८३१-३२) लक्ष्मीवागीश्वर्यादिर्द्विषट्कमेव प्रतिपादितम्, अतो वैभवयोग इत्यत्रापि विभोरयं वैभव इति भगवत्संबन्धिनि व्रतार्चन इत्येवार्थो वर्णनीय इति चेन्न, सत्यं तन्नायं भवद्वोषः, किन्तु लक्ष्मीतन्त्रलेखकदोषः । यतस्तेन “लक्ष्मीः पुष्टिर्दया निद्रा” (९८५) इत्यादिश्लोकस्थाने प्रमादात् “श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः” (८३१-३२) इत्यादिश्लोको विलिखितः । यद्यपि तदेव भवता समर्थितम्, तथापि त्रयोदशपरिच्छेदे ध्यानप्रकरणे (१३३६-४३) नवमपरिच्छेदोक्तलक्ष्मीपुष्टिश्वादिद्विषट्कस्यैव कण्ठरवेण वक्ष्यमानत्वान्त भवतोऽभिमतं सिद्धयति ।

ननु च लक्ष्मीतन्त्रकोशेषु सर्वत्राप्येकरूपः पाठः परिदृश्यते, कथं तस्य प्रामादिकत्वमिति चेन्न, प्रथमकोशानुसारेण सर्वत्रापि प्रामादिकस्यैव प्रसृतत्वात् । यथा पारमेश्वरकोशेषु सर्वत्राप्यावरणदेवतालक्षणाध्याये—“कुन्दावदातं कमलम् (६२५९) इत्यादिप्रसिद्धकमलध्यानश्लोक एव “कुन्दावदातं मुसलम्” इति मुसलध्यानपरत्वेन विलिखितः प्रामादिकः परिदृश्यते, तथाऽयमपीति ज्ञेयम् ।

ननु कुन्दावदातं कमलमिति कुत्र प्रसिद्धमिति चेत्, पारमेश्वरार्चनाध्याय (६२५९) एव पश्यतु भवात् ।

ननु च किं तावता, कमलमुसलयोरेक एव ध्यानश्लोकः स्यादिति चेत्, किं मुसलकिसलयमपेक्षसे । यतः कमलमुसलादीनां प्रत्येकं ध्यानश्लोकानन्त्रैव वैक्षयति । एतदनुसारेणैव पारमेश्वरे समस्तायुधध्यानश्लोका विलिखिताः ।

तेनु पारमेश्वरोक्तं न प्रामादिकम्, अपि तु संहिताकारस्यैवाभिमतम् । तथाहि पौष्करे—“शिशिरास्त्रकरं स्मरेत्” (४१५५) इति सोमस्य शिशिरम्<sup>१</sup>, “दण्डहस्तं प्रजापतिम्” (४१५८) इति प्रजापतेमुसैलं च प्रतिपादितम् । जयाख्ये (७८४-८७) तु—सोमस्य मुदगरं प्रजापतेः कमलं च प्रतिपादितम् । उभयत्राऽप्यायुधध्यानमुक्तम् । तदेव पारमेश्वरे शिशिरकमलयोः प्रतिपादितमिति चेत्, मर्मज्ञोऽसि । तथापि शिशिर-मुदगरयोः पर्यायत्वबुद्ध्या कदाचित् तैर्था ध्यानकथनं संभवेत् । तथा कमलमुसलयो-रभेदबुद्धेरवतरणासंभवात् । तल्लेखकप्रमादकृतमेव । अथवा जयाख्योक्तपक्षान्तर-ज्ञापनार्थं मुदगरध्यानश्लोके शिशिरपदप्रक्षेपश्चैवमेव बोध्यः । एवं चोभयथापि प्रामादिकत्वं सिद्धम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः ॥ २१२-२१३ ॥

१. कोशषट्के कृत-अ०, कोशषट्के तु-म० । २. कामे-म० । ३. त्रयोदशे परिच्छेदे ।  
 ४. ननु च-म० । ५. शीलं-अ० । ६. महादं च-अ० । ७. तदा-अ० ।

पुनर्चतुर्भुजस्यैवं विज्ञेयं भेदसप्तकम् ॥ २१३ ॥  
 किन्तु वै शङ्खचक्रे द्वे वामहस्ते द्वयेन तु ।  
 जगत्यस्मिन् हि यच्छन्तं शान्तिमायेन शाश्वतीम् ॥ २१४ ॥  
 प्रोद्धवन्तं द्वितीयेन त्वपसव्येन वै गदाम् ।  
 भूयः करचतुष्केण पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ॥ २१५ ॥  
 चतुर्णामब्जपूर्वाणामन्योन्यत्वेन धारणात् ।  
 धत्ते द्वादशधा रूपं निःशक्तिंकं च केवलम् ॥ २१६ ॥  
 पुनर्द्वादशकं तत्त्वं सह शक्तिचयेन तु ।  
 स्थितमेकाधिकेनैव षोडा कमललोचन ॥ २१७ ॥

चतुर्भुजस्यापि द्विभुजवत् केवलरूपमेकम्, लक्ष्म्यादिभिः सहितं रूपं षोडा चाहत्य सप्तधा रूपं ज्ञेयमित्याह—पुनरित्यर्थेन । चतुर्भुजस्य लाङ्घनचतुष्टयधारणक्रममाह—किन्त्विति सार्थेन<sup>१</sup> । शान्तिं यच्छन्तमित्यनेनैव कमलधारणं सूचितं हि भवति, “शमं नयति संतापं कमलेनेन्दुकान्तिना” (१२१२) इति पूर्वं शक्त्यात्मलक्षणोक्तेः ॥ २१३—२१५ ॥

एषां कमलादीनां परस्परव्यत्यस्तधारणेन चतुर्भुजरूपं द्वादशधा संभवतीत्याह—भूय इति सार्थेन । द्वादशधा पद्मादिधारणक्रमस्तु मुख्यदक्षिणहस्तमारभ्य मुख्यवामकरान्तम्—१. पद्मगदाचक्रशङ्खाः, २. पद्मशङ्खचक्रगदाः, ३. पद्मगदाशङ्खचक्राणि, ४. पद्मचक्रशङ्खगदाः, ५. पद्मचक्रगदाशङ्खाः, ६. पद्मशङ्खगदाचक्राणि, ७. शङ्खगदाचक्रपद्मानि, ८. शङ्खपद्मचक्रगदाः, ९. शङ्खचक्रगदापद्मानि, १०. शङ्खपद्मगदाचक्राणि, ११. शङ्खगदापद्मचक्राणि, १२. शङ्खचक्रपद्मगदारूपं क्रमेण ज्ञेयाः ॥ २१५—२१६ ॥

इदमेकैकं रूपं पुनः प्रत्येकं लक्ष्म्यादिशक्तिभेदैः षोडा भवतीत्याह—पुनर्द्वादशकमिति सार्थेन । शक्तिं (द्व?च) येन देवोसमूहेनेत्यर्थः । अत्र चयेनेति जात्येकवचनम्, द्विक्चतुष्कषट्कषट्कद्विषट्कभेदभिन्नानां शक्तिसमूहानामुक्तत्वात् । एकाधिकेन लक्ष्म्याधिकेनेत्यर्थः । “प्राग्वल्लक्ष्म्या समेतं यत्तदेकं रूपमैश्वरम्” (१२१०६) इति पूर्वोक्तेः । समूहस्यानेकात्मकत्वादेकाधिकेनेति शक्तिं (द्व?च) यस्य पृथग्विशेषणमुक्तमिति ज्ञेयम् । एवं चतुर्भुजेनैव वपुषा बहुधा स्थितः । केवलरूपैर्द्वादशभिर्लक्ष्म्यादिशक्तिसहितैर्द्विसप्तिरूपैराहत्य चतुरशीतिरूपभेदैरन्वित इत्यर्थः ॥ २१७—२१८ ॥

१. हस्तद्व-अ० । २. कीकं-अ० । ३. शक्तिद्वयेनेति सार्वत्रिकः पाठः ।  
 ४. पुनरिति द्वाल्लक्ष्म्यम्-अ० । ५. ‘सार्थेन’ नास्ति-अ० । ६. मुखं-अ० ।

एवं चतुर्भुजेनैव वपुषा बहुधां स्थितः ।  
 सप्तधा षड्भुजाद्येन भुजाधिक्येन वै पुनः ॥ २१८ ॥  
 स्थितस्त्वनेकधा देवो यथा तदवधारय ।  
 षड्बाहुरष्टवाहुश्च दशद्वादशवाहुधृक् ॥ २१९ ॥  
 द्विसप्तषोडशकरस्तथाष्टादशभूषितः ।  
 केवलादिश्च सर्वेषां प्राग्वद् भेदस्तु सप्तधा ॥ २२० ॥  
 तन्मे शृणु यथावस्थमस्त्रविन्यासचिह्नितम् ।  
 षड्भुजो दक्षिणैर्धत्ते निस्त्रियां कमलं गदाम् ॥ २२१ ॥  
 सशरं कामुकं शङ्खं वामैरस्त्रोत्तमं त्रिभिः ।  
 गदामुसलचक्रासीनषट्वाहुस्तु दक्षिणैः ॥ २२२ ॥  
 शङ्खमष्टकशपाशौ च वामैस्तु सशरं धनुः ।  
 खड्गवाणगदापञ्चक्षकितयुवतास्तु दक्षिणाः ॥ २२३ ॥  
 दशवाहोर्धनुशशङ्खचक्रखड्गाश्च सामयाः ।  
 षण्णां दक्षिणहस्तानां द्विषट्कभुजभूषितः ॥ २२४ ॥  
 सन्धत्ते कमलं खड्गचक्रवाणगदाष्टकशान् ।  
 शङ्खपाशामयान् शक्तिं सव्यानां मुसलं धनुः ॥ २२५ ॥  
 चतुर्दशभुजो धत्ते वामे तु भुजसप्तके ।  
 शङ्खं गदाष्टकशौ पाशं मुसलं मुदगरं हलम् ॥ २२६ ॥  
 दण्डाब्जकुलिशान् चक्रं खड्गशक्तिपरश्वधान् ।  
 विमृयात् षोडशभुजो मुख्यहस्तैः समुद्गरान् ॥ २२७ ॥

पुनः षड्भु(जाः?जायान्) अष्टादशभुजान्तान् सप्तस्त्रभेदान् शृण्वत्याह—  
 सप्तधेति ॥ २१८-२१९ ॥

षड्भुजादीनां सप्तानामपि प्राग्वत् केवलत्वेन सशक्तिकर्त्वेन च सप्तधा भेदाः  
 संभवन्तीत्याह—षड्बाहुरिति सार्धेन ॥ २१९-२२० ॥

षड्भुजादीनां आयुधभेदानाह—तन्मे शृणु यथावस्थमित्यारभ्य साधूनां

१. धृत—मु०, भाक्—अटी० । २. भेदतः—अटी० । ३. खड्गं—अ० । ४. छुशं—बख०  
 अ० उ० । ५. शम—उ० ।

अभयं कमलं खड्गं शक्तिदण्डवराङ्कुशान् ।  
 शङ्खचक्रगदावज्रपाशलाङ्गुलकामुकान् ॥ २२८ ॥

वरं कराष्टकेनैव थते सव्येन विश्वजित् ।  
 पश्चखड्गगदावज्रचक्रबाणवराङ्कुशान् ॥ २२९ ॥

दण्डं दक्षिणहस्तैस्तु धन्तेऽष्टादशबाहुङ्गक् ।  
 शङ्खाभैर्यौ हलं शक्तिं मुद्गरं मुसलं थनुः ॥ २३० ॥

कुठारमतुलं पाशं विभुवर्गमभुजैरमून् ।  
 विभर्ति दुष्टशान्त्यर्थं साधूनां पालनाय च ॥ २३१ ॥

भूयो विशेषरूपाणि त्वेऽन्येव विशेषतः ।  
 स्ववक्त्रद्वयमात्रेण नयत्यमितविक्रमः ॥ २३२ ॥

सिंहतेजोऽसहिष्णूनां पितृयाणरतोत्मनाम् ।  
 अङ्गनादिकसंसारभीतानां वै हिताय च ॥ २३३ ॥

आमृते वै ग्रीँहे भागे तैजसे नित्यदक्षिणे ।  
 वामददक्षिणवक्त्राभ्यां कुर्याद् वै व्यत्ययं प्रभुः ॥ २३४ ॥

वृद्धयेऽपि च शान्त्यर्थं तेजसः पश्चलोचनं ।  
 हेतुनानेन भगवान् बहिरन्तर्गतेन वै ॥ २३५ ॥

पालनाय चेत्यन्तम् ॥ २२१-२३५ ॥

उक्तान्येतानि रूपाणि पुनर्वक्त्रद्वयमात्रेण विशेषत्वं प्रापयतीत्याह—भूय इति<sup>१०</sup> ॥ २३२ ॥

दक्षिणोत्तरवक्त्रयोर्वर्यत्यासभेदमाह—सिंहेति<sup>११</sup> ‘सार्धद्वाभ्याम् । स्वदक्षिणभाग-स्यैव तेजोमयत्वात् पुनस्तत्रातितेजोमयं सिंहवक्त्रमप्यस्ति चेत्, उपासकास्तदुभयं तेजः संमिलितं सोदुं न शक्नुवन्तीति तेषां मुमुक्षुणामुपासकानां हितार्थं तेजोमयं सिंह-वक्त्रममृतम् (ये? ये) स्ववामभागे, वराहमुखं तैजसे दक्षिणभागे च प्राप्नोतीति भावः ॥ २३३-२३५ ॥

१. शरा—अ० उ० । २. धृत—मु० अटी० । ३. भयं—उ० । ४. एता—उ० ।  
 ५. गता—वक०, तरा—वख० । ६. अमृते—मु० अटी० बक० बख० । ७. ग्रहभौगेस्तै—मु० ।  
 ८. चनः—अ० उ० । ९. तेज—अ० उ० । १०. इति सार्धेन—म० । ११. सिंहस्येति—अ० ।  
 १२. ‘सार्ध’ नास्ति—म० ।

अग्नीषोमौ समीकृत्य त्वास्ते साधारणात्मना ।  
 व्यक्तं वागीशवक्त्रं तु नीत्वैव शिरसोपरि ॥ २३६ ॥  
 पञ्चवक्त्रेण वपुषा त्वामूलाद् यात्यनेकधा ।  
 शब्दब्रह्मरतानां च ध्यायिनामात्मसिद्धये ॥ २३७ ॥  
 आ पातालाच्च सर्वेषां लोकानां पूरणाय च ।  
 नानावपुर्धरो भूयस्त्वैकैकैनैष याति च ॥ २३८ ॥  
 भेदेन रूपमाश्रित्य दशधा च सितादिक्षम् ।  
 विना वक्त्रैर्नृसिंहाद्यः सर्वज्ञमहिमान्वितः ॥ २३९ ॥  
 विभर्ति रूपाण्येतानि त्वनिरुद्धस्तु ताक्ष्यक्षम् ।  
 एवमाक्रम्य गरुडं प्रद्युम्नो विभृयात् त्वं तुम् ॥ २४० ॥  
 नानात्वमपि चाभ्येति सङ्कर्षणः सुपर्णगः ।  
 देवः सत्योपरि स्थित्वा विश्वात्मा यात्यनेकधा ॥ २४१ ॥

एवं मुखद्वयव्यत्ययेन हेतुना समीकृततेजोऽमृतमयविग्रहः सन् सर्वसेव्यो भवती-  
 त्याह—हेतुनेति ॥ २३५—२३६ ॥

शब्दब्रह्मासक्तोपासकानुग्रहार्थमूर्धवच्चतुर्मुखमध्ये हयग्रीववक्त्रं च विभर्ती-  
 त्याह—व्यक्तमिति साधेन ॥ २३६—२३७ ॥

वर्णभेदं चाह—आपातालादिति साधेन । पातालादिसमस्तलोकेषु स्वयमेव  
 गत्वा गत्वा संरक्षितुमिच्छास्त्वधर एष भगवान् एकैकेन भेदेन भुजास्त्रशक्तिवक्त्र-  
 भेदेनैकैकं रूपमाश्रित्य दशधा सितादिकं च याति । “युगानुसारिकान्तिश्च” (१२।१।)  
 इति पूर्वोक्तक्रमेण तत्तद्युगानुसारिण्याऽवस्थया सितरक्तादिवर्णभेदं च प्राप्नो-  
 तीत्यर्थः । एवं च पूर्वोक्तैर्भूजवक्त्रवर्णः शक्तीशस्याशीत्युत्तरचतुःशताधिकसहस्ररूप-  
 भेदा भवन्तीति ज्ञेयम् ॥ २३८—२३९ ॥

अथ “चातुरात्म्यसमूहात् यत्पद्मदलभूस्थितम्” (१२।१।७५) इत्याद्युक्तप्रकारेण  
 वासुदेवादीनां मध्येऽन्यतमस्य शक्त्यात्मत्वे तस्य नृसिंहादिवक्त्रद्वयं विना भुजास्त्रशक्ति-  
 भेदान्वितत्वं सर्वं प्राप्वदेव, वाहनं तु सत्यादिक्रमेण विभिन्नमित्याह—विना वक्त्रै-  
 रिति त्रिभिः ॥ २३९—२४२ ॥

१. त्मनाम्—मु० बक० बख० उ० । २. व्यक्तिमिति सार्वत्रिकः पाठः । ३. स्त्रवधिके—  
 मु० अटी० बक० बख० । ४. न्वितम्—वक० । ५. ताक्ष्यकः—बक० बख० अ० ।  
 ६. तनुः—म० अ० । ७. मभि चात्येति—मु० अटी० । ८. सवर्णकः—अ०, सुपन्नगः—उ० ।

सुरसिद्धमनुष्यादिभूतानां दुःखशान्तये ।  
 चतुर्णि योनिजा वर्णस्ते तु मूर्त्यन्तरेषु च ॥ २४२ ॥  
 चतुर्भुजस्यादिमूर्तविष्णोमूर्त्यन्तरस्य च ।  
 वर्णलाङ्घनतुल्यत्वे भेदकृत तंदध्वजद्वयम् ॥ २४३ ॥  
 अपमव्यस्थितेनैव तत्त्वालाख्यध्वजेन तु ।  
 स्वरूपभेदमाप्नोति स्वमूर्तिः सह सर्वदा ॥ २४४ ॥  
 यस्मात् कार्यवशेनैव मूर्तीनामपि पाणिगाः ।  
 चतुःपदादयोऽमूर्ता मूर्तीः शान्तास्तथोद्यताः ॥ २४५ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवताध्यानं नाम  
 द्वादशः परिच्छेदः ॥

वासुदेवाद्युक्तं शुक्लादिवर्णचतुष्टयं शक्त्यात्ममूर्त्यन्तरेष्वपि संभवतीत्याह—  
 चतुर्णामित्यर्थं ॥ २४२ ॥

चतुर्भुजस्य वासुदेवस्य तथाविधशक्त्यात्ममूर्तेश्च वर्णलाङ्घनतुल्यत्वेन मूर्ति-  
 संदेहे प्राप्ते तत्तदध्वजद्वयं तत्तन्मूर्तिभेदज्ञानजनकं भवतीत्याह—चतुर्भुजस्येति ॥ २४३ ॥

सर्वत्रैवं तद्विक्षिणभागस्थध्वजेन तन्मूर्तिभेदो ज्ञेय इत्याह—अपसव्येति ॥ २४४ ॥

तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । वासुदेवादोनां हस्तस्थितपद्मादिलाङ्घनानि  
 प्रकृतकार्यनुसारेण कदाचित् शान्तरूपमङ्गीकृत्यामूर्तीनि भवन्ति, कदाचिदिच्छौ-  
 रूपमङ्गीकृत्य मूर्तीभूतानि भवन्ति । तस्माल्लाङ्घनैर्भेदो न ज्ञायते, तत्तदध्वजेनैव  
 तत्तन्मूर्तिभेदो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ २४५ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यद्गिरीशाचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये द्वादशः परिच्छेदः ॥

१. सद्-अटी०, स-मु० बक० बख० अ० उ० । २. मिद-मु० अटी० बक० बख० ।  
 ३. पञ्च-उ० । ४. दितर-म० ।

## त्रयोदशः परिच्छेदः

श्रीभगवानुवाच

यांगेऽस्मि त्वेकपीठे वै सर्वसामान्यलक्षणे ।  
 ध्येया विशेषपैण किरीटाद्यखिलास्तु वै ॥ १ ॥  
 चतुर्भुजाश्चतुर्वक्त्रा वस्त्रसंभूषणान्विताः ।  
 पुनर्विशेषयागानामर्चनावसरे वैपुः ॥ २ ॥  
 एकाननं च सर्वेषां द्विभुजं विहितं सदा ।  
 किरीटः सौम्यवदनः काञ्चनाभो महातनुः ॥ ३ ॥  
 भाभिराकृतियुक्ताभिनन्नासूपाभिरावृतः ।  
 स्थितो वैद्याधरीयेण स्थानंकेनान्तरिक्षगः ॥ ४ ॥

अथ त्रयोदशः परिच्छेदो व्याख्यास्थिते । अत्र प्रथमं किरीटादिभूषणानां लाङ्छनानां च सर्वेषामपि स्वातन्त्र्येतन्नार्चनप्रकरणे चतुर्भुजत्वं चतुर्भुजत्वं च ध्येयम्, पारतन्त्र्येणार्चनप्रकरणे तु द्विभुजत्वमेकमुखत्वमेव ध्येयमित्याह—याग इति सार्वद्वाभ्याम् । अत एव जयाख्ये (१३।१५।) लक्ष्मीतन्त्रादिषु (३।८।६८) भोगयागप्रकरणे कौस्तुभादीनां द्विभुजत्वमेवोक्तम् ।

ननु तर्हीच्चरणारमेश्वरयोर्भोगयागप्रकरणेऽपि श्रीवत्सकौस्तुभयोश्चतुर्भुजत्वम्, “उद्गारतं स्वकैर्मुखैः” (ई० सं० ४।१२०; पा० सं० ६।३६३) इत्यनेन शङ्खस्य चतुर्भुजत्वं चोक्तम् । तस्य का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्र सात्वतोक्तस्वतन्त्रार्चनपरध्यानश्लोका एव यथावस्थितं विलिखिताः । तथापि तत्रैवोत्तरत्र—

ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता द्विभुजाः पुरुषोपमाः ॥  
सास्त्राः <sup>१०</sup>किरीटपूर्वा ये गदामालाङ्गनाकृतीः ।

(ई० सं० ४।१२०—१२१; पा० सं० ६।२६९—२७०)

इत्युक्तत्वान्त विवादावकाशः ॥ १—३ ॥

किरीटध्यानमाह—किरीट इति सार्वेन ॥ ३—४ ॥

- |  |                               |
|--|-------------------------------|
| १. भगवानित्येव उ० विहाय सार्वत्रिकः पाठः । | २. योगो—मु०, योगे—बक० उ० ।    |
| ३. स्मिन् स्वेन—मु० अटी० बक० ।             | ४. योगा—मु० अटी० बक० बख० अ० । |
| ५. पुनः—मु० अटी० बक० बख० उ० ।              | ६. स्थाना—मु०, स्थानगेन—बक० । |
| ७. ‘तु’ नास्ति—अ० ।                        | ८. ‘एव’ नास्ति—अ० ।           |
| गदामालेङ्गनाकृती’ (१७।८८—८९)               | ९. याख्ये—अ० ।                |
|  | १०. ‘कौस्तुभपूर्वा ये         |
|  | समुपलभ्यतेऽयं श्लोकः ।        |

पञ्चरागोचलाकारं कौस्तुभं रत्ननायकम् ।  
 दिशो दश द्वोतयन्तं संलग्नाहृषिस्थितं स्मरेत् ॥ ५ ॥  
 वहन्तं वक्षसौ मध्ये स्वहस्तकृतमम्पुटम् ।  
 सन्धारयन्तमपरं तथा वै शिरसोपरि ॥ ६ ॥  
 स्फटिकादिप्रतीकाशं श्रीवत्समथ भावयेत् ।  
 बद्धपञ्चासनासीनं न्यस्तहस्तं स्वपाश्वयोः ॥ ७ ॥  
 वहन्तं कूर्ममुद्रां च मुख्यहस्तद्वयेन तु ।  
 ध्येया भगवती माला चित्ररूपा मनोहरा ॥ ८ ॥  
 सर्वगन्धान्विता सौम्या ईपांडिकसितानना ।  
 स्वरशिममण्डलान्तःस्थं वलगन्तं हेतिपं स्मरेत् ॥ ९ ॥  
 विभोराजां प्रतीक्षन्तं हस्ताङ्गं रक्तलोचनम् ।  
 कुन्दावदातंकमलं सौम्यमीपत्सिमताननम् ॥ १० ॥  
 रवं रैवन्तं मधुरं श्रोत्रेन्द्रियसुखावहम् ।  
 गदां हेमाद्रिसंकाशां तन्वीं कुवलयेक्षणाम् ॥ ११ ॥  
 स्वोत्थेन रश्मिजालेन भासयन्तीं नभस्थलम् ।  
 तुहिनाचलसंकाशं शङ्खं कमलोचनम् ॥ १२ ॥  
 सहागमादिसारं तमुद्दिगिरन्तं स्वकर्मुखेः ।  
 सन्ध्याजलदसंकाशं लाङ्गलं भीमलोचनम् ॥ १३ ॥  
 क्षीमाङ्गमुन्नतांसं च वज्रकायं वलोत्कटम् ।  
 कुशोदरं च मुमलं<sup>१</sup> रश्मिज्वालावलीवृतम् ॥ १४ ॥

कौस्तुभध्यानमाह—पञ्चरागेति द्वाभ्याम् ॥ ५-६ ॥

श्रीवत्सध्यानमाह—स्फटिकेति साधेन । कूर्ममुद्रा अविद्यादलिनी मुद्रेत्यर्थः,  
 “अविद्यादलिनीं मुद्रां कूर्मर्थाणं संस्मरेद् विभोः” (१७।८४) इति नृग्निहकल्पे वच्यमाण-  
 त्वात् । तल्लक्षणमपि तत्रैव वश्यमाणं ज्ञेयम् ॥ ७-८ ॥

वनमालाध्यानमाह—ध्येयेति ॥ ८-९ ॥

चक्रादिशक्त्यन्तानां सप्तदशायुधानामेकैकस्यैकश्लोकक्रमेण ध्यानमाह—स्वरशिम-

१. रागचया—उ० । २. नाड्ग्री—मु० । ३. मुख—अ० उ० । ४. द्विह—अ० उ० ।  
 ५. सुवन्तं—मु० अटी० । ६. क्षीमा—मु० अटी० । ७. लमणि—अ० उ० ।

अङ्गाराशिसदृशं ग्रलम्बमातिनिष्ठुरम् ।  
 नीलोत्पलदलश्याममिष्वस्त्रं वौणविग्रहम् ॥ १५ ॥  
 नानारूपं च निशितं दीर्घदृक्चण्डविक्रमम् ।  
 कार्मुकं हेमगौरं च किञ्चिणीजालमण्डतम् ॥ १६ ॥  
 आस्फोटयन्तं स्वैकरं महाजलदनिस्वनम् ।  
 स्वरशिमखचितं ध्यायेन्नृत्यमानं च नन्दकम् ॥ १७ ॥  
 शरदाकाशसंकाशं दशन्तं दशनावलिम् ।  
 सूर्यमण्डलसंकाशं खेटकं सौम्यमूर्तिकम् ॥ १८ ॥  
 ग्रसन्तमस्त्रपूर्गानि स्ववक्रेणानिशं बलात् ।  
 वद्धमुष्टि स्मरेद् दण्डं रक्ताङ्गं रक्तलोचनम् ॥ १९ ॥  
 क्रोधमूर्ति स्वदशनैर्दशन्तमधरं स्वकम् ।  
 शक्रकार्मुकवर्णं च परशुं भीमविक्रमम् ॥ २० ॥  
 द्रवत्कनकनेत्रं च ज्वलज्ज्वालाजटाधरम् ।  
 पाशं फैणिगणाकीर्णं विद्युजिज्वङ् भयानकम् ॥ २१ ॥  
 हेमालिपाण्डराभं च घोरास्यं रक्तलोचनम् ।  
 कुशाङ्गं दीर्घवाहुं च पिङ्गलाक्षं तु चाङ्गशम् ॥ २२ ॥  
 विकरालमुखं रौद्रं भिन्नाङ्गनगिरिप्रभम् ।  
 मुद्गरं शतधामाभं पीनांसं पृथुविग्रहम् ॥ २३ ॥  
 जटाकलापघृंक् सौम्यं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।  
 वज्रं वज्रोपलाभं तु सितदीर्घनखाङ्कितम् ॥ २४ ॥  
 दण्टाकरालवदनं ज्वलत्कनकलोचनम् ।  
 सौदामिनीं प्रभाशक्तिं शान्ताग्निवदनेक्षणाम् ॥ २५ ॥  
 घनघर्षनिर्वोषमुद्गिरन्तीं मुहुर्मुहुः ।  
 एतेऽस्त्रनायकाः सर्वे विभोराज्ञाप्रतीक्षकाः ॥ २६ ॥

मण्डलान्तःस्थमित्यादिभिः सप्तदशभिः ॥ ९-२६ ॥

१. बाल-मु० अटी०, बहु-मु० अ० । २. स्वकरौ-अ० उ० । ३. फणा-अ०, फण-  
मु० अटी० । ४. साङ्ग-अटी० अ० । ५. धृत-मु० । ६. न्तिकम्-मु० अटी० । ७. प्रभां-अ० उ० ।

प्रोत्थिता विचलन्तश्च सुंसमैः स्थानकैः स्थिताः ।  
 श्रोणीतटापितकराश्चामरव्यजनोद्यताः ॥ २७ ॥  
 सपञ्चं तु किरीटाद्यं वर्जयित्वा चतुष्टयम् ।  
 तर्जयन्तं च दुष्टौघमन्येषां दक्षिणं करम् ॥ २८ ॥  
 स्मर्तव्यं ध्यानकाले तु सर्वेषामथ मरतके ।  
 ध्येयं स्वकं स्वकं चिह्नं सुप्रसिद्धं निराकृति ॥ २९ ॥

सर्वेषां सामान्यलक्षणमाह—एतेऽस्त्रनायका इति सार्वेस्त्रिभिः । एते किरीटादय इत्यर्थः । अस्त्रनायकाश्चक्रादय इत्यर्थः । श्रोणीतटापितकराः श्रोणीतटन्यस्तवामहस्ता इत्यर्थः । चामरव्यजनोद्यताः सचामरव्यजनदक्षिणहस्ता इत्यर्थः । आयुधानां भूषणानां च किञ्चित् तारतम्यमुक्तम्—सपद्ममित्यादिना । सपञ्चं पद्ममहितम्, किरीटाद्यं चतुष्टयं किरीटकौस्तुभश्रीवत्सवनमालाचतुष्टयम्, वर्जयित्वाऽन्येषां चक्रादीनां दक्षिणं करं दुष्टौघं तर्जयन्तं च ध्यायेदिति योज्जना । चक्रादीनां चामरव्यजनसमर्पणकर्त्तुर्य-मौत्रोद्योगे दुष्टानामसुरादीनां यथेच्छं दुष्टत्येष्ववकाशो भवतीति भिया चामरादि-समर्पणसमयेऽपि दुष्टौघतर्जनमुक्तम् । यद्वा तर्जयन्तं चेत्यत्र चकारो विकल्पनार्थकः । चक्रादीनां दक्षिणं करं चामरव्यजनोद्यतं तर्जनीमुद्रान्वितं वा स्मरेदित्यर्थः । चामर-व्यजनोद्यतमिति पाठे तु नैतावान् क्रमः । सपद्मकिरीटादिचतुष्टयस्यैव चामरोद्यत-दक्षिणकरत्वम्, अन्येषां तर्जनीमुद्रान्वितत्वमेवेत्यर्थः सरसो भवति । कस्मिमश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे चक्राद्यायुधानामेव चामरव्यजनोद्यतत्वं सपद्मकिरीटादिचतुष्टयस्य तर्जनीमुद्रान्वितत्वमुक्तम् । तदसंगतम्, तर्जयन्तमित्यस्य चतुष्टयमित्यस्य चाविभिन्न-लिङ्गकर्त्वात्, आयुधानामेव दुष्टौघतर्जनसामर्थ्याद् भूषणानां तदसंभवाच्च । अत एव पद्मस्यायुधकोटिपरिगणितत्वेऽपि तस्य लीलाकमलत्वात् सौम्यत्वाच्च दुष्टौघतर्जनं (न) संभवतीत्यभिप्रायेण सपद्ममिति भूषणैः सह वर्णनं कृतमिति च ज्ञायते ।

ननु पूर्वं कौस्तुभश्रीवत्सयोर्दण्डयोश्च कार्यान्तरविनियुक्तहस्तत्वमुक्तम्, इदानीं पुनरस्तेषामपि श्रोणीतटनिविष्टहस्तत्वं चामरपाणितत्वर्जनीमुद्रान्वितत्वयोरन्यतरत्वं च कथं संभवतीति चेन्न, पूर्वमुक्तस्य लक्षणस्य चतुर्भुजविषयत्वादिदानीमुक्तस्य द्विभुज-विषयत्वात् ॥ २६-२९ ॥

१. कुसुमैः—मु० अटी०, सुसंस्थैः—मु० । २. धर्मान्तकैः—मु० । ३. दुष्टद्वन्द्व—अ० उ० ।  
 ४. योजनम्—म० । ५. मात्राद्योगे—अ० ।

किरीटो हुतभुग् वेदः कौस्तुभस्तु प्रभाकरः ।  
 स्वयं शशाङ्कः श्रीवत्सो माला षण्माधवादयः ॥ ३० ॥  
 प्राणं पतत्रिराट् विद्धि कालचक्रं महामते ।  
 अपाम्पतिर्वै कमलं गदा देवी सरस्वती ॥ ३१ ॥  
 खं शङ्कः सीरमोषध्यो मुसलं नौगनायकः ।  
 शब्दादयः सौयकास्तु धनुर्विद्धि समीकरणम् ॥ ३२ ॥  
 नन्दकं सर्वशास्त्राणि खेटकं वसुधा स्मृता ।  
 ज्ञेयो हि दण्डो नियतिर्वैराग्यं परशुः स्मृतः ॥ ३३ ॥  
 पाशो मायाङ्कुशः कामोऽप्यहङ्कारस्तु ग्रुदगरः ।  
 विज्ञानममलं वज्रं समाधिः शक्तिरुच्यते ॥ ३४ ॥  
 भिन्नरूपस्य च विभोर्य उक्तः सुन्दरीगणः ।  
 साधारश्चाप्यनौधारस्तासां ध्यानं क्रमाच्छृणु ॥ ३५ ॥  
 चिन्ताऽऽखण्डलचापाभा लक्ष्मी रक्ताम्बुजप्रभा ।  
 पुष्टिः कनकगौरा च कीर्तिः कुमुदपाण्डरा ॥ ३६ ॥

अथ किरीटदीनामधिष्ठातृनाह—किरीट इत्यादिभिः । माधवादयः……सन्ता……  
 प ? इत्यर्थः । पारमेश्वरेऽपि—

अपांपतिर्वै कमलं गदा देवी सरस्वती ।

चक्रं लोकप्रतिष्ठा ॑वै शब्दब्रह्म तु शङ्कराट् ॥ (६२७८-२७९)

इति गदापद्योराधिष्ठातृदेवौ सात्वतोक्तशब्दाभ्यामेव प्रतिपादितौ, चक्रशङ्क्योरधिष्ठातारौ तु शब्दान्तराभ्यामुक्तौ । अतस्त्रापि लोकप्रतिष्ठा काल इत्यर्थः, सर्वाधारः काल इति प्रसिद्धेः । शब्दो (बृ ? बृं)हत्यादिस्मन्ति शब्दब्रह्म आकाशमित्यर्थश्च बोध्यः । पारमेश्वरव्याख्याने तु लोकप्रतिष्ठा ॑भूमिरित्युक्तम् । तद्विचारणीयम् ॥३०-३४॥

अथ पूर्वोक्तानां चिन्तादिदेवीनां वर्णध्यानक्रममाह—भिन्नरूपस्येत्यादिभिः । चिन्ता नाम पातालशायिनो दक्षिणभागस्था पूर्वोक्ता देवीति ज्ञेया । १९श्यादिद्विके श्यादिचतुष्टये शुद्धव्यादिष्टके लक्ष्म्यादिष्टके लक्ष्म्यादिद्विष्टके च चिन्ताया अनन्तर्गतत्वात् प्रथमं तद्व्यानमुक्तिमिति सूक्ष्मदृष्ट्या बोध्यम् ।

१. चैव पतत्रिराट्-मु० अटी० । २. कालं चैव महाबुद्धे विद्धि चक्रं तु हेतिपम्-मु० अटी० । ३. चाङ्क-वक०, नग-मु० । ४. साधका-मु० अटी०, सायकास्त्रं-उ० । ५. प्यसाधा-वक० वख० अ० । ६. पाण्डुरा-मु० । ७. माधवादयः संताप-अ० । ८. ष्ठायै-अ० म० । ९. न्यायवैषेषिकादि शास्त्रेष्विति शेषः । १०. भूरि-म० । ११. श्रियादि-म० ।

जयाऽर्ककान्तिसदृशी मायाऽङ्गननिभा स्मृता ।  
 शुद्धिः किंशुकसंकाशा गुञ्जाभा तु निरञ्जना ॥ ३७ ॥  
 वन्धुजीवोज्जवला नित्या ज्ञानशक्तिः सिताऽरुणा ।  
 फुल्लेन्दीवरवर्णा च परिज्ञेयाऽपराजिता ॥ ३८ ॥  
 रक्तोत्पलाभा प्रकृतिः सितपीता सरस्वती ।  
 सर्वकामप्रदां सिद्धिस्त्वन्द्रनीलसमप्रभां ॥ ३९ ॥  
 सिन्दूरपुञ्जवर्णाभा विज्ञेया प्रीतिवर्धनी ।  
 यशस्करी च दुग्धाभा शान्तिदा विद्वरुमोज्जवला ॥ ४० ॥  
 तुष्टिस्तुहिनसंकाशा दया वैद्यर्यसन्निभा ।  
 निद्राऽयस्कान्तिसदृशी क्षमा पीतारुणप्रभा ॥ ४१ ॥  
 कान्तिर्दर्पणसंकाशा घृतिगोरोचनोज्जवला ।  
 मैत्री वन्धूकपुष्पाभा रतिगौरिकसन्निभा ॥ ४२ ॥  
 मतिर्मरकताभा वै सर्वाः प्रमुदिताननाः ।  
 दिव्यमाल्याम्बरधरा नानालङ्कारभूषिताः ॥ ४३ ॥  
 दिव्यसङ्गवेष्टनोपेता वीक्षमाणाः स्वकं पतिम् ।  
 चतस्रः शक्तयो यास्तु विभोः शयैनगस्य तु ॥ ४४ ॥

तन्वेकार्णवशायिनः परितःस्थितदेवीचतुष्टयान्तर्गतप्रीतिविद्ययोरप्यत्र द्विकादि-  
 समूहेष्वनन्तर्गतत्वात् तयोरपि ध्यानं कुतो नोक्तमिति चेत्, पामरोऽसि, विद्यासरस्वती-  
 शब्दयोः पर्यायित्वं स्तनन्धयोऽपि जानीते । “तुष्टिदापुष्टिदाष्टकम्” (१२।२१२) इत्यत्र  
 तुष्टिदाशब्देनोक्तायाः “तुष्टिस्तुहिनसंकाशा” इति पुनस्तुष्टिशब्देनात्रैव ग्रहणाद् यथा  
 तुष्टिदातुष्टिज्ञवदयोः पर्यायित्वं ज्ञायते, तथा प्रीतिप्रीतिवर्धनीशब्दयोः पुष्टिदापुष्टि-  
 शब्दयोः शान्तिदाशान्तिशब्दयोर्च वर्यायित्वं निरङ्गुशम् । अतः प्रीतिविद्ययोरपि द्विकादि-  
 समूहान्तर्गतत्वादेव पृथग् ध्यानं नोक्तमिति संतोष्टव्यमायुष्मता । लक्ष्मीध्यानस्य  
 प्रथमेवोक्तत्वात् पुनर्द्विके चतुष्टयेऽष्टके द्विषट्के च तद्व्यानं नोक्तम् । एवमष्टक  
 एव तुष्टे: सरस्वत्याश्च ध्यानस्योक्तत्वात् पुनर्द्विषट्के नोक्तमिति ध्येयम् ॥ ३५-४३ ॥  
 देवीनां सर्वासामपि सामान्यं लक्षणमाह—दिव्यमाल्येति ॥ ४३-४४ ॥

१. सदृशा—वक० वख० अ० उ० । २. कुन्दाभा—उ० । ३. प्रदां विद्वि त्वन्द्र—मु० अटी० ।  
 ४. प्रभामृ—मु० । ५. सदृशा—वक० वख० अ० उ० । ६. नकस्य—मु० वक० वख० ।  
 ७. ‘प्रीति’ नास्ति—अ०, ‘प्री’ नास्ति—म० ।

प्रागुक्तास्तत्र पूर्वोशावस्थिता वीजयन्त्यजम् ।  
 त्रयं यद् दिक्त्रयस्थं तु तत्संवाहनतत्परम् ॥ ४५ ॥  
 यैत्रैका श्रीविंभोस्तत्र सन्निवेशः पुरोदितः ।  
 यैत्रैका श्रीविंभोस्तत्र वामे वा दक्षिणेऽपि वा ॥ ४६ ॥  
 श्रीपुष्ट्याख्यद्वयं यत्र तत्र तद् दक्षिणोत्तरे ।  
 पद्मासनेनोपविष्टौ पक्षिपक्षद्वये स्थिताँ ॥ ४७ ॥  
 नलिनीनालहस्ताठया मृदुकुम्भकराऽपरा ।  
 अङ्गनीषोममयो देह आद्यो यः सर्वगस्य च ॥ ४८ ॥  
 तस्य शक्तिद्वयं तादृगमित्रं भिन्नलक्षणम् ।  
 भोक्तशक्तिः स्मृता लक्ष्मीः पुष्टिवै कर्तृसंज्ञिता ॥ ४९ ॥  
 भोगार्थमवतीर्णस्य तस्य लोकानुकम्पया ।  
 उदितं सह तेनैव शक्तिद्वितयमव्ययम् ॥ ५० ॥

पातालशायिनः परितः स्थितस्य लक्ष्म्यादिशक्तिचतुष्टयस्य हस्तव्यापारानाह—  
 चतस्र इति सार्वेन ॥ ४४-४५ ॥

लक्ष्मीर्मात्रविषयमाह—यत्रेति । पुरोदितः पूर्वम्

“पद्मासनादिना चैव केवलं वा श्रियान्वितः” (१२।१९२) इत्यत्र ।

षष्ठेनालिङ्गिता देवी सारविन्देन बाहुना ।

तदसंलग्नकरया देव्या तच्चित्तयाऽनिशम् ॥

संवीज्यमानं विनयाच्चामरेण सितेन तु । (१२।१०७-१०८)

इत्यत्र वोक्त इत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—“श्रीनर्मि द्विभुर्जस्याहमङ्गस्था वर-  
 वर्णिनी” (८।१२) इति ॥ ४६॥

श्रीपुष्टिद्विकस्य लक्षणमाह—श्रीपुष्ट्याख्यद्वयमिति सार्वैश्चतुर्भिः । यस्य  
 शक्तिद्वयस्यै परिणामो नानात्वेन प्रकाशितः, चिन्ताकीर्तिजयामायादिरूपभेदैः प्रदर्शित

१. यन्ति च-अ० । २. नास्त्येषा पड्क्तिः-अटी० । ३. वैशपरोदिता-मु० ।
४. सर्वत्र परिदृश्यमानाःपीयं पड्किरनावश्यका प्रतीयते, भाष्यकारेण च न व्याख्याता ।
५. विष्ट-अ० उ० । ६. तते-अ०, येन तु-उ० । ७. अभिष्टोम-अ० । ८. मातृ-अ० ।
९. न्तया-म० । १०. स्याङ्ग-म० । ११. द्वितयस्य-म० ।

नानात्वेन हि वै यस्य परिणामः प्रकीर्तिः ।  
 दिक्पत्रचतुरन्तःस्थं यद् वै देवीचतुष्टयम् ॥ ५१ ॥  
 शक्तिः परशुपाशास्त्रमङ्गुशं तत्करे क्रमात् ।  
 पट्कं केसरजालस्थं तत्र प्राकूपश्चिमे द्वयम् ॥ ५२ ॥  
 द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये तासां वामकरेषु च ।  
 शङ्खं चक्रं गदा सीरमिष्वस्त्रं नन्दकं शिवम् ॥ ५३ ॥  
 पत्रमध्यनिविष्टं तु यत्कान्ताष्टकमुत्तमम् ।  
 तस्य वामकराणां च विज्ञेयं त्वादितोऽष्टकम् ॥ ५४ ॥  
 श्रीफलं चाक्षसूत्रं सग् दर्पणः पुष्पमञ्जरी ।  
 विष्टरं किङ्किणी चास्त्रसञ्चयः कमलेक्षण ॥ ५५ ॥  
 विज्ञेयः शान्तिदः पाणिद्वादशानां तु सामयः ।  
 अन्तरान्तरयोगेन सर्वाश्चामरलाञ्छिताः ॥ ५६ ॥  
 स्वस्तिकेनोपविष्टाश्चाप्यन्तमुदितमानमाः ।  
 द्वयादिकस्यास्य संघस्य द्वादशान्तस्य लाङ्गलिन् ॥ ५७ ॥

इत्यर्थः ॥ ४७-५१ ॥

लक्ष्मीकीर्त्यादिशक्तिचतुष्टयलक्षणमाह—दिक्पत्रेति ॥ ५१-५२ ॥

शुद्ध्यादिदेवीलक्षणमाह—पट्कमिति सार्वेन । प्राकूपश्चिमे द्वयम् । प्राप्तभागे एका शक्तिः, पश्चिमभागे एका शक्तिरित्यर्थः । द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये । उत्तरकोणद्वये शक्तिद्वयम्, दक्षिणकोणद्वये शक्तिद्वयमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

“तस्यैव कोणपट्कस्था पोदाङ्गं शृणु नाम च” (८२३) इति ॥ ५२-५३ ॥

शक्त्यष्टकलक्षणमाह—पत्रमध्येति द्वाभ्याम् । श्रीफलं विलवफलमित्यर्थः ॥ ५४-५५ ॥

लक्ष्म्यादिद्विष्टकलक्षणमाह—विज्ञेय इत्यर्थेन । मर्वमाधारणं लक्षणमाह—अन्तरेति । अन्तरान्तरयोगेन दक्षिणहस्तधारणेत्यर्थः ॥ ५६-५७ ॥

शक्तीशवत् शक्तीनामपि सितादिवर्णपद्मादिलाङ्घनव्यत्ययतुल्यलाङ्घनत्वादिभेदवृद्धिभेदाविज्ञेया इत्याह—द्वयादिकस्येति मार्घद्वाभ्याम् । द्वयादिकस्य श्रीपुष्टि-

१. प्रकाशितः—अ० उ० । २. देवि—म० वक० वख० । ३. मितम्—बक० वख० उ०, शितम्—अ० अटी० । ४. मध्ये—म० अटी० बक० वख० । ५. किरण—उ० । ६. शास्त्र—अ०, शास्त्रं—उ० । ७. ‘द्वयं द्वयं’ नास्ति—अ० ।

सितादिकेन वर्णेन लाज्जनव्यत्ययेन तु ।  
 तुल्यलाज्जनयोगेन तन्निरासे च वै सति ॥ ५८ ॥  
 वाराभयाभ्यामन्योन्यपाणिभ्यामथ केवलात् ।  
 बहुधा भेदवृन्दं तु परिज्ञेयं तु पूर्ववत् ॥ ५९ ॥  
 शेषं भवोपकरणं देवानां निचयो हि सः ।  
 सुप्रसिद्धो महाबुद्धे किन्तवज्जायस्तु पूर्ववत् ॥ ६० ॥  
 ध्यातव्या लाज्जिताः सर्वे पाणिपादतलेषु च ।  
 भक्तिश्रद्धावतपरः सर्वेषां यः सदैव हि ॥ ६१ ॥  
 ध्यात्वैवमर्चनं कुर्याद् भोगैः संसर्पश्पूर्वकैः ।  
 सोऽचिरान्मोक्षनिष्ठं तु फलं प्राप्नोत्यभीष्मितम् ॥ ६२ ॥  
 किरीटाद्यस्त्रनिष्ठेन परिवारेण चावृतम् ।  
 भक्त्या ह्यभीष्मितं रूपमर्चनीयमथापि वा ॥ ६३ ॥  
 निर्मुक्तपरिवारं वा स्वेन ध्यानेन लक्षितम् ।  
 विद्यात्यर्चनान्नूनं स्वप्नदं फलसंयुतम् ॥ ६४ ॥

द्विक्षुर्वक्ष्येत्यर्थः । द्वादशान्तस्य लक्ष्मीपुष्टिदयादिष्टद्विष्टद्विष्टस्येत्यर्थः । संघस्येति जात्ये-  
 कवचनम् । पञ्चसंर्वोनामित्यर्थः । भवोपकरणदेवानां प्रसिद्धत्वात् तलक्षणानि सर्वत्र  
 प्रसिद्धानि द्रष्टव्यानीतिः ॥ ५७-५९ ॥

नास्त्रैर्वस्त्रैर्धृजैर्येषां व्यक्तिर्वक्ता जगत्त्रये ॥  
 तेऽपि लाज्जनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्गिगोचरे ।  
 ललाटे चांसपटे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥ (१२१६८-१६९)

इत्याद्युक्तप्रकारेण शक्तिभूषणास्त्रलाज्जनानाम्यस्पष्टत्वे तत्पाणिपादतलादिषु तानि  
 द्रष्टव्यानीतिः चाह—शेषमिति सार्वेन ॥ ६०-६१ ॥

एतेषामर्चनफलमाह—भक्तीति सार्वेन ॥ ६१-६२ ॥

एवं किरीटादिपरिवारध्यानैः सहितं वा तैर्विना केवलतत्तद्वगवन्मूर्तिध्यान-  
 मात्रेण वाऽन्वितमर्चनं कार्यमित्याह—किरीटेति सार्वेन ॥ ६३-६४ ॥

१. तलादिषु—अ० उ० । २. लमाप्नो—बक० बख० अ० उ० । ३. स्वं—अ० ।  
४. संख्याना—म० ।

ज्ञात्वैवं साधकः कुर्याद् यथाभिमतमर्चनम् ।  
 आत्मशक्तिसमैभोगैरखिलैः शुद्धविग्रहैः ॥ ६५ ॥  
 हृदि वेद्यां बहिर्मूर्तौ प्राप्तादे स्वगृहे तु वा ।  
 बहुप्राकारानिर्मुक्ते धूमदाहादिनोजिज्ञाते ॥  
 शरणे रमणीये च निःसम्पर्के तु भाविते ॥ ६६ ॥

इति श्रीपौञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां भूषणाद्यस्त्रदेवताध्यानं नाम  
 त्रयोदशः परिच्छेदः ॥

उभयथाऽर्चनेऽपि भगवान् चतुर्विधपुरुषार्थानपि प्रयच्छतीति ज्ञात्वा स्वेच्छा-  
 नुसारेण यथाशक्त्यार्जितैभोगैर्मनसि बहिर्वेद्यां विम्बे वाऽलये स्वगृहे वाऽर्चनं कुर्यादि-  
 त्याह—विदधातीति त्रिभिः ॥ ६४-६६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेत अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये त्रयोदशः परिच्छेदः ॥

१. विग्रहः—अ० उ० । २. पञ्च—उ० । ३. णास्त्र—अ० उ० । ४. ध्यानो—बक० बख०,  
 ध्यायो—अ० ।

## चतुर्दशः परिच्छ्रेदः

नारद उवाच

अखण्डनाय नित्यस्य तथा नैमित्तिकस्य च ।  
कर्मणश्चोदयामास हली विष्णुं मुनीश्वराः ॥ १ ॥

सङ्क्षिप्त उवाच

यैराजीवावधि कालं नित्यमाराधनं ग्रति ।  
धीः कृता पुण्डरीकाक्षं श्रद्धापूर्तेन चेतसा ॥ २ ॥  
तेषामाकस्मिकाल्लोपाद् भोगानामप्यसम्भवात् ।  
यैः स्यात् तस्योपशमनं ज्ञातुमिच्छामि साम्रतम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोभबुद्धिं विना यस्य भोगानामप्यसम्भवः ।  
सामर्थ्येन विना यस्य कृच्छ्रादीनां परिच्युतिः ॥ ४ ॥  
ज्वरादिव्याधिदोषेण जातो यस्याह्विक्षयः ।  
चातुर्मास्यस्य चाप्राप्तिर्यस्य स्वातन्त्र्यतो विना ॥ ५ ॥

अथ चतुर्दशः ११ परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह नित्यनैमित्तिककर्मणामखण्डेनावहं  
कर्म संकर्षणो वासुदेवं पृच्छतीत्याह—अखण्डनायेति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—यैरिति द्वाभ्याम् । तेषां भागवतानाम्, आकस्मिकाल्लोपाद्  
अबुद्धिपूर्वकादात्मिकव्रतादिलोपादित्यर्थः । भोगानामसंभवाद् औपचारिकादीनां  
लोपादित्यर्थः । यैः स्याद् यो दोषः संभवेदित्यर्थः । तस्योपशमनं ज्ञातुमिच्छामीति  
प्रेश्नः ॥ २-३ ॥

एवं पृष्ठो वासुदेवस्तान् दोषहेतून् स्वयमपि विविच्य तत्तदुपशामकानाह—  
१४ लोभबुद्धिमित्यादिभिः । लोभबुद्धिं विना द्रव्यलोभं विना । अनुपत्तिविनाशादिति

१. भगवान्—मु० अटी०, नारदः—बक० बख० । २. उवाच—उ० विहाय कुत्रापि  
नास्ति । ३. नास्ति—मु० अटी० । ४. काक्षे—बख० । ५. यत् स्या—मु० अटी०, यस्य—बक०  
बख० अ० । ६. पङ्क्षितत्रयं नास्ति—उ० । ७. लोप—बक० बख० अ० । ८. जातं यस्याह्विकं  
क्षयम्—बक० बख० अ० । ९. सस्य—अ० उ० । १०. वेति सार्वत्रिकः पाठः ।  
११. दशपरि—म० । १२. खण्डाना—अ० । १३. प्रश्नम्—म० । १४. लोप—म० ।

तस्य तस्य महाबुद्धे श्रणु यद्विहितं हितम् ।  
 सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम् ॥ ६ ॥  
 हृदयज्ञमसंज्ञानामन्नं च हविषा प्लुतम् ।  
 औपचारिकभोगानां बीजानि विहितानि वै ॥ ७ ॥  
 कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां व्रतानां परिपूरकः ।  
 विशेषार्चनसंयुक्तश्चातुर्मास्येस्तु संयमः ॥ ८ ॥  
 सौत्रं प्रतिसरं चित्रं मुक्ताहारोपमं शुभम् ।  
 शमं नयति भक्तानां सर्वदा लोपमाह्विकम् ॥ ९ ॥

---

भावः । यस्य पुरुषस्य यत्पुरुषकर्तृक इत्यर्थः । भोगानाम् औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकाणाम्, असम्भवो लोपः संभवति । स्वातन्त्र्यतो विना पारतन्त्र्याद्यस्य पुरुषस्य चातुर्मास्यस्य व्रतस्य चाप्राप्तिर्लोपः संभवति, तस्य तस्य पुरुषस्य यद्वितं प्रायशिच्चत्तरूपं हितं विहितं शास्त्रचोदितं तच्छृण्वत्यर्थः<sup>३</sup> । सांस्पर्शिकानां भोगानां स्वक्चन्दनादीनाम्, मात्रावित्तं प्रत्यहं पूजाकाले दीयमानं सहिरप्यशालितण्डुलतिलादिकम्, पूरणं भोगलोपदोषजनितच्छिद्रपूरकमित्यर्थः । हृदयंगमसंज्ञानाम् आभ्यवहारिकाणाम्, हविषा प्लुतम् आज्याक्तमन्नं पूरकम् । औपचारिकभोगानां छत्रचामरादीनाम्, विविधानि बीजानि मात्रार्थं कल्पितानि मुदगादीनि पूरकाणि ॥ ४-७ ॥

एवं भोगलोपप्रायशिच्चत्तमुक्तवा कृच्छ्रादिलोपप्रायशिच्चत्तं दर्शयति—कृच्छ्रचान्द्रायणादीनामिति । कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां व्रतानां विशेषार्चनसंयुक्तश्चातुर्मास्यस्य संयमः अष्टमपरिच्छेदोक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः पूरकः । अथ क्रमप्राप्तमाह्विकलोपप्रायशिच्चत्तं दर्शयति—मुक्ताहारोपमं चित्रं शुभं सौत्रं<sup>५</sup> क्षौमादिसूत्रकृतं प्रतिसरं पवित्राख्यं भूषणं भक्तानामाह्विकं लोपम् आह्विकलोपजन्यं दोषं शमं नयति शान्तिं प्रापयतीत्यर्थः । चातुर्मास्यव्रतलोपस्यापीदं प्रायशिच्चत्तमिति ज्ञेयम्, तस्याह्विकेष्वेवान्तमूर्तत्वात् । अत एव तस्य प्रत्येकं प्रायशिच्चत्तानुक्तेः । एवं च मन्त्रलोपक्रियालोपद्रव्यलोप्तादिसंभवे हि कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतान्यनुठीयन्ते । तेषामपि पूरकश्चातुर्मास्यव्रतः<sup>६</sup>, तस्यापि पूरकं पवित्रारोपणम् । अतोऽस्य सर्वप्रायशिच्चत्तत्वमुक्तं भवति । तथा च वक्ष्यति कण्ठरवेण—

तपोदानव्रतानां च विहितस्याह्विकस्य च ।

निःशेषयागभोगानां कृत्वा संपूरणक्रियाम् ॥ (१५१) इति ॥ ८-९ ॥

१. हृदज्ञमं च—वक० वख० । २. सस्य संयमम्—वक० वख० उ० ।

३. र्थः संबन्धः—म० । ४. मपू—अ० । ५. सूत्रं—अ० म० । ६. लोभादि—म० । ७. व्रतम्—अ० ।

८. कण्ठी—अ० ।

तच्च मासचतुष्कस्य मध्ये कुर्याच्छुभे दिने ।  
 आषाढपञ्चदशयास्तु यावद् वै कार्तिकस्य च ॥ १० ॥

सम्पूर्णचन्द्रादिवसं तं कालं चान्द्रमन्तिमम् ।  
 आ कर्कटकसंक्रान्तेस्तुलाभोगक्षयावधि॑ ॥ ११ ॥

कालं तं चाष्टपक्षं तु सौरं मध्यमसंज्ञितम् ।  
 एकादश्यादि॒ चान्तो यश्चातुर्मास्योपलभितः ॥ १२ ॥

कालं तं वैष्णवं विद्धि उत्तमं सर्वसिद्धिदम् ।  
 अप्राप्तेरस्य कालस्य त्वन्तरायेण केनचित् ॥ १३ ॥

तस्मादस्य विधानं विस्तरेण दर्शयन् प्रथमं तदनुष्ठानकालमाह—तच्चेत्यादिभिः । आषाढपञ्चदश्या आषाढपूर्णमीसीमारभ्य कार्तिकस्य मासस्य सम्पूर्णचन्द्रादिवसं पौर्णमासीति यावत् । तावन्तं कालं चान्द्रं चान्द्रमानसंज्ञम् अन्तिमम् अधमं सन्तं विद्धि । १०आ कर्कटकसंक्रान्तेस्तुलाभोगक्षयावधि सूर्यस्य कर्कटकप्रवेशमारभ्य तुलाधिष्ठानभोगावसानपर्यन्तम् । अथवा तुलायां तुलामासे ये भोगाः शालिव्रीह्यादीनां फलानि तेषां क्षयावधि तल्लवनसंग्रहणपर्यन्तमित्यर्थः । यद्वा तुलामासस्याभोगो विस्तारस्तदवसानपर्यन्तमित्यर्थः । अष्टपक्षम् अष्टौ पक्षा यस्य तं तथोक्तं कालं सौरं सौरमानसंज्ञं मध्यमं विद्धि । चातुर्मास्योपलक्षित एकादश्यादि॒ चान्तो यः काल आषाढशुक्लैकादशीमारभ्य कार्तिकशुक्लैकादश्यन्तं मासचतुष्टयात्मैकै॒ इत्यर्थः । तं कालं वैष्णवं वैष्णवमानसंज्ञम्, ११उत्तमं तं विद्धि । पारमेश्वरव्याख्याने—“एकादश्यादि॒ चान्तो य इत्यत्र एकादश्यामादिराम्भस्तत्र तीर्थं वा” इति विलिखितम् । तद्विचारणीयम् ॥ १०-१३ ॥

१. सम्पूर्णश्चन्द्रादिवसः स कालश्चान्द्र उच्यते—म० अटी० । २. भागक्षया—म० अटी०, भोगक्रिया—बक० । ३. इतः परम्—“पवित्रारोपणे चान्द्रं त्वधमं परिकीर्तितम्” इति श्लोकार्धः प्रायः सर्वेषु कोशेषु दृश्यते । एव च भाष्यकारेण न व्याख्यातः, न च दृश्यत ईश्वरपारमेश्वरयोरिति न मूले स्थाप्यते, पूर्वश्लोकेनैव गतार्थत्वात् । ४. कालः स चाष्टपक्षस्तु सौरो मध्यमसंज्ञितः—म० अटी० । ५. च—बख० अ० उ० । ६. निशान्त इति सार्वत्रिकः पाठः । ७. उत्तमं—बक० बख० अ० । ८. पूरण—म० । ९. मास—अ० । १०. ‘आ’ नास्ति—अ०, आकस्मिक—म० । ११. त्मकमि—अ० । १२. उत्तमं—तं—म० ।

निर्वाहणीयोऽप्यपरः कालश्चान्द्रायणादिना ।  
 सम्पाद्यं चैव तन्मध्ये विधिवद् यागपूरकम् ॥ १४ ॥  
 दिनत्रये तु पूर्वोक्ते पौर्णिमायुपलक्षिते ।  
 सोपवासैः क्रियापूर्वं कर्म प्रातिसरीयकम् ॥ १५ ॥  
 दशम्यामर्चनं कृत्वा हुत्वार्जिन च निशामुखे ।  
 आनिमन्त्रय च देवेशं धूपं दत्वाऽर्घ्यपूर्वकम् ॥ १६ ॥  
 निजानन्दमयैर्भागैर्निर्तयतृप्तस्त्वमव्ययः ।  
 तथापि भक्त्या तृप्तोऽहं त्वां यजाम्यात्मसिद्धये ॥ १७ ॥  
 निवेद्य मुखवासादीनित्युक्त्वा दन्तधावनम् ।  
 सम्पूज्याथ सुगन्धैस्तु सितसूत्रसमूहजम् ॥ १८ ॥  
 शुभं प्रतिसरं त्वेकं तच्चुल्यानि बहूनि वा ।  
 कुड्कुमायैर्थाशोभं ऋजायित्वा स्वशक्तिः ॥ १९ ॥

उत्तमकालालभेदमादिकाले वेदमनुष्ठेयमित्याह—अप्राप्तेरिति ॥ १३-१४ ॥  
 उत्तमकालेष्वन्यतमे दिनत्रये पवित्रारोपणं कार्यमित्याह—संपाद्यमिति ।  
 संपाद्यं कर्तव्यमित्यर्थः । तन्मध्ये उत्तमादिकालत्रयमध्ये, यागपूरकं भगवदाराधनच्छङ्ख-  
 पूरकमित्यर्थः । पौर्णिमायुपलक्षिते पौर्णिमास्या एकादश्या संकान्त्या वाऽन्वित इत्यर्थः ।  
 प्रातिसरीयकं पावित्रकमित्यर्थः ॥ १४-१५ ॥

अथ दशम्येकादश्योः कर्तव्यं पवित्रदिवसाख्यं कर्माह—दशम्यामित्यारभ्य  
 जागरेण नयेनिनशामित्यन्तम् । अर्चनं कृत्वा कुम्भमण्डलबिम्बेषु यथाविधि संपूज्येत्यर्थः ।  
 अर्पिन च हुत्वा अग्नौ च देवं संतर्प्येत्यर्थः । एवमधिवासदिनादिषु चतुःस्थानार्चनस्येश्वर-  
 पारमेश्वरादिषु<sup>१</sup> प्रतिपादितत्वात् । यद्वाऽर्चनं कृत्वेत्यत्र केवलबिम्बार्चनमेव विवक्षितम्,  
 यदा तु केवलं<sup>२</sup> बिम्बे पवित्रारोपणं भवेत् ॥  
 तदा स्याद् बिम्बकस्यैव<sup>३</sup> अधिवासोक्तपूजनम् ।

तथा वह्निगतस्यापि वर्जयेत् कुम्भमण्डले ॥ (१२।४७८-४७९)

इति पारमेश्वरोक्तेः । इत्थं दिनद्वयेऽप्यधिवासकरणाशक्तस्यैकादश्यामेवाधिवासनम्,

१. पूर्व—मु० अटी० उ० । २. पौर्णिमेति भाष्यानुसारी पाठः । ३. हनम—मु० अटी० ।
४. योग—मु० अटी० । ५. उवत—अ० । ६. 'द्रपू' इत्यक्षरद्वयं त्रुटिम—अ० ।
७. प्रातिसर्यकमित्युभयमातृकापाठः । स च छन्दोभज्ञदोषदुष्टः । ८. पवित्रादिवसाख्य—म० ।
९. ईश्वरे चतुर्दशाध्याये पारमेश्वरे च द्वादशाध्याये विषयोऽप्य द्रष्टव्यः । १०. केवले—मु० ।
११. गस्यैव—मु० ।

जाम्बूनदमयैः पुष्पैर्नारत्नोपशोभितैः ।  
 सनालेभूषणीयं च रम्यैर्वा रजतोत्थितैः ॥ २० ॥  
 'धूपितेऽभिनवे भाण्डे कृत्वाच्छाद्यास्तरेण तु ।  
 प्रणवेनार्चयित्वा तु संस्थाप्य पुरतो विभोः ॥ २१ ॥  
 देवागारं वहिश्चान्तर्मन्दिरं यागसंज्ञितम् ।  
 संवेष्य सितसूत्रेण चतुर्धा तद्गुणेन तु ॥ २२ ॥  
 ततोऽभ्यर्थ्य समूहं तु पञ्चकालपरायणम् ।  
 षट्कर्मनिरतं चापि यतिवृन्दं तु वैष्णवम् ॥ २३ ॥  
 समक्षं भवतां भक्त्या श्वः प्रभुं पूजयाम्यहम् ।  
 सन्निधानमतः कार्यं मदनुग्रहकाम्यया ॥ २४ ॥  
 स्नानाद्यमेकादश्यां वै सविशेषं संमाचरेत् ।  
 हवनान्तं क्रियाकाण्डं जपस्तुतिपर्स्ततः ॥ २५ ॥

तत्राप्यशक्तस्य सद्योऽधिवासनम्, अधिवासात् पूर्वमङ्कुरार्पणं रक्षाबन्धनं चोक्तमीश्वरे—

पूर्वं दशम्येकादश्योः कुर्यात् कर्माधिवासनम् ।  
 एकादश्यां वानुकल्पे अधिवासनमाचरेत् ॥  
 सद्योऽधिवासं द्वादश्यां कुर्याद्वा शक्त्यभावतः ।  
 अधिवासदिनात् पूर्वदिने कृत्वाङ्कुरार्पणम् ॥  
 अधिवासदिने कुर्याद् रक्षाबन्धं च देशिकः । (१४।१६७-१६९) इति ।

एवमेवोक्तं पारमेश्वरेऽपि—

प्राक्सस्प(मि) दिने कृत्वा प्राग्वदङ्कुररोपणम् ।  
 प्राग्वत् कृत्वाधिवासं तु पुरस्ताद् वासरद्ये ॥ (१२।४७५) इति ।  
 द्रव्याभावो द्विजश्रेष्ठ! अशक्तिर्यदि वा भवेत् ।  
 सद्योऽधिवासं द्वादश्यां कृत्वा शक्त्यनुसारतः ॥ (१२।४९८-४९९) इति ।  
 अधिवासदिने चतुःस्थानार्चनानन्तरम् “आनिमन्त्र्य च देवेशम्” (१४।१६)  
 इत्यन्तैकं पवित्रं समर्पणीयम् । तथा चोक्तमीश्वरे पारमेश्वरे च—

१. धूषिते—मु०, धुषिते—अटी० । २. च्छान्या—मु०, चान्या—अटी० । ३. मन्दिरम्—  
 मु० अटी० । ४. यणः—वक० । ५. समर्चयेत्—अ० । ६. परः स्मृतः—वक० वख० अ० उ० ।  
 ७. शक्त्या तु कारयेत्—मु० ।

आराध्यस्याग्रतः स्थित्वा जागरेण नयेनिशाम् ।  
 पुनरभ्यर्च्य देवेशं प्रभाते विधिपूर्वकम् ॥ २६ ॥  
 भूषयेद् भूषणेनैव त्वामूर्ध्नः प्रणवेन तु ।  
 यथारूपैश्च बहुभिर्ब्रूयाद् बद्धाञ्जलिस्त्वदम् ॥ २७ ॥  
 नावलेपान्न मोहाच्च कर्मत्यागो मया कृतः ।  
 त्वमेव सर्वं जानासि सर्वेषै हृदये स्थितः ॥ २८ ॥  
 यथाशक्त्या त्वनिच्छातस्तत्रापि परमेश्वर ।  
 तन्निमित्तमिदं कर्म कृतं त्वत्प्रीतये मया ॥ २९ ॥

प्रणम्य देवदेवेशं ततस्त्वेकं पवित्रकम् ।  
 दहनाप्यायसंशुद्धं प्रोक्षितं चार्घ्यवारिणा ॥  
 वासितं गन्धधूपाभ्यां चतुःस्थानस्थितस्य च ।  
 निवेद्य च क्रमेणैव धूर्णं दत्त्वाऽर्थपूर्वकम् ॥ इति ।  
 (ई० सं० १४।१८०—१८१; पा० सं० १२।२६१—२६२)

पवित्रनिर्माणप्रकरणेऽपि—

चतुःस्थानावतीर्णस्य विभोरामन्त्रणाय वै<sup>३</sup> ।  
 पवित्रमाद्यसदृशमेकैकं वा द्वयं द्वयम् ॥ इति ।  
 (ई० सं० १४।११२—११३; पा० सं० १२।१४१—१४२)

अत्र पवित्राणां तन्तुसंख्याग्रन्थिकल्पनगर्भस्त्रचनादिकं नोक्तमपीश्वरपारमेश्वराद्युक्तं ग्राह्यम् । अथवा—

यथेच्छाकल्पितैः सूत्रैर्ग्रन्थभिस्तु यथेच्छया ।  
 निशारोचनया वापि पवित्राणां च धातुना ॥  
 केनचिद् ग्रन्थयो विप्रां विधिवत् परिरञ्जयेत् ।  
 पुष्पपूर्णानि गर्भाणि कृत्वा वा केवलान्यतः ॥  
 (ई० सं० १४।२६७—२६८; पा० सं० १२।५००—५०१)

इतीश्वरपारमेश्वरयोर्लघुपक्षस्याप्युक्तत्वात् तन्तुग्रन्थिनियमादीनामन्यतो ग्रहणाभावेऽपि न प्रत्यवायः<sup>४</sup> ।

१. च—अ० उ० । २. सर्वेषां—मू० अटी० । ३. च—मू० । ४. विप्र—पा० । ५. इतः परम्—“ननु यथेच्छाग्रन्थिकल्पनस्यापि मूलोक्तत्वात् तन्तुग्रन्थिनियमादीनामन्यतो ग्रहणाभावेऽपि न प्रत्यवायः” इति द्विरावृत्तिप्रायः पाठो दृश्यते—अ० ।

एवमुक्त्वा समभ्यर्थं चतुरः पौञ्चरात्रिकान् ।  
 भगवत्प्रतिपत्त्या तु शक्त्या प्रावरणैर्धनैः ॥ ३० ॥  
 तथा प्रतिसरान्तैस्तु ब्रह्मचारीन् यतीन् गुरुन् ।  
 तर्पयित्वाऽथ चानेन पूतेन विविधेन तु ॥ ३१ ॥  
 क्षान्त्वाऽनुवज्य नैवेद्यपूर्वं कुर्याच्च भोजनम् ।  
 अपरेऽहनि सन्यासमाचरेद् विधिपूर्वकम् ॥ ३२ ॥  
 अपनीय तु माल्यादीन् प्रदद्याद् वा दिने दिने ।  
 नो याति म्लानतां यावच्चतुर्थेऽहनि वा त्यजेत् ॥ ३३ ॥

ननु यथेच्छाग्रन्थिकल्पनस्यापि मूलेऽनुकृत्वात् तदपि वाऽन्यत्र ग्राह्यं खल्विति  
 चेन्न, “मुक्ताहारोपमम्” (१४।१९) इत्येनैव ग्रन्थिकल्पनसिद्धेः । “संवेष्ट्य सितसूत्रेण  
 चतुर्धा तदगुणेन तु” (१४।२२) इत्यत्र तदगुणेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः,  
 चतुर्गुणेन संवेष्ट्यै ह्यन्तराद् यागमन्दिरैस्मै ।  
 प्रदक्षिणचतुर्कं तु वर्षमन्त्रं तु संस्मरन् ॥ (१२।२६९-२७०)  
 इति पारमेश्वरस्यपृष्ठोक्तेः ॥ १६-२६ ॥

अथ द्वादश्यां प्रातर्नित्याच्चन्ततुःस्थानार्चनपूर्वकं पवित्रसमर्पणम्, हविर्निवेदना-  
 द्यनन्तरं नावलेपादिति इलोकद्वयेन प्रार्थनम्, भगवत्प्रतिपत्त्या चतुर्णा कारिणां ब्रह्म-  
 चार्यादीनां भागवतानां च पवित्रसमर्पणहविर्भोजनान्तमर्चनमपराधक्षमापणादिकं  
 स्वानुयागं चाह—पुनरभ्यर्थं देवेशमित्यादिभिः । प्रावरणैर्वस्त्रैरित्यर्थः ॥ २६-३२ ॥

तदपरेद्युरेव पवित्रविसर्जनमाह—अपरेऽहनीत्यर्थेन ।

अथवा पूष्पाणामेव प्रत्यहं विसर्जनं कुर्वन् पवित्राणां विसर्जनं तु चतुर्थेऽहनि  
 विशेषेण कारिपूजनपूर्वकं कुर्यादित्याह—अपनीयेति सार्वेन । एतदूर्ध्वमपि पवित्र-  
 स्थापनमुक्तमीश्वरापारमेश्वरयोः—

एकरात्रं त्रिरात्रं वा १८च्च वा सप्तरात्रकम् ।  
 पवित्रकं स्थापयित्वा ततः सन्यासमाचरेत् ॥  
 अथवाच्च॑ गतं विप्र॒ तावत्संस्थाप्य भूषणम् ।  
 यावदेकादशी शुक्ला संवृत्ता कार्तिकस्य तु ॥ इति ।

(ई० सं० १४।२५०-२५१; पा० सं० १२।४४६-४४७)

अन्ये च बहवो विशेषा अत्रापेक्षिता ईश्वरादिषु॑ द्रष्टव्याः ॥ ३२-३३ ॥

१. पञ्च-अ० उ० । २. चारि-म० अटी० । ३. वै-म० अटी० । ४. यथेच्छ-म० ।

५. षट्चाभ्य-म० । ६. मण्डपम्-म० । ७. इवरे-म० । ८. प्रत्यङ्ग-म० । ९. पूजा-म० ।

१०. सप्तरात्रं तु वा द्विज-पा० । ११. वाच्च-अ०, वाच्चन-म० । १२. विप्राः-ई० ।

१३. ईश्वरे चतुर्दशाध्याये पारमेश्वरे च द्वादशाध्याये ।

विशेषयागपूर्वं तु कारिभ्योऽवसरे स्वके ।  
एवं कृते सति तदा सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥  
सर्वथाऽऽराधकानां तु चेतसोऽभीष्मितं तथा ॥ ३४ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां पवित्रारोपणविधिर्नाम  
चतुर्दशः परिच्छेदः ॥

एतत्फलमाह—एवमिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यद्गिरीशचरणकमलार्चकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्दशः परिच्छेदः ॥

१. सदा—अ० । २. सर्वथी—बक० उ० । ३. तदा—बक० बख० अ० उ० । ४. पञ्च—  
अ० उ० । ५. रोहणं नाम—अ० उ० ।

## पञ्चदशः परिच्छेदः

श्रीभगवानुवाच

तपोदानब्रतानां च विहितस्याह्विकस्य च ।  
 निशेषयागभोगानां कृत्वा सम्पूरणक्रियाम् ॥ १ ॥  
 अपरेऽहनि वै कुर्याच्चतुर्थे सप्तमे तु वा ।  
 स्नपनं पूज्यमन्त्रस्य तीर्थोद्देशे<sup>१</sup> च सङ्गमे ॥ २ ॥  
 नद्यां समुद्रगामिन्यां देवखाते हृदे<sup>२</sup> तु वा ।  
 प्रीतये परमेश्वस्य त्वात्मनो दुःखशान्तये ॥ ३ ॥  
 आहादायामरणां च पितणां तृष्णये तु वै ।  
 आप्यायनार्थं भूतानां भूवनानां च भूतये ॥ ४ ॥  
 देशैदोषप्रशान्त्यर्थं गोब्राह्वणहिताय च ।  
 बहुशाखमभग्नाग्रं समूलं यदपुष्टिम् ॥ ५ ॥  
 प्राङ्मुखो दर्भमादाय प्रणवेन पुरा क्षितेः<sup>३</sup> ।  
 ततस्तेनैव तन्मूलं प्राग्वत् कुर्यादधिष्ठितम् ॥ ६ ॥

अथ पञ्चदशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । एवं सर्वच्छिद्रपूरकं पवित्रारोपणाख्यं कर्म कृत्वा तदवरोपणदिने तदनन्तरं देवस्पावभूर्थं कार्यमित्याह—तप इत्यादिभिः ॥ १-५ ॥

तदर्थं कुशकूर्चनिर्माणप्रकारमाह—बहुशाखमित्यादिभिः । बहुशाखम् अनेक-काण्डान्वितमित्यर्थः । तेनैव प्रणवेन, तन्मूलं दर्भमञ्जरीमूलम्, अधिष्ठितं कुर्याद् व्यासं भावयेदित्यर्थः । परमात्मीयं विवर्तं भगवदाकारान्तमित्यर्थः । अध्यक्षाख्यमिति विवर्तस्य विशेषणम् । अध्यक्षं नाम भगवत्सूक्ष्मरूपमेदः । तथा चोक्तं जयाख्ये—

तैन्महाविग्रहं स्थूलं सर्वमन्त्रास्पदं द्विज ।  
 प्रविष्टं भावयेत् सूदमे हृष्यके ह्युभयात्मके ॥

१. भगवानित्येव—मु० अटी० बक० बख० । २. शेऽथ—अ० । ३. हृदे तथा—मु० अटी०, तेऽथवा तटे—अ०, तवातले—उ० । ४. शाय—बक० बख० अ० उ० । ५. देश—बख० । ६. क्षितेः—बक० बख०, क्षिते—अ० । ७. तं मन्त्र—मु० । ८. 'बुद्ध्यक्षे' इति ज० पाठशिचन्त्यः ।

तस्य मध्यमनालं यन्नयग्भूतमवतिष्ठते ।  
 आराध्य मन्त्रनाथेन स्मरेद् व्याप्तं महात्मना ॥ ७ ॥  
 विवर्तं परमात्मीयमध्यक्षाख्यं च विद्धि तम् ।  
 अनेकगर्भमुच्चं यत्काण्डं काण्डेषु चोत्तमम् ॥ ८ ॥  
 अणिमादिगुणैर्युक्तं पुस्तत्त्वं तेन कल्प्यते ।  
 वाचकं तस्य योक्तव्यं हंसयुक्तं द्विलक्षणम् ॥ ९ ॥  
 बहिःकाण्डुचतुष्केण चित्तपूर्वं चतुष्टयम् ।  
 ग्रथनीयमधोवक्त्रमव्यक्तान्तं स्वकैः पदैः ॥ १० ॥  
 प्रणवादिनमोऽन्तैस्तु व्यापकं सूक्ष्मलक्षणम् ।  
 एवं श्रोत्रादिकान् पञ्च स्वनाम्ना ग्रथयेत् तथा ॥ ११ ॥  
 कर्मेन्द्रियाणि तदनु ततस्तन्मात्रपञ्चकम् ।  
 पञ्चकं त्वथ भूतानां वद्ध्वा वै क्षमाज्वसानिकम् ॥ १२ ॥  
 अंवशिष्टैस्तु तत्काण्डैर्बृद्धनीयात् तत् तेरण्डवत् ।  
 विना शिखासमूहेन समुर्त्तानावधेरथ ॥ १३ ॥

परे प्रागुक्तरुपे तु तं सूक्ष्ममुभयात्मकम् ।  
 तं परं प्रस्फुरदरूपं निराधारपदाश्रितम् ॥  
 १३द्विमार्गेण० हृतपद्मे संप्रविष्टं तु भावयेत् । (१५।२३५-२३७) इति ।  
 पुस्तत्त्वं जीवात्मेत्यर्थः । तस्य वाचकं जीवमन्त्रमित्यर्थः । हंसयुक्तं हंसाक्षरयुक्तमित्यर्थः ।  
 द्विलक्षणं पदद्वयात्मकमित्यर्थः । तथा च तन्मन्त्रोद्धारो जयाख्ये—

अप्रमेयेण १३सूत्रेण व्योमाख्येनामृतेन च ।  
 १४परमेश्वरयुक्तेन त्रितीरोक्तात्मना तु वा ॥ (७।२५) इति ।

अयमेवार्थः सुस्पष्टमुपबृहितो लक्ष्मीतन्त्रे—“प्रत्यगात्मपरामर्शीशर्वेदः सोमोऽथ सर्गवान्”  
 (३३।४७) इति । एवं च ‘अहं सः’ इति जीववाचकमन्त्रो ज्ञेयः । चित्तपूर्वकमव्यक्तान्तं  
 चतुष्टयं मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृत्याख्यं तत्त्वचतुष्टयमित्यर्थः । प्रणवादिनमोन्तैः स्वकैः पदैः

१. पार-म० अटी०, परमार्थी-बक० । २. ध्यक्तं चापि-म० अटी० । ३. पुंसकत्वं-म०,  
 पूतत्वं-बक० । ४. पूर्व-म० अटी० बक० बख० । ५. कथ-म० अटी० । ६. अथ-अ० उ० ।  
 ७. तदण्ड-म० बक०, तत्र दण्ड-अटी० । ८. त्याना-अ० उ० । ९. विद्धि-अ० ।  
 १०. मार्गण-म० । ११. सूर्येण-म० । १२. पार-अ० । १३. धारो-अ० । १४. मर्च-अ०,  
 मर्शी-म० ।

किञ्चित् तदूर्ध्वदेशाच्च यथा नो याति वै पुनः ।  
 वहुधा काण्डसंधंस्तु कलिपतस्तच्चसंख्यया ॥ १४ ॥  
 विभिन्नानां च काण्डानां भज्ञादेकतमस्य च ।  
 उत्पद्यतेऽन्यथात्वं च तस्मात् तेऽग्रथयेद् दृढम् ॥ १५ ॥  
 दर्भमञ्जरिजं त्वेवं सम्पादादौ पवित्रकम् ।  
 अनुसन्धीयते तत्र मन्त्रध्यानं यथास्थितम् ॥ १६ ॥  
 पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पादौरलङ्घकृत्य पठेदिदम् ।  
 त्वमेव तीर्थं भगवंस्त्वमेवायतनं परम् ॥ १७ ॥  
 त्वग्येवाधिष्ठितं सर्वमिति जानामि तत्त्वतः ।  
 तत्रापि च त्वयाऽदिष्टं क्रियाकाण्डं शुभप्रदम् ॥ १८ ॥  
 यत्तन्निर्वाह्याम्यद्य त्वदनुग्रहकाम्यया ।  
 एवं विज्ञाप्य भगवन् ! मन्त्रमूर्तिं परावरम् ॥ १९ ॥  
 तं पत्रपात्रगं कृत्वा ब्रह्मायानगं तु वा ।  
 वेदगोप्यध्वनीशङ्खशब्दमङ्गलपूर्वकम् ॥ २० ॥

ॐ कारनमस्कारसंपुटितैश्चतुर्थ्यन्तैस्तत्तन्नामभिरित्यर्थः । कर्मन्द्रियाणि वाक्पाणिपादवायूपस्थानि । तन्मात्रपञ्चकं शब्दतन्मात्रादिपञ्चकम् । भूतानां पञ्चकम् आकाशादिभूतपञ्चकम् । क्षमावसानिका?कं पृथिव्यन्तमिति तद्विशेषणम् । अवशिष्टैस्तत्काण्डैः पञ्चविंशतिकाण्डेभ्योऽतिरिक्तैः कुशकाण्डैरित्यर्थः ॥ ५-१५ ॥

एवंविधं पवित्रं परिकल्प्य तत्र ध्यानपूर्वकं भगवन्तमभ्यर्च्यं प्रार्थयेदित्याह—  
 दर्भमञ्जरिजमिति सार्थेन । तीर्थविम्बाद्यभावे त्वेवं दर्भपवित्रकल्पनं कार्यम् । तत्सत्त्वे  
 तस्यैव तीर्थस्नानं बोध्यम् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

यथावत् स्नपनं कुर्यात् तोर्थविम्बे विशेषतः ।

नित्यस्नपनविम्बे वा कुर्यात्तदसन्निधौ ॥

नित्योत्सवपरे विम्बे ह्याचरेत्तदसन्निधौ ।

तदभावे पवित्रे तु दर्भमञ्जरिजे शुभे ॥ इति ॥ १६-१७ ॥

( ई० सं० १४।२८०-२८१; पा० सं० १२।५३५-५३७ )

प्रार्थनाश्लोकद्वयमाह—त्वमिति ॥ १७-१९ ॥

एवं विज्ञाप्य तत्पवित्रं पात्रे ब्रह्मायाने वा समारोप्य वेदवाद्यघोषैः सह तीर्थ-

१. संघः संक-अ०, संघः स क-उ० । २. तं ग्रथ-अ० उ० । ३. देव-अ० ।

४. विज्ञाप्य एव भगवान् मन्त्रमूर्तिः परावरः-मु० अटी० ।

नीत्वा तीर्थान्तिकं तत्र तीरदेशे निधाय च ।  
 पूर्वमुखं च तं यानमथादाय पवित्रकम् ॥ २१ ॥  
 वामहस्तैतले कुर्यात् क्षमामण्डलगतं त्विवै ।  
 विधृयान्मध्यभागाच्च पाणिना दक्षिणेन तु ॥ २२ ॥  
 अवतीर्थमिभसो मध्ये निमज्जेत् सह तेन वै ।  
 सन्निधिं तत्र तत्कालं प्रकुर्वन्त्यचिरात् तु वै ॥ २३ ॥  
 निशेषाणि च तीर्थानि लोकत्रयगतानि च ।  
 मन्त्रात्मा यत्र रक्षार्थं क्षणमास्ते जलाशये ॥ २४ ॥  
 तत्रायतनतीर्थानां सर्वेषां स्यात् समागमः ।  
 किं पुनर्यत्र भगवान् मन्त्रमूर्तिरधोक्षजः ॥ २५ ॥  
 साधकाभ्यर्थितः स्नायात् सर्वानुग्रहया धिया ।  
 विद्वान् योऽनेन विधिना तीर्थमासाद्य तत्त्ववित् ॥ २६ ॥  
 स्नापयेद् वैन्युमित्रादीन् प्राप्नुवन्त्यचिराच्च ते ।  
 तैर्थं फलमनायासान्मन्त्रमूर्तेः प्रसादतः ॥ २७ ॥  
 किन्तु तद्यानवादित्रवर्जितस्तु भवेद् विधिः ।  
 इमं विद्वि महाबुद्धे विशेषं चात्र कर्मणि ॥ २८ ॥

समीपं नीत्वा तत्र प्राङ्मुखमवरोप्य पवित्रमादाय वामकरतले भूमण्डलगतमिव निधाय  
 तन्मध्यं दक्षिणपाणिना गृहीत्वा तीर्थमध्येऽवतीर्थं तेन सह स्नायादित्याह—एवमिति  
 चतुर्भिः ॥ १९-२३ ॥

तत्काले तत्तीर्थं सर्वतीर्थसान्निध्यप्रभावमाह—सन्निधिमिति त्रिभिः ॥ २३-२६ ॥

एवं कूर्चद्वारा दूरदेशगतानां जनानामपि तीर्थस्नानं फलाधायकमित्याह—  
 विद्वानिति सार्वेन । बान्धवादीनामिति कर्मणि षष्ठी । ते बान्धवादय इत्यर्थः  
 ॥ २६-२७ ॥

अत्र विशेषमाह—किन्तिवति । यानारोपणं मङ्गलवाद्यान्वितत्वं च भगवत्  
 एवार्हम्, नान्यस्येति भावः ॥ २८ ॥

१. हस्ते—मु० अटी० बक० बख० । २. त्विह—अटी० । ३. विकु—बक० ।

४. गतिः—मु० अटी० । ५. बान्धवादीनामिति भाष्यकारसंस्कृतः पाठः ।

सामान्यमविनाशं यच्चिन्मयं रूपमैश्वरम् ।  
 विशेषसंज्ञासम्बन्धं जीवहंसं विभाव्यं तम् ॥ २९ ॥  
 पवित्रकं तैदाकारं स्मृत्वा स्नाप्यस्ततोऽभसा ।  
 एवं तेनैव चान्येषां बहुनां बहुभिस्तु वा ॥ ३० ॥  
 सम्पाद्यं विष्टरैः स्नानं दूरस्थानां सदैव हि ।  
 सम्पन्ने स्नपने त्वेवं द्वितीयेऽहि महामते ॥ ३१ ॥  
 रथे कृत्वाचिते तं वै प्रपूज्य च यथाचिति ।  
 यात्राख्यमुत्सवं कुर्यादन्नदानपुरस्मरम् ॥ ३२ ॥  
 सनृत्तगेयवादित्रं जागरेण समन्वितम् ।  
 एकरात्रं द्विरात्रं वा त्रिरात्रं भक्तिपूर्वकम् ॥ ३३ ॥  
 सकृत् संवत्सरस्यान्ते उत्सवं स्नपनादिकम् ।  
 कुर्याद् यो मन्त्रनाशस्य स सिद्धिं लभते पराम् ॥ ३४ ॥  
 इति श्रीपौञ्जल्यात्रे श्रीसात्वतसंहितायां पवित्रस्नानविधिर्नाम  
 पञ्चदशः परिच्छेदः ॥

अस्य शरीरस्य भगवच्छरीरभूतत्वादेनमपि भगवदात्मकं स्मृत्वा पवित्रद्वारा स्नानं कारयेदित्याह—सामान्यमिति सार्थेन ॥ २९-३० ॥

तेनैकेनैव पवित्रेण बहुनां बान्धवादीनां यद्वा पृथक् पवित्रैः स्नानं कारयेदित्याह—एवमिति । दूरस्थानां ग्रामान्तरगतानां लोकान्तरगतानां वेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवमवभूथानन्तरं ब्रह्मरथे पवित्रस्थं देवमारोप्याभ्यर्थ्य तदीयाराधनपूर्वकं ग्रामप्रादक्षिण्येन यात्रोत्सवं कुर्यादित्याह—सम्पन्न इति सार्धद्वाभ्याम् । उत्सवानन्तरं तद्रात्रौ जागरणं च कार्यमिति भावः । द्विरात्रं त्रिरात्रमावृत्तिरुत्सवस्थैव न तु स्नानस्य ॥ ३१-३२ ॥

पवित्रोत्सवप्रकरणे फलमाह—सकृदिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीपौञ्जल्यायनकुलतिलकस्य यहुगिरीशाच्चरणकमलाचकस्य

योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते

सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चदशः परिच्छेदः ॥

१. सम्बन्ध—अ० उ० । २. विभाव्यताम्—मु० अटी० । ३. तथा—मु० अटी० बक० बख० । ४. स्नाप्य त—मु० अटी० बक० बख० उ० । ५. षूत्सव—मु०, उत्सव—अटी०, ह्यत्सव—बक० बख० उ० । ६. पञ्च—उ० । ७. चेतनस्य—अ० । ८. त्रिरात्रं त्रिरात्र—म० ।

## षोडशः परिच्छेदः

नारद उवाच्

प्रभुमुनीश्वरा भूयश्चादितो वनमालिना ।  
सर्वलोकहितार्थं तु यत् तद्व्याप्तयः परम् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच्

देव सम्प्रतिपन्ना ये क्रमेऽस्मिन् ब्राह्मणादयः ।  
दीक्षणीयाः कथं ते वौ एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २ ॥

भगवानुवाच्

यथाक्रमेणोदितानां वर्णानां शृणु लाङ्गलिन् ।  
त्रिविधं दीक्षणोपायं संक्षेपात् सर्वसिद्धिदम् ॥ ३ ॥  
पूर्वोक्तिलक्षणो ज्ञात्वा कथिद् दृढतरः पुमान् ।  
संसारभयभीतस्तु निर्वाणमभिवाच्छति ॥ ४ ॥  
वैराग्यधीरचपलश्चिरकालं गुरोर्गृहे ।  
संस्थितो दासभावेन खेदोद्वेगविवर्जितः ॥ ५ ॥

अथ षोडशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र संकर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्ठस्तद्व्याप्तियाह—प्रभुरिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—देवेति ॥ २ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवस्त्रिविधदीक्षोपायं शृण्वित्याह—यथाक्रमेणेति ॥ ३ ॥

दीक्षार्थं प्रथमं गुरुकुलवासः कार्यं इत्याह—पूर्वोक्तेति द्वाभ्याम् ॥ ४-५ ॥

१. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । २. वै—अ० उ० । ३. तरम्—मु० अटी० अ० उ० ।

ज्ञात्वा तस्यार्थितां नूनमाहूयाग्रे निवेश्य च ।  
 कृताकृतं<sup>१</sup> च प्रष्टव्य आ स्मृतेस्तत्क्षणावधि ॥ ६ ॥  
 ज्ञात्वा दोषबलं सम्यक् ग्रायश्चित्तैर्यथोदितैः ।  
 कृच्छ्रातिकृच्छ्रपूर्वैस्तु<sup>२</sup> शोघनीयं प्रयत्नतः ॥ ७ ॥  
 वहूनां परिपीडानामसामथ्यर्ति तु लाङ्गलिन् ।  
 मनःप्रसादपर्यन्तं कालं वा द्वादशाहिकम् ॥ ८ ॥  
 नियोक्तव्यो मिते पूतेऽयाच्चिते नक्तभोजने ।  
 स्तुतिसम्मार्जनस्नानपुष्पाद्याहैरणोद्यमे<sup>३</sup> ॥ ९ ॥  
 आश्रमे वैष्णवानां तु दिव्योद्यायतने विभोः ।  
 अनिशं भगवद्विम्बमा पीठादवलोकने ॥ १० ॥  
 अभिजाततनुर्थः प्राग् दुष्कृतैर्मलिनीकृतः ।  
 साम्प्रतं भगवद्वक्त्या पवित्रीकृतमानसः ॥ ११ ॥  
 अहोरात्रोषितो भूत्वा नखेशादिलुणिठतः ।  
 पञ्चगच्छमथार्पाद्यं हृदायैः सकुशोदकम् ॥ १२ ॥  
 मन्त्रैस्तद् वासुदेवाद्यैः संमावर्त्य चतुश्शतम् ।  
 एवं दिनचतुष्कं तु स्नापयेत् तेन तं सुधीः ॥ १३ ॥

आचार्यस्तद्वेषबलावले ज्ञात्वा यथोदितैः प्रायश्चित्तैस्तच्छान्ति कुर्यादित्याह—  
ज्ञात्वेति द्वाभ्याम् ॥ ६-७ ॥

बहुदिनमुपोषणाशक्तौ मनःप्रसादपर्यन्तं द्वादशदिनं वा मिते<sup>१०</sup> नक्तभोजने  
भगवत्स्तोत्रादिसत्कार्येषु च नियोजयेदित्याह—वहूनामिति त्रिभिः । भगवद्विम्बमा-  
पीठादवलोकने आपीठान्मौलिपर्यन्तं भगवद्विम्बदर्शन इत्यर्थः,

आपीठान्मौलिपर्यन्तं पश्यतः पुरुषोक्तमम् ।

<sup>११</sup>पातकान्याशु<sup>२</sup> नश्यन्ति किं पुनस्तूपपातकम्<sup>३</sup> ॥ (शा० स्म० २१८८)

इति प्रसिद्धेः ॥ ८-१० ॥

ब्रह्मकूर्चसंहितं प्रायश्चित्तमाह—अभिजाततनुरित्यादिभिः ॥ ११-१७ ॥

१. तश्च—अ० उ० । २. स्तच्छो—अ०, स्तु छेद—बक० । ३. भरणो—बक० उ० ।
४. द्यमैः—मु० अटी० । ५. व्ये चा—मु० अटी० । ६. विच्छस्या—मु० अटी०, द्वौजमा—बक०  
बख० उ० । ७. षिठम्—बक० बख० अ०, लुणितः—उ० । ८. पाद—बक० बख० ।
९. तमा—अटी० । १०. मितेन—अ० । ११. जपतः पातकान्याशु नश्यन्ति सफलाः क्रियाः—मु० ।
१२. काश्चाशु—म० । १३. पातकाः—म० ।

प्रत्यहं चतुरो वाराना प्रभातेनिशागमम् ।  
 ब्रह्मतीर्थं चतुष्कं सै त्वापूर्यापूर्यं संपिवेत् ॥ १४ ॥  
 क्रमात् संचोदितैर्मन्त्रैः समाचम्यान्तराऽन्तरा ।  
 अत्रप्तमशनं कुर्यादन्ते क्षीराज्यभावितम् ॥ १५ ॥  
 क्षपयेत् फलमूलैर्वी अहोरात्रचतुष्टयम् ।  
 इति भक्त्या प्रपन्नानामा जीवमपि दुष्कृतात् ॥ १६ ॥  
 कथितं विरतानां च देहशुद्धिकरं परम् ।  
 ब्रह्मकूर्चसमेतं तु प्रायश्चित्तं मयाऽद्य ते ॥ १७ ॥  
 ज्ञात्वा महत्त्वं दोषाणां त्रिविधानां तु वै पुरा ।  
 सम्भवे सति हेमादिदानं सततमाचरेत् ॥ १८ ॥  
 पूर्वोक्ताद् विहितात् कालाल्लयुद्घृतिनां क्रमात् ।  
 चतुर्थीशेन हासस्तु ब्रह्मकूर्चं पिवेत् ततः ॥ १९ ॥  
 कालेन वर्णोक्तर्षेण सह सामान्यमुच्यते ।  
 प्रायश्चित्तं हि सर्वेषां सर्वकल्पमणाशनम् ॥ २० ॥  
 उच्चरोत्तरां बुद्ध्वा प्रथमं दुष्कृतस्य च ।  
 क्षपयेत् तद् द्विजेन्द्रस्तु मासैद्वित्रिचतुर्गुणैः ॥ २१ ॥

दोषाधिकये हेमदानादिकमपि कार्यमित्याह—ज्ञात्वेति । त्रिविधानां कायिक-  
 वाचिकमानसिकानामित्यर्थः ॥ १८ ॥

दोषकाले पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चप्रायश्चित्तकालस्य चतुर्थीशेन हासं कुर्यादित्याह—  
 पूर्वोक्तादिति । एवं त्रिवर्वणस्य सामान्यतः प्रायश्चित्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

दोषाधिकये तत्रापि द्वित्रिचतुर्गुणमासाभिवृद्धिः कार्येत्याह—कालेनेति द्वाभ्याम् ।  
 तदुद्घृतं क्षपयेद् नाशयेदित्यर्थः ॥ २०-२१ ॥

- १. तात्रिशा—अ० उ० । २. तु प्रा—अ० उ० । ३. सेव—बक० बख० उ० ।
- ४. होमादि—अटी० । ५. तिनां—अ० । ६. श्रिप—बक० बख० अ० उ० । ७. द्वित्र—उ० ।
- ८. होम—अ० । ९. नामपी—म० ।

नृपविट्ठूदजातीय एकैकं वर्धयेत् क्रमात् ।  
 मासमेकादिकात् कालात् समारम्भ्य यथाक्रमम् ॥ २२ ॥  
 दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा ।  
 समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं यदि ॥ २३ ॥  
 निर्दोषं विद्वि तं जन्तुं प्रभावात् परमात्मनः ।  
 किं पुनर्योऽनुतापार्तः शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः ॥ २४ ॥  
 विरतोऽदुष्कृताच्चैव भक्तिच्छायां समाश्रितः ।  
 एवं संशुद्धदोषाणां बहुजन्मार्जितस्य च ॥ २५ ॥  
 कल्पस्य विधातार्थं नरसिंहीं महामते ।  
 कृत्वा वै साम्प्रतं दीक्षां दद्याद् वै मन्त्रपूर्वकम् ॥ २६ ॥  
 आराधनं हि तस्यैव वैभवीयस्य वै विभोः ।  
 सब्राह्माभ्यन्तरं चैव सम्युद्भासचतुष्टयम् ॥ २७ ॥  
 मासाष्टकं वत्सरं वा बुद्ध्वा भाववलं पुरा ।  
 ज्ञात्वा भव्याशयानां च प्रसादं पारमेश्वरम् ॥ २८ ॥  
 विभवव्यूहसूक्ष्माख्यां दीक्षां कुर्यादनन्तरम् ।

नृपादीनां द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणक्रमेण प्रायश्चित्ताभिवृद्धिमाह—नृपेति ॥ २२ ॥

भगवच्छासनोल्लङ्घनपरोऽपि तच्छरणागत्या निर्दोषो भवति । एतच्छासन-  
निष्ठस्य शरणागतस्य निर्दोषत्वं किपुनन्यर्थिसद्विमित्याह—दुराचार इति साधद्वाभ्याम् ।  
कृताकृताद्विरत इत्यनेन सर्वधर्षपरित्यागः सूचितो भवति । भक्तिच्छायां भक्तेश्छायेव  
छाया यस्यास्तां शरणागतिमित्यर्थः ॥ २३-२५ ॥

पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चादिप्रायश्चित्तानां इह जन्मनि संपादितदोषमात्रशामकत्वात्  
प्राग् बहुजन्मार्जितदोषशमनार्थं नृसिंहमन्त्रदीक्षामपि दत्त्वा तेन नृसिंहाराधनं च  
कारयेत् । तन्मनःपरिशुद्ध्यादिकं तस्मिन् भगवदनुग्रहं च ज्ञात्वा परव्यूहविभवमन्त्रदीक्षां  
दद्यादित्याह—एवमिति चतुर्भिः ॥ २५-२९ ॥

१. धिकात्-अ० । २. मात्-बक० बख०, समः-उ० । ३. रो हि-बक० बख० अ० उ० ।  
 ४. स्वयम्-बक० बख० अ० उ० । ५. मत्प्रभावात् परार्थतः-अ० । ६. तः कुङ्क-अ० उ० ।  
 ७. तु-उ० । ८. परमे-बक० अ० उ० । ९. आकूताद्-म० ।

सङ्करण उवाच॑

परिज्ञेयो हि कैलिङ्गैः साधकानामधक्षयात् ॥ २९ ॥  
सम्यगाराधनान्मन्त्रप्रसादः कमलापते ।

श्रीभगवानुवाच

चित्तप्रसादस्त्वतुलस्तेजोवृद्धिरतीव हि ॥ ३० ॥  
थैर्यमुत्साहसन्तोषावकार्पण्यादयो गुणाः ।  
येषां तेषां हि बोद्धव्यं मन्त्रात्माऽभिमुखः स्थितः ॥ ३१ ॥  
प्रयुक्तिः शान्तिकादीनां कर्मणामचिरादपि ।  
प्रयाति यदि साफल्यं विजेयं तेन हेतुना ॥ ३२ ॥  
सम्पन्नः पापदाहश्च प्रसन्नश्चापि मन्त्रराद् ।  
ददाति घर्मकामार्थानचिराद् यदि योजितः ॥ ३३ ॥  
अणिमाद्वष्टकं चापि विविधा योगसिद्धयः ।  
आत्माभिद्विसमेताश्च परितुष्टास्तदा स्मृताः ॥ ३४ ॥  
यस्मिन् वै वैभवे रूपे यस्याभिरमते मनः ।  
तस्य कल्पयशान्त्यर्थं दीक्षां कुर्याच्च तेन वै ॥ ३५ ॥  
तमाराध्य हि पूर्वोक्तं कालं तमनुयोज्य च ।  
योग्यतायाः परीक्षार्थमा शान्तेः सर्ववस्तुपु ॥ ३६ ॥

तस्मिन् भगवदनुग्रहो जात इति कथं ज्ञेय इति पूच्छनि संकरणः—परिज्ञेय  
इति ॥ २९-३० ॥

एवं पृष्ठस्तज्ज्ञाने हेतुनाह—चित्तप्रसाद इत्प्रादिभिः ॥ ३०-३४ ॥

एवं नारप्तिहमन्त्रेणैव दुरितक्षयार्थदीक्षाराधनादिकं कार्यमिति नियमो नास्ति ।  
वैभवमन्त्रेषु यस्य यस्मिन्नभिरुचिस्तेनैव तत्कार्यमित्याह—यस्मिन्निति मार्घेन ।  
पूर्वोक्तं कालं मासचतुष्टयं मासाष्टकं संवत्सरं वेत्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥

दीक्षितस्य मुमुक्षुत्वेन सर्वविषयेष्वप्यादाविरहे सति शान्तिकादिकर्मणामपि

१. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । २. षस्त्व-अ० उ० ।

३. तुष्टस्तदा स्मृतः-अ० उ० । ४. 'यस्मिन्' 'योग्यतायाः' नास्ति-उ० । ५. पूर्वोक्त-म०  
अटी० बक० वख० । ६. चेत्यर्थः-अ० ।

नारसिंहेन वान्येन मन्त्रेणाभिमतेन च ।  
दीक्षीयाऽऽराधनेनैव होमजापत्रादिना ॥ ३७ ॥  
कर्मणा केवलेनैव शान्तिकात्युच्छ्रितेन च ।  
विनाऽणिमादिसिद्धिभ्यो बुद्ध्वा पापं क्षयं गतम् ॥ ३८ ॥  
भावयेत् तेन कालेन ततः पद्मदलेक्षण ।  
सिद्धीनां वैभवीयानां पाद्मगुण्यमहिमाप्तये ॥ ३९ ॥  
निश्चेयसविभूत्यर्थं ग्राहां दीक्षात्रयं वरम् ।  
अंभ्यथिंतात् सुप्रसन्नात् प्रतिपन्नाच्च देशिकात् ॥ ४० ॥  
सानुकम्पेन वा तेन स्वयमग्रार्थितेन च ।  
कार्यं संशुद्धपापानां भीतानां शरणैषिणाम् ॥  
संस्कृतानां हि युक्तानामधक्षालनकर्मणि ॥ ४१ ॥

इति श्रीपाँश्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधशान्तिकल्पो नाम  
षोडशः परिच्छेदः ॥

विरहात् तत्तत्सिद्धिलिङ्गानि विना चित्तप्रसादादिलिङ्गैरेव पापक्षयो ज्ञातव्य इत्याह—  
योग्यताया इति त्रिभिः ॥ ३६-३९ ॥

तदनन्तरं गुरुं प्रार्थ्य तत्सकाशात् परव्यूहविभवदीक्षात्रयं ग्राह्यमित्याह—  
सिद्धीनामिति सार्वेन ॥ ३९-४० ॥

अप्रार्थितोऽपि गुरुः स्वयमेव कृपया योग्यानां शिष्याणां दीक्षां कुर्यादित्याह—  
सानुकम्पेनेति सार्वेन ॥ ४१ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये षोडशः परिच्छेदः ॥

१. दीक्षा—वक० वख० । २. कादृ—उ० । ३. पाप—उ० । ४. परम—वक० वख० अ० उ० ।  
५. अभ्यर्चि—अ० । ६. नियम—मु० अटी० । ७. पञ्च—उ० । ८. करो—अ० उ० ।

## सप्तदशः परिच्छेदः

नौरद उवाच

अथ सञ्चोदितो भूयः श्रीपतिर्मुनिसत्तमाः ।  
हितार्थं भवभीतानां विषुना सीरपाणिना ॥ १ ॥

सङ्करण उवाच

भगवन् विधिना केन प्रसादमधिगच्छति ।  
नृणामाराधकानां तु विश्वत्राता नृकेसरी ॥ २ ॥  
श्रुत्वैवमाह भगवान् शृणुष्व गदतो मम ।  
सिद्धिमोक्षप्रदं मन्त्रं वैभवं मूर्तिमोहजित् ॥ ३ ॥  
कामरूपधरं नित्यं नृसिंहस्य महात्मनः ।  
वर्णचक्रं तु पूर्वोक्तं सुगुप्ते वसुधातले ॥ ४ ॥  
उपलिप्ते तु संलिख्य पूजयित्वा यथाविधि ।  
समुद्ररेत् ततो मन्त्रमनेकाद्भुतविर्क्मम् ॥ ५ ॥  
प्रणवं पूर्वमादाय तदन्ते विनियोज्य च ।  
नवमं नाभिवर्णेभ्यस्तदूर्ध्वेऽराच्चतुर्दशम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीनृसिंहकल्पपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह संकरणेन वासुदेवः परिपृष्ट इत्याह—अथेति ॥ १ ॥

प्रदनप्रकारमाह—भगवन्निति ॥ २ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः प्रथमं नारसिंहमन्त्रं शृणुष्वेत्याह—श्रुत्वेति सार्थेन ॥ ३-४ ॥

वर्णचक्ररचनापूर्वकं नृसिंहबीजोद्धारं तदङ्गमन्त्रप्रकारान् द्वादशाक्षरमन्त्रं चाह—  
वर्णचक्रमित्यादिभिः । पूर्वोक्तं नैवमपरिच्छेदोक्तमित्यर्थः । तदूर्ध्वे क्षकारोर्ध्वे अराच्चतुर्दशम् औकारम् तस्योपरि तदन्तःस्थमनुस्वारमित्यर्थः । तथा च अँ क्षौ नम इति

१. श्रीनारदः—अ० उ० । २. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । ३. संगुसं—मु०अटी०,  
संगुप्ते—वक० । ४. विग्रहम्—मु० अटी० उ० । ५. मातृकाचक्रनामा ६२-७५ श्लोकेषु  
समुद्रतम् ।

तस्योपरि तदन्तःस्थं वर्णं गोलकवन्न्यसेत् ।  
 नमोऽन्तं वर्णमेतद् वै वाचकं परमात्मनः ॥ ७ ॥  
 ज्ञानादयो गुणाः षड् वै प्रागुक्ता हृदयादयः ।  
 तदर्थमेव वर्णं तं षोढा संलिख्य केवलम् ॥ ८ ॥  
 द्वितीयतुर्यष्टैश्च द्वादशेनान्तिमेन च ।  
 चतुर्दशेनारात् वर्गात् क्रमाद् वै विनियोजयेत् ॥ ९ ॥  
 वीजवच्छिरसा सर्वान् लाङ्घयेत् पञ्चमं विना ।  
 सर्वेषां प्रणवः पूर्वः स्वसंज्ञान्ते नियोजयेत् च ॥ १० ॥  
 स्वकीयौ जातयश्चान्ते वौषट्डन्ताः क्रमेण तु ।  
 ॐ नमो भगवते नारसिंहायेत्यनेन तु ॥ ११ ॥  
 द्वादशाक्षरमन्त्रेण स्मृत्वा विग्रहवत् पुरा ।  
 सवाह्याभ्यन्तरस्थेन साढ़गेनावेन पूजयेत् ॥ १२ ॥  
 अथ लब्धादिकारस्तु मन्त्रेणानेन दीक्षितः ।  
 भक्तिश्रद्धापरो नित्यं मतिमांशिष्ठन्नसंशयः ॥ १३ ॥  
 गुर्वाज्ञाभिरंतो नित्यं तर्कवाग्जालवज्जितः ।  
 स्वर्कर्मनिरंतो नित्यं वानप्रस्थोऽथवा गृही ॥ १४ ॥  
 मन्त्रमाराधयेद् येन विधिना तं निशामय ।  
 उपार्ज्य भोगानखिलान् न्यायोपायेन वै पुरा ॥ १५ ॥

भवति । तं केवलं क्षकारमात्रमित्यर्थः । द्वितीयतुर्यष्टैः आकार-ईकार-ऊकारैः । द्वादशेन ऐकारेण । अन्तिमेन विसर्गेण । चतुर्दशेन (ओ?ओ)कारेणेत्यर्थः । अराद्वर्गादित्यस्य सर्वत्रान्वयः । शिरसा अनुस्वारेणेत्यर्थः । पञ्चमं विना विसर्गसहितं वीज विनेत्यर्थः । स्वकीया जातयो नमःस्वाहादिष्टजातयः । तंथा च-३० क्षां ज्ञानाय हृदयाय नमः । ३० क्षीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ३० क्षूं शक्तयै शिखायै वौषट् । ३० क्षौं बलाय कवचाय हुम् । ३० क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् । ३० क्षौं तेजसे नेत्रत्रयाय वौषट् इत्यङ्गमन्त्रा भवन्ति ॥ ४-१२ ॥

पूर्वमनेन मन्त्रेण दीक्षितो भगवदाराधनं कुर्यादित्याह—अथेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १३-१५ ॥

१. ये-उ० । २. न अ-बख० अ० । ३. ज्ञां च-उ० । ४. युज्य-म० अटी० अ० ।  
 ५. स्वकीय-म० बक० बख० । ६. नर-उ० । ७. मतो-उ० । ८. स्वर्कर्मधर्मनिरंतो-म० अ० उ०  
 ९. 'तथा च' नास्ति-म० ।

स्नातो बद्रकचो मौनी शुद्धवासोऽर्थ्यपुष्पधृक् ।  
 कृत्वा द्वास्थार्चनाद्यं तु उपविश्यासने ततः ॥ १६ ॥  
 सायामां भूतसंशुद्धिं धारणाभ्यां समाचरेत् ।  
 केवलेन तु मन्त्रेण भावनासहितेन तु ॥ १७ ॥  
 नाभिदेशस्थितं ध्यात्वा देवं संगृह्य कल्मषम् ।  
 निस्सृतं वायुमार्गेण द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् ॥ १८ ॥  
 निरस्तपापमाकृष्य वातचक्रसमन्वितम् ।  
 नासाग्रेण तु मन्त्रेशं देहसम्पूरणाय च ॥ १९ ॥  
 तं ध्यायेद् हृदयस्थं च गतिरुद्रेन वायुना ।  
 चित्तोपशमनार्थं तु नूनं वायुजयाय च ॥ २० ॥  
 शनैः शनैरथ बहिः केवलं मारुतं क्षिपेत् ।  
 विनाऽन्त्यरेचकेनैवमन्येषामुत्तरोत्तरम् ॥ २१ ॥  
 कालाद् हासं यथाशक्ति नित्यमेव समाचरेत् ।  
 द्वादशान्तेऽथ मन्त्रेशं तप्तहाटकसन्निभम् ॥ २२ ॥

तदाराधनविधिं दर्शयन् प्रथममाराधनसामग्रीसंपादनम्, आराधकस्य स्नानादि-  
 नियमम्, द्वारदेवार्चनपूर्वकमासनोपवेशनं चाह—उपाज्येति सार्थेन । पाठक्रमादर्थक्रमस्य  
 वलीयस्त्वेन स्नानाद्यनन्तरमेव भोगोपार्जनमिति बोध्यम् । यदा पुरा पूर्वदिनेष्वित्यर्थो  
 वर्णनीयः, पुष्पादीनि विना तण्डुलादीनां भोगानां पूर्वदिनेष्वपि संग्राह्य-  
 त्वात् ॥ १५-१६ ।

अथ प्राणायामपूर्विकां भूतशुद्धिं कुर्यादित्याह—सायामामिति । धारणाभ्यां  
 दहनाप्यायनात्मिकाभ्यामित्यर्थः । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—  
 धारणापञ्चकं चैव संक्षिप्तं विहितं द्वैयम् ॥  
 दहनाप्यायनाच्चैव येदा देहात् स्वशुद्धये । (३।२२३-२२४)

इति ॥ १७ ॥

प्राणायामप्रकारमाह—नाभिदेशस्थि(त इतमि)ति सार्धेश्चतुर्भिः । वायुमार्गेण  
 प्रथमप्राणायामान्त्यरेचकवायुमार्गेत्यर्थः । वातचक्रसमन्वितं द्वितीयप्राणायामपूरक-  
 वायुसहितमित्यर्थः । गतिरुद्रेन वायुना तृतीयप्राणायामकुम्भकेनेत्यर्थः । एवैमेवैतद्वया-  
 ख्यातं नित्यव्याख्याने ॥ १८-२२ ॥

१. धृत्-मू० अटी० । २. कालाग्रास-अटी० । ३. विहितद्वयम्-अ० म० ।
४. यथा दाहस्वशुद्धये-अ० म० । ५. मेत-अ० ।

सहस्ररविसंकाशं वृत्तमण्डलमध्यगम् ।  
 स्मृत्वाथ मुक्तं तन्मात्रैर्निर्देहैऽविग्रहं स्वकम् ॥ २३ ॥  
 दक्षिणाङ्गेरथाङ्गुष्ठैप्रान्तदेशे शिखाभरम् ।  
 ध्यात्वा युगान्तहृतभुग्रूपं ज्वालासमावृतम् ॥ २४ ॥  
 तेन स्वविग्रहं ध्यायेत् प्रज्वलन्तं समन्ततः ।  
 देहजां भावयेज्जवालां मन्त्रनाथे लयं गताम् ॥ २५ ॥  
 दिव्यं प्रशान्तीकारं तु तमधिष्ठाय चेतसा ।  
 स्वमन्त्रादमृतौधेन सेचयेद् विग्रहं स्वकम् ॥ २६ ॥  
 तृतीयं समन्त्रं तद्विम्बमाकृष्य हृदि विन्यसेत् ।  
 अथ हस्तद्वये न्यसेद् दीप्तिमद् द्वादशाक्षरम् ॥ २७ ॥  
 मणिवन्धान्नखाग्रं तु मूलमन्त्रपुरस्सरम् ।  
 हृदादयोऽस्त्रपर्यन्ता अङ्गुष्ठागङ्गुलीपु च ॥ २८ ॥

भूतशुद्धिप्रकारमाह—द्वादशान्त इति १०३च्चभिः । द्वादशान्ते स्वमूढनों द्वादशाङ्गुलोपरीत्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

सौषुम्नाद दक्षिणाङ्गेरान्निर्गमय्य हरिं वहिः ॥

सहस्ररविसंकाशं<sup>११</sup> वृत्तमण्डलमध्यगम् ।

तस्काञ्चनवर्णभिमासीनं परमे पदे ॥

मन्त्रात्मानं तु तं ध्यात्वा ह्यपरि द्वादशाङ्गुलेः<sup>१२</sup> ॥ इति ।

(३।१४३-१४५)

तन्मात्रैर्मुक्तं तत्त्वसंहारकमेण गन्धतन्मात्रादिभिः<sup>१३</sup> मुक्तमित्यर्थः । स्वमन्त्रात् तन्मन्त्रप्रतिपाद्यद्वादशान्तस्थितभगवतः सकाशादित्यर्थः । तद्विम्बं स्वैर्मन्त्रं द्वादशाङ्गुलोपरि वृत्तमण्डलमध्यस्थं देवमित्यर्थः ॥ २२-२७ ॥

करन्यासमाह—अथेति १०४द्वाभ्यास । द्वादशाक्षरं पूर्वोक्तनृसिंहद्वादशाक्षरमित्यर्थः ।

१. वृत्त-अटी० । २. मध्यगः-बक० । ३. मुक्तस्त-मु० अटी० बक० बख० ।

४. ग्रहेद-अटी० । ५. ङ्गुष्ठ-अ० । ६. पज्वा-मु० अटी० । ७. ज्ञात्वा-अ० ।

८. न्तराग-मु० अ० उ०, न्ताङ्गार-मु० । ९. तेजसा-बख० । १०. घेन सेच-अ० उ० ।

११. श्लोकोऽय दिव्यमित्यादिकाञ्छ्लोकात् पूर्व स्थाप्यते-मु०, बक० पुस्तके तु दिव्यमित्यादिकः श्लोको नास्त्येव । १२. न्यस्येदादिम-मु० अटी० । १३. चतुर्भिः-अ० । १४. रा नि-अ० म० । १५. शवृ-अ० म० । १६. ङ्गुलैः-अ० म० । १७. विमुक्त-म० । १८. समन्त्रमिति सार्वत्रिको मूलपाठः । १९. त्रिभिः-अ० ।

सर्वासु युग्मयोगेन नेत्रं नखमुखाश्रितम् ।  
 आमूर्धनश्चरणान्तं तु द्वादशार्णं न्यसेत् तनौ ॥ २९ ॥  
 जीवभूतं तदन्तःस्थं मूलमन्त्रं तंथा न्यसेत् ।  
 हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कं स्वगोचरे ॥ ३० ॥  
 स्वस्वाङ्गुलिंयुगेनैव तेजोरूपं विनाऽङ्गकृतेः ।  
 श्रीवत्सं वक्षसो वामे पूर्णेन्दुसदृशघुतिम् ॥ ३१ ॥  
 कौस्तुभं हृदये न्यस्य चण्डदीधितिलक्षणम् ।  
 नानाब्जवनपुष्पोत्थां वनमालां च कण्ठतः ॥ ३२ ॥  
 पद्मं दक्षिणपाणौ तु शङ्खं वामकरे न्यसेत् ।  
 गैदां पद्मकरे भूयः शङ्खपाणौ तु चक्रराट् ॥ ३३ ॥

मूलमन्त्रपुरस्सरं पूर्वोक्तनृसिंहबीजपुरस्सरमित्यर्थः । युग्मयोगेन हस्तद्वयेऽपि युगपदित्यर्थः ॥ २७-२९ ॥

अङ्गन्यासमाह—आमूर्धं इति द्वाभ्याम् । स्वगोचरे हृदयादिस्थानेवित्यर्थः ।  
 स्वस्वाङ्गुलियुगेन वक्ष्यमाणहृदादिमुद्रयेत्यर्थः । आङ्गुरेविना निराकारमित्यर्थः ॥ २९-३१ ॥

भूषणायुधशक्तिन्यासमाह—श्रीवत्समित्यादिभिः । एवं भूषणादीनां न्यासो हस्तयोरपि कार्यः, सर्वमन्त्राणामपि करन्यासं विनाऽङ्गन्यासमात्रस्याविहितत्वात् । तथा च पारमेश्वरे—

या विभोः परमा शक्तिर्हृत्पद्मकुहरान्तगा॑ ॥  
 वायव्यं रूपमास्थाय दशधा संव्यवस्थिता ।  
 ईच्छया सप्रवाहेण पाणिमार्गेण निर्गता ॥  
 नाडीदशकमाश्रित्य ता एवाङ्गलयो मताः ।  
 अत एव द्विजश्रेष्ठ श(क्त्या)ख्ये प्रभुविग्रहे ॥  
 पूर्वं मन्त्रगणं न्यस्य ततो भूतमये न्यसेत् । (४२०-२३) इति,  
 व्यापारो मानसो ह्योप न्यासाख्यो यद्यपि स्मृतः ।  
 न बध्नाति स्थितिं सम्यक् तथापि क्रियया विना ॥  
 कराधीना पुनः साऽतः प्राङ्गन्यासस्तु तयोः स्मृतः । (४४-५)

१. तदा-उ० । २. ली-उ० । ३. कृते-सार्वत्रिको मूलपाठः । ४. न्यस्येच्च-मु० अटी० ।  
 ५. पद्मवित्तद्वयं नास्ति-अ० । ६. कितः स्त्रक्-अ० म० । ७. न्तका-अ० ।  
 ८. इच्छायाः-अ० म० ।

खङ्गं दक्षिणहस्तेऽथ धनुर्वामकरे न्यसेत् ।  
 आचांसाद् दक्षिणे भागे न्यस्या श्रीमृत्तरे तथा ॥ ३४ ॥  
 पुष्टिर्गुल्फावसानं च वक्त्रमध्ये सरस्वती ।  
 पृष्ठतो विन्यसेन्निद्रां ततः पाणिद्वयेन तु ॥ ३५ ॥  
 मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद् ध्यानं देवोऽहमिति भावयेत् ।  
 औथ प्रणवपूर्वेण स्वनाम्ना नतिना सह ॥ ३६ ॥

इति च । अत एवेश्वरपारमेश्वरादिषु ( ई० सं० २१५७; पा० सं० ४११७ ) हस्तयोरपि किरीटादिन्यास उक्तः । स तु मूलकारस्याप्यभिमतः । अन्यथाऽत्र हस्तयोर्हृन्मन्त्रादिन्यासोऽपि तेन तोच्येत ॥ ३१-३५ ॥

मूलादिमुद्राप्रदर्शनपूर्वकं स्वस्मिन् देवत्वभावनामाह—मुद्रामित्यर्थेन । एवमेव व्यक्तमुक्तं जयाख्येऽपि—

अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः ।  
 वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥  
 एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने । (११४१-४२) इति ।

नैतावता जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपैवं शङ्खनीयम्, यतः श्रीपञ्चरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे—“एतेन लाङ्छनन्यासाद्यनन्तरम् “मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद्वेवं देवोऽहमिति भावयेत्” ( सा० सं० १७।३६ ) इति समाराधनग्रन्थोऽपि निर्वृद्धः । “बद्ध्वा मूलादिकां मुद्रां देवोऽहमिति भावयेत्” इत्यादिसंहितान्तरग्रन्थाश्चात्रैः तुल्यन्यायाँः । अत्र “मनो ब्रह्मेत्युपासीत्” ( छा० उ० २।१८।१ ) इत्यादिष्विवेतिकारादिवशाद् दृष्टिविधित्वं सुस्पष्टम् । अत एव हि तथाविधभावनयाऽप्यनन्तरयोग्यतापादनमात्रमुक्तम्—

न्यासेन देवमन्त्राणां देवतादात्म्यभावनात् ।  
 अप्राकृताङ्गकरणात् पूजार्थं हृति साधकः ॥ इति ।

अन्यथा—

देवतारूपमात्मानमर्चयेदर्घ्यधूपकैः ।

धूपावसानिकैर्भौगैर्ध्यात्वा नारायणं हृदि ॥

इति समनन्तरकर्तव्यं कथं संगच्छते । न हि स्वरूपैवभावनायां हृदि पुनर्नारायणध्यानमिति किञ्चित् स्यात् । न च शेषवृत्तौ प्रवर्तमानस्य स्वरूपैवभावनं जाघटीति । अतो दृष्टिविधिपक्षोऽत्र स्वीकार्यः । यद्वा गत्यन्तरे संभवति दृष्टिविधिविवक्षा च न युक्ता । अतस्तच्छरीरतया तादवीन्यादिभिः सर्वानुवृत्तस्तद्वयपदेशः । तदभिप्रायेण च स्वनियाम्येत्यादिकं वक्ष्यति भाष्यकारः” ( पृ० ८६-८७ ) इति सुस्पष्टमुपपादितम् ॥३६॥

१. पद्मकितद्वयमेतद् ब्रह्मस्वरूपमिति पद्मक्तयुत्तरं स्थापितम्-अ० । २. च्चात्र-अ० म० ।

३. न्यायः-म० । ४. करणादि-म० । ५. दृष्टिविधित्वं-अ०, दृष्टिमाधित्वं-म० ।

शेषपूर्वं तु वह्न्यन्तमासनं परिकल्पयेत् ।  
 तदाक्रम्याथ तस्यैव कार्या स्त्रहृदि कल्पना ॥ ३७ ॥  
 ब्रह्मस्वरूपममलं स्वचैतन्यं तदूर्ध्वतः ।  
 विकल्पोपरतं कृत्वा इच्छया तु विवर्तते ॥ ३८ ॥  
 परध्वनिस्वरूपेण तत्प्रकाशात्मना पुनः ।  
 व्यक्तिभावेन तच्चापि एवं ग्रविलये सति ॥ ३९ ॥  
 विसर्जनं तु बोद्धव्यं सम्पन्ने तु क्रियाक्रमे ।  
 क्रम एष क्रमोक्तानां मन्त्राणामवतारणे ॥ ४० ॥

---

अथ मानसाराधनार्थं स्वहृदये प्रणवादिनमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैस्तत्त्वामभिरन-  
 न्तादिवह्न्यन्तपीठपरिकल्पनं कार्यमित्याह—अथेति सार्थेन । पारमेश्वरे तु जयाख्योक्त-  
 रीत्या “नाभिमेद्रान्तरे ध्यायेत्” (ज० सं० १२१२; पा० सं० ५१५) इत्यादिभिर्हृदि  
 जाग्रदासनकल्पनमुक्तम् । अत्र तु स्वप्नासनस्योक्तत्वात् तत्रोक्तस्थानविभागोऽत्रापि  
 यथासंभवं बोध्य । स्वप्नजाग्रदासनमेदस्तु पारमेश्वर एव दर्शितः —

स्वप्नः शेषाहिपूर्वं तु वह्निपर्यन्तमासनम् ।  
 क्षीरार्णवादितो भावासनान्तं जाग्रदासनम् ॥ (३५७)  
 इति ॥ ३६—३७ ॥

तदासनोर्ध्वं भगवदभिव्यक्तिक्रममाराधनानन्तरं विसर्जनक्रममाह—ब्रह्मस्वरूप-  
 मिति सार्धद्वाभ्याम् । विकल्पोपरतं विशेषणैरहितमित्यर्थः । केवलज्ञानस्वरूपमिति  
 यावत्,

ज्ञानेन्द्रियगणे<sup>३</sup> चैव विकल्पं तनुते मनः ।  
 विकल्पो विविर्धः कल्पस्तत्त्वं प्रोक्तं विशेषणम् ॥  
 धर्मेण सह संवन्धो धर्मिणश्च स उच्यते ।  
 विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः ॥ (५१६८-६९)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । विवर्तते पुनर्विशेषणसंबन्धेन व्यक्तीभवतीत्यर्थः ॥ ३८-४० ॥

१. इतः परम्—“शेषं तु पूर्ववन्न्यस्यासनं च परिकल्पयेत्” इति श्लोकाधीर्थोऽधिको दृश्यते—  
 मु० अटी० । एतच्च पुनरावृत्तिमात्रम् । २. विशेषण—म० । ३. गणैश्चैतद्—मु० ।  
 ४. धा क्लृसि—मु० ।

लाङ्छनादिक्रियाध्यौनमेषां चैव हि कल्पना ।  
 ज्ञातव्याऽराधकेनैव नित्यं कर्मणि कर्मणि ॥ ४१ ॥  
 मन्त्रन्यासमतः कुर्याद् हस्तन्यासं विना विभोः ।  
 ध्यात्वाऽथ भावनाजातैर्मोगैः परमपावनैः ॥ ४२ ॥  
 पूजयित्वा जपान्तं चाप्यवतार्य बहिर्यजेत् ।  
 दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां हृद्वीजेन विचिन्त्य च ॥ ४३ ॥  
 सूर्यसोमौ ततः कुर्याद् द्रव्यदाहसमुद्भवौ ।  
 तोयमादाय पात्रेऽथ तत्र हृन्मन्त्रितं क्षिपेत् ॥ ४४ ॥  
 पुष्पगन्धमोपेतं सुसितं शालितण्डुलम् ।  
 मन्त्रयेत् प्रणवाद्येन वहशो हृदयेन तु ॥ ४५ ॥  
 तदुद्घृतेनाप्मसा वां अस्त्रमन्त्रं समुच्चरन् ।  
 प्रोक्षयेत् स्वासनस्थानं यागोपकरणं तर्था ॥ ४६ ॥  
 चित्रस्थाद् भगवद्विम्बाद् भुक्तं पुष्पादिकं हि यत् ।  
 अपनीय तु तत्कुर्याद् वाससा रेणुमार्जनम् ॥ ४७ ॥  
 धातुद्रव्यमये कुर्यात् क्षालनं गन्धवारिणा ।  
 उपलिप्याथ भूमागं साम्भसा गोमयेन तु ॥ ४८ ॥

सर्वमन्ताराधनेष्वप्यमेवावाहनादिक्रमो ज्ञेय इत्याह—क्रम इति सार्थेन  
॥ ४०-४१ ॥

अथ स्वहृदये भगवतोऽङ्गन्यासपूर्वकं जपयज्ञान्तं मानसैरूपचारैरभ्यर्च्यं बहिर्यगिं च कुर्यादित्याह—मन्त्रन्यासमिति सार्थेन ॥ ४२-४३ ॥

बहिर्यागविधिं दर्शयन् प्रथममध्यादीनां दहनाद्यायनमुद्वादर्शनमाह—दक्षिणेति ॥ ४३-४४ ॥

पुजोपकरणानां प्रोक्षणमाह—तोयमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ४४-४६ ॥  
 चित्रविम्बशोधनमाह—चित्रस्थादिति ॥ ४७ ॥  
 लोहमयस्य शोधनमाह—धात्विति ॥ ४८ ॥

१. ढ्यानामेषा—अ० उ० । २. न्ते च अ—अ० । ३. मण्ड—उ० । ४. वै—अ०. चैव—वर्व० उ० । ५. रेत—अ० उ० । ६. त्वथ—अ० उ० ।

तत्र मण्डलमालेर्घयं सूत्रयित्वा पुरा समम् ।  
 चतुरश्रं चतुर्द्वारं मार्गपीठाब्जभूषितम् ॥ ४९ ॥  
 त्रिनाभिनेमिष्ठरं चक्रं तु कमलाद् वहिः ।  
 अमेध्यैः सितादिकैर्रागैः पृष्ठैर्वा तैश्चर्चैतैः शुभैः ॥ ५० ॥  
 चन्दनाद्यैः सुगन्धैस्तु सर्पैस्तिलतण्डुलैः ।  
 सवैषधिमयेनैव चूर्णेन परिपूर्य वा ॥ ५१ ॥  
 पुष्पैरथार्थ्यपात्रं तु मन्त्रैः सम्पूज्य निष्कलैः ।  
 पात्रेऽपरस्मिस्तस्माद् वै स्तोकमुद्घृत्य चोदकम् ॥ ५२ ॥  
 योगपीठार्चनं कुर्यादनुसन्धानपूर्वकम् ।  
 स्वनाम्ना प्रणवाद्येन नमोऽन्तेन यथाक्रमम् ॥ ५३ ॥  
 अनन्तेशं स्मरेन्मध्ये सर्वाधार्मयं प्रभुम् ।  
 आग्नेयादौ तु धर्माद्यमैशान्यान्तं चतुष्टयम् ॥ ५४ ॥  
 प्रागादावप्यधर्माद्यमुत्तरान्तं न्यसेत् परम् ।  
 तदूर्ध्वं कमलं ध्यायेत् स्वनाम्नाऽथ तथोपरि ॥ ५५ ॥  
 स्मरेत् तत्राश्रितं सूर्यं शशाङ्कं केसरावनौ ।  
 कर्णिकास्थं हुतभुजं ततो गन्धादिना यजेत् ॥ ५६ ॥  
 गणेशाद्यर्चनं कृत्वा प्रथमं गुरुसन्तोः ।  
 प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशमादाय शुभलक्षणम् ॥ ५७ ॥

मण्डलरचनाप्रकारमाह—उपलिप्येत्यादिभिः ॥ ४८-५१ ॥

पीठपरिकल्पनप्रकारमाह—पृष्ठैरित्यादिभिः ॥ ५२-५६ ॥

अथ विष्वक्सेनादिगुरुपङ्कत्यर्चननदत्तुजापूर्वकं महाकुम्भस्थापनप्रकारमाह—  
 गणेशाद्यर्चनमित्यादिभिः । नन्वत्र गणेश इति सामान्यशब्दप्रयोगाजज्याग्यलङ्घमीतन्त्र-  
 पारमेश्वराद्युक्तो विनायकस्तदर्थः स्यादिति चेन्न,

अथ शिष्टस्तु नैवेद्यैर्यजेद् गणपति प्रभुम् ।

विष्वक्सेनाभिधानं चाप्यादावेवार्चितो हि यः ॥ (१७।१८२)

१. लिख्य—अ० उ० । २. यथा पुरम्—वक० वक० । ३. मध्यैः—म० अट्ठ० वा०  
 वक० अ० । ४. रङ्गैः—उ० । ५. तच्छदैः—अ० उ० । ६. नित्यं—प्र० ।  
 ७. न्यन्तं—म०, न्यां तच्च—अ० उ० । ८. दौ त्वप्य—अ० उ० । ९. मन्तती—अ० उ० ।

तमसाऽस्त्रजप्तेन सम्पूर्यादौ तु निक्षिपेत् ।  
 तद्गर्भे काञ्चनं रत्नं बीजान्योषधिसत्फलम् ॥ ५८ ॥  
 चूतादिविटपोदभूतां सपत्रां पुष्पमञ्जरीम् ।  
 कौशेयवस्त्रसंक्षणं कृत्वा चन्दनचैर्चितम् ॥ ५९ ॥  
 तन्मध्ये पूजयेन्मन्त्रं साङ्घं सावरणं क्रमात् ।  
 ग्राग् दिङ् मण्डलबाह्येथ दत्वा वै पुष्पचक्रिकाम् ॥ ६० ॥  
 पीठमन्त्रोपजप्तां च तेंदूर्धे स्थापयेच्च तम् ।  
 अथाऽवतार्यो हृदयान्मन्त्रो विमलदीधितः ॥ ६१ ॥  
 कर्मणा मनसा वाचा सिद्धिमार्गेण साधकैः ।  
 अनुज्ञितस्वरूपं च सूर्यबिम्बमिवाम्भसि ॥ ६२ ॥  
 कर्मणा प्रेरयेच्चैव वाचा तं मन्त्रमुच्चरेत् ।  
 आगच्छपदसंयुक्तं संस्मरेन्मनसाकृतिम् ॥ ६३ ॥

इति विशेषशब्दस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अत एवेश्वरतन्त्रे—

विष्वक्सेनं गणाधीशं गुरुंश्च तदेनन्तरम् ।  
 गुरुन् परमसंज्ञांश्च यजेत् सर्वगुरुंस्तँदा ॥  
 आदिसिद्धसमूहं तु भगवद्यानतत्परम् ।  
 नित्याधिकारिणश्चासात् भगवत्तत्त्ववेदिनः ॥  
 चत्वारो मनवश्चान्ये ऋषयः सप्त पूर्वकाः । (४।३३-३५)

इति गुरुपङ्क्तिरुक्ता । प्राकृदिक् पूर्वदिशीत्यर्थः । विभक्तिलोपश्छान्दसः । मण्डलबाह्ये पूर्वोक्तमण्डलाद् बहिरत्यर्थः । पीठमन्त्रोपजप्तामिति चक्रिकाया विशेषणम् । पीठमन्त्रैः पूर्वोक्तैरनन्तादिमन्त्रैः, उपजप्ताम् अचित्तामित्यर्थः ॥ ५७-६१ ॥

तत्र भगवदावाहनक्रममाह—अथेति सार्वद्वाभ्याम् । करणत्रयेणाप्यावाहनं कार्यमित्युक्त्वाऽत्राहनकाले करणत्रयस्यापि प्रेरणोच्चारणस्मरणाख्यकार्यत्रयमपि प्रतिपादितम् । प्रेरणं चात्राधर्यपूष्पाऽजलिसमर्पणमन्त्रान्याससंनिधिसंनिरोधसांमुख्यमुद्भादर्शनादिकं ज्ञेयम् । उच्चारणं चतुर्वारं बोध्यम् । मन्त्रं पूर्वोक्तं नृसिंहमन्त्रमित्यर्थः ॥ ६१-६३ ॥

१. मुत्कण्ठं—अ० । २. चर्चितचन्दनम्—मु०, चार्चित—अटी० । ३. पत्रपुष्पकाम्—मु० ।  
 ४. तदूर्ध्वं—अ० । ५. मथा—उ० । ६. तन्मन्त्र—अटी० उ० । ७. स्तथा—मु० । ८. पूर्विकाः—अ० म० ।  
 ९. दिशि—अ० ।

एवमाहूय वै द्यादर्थपादे च भक्तिः ।  
 आमूलात् सर्वमन्त्राणां व्यक्तिस्थानां समर्चनम् ॥ ६४ ॥  
 अर्थपुष्पादिना कुर्यात् स्वेन स्वेन स्वके पदे ।  
 तदोदितं विभोदेहाद् हृदयाद्यं चतुष्टयम् ॥ ६५ ॥  
 न्यसेत् कमलपत्राणामा पूर्वादुत्तरान्तिकम् ।  
 अग्नीशरक्षोवायव्यदलेष्वस्त्रं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥  
 नेत्रं केसरजालस्थं चक्रं नाभित्रयोपरि ।  
 श्रीवत्सकौस्तुभौ चैव वनमालां तथैव च ॥ ६७ ॥  
 उदकपश्चिमभागस्थे चाक्रीये त्वंप्यग्रये ।  
 कमलं निशिताग्रं च नन्दकं विन्यसेत् क्रमात् ॥ ६८ ॥

एवमाहूतस्य भगवतोऽर्थपादाद्युपचारानुपूर्वी कथयन् प्रथमं लययागमाह—  
 एवमिति साधेन । व्यक्तिस्थानां भगवद्विव्यमङ्गलविग्रहविन्यस्तानामित्यर्थः । अनेनावाहनानन्तरं स्वशरीरवद् भगवदवयवेष्वपि मूलमन्त्रादीनां न्यासः कार्यं इत्युक्तं भवति । अर्थपुष्पादिनेत्यत्रादिशब्देन गन्धधूपौ ग्राह्यौ । स्वेन स्वेन स्वस्वमन्त्रेण-  
 त्यर्थः ॥ ६४-६५ ॥

अथ भोगयागक्रममाह—तदोदितमित्यारभ्याग्रभागे सरस्वतीमित्यन्तम् ।  
 चाक्रीये चक्रसंबन्धिनीत्यरत्रयस्य विशेषणम् । निशितान्यग्राणि यस्य तं तथोक्तं गदा-  
 मित्यर्थः । अनयोरर्चनयोर्मन्त्राणां निराकारत्वसाकारत्वभेदं लयभोगसंज्ञाकत्वं च  
 जयाख्ये प्रतिपादितम्—

शक्तयश्चाङ्गषट्कं च लाङ्घनं कमलादिकम् ॥  
 भूषणं कौस्तुभाद्यं च वदनानां तथा त्रयम् ।  
 सत्याद्या मूर्त्यश्चैव देवे० देहस्य भाविताः ॥  
 व्यापकस्य तथात्वेन स्वे स्वे स्थाने प्रभात्मकाः ।  
 तदेहसंस्थिताः सर्वे पूजनीयाः क्रमेण तु ॥  
 परिवारं विना मन्त्रैः स्वैः स्वैः पुष्पानुलेपनैः ।  
 लययागो ह्यायं विप्र लह्म्यादिष्वनुकीर्तितः ॥  
 तस्माद् हृत्कर्णिकाधारेऽ मूर्तैः वा यत्र कुत्रचित् ।  
 मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् सदा ॥  
 याग एष लयाख्यस्तु संक्षिप्तः सर्वसिद्धिदः ।

१. मम—अटी० । २. वायवादि—मु० अटी० । ३. त्वपर—मु० अटी० । ४. देहे  
 देवस्य—मु० । ५. व्यापक्य च—मु० । ६. तथा—मु० । ७. कारे—अ० ।

प्राणभागदक्षिणस्थाभ्यां त्रितयं चाथ विन्यसेत् ।  
 कार्मुकं हेतिराट् शङ्खं ततो देवस्य दक्षिणे ॥ ६९ ॥  
 नेमिभागे श्रियं देवीं पुष्टिपुनरतो न्यसेत् ।  
 पृष्ठदेशे<sup>१</sup> स्थितां निद्रामग्रभागे सरस्वतीम् ॥ ७० ॥

मन्त्रराट् कणिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु ॥  
 साकाराः केवलाः सर्वे यत्र भोगाभिधः स तु ।  
 केवलेन च यागेन पृथग्भूतेन नारदः ॥  
 पूजनं कमलादीनामधिकाराभिधः स तु । (१२।७६-८२) इति।

प्रैंभात्मकास्तेजोरूपाः, निराकारा इति यावत् । परिवारं विना तत्तत्परिवारं विनेत्यर्थः । परिवारस्यापि परिवारकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति भावः । एत एव श्लोका ईश्वरपार-  
 मेश्वरयोरपि स्वस्वोक्तमन्त्रन्यासानुसारेण प्रतिपादिताः । पारमेश्वरव्याख्याने तु  
 “अन्या मूर्तय इत्यनेनाष्टाद्यनेकभुजभूषितायुधमूर्तिविषया द्रष्टव्या:” इति व्याख्या-  
 तम् । तदसंगतम्, अत्रत्यमूर्तिशब्दस्य सत्यादिमूर्तिपरत्वात्, “सत्याद्या मूर्तयश्चैव”  
 (ज० सं० १२।७७) इति मूलोक्तेच्च । परिवारं विनेत्यत्रापि परिवाराकारत्वकल्पनां  
 विनेति व्याख्यातम् । तदप्यप्रकृतम्, प्रभात्मका इत्यनेनैव तदर्थसिद्धेः । “मूलमन्त्रशरी-  
 रस्थं परिवारं यजेत् सदा” (जया० १२।८०) इत्यनेन तदानीमपि परिवारत्वस्य दुर्नि-  
 रोधत्वाच्च । पारमेश्वरे लययागः स्वोक्तन्यासानुसारेण हृन्मन्त्रक्रमेणौक्तः । भोग-  
 यागस्तु केवलजयाख्यवचनेनैव प्रतिपादितः । तथापि पारमेश्वरसंहितानिष्ठैर्हन्मन्त्रादि-  
 क्रमेणैव भोगयागः कार्यः, तस्यापि पूर्वोक्तन्यासानुसारेणैव कर्तव्यत्वात्, तथैव बाह्य-  
 यागे वक्ष्यमाणत्वाच्च । पारमेश्वरव्याख्यानेऽप्येवमेवोक्तम् । लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु ।  
 तत्र लक्ष्म्यादयः, अैत्र हृदादय इति विशेष इति । उत्तरत्रापि पारमेश्वरे मानसयागा-  
 नन्तर “भोगस्थानगतानां च लक्ष्म्यादीनां क्रमेण तु” (ज० सं० १२।११३; पा० सं०  
 ५।१४८) इति जयाख्यवचनमेवोदाहृतम् । तत्रापि व्याख्याकारैर्लक्ष्म्यादीनामिति नारद-  
 श्रुतग्रन्थे लक्ष्म्यादित्वमन्त्रहृदयादिति विवेक इत्युक्तम् । एतदबुद्ध्यैव कैश्चित् पारमेश्वर-  
 प्रयोगकारैर्यथेच्छं पाणिडत्यं प्रदर्शितम् । केषुचित् पारमेश्वरप्रयोगेष्वस्मिन्नवसरेऽधि-  
 कारयागस्यापि कर्तव्यत्वम्, तस्य स्वबुद्धिक्लिप्तस्थानान्तरं चोक्तम् । तैरधिकारयाग-  
 शब्दार्थं एव न ज्ञात(व्य?)ः, व्याख्यानपङ्किरपि न दृष्टा, पृथग्भूतेनेति विशेषण-  
 मपि न स्मृतम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ६५-७० ॥

१. देशस्थि—अ० उ० । २. केवलेनानुभागेन—म० । ३. जयाख्यवचनानां व्याख्यानमेतत् ।
४. ईश्वरे ( २।१००-१०५ ), पारमेश्वरे ( ५।१२५-१३२ ) चैते श्लोका द्रष्टव्याः ।
५. ‘तु’ नास्ति—म० । ६. पुत्र—अ० । ७. दीति—अ० ।

वामदक्षिणभागभ्यां      वीथिस्थमिषुधिद्वयम् ।  
 द्वारेष्वस्त्रं      न्यसेद् भूयो मुद्रां कोणचतुष्टये ॥ ७१ ॥  
 सायुधानथ दिवपालान् स्वस्थाने मण्डलाद् वहिः ।  
 एवं न्यैस्य ततो ध्यायेन्मन्त्रव्यूहं यथारिथतम् ॥ ७२ ॥  
 सर्वदेवमयं देवं सर्वेषां तेजसां निधिम् ।  
 सर्वलक्षणसम्पूर्णं      सार्वज्ञादिगुणैर्युतम् ॥ ७३ ॥  
 निष्टप्तकनकाभं च सम्पूर्णाङ्गं महानुतम् ।  
 घोरशार्दूलवदनं      चण्डमार्तण्डलोचनम् ॥ ७४ ॥  
 सौदामिनीचयप्रख्यैलोमभिः      परिपूरितम् ।  
 अरुणाम्भोजपत्राभं      वज्राधिककरोरुद्दम् ॥ ७५ ॥  
 चलत्फणीश्वरसटं      चन्द्रकोटिशतद्युतिम् ।  
 वमन्तमान्तरं      वहिं खर्वन्त्रैमारुतानुगैः ॥ ७६ ॥  
 ग्रलयाम्बुदनिर्घोषमुद्गिरन्तं      स्ववाचकम् ।  
 युगान्तहुतभुग्ज्वालामण्डलान्तव्यवस्थितम् ॥ ७७ ॥  
 धैर्डस्त्रं चाप्यष्टवाहुं व्याप्य लोकान् स्थितं प्रभुम् ।  
 दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं      दिव्याम्बरधरं तथा ॥ ७८ ॥  
 दिव्यस्थवेष्टनोपेतं      दिव्यालङ्कारमण्डितम् ।  
 कौस्तुभेनोरग्निस्थेन      श्रीवत्सेनाप्यलङ्कृतम् ॥ ७९ ॥

मण्डलवीथगादिष्वर्चनीयान् परीवारानाह—वामदक्षिणेति सार्वेन । इषुधिद्वयं  
 तूणीरद्वयमित्यर्थः । द्वारेष्वस्त्रं चक्रमित्यर्थः । पूर्वं भोगयागे चक्रगदयोरुक्तवाद् भूय  
 इत्युक्तम् ॥ ७१-७२ ॥

मूलमन्त्रादीनां ध्यानान्याह—एवं न्यस्त्वा ततो ध्यायेदित्याभ्य वस्त्रालङ्कार-

१. विधि—मु० अटी० वक० वख० । २. गदां—वक० वख० । ३. न्यस्त्वेति भाष्यकार-  
संमतः पाठः । ४. सर्वज्ञादि—अटी० उ० । ५. गुणान्वितम्—अ० । ६. चन्द्र—उ० ।  
७. मार्तण्ड—अ० अटी० । ८. करेषु—मु० अटी० । ९. त्विपम्—उ० । १०. स्वमुखः—वक० वख० ।  
११. पडम्बृच्चाष्टभुजं—मु० उ० ।

रत्नकाश्चनसन्मुक्तायुक्तया वनमालया ।  
 संब्रह्मसूत्रया चैव शोभितं परमेश्वरम् ॥ ८० ॥  
 भूजान्यस्त्रवरैर्दीप्तैः कमलाद्यैर्युतानि च ।  
 क्षीरसागरवच्छुभ्रं ततः पद्मं तु दक्षिणे ॥ ८१ ॥  
 प्रणवध्वनिगर्भं तु हिमाद्रिशतशोऽधिकम् ।  
 वौमे शङ्खवरं ध्यायेद् गदाखडगौ ज्वलत्रभौ ॥ ८२ ॥  
 दक्षिणे पाणियुग्मेऽथ चक्रं कालानलद्युतिम् ।  
 सधनुर्वामहस्ताभ्यां ततः पाणिद्वयेन तु ॥ ८३ ॥  
 अविद्यादलिनीं मुद्रां कर्माख्यां संस्मरेत् प्रभोः ।  
 एवमेव हि हृन्मन्त्रं ध्यायेत् कुमुदपाण्डरम् ॥ ८४ ॥  
 पद्मरागाचलाकारमारकं च शिरः स्मरेत् ।  
 अञ्जनाशमप्रतीकाशं शिखामन्त्रं तथाकृतिम् ॥ ८५ ॥  
 परितः सूर्यसन्तोषं यथा कनकपर्वतम् ।  
 तथा कवचमन्त्रं च ध्यानकाले विचिन्त्य च ॥ ८६ ॥  
 वृत्तो ज्वालासहस्रैस्तु अयस्कान्तसमद्युतिः ।  
 सर्वास्त्रशक्तिसम्पूर्णश्चास्त्रमन्त्रः प्रकीर्तिः ॥ ८७ ॥  
 निर्धूमाङ्गारशिखरसदृशो नेत्रमन्त्रराद् ।  
 ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता द्विभुजाः पुरुषोत्तमाः ॥ ८८ ॥  
 सास्त्राः कौस्तुभपूर्वा ये गदामाले<sup>१०</sup> ज्ञनाकृतीः<sup>११</sup> ।  
 कुल्लपद्मोदराभा श्रीनलिनीनालसंयुता ॥ ८९ ॥  
 चन्द्ररश्मप्रतीकाशा श्वेतचामरधारिणी ।  
 पूर्णेन्दुसंदृशी पुष्टिरुद्धहन्ती च पाणिना ॥ ९० ॥  
 सम्पूर्णममृतेनैव कलशं काश्चनोत्थितम् ।  
 विज्ञानपुस्तककरा<sup>१२</sup> स्फटिकाभा सरस्वती ॥ ९१ ॥

१. सद्ब्र—अ० । २. शोभितम्—उ० । ३. हैमं—उ० । ४. षड्हरम्—मु० उ० ।  
 ५. न्तसो—मु० अटी० । ६. पर्वतः—मु० अटी० । ७. वृतं—अ० उ० । ८. तिम्—अ०, ति—उ० ।  
 ९. र्घमस्त्रमन्त्रं प्रकीर्तिम्—अ० उ० । १०. माला—बक० बख० अ० उ० । ११. कृति—अ०,  
 कृतीन्—उ० । १२. सदृशा—अ० उ० । १३. स्फटि—बक० उ० ।

फुलेन्दीवरसंकाशा त्वक्षसूत्रकराङ्गिता ।  
 ध्येया भगवती निद्रा सर्वश्चामरलाञ्छिताः ॥ ९२ ॥  
 समुखा देवदेवस्य वस्त्रालङ्कारमण्डिताः ।  
 एवं ध्यात्वा ततः कुर्यात् पूजनं कुसुमादिकैः ॥ ९३ ॥  
 स्नानैविलेपनैर्वस्त्रैर्माल्यैर्धैर्पैश्च दीपकैः ।  
 दध्ना च मधुमिश्रेण क्षीरेणाज्यान्वितेन च ॥ ९४ ॥  
 हृदैर्मृष्टैः स्थिरैर्मेध्यैर्नैवेद्यैर्विविधैः शुभैः ।  
 यथाकालोद्भवैः सर्वैः फलमूलैस्तु पड़रसैः ॥ ९५ ॥  
 पूजितैर्मुक्तदोषस्तु मुद्रामन्त्रोपलक्षितैः ।  
 मूर्त्यनैस्तथा स्विन्नैर्बीजैर्होमादिनाऽथवा ॥ ९६ ॥  
 ततः स्वहस्तौ संस्कृत्य अम्भसाऽलम्भनादिना ।  
 बद्ध्वा प्रदर्शयेन्मुद्रां त्रिशिखां समुखे विभोः ॥ ९७ ॥  
 ध्यात्वा त्रेताग्निरूपं तु दक्षिणादङ्गुलिंत्रयम् ।  
 स्पष्टमूर्धविशिखं सैव ज्येष्ठाक्रान्ता कनीयसी ॥ ९८ ॥  
 अर्थोऽखिलस्वरूपश्च ध्वान्तातीतोऽग्निरूपदृक् ।  
 देवो गुणत्रयातीतस्तथा मार्गत्रयातिगः ॥ ९९ ॥  
 धर्मैः १० स्थूलतर्मुक्तो योऽयं व्यक्तो धियाच्चितः ।  
 सम्पुटं हृदयोदशे बद्ध्वा हस्तद्वयेन तु ॥ १०० ॥

मण्डिता इत्यन्तम् । अविद्यादलिनी<sup>१२</sup> मुद्रा वक्ष्यमाणा (१७।१०५-१०६) ज्ञेया ॥७२-९३

षष्ठपरिच्छेदे विस्तरेणोक्तत्वादिहोपचारानुपूर्वी संक्षेपेणाह—एवं ध्यात्वे-त्यादिभिः ॥ ९३-९६ ॥

मूलमुद्रादर्शनमाह—तत इति सार्वेस्त्रिभिः । अम्भसा अर्ध्यजलेनेत्यर्थः । “मुद्राबन्धे<sup>१३</sup> कराभ्युक्षाम्” इत्यर्थविनियोगास्य वक्ष्यमाणत्वात् । आलम्भनादिना चन्दनादिनेत्यर्थः । आदिशब्देन कर्पूरकुङ्कुमादिकं गृह्णते । दक्षिणहस्तेऽङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामाक्रम्य तर्जन्यादङ्गुलित्रयमृज्जीकृत्य भगवदभिमुखं दशयेदिति फलितोऽर्थः ॥ ९७-१०० ॥

१. मात्रो—मु० बक० बख० । २. हेमा—मु० अ०उ० । ३. धैवै—बक० बख०, उथ वै—अ०, तथा—उ० । ४. लभना—बक० बख० अ० उ० । ५. संमुखां—अ० उ० । ६. ल—बक० बख० । ७. मुखं—अ० उ० । ८. अधो—अ० । ९. श्वाप्यध्वा—बख० अ० उ० । १०. धृत—मु० अटी० । ११. स्थूलादिकैर्युक्तो—अ० । १२. नलिनी—अ० । १३. ईश्वरे (३।९६), पारमेश्वरे (६।११७) च दृश्यते वचनमेतदर्थप्रकरणं, सात्वते (१८।६०-७७) तु नावलोक्यते ।

निरन्तराभ्यां शाखाभ्यां मुद्रैषा हार्दिकी स्मृता ।  
 अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं शाखायुग्मं पृथक् पृथक् ॥ १०१ ॥  
 सान्तरं सम्पुदादस्मात् शनिष्ठादौ तथा भवेत् ।  
 शिरशिरखातनुग्रास्त्रनेत्रमुद्रा यथाक्रमम् ॥ १०२ ॥  
 अस्यामङ्गुष्ठयुग्मं तु मुद्रायां करमध्यगम् ।  
 प्रदेशिन्यां ततो विद्धि कनिष्ठान्तं श्रियादिषु ॥ १०३ ॥  
 स्वमन्त्रयुक्ता चान्येषामचितानां यथाक्रमम् ।  
 पुनः पुनः प्रयोक्तव्या हार्देयं शिरसा सह ॥ १०४ ॥

हन्मन्त्रमुद्रामाह—संपुटमिति । हार्दिकी हृदयसंबन्धिनीत्यर्थः ॥ १००-१०१ ॥  
 शिरोमन्त्रादिमुद्रापञ्चकमाह—अङ्गुष्ठादीति साधेन । पूर्ववत् करद्वयेन संपुटं  
 कृत्वाऽङ्गुष्ठयुग्मं तर्जनीयुग्मं मध्यमायुग्ममनामिकायुग्मं कनिष्ठिकायुग्मं च  
 सान्तरालं यथा तथा पृथक् पृथग् विभज्य कनिष्ठाऽङ्गुष्ठान्तमङ्गुलियुग्मपञ्चके  
 क्रमेण शिरःशिखाकवचास्त्रनेत्रमुद्रा इति विज्ञेयाः ॥ १०१-१०२ ॥

श्रियादिशक्तिमुद्राचतुष्टयमाह—अस्यामिति । अस्यां मुद्रायां पूर्वोक्तरोत्या  
 पृथग्विभक्ताऽङ्गुलिद्विकपञ्चकविशिष्टायां मुद्रायामङ्गुष्ठयुग्मं करमध्ये कर्णिकारूपेण  
 संस्थाप्य तर्जन्यादिद्विकचतुष्टये क्रमेण लक्ष्मीपुष्टिसरस्वतीनिद्रामुद्राचतुष्टयं  
 बोध्यम् ॥ १०३ ॥

अन्येषां हन्मुद्रैव शिरोमुद्रया सह तत्त्वमन्त्रेण प्रयोक्तव्येत्याह—स्वमन्त्रयुक्तेति ।  
 अन्येषामित्यनेन श्रीवत्सादिभूषणानां चक्रादिलाङ्गुष्ठतानामनन्ता दिपीठदेवानां विज्ञक्-  
 सेनादिगुरुणां द्वारावरणस्थपरिवाराणां च ग्रहणं बोध्यम् ।

ननु जपाख्ये<sup>१</sup> एतेषामपि मुद्राः प्रतिपादिताः । तत्राप्यनुकमुद्राणामेव हृ(न्मन्त्रा-  
 ?न्मुद्रा)प्रदर्शनं सरसमिति चेन्न, तत्त्वसंहितानिष्ठेस्तत्तदुक्तप्रकारेण वानुष्ठेयत्वात् ।

ननु तर्हि सात्वतोपबृंहणे जपाख्योक्ताः श्रीवत्सादिमुद्राः संगृहीता इति चेत्,  
 सत्यम् । तत्र—

सामान्या सर्वमन्त्राणामेका मुद्राङ्गलिः स्मृता ॥

स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण संयुक्तां तां प्रयोजयेत् ।

(ई० सं० २३।४१-४२)

इति सात्वतोक्तपक्षस्यापि प्रतिपादितत्वान्त भेतव्यमायुष्मता ॥ १०४ ॥

१. संपुटं त-अ० । २. पञ्चकितव्रयं नास्ति-वाज० । ३. न्यादितो-अ० उ० ।  
 ४. हार्देयी-अ० उ० । ५. अष्टमे पटले ।

परस्परमुखौ शिलष्टौ शाखाक्रान्तौ परस्परम् ।  
 किन्तु वै दक्षिणं हस्तमूर्धं चाप्यधरेऽपाम् ॥ १०५ ॥  
 अविद्यादलिनी हेषा मुद्रा पूर्वमुदाहृता ।  
 एवं मुद्राचयं कृत्वा शूजां कृत्वा पुनः प्रभोः ॥ १०६ ॥  
 यथाशक्ति जपं कुर्याच्छतमष्टाधिकं तु वै ।  
 एकैकं हृदयादीनां सर्वेषां विरहितं त्वथ ॥ १०७ ॥  
 क्रियाङ्गत्वान्न दोषोऽस्ति अन्यथा तज्जपं विना ।  
 तमर्चयित्वाङ्गुज्जेन प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ १०८ ॥  
 स्मृत्वाऽनुज्ञां समादाय यजेह वह्निगतं ततः ।  
 कुण्डं सुलक्षणं कृत्वा संस्कारैः संस्कृतं पुरा ॥ १०९ ॥  
 पूजयित्वाधर्यपुष्पादैस्तत्राग्निमवतार्य च ।  
 सुसमिद्धं च निर्धूमं संशुद्धं ताडनादिना ॥ ११० ॥  
 अर्घेनिम्बुरेकुसुमैः पूजयित्वा च भावयेत् ।  
 व्यस्तो गुणगणः पञ्चस्तेजो नाम गुणो हि यः ॥ १११ ॥

अथ भगवतो हस्तस्थिताया अविद्यादलिन्या मुद्राया लक्षणमाह—परस्परेति सार्थेन । हस्तौ परस्पराभिमुखौ संशिलष्टौ परस्पराङ्गुलिभिराक्रान्तौ च कृत्वा । दक्षिण-मुत्तरं अँपरमधरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १०५-१०६ ॥

पूर्वोक्तां त्रिशिखामुद्रामिमामविद्यादलिनीमुद्रां च भगवते प्रदर्शय पुनरर्घादिभिरभ्यर्च्छिष्टोत्तरश्चतवारं यथाशक्तिं वा मूलमन्त्रं जपेदित्याह—एवमिति । हृन्मन्त्रादीनामेकवारं जपः कार्यः । तेवां मूलमन्त्राराधनाङ्गभूतत्वात् सकृज्जपेऽपि न प्रत्यवायः ॥ १०६-१०७ ॥

सकृज्जपस्याप्यकरणे प्रत्यवाय इत्याह—एकैकमिति ॥ १०७-१०८ ॥

एवं जपयन्नानन्तरं साष्टाङ्गप्रणामजितन्तादिस्तोत्रपठनपूर्वकं<sup>४</sup> भगवदनुज्ञया वह्निसंतर्पणं कुर्यादित्याह—तमिति ॥ १०८-१०९ ॥

वह्निसंतर्पणक्रममाह—कुण्डमित्यारभ्य होमसंख्यां निवेद्य चेत्यन्तम् । सुलक्षणम् एकादशपरिच्छेदोक्तलक्षणान्वितमित्यर्थः । संस्कारैः षष्ठपरिच्छेदोक्तैः, उपलेपनादिभि-

१. खारिल-अ० उ० । २. प्रभो-म० वस० अ० । ३. तं जप-उ० ।
४. स्तुत्वा-अ० उ० अटी० । ५. निरस्व-म० वक० वस० । ६. गणात्-अ० उ० ।
७. उत्तर-अ० । ८. पूर्वक-अ० ।

परस्य ब्रह्मणः सोऽयं सामान्यं सर्वतेजसाम् ।  
 ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण निक्षिपेत् कुण्डमध्यतः ॥ ११२ ॥  
 पावनैरन्धनैः शुष्कैः कृत्वा निर्घूममेव तम् ।  
 समिद्धिर्चित्वाऽथ तन्मध्ये मन्त्रमण्डलम् ॥ ११३ ॥  
 ध्यात्वाऽभ्यर्थ्य यथा पूर्वं सन्तर्प्य सघृतैस्तिलैः ।  
 परिवारयुतं देवं सहस्रशतसंख्यया ॥ ११४ ॥  
 दद्यात् पूर्णाहुति सम्यग् होमसंख्यां निवेद्य च ।  
 ततः शुचीन् सोपवासान् शोधितान् बद्धलोचनान् ॥ ११५ ॥  
 भक्तान् प्रवेशयेत् तत्र गृहीतकुमुमांस्तु वै ।  
 प्रक्षेपयेन्मण्डलान्तर्नेत्रबन्धं विमुच्य च ॥ ११६ ॥  
 अष्टाङ्गयगिपातैस्तु प्रदक्षिणयुतैस्ततः ।  
 देवश्चाग्निर्गुरुः कुम्भः पूजनीयः पुनः पुनः ॥ ११७ ॥

रित्यर्थः । पूजयित्वाऽर्थ्यपुष्पाद्यैरित्यत्रापि—“तदभ्यच्यार्थ्यपुष्पाद्यैर्धयित् तद्भद्रपीठवत्”  
 (६।८३) इत्याद्युक्तप्रकारो ज्ञेयः । संशुद्धं ताडनादिनेत्यत्र—

संताडय चास्त्रमन्त्रेण प्रोक्षयेच्छिखया च तम् ॥  
 अर्चयेत् कवचेनैव कवचेनावकुण्ठय च ।  
 प्लावयेदमृतेनैव नेत्रमन्त्रेण नारद ॥  
 पूरकेणोपहृत्याथ स्वात्मन्युपशमं नयेत् । (१५।६०—६२)

इति जयाख्योक्तास्ताडनादिसंस्कारा ग्राह्याः । संगृहीताश्चैवमीश्वरतन्त्रेऽपि । समिद्धः  
 पूर्वोक्तसप्तसमिद्धिरित्यर्थः । मन्त्रमण्डलं सूलमन्त्रादिमन्त्रसमूहमित्यर्थः । होमसंख्यां  
 निवेद्य, मण्डलस्थाय भगवत् इति शेषः ॥ १०९—११५ ॥

अस्मिन्नवसरे कर्तव्यं शिष्याणां नृसिंहमन्त्रदोक्षाक्रममाह—ततः शुचीनित्या-  
 रभ्य भक्तानामनुकम्पयेत्यन्तम् । शोधितान् पूर्वोक्तब्रह्माकूर्चप्रायश्चित्तादिभिः संशुद्धा-  
 नित्यर्थः । प्रक्षेपयेत्, तदञ्जलिस्थपुष्पाणीति शेषः । देवो मण्डलस्थो देव इत्यर्थः ।  
 तत्कालं भक्तिभावेन वक्ष्यमाणोत्युलकानन्दबाष्पादिभक्तिसौचकेनेत्यर्थः । वर्यक्तसंशुद्धौ

१. च—अ० । २. सूत्या—म० । ३. पञ्चमाख्याय इति शेषः । ४. रोमाङ्गौत्सुक्य-  
 हष्टिधमानन्दाश्रुसमन्वितम् (१८।११९) इत्यत्र । ५. सूचकैर—म० । ६. वृत्त—म० ।

तत्कालं भक्तिभावेन विज्ञाता योग्यता यैदा ।  
 तीव्रमन्दादिकां तेषां तदा दीक्षां समाचरेत् ॥ ११८ ॥  
 जुहुयाद् व्यक्तसंशुद्धौ शतमष्टाधिकं तु वै ।  
 तिलानां तद्वाज्यस्य द्वादशार्णेन बुद्धिमान् ॥ ११९ ॥  
 दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चान्मन्त्रमध्यादिनाच्यं च ।  
 ततश्चाङ्गसमूहेन प्रागुक्तपरिसंख्यया ॥ १२० ॥  
 कुर्यादव्यक्तशुद्धयर्थं दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।  
 स्वरूपापादनार्थं तु मूलबीजेन वै तैर्था ॥ १२१ ॥  
 प्रणवादिनमोऽन्तेन कुर्याद् होममतन्द्रितः ।  
 ध्यात्वा निरस्तवन्वं तं शुद्धं शान्तं तु सर्वगम् ॥ १२२ ॥  
 समस्तसंवित्पूर्णं च दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।  
 मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञो भक्तानामनुकम्पया ॥ १२३ ॥  
 समयान् श्रावयेत् पश्चात् कुम्भेऽनौ मण्डले ततः ।  
 भक्त्या यथा तु सम्प्राप्तमैहिकायुग्मिकं त्वया ॥ १२४ ॥  
 नास्याः कुर्याः परित्यागं कर्मणा मनसा गिरा ।  
 साध्यं विनान् कुर्याद् वै स्नानादीनां च लोपनम् ॥ १२५ ॥  
 यावज्जीवं यथाशक्तिः संस्थितो यत्र कुत्रचित् ।  
 स्थानेषु हृदयाद्येषु कुर्यान्मन्त्रगणाचर्नम् ॥ १२६ ॥  
 द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वैस्तु तदभावे तु वै हृदि ।  
 मानसीं पूर्ववत् पूजां निर्वपेन्न्यासपूर्विकाम् ॥ १२७ ॥

महदादिरूपेण स्थूलावस्थापन्नप्रकृतिशुद्धयर्थमित्यर्थः । द्वादशार्णेन नृसिंहद्वादशाक्षरेण-  
 त्वर्थः । अङ्गसमूहेन हृन्मन्त्रादिषट्केन । अव्यक्तशुद्धयर्थं सूक्ष्मावस्थापन्नप्रकृतिशुद्धयर्थ-  
 मित्यर्थः । स्वरूपापादनार्थं चेतनशुद्धयर्थमित्यर्थः । मूलमन्त्रेण नृसिंहबीजेनेत्यर्थः  
 ॥ ११५-१२३ ॥

अथ शिष्याणां समयोपदेशप्रकारमाह—समयान् श्रावयेत् पश्चादित्यारभ्य प्राप्नु-

१. यथा—मु० अ०, तथा—अटी० । २. मन्दधिया—वक० वख० । ३. संयुक्तौ—उ० ।
४. ततः—वक० वख० । ५. त्सम्पूर्ण—वख० अ० उ० । ६. इया—मु० अटी०, यथा—उ० ।
७. कुर्यास्तु—मु० अटी० । ८. भावात्तु—अ० उ० । ९. ‘द्वादशार्णेन……प्रकृतिशुद्धयर्थमित्यर्थः’  
नास्ति—अ० ।

मन्त्रनाथं गुरुं मैन्त्रं समत्वेनाभिवीक्षयेत् ।  
 मन्त्रमण्डलमुद्राणां परां गुप्ति समाचरेत् ॥ १२८ ॥  
 दूरादेव नमस्कार्यो मृगशङ् व्याघ्र एव वा ।  
 तदाकृतिर्मृगोऽन्यो वा तच्चर्म क्वापि नाश्रहेत् ॥ १२९ ॥  
 न चाक्रमेत पादेन न च तल्पादिकं स्पृशेत् ।  
 पद्मपत्रैस्तथाशवत्थयर्णभौजनभाजनम् ॥ १३० ॥  
 वर्जनीयं तथा शङ्खपद्माद्याङ्कितमासनम् ।  
 नक्तं वा परिपीडं वाऽप्येकादश्यां समाचरेत् ॥ १३१ ॥  
 विशेषपूजनं कुर्याद् द्वादशीष्वचिलासु च ।  
 अयनादिषु चान्येषु सूर्यसंक्रमणेषु च ॥ १३२ ॥  
 न भूतग्रहदुष्टानां व्याधीनां वा कदाचन ।  
 असिद्धेन स्वमन्त्रेण कुर्यादुत्सारणं तु वै ॥ १३३ ॥  
 मन्त्रजं सिद्धिलिङ्गं यत् स्वप्ने प्रत्यक्षतोऽपि वा ।  
 अनुभूतं न वक्तव्यं कस्यचिद् गुरुणा विना ॥ १३४ ॥

यान्मन्त्रजं फलमित्यन्तम् । कुम्भमण्डलादिस्थितभगवद्विषयक्या यैर्या भक्त्या ऐहिकामुष्मिकफलसिद्धिर्भवति, तां भक्तिं करेणत्रयेणापि न त्यजेदिति प्रथमनियमार्थः । साध्यं विना और्धधिसेवनादिकं विनेत्यर्थः । तल्पादिकं व्याघ्रचर्मकृततल्पादिकमित्यर्थः । न स्पृशेदित्यत्रापि पादेनेत्यतुषङ्गः । परिपीडं शुद्धोपोषणमित्यर्थः । आ नाभिवर्धनात् कालाद् अन्यत्र नाभिनालच्छेदनानन्तरमित्यर्थः । तत्पूर्वं सूतकाभावादिति भावः । तथा च जैमिनिः—

यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् ।  
 छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते ॥ इति ॥

१. वास्त्रं-बख० उ० । २. नानुभावयेत्-बख० अ० उ० । ३. तत्पावके क्षिपेत्-मु० अटी०, तद्वातकं स्पृशेत्-अ० उ० । ४. परिपीडं-मु० बक० बख० । ५. दनं-मु० अ० । ६. ‘यया’ नास्ति-अ० । ७. करेण त्रयेणापि-म० । ८. ओषधि-अ० । ९. च्छेदा-म० ।

व्यक्तं नृसिंहवीजं<sup>१</sup> तु दृश्यते यत्र कुत्रचित् ।  
 नमस्कुर्यात् सप्तभ्यन्तर्य वाक्पुष्पैः सप्रदक्षिणैः ॥ १३५ ॥  
 कृत्वाऽश्रुपातं शोकं वा विप्रयोगनिमित्ततः ।  
 स्नानादृते न कुर्याद् वै देवाग्निपितृतर्पणम् ॥ १३६ ॥  
 आ नाभिवैर्धनात् कालादन्यत्र सति सङ्करे ।  
 सूतकाख्ये न कर्तव्यं प्रागुक्तं चैव यत्नतः ॥ १३७ ॥  
 स्वानुष्ठानं हि वै यस्मादागमात् समुपागतम् ।  
 तस्य सम्पूजनं यत्नाद् गोपनं च समाचरेत् ॥ १३८ ॥  
 ब्राह्मणादीन् यथाशक्ति दीनानाथांश्च पालयेत् ।  
 एवं हि समयान् दद्याद् भक्तानां भावितात्मनाम् ॥ १३९ ॥  
 सम्पालनाच्च येषां वै प्राप्नुयान्मन्त्रं फलम् ।  
 इष्टवैवं हि ततः कुर्यात् सेचनं कलशेन तु ॥ १४० ॥  
 आत्मनश्चानु भक्तानां नैवेचं प्रार्थयेत् ततः ।  
 ब्राह्मणाय च तद्द्याद् न्य॑स्तमाहृत्य मन्त्रगाद् ॥ १४१ ॥

एवं च—

अत्र दद्यात् सुवर्णं वा भूमि गां तुरुणं रथम् ।  
 छत्रं छाणं वस्त्रमाल्ये शयनं वासनं गृहम् ॥  
 धान्यं गुडं तिलं सर्पिरन्यद्वास्ति गृहे वसु ।  
 आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ॥  
 तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि ।

इत्युक्तप्रकारेणापि स्पष्टमेव श्रीनृसिंहो भजनीय इति फलिनोऽर्थः । मन्त्रमण्डनमुद्वाणां  
 गोपनं पूर्वमुक्ततम् । स्वानुष्ठानमित्यनेन शास्त्रस्यै गोपनमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥१३८-१४०॥  
 शिष्यस्य महाकुम्भोदकेनाभिषेकमाह—इष्टवैत्यर्थेन । एतत्क्रमां विस्तरेण  
 वक्ष्यमाणो ग्राहा: ।

स्वानुयागार्थं कारिप्रदानार्थं च देवं हविः प्रार्थयेदित्याह—आनन्द इत्यर्थेन ।

१. बिम्बं—अ० उ० । २. भिर्व—अ० । ३. संकटे—अ० । ४. तत्त्वमाहृत्य—अ० उ०,  
 हृदयं मेधयं च शोभनम्—मु० अटो० बक० वख० । ५. स्याऽग्नो—म० । ६. शिष्यस्याभिनाम-  
 दीक्षाभिषेकादयो विषया अप्रिमेपु त्रिपु (१८-२०) अद्यायेषु विस्तरेण प्रतिपादितः ।

क्षमापयेत् ततो देवं यत्र यत्रावतारितम् ।  
 अथ शिष्टैस्तु नैवेद्यैर्यजेद् गणपतिं प्रभुम् ॥ १४२ ॥  
 विष्वक्सेनाभिधानं चाप्यद्यर्यैरचितो हि यः ।  
 चरुरुपेण चान्नेन सोदकेन हृदा ततः ॥ १४३ ॥

कारिप्रदानमाह—ब्राह्मणायेत्यर्थेन । अत्रैकमूर्त्तिर्सिंहस्याराधनप्रकरणाद्ब्राह्मणायेत्येकवचनमुक्तम्, पूर्वं चातुरात्म्यार्चनप्रकरणात्—

संपूज्य गन्धधूपैश्च ततस्तु भगवन्मयान् ॥  
 यथाक्रमं समभ्यर्च्य नैवेद्यं प्रतिपाद्य च । (६।७४-७५) इति,  
 एवमुक्त्वा समभ्यर्च्यं चतुरः पाञ्चरात्रिकान् ॥ (१४।३०)

इति च चत्वारः कारिणः प्रोक्ता इति ज्ञेयम् । तत्राप्यशक्तावेक एकोक्तः सप्तमपरिच्छेदे (७।७८) । तदानीमेकस्यैव चतुर्मूर्त्यात्मकत्वं बोध्यम् । न्यस्तमन्त्रराडाहृत्य हविषि न्यस्तं मन्त्रत्रयमुपसंहृत्येत्यर्थः । एवमेवोक्तं पारमेश्वरादिष्वपि—

विनिवेश्य च देवाय विन्यस्तानोदनोपरि ॥  
 बलवीर्यादिसन्मन्त्रान् रसवीर्यादिवर्जितान् ।  
 ओमित्युपाहरेन्मन्त्री ततः संहृतिमुद्रया ॥ इति,  
 (१८।३८७-३८८)

ऋग्नितज्जानसंपन्नान् यथोक्ताचारनिष्ठितान् ।  
 समाहूप्रार्थगन्धादौः समभ्यर्च्यं यथाक्रमम् ॥  
 भगवच्छेषमादाय न्यस्तमाहृत्य मन्त्रपम् ।  
 प्राङ्गनिवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ॥  
 प्रापणं मधुपकार्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ।  
 तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम् ॥ इति ।

पूर्वं होमात् पूर्वं कारिप्रदानमुक्तम्, इवानीं होमानन्तरमपि कारिप्रदानस्योक्तत्वात् तस्य कालद्वयेऽन्यतरकर्तव्यत्वमुक्तं भवति ॥ १४०-१४१ ॥

अपराधक्षमापणमाह—क्षमापयेदित्यर्थेन । यत्र कुम्भे मण्डलेऽन्नौ चेत्यर्थः । विष्वक्सेनार्चनमाह—अथेति । शिष्टैः कारिप्रदानावशिष्टैरित्यर्थः,

नैवेद्यैर्मधुपकार्यैर्मूख्यमूर्त्तिवेदितैः ॥  
 द्विजप्रीशनशिष्टैस्तु स्वयं प्राशनवर्जितैः । (२०।१३-१४)

इति पौष्करे विष्वक्सेनार्चनप्रकरणे व्यक्तोक्तेः ॥ १४२-१४३ ॥

- |                       |                                  |                       |
|-----------------------|----------------------------------|-----------------------|
| १. णम्-उ० ।           | २. वाप्यादावेवा-उ० ।             | ३. चरुस्थेनापि-अ०उ० । |
| ४. एवमेवोपबृहितं-म० । | ५. विनिवेद्य-मु०, संनिवेश्य-म० । | ६. प्रदान-मु० ।       |

बहिराराधनस्थानात् प्रादक्षिणयेन निक्षिपेत् ।  
 पूर्वादीशानपर्यन्तं मन्त्री भूतवलि तदौ ॥ १४४ ॥  
 ततो विसर्जनं कुर्यादुपसंहृत्य चाखिलम् ।  
 विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये पत्रपुष्पफलादि यत् ॥ १४५ ॥  
 निष्कामः पावनार्थं तु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरा ।  
 सञ्चाय मन्त्रपूर्वं प्राक् तंमशनीयाच्च मौनवान् ॥ १४६ ॥  
 भोजनान्ते ततः कुर्यात् सम्प्राप्ने तु निशामुखे ।  
 मन्त्रजापं ततो ध्यानं तोयतर्पगपूर्वकम् ॥ १४७ ॥

ततः कुमुदादिभूतेभ्यो बलिदानमाह—चरुरूपेणेति सार्वेन ॥ १४३—१४४ ॥

विसर्जनमाह—तत इत्यर्थेन । विसर्जनमत्र विष्वक्सेनस्येति बोध्यम् । भगवद्विसर्जनं तु विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव कार्यम्, तच्च—‘क्षमापयेत् ततो देवं यत्र यत्रावतारितम्’ (१७।१४२) इत्यनेनैव सूचितं भवति । यतो मण्डलेऽनौ च भगवद्विसर्जनानन्तरं तस्मिन्नेव स्थाने विष्वक्सेनः पूजनीय इति जयाव्यपञ्चदशपटले (१५।२४२—२५०) विस्तरेण एतद्विधानमुक्तम्, अत्रापेक्षितं च । उपसंहृत्य चाखिलं परिवारदेवतासमूहं च विसृज्येत्यर्थः ।

विष्वक्सेनार्चनानन्तरं पत्रपुष्पफलान्नादीनां जलमध्ये प्रक्षेपम्, स्वप्राशनार्थं किञ्चिदंशस्य तत्पूर्वमेव प्रत्येकं स्थापनम्, तदर्चनानन्तरं प्राशनं चाह—विनिक्षिप्येति सार्वेन । अत्र निष्काम इत्यनेन सकामस्य विष्वक्सेनार्चनानन्तरं प्रत्येकमुद्धृतस्यापि प्राशनं वर्जयमिति ज्ञायते । तथा च पञ्चरात्ररक्षायामाग्निमप्रामाण्यवचनम्—

यतो भगवदर्थेन त्यक्तं स्कृचन्दनादिकम् ।  
 पश्चादभोग्यतां याति विष्वक्सेनपैरिग्रहात् ॥  
 अत एव निवेद्यादि० ततः० प्रागेव सात्वतैः ।  
 १०सेव्यते तेन तत् तेषामुत्कर्षस्यैव कारणम् ॥ ( पृ० ८२-८३ )  
 इति ॥ १४५—१४६ ॥

१. सदा—अ० । २. पत्रपुष्पादि निक्षिपेदिति सार्वत्रिकः पाठः । ३०।५८ भाष्ये समुद्धृतः पाठो मूले स्थापितः । ३. सन्धार्थ—अ० उ० । ४. पूर्तं—अ० उ० । ५. यत्तद—अ० । ६. आगमप्रामाण्यवचनमेतत् पञ्चरात्ररक्षायां नोपलभ्यते, अतः पञ्चरात्ररक्षापदमय आगमप्रामाण्यस्य विशेषणतया योजनीयम् । ७. श्वेत—अ० । ८. योग्य—अ० म० । ९. निवेदनात्—मु० । १०. द्यानि—अ० म० । ११. ततोऽवर्गेव—मु० । १२. सेव्यन्ते—अ० म० ।

तथैव<sup>१</sup> रात्रिशेषं तु कालं सूर्योदयावधि ।  
 कर्तव्यं सजपं ध्यानं नित्यमाराधकेन तु ॥ १४८ ॥  
 एवमेव विधानेन पूजयित्वा दिने दिने ।  
 जपेल्लक्षाष्टकं मन्त्री ततः सिद्धयति मन्त्रराट् ॥ १४९ ॥  
 ददाति मनसोऽभीष्टाः सिद्धीः सर्वानुरूपकाः ।  
 रुद्रादित्येन्द्रऋषिभ्यो भक्तेभ्येश्च मयोदितम् ॥ १५० ॥  
 लोकचित्तानुसारेण शास्त्रं वै युगमेदतः ।  
 यागो यागोपकरणं विमलं प्रतिमादिकम् ॥ १५१ ॥  
 ज्ञातव्यं तत् त्वया सम्यगविरोधेन सर्वदा ।  
 आगमेभ्योऽथ तज्जेभ्यः सकाशादात्मसिद्धये ॥ १५२ ॥  
 अथोक्तमिह संसेपाद् वदेदन्यत्र विस्तरात् ।  
 अथ संसाधितं मन्त्रं ब्रह्मचर्यादिसंयमैः ॥ १५३ ॥  
 पयोयावकशाकाम्बुद्धत्पूलफलाशनैः ।  
 मन्त्री यथा प्रयुज्ञीयाच्छान्तिकादिषु तच्छृणु ॥ १५४ ॥

---

अथ भोजनानन्तरमा सायं सद्ध्यानमन्त्रजपं सायंकाले जलमध्ये स्वमन्त्राचंनतर्पणं तदारभ्य सूर्योदयावधि च सध्यानजपमाह—भोजनान्त इति द्वाभ्याम् ॥ १४७—१४८ ॥

एवं प्रत्यहं भगवदर्चनपूर्वकं शिष्यैर्लक्षाष्टसंख्याके जपे कृते मन्त्रसिद्धिर्भवति, ततः स्वेष्टसिद्धिश्च भवतीत्याह—एवमेवेति सार्थेन ॥ १४९—१५० ॥

अनुक्तमन्यतो ग्राह्यमित्याह—रुद्रादित्येत्यादिभिः । अविरोधेन स्वोक्तार्थाविरोधेनेत्यर्थः ॥ १५०—१५२ ॥

एवं पयोयावकादिप्राशनब्रह्मचर्यनियमैः साधितस्य मन्त्रस्य शान्तिकादिषु प्रयोगक्रमं शृण्वत्याह—अथेति द्वाभ्याम् ॥ १५३—१५४ ॥

---

१. तथैवं—मु० अटी० । २. भ्यो यन्म—अ० उ० । ३. यथो—मु० बक० बख० ।

ज्ञात्वादौ स्वशरीरोत्थैर्लौकिकैरपि लक्षणैः ।  
 प्राप्तेन स्वप्नयोगेन संस्थिति जीवितस्य च ॥ १७५ ॥  
 ततः शैल्यविनिर्मुक्तं स्थानमासाद्य शोभनम् ।  
 संच्छन्नं शरजालेन माम्बरेणाथवा गृहम् ॥ १७६ ॥  
 तेत्र मण्डलमालिरूपं सर्वोपकरणान्वितम् ।  
 चन्दनक्षोदयुक्तेन शशिना सहितेन च ॥ १७७ ॥  
 सुगन्धशालिचूर्णेन प्रागुदीरितलक्षणम् ।  
 निर्वृणं लक्षणाठयं च पूरितं गालिताम्भसा ॥ १७८ ॥  
 हेमरत्नौषधीवृक्षशाखादूर्वाफलोदरम् ।  
 धूपिताहतशुष्केण वाससा परिवेष्टितम् ॥ १७९ ॥

---

पूर्वं शान्तिविधिमाह—ज्ञात्वेत्यारभ्य इति शान्तिविधानं चेत्यन्तम् । शशिना कर्पूरेण । नाम साध्यनामधेयमित्यर्थः । साध्यनामधेयप्रकारः पारमेश्वरे प्रतिपादितः—

साध्यनामस्वरूपं तु व्यापकं वक्ष्यते पुनः ॥  
 तारान्ते बीजशक्तिश्च दैवतं तस्य चेत् ततः ।  
 शान्तिं पूर्जित च वश्यं च विजयं चैवमादिकम् ॥  
 द्वितीयान्तं समुच्चार्य कुरुबीजान्वितं ततः ।  
 यैच्छ-यच्छ-पदान्तं वा प्राक्-स्थितैः प्रणवान्तिमेः ॥  
 अङ्गयेदवसाने च साध्यलक्षणमीरितम् ॥ (२४।११६-११९) इति ।

सान्तर्गतं सकारान्तर्गतमित्यर्थः । अरान्तोपगतेन बीजेन, अनुस्वारेणेत्यर्थः । नाभि-  
 तुर्यं वकारम्, तच्चतुर्थन्तिं नाभिचतुर्थान्तम्, वकारान्तमिति यावत् । मन्त्रेशं श्रीनृसिंह-  
 बीजम् । नेमिनवमं टकारमित्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—आदौ स्वशरीरोत्थैर्लौकिकैर्लक्षणैः प्राप्तेन स्वप्नयोगेन च  
 जीवितस्य संस्थितिं ज्ञात्वा सर्वशल्यविनिर्मुक्तं शोभनं स्थानमासाद्य केवले(न)  
 शरजालेन सवस्त्रेण वा समाच्छादितं यागेहं परिकल्प्य तत्र मध्ये वेदिकायां  
 चन्दनचूर्णमिश्रेण कर्पूरसहितेन सुगन्धशालिचूर्णेन—

चतुरश्रं चतुर्द्वारं मार्गपीठाब्जभूषितम् ॥  
 त्रिनाभिनेमिषडरं चक्रं तु कमलाद् बहिः । (१७।४९-५०)

१. शल्यादिनि—मु० वक० बख०, कल्पा—अ०, शाल्या—अटी० । २. मन्त्र—बक० ।

३. निर्घृण—अ० अटी० । ४. शुक्लेन—अ० । ५. यच्च यच्च—अ० म० ।

सुसमाधारसंस्थं च वाहतो मण्डलस्य च ।  
 विन्यसेत् समसूत्रेण दिग्विदिक्कलशाष्टकम् ॥ १६० ॥  
 सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं लाजतण्डुलपूरितम् ।  
 श्वेतपद्मगलोपेतं सितपुष्पस्त्रगन्वितम् ॥ १६१ ॥  
 मुक्ताफलोदरं चैव बीजमंल्लकभूषितम् ।  
 उपकुम्भाष्टकं त्वेवं कुम्भानामुपरि न्यसेत् ॥ १६२ ॥  
 श्वेतचामरसंयुक्तं सितमूध्यवितानकम् ।  
 बद्ध्वा मितेन सूत्रेण सप्तधा कलशाष्टकम् ॥ १६३ ॥  
 संवेष्टय कण्ठदेशान्तं त्वच्छिन्नेन दृढेन च ।  
 कृत्वैवं च ततः स्नायात् कुर्यान्न्यासादिकं ततः ॥ १६४ ॥  
 निशाम्बुना चन्दनेन श्वेतदूर्वाङ्गुरेण च ।  
 सुश्लक्षणभूर्जपत्रे तु नाम सान्तर्गतं लिखेत् ॥ १६५ ॥

इत्युक्तलक्षण(ण?ण) मण्डलमालिख्य ति(पु?र्वीण) सलक्षणं गालितोद(क?क)पूर्ण हेमरत्नसर्वोषधिपत्तलवद्वर्फलपूरितं सुधूपिताहैतशुक्लवस्त्रपरिवेष्टितं महाकु(म्भ?म्भं) मण्डलस्य वहिः पूर्वभागे आधारचक्रिकोपरि संस्थाप्य तत्परितोऽष्टदिव्यपि तथाविधं कलशाष्टकं विन्यस्य सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं तण्डुलपूरितं शुक्लकौशेयपरिवेष्टितकण्ठं शुक्लपुष्पमालिकालङ्कृतं मुक्ताफलोदरं बीजपूरितशरावपिहितमुपकुम्भाष्ट(क?कं) दिक्कलशानामुपरि विन्यस्य यागगेहं श्वेतचामरसंयुक्तसितैऽद्वृक्लवितानकैरलङ्कृत्याच्छिन्नेन दृढेन सितेन सूत्रेण कलशाष्टकं कण्ठदेशान्तं सप्तवारं परितः संवेष्टयेत् । एवं सर्वोपकरणानि संपाद्य यथाविधि स्नात्वा मन्त्रन्यासादिकं कृत्वा हरिद्रोदकविमिश्रितेन चन्दनेन दूर्वाङ्गुरेण लेखिन्या सुश्लक्षणे भूर्जपत्रैऽमध्ये सकारान्तर्गतं साध्यनाम विलिख्य तद्वहिः सकणिकमष्टपत्रं कमलं विलिख्य पत्राष्टकेऽधोवक्त्रं वकारं विलिख्य तदन्तः प्रणवनमः संपुटितं वकारान्वितं नृसिंहबीजं विलिख्य कमलाद् बहिरुर्ध्वमुखमधोमुखं च संख्याहीनं टङ्गारमूर्मिकाखण्डेण परितः संलिख्य तद्यन्तं सितसूत्रेण संवेष्टयाध्यकुम्भे निधाय मण्डलाग्रे शालिचूर्णपरिकल्पिते स्थिण्डले तं कुम्भं निधाय मण्डले स्वहृदयान्मन्त्रनाथमावाह्य तत्र श्वेतैरुपचारैरभ्यर्च्य पूर्णेन्दुमण्डलान्तस्थं सुधारसमुद-

१. कमला-मु० अटी० बक० बख० । २. झङ्गला-मु० अटी० बक० बख० ।  
 ३. मरिलक-अ०, जामलक-मु० । ४. नमसा-अटी० । ५. तं हत-अ० । ६. वितत-म० ।  
 ७. पत्रे-म० ।

अरान्तोपगतेनैव कुर्याद् वीजेन गंयुतम् ।  
 कमलं तद्वहिलेख्यमष्टयत्रं मकणिकम् ॥ १६६ ॥  
 नाभितुर्यमधोवक्त्रं वर्णपत्राष्टकं लिखेत् ।  
 तदन्तस्तच्चतुर्थान्तं मन्त्रेशं च लिखेत् परम् ॥ १६७ ॥  
 ननिश्रिणवगर्भं तु ततः कमलवाह्यगम् ।  
 विलिख्य नेमिनवर्मं द्विधोध्वाधोमुखं तु वै ॥ १६८ ॥  
 संवेष्टय सितसूत्रेण अर्घ्यकुम्भे निवेशयेत् ।  
 आधारे शालिचूर्णीये मण्डलाग्रे निधाय तम् ॥ १६९ ॥  
 आवाह्य मण्डले मन्त्रं प्राग्वद् हृदयकोटरात् ।  
 ततः श्वेतोपचारेण तत्र मन्त्रेश्वरं यजेत् ॥ १७० ॥  
 पूर्णेन्दुमण्डलान्तस्थमुद्गिरन्तं सुधारमम् ।  
 शशाङ्कशतसङ्काशं ध्यात्वा सपरिवारकम् ॥ १७१ ॥  
 यच्छ यच्छ महाशान्ति पूजान्ते समुदीरयेत् ।  
 ततः शशाङ्कदिग्भागे कुण्डे पूर्णेन्दुलक्षणे ॥ १७२ ॥  
 क्षीरतण्डुलमध्वर्वाज्यैर्गुलेन तिलेन च ।  
 सचन्दनेन होमं तु सप्तरात्रं समाचरेत् ॥ १७३ ॥  
 पयोभुक् परमेशं च प्रहराष्टकमर्चयेत् ।  
 होमान्ते कलशस्थस्य पयसा शीतलेन तु ॥ १७४ ॥

गिरन्तं शशाङ्कशतसंकाशं सपरिवारं मन्त्रनाथं ध्यात्वा पूजान्ते महाशान्ति यच्छ  
 यच्छेति प्रार्थयेत् । तत उत्तरदिग्भागे पूर्णेन्दुसदृशे वृत्तकुण्डे क्षीरतण्डुलमध्वर्वाज्यैर्गुल-  
 तिलचंदनैः सप्तभिर्द्रव्यैः सप्तरात्रं होममाचरत्, केवलपयःप्राशनं कुर्वन्, परमेशं  
 मन्त्रनाथं प्रत्यहं प्रहराष्टकेऽप्यर्चयन्, होमान्ते कलशस्थस्य भगवतः पयसा शीतलोदकेन  
 च प्रहराष्टकेऽपि सेचनं कुर्वन्, प्रत्यहं स्तनान्ते साधकस्य व्रत्यरन्ध्रोपर्यमृतं स्रवन्तं  
 मन्त्रनाथं स्मरेत् । अनेन शान्तिर्भवति ।

१. मधो-अटी० । २. वर्ण-अ० उ० । ३. श्वर्णतं-म० अटी० वक० वय०,
- र्घस्थं-अ० उ० । ४. कम्-वक० वख० अ० उ० । ५. अपि-म०, अवि-अटी०, उप-अ०,  
 अप्कुम्भेऽपि-उ० । ६. ततश्चेतोपचारेणातन्त्रं-म० अटी० । ७. यच्च यच्च-म० अटी०  
 वक० वख० । ८. ध्वाज्यगु-उ० । ९. छन्दैः-अ० ।

सेचनं चाम्भसा कुर्यात् प्रत्यहं प्रहराष्टकम् ।  
 स्नानान्ते ब्रह्मरन्धोध्वें संस्मरेन्मन्त्रनायकम् ॥ १७५ ॥  
 स्ववन्तममृतं त्वेवं शान्तिर्भवति शाश्वती ।  
 अँथवाऽदाय मृत्पात्रं वैदलं वाऽथ काष्ठजम् ॥ १७६ ॥  
 तत्र पङ्कजवत् कुर्याद् रचनामोदनेन च ।  
 पिष्टनिर्मितपात्राणां सम्प्रज्वाल्य घृतेन तु ॥ १७७ ॥  
 दीपाष्टकं ततः पूजां कुर्यात् पूजादिकैवल्यैः ।  
 स्वन्नानि सप्तबीजानि विकीर्यं च तदूर्ध्वतः ॥ १७८ ॥  
 ततोऽर्चिते तोयकुम्भे धूपपात्रं तु विन्यसेत् ।  
 अच्छिन्नधूपप्रसरं त्रैकाल्यं च बलि हरेत् ॥ १७९ ॥  
 शान्त्यर्थं देशपालानां भूतानामेवमेव हि ।  
 पृष्ठे चोदकधारां वै अच्छिन्नां पदसप्तकम् ॥ १८० ॥  
 शान्तये बलिमन्त्राणांमस्त्रमन्त्रेण पातयेत् ।  
 इति शान्तिविधानं च पौष्टिकं च निबोधतु ॥ १८१ ॥  
 कुड्कुमक्षोदमिश्रेण कुसुमभजसा तु वै ।  
 पूर्ववन्मण्डलं कुर्याद् रक्तचन्दनभूषितम् ॥ १८२ ॥

---

अथवा मृण्मयं वैदलं काष्ठजं वा पात्रमादाय तत्र केवलान्नेनाष्टपत्रं कमलं विरचय्य तद्वलाष्टके पिष्टनिर्मितघृतपूरितप्रैज्ज्वालितदीपाष्टकं विन्यस्य पुष्पादिभिरभ्यर्थं स्वैन्नानि सप्तविधबीजानि तदुपरि विकीर्येन तोयकुम्भमभ्यर्थं तदुपरि धूपपात्रं निधायाच्छिन्नधूपप्रसरं यथा तथा कालत्रयेऽपि देशपालानां भूतानां बलि हरेत् । बलिधर्तृणां पृष्ठे संसपदावधि शान्त्यर्थमच्छिन्नां करकोदकधारामस्त्रमन्त्रेण सेचयेत् ॥ १५५-१८१ ॥

इति शान्तिविधिः ॥

अथ पौष्टिकविधिमाह—पौष्टिकं च निबोधतु इत्यारभ्य विधिनानेन सर्वदेत्यन्तम् । नाम साध्यनामवेयम् । पूर्ववत् पद्मगम्भस्थं लिखेत्, कणिकामध्ये लिखेदित्यर्थः ।

- 
१. चैव—अ०, चैव—उ० । २. अथादाय तु—अ०, अथादाय च—उ० । ३. शान्त्यर्थ—अ० ।  
 ४. धर्तृणां—अ० उ० । ५. प्रज्व—अ० । ६. स्वन्नादि—अ० । ७. कालानां—अ० ।

नीवारतण्डुलेनैव ताम्रवर्णस्तिलैः १ शुभैः ।  
 मम्पूर्य बदरोपेतैरुपकुम्भाष्टकं हि यत् ॥ १८३ ॥  
 सोपकुम्भानि कुम्भानि रक्तसूत्रेण वेष्टय च ।  
 शेषं यद्विहितं चात्र तच्च रक्तं प्रकल्पयेत् ॥ १८४ ॥  
 ततः स्नातः कृतन्यासो नाम रोचनया लिखेत् ।  
 अलक्तकाम्बुयुक्तेन सान्द्रदर्भाङ्गुरेण तु ॥ १८५ ॥  
 पूर्ववत् पद्मगर्भस्थं ततः पत्रेष्वधोमुखम् ।  
 बीजं नियोजयेत् तन्मे गदतश्चावधारय ॥ १८६ ॥  
 नेमेरेकोनविशाख्यवर्णस्याधोगतं न्यसेत् ।  
 बीजं नाभितृतीयं यत् तदधः पञ्चमारगम् ॥ १८७ ॥  
 शिरसाऽरान्तपूर्वेण युक्तं बाह्याद् दशादिना ।  
 तदन्तस्थं न्यसेद् बीजं नाभितुर्यासनस्थितम् ॥ १८८ ॥  
 नाभिसप्तमगर्भेऽथ विन्यसेत् कमलं तु तत् ।  
 बीजं पुष्टिपदोपेतं कुरुवीप्सासमन्वितम् ॥ १८९ ॥  
 लिखेत् प्रणवपूर्वं तु बहिरष्टासु दिक्षु वै ।  
 संवेष्टय रक्तसूत्रेण मधुतोयघटे न्यसेत् ॥ १९० ॥

नेमेरेकोनविशाख्यवर्णस्य बकारस्य नाभितृतीयं बीजं लकारं पञ्चमारगम् उकार-  
 मरान्तपूर्वेणानुस्वारेण बाह्याद् दशादिना टकारेणेत्यर्थः । नाभितुर्यासनस्थितं पूर्ववद्  
 बकारस्योपरि स्थितं बीजं नृसिंहबीजं तदन्तस्थं न्यसेत्, कर्णिकामध्ये विलिखेदित्यर्थः ।  
 नाभिसप्तमगर्भे मकारगर्भे इत्यर्थः । बीजं नृसिंहबीजम् । पुष्टिपदोपेतं कुरुवीप्सा-  
 समन्वितं पुष्टिं कुरु कुरु इत्यनेनान्वितमित्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—कुड्डुमक्षोदमिश्रेण कुसुम्भरजसा पूर्ववन्मण्डलमालिख्य  
 रक्तचैन्द्रकभूषितं कृत्वा कुम्भस्थापनादिकं सर्वं पूर्ववत् कृत्वोपकुम्भाष्टकं तु नीवार-  
 तण्डुलैस्ताम्रवर्णस्तिलैर्बदरीफलैरापूर्य दिक्कुम्भानामुपरि संस्थाप्य (तां?तान्) रक्तसूत्रेण  
 समधा संवेष्टयेत् । अन्यच्चोपयुक्तं यद्यत् तत्सर्वमपि कल्पयेत् । ततः स्नात्वा कृत-  
 न्यासादिकोऽलक्तकाम्बुमिश्रया रोचनया दृढद्वाङ्गुरेण लेखिन्या भूर्जपत्रे पद्मगर्भमध्ये  
 साध्यनाम विलिख्याष्टपत्रेष्वधोमुखं ब्लूमिति बीजं विलिख्य परितः पूर्ववत् टङ्कारं

१. सितैः—मु० । २. च—वख० उ० । ३. चन्दनेति मूलस्थः पाठः ।

निधाय पूर्ववत् कुर्याद् दिग्बन्धं हृदयादिकैः ।

अस्त्रेण तु विदिग्बन्धं नेत्रेणोर्ध्वमधस्तथा ॥ १९१ ॥

ततो विद्वुमसंकाशं मन्त्रमावाह्य संयजेत् ।

अँथो मन्त्रगणं सर्वं लोके शास्त्रान्तसंयुतम् ॥ १९२ ॥

रक्तैरकण्टकैर्हौरचनं कुसुमैहितम् ।

राजमुद्गैस्तु नैवेद्यं युक्तमत्र गुलोदनम् ॥ १९३ ॥

गुलरञ्जितभक्ष्याणि कुर्यान्नानाविधानि वै ।

सम्भवे सति वै रक्तं सर्वं कार्यमसम्भवे ॥ १९४ ॥

रञ्जयेत् कुड्कुमाद्येन केनचिद् रक्तधातुना ।

सर्वं जपावसानं तु कृत्वा होमं समाचरेत् ॥ १९५ ॥

घृतैस्तिलैस्तु पूर्वोक्तैः शर्करावदरान्वितैः ।

दत्त्वा पूर्णाहुतिं कुर्यात् सेचनं शर्कराम्भसा ॥ १९६ ॥

पूर्ववन्मन्त्रनाथस्य साध्यगमीकृतस्य च ।

ततः पूर्वोक्तविधिना बलिकर्म समाचरेत् ॥ १९७ ॥

विलिख्य पूर्ववद् वकारान्वितं नृसिंहबीजं विणिकान्तर्विलिख्य तत्कमलं सकारगर्भे विन्यस्य तदष्टदिक्षु ३० पुष्टि कुरु कुर्विति विलिख्य तद्यन्त्रं रक्तसूत्रेण संवेष्टय मधुतोयकुम्भे विन्यस्य तं पूर्वोक्तस्थाने निधाय हृदयादिभिश्चतुर्मन्त्रैः प्रागादिदिक्चतुष्य-मस्त्रमन्त्रेण विदिक्चतुष्टयमस्त्रमन्त्रेणाध ऊर्ध्वं च बद्धवा ततो देवमावाह्य विद्वुमाभं ध्वात्वा पूर्वं मण्डलोक्तेन परिवारमन्त्रगणेन सह रक्तवर्णः कुसुमादिभी राजमुद्गार्घ्य-बीजैरुलोदनैर्गुलरञ्जितेभव्यैश्च यथाविधि देवं यजेत् । एवं च सर्वमुपचारगणं रक्तवर्णं कुर्यात् । तदसंभवे कुड्कुमादिना गैरिकादिधातुना वा रक्तीकुर्यात् । एवं जप-यज्ञान्तमभ्यर्थ्य घृतैः शर्करावदरफलान्वितस्ताम्रवर्णस्तिलैश्च यथाविधि पूर्णाहुत्यन्तं हुत्वा पूर्ववत् कुम्भस्थस्य देवस्य शर्कराम्भसा सेचनं कृत्वा पूर्वोक्तरीत्या बलिकर्म

१. नेत्रेण तु अधोर्ध्वतः—अ० उ० ।

२. अथ—बख० उ०, तथा—अ० ।

३. विद्वुमाङ्ग—अ० । ४. रञ्जिते—अ० ।

सप्तरात्रं त्रिरात्रं वा पुष्टिस्तप्यते महत् ।  
 प्रभावान्मन्त्रराजस्य विधिनानेन सर्वदा ॥ १९८ ॥  
 अथानेन हि मन्त्रेण कुर्यादाप्यायनं तु वै ।  
 परस्य चात्मनो मन्त्री यथा तदवधारय ॥ १९९ ॥  
 मण्डलं मण्डनायुक्तं चतुर्वर्णकभूषितम् ।  
 वस्त्रस्त्रगदपणोपेतं किञ्चिणीव्यञ्जनान्वितम् ॥ २०० ॥  
 शृतेन मधुना दध्ना पयसा सुश्रितेन च ।  
 व्यस्तेन उपकुम्भौ तु द्वौ द्वौ सम्पूर्य यत्नतः ॥ २०१ ॥  
 मधूकफलकर्पूरद्राक्षामलफलैस्तर्तः ।  
 पात्राण्यापूर्य कुम्भानां वक्त्रदेशे निधाय च ॥ २०२ ॥  
 साढ्कुराणि शरावाणि सिक्तानि शिशिराम्भसा ।  
 सुधाचन्दनलिप्तानि सितपुष्पान्वितानि च ॥ २०३ ॥

---

च कुर्यात् । एवं सप्तरात्रं त्रिरात्रं वा कृते मन्त्रमहिम्ना महती पुष्टिस्तप्यते ॥ १८१-१९८ ॥

इति पौष्टिकविधिः ॥

अथाप्यायनविधिमाह—अथानेन हि मन्त्रेणेत्यारभ्य कुर्यादाप्यायनं भवेदित्यन्तम् । सार्णमध्यगं सकारान्तर्गतमित्यर्थः । संज्ञापदं साध्यनामवेयमित्यर्थः । नाभिसप्तमवर्णं यत् सकारः, नाभितुर्योर्परि स्थितं वकारोपरि स्थितमित्यर्थः । इदं प्रथमबीजम् । उत्तराधर्ययोगेन तदेवादाँय वैः पुनः । सकारस्याधो वकारं संयोज्येत्यर्थः । इदं द्वितीयबीजम् । नाभितृतीयं लकारं द्वाभ्यामधः, वक्ष्यमाणसकारवकारयोरित्यर्थः । तत्रापि नाभेः सप्तमं सकाराख्यं वर्णम्, अधःस्थम्, तच्चतुर्थं वकाराख्यं वर्णमूर्धनि । इदं तृतीयबीजम् । सप्तमं सकारम्, तृतीयं लकारम्, नेमिवर्गाद्बूनर्विशकं बकारम् । इदं चतुर्थबीजम् । भूयो नेमेस्तमादाय सकारमादायेत्यर्थः । नाभिसप्तमपृष्ठगं सकारोपरि स्थितमित्यर्थः । नाभिदेशात् तृतीयं लकारमित्यर्थः । इदं पञ्चमबीजम् । सर्वेषां पञ्च(म?)बीजानामित्यर्थः । पञ्चमारणसंयुतम् उकारान्वितं नाभिपूर्वं यकारम् आसनं निदध्याद् अधः संयोजयेदित्यर्थः । अरोपान्त्यगतेन अनुस्वारा-

१. द्विरात्रं-अ० । २. परस्येवा-मु०, परस्यैवा-अटी०, परस्य वा-अ०, परस्यात्मनो-उ० । ३. मधुना-मु० अटी० । ४. व्यञ्जन-मु० । ५. युतम्-वक० वच० अ० उ० । ६. युतः-अ० । ७. माधाय-म० । ८. स्तदादाय-म० ।

चचितानि सिताद्येणै योज्य कुम्भान्तरावनेः ।  
 सितरक्तं तु हेमामं पुष्पाद्यमखिलं हि यत् ॥ २०४ ॥  
 उपचारे तु विहितं तदादृत्याखिलं तु वै ।  
 कृताहिकः शुद्धवासाः सिंहमन्त्राभिधानधृक् ॥ २०५ ॥  
 सकुड़कुमेन क्षीरेण ईषदिक्षुरसेन च ।  
 तथा च मधुना भूजै वस्त्रे वा सार्णमध्यगम् ॥ २०६ ॥  
 दत्ता संज्ञापैदं कुर्याद् वाद्ये पद्मं चतुर्दलम् ।  
 तद्विद्विगुणैः पत्रैः कर्णिकाकेसरान्वितम् ॥ २०७ ॥  
 द्विषट्कपत्रं तदनु तद्वाहिः षोडशच्छदम् ।  
 ततस्त्रिरष्टपत्रं तु तद्वाहे वृत्तमालिखेत् ॥ २०८ ॥  
 अधोमुखं तु सर्वेषां दलानां बीजपञ्चकम् ।  
 क्रमेण पूर्वपद्मात् तु योजनीयं हि तच्छृणु ॥ २०९ ॥  
 नाभिसप्तमवर्णं यन्नाभितुयोर्परि स्थितम् ।  
 उत्तराधरयोगेन तदेवादाय वै पुनः ॥ २१० ॥  
 अथ नाभितृतीयं तु अधो द्वाभ्यां तु विन्यसेत् ।  
 अधःस्थं सप्तमं नाभेस्तच्चतुर्थं तु मूर्धनि ॥ २११ ॥

न्वितेन नेमेनवमेन टकारेण शिरसा लाङ्घयेत् टकारमुपरि न्यसेदित्यर्थः । नाभीय-  
 तुर्यवर्णन्तं प्राग्वन्मध्येऽत्र मन्त्रराट् । प्राग्वत् शान्तिकपौष्टिकोक्तवदित्यर्थः । मध्ये  
 कर्णिकामध्ये नाभीयतुरीर्यवर्णन्तं वकारान्तमित्यर्थः । मन्त्रराट् नृसिंहबीजमित्यर्थः ।  
 वौषट्पदद्वयान्तस्थमित्यपि मन्त्रराडित्यस्यैव विशेषणम् । केवलं बीजं वकाररहितं  
 नृसिंहबीजमित्यर्थः । अरावसानसंभिन्नं विसर्गान्तमित्यर्थः । नाभिसप्तमं सकारम्, तेन  
 युक्तं नृसिंहबीजमित्यर्थः । नाभेः सप्तमबीजं सकारम्, तच्चतुर्थासिनस्थितं वकारोपरि  
 स्थितम् । अराच्चतुर्दशेन औकारेण, तदन्तेनानुस्वारेण । एतत्संपुटमध्यस्थं स्वामित्य-  
 क्षरद्वयसंपुटितं नृसिंहबीजमित्यनुषङ्गः । नाभितुर्य वकारम्, तत्सप्तमोपरि स्थितं  
 सकारोपरि स्थितमित्यर्थः । नेमेनवमबीजेन टकारेण, अरान्ताद्येन अनुस्वारेणेत्यर्थः ।

१. द्येन-उ० । २. शुक्ल-म० अटी० वक० वख० । ३. पन-बक० वख० उ० ।  
 ४. दयस्थ-अ० । ५. अधोधर्वाभ्यां-अ० उ० । ६. तुर्य-म० ।

ततः सप्तममादाय तृतीयं तदधो न्यसेत् ।  
 तदधो नेमिवर्णाच्च योजयेदूर्विशकम् ॥ २१२ ॥  
 भूयो नेमेस्तथादाय नाभिसप्तमपृष्ठगम् ।  
 तस्याप्यधस्तृतीयं तु नाभिदेशाच्च विन्यसेत् ॥ २१३ ॥  
 सर्वेषां नाभिपूर्वं तु पञ्चमारगसंयुतम् ।  
 निदध्यादासनं पश्चाच्छिरसा लाङ्घयेत् क्रमात् ॥ २१४ ॥  
 नवमेन तु वै नेमेररोपान्त्यगतेन तु ।  
 नाभीयतुर्यवर्णान्तं प्राग्वन्मस्येऽत्र मन्त्रराट् ॥ २१५ ॥  
 वौषट्पदद्वयान्तस्थमथ वीजं हि केवलम् ।  
 दलान्तरालभूमौ तु चतुष्पत्रस्य योजयेत् ॥ २१६ ॥  
 अरावसानसंभिन्नं कृत्वा वै नाभिसप्तमम् ।  
 तेन युक्तं तथा दद्यादष्टपत्रस्य सन्धिषु ॥ २१७ ॥  
 तेनैव नाभितुर्यं तु भेदयित्वा तदन्तर्गम् ।  
 कृत्वां वीजवरं कुर्याद् द्विषट्पत्रान्तरालगम् ॥ २१८ ॥  
 वषट्कारपदोपेतं वीजं शीर्ताम्बुसन्निभम् ।  
 न्यसेत् षोडशपत्रस्य सन्धिदेशगतं ततः ॥ २१९ ॥

अथ प्रयोगः—अत्र पूर्वोक्तमेव मण्डलं चतुर्वर्णभूषितं परिकल्प्य तद्यागस्थानं वितानपुष्पमालादर्पणकिङ्किणीचामरव्यजनादिभिरङ्गकृत्य घृतेन मधुना दध्ना सुश्रित-क्षीरेण च प्रत्येकं द्वौ द्वावुपकुम्भौ संपूर्य मधूकफलकर्पूरद्राक्षामलकफलैः शरावाण्यापूर्य तान्युपकुम्भमुखेषु संस्थाप्य शिरोमन्त्रेणाम्भसा सिक्तानि सुधाचन्दनलिप्तानि सित-पुष्पान्वितानि सिताधर्णेणाच्चितानि साङ्कुराणिं शरावाणिं दिक्कुम्भान्तरालेषु संस्थाप्या-त्रोपयुक्तं पुष्पादिकं सर्वं सितरक्तं हेमाभं चाहरेत् । ततः कृताह्निकः शुद्धवासाः साधको मन्त्रन्यासादिकं कृत्वा नृसिंहोऽहमिति तदभिमानमाश्रित्य सकुङ्कुमेन क्षीरेणेष-दिक्षुरसमधुभ्यां विमिश्रितेन भूर्जपत्रे सकारात्मतर्गतं साध्यनामधेयं विलिख्य तद्वहि-श्चतुर्दलपद्मं तद्वहिः कणिकाकेसरान्वितमष्टदलं पद्मं तद्वहिंद्रिदशादलं पद्मं तद्वहिः षोडश-दलं पद्मं तद्वहिंश्चतुर्विंशतिदलं पद्मं तद्वहिरेकं वृत्तं चालिख्य चतुर्दलेषु स्म्युद् इति

१. च-वक० बख० उ० । २. वण्णनामिति सार्वत्रिकः पाठः । ३. घ्येऽथ-अ० ।  
 ४. पदा-अ० । ५. यत्तु-अ० । ६. कम्-अटी०, रम्-अ० । ७. पङ्क्तिरेपा नास्ति-उ० ।  
 ८. पीता-म० अटी० । ९. 'पद्मं' नास्ति-अ० ।

नाभेः सप्तमवीजं तु तच्चतुर्थासनस्थितम् ।  
 अंगच्चतुर्दशेनैव तदन्तेनाभिभूषितम् ॥ २२० ॥  
 एतत्सम्पुटमध्यस्थं क्षरन्तममृतं महत् ।  
 पूर्ववद् बाह्यपञ्चस्य ग्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ॥ २२१ ॥  
 नाभितुर्यमथादाय स्थितं तत्सप्तमोपरि ।  
 नेमेनवमवीजेन अंगन्तादेन चाङ्गेत् ॥ २२२ ॥  
 वीजमेतन्नियोक्तव्यं संख्याहीनं निरन्तरम् ।  
 अमिमिभूतं बहिष्ठस्य पैयोजावणस्य च ॥ २२३ ॥  
 लिख्यैवं सितरक्तेन पीतसूत्रेण वेष्टयेत् ।  
 मध्वक्षुग्स आग्राम्बुपूर्णकुम्भे नियोज्य च ॥ २२४ ॥  
 चन्दनेन समालिप्तं कृत्वा पुष्पस्त्रगन्वितम् ।  
 तनिधायोदिते स्थाने ततो मन्त्रेश्वरं यजेत् ॥ २२५ ॥  
 हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं परिवारसमन्वितम् ।  
 रवच्छस्फटिकवर्णाभं हिमादधिकशीतलम् ॥ २२६ ॥  
 ध्यायेत् तं ब्रह्मरन्धोध्वं सितं पद्मधोमुखम् ।  
 तत्कर्णिकोदरे लीनं स्मरेद् गगनमण्डलम् ॥ २२७ ॥  
 प्रकाशितं निशानाथमयूखाखिलतारकैः ।  
 विक्षिप्तवाहैराकीणं सुरासिन्धुविनिर्गमैः ॥ २२८ ॥  
 अथार्घ्यपुष्पपूर्वाणां भोगानामर्चने विभोः ।  
 प्रागुक्तानां क्रमेणैव <sup>१०</sup>अनुसन्धानमाचरेत् ॥ २२९ ॥

बीजम्, अष्टदलेषु स्पृयुट् इति बीजम्, द्वादशदलेषु स्फृयुट् इति बीजम्, षोडशदलेषु स्पृयुट्  
 इति बीजम्,<sup>११</sup> चतुर्विशतिदलेषु स्फृयुट् इति बीजं चाधोमुखं विलिखेत्, कर्णिकामध्ये  
 वौषट् व्वर्णैवौषट् इति विलिख्य चतुर्दशान्तरालेषु क्षौ इति केवलं नूसिहृबीजं विलि-  
 ख्याष्टपत्रान्तरालेषु क्षः इति बीजं विलिख्य, द्वादशपत्रान्तरालेषु क्षवः इति विलिख्य,  
<sup>१२</sup>षोडशदलान्तरालेषु वषट् क्षौ वषट् इति विलिख्य, चतुर्विशतिदलान्तरालेषु स्वौ क्षौ

१. आरा-मु० । २. अन्तरा-बक० उ० । ३. वयो-अ० । ४. पङ्कवितद्वयं नास्ति-उ० ।  
 ५. दूर्वा-बक० बख०, आद्रा-अ० । ६. कुम्भ-अ० । ७. लब्ध-अ० उ० । ८. समावृतम्-  
 अ० उ० । ९. नाथ-बक० बख० उ० । १०. त्वनु-अ० उ० । ११. 'बीजम्' नास्ति-अ० ।  
 १२. 'षोडशदलेषु स्पृयुट् इति चतुर्विशतिदलेषु स्फृयुट् इति बीजम्' वारद्वयं लिखितम्-अ० ।

यं यं संकल्पयेद् भोगं तं तं भाव्य सुधामयम् ।  
 पतन्तम्बरगद् वेगादमृतांशुपरिष्कृतम् ॥ २३० ॥  
 साक्षादमृतरूपस्तु तैस्तरमृतसम्भवैः ।  
 चृंहितं मुदितं मग्नं संप्लुतं मन्त्रराद् स्मरेत् ॥ २३१ ॥  
 ततोऽवतार्य हृदयात् साधनेन यजेद् वहिः ।  
 इष्टवाऽथ वह्निगर्भस्थं ध्यात्वा सन्तर्पयेत् ततः ॥ २३२ ॥  
 सामलैराज्यसिक्तैस्तु विल्वैर्द्वाङ्कुरैर्नवैः ।  
 तिलैर्गोक्षीरसंयुक्तैर्लजितण्डुलमिश्रितैः ॥ २३३ ॥  
 सिताज्यपुष्पसंयुक्तैर्द्वयात् पूर्णाहुर्ति ततः ।  
 मधुक्षीरोदकेनाथ कुर्याद् द्वै मन्त्रसेचनम् ॥ २३४ ॥  
 घृतेन पायसान्नेन पायसेन फलैः शुभैः ।  
 पूर्ववद् बलिदानं तु कुर्यादाप्यायनं भवेत् ॥ २३५ ॥

स्वौ इति विलिख्य, वृत्ताद् वहिः प्संट इति बीजं प्रादक्षिण्येन निरन्तरं संख्याहीनमूर्मिभूतं विलिख्य तद्यन्त्रं सितरक्तेन पीतसूत्रेण सवेष्टय मधिवक्षुरसपू(र्वी?र्ण)पूर्णकुम्भे निधाय तं कुम्भं चन्दनैरालिष्य पुष्पमाल्यैरलड्कृत्य पूर्वोक्ते स्थाने निधाय स्वहृदयकमले समस्तपरिवारसमन्वितं स्वच्छस्फटिकसन्निभं हिमादधिकशीतलं श्रीमन्तृसिंहं ध्यात्वा तद्वक्ष्यरन्धोपरि स्थितमधोमुखं पद्मं ध्यात्वा तत्कर्णिकायां परिपूर्णन्दुमण्डलनक्षत्र-वृन्दमादाकिनीप्रवाहैराकीर्ण गगनमण्डलं संस्मृत्य

ततः खाब्जकमध्यात्तु ह्यार्धस्थां संस्मरेच्युताम् ।  
 गङ्गां भगवतो मूर्ध्नि तेनामृतजलेन तु ॥ (२७४)

अधर्यादिभोगैरभ्यर्च्य ततः स्वहृदयाद् देवमवतार्य कुम्भे मण्डले च यथाविधि सम-भ्यर्च्याग्नौ देवमावाह्य सामलकैराज्यसिक्तैर्वित्वैद्वाङ्कुरैर्गोक्षीरसंयुक्तैर्लजितण्डुल-मिश्रितैः सिताज्यपुष्पसंयुक्तैस्तिलैश्च मंतर्प्य पूर्णाहुर्ति दत्तवा प्राग्वन्मधुक्षीरोदकेन यन्त्रस्थस्य मन्त्रनाथस्य सेचनं कृत्वा घृतेन पायसान्नेन पायसेन फलैश्च पूर्ववद् बलिदानं कुर्यात् । अनेन आप्यायनं भवति ॥ १९९-२३५ ॥

( इत्याप्यायनविधिः ॥ )

अथ रक्षाविधानं तु वक्ष्ये सम्यग् यथास्थितम् ।  
 येन विज्ञातमात्रेण नीरुजः सर्वदा भवेत् ॥ २३६ ॥  
 सामान्यं सर्वदोषाणां ज्ञातानां च निवारणे ।  
 अज्ञातानां विशेषेण तत् सम्यगवधारय ॥ २३७ ॥  
 ताराग्रहोपतापेन धातुर्वैषम्यमेति वै ।  
 तद्वैषम्यात् प्रकृप्यन्ति व्याधयस्तु ज्वरादयः ॥ २३८ ॥  
 तत्कोपावसरेणैव ब्रह्मरक्षोमुखा ग्रहाः ।  
 शोकिन्यो भूतवेतालाः संक्रामन्ति हि देहिनः ॥ २३९ ॥  
 निमित्तं विद्वि सर्वेषां कर्म यद् वै पुरा कृतम् ।  
 सामर्थ्येन तु मन्त्रेण ज्ञानेन तपसा चै वै ॥ २४० ॥  
 ज्ञापाऽध्ययनहोमेन दानेन विविधेन च ।  
 मन्त्रौषध्युपयोगेन सहसा नाशमेति तत् ॥ २४१ ॥  
 प्राधान्येन तु सर्वेषां मन्त्रमत्रानुतिष्ठति ।  
 यस्य स्मरणमात्रेण नाविशन्ति ग्रहादयः ॥ २४२ ॥  
 कृत्वाधारं यथोक्तं तु यजनार्थं नृकेसरेः ।  
 वीजैः सिद्धार्थकोपेतैरुपकुम्भानि पूर्य च ॥ २४३ ॥

अथ रोगात्मानं रक्षाविधिमाह—अथ रक्षाविधानं त्विति प्रक्रम्य सहजानामुदाहृतमित्यन्तम् ।

प्रयोगः—श्रीनृसिंहाराधनार्थं पूर्ववन्मण्डलं कुम्भं च संस्थाप्योपकुम्भांस्तु श्वेत-सर्षपोपेतैर्बीजैरापूर्य (तदपियानशरीरान् ? तत्पिधानशरावान्) सफलसर्षपतिलैरापूर्य तद्विरर्घटदिक्षु सुसमं लोहमयं बाणाष्टकं निधाय तान् दृढेन तन्तुना कण्ठदेशे बद्ध्वा बर्हिपैक्षसमायैक्तं सर्पनिमुक्तकञ्चुकभूषितं महीषध्या भूतजटया शमीशाखया च समन्वितं तद् बाणाष्टकं पञ्चवर्णेन सूत्रेणोत्तरदिशमारभ्य प्रादक्षिण्येन त्रेधा संवेष्टच्याष्टानां पूर्णकुम्भानामन्तरालेषुन्नतासनस्थितं राजिकाख्येन तैलेन पूरितं ताम्रपात्रस्थितं महाराजतरञ्जितवर्तियुक्तं दीपाष्टकं विन्यस्य स्नातो बद्धशिखो मौनी साधकः प्राग्वद् दिग्बन्धं कृत्वा सर्वदोषपलायनं संकल्प्य मन्त्रनाथं श्रीमन्नृसिंहं काम्यैर्बहुविधैः शुभैः पुष्पैर्धूपैः

१. डाकिन्यो—बक० बक्ष० अ० उ० । २. नम्—अ० । ३. महत्—अ० उ० ।
४. द्विजाय ध्यान—अ०, द्विजे च ध्यान—उ० । ५. मन्त्रं मात्रा—अ०, मन्त्रमात्रा—उ० ।
६. वक्ष—अ० । ७. युक्त—अ० ।

वक्त्रेष्वप्युपकुम्भानां संफलानि नियोजय च ।  
 तिलैसर्पपूर्णानि पात्राणि विरतानि च ॥ २४४ ॥  
 युसमं तद्वहिद्वाद् दिक्षु लोहशराष्टकम् ।  
 कण्ठदेशेषु बधीयाच्छराणां दृढतन्तुना ॥ २४५ ॥  
 वैहिपशसमायुक्तां सर्पकच्चुकभूषिताम् ।  
 महोषधीं भूतजटां शमीशाखासमन्विताम् ॥ २४६ ॥  
 पञ्चरागेण सूत्रेण उदगाशादितः क्रमात् ।  
 प्रादक्षिण्येन तु त्रेधा वेष्टयेत् तच्छराष्टकम् ॥ २४७ ॥  
 अष्टानां पूर्णकुम्भानामन्तरान्तरयोगतः ।  
 दद्यादुच्चासनस्थं तु दीपाष्टकमनुक्रमात् ॥ २४८ ॥  
 तैलेन राजिकाख्येन ताम्रपात्रस्थितास्तु वै ।  
 दीपानां वर्तयो देया महाराजतंरञ्जिताः ॥ २४९ ॥  
 अर्थं बद्रशिखो मौनी प्राघवद् दिग्बन्धमाचरेत् ।  
 अभिसन्धाय मनसा सर्वदोषपलायनम् ॥ २५० ॥

फलैर्मूलैर्वेद्यैर्भक्ष्यैश्च यथाविधि समभ्यर्च्याग्निमध्ये च देवं सिद्धार्थान्वितैः सर्वबीजैराजिकाधृतयुक्तैः सफलैस्तिलैश्च मन्त्रपूर्णतुरमापादाद् मस्तकावध्यस्त्रपुष्टैः संताडचनेत्रमन्त्रेण सनिरीक्ष्य नतजानुशिरः कृत्वा भगवते निवेद्य परिघान्वितेऽस्त्रेणाभिमन्त्रितेऽर्घ्याद्याभ्यर्चिते आसने तं समुपवेश्य षड्ज्ञेन श्रीमन्तृसिंहमन्त्रेण तस्य हस्तयोर्देहे च यथाविधि न्यासं मनसा कृत्वा तस्याग्रे सचक्रं षट्कोणं मण्डलमालिख्य तत्र पूर्वोक्तं रचनापरिष्कृतं गन्धवारिणा पूर्णं कलशसप्तकं मध्ये षट्कोणेषु च संस्थाप्य कोणान्तरालेषु पूर्वोक्तरीत्या दीपाष्टकं च निधाय मध्यकुम्भे साङ्घं मन्त्रनाथं समभ्यर्च्य कोणस्थकलशेषु ३० नृसिंहभूतेभ्यो नम इति सर्वदोषनाशनं नृसिंहभूतगणं समभ्यर्च्यास्त्राभिमन्त्रितैः सिद्धार्थेऽदिग्बन्धं कृत्वा पुनरातुरं पुष्टैः संताडचनेत्रमन्त्रितेऽस्त्रेण तद्वेषणं सर्वं तददेहान्मनसा समाकृष्य गगने धरातले वा विनिक्षिप्य निर्धमतिदीप्तिमदग्निपात्रमादाय निरस्त्वाने तस्मिन्नरनौ सिद्धार्थकैस्तिलैश्चाष्टोत्तरशतसंख्याऽमुकं रक्ष रक्ष स्वाहेत्य-

१. सु—३० । २. सर्पपतिल—बक० बख० अ० उ० । ३. पत्राणि—मु० अटी० बक० बख० । ४. विविधानि—उ० अटी० । ५. क्रोडदेशे तु—अ० उ० । ६. च्चाराणां—अटी० । ७. बहिः—बक० बख० अ० । ८. रङ्गेण—बक० बख० अ० उ० । ९. तच्चरा—अटी० । १०. राजित—अटी० । ११. स्नात इति भाष्यानुसारी पाठः ।

संयजेन्मन्त्रनाथं तु काम्यैवहुविधैः शुभैः ।  
 पुष्पैर्घूपैस्तु नैवेद्यैर्भक्ष्यैः संफलमूलकैः ॥ २७१ ॥  
 हुत्वाऽथ सर्ववीजानि सिद्धार्थक्युतानि च ।  
 राजिकाघृतयुक्तानि तिलानि सफलानि च ॥ २७२ ॥  
 ध्यौत्वा पूर्णाहृतिं दद्यान्मध्याह्नसमये ततः ।  
 रक्ष्यं सुनिर्मलं कृत्वा पूर्वमध्यञ्जनादिकैः ॥ २७३ ॥  
 हेमर(क्तौ॒त्नौ)षधिस्नानैः प्रोक्षयित्वा प्रवेश्य च ।  
 ताडयित्वाऽस्त्रपुष्पेण आपादात् संनिरीक्ष्य च ॥ २७४ ॥  
 नतजानुशिरः कृत्वा देवाय विनिवेदयेत् ।  
 उत्तराभिमुखं कृत्वा आसने परिधान्विते ॥ २७५ ॥  
 अस्त्रोपलक्षिते चैव तथाधर्यादिसमन्विते ।  
 षड्ङ्गेनाथ मन्त्रेण तस्य न्यासं समाचरेत् ॥ २७६ ॥  
 मनसा करशाखासु स्वस्थानेष्वथ विग्रहे ।  
 सचक्रमथ तस्याग्रे षट्कोणं मण्डलं लिखेत् ॥ २७७ ॥

न्तेन मूलमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा जुहुयात् । प्रत्याहुत्याहुतिद्रव्यं तन्मूर्धनः परितो भ्रामयेत् ।  
 सिद्धार्थक्युतिं महिषाक्षगुग्गुलुमादाय मूलमन्त्रेण धूपयित्वाऽऽतुरं वाससाऽस्त्र-  
 च्छाद्य सजलं पात्रमन्पात्रसमीपे निधायाऽन्यस्मिन् पात्रे नैवेद्यशोषं सर्वं निधाय  
 कुञ्जुमादिना रक्तीकृत्य सोदकं तदनन्तं समृद्धत्याऽऽतुरस्य धात्वाश्रितानां दोषाणामयं  
 पशुप्रतिनिधिर्बलिरिति मनसा संकल्प्य,

यदीयमस्य वै बाधमिन्द्रियाणां च धातुषु ॥  
 आदाय च बर्लि शश्वत् सिंहसत्येन मूञ्चतु । (१७।२६९-२७०)

इत्युच्चवरत् बर्लि द्वयात् । बर्लेमध्ये मध्ये वामदक्षिणपाणिनाऽसंस्यातं होमं च कुर्वन्  
 बलिदानार्थं प्रदक्षिणीकुर्यात् । अथास्त्रजप्तेन वारिणा पाणिं प्रक्षाल्याथ कुण्डस्थां भूर्ति  
 दग्धगोमयजां भूर्ति वाऽऽदाय बहुशोऽस्त्रमन्त्रेणाभिमन्त्र्य आतुरस्य ललाटादङ्गिपर्यन्त-

१. 'सफल'...तिलानि' नास्ति-उ० । २. जुहुयात्-अ०, भुवत्वाऽथ-अटी० ।
३. पद्मक्षितत्रयं नास्ति-वक० वख० उ० । ४. सुनि-सु० अटी० । ५. परिवा-उ० ।

वृतं ज्वालागणेनैव ततस्तत्र निवेशयेत् ।  
 प्रागुक्तरचैनाद्यं तु सुैर्पूर्णं गन्धवारिणा ॥ २६८ ॥  
 सप्तकं कलशानां तु मध्ये योज्यं तदक्षिषु ।  
 अश्रिभ्यामन्तरालस्थं दीपषट्कं यथा पुरा ॥ २६९ ॥  
 कृत्वा मैध्यमकुम्भे तु साङ्गं मन्त्रेश्वरं यजेत् ।  
 नमो नृसिंहभूतेभ्यः प्रणवाद्येन पूजयेत् ॥ २७० ॥  
 कोणेषु भगवद्वक्तनिचयं दोषनाशनम् ।  
 पूजयित्वा यथान्यायं पुष्पधूपादिकेन वै ॥ २७१ ॥  
 दिग्बन्धमथ वै कुर्यात् सास्त्रैः सिद्धार्थकैः क्रमात् ।  
 ताडयेदातुरं पश्चादा पादान्मस्तकावधि ॥ २७२ ॥  
 स्वपाणिव्यजनेनाथ समाकृष्टं विनिखिपेत् ।  
 दोषजालं च तेऽद्वैहाद् गगने वा धरातले ॥ २७३ ॥  
 ततोऽग्निपात्रमादाय निर्धमतिदीप्तिमत् ।  
 तस्मान्निरन्धने कुर्याद् होमं सिद्धार्थकैस्तलैः ॥ २७४ ॥

मूर्ध्वपुण्ड्राणि कृत्वा ॐ क्षौ नमः, ॐ नमो भगवते नरसिंहाय स्वस्त्यस्तु ते इति कुम्भो-  
 दक्षसमन्वितार्घ्योदक्षिण्डुभिः संप्रोक्ष्य तद्वद्वृहारनन्द्रे पूर्णचन्द्रमण्डलमध्यस्थं पूर्णचन्द्रा-  
 युतोपमं महदमृतं स्रवन्तं मन्त्रनाथं ध्यात्वा तदमृतेन तच्छरीरं संसिंक्तं च ध्यात्वा  
 कुम्भस्थं मण्डलस्थं च देवं पुनरभ्यर्च्यं सदिक्कुम्भं सोपकलशं तं महाकुम्भमातुरस्य  
 शयनागारे शिरःप्रदेशे वस्त्रपीठोपरि निर्धाय वस्त्रेणाच्छाद्याऽविच्छिन्नप्रसरं धूपपात्रं  
 दीपपात्राणि च यथापूर्वं निधाय ॐ फलपुष्पौषधीदीपलाजकसिद्धार्थकदधिपात्राणि  
 तत्पुरतो निधाय निशामुखे प्राप्ते बलिहरणं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—पूर्वं षट्कोणमण्डलस्थापितकलशेषु मध्यकुम्भस्थस्य भगवतोऽर्च-  
 नार्थं पुष्पधूपदीपादिकं यद्यत् परिकल्पितं तत्सर्वमेकस्मिन् पात्रे संगृह्य तत्परितः  
 षट्कलशस्थितानां नृसिंहभूतानां दत्तं पुष्पधूपदीपादिकं मैस्मिन् पात्रे पृथक् पृथक् षट्मु

१. रञ्ज-बक० बख० अ० । २. सम्पूर्ण-उ० । ३. च मध्यकुम्भे-अ० । ४. बद्भूत-  
वक० बख० अ० उ० । ५. तद्वोषान्-मु० अटी० । ६. कैः क्रमात्-मु० अटी० ।  
७. समसिन्ध-अ० । ८. अस्त्र-अ० । ९. निधाय वस्त्रोपरि निधाय-अ० । १०. पौष्पौ-अ० ।  
११. अन्यस्मिन्-अ० ।

मूलमन्त्रेण वास्त्रेण शताष्टाधिकसंख्यया ।  
 अमुकं रक्ष रक्षेति स्वाहाशब्दसमन्वितम् ॥ २६५ ॥  
 मन्त्रान्ते तु यदं कुर्याद् आमयेन्मूर्धिन चाहुतिम् ।  
 महिषाक्षमथादाय सिद्धार्थकसमन्वितम् ॥ २६६ ॥  
 प्रजप्य धूपयेत् तं वै कृत्वा च्छन्नं तु वाससा ।  
 निधाय सज्जलं पात्रमग्निपात्रोपगं ततः ॥ २६७ ॥  
 नैवेद्यशेषमन्यस्मिन् सर्वमुद्धृत्य सोदकम् ।  
 पशुप्रतिनिधि चैव गज्जतं कुड्कुमादिना ॥ २६८ ॥  
 धान्वाश्रितानां दोषाणां मनसा परिकल्पितम् ।  
 यदीयमस्य वै वाधमिन्द्रियाणां च धातुषु ॥ २६९ ॥  
 आदाय च वलि शश्वत् सिंहसत्येन मुञ्चतु ।  
 अन्तरान्तरयोगेन वामदक्षिणपाणिना ॥ २७० ॥  
 असंख्यमाचरेद् होमं वलियुक्तं प्रदक्षिणैः ।  
 वलिपाणिमथ क्षाल्य अस्त्रजप्तेनैः वारिणा ॥ २७१ ॥

पात्रेषु वा निधाय तत्तत्पात्रं स्वस्वदीपालङ्कृतं कृत्वा तत्तकुम्भोपरि विन्यस्य ३५ ऋः  
 वीर्यायास्त्राय फद् अमुकं रक्ष रक्षेति मन्त्रं स्मरन् तत्कुम्भान् रक्ष्यस्य शिरसि  
 यथाक्रमं पृथक् पृथक् परिभ्राम्य सात्त्विकान् भगवद्भक्तान् बलिवाहकानाहूय तेषां करेऽ-  
 ग्रन्त्राभिमन्वितान् सिद्धार्थकात् इत्वाऽत्रमन्त्रेण भस्मना ललाटे तिलकं दत्वा तैर्बलि  
 वाहृयित्वाजाधजले चत्वरे वृक्षमूले ग्रामान्तरगराद् वा बहिश्च देवभूतबलिक्षेपं कुर्यात् ।  
 सिद्धार्थेन्मायमानं पूर्वोक्तं वलिपात्रं जलपात्रं च तेन वलिपात्रेण सहैव त्यजेत् । एवं  
 कृपमर्मापे वापीमस्मोपे वृक्षसमौपे वलि प्रक्षिप्य पाणिपादौ प्रक्षाल्याऽचम्य सुलिप्तायां  
 भूमौ वायितस्य रक्ष्यस्य परितस्तन्मूर्धिन दीपमात्रे चास्त्रमन्त्रेण सिद्धार्थनि प्रक्षिप्य  
 मूलमन्त्रमपुटितेन चास्त्रमन्त्रेण बहुशोऽभिमन्वितं सिद्धार्थं सप्तरात्रं प्रत्यहं रक्ष्यस्य  
 वस्त्रे च वध्नीयान् । एवं कृते व्याधिपीडितानां रक्षणं सिद्धयति । ततो रक्ष्यस्य गृहे

१. चा-मू० अटी०, सा-अ० उ० । २. शवित-मू० अटी० । ३. षाक्षी-मू० अटी० ।  
 ४. ताम-मू० अटी० । ५. व्यात्वेति सार्वत्रिकः पाठः । ६. पद्मकिञ्चिद्यं नास्ति-उ० ।  
 ७. या चास्य-मू० अटी० । ८. वाधा-मू० अटी० । ९. ववत्रे तु-मू० अटी० । १०. दीप्तेन-  
 वक्त० वत्व० उ० ।

भूतिमादाय वै कुण्डाद् देखगोमयजं तु वा ।  
 प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण ललाटादड्प्रिगोचरम् ॥ २७२ ॥  
 कार्याणि चोर्ध्वपृष्ठाणि पृष्ठे पार्श्वद्वयेऽपि वा ।  
 स्वस्त्यस्तु ते युतेनाथ मन्त्रेणाध्योदकेन तु ॥ २७३ ॥  
 मन्त्रकुम्भात् समेतेन विप्रुद्भिर्हृदयेदनु ।  
 अ्यात्वा पूर्णेन्दृगं मन्त्रं पूर्णचन्द्रायुतोपमम् ॥ २७४ ॥  
 ब्रह्मरन्ध्रे तु जाध्यस्य स्ववन्तममृतं महत् ।  
 शरीरविटपं तेन सेचयेच्च नशावधि ॥ २७५ ॥  
 एवं कृत्वाऽन्वयेद् भूयो मन्त्रं मण्डलकुम्भगम् ।  
 कुम्भं तं शयनागरे ऊर्ध्वदेशे निधाय वै ॥ २७६ ॥  
 वस्त्रपीठोपरिस्थं तु च्छन्नं कृत्वा तु वामसा ।  
 तत्रापि दिग्मिदिक्स्थं च दद्यात् पूर्णघटाष्टकम् ॥ २७७ ॥  
 अच्छिन्नप्रसरं भूपं दीपपात्रं घृतादिना ।

प्रलिप्ते भूभागे कुशाजिनासने स्वर्यं समुपविश्य कृतमन्त्रन्यामः सद्ग्रावान् पर्योभ्युः  
 निराहारो वा जपध्यानपरायणः सन् रात्रेरादिगच्छावगानेषु पूर्वोन्प्रसारेण पूजनं  
 हवनं वलिदानं च कुर्यात् ।

वलिदाने विशेषः—रात्रे पूर्वभागे मोदकेन गवत्तुता मधुना चृतेन न वलि  
 दद्यात् । मध्यरात्रौ यवगोधूमशालिचूर्णेन गुडोदकमिथितं वृत्ताकारदीपशिखाकारा-  
 अफैलीकाराणि ११त्रिप्रकाराणि मोदकानि पाणिना गृत्वा धीरयुक्तैरपक्ववस्तमोदक-  
 वर्णिं दद्यात् । रात्र्यवसाने त्वपक्वैः संमर्दितैः कृपणस्तिलैर्वीजैस्तपृष्ठैर्हिंद्रानर्णदधि-  
 द्वुर्वाङ्गुरफलैर्च रक्षागृहाद् वहिमर्गीकदेशे चत्वरे वा शोथिते स्थले वर्णिं दद्यात् ।

अथ सप्तवान्यान्यादाय मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य आरावे निधाय द्विजेन्द्रकन्यार्यं  
 दत्वा तत्सकाशादेकस्मिन् पात्रे त्रिप्रसृतिमितानि वीजान्यन्पर्यस्मिन् पात्रे गतप्रसृति-  
 मितानि पुनरन्यस्मिन् पात्रे एकादशप्रसृतिमितानि च वीजानि समाहरेत् । तत्सतत्प्रात-  
 त्रयं क्रमेणोदकैरपूर्यस्त्रमन्त्रसंपुटितेन श्रीनृसिंहवीजेन प्रथमं कुम्भमष्टोनरथतवारं

१. अथ—मु० अटी० । २. पृष्ठ—मु० अटी० । ३. ये तु च—मु० अटी० उ० ।  
 ४. ह्लादयेन तु—अ० उ० । ५. रन्ध्रेण—मु० अटी० । ६. मन्त्रमण्डलगच्छावगम—अटी० ।  
 ७. कम्—अ० उ० । ८. कुम्भस्थं—बक० बग० अ० उ० । ९. 'पूजनं हवनं' नामत—अ०,  
 पूजनं भवतवलि—म० । १०. कलकारणानि—अ० । ११. 'त्रिप्रकाराणि' नामित—म० ।

फलपुष्पोषधीदीपलौजासिद्धार्थकं दधि ॥ २७८ ॥

पात्रसङ्घं तदग्ने तु कृत्वा चाथ बलि हरेत् ।

निशामुखे तु सम्प्राप्ते सर्वदोषप्रशान्तये ॥ २७९ ॥

एकस्मिन् वै समादाय पात्रे यत् कल्पितं विभोः ।

आयुष्यधूपदीपाच्च उपसंगृह्य यत्नतः ॥ २८० ॥

तँद्भूतदत्तमन्यग्निमन् पणां वा तत्पृथक् पृथक् ।

स्वदीपालड्कृतं कृत्वा स्वर्धोपरि विन्यसेत् ॥ २८१ ॥

रक्षरक्षपदोपेतं मन्त्रमस्त्रयुतं स्मरेत् ।

रक्षस्य शिरसि आम्य यथा दत्तं क्रमेण तु ॥ २८२ ॥

सच्चशुद्धांस्तथा भूयो मङ्गकतान् वलिवाहकान् ।

अस्त्राभिमन्त्रितान् दद्यात् तेषां सिद्धार्थकान् करे ॥ २८३ ॥

प्रजाय भस्मना कुर्याल्लाटे तिलकं तु वै ।

प्रवाहयेद् बलि<sup>१</sup> मन्त्री ह्यगाधेऽमसि वै पुरा ॥ २८४ ॥

चत्वरे वृक्षमूलेऽथ ग्रामाद् वा नगराद् बहिः ।

देवभूतवलिक्षेपो विहितश्चात्र कर्मणि ॥ २८५ ॥

द्वितीयं द्विगुणं तृतीयं त्रिगुणं चाभिमन्यं तेष्वेकं कुम्भमुद्धृत्य प्रातःकाले स्थले निक्षिपेत् । अन्यं कुम्भमुद्धृत्य मध्याह्ने जले निक्षिपेत् । पुनरन्यं कुम्भमुद्धृत्य सायंकालेऽपि जले निक्षिपेत् । समाप्तिदिनपर्यन्तं प्रत्यहमेवं सामान्यतो भूततर्पणं कुर्यात् ।

ततोऽपरस्मिन् दिने यथाविधि मण्डलस्थं देवमध्यच्छग्नौ च देवं पूर्णाहृत्यन्तं संतर्प्य गोमयोपलिप्ते<sup>२</sup> स्थले सितेन चूर्णेन मण्डलमालिख्य तन्मध्ये शङ्खं तन्मध्ये षड्दलकमलं च विलिख्य पूर्वं शयनागारे शिरःप्रदेशे स्थापितदिक्कुम्भाष्टकमस्मिन् मण्डलेऽष्टाश्रेषु दीपैः सह संस्थाप्य मध्यकुम्भं मण्डलमध्ये निधाय तस्मात् पूर्वदिना-

१. जाल—मु० अटी०, लाज—अ० । २. दधौ—मु० अटी० । ३. सम्यग—बक० ।

४. तद्वद् भूदत्त—अ० । ५. वाथ—अ० । ६. कटो—मु० अटी० । ७. भक्तांश्च—बक० अ० उ०,

भक्तान् स्व—बख० । ८. तं—मु० अटी० । ९. कं—मु० अटी० । १०. प्रभाव—बक० बख० उ० ।

११. मान्त्रम—बक० बख० अ० उ० । १२. योलिलप्तस्थले—अ० ।

धूमायन्तं च सिद्धार्थवह्निपात्रं पुरोदितम् ।  
 तेनैव बलिपत्रेण सोदकेन समन्वितम् ॥ २८६ ॥  
 त्यजेत कूपसमीपे तु वाप्यां वा निकटे तरोः ।  
 बैलि क्षिप्त्वा समाचम्य धौताङ्गिकरपल्लवः ॥ २८७ ॥  
 रक्षयावनौ सुलिप्तायां परितः शोधितस्य च ।  
 तन्मूर्ध्नि दीपपात्रे<sup>३</sup> च सिद्धार्थक्षेपमाचरेत् ॥ २८८ ॥  
 प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण मूलसम्पुटितेन च ।  
 बधनीयात् सप्तरात्रं तु प्रत्यहं तस्य चाम्बरे ॥ २८९ ॥  
 कृतेनानेन विधिना पीडितानां सदैव हि ।  
 रक्षणं रसधातूनां शशवदेव हि जायते ॥ २९० ॥  
 ततः प्रलिप्ते भूमागे कुशाजिनसमावृते ।  
 कृतन्यासः स्वयं तिष्ठेद् रक्ष्यागारे सहायवान् ॥ २९१ ॥  
 पयोभुग् वा निराहारो ध्यानजप्यपरायणः ।  
 आदिमध्यावसानस्थं रङ्गयंशेषु समाचरेत् ॥ २९२ ॥  
 पूजनं हवनं सम्यग् बलिदानसमन्वितम् ।  
 सक्तुना सोदकैनैव मधुनाऽथ घृतेन चैः ॥ २९३ ॥  
 पूर्वभागे तु यामिन्यामतीते<sup>११</sup> विहितो बलिः ।  
 यवगोधूमशाळ्युत्थचूर्णेन सगुडाम्भसा ॥ २९४ ॥  
 त्रिप्रकागणि संवर्त्य मोदकानि तु पाणिना ।  
 वृत्तदीपशिखाकारस्तुल्यान्याम्रफलस्य च ॥ २९५ ॥

पितार्थ्यपुष्पमाल्यादीन्यपनीय तत्कुम्भस्थले शोषिते सति शीतलोदकधारया पूर्ववत् पूरयेत्, कुम्भस्थमुदकं प्रत्यहं यथा यथा शोषं याति, तथा तथा रक्ष्यस्य धातुवृद्धिभवति । अथाभिनवैः स्त्रगवस्त्रार्थगन्धाद्यैरलङ्घकृत्य तत्र मन्त्रनाथं यथापूर्वं संपूज्य रक्षधातुवृद्धि-

१. यितं—अ०, धूमायमानमिति भाष्यानुसारी पाठः । २. बलं—मु० । ३. पात्रैञ्च—मु० अटी०, पात्रेण—अ० । ४. तोज्जतः—अ० उ० । ५. विमले—मु० अटी० । ६. नेषु—इति शोभनः पाठः स्यात् । ७. रात्रिशेषं—बक० बख० उ० । ८. वहनं—मु० अटी० । ९. ना च—अटी० अ० । १०. वा—अ० । ११. मतीतो—मु० अटी० अ० । १२. त्रि—बक० बख० ।

क्षीरयुक्तैरपक्वैस्तमध्यरात्र्यां बलि हरेत् ।  
 सुमर्दितैस्तिलैः कृष्णबीजैः पाकविवर्जितैः ॥ २९६ ॥  
 तण्डुलै रजनीचूर्णैर्दध्ना दूर्वाङ्गुरैः फलैः ।  
 व्यतीतायां तु शर्वर्या बलि रक्षागृहाद् वहिः ॥ २९७ ॥  
 मार्गैकदेशे निक्षिप्य चत्वरे वापि शोधिते ।  
 अथाभिमन्त्र्य बीजानि सप्तधान्यानि मल्लके ॥ २९८ ॥  
 दद्याद् द्विजेन्द्रकन्यायै तत्सकाशात् समाहरेत् ।  
 तिसः प्रसृतयः पात्र एकस्मिन् सप्त चापरे ॥ २९९ ॥  
 एकादश ततोऽन्यस्मिन् घटे पात्रत्रयं ततः ।  
 अस्त्रसम्पुटितेनैव सिंहबीजेन मन्त्रवित् ॥ ३०० ॥  
 शतमष्टाधिकं चैव द्विगुणं त्रिगुणं क्रमात् ।  
 तेन तोयघटानां तु उद्घृत्योद्घृत्य निक्षिपेत् ॥ ३०१ ॥  
 एकं स्थले जले चान्ये प्रातर्मध्यं दिनक्षये ।  
 आ समाप्तेरिदं कुर्यात् सामान्यं भूतर्पणम् ॥ ३०२ ॥  
 ततोऽपरस्मिन्नहनि इष्टवा मन्त्रं तु मण्डले ।  
 हुत्वा यथाविधानेन दत्वा पूर्णाहुतिं तु वै ॥ ३०३ ॥  
 सितेर्न शालिचूर्णेन अष्टाश्रं मण्डलं लिखेत् ।  
 तन्मध्ये शङ्खमध्यस्थं कमलं लिख्य पड्दलम् ॥ ३०४ ॥

करैर्मन्त्रपूतैः सुरभिनैवैद्यदेवं संतर्प्य पूजानन्तरमध्यपुष्परजोधूपदीपादिकं सर्वमुपसंहृत्य नित्यमगाधेऽम्भसि निक्षिपेत् । शेषस्य विनियोगं च प्रागुक्तरीत्या कुर्यात् ।

ततस्तृतीयेऽहनि चतुरश्रं मण्डलमालिख्य तत्र षट्कोणं पुरं विलिख्य तन्मध्ये पद्मं च विलिख्य तत्र कलशसमूहं पूर्ववत् संस्थाप्य तदन्तरालेषु दीपांश्च निधाय यथापूर्वं समभ्यर्च्य भगवन्निवेदितैर्हविरादिभिर्ब्राह्मणान् संतपयेत् । चतुर्थेऽहनि वृत्तमण्डलमालिख्यै तत्र नाभिनेमिसमन्वितं पञ्चारं चक्रं विलिख्य तत्र मध्ये महाकुम्भं परितो

१. मध्ये—बक० बख० अ० उ० । २. रात्र्या—अ० उ० । ३. संम—बक० बख० उ० ।
४. रे पापशो—अ० । ५. दत्वा—म० अटी० बक० बख० अ० । ६. यास्त—म० अटी० बक० बख० उ० । ७. तु तत्—अ० उ० । ८. नालिख्य चू—बक० बख० उ० । ९. गर्भस्थं—अ० उ० ।
१०. अत्र ग्रन्थपातः प्रतीयते, इतः परं श्लोकत्रयव्याख्यानं परित्यज्य पञ्चमदिवसीयकृत्यस्य व्याख्यानात्, अङ्गारमातृकायामनुपदमेव तदुल्लेखाच्च ।

दद्याद् घटाष्टकं वाश्ये प्राग्वद् दीपसमन्वितम् ।  
 अवताये च तन्मध्ये रक्षाकुम्भं शिरःस्थितम् ॥ ३०५ ॥  
 अपनीय पुरा तस्मादृष्ट्याल्यानुलेपनम् ।  
 शीतलोदकधीरां च पूरणार्थं पैरां क्षिपेत् ॥ ३०६ ॥  
 यथा यथा क्षयं याति तत्रस्थमुदकं तु वै ।  
 तथा तथा भवेद् वृद्धी रक्ष्यस्याखिलधातुषु ॥ ३०७ ॥  
 स्नग्वस्त्राधर्यानुलेपाद्यैर्नवैः कृत्वाचितं तु तम् ।  
 ततः सम्पूज्य तन्मध्ये मन्त्रनार्थं यथा पुरा ॥ ३०८ ॥  
 रक्तधातोभवेद् येन नृणामुपचयो महान् ।  
 मन्त्रदत्तेन सुरभिनवैद्येनाथ तर्पयेत् ॥ ३०९ ॥  
 अधर्यं पृष्ठं रजो धूपं दीपं यैन्मन्त्रयोजितम् ।  
 तत्सर्वमुपसंहृत्य नित्यमम्भसि निक्षिपेत् ॥ ३१० ॥  
 शेषस्य विनियोगं तु प्रागुक्तं सर्वमाचरेत् ।  
 तृतीयेऽह्नि ततः कुर्याच्चतुरथं तु मण्डलम् ॥ ३११ ॥  
 पट्कोणं चैव तन्मध्ये पुरमुलिख्य साम्बुजम् ।  
 तत्र कुम्भसमूहं तु तस्माद् दीपान्तरीकृतम् ॥ ३१२ ॥  
 इष्ट्वा तु मन्त्रदत्तेन तर्पयेद् ब्राह्मणांस्तु वै ।  
 वृत्तमण्डलमध्ये तु चतुर्थेऽहनि संलिखेत् ॥ ३१३ ॥

दिक्कुम्भान् तयोर्मध्ये मध्ये दीपांश्च विन्यस्य विविधैर्नैवेद्यैः पुष्पादिभिश्च तत्र  
 देवमध्यचर्यं तदुपभुक्तं हविरादिकं सर्वमग्नौ प्रक्षिप्यान्यत् सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् ।<sup>१</sup>

अथ षष्ठे दिने त्रिकोणं मण्डलमालिख्य तन्मध्ये सप्तारं महाचक्रं विलिख्य  
 तदन्तरे चतुर्दिक्षु गदाचतुष्टयं विलिख्य तन्मध्ये महाकुम्भस्थं देवं यथाविधि समभ्यचर्यं

१. धाराश्च—मु० अटी० बक० बख० । २. परि—बक० बख०, परं—अ० उ० ।
३. ख्या—मु० बक० बख० । ४. नैव—मु० अटी० बक० बख० । ५. तन्म—उ० ।
६. मातृकामामत्र ग्रन्थपातः—अ० । वस्तुतस्त्वत्र नास्त्येव ग्रन्थपातः, आनुपूर्व्या श्लोकानां  
 व्याख्यानदर्शनात्, म० मातृकायां ग्रन्थपातस्यानुलेखाच्च । अतः पूर्वत्र श्लोकत्रयव्याख्यानस्थल  
 एव ग्रन्थपातः संभाव्यते ।

अष्टारं दीप्तिमच्चक्रं वह्निवेशम् तदन्तरे ।  
 तत्रेष्ट्वा मन्त्रमूर्ति तु कृत्वा रक्षां यथा पुरा ॥ ३१४ ॥  
 द्विजेन्द्रजां कुमारीं च तथा ब्राह्मणदारिकांग् ।  
 पूजयित्वा यथान्यायं ताभ्यां यच्छेन्निवेदितम् ॥ ३१५ ॥  
 अथाष्टकोणं कुर्यात् मण्डलं पञ्चमेऽहनि ।  
 शङ्खं तदन्तरे कुर्याच्छङ्खस्योदरगं लिखेत् ॥ ३१६ ॥  
 सनाभिवेदिपञ्चारं भूतावासं च हेतिराट् ।  
 सकुम्भानां च दीपानां प्राक् कृत्वा विनियोजनम् ॥ ३१७ ॥  
 विविधैः पूजयेद् देवं नैवेद्यैः कुमुमादिकैः ।  
 देवोपभुक्तमन्नं तु क्षिप्त्वा प्रागुक्तमाचरेत् ॥ ३१८ ॥  
 अथ पृष्ठे दिने कुर्यात् त्रिकोणं भुवनान्तरे ।  
 सप्तारं तु महाचक्रं सप्तलोकमयं हि यत् ॥ ३१९ ॥  
 तदन्तरे चंतुर्दिक्षु गदाद्वन्द्वयं लिखेत् ।  
 तन्मध्ये तद्वटान्तःस्थं यजेन्मन्त्रं यथाविधि ॥ ३२० ॥  
 इष्ट्वा नैवेद्यमादाय उच्चस्थाने निधाय तंत् ।  
 उपभोगं यदाऽस्याति काकादेः खेचरेषु च ॥ ३२१ ॥  
 चतुरश्रं चतुर्द्वारं मण्डलं सप्तमेऽहनि ।  
 कुर्यात् कोणचतुष्के तु लिखेच्छङ्खचतुष्टयम् ॥ ३२२ ॥

तन्निवेदितान्नादिकं काकादिपक्षिणामुपभोगार्थमुन्नतस्थाने निक्षिपेत् । अथ सप्तमेऽहनि चतुरश्रं चतुर्द्वारं मण्डलमालिख्य तत्कोणचतुष्टये शङ्खं चतुष्टयं विलिख्य तन्मध्येऽसंख्या- तदलं पद्मं विलिख्य तत्कोणिकाश्रितं द्वादशारं चक्रं विलिख्य तत्राष्टदिक्षु दीपान्तरिता- नष्टकुम्भान् मध्ये महाकुम्भं च निधाय तत्र यथाविधि देवमभ्यर्थ्य तन्निवेदितान्नादे-

१. पद्मवितष्टकं नास्ति—बक० बख० उ० । भाष्यकारेणापीमे त्रयः श्लोका न व्याख्याताः, किन्तु तत्र पञ्चमदिवसीयं कृत्यं किमिति न दृश्यते । श्लोकानामेतेषामाधारेण ज्ञायते यद्भाष्यकारेण पञ्चमदिवसीयं कृत्यमेव चतुर्थदिवसीयकृत्यरूपेण व्याख्यातमिति ।
२. का:-मु० अटी० । ३. तदङ्कुशो-अ० । ४. नेमि—बक० बख० उ० । ५. जातावासं-मु० अटी० ।
६. योजयेत्—बक० बख० अ० उ० । ७. मरनौ—अ० उ० । ८. कोणभु-मु० अटी० बक० बख० अ० ।
९. च तदिक्षु-मु० अटी० बक० बख० । १०. यत्—बक० बख० अ० उ० ।
११. याति चैव-मु० अटी० ।

तत्र मध्ये लिखेत् पद्मसंख्यदलभूषितम् ।  
 तत्कर्णिकाश्रितं चक्रं द्वादशारं विलिख्य च ॥ ३२३ ॥  
 अष्टदिक्षवष्टकं दद्यात् कलशानां सदोपकम् ।  
 तत्र पद्मदिवसोधर्वं तु विनियोगं समाचरेत् ॥ ३२४ ॥  
 नैवेद्यस्य च मन्त्रज्ञो दक्षिणाभिः समन्वितम् ।  
 एवं मांसादिधातूनां क्रमादुपचयो भवेत् ॥ ३२५ ॥  
 महिषोऽजो गुडं चैव हरिणः शशकस्तथा ।  
 मयूरश्चक्रवाकस्तु सप्ताहं सप्तकं तु वै ॥ ३२६ ॥  
 देहधात्वाश्रितानां तु सत्त्वानां पिशिताशिनाम् ।  
 रसाद्यपीष्टैः सम्पाद्य न सजीवं हि जङ्घमम् ॥ ३२७ ॥  
 स्वार्थतो वा परार्थेन श्रेयसेऽभिनिवेशिना ।  
 प्राणिहिंसा न कार्या वै विशेषाज्जीवितैषिणाम् ॥ ३२८ ॥  
 आयुषः क्षयमायाति नूनं प्राणिवधान्नृणाम् ।  
 भूताभयप्रदानेन आयुषो वृद्धिमाप्नुयात् ॥ ३२९ ॥  
 आयुरारोग्यमैश्वर्यमपमृत्युजयं महत् ।  
 बलमोजो धृतिधैर्यं स्यान्मन्त्रानन्तं परायुषः ॥ ३३० ॥  
 मन्त्रपूजा जपो होमो दानं हेमगवादिनाम् ।  
 ऐहिकामुष्मिकीं वृद्धिं सत्वस्थानां करोति च ॥ ३३१ ॥  
 मण्डलस्थं ततः क्षान्त्वा ह्यतीते सप्तमे दिने ।

विनियोगं षष्ठिदिनोक्तवत् कुर्यात् । एवं सप्तदिनार्चनादिभिः—“रसासृद्मांसमेदाऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः” (अ० ह० स० ११८) इत्युक्तानां सप्तधातूनां क्रमेण वृद्धिर्भवति । देहधात्वाश्रितानां मांसाशनानां सत्त्वानां बल्यर्थं सप्तदिनेष्वपि क्रमेण महिषमजं गुडं हरिणं शशकं मयूरं चक्रवाकं च संपादयेत् । किन्त्वेतान् महिषादीन्—

१. तन्तु—उ० । २. देवं—मु० अटी० बक० बख० उ०, देवं—अ० । ३. रसाद्यभीष्टैः—अटी०, रसादिविष्टैः—बक० बख०, रसाद्यपीष्टैः—अ० उ० । ४. सज—अ० । ५. षिणा—उ० । ६. अत्रैव सप्तदशपरिच्छेदसमाप्तिः—अ० । इतः परमष्टादशपरिच्छेदसमाप्तिपर्यन्तो भागस्तत्र न दृश्यते । ७. त्रान्तप—बक०, त्रात्तप—बख०, नमन्त्र न—उ० । ८. होमगवादिकम्—बक०, हेमगवा—बख० उ० । ९. शिष्टवा—मु० अटी० ।

रजांसि बलयो वान्यत् प्राग्वदादाय संत्यजेत् ॥ ३३२ ॥  
 इति रक्षाविधानं तु सरुजानामुदाहृतम् ।  
 नीरुजानां विशेषेण रक्षणं भोगसेविनाम् ॥ ३३३ ॥  
 क्रियारतानां भक्तानामास्तिकानां हितैषिणाम् ।  
 कार्यं क्रियापरेणैव मन्त्रज्ञेन सदैव हि ॥ ३३४ ॥  
 यत्रानेन विधानेन शरीरमपि रक्ष्यते ।  
 तत्र भूताः प्रयच्छन्ति कल्याणं सर्वलौकिकम् ॥ ३३५ ॥  
 अथ सन्धारणीं रक्षां वक्ष्ये विग्रहभूषणम् ।  
 या सम्पन्ने क्रियामात्रे धारणादेव रक्षति ॥ ३३६ ॥  
 प्रणवाद्यन्तसंरुद्धं प्राग्वत् संज्ञापदं लिखेत् ।  
 संज्ञाधारं हि तद्वीजं विन्यसेत् प्रणवोदरे ॥ ३३७ ॥  
 तेनावर्तं त्रिधा कुर्यात् सर्वं तत् सिंहकुणिगम् ।  
 नेमेदशमवीजेन वीजराट् परिवेष्टयते ॥ ३३८ ॥  
 औकाररहितं वीजं नाभिसप्तमसंस्थितम् ।  
 भिन्नं सर्वारसस्थैस्तु कृत्वा तेन प्रपूर्य तम् ॥ ३३९ ॥  
 कमलं तद्विः कुर्यात् षड्दलं व्योमभूषितम् ।  
 हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तं पत्रषट्के तु विन्यसेत् ॥ ३४० ॥  
 प्रणवेन चतुर्दिक्षु संरुद्धं नाम संलिखेत् ।  
 रक्षवीप्सापदोपेतं पत्रसन्धिषु षट्सर्वंथ ॥ ३४१ ॥

पश्चप्रतिनिधिं चैव रञ्जितं कुद्धुमादिना ॥

धात्वाश्रितानां दोषाणां मनसा परिकल्पितम् । (१७।२६८-२६९)

इति पूर्वोक्तप्र(करणे?कारेण) पिष्टपशुरूपान् कुर्यात् । साक्षात् प(शुश्)नायुष्कामो न हन्यात् । ततः सप्तमे दिनेऽतीते मण्डलादिस्थितं देवं क्षान्त्वा मण्डलीयरजांसि बल्यादी-इच्चादाय प्राग्वत् त्यजेत् ॥ २३६-२३३ ॥

इत्यातुराणां रक्षाविधानमुक्तम् ॥

अथानातुराणामपि रक्षाविधिमाह—नीरुजानां विशेषेणेत्यारभ्य यागहोम-जपादिनेत्यन्तम् । दैवदोषविमुक्त आधिदैविकतापविमुक्त इत्यर्थः । आधिदैविको नाम

१. आङ्गचानां-उ० । २. सार्व-मु० । ३. द्वं तु-उ० । ४. पङ्कत्यष्टकं नास्ति-मु०  
अटी० । ५. क्रिया-वक० वख० । ६. स्वधा-वक० वख० ।

द्वादशारं बहिश्चक्रं नाभिनेमियुतं लिखेत् ।  
 नाभेरष्टमवीजं यत् तैदरेष्वन्तरा न्यसेत् ॥ ३४२ ॥  
 सप्तमाद् दशमं यौवद् वर्जयित्वा अंराक्षरम् ।  
 क्रमेण भेदयेच्छेषैस्तदंदराणैः सविन्दुकैः ॥ ३४३ ॥  
 जहिवीप्सापदं दोषानमुकस्येति विन्यसेत् ।  
 सर्वेषामन्तरालेषु अस्त्रमन्त्रं तु पूर्ववत् ॥ ३४४ ॥  
 अमुकं पाहि पाहीति द्वादशाक्षरमध्यगम् ।  
 चक्रनाभौ तु विन्यस्य नेमिदेशे तथैव हि ॥ ३४५ ॥  
 क्रमादथ बहिलिख्यं मन्त्रचक्रस्य यत्नतः ।  
 वृत्तच्यथ्रार्धचन्द्राणि चतुरश्रपुराणि च ॥ ३४६ ॥

---

शीतोष्णवातवर्षाम्बुद्यूतादिसमुद्भवस्तापः । शोकवर्जित आध्यात्मिकतापविमुक्त  
 इत्यर्थः । शोकपदमाध्यात्मिकानामन्येषामप्युपलक्षणम् । आध्यात्मिको नाम—

कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः ।  
 शोकासूयावमानेष्यामात्सर्यादिमयस्तथा ॥ (वि० पु० ६।५।५)  
 शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगन्दरैः ।  
 गुल्मार्शःश्वयथुश्वासच्छ्वार्दिभिरनेकधा ॥  
 तथाक्षिरोगातीसारकुष्ठाङ्गामयसंज्ञितैः । (वि० पु० ६।५।३-४)

इत्युक्तस्तापः । अधिभूतमयैर्मुक्त आधिभौतिकतापविवर्जित इत्यर्थः । आधिभौतिको  
 नाम—

पशुपक्षिमनुष्पाद्यैः पिशाचोरगराक्षसैः ।  
 सरीसृपाद्यैश्च नृणां जन्यन्ते चाधिभौतिकाः ॥ (वि० पु० ६।५।७)

इत्युक्तस्तापः । तथा च प्रयोगः—

१. तमरं ष्वन्तरे—बक० वख० उ० । २. ताव—बक० वख० उ० । ३. धराष्ट्रकम्—  
 मु० अटी०, धराक्षरम्—उ० । ४. तदरान्तैः सवर्णकैः—बक० वख० उ० । ५. लेखा—मु० अटी० ।  
 ६. चक्राख्य—बक० उ० । ७. ‘गुल्माश्वास’ इति यद्वच्चत्प्रयमेवास्यां पद्मकौ—म०, गुल्मार्श—  
 श्वासयवदुच्चद्यादिभिः—अ० । ८. जायते चाधिभौतिकः—मु० ।

विन्दुस्वस्तिकक्षारवज्रसंलाज्जितानि च ।  
 नाभिपूर्वद्वितीयेन चतुर्थेन तदादिना ॥ ३४७ ॥  
 कमाद् वर्णचतुष्केण तानि युक्तानि कारयेत् ।  
 सषडङ्गेन वीजेन नाम रक्षपदानुगम् ॥ ३४८ ॥  
 सम्पुटीकृत्य वृत्ताख्यं मण्डलं परिपूरयेत् ।  
 द्वादशार्णेन बाह्यख्यं तृतीयं पूर्यं पूर्ववत् ॥ ३४९ ॥  
 द्वितीयं वां चतुर्थं तु वाहिदिक्ष्वष्टके क्रमात् ।  
 रक्षवीप्सापदोपेतं नामवर्जं नियोजयेत् ॥ ३५० ॥  
 सह रोचनया योज्य कर्षं कुड्कुर्मं तु वै ।  
 क्षीरेण कापिलेनाथ तद्गोमयरसेन च ॥ ३५१ ॥

शुभेजनुकूले नक्षत्रे शुभे ग्रहेऽभ्युदिते सुलग्ने स्नातः कृतमन्त्रन्यासः साधको रोचनाकर्पूरकुड्कुर्मानि कपिलाक्षीरेण तद्गोमयरसेन च हरिद्रोदकेन नदीजलेन च समालोडय तत्कुड्कुर्मादिपञ्चं वर्हिपक्षलेखिन्या समादाय भूजंपत्रादौ वक्ष्यमाणप्रकारेण विलिखेत् । प्रणवसंपुटितं साध्यनामधेयं श्रीनृसिंहबीजगर्भं विलिख्य तद्वीजं प्रणवगर्भं यथा भवेत् तथा विलिख्य पुनस्तत्प्रणवं बीजगर्भस्थं कृत्वा पुनस्तद्वीजं प्रणवमध्यगतं कृत्वैवं त्रिधावर्तानन्तरं तत्सर्वं बीजगर्भगतं कृत्वा तद्वीजं नेमेर्दशमर्बजेन लकारेण परिवेष्टयौकाररहितं नृसिंहबीजं नाभिसप्तमसंस्थितं सकारोपरि संस्थितं सवर्वरसंस्थितैरकारादिविसर्गन्ति: स्वरैविभिन्नं च कृत्वा तेन तं प्रपूर्यं तद्विव्योमभूषितं षड्दलं कमलं विलिख्य तद्वलेषु हृदादिनेत्रान्तात् षष्ठमन्त्रात् विलिख्य चतुर्दिक्ष्वपि प्रणवसंपुटितं रक्ष्यस्य नामधेयं रक्ष रक्षेति पदान्वितं पत्रसन्धिष्ठकेऽपि विलिख्य तद्विहिनर्भिन्नेभिसमन्वितं द्वादशारं चक्रं विलिख्य नामेरष्टमबीजं हकारं सप्तसप्तमनवमदशमस्वरात् विहायावशिष्टैरकारादिविसर्गन्तैद्वादशस्वरैर्भन्नं कृत्वा द्वादशारेष्वपि क्रमेण लिखेत् । अराणामन्तरालेषु ॐ क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् अमुकस्य दोषान् जहि जहीति विलिखेत् । चक्रस्य नाभिदेशे नेमिभागे च नृसिंहद्वादशाक्षरसंपुटितममकं पाहि पाहीति विलिखेत् । ततस्तन्मन्त्रचक्रस्य वर्हिर्विन्दुभूषितं वृत्तमण्डलं तद्विहिः स्वस्तिकभूषितं त्र्यश्रमण्डलं तद्विहिः कल्पारभूषितमर्थचन्द्राकारं मण्डलं तद्विवर्जलाज्जितं चतुरश्रं मण्डलं च विलिख्य नाभिपूर्वं यकारं वायुबीजं पूर्वोक्ते वृत्तमण्डले

१. विना-उ० । २. वै-बक० बख०, च-उ० । ३. गोरोवना योज्या-म० अटी० ।  
 ४. कपि-बख० उ० ।

निशाम्बुना समालोऽय निम्नगासलिलेन वा ।  
 विलिख्य भूजपत्रे वा बहिपक्षेण वासैरे ॥ ३५२ ॥  
 शुभेज्ञुक्ले नक्षत्रे सुलग्नेऽभ्युदिते ग्रहे ।  
 पूज्य संवेष्टय सूत्रेण ततः सद्गतुना हु वै ॥ ३५३ ॥  
 सञ्चार्य मूर्धिन कण्ठे वा सततं दक्षिणे भुजे ।  
 दैवदोषविमुक्तस्तु वर्द्धते शोकवर्जितः ॥ ३५४ ॥  
 अधिभूतैर्भयैर्मुक्तो यावज्जीवं हि तिष्ठति ।  
 परार्थतो वा स्वार्थेन कृतकृत्यो यदा भवेत् ॥ ३५५ ॥  
 दोषवान् शान्तिदेनैव कर्मणाऽनेन साधुना ।  
 मन्त्री तदा मन्त्रवरं प्रयत्नेन क्षमापयेत् ॥ ३५६ ॥  
 सिद्धचर्थमन्यसिद्धीनां यागहोमजपादिना ।  
 अथ मन्त्रवराह धर्मसाधनं योऽभिवाङ्गति ॥ ३५७ ॥  
 तत्प्राप्तये विधानं च संक्षेपादवधारय ।  
 पितृणां लुप्तपिण्डानां पिण्डनिर्वाणाय च ॥ ३५८ ॥

तद्वितीयं रेफमग्निबीजं त्रिकोणमण्डले तच्चतुर्थमूर्तं बीजमर्धचन्द्राकारमण्डले  
 तत्तृतीयं पार्थिवबीजं चतुरश्चमण्डले च विलिख्य वृत्तमण्डले सघडङ्गेन बीजेन संपुटी-  
 कृतमसुकनामधेयं रक्षेति पदद्वयं विलिखेत् । तथैवार्धचन्द्राकारमण्डलेऽपि द्वादशाश्वर-  
 संपुटितममुकं रक्षेति पदद्वयं विलिखेत् । पुनस्त्र्यश्चमण्डले वृत्तमण्डलवच्चतुरश्च-  
 मण्डलेऽर्धचन्द्राकारमण्डलवच्च विलिख्य बहिः प्राच्याद्यादिक्षु रक्ष रक्षेति केवलं  
 नामवर्जितं<sup>८</sup> विलिखेत् । अथेदं यन्त्रं यथाविधि संपूज्य सूत्रेण संवेष्टय सुवर्णादिधातुना  
 विधाय मूर्धिन कण्ठे दक्षिणभुजे वा सततं धारयेत् । अनेन यावज्जीवमाध्यात्मिका-  
 धिदेविकाधिभौतिकतापत्रयभयिमुक्तो भवति । एवं स्वार्थतः परार्थतो वा यन्त्रोद्घारा-  
 दिकं कृत्वा यागहोमसमाधिभिर्देवं सविशेषं समाराध्य क्षमापयेत् ॥ ३३३-३५७ ॥  
 इति संधारणी रक्षाविधिः ॥

अथानेन नृसिंहमन्त्रेण धर्मर्थिकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थसाधनविधिमाह—  
 अथ मन्त्रवराद्वर्त्मेति प्रक्रम्य यावत् परिच्छेदपरिसमाप्तिः सुगमस्तदर्थः ॥ ३५७-४५८ ॥

१. भूर्जे पात्रे-बक०, भूर्जे वस्त्रे-उ० । २. वासने-मु० अटी० । ३. गृहे-मु० ।  
 ४. सञ्चार्या-मु० अटी० । ५. कर्णे-बक० उ० । ६. आधि-मु०, आदि-अटी०, अधिभूतमयैर्मुक्त  
 इति भाष्यानुसारी पाठः । ७. भृच्छा-बक० वख०, हृच्छा-उ० । ८. विवर्जित-म० ।

प्रीतयेऽपि जगद्धातुः परित्राणार्थमात्मनः ।  
 कृतोपवासोऽमावास्यां मण्डलान्तर्गतं विभुम् ॥ ३५९ ॥  
 आवाश्य पूर्वविधिना योजयेद् भक्तिपूर्वकम् ।  
 पाद्याद्यपुष्पधौपैस्तु दोनैर्हेमगवादिकैः ॥ ३६० ॥  
 तिलयुक्तैस्तु नैवेद्यैः सकुशैस्तु तिलान्वितैः ।  
 विमलैरम्बुपात्रैश्च स्वेयमञ्जलिपूरकैः ॥ ३६१ ॥  
 सोऽचिगन्मन्त्रमूर्तेवै प्रसादाच्छाश्वतं पैदम् ।  
 प्राप्नोति नरकस्थांश्च पितृनपि नयेद् दिवम् ॥ ३६२ ॥  
 पत्रपुष्पफलाननाद्यस्यदध्योदनादिना ।  
 रसैरन्नैश्च सद्गन्धैर्वस्त्रोत्कृष्टैस्तु धातुभिः ॥ ३६३ ॥  
 प्रवालमुक्तामाणिक्यैर्भक्त्या च विभवे सति ।  
 विम्बस्थं मण्डलस्थं वा सर्वैर्यो मन्त्रिराङ् यजेत् ॥ ३६४ ॥  
 पठशीतिमुखोत्थायां पूर्णायां सोपवासकः ।  
 यज्ञधर्मफलाकाङ्क्षी स नूनं तदवान्नुयात् ॥ ३६५ ॥  
 योँ हि वाज्ञति सद्गर्मतीर्थीभिगमनं महत् ।  
 स यथाचत् क्रमात् पूर्वं मण्डले मन्त्रराङ् यजेत् ॥ ३६६ ॥  
 ततः सम्भृतसम्भारः स्नानपूर्वं समर्चयेत् ।  
 सिद्धप्रतिष्ठितं विम्बं सैद्धं वाथ स्वयं कुतम् ॥ ३६७ ॥  
 पञ्चगच्यदधिक्षीरघृतमध्विक्षुवारिभिः ।  
 सर्वौषधीगन्धरत्नैः फलपुष्पान्वितैर्धटैः ॥ ३६८ ॥  
 साङ्घेनामन्त्य मन्त्रेण शताष्टफलपूरितैः ।  
 अन्तरीकृतशुद्वाम्भः कुम्भैर्दर्ध्यसमन्वितैः ॥ ३६९ ॥  
 श्रद्धापूतेन मनसा एवं निष्पाद्यते यदि ।  
 प्रसादं मन्त्रनाथस्य ग्रागुक्तमचिराल्लभेत् ॥ ३७० ॥

१. दानहोम-बक० । २. अथवा-उ० । ३. प्रासा-मु० अटी० बक० ।  
 ४. परम-बक० बख० उ० । ५. पुरैः-बक० बख० उ० । ६. मन्त्र-बख० उ० ।  
 ७. योऽभि-उ० । ८. सद्गर्म-उ० । ९. नान्म-उ० । १०. वारिणा-बक० बख० उ० ।  
 ११. रत्नैः-बक०, रक्तैः-बख०, मिश्रैः-उ० । १२. दान्म-उ० ।

संक्रान्त्यां सोपवासस्तु मण्डले मन्त्रनायकम् ।  
 समावाह्य यजेद् यस्तु फलपुष्ट्यर्थतुजैः ॥ ३७१ ॥  
 सप्ताहं फलमूलाशी त्रिकालं स्नानतत्परः ।  
 बहुशोष्टाङ्गपातैस्तु प्रदक्षिणममन्वितैः ॥ ३७२ ॥  
 स नूनं संमवाप्नोति शश्वद् यस्तद् व्रतोङ्गवम् ।  
 अथाभिमतदानाद् वै यो धर्ममभिवाज्ञति ॥ ३७३ ॥  
 विपुर्वस्थं दिनं प्राप्य सोपवासस्तु संयतः ।  
 अभिसन्धाय मनसा धर्मं दानादभीप्सितम् ॥ ३७४ ॥  
 निर्वर्त्य मण्डलं रम्यमग्न्यगारसमन्वितम् ।  
 गोसम्भवैस्तु नैवेद्यर्भक्ष्यैः सफलमूलकैः ॥ ३७५ ॥  
 स्वग्वरैर्धूपदीपैस्तु तिलैर्होमाम्बुभाजनैः ।  
 सम्यगिष्ट्वाऽथ सन्तर्प्य ज्वलनान्तर्गतं ततः ॥ ३७६ ॥  
 समिद्धिराज्येन तिलैः सघृतैस्तण्डुलान्वितैः ।  
 तंतोऽभिर्वर्धते धर्मो मूर्तिदानाच्छताधिकम् ॥ ३७७ ॥  
 दक्षिणे वायने वाथं शुभं निर्वर्त्य मण्डलम् ।  
 मन्त्रनाथं तु चावाह्य विधिना संयजेत् ततः ॥ ३७८ ॥  
 माल्यैर्विलेपनैर्धूपैर्महादीपैर्घृतादिकैः ।  
 गुडखण्डचितैर्भक्ष्यैः पयसा क्रसरेण तु ॥ ३७९ ॥  
 नालिकेरोदकेनैव सक्तुना च घृतेन च ।  
 सन्तर्प्य हुतभुड् मध्ये मन्त्रमाज्यादिकैस्ततः ॥ ३८० ॥  
 विधिनानेन वै धर्ममिष्टापूर्तमवाप्यते ।  
 चन्द्रसूर्योपरागे चाप्यहोरात्रोपितः शुचिः ॥ ३८१ ॥  
 सर्वोपकरणोपेतमादौ निर्वर्त्य मण्डलम् ।  
 न्यस्य मन्त्रवरं तत्र विभवेन यजेत् ततः ॥ ३८२ ॥

१. धर्ममा—उ० । २. द्यत् सद्—वख० उ० । ३. विष्टपस्थ—मु० अटी० ।  
 ४. हैमा—उ० । ५. ततो हि—उ० । ६. मूर्त—उ० । ७. वामे—वक० वख० उ० ।  
 ८. तेन—उ० । ९. वा अ—वक० वख० ।

सन्तर्प्य वह्निमध्येऽथ समिद्धिर्वा घृतादिकैः ।  
 जपेन्मन्त्रवरं पश्चान्मनसा ध्यानसंयुतम् ॥ ३८३ ॥  
 अक्षसूत्रकरो मन्त्री यावच्चन्द्रार्कदर्शनम् ।  
 पूजाहोमजपानां च फलानन्त्यमवाप्नुयात् ॥ ३८४ ॥  
 भक्तानामर्थहीनानां मन्त्रैकनियंतात्मनाम् ।  
 साधनाङ्गविहीनानां फलेष्टुनामिदं स्मृतम् ॥ ३८५ ॥  
 स्नानाद् ध्यानात्तथा योगाज्जपाद्वोमाच्च सद्वतात् ।  
 सदन्नपानाद् दानाच्च सर्वलोपाच्च सामयात् ॥ ३८६ ॥  
 धर्मसाधनमिष्युक्तं सवित्तानां विशेषतः ।  
 अर्थार्थसाधनं मन्त्रादभिवाच्छति योऽचिरात् ॥ ३८७ ॥  
 ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा यतिः ।  
 कृत्वा यागं यथा सम्यक् सप्ताहं तत्र मन्त्रराट् ॥ ३८८ ॥  
 यजेत् स विभवेनैव त्रिस्नायी नक्तमोजनः ।  
 त्रैकाल्यं हुतभुड्मध्ये सन्तर्प्यज्येन कँलजैः ॥ ३८९ ॥  
 विल्वैरामलकैः पवैस्तदभावे कुशाङ्कुरैः ।  
 य इच्छेत् तस्य कालं तु मन्त्रं मन्त्रेश्वरात् फलम् ॥ ३९० ॥  
 वैशाख्ये हि सिते पैक्षे सौम्यश्रवणसंयुते ।  
 सोपवासेन कर्तव्यं मन्त्रेशस्यार्चनं महत् ॥ ३९१ ॥  
 स्थैर्ले वा मण्डले विम्बे साम्भःकुम्भेऽथवा ततः ।  
 दक्षिणोत्तरपादाभ्यां मन्त्रनाथस्य पूजयेत् ॥ ३९२ ॥  
 गङ्गां च यमुनां चैव नतिना प्रणवेन तु ।  
 तदल्पघ्रिजलमिश्रेण घटमार्प्य चाम्भसा ॥ ३९३ ॥  
 अलङ्कुत्य यथाशोभं पुष्पवस्त्रानुलेपनैः ।  
 विनिवेश्य च तद्वक्त्रे तिलहोमफलान्वितम् ॥ ३९४ ॥

१. निरता-उ० । २. चनाद्-उ० । ३. यथार्थ-मु० अटी० । ४. तत्तिलैः-उ० ।  
 ५. मन्त्री-उ० । ६. तेन-मु० अटी० उ० । ७. इत आरभ्याऽष्टादशपरिच्छेदसमाप्तिपर्यन्तं  
 ग्रन्थपात उदयपुरमातृकायाम् । ८. नदीनां-वक० वख० । ९. न्निवतः-मु० अटी० ।

मध्वाज्यशर्कराद्येन पूर्णं दध्योदना(निदि) च ।  
 महत्पूर्णघटं चैव यात्रं वी वैदलं ततः ॥ ३९६ ॥  
 निवेद्य मन्त्रमूर्तौ प्राक् सदुपानहसंयुतम् ।  
 तत्रौतपत्रसहितं पात्रमाहूय वै ततः ॥ ३९७ ॥  
 स्वच्छन्दनाधर्यधौपैस्तु तमलङ्कृत्य वाससा ।  
 मन्त्रेणाधर्योदकं पाणौ दत्वा तदनु तदघटम् ॥ ३९८ ॥  
 प्रतिपाद्य जगद्योनेः श्रीत्यर्थमपि तेन वै ।  
 प्रसङ्गेन परां श्रीतिं वाच्यो मन्त्री महामते ॥ ३९९ ॥  
 एवमेव प्रपन्ना ये नारायणमनामयम् ।  
 वर्णा ब्राह्मणपूर्वा ये ते स्वदुष्कृतशान्तये ॥ ४०० ॥  
 स्नात्वाऽभ्यर्थ्य पितृन् देवान् सन्नदीभ्यां तु सङ्गमे ।  
 आ नाभिमवतीर्याइथ विमलाञ्जलिपूरकैः ॥ ४०१ ॥  
 निर्वर्त्य भगवद्यागं दद्याद् विप्रवराय च ।  
 आप्त्यर्थं विबुधानां च सर्वलोकनिवासिनाम् ॥ ४०२ ॥  
 पितृणां स्वकुलोत्थानां सततं श्राद्धकाङ्क्षिणाम् ।  
 श्वेतद्वीपाप्तये चैव वृद्धर्थं च खसन्ततेः ॥ ४०३ ॥  
 आस्तां सितासिता चैव द्वादशी त्वमलेक्षण ।  
 भगवद्वाप्तानां या काचिदपरा तिथिः ॥ ४०४ ॥  
 सा चैव श्रवणोपेता युतां चाभिजिता तु वै ।  
 सा तेषामङ्गभावं च याति सर्वफलाप्तये ॥ ४०५ ॥  
 तस्मात् कृतोपवासस्तु तस्यामभ्यर्थ्य मन्त्रराट् ।  
 विभवेनाथवा शक्त्या मन्त्रसाम्मुख्यसिद्धये ॥ ४०६ ॥  
 यानि यानीह दानानि गोभृहेमादिकानि च ।  
 दत्तानि चानुरूपाणि जनानां कृतकर्मणाम् ॥ ४०७ ॥

१. वैदलकं—वक० वख० । २. तता—वक० वख० । ३. प्रपन्नेन—वख० ।  
 ४. परा श्रीतिर्वाच्या—वक० वख० । ५. पूर्वे तु—मु० अटी० । ६. च वै—मु० अटी० ।  
 ७. युक्ता—वख० । ८. मन्त्रं शान्त्याख्य—मु० अटी० । ९. यानीहि—मु० ।

फलदानि च दातृणां भवदाहर्यकराणि च ।  
 सम्यग् दत्तानि तान्येव भक्तानां भावितात्मनाम् ॥ ४०७ ॥  
 भगवत्पौदलिप्सूनां भवन्ति भवशान्तये ।  
 अपिवादमिदं तावद् यत् सर्वत्राच्युतो हरिः ॥ ४०८ ॥  
 विष्णुर्नारायणो हंसः सर्वशक्तिमयः प्रभुः ।  
 द्रव्यात्मना विभक्तश्च ज्ञातव्यो ज्ञानकर्मणि ॥ ४०९ ॥  
 त्रिविधेन तु भेदेन बुद्भुदाद्या यथाभ्यसि ।  
 एवं दानं स्वमात्मानं पात्रं नारायणात्मकम् ॥ ४१० ॥  
 बुद्ध्वा सामान्यबुद्ध्या प्राक् पुनस्तत्त्वविधं पृथक् ।  
 सविशेषं परिज्ञेयं दानकाले ह्युपस्थिते ॥ ४११ ॥  
 उपायलक्षणं द्रव्यमभ्यूहादौ स्वचेतसा ।  
 अनन्तशक्तेः सामर्थ्यमिदं किञ्चिदनश्वरम् ॥ ४१२ ॥  
 दानाभिमानदेहस्तु प्रत्यगात्मा त्वहं प्रभुः ।  
 पात्रभावत्वमापन्नो मदनुग्रहकाभ्यया ॥ ४१३ ॥  
 देवः पञ्चतनुः साक्षात् पञ्चभूतात्मना त्विदम् ।  
 ज्ञात्वैव द्वादशार्णेन स्वेन वा न्यस्तविग्रहः ॥ ४१४ ॥  
 प्रत्ययं मन्त्रमालम्ब्य द्रव्यहोमादिकं ततः ।  
 स्वरूपमजहद् ध्यायेन्महद्रिष्मिकदम्बवत् ॥ ४१५ ॥  
 अमन्त्रेण यजेत् पश्चादर्घ्यपुष्पानुलेपनैः ।  
 सिंहद्विषट्कमन्त्रेण स्वकेनाङ्गोजिङ्गतेन वा ॥ ४१६ ॥  
 सकलीकरणं कुर्यात् पात्रभूतपरात्मना ।  
 तमर्चयित्वा विधिवद् वस्त्रस्त्रगनुलेपनैः ॥ ४१७ ॥  
 भगवत्प्रीतिपूर्वं तु दानं दद्याच्च सोदकम् ।  
 तेनापि श्रीणनं कार्यं भगवद्भावितात्मनां ॥ ४१८ ॥

---

१. त्वद—बक० वख० । २. बुद्भुदेभ्यो यथाभुधिः—मु० अटी० । ३. ज्ञात्वेद—बक० वख० ।  
 ४. तथा—बक० वख० । ५. वं च जगद्—बक० । ६. ऊजगद् दृश्य—बक० । ७. विय—मु० अटी० ।  
 ८. वै—मु० अटी० । ९. भूते परात्मनः—मु० अटी० । १०. नाम—अटी० ।

दानं ज्ञानात्मतां येन प्रयात्येच्युतवेदिनाम् ।  
 नारायणः परंब्रह्म प्रतिशब्दत्वमागतः ॥ ४१९ ॥  
 संसारानलतप्तानां भक्तानां मोहशान्तये ।  
 अतस्तस्य स्वमन्त्रेण मूर्तिदानं समाचरेत् ॥ ४२० ॥  
 द्वादशाभरपूर्वेण त्वथवाऽन्येन केनचित् ।  
 अनन्तं त्वमलं त्वेवं क्रोडीकृत्य तदात्मना ॥ ४२१ ॥  
 समर्चनीयं विधिवन्मन्त्राकृति यथा सदा ।  
 एवं दानप्रदानेन यजेन्मन्त्रात्मना परम् ॥ ४२२ ॥  
 मँहन्मन्त्रात्मना चैव पुनः सद्वत्सिद्धये ।  
 ब्रह्मत्वमेति वै येन व्रतिना भगवद्वत्तम् ॥ ४२३ ॥  
 अनेकभेदभिन्नं च सदानं यत्पदार्थिनाम् ।  
 तपो यज्ञं हि विधिवद् ब्रह्मभावनयाऽर्चयेत् ॥ ४२४ ॥  
 यथा स्यान्मोक्षफलदमचिराद् विष्णुयाजिनाम् ।  
 नानाद्रव्याङ्गदेहं यद् यज्ञं चानेकलक्षणम् ॥ ४२५ ॥  
 मूर्तां यज्ञमन्त्रेण नीत्वैवं प्राक् समर्चयेत् ।  
 जुहुयादा समाप्त्यन्तं पूर्णान्ते हेममृच्छति ॥ ४२६ ॥  
 दानानां च व्रतानां च तपसां यज्ञकर्मणाम् ।  
 निवेदितव्यं यद् द्रव्यं दत्तं वा यत्र यत्पुरा ॥ ४२७ ॥  
 कर्तव्यमनुयागार्थं प्राक् तदेव हि केवलम् ।  
 तद्वावितमतोऽशनीयात् पावनं प्रापणान्वितम् ॥ ४२८ ॥  
 भवेत् त्रिगत्रं फलदं भक्तानां शुभकारिणाम् ।  
 किं पुनस्तु समर्थानां चोदनाश्रयिणां तु वै ॥ ४२९ ॥  
 दानधर्मरतानां च व्रतिनां यज्ञयाजिनाम् ।  
 परत्र भवभीरुणामल्पार्थानां शुभार्थिनाम् ॥ ४३० ॥

१. त्युदितवेदिना-बक० बख० । २. तम्-बक० बख० । ३. महाम-बख० ।

४. मभवद-मु० अटी० । ५. अनेन-मु० अटी० । ६. याचना-मु० अटी० ।

७. मोह[क्ष]-मु० अटी० ।

शमीपलाशश्रीवृक्षैः समिद्धिरश्चामलद्रुमैः ।  
 अम्भसा चाम्बुमध्ये च मन्त्रतर्पणमाचरेत् ॥ ४३१ ॥  
 सप्ताहे समतीते तु मन्त्रमुत्थाप्य॑ मण्डलात् ।  
 ध्यानयुक्तं जपं कुर्याल्लक्षसंख्यं समाहितः ॥ ४३२ ॥  
 ब्रह्मचर्यस्थितो मौनी दुष्टाहारविवर्जितः ।  
 क्षारारनालतैलानां परित्यागी श्लोलुपः ॥ ४३३ ॥  
 नित्यं कुशाजिनेशायी माँनमात्सर्यवर्जितः ।  
 तप्तहाटकसंकाशं परिभ्रमणविग्रहम् ॥ ४३४ ॥  
 भूरिधारासमाकीर्ण वक्त्रमग्रे खगं स्मरेत् ।  
 तन्नाभिसंस्थितं मन्त्रमचलं चैव समुखम् ॥ ४३५ ॥  
 नानारत्नप्रभाकान्तिमुद्गिरन्तं स्वविग्रहात् ।  
 हेमादिधातुनिचयं चन्द्रकान्तादिसन्मणोन् ॥ ४३६ ॥  
 एवं ध्यायेऽजपेच्चापि पूजयेदन्तरान्तरा ।  
 नियमादा समाप्त्येव जपान्ते वित्तपः स्वयम् ॥ ४३७ ॥  
 आज्ञावश्यो विधेयः स्यादात्मना च धनेन च ।  
 प्रयच्छत्यथिनां कामं भुद्धते सोऽविरतं स्वयम् ॥ ४३८ ॥  
 आयुरारोग्यसंयुक्तो मन्त्रेशस्य प्रभावतः ।  
 प्रवर्ततेऽर्थयुक्तानां काम आशु च भोगिनाम् ॥ ४३९ ॥  
 तत्साधनमयो वक्ष्ये साधकानां हिताय च ।  
 मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा शुचौ देशे मनोरमे ॥ ४४० ॥  
 सङ्कुप्ते तत्र मन्त्रेशं समाहूय च संयजेत् ।  
 त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा जुहुयात् तदनन्तरम् ॥ ४४१ ॥  
 प्रागुक्तेन विधानेन जपध्याने समाचरेत् ।  
 सर्वाधारं हरिं ध्यायेत् पद्मरागसुचिं महत् ॥ ४४२ ॥

१. त्थाय—मु० । २. युक्तः—अटी० । ३. मौनी सङ्गविव—बक० बख० ।  
 ४. हेमाद्रि—मु० अटी० बक० । ५. न्तरे—बक० बख० । ६. रतः—अटी० । ७. मधो—मु० ।  
 ८. धारमरि—मु०, धारमय—अटी० । ९. रुचा—मु० अटी० ।

तन्मध्ये विद्रुमाभं च बन्धुजीवनिभोजज्वलम् ।  
 ध्यायेन्मन्त्रवरं मन्त्री जपेत् पूर्वोक्तसंख्येया ॥ ४४३ ॥  
 स्त्रीभोगं चेतसः कृत्वा जपान्ते साधकस्ततः ।  
 प्रार्थयन्तेऽत्र भीताश्च सन्तप्ता मदविह्वलाः ॥ ४४४ ॥  
 देवकिन्नरनार्यस्तु यक्षगन्धर्वकन्यकाः ।  
 सिद्धाः सुराङ्गनाशचान्या नरनागस्त्रियोऽखिलाः ॥ ४४५ ॥  
 आजीवावधि वै सम्यक् कर्मणा मनसा गिरा ।  
 सेवन्ते साधकेन्द्रं तं मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ॥ ४४६ ॥  
 यं यं समीहते कामं पातालोऽत्तिष्ठूर्वकम् ।  
 लक्षजापात् तथा होमात् तं यच्छति मन्त्रराट् ॥ ४४७ ॥  
 अथ कामोपभोगात् तु विरतस्य च मन्त्रिणः ।  
 मोक्षदं सम्प्रदायं च कथयिष्ये यथार्थतः ॥ ४४८ ॥  
 कृत्वा यागवरं भूयः प्रसन्नेनान्तरात्मना ।  
 पूर्वोक्तं तु यजेत् कालं तत्र मन्त्रवरं क्रमात् ॥ ४४९ ॥  
 तर्पयित्वा विधानेन कुण्डे वाऽथ जलेऽभसा ।  
 सर्वदोषनिवृत्यर्थं प्रायशिचत्तार्थमेव च ॥ ४५० ॥  
 जपेदयुतमेकं तु प्रागुक्तं वा स्वशक्तिः ।  
 हृत्पुण्डरीकमध्येऽथ स्मरेन्मन्त्रं समाहितः ॥ ४५१ ॥  
 रोमकूपगणैः सर्वैः रत्नज्वालाशतावृतम् ।  
 तन्मयं च स्वचैतन्यं कृत्वा तद् वह्विरशिभिः ॥ ४५२ ॥  
 भूतदेहं दहेत् कृत्स्नं तद्वियुक्तश्च साम्प्रतम् ।  
 मार्तण्ड इव पक्षीश आस्ते मन्त्रस्वरूपधूक् ॥ ४५३ ॥  
 अथ मन्त्राकृतिं स्वाँ वै ध्यायेत् परिणतां शनैः ।  
 तेजोगोलकसंकाशं सर्वाङ्गावयवोजिङ्गतम् ॥ ४५४ ॥

१. ज्वलन्-मु० ।

२. संग्रहम्-अटी० ।

३. लादिव-वक० बख० ।

४. पूर्वमुक्तं तु यत्कालं-बक० बख० । ५. स्मरन् मन्त्रं-बख० । ६. मन्त्रकृति-मु० ।

७. स्वं-बख० । ८. णतं-मु० अटी० ।

तत्तेजोगोलकं पश्चाद् बृहत्परिमितं च यत् ।  
 सर्वं शब्दरूपं च भावरूपं तु चिन्मयम् ॥ ४७५ ॥  
 तस्मादप्यभिमानं तु ह्यस्मिताख्यं शनैः शनैः ।  
 विनिवार्य यथा शश्वद् ब्रह्म सम्पद्यते स्वयम् ॥ ४७६ ॥  
 इत्येवं वैभवीयस्य नृसिंहस्य महात्मनः ।  
 आराधनं च संक्षेपादुक्तं सिद्धिसमन्वितम् ॥ ४७७ ॥  
 नित्यक्रियापराणां च संसारोद्गिनचेतसाम् ।  
 मद्भक्तानामिदं वाच्यं शुद्धानां संयतात्मनाम् ॥ ४७८ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां वैभवीयनृसिंहकल्पे नाम  
 सप्तदशः परिच्छेदः ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये सप्तदशः परिच्छेदः ॥

१. त्वपि—मु० अटी० । २. सर्वाङ्ग—वख० । ३. वैभवं—वक० वख० ।  
 ४. सर्वेषामुक्तं—मु० अटी० । ५. 'नाम' नास्ति—वख० ।

## अष्टादशः परिच्छेदः

नारद उवाच

एवमुक्ते सति पुनः कामपालो मुनीश्वराः ।  
उवाचेदं हरिं वाच्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

सम्प्राप्तप्रत्ययानां च द्विजातीनां च साम्प्रतम् ।  
सम्यक् प्रभीणपापानामारुढानामिह क्रमे ॥ २ ॥  
दीक्षात्रयस्य भगवन् ज्ञातुमिच्छामि निर्णयम् ।  
यत्प्राप्य भगवद्वक्तः कृतकृत्योऽचिराद् भवेत् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

शुभेऽनुकूले नक्षत्रे तिथौ लग्ने ग्रहेक्षिते ।  
भक्तानामधिवासार्थं क्षमापरिग्रहमाचरेत् ॥ ४ ॥  
पुण्ये देशेऽनुकूले च मनोज्ञे साधुसेविते ।  
मृद्वारिफलपृष्ठाट्ये समित्कुशसमन्विते ॥ ५ ॥  
गोसस्यशालिसुभगे शुद्रप्राणिविवर्जिते ।  
तत्र वर्णानुरूपां क्षमां गच्छेत् पूर्वोक्तलक्षणाम् ॥ ६ ॥  
सर्वदोषविनिर्मुक्तां सत्पक्षिमृगसेविताम् ।  
या शुभायतनोद्देशैर्मठैर्गोष्ठापणैर्गृहैः ॥ ७ ॥

अथाष्टादशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । संकर्षणः पृच्छतीत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—सम्प्राप्तेति द्वाभ्याम् ॥ २-३ ॥

एवं पृष्ठो वासुदेवः प्रथमं क्षमापरिग्रहपूर्वकं दीक्षामैष्ठपनिर्माणप्रकारमाह—

१. ‘उवाच’ नास्ति—मु० अटी० । २. गुहे—मु० । ३. शे मठगो—बक० बख० ।

४. ‘मण्डपनिर्माण’ नास्ति—अ० ।

तोयाशयाश्रमैः क्षेत्रैः सद्वृत्तैरन्तरीकृता ।  
 जलौघभयनिर्मुक्ता वलाद् सुकृता च सज्जनैः ॥ ८ ॥  
 वनैरुपवनैर्ग्रामैर्नगराङ्गैः समावृता ।  
 अलाभे सति लाभे वा स्वभूमेव्राक्षणादिषु ॥ ९ ॥  
 स्वमन्त्रेणार्चनात् स्वत्वं कुर्याद् वर्णव्यपेक्षया ।  
 उद्धतां कृतखातां च ज्ञात्वा दोषोऽज्ञातां पुरा ॥ १० ॥  
 शुभमृत्पूरितां कृत्वा लघ्वशमिरथान्तरा ।  
 ततस्त्वाकुद्घयेत् पश्चात् पञ्चगव्येन सेचयेत् ॥ ११ ॥  
 युक्तां हेमादिसद्रत्नैः समीकृत्योपलिप्य च ।  
 तत्रार्चनं विभोः कुर्याद् ध्यानान्तं चैव पूर्ववत् ॥ १२ ॥  
 भूतानां बलिदानं च सुरभीणां च तर्पणम् ।  
 द्विजानां दक्षिणान्तं चैव ततस्तत्र समापयेत् ॥ १३ ॥  
 प्राणिदक्षु सिद्धिपूर्वं तु मण्टपं मण्डनान्वितम् ।  
 सुस्तम्भद्वितयेनैव कोणगेनोपशोभितम् ॥ १४ ॥  
 पाथिवेन च पीठेन मध्यगेन विराजितम् ।  
 विस्तरात् द्विजातीनां शूद्रान्तानां समं स्मृतम् ॥ १५ ॥  
 अष्टाश्रमथवा वृत्तं तुर्याश्रं सोपपीठकम् ।  
 अष्टाङ्गुलात् समुत्सेधादेकापायेन लक्षितम् ॥ १६ ॥  
 स्वोन्नत्यर्थेनोपपीठं सर्वेषां परिकल्पयेत् ।  
 विस्तारमुपपीठानां पीठोच्छ्रायाद् द्विसंगुणम् ॥ १७ ॥  
 उपपीठस्य संलग्ना तन्मानेन तु चोन्नता ।  
 आप्यदिक् साग्रहस्ता च सम्पाद्याऽसनपिण्डिका ॥ १८ ॥  
 नैवेद्यमुपपीठे तु विनिवेद्य निधाय च ।  
 तस्य दक्षिणदिग्भागे त्वन्तर्गमनसंयुतम् ॥ १९ ॥

१. द्विगुणं समम्-बक० बख० ।

विविक्तलोचनोपेतं पिण्डकाकुण्डभूषितम् ।  
 सुकवाटार्गलोपेतं कुर्याद् हवनमण्टपम् ॥ २० ॥  
 उपलिप्यास्त्रजप्तेन वारिणा गोमयेन तु ।  
 विधिवच्छोभनं कुर्यादित्येवं मण्टपद्वयम् ॥ २१ ॥  
 विहितो वित्तविरहादधिवासो द्विजालये ।  
 शिष्यैर्वाऽस्त्वार्यभवने तत्र कुर्यात् परिग्रहम् ॥ २२ ॥  
 प्राग्वदर्चनपूर्वं तु भूतर्पणपश्चिमम् ।  
 ओदनं दधिलाजाज्यं मधुतोयपरिष्कृतम् ॥ २३ ॥  
 भूतर्पणमित्युक्तं तद्विना तत्र तेऽनिशम् ।  
 सन्तिष्ठन्ते वहिः क्रुद्धाः काङ्क्षमाणाः परं वधम् ॥ २४ ॥  
 अतश्च विहितं यत्नात् स्थाने क्षेत्रे कृते सति ।  
 निर्विघ्नसिद्धये दद्याद् बलिं सर्वत्र सर्वदा ॥ २५ ॥  
 कृत्वैवं मङ्गलार्थं तु दीर्घं घण्टारवं शुभम् ।  
 स्वपदात् प्राग्वदुत्थाप्य ग्रोच्चार्यं प्रणवं महत् ॥ २६ ॥  
 प्रवेशयेत् ततस्तस्मिन् लाजान् सिद्धार्थकान् शुभान् ।  
 फलानि श्रीफलादीनि चन्दनादीनि रोचनाम् ॥ २७ ॥  
 श्वेतपूर्वाः सुमनस्तन्महीरुहमञ्जरीम् ।  
 साग्रान् हरितदर्भश्च सर्वरत्नानि काञ्चनम् ॥ २८ ॥  
 सर्वैषधीत्वगेलाद्यां सुगन्धिनिचयं शुभम् ।  
 पद्मकं शङ्खपुष्पं च विष्णुक्रान्तीं च कुन्दरम् ॥ २९ ॥  
 सप्त सप्त च धान्यानि बीजानि च समानि पट् ।  
 शालिश्यामाकनीवारतण्डुलं भूरिसंस्कृतम् ॥ ३० ॥

शुभेऽनुकूले नक्षत्र इत्यारभ्य बलि सर्वत्र सर्वदेत्यन्तम् ॥ ४-२५ ॥

सम्भारार्जनमाह—कृत्वैवमित्यादिभिः । सप्त सप्त च धान्यानि ग्राम्यारण्य-

१. सत्क—वक०, सक—वख० । २. जाज्य—मु० अटी० । ३. तेऽनिशाम्—मु०,  
ते निशाम्—अटी० । ४. दीर्घघण्टारवोपमम्—वक० वख० । ५. नसः सन्म—मु० अटी० ।
६. क्रान्तां च कुन्दकम्—वक० वख० ।

गोसम्भवानि वै पञ्च पात्रेष्वौदुम्बरेषु च ।  
 तत् स्नाववर्जितान्यानि तान्येव सुवहून्यपि ॥ ३१ ॥  
 प्रतिक्षणोपयोगार्थं भाण्डेष्वपि नवेषु च ।  
 पाद्याचमनकार्यार्थं दध्यन्नविनिवेदने ॥ ३२ ॥  
 हेमाद्युत्थानि पात्राणि मृदुपर्णपुटानि वा ।  
 पाण्डुराणि दुकुलानि वस्त्रयुगमद्ययं नवम् ॥ ३३ ॥  
 उपवीतं सोत्तरीयं सुसिते धौतवाससी ।  
 कौशेयानि पवित्राणि कङ्कणं साङ्कुलीयकम् ॥ ३४ ॥  
 स्फाटिकं चाक्षसूत्रं च पत्राक्षं तु गैणित्रकम् ।  
 पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम् ॥ ३५ ॥  
 कुतपं योगपद्मं च नेत्रवस्त्रं मृगाजिनम् ।  
 ब्रुँसीकाशांशुकं पद्मं पादुके च उपानहौ ॥ ३६ ॥  
 दण्डं प्रतिग्रहं छत्रं पूर्णगोधूमकाष्टकम् ।  
 चतुर्वर्णानि माल्यानि सुन्दरं पावनं लघु ॥ ३७ ॥  
 नीलशाद्वलसम्मिश्रं हरितं पत्रसचयम् ।  
 गुग्गुलं मृष्टधूपं च दीपतैलं च वर्तयः ॥ ३८ ॥  
 दर्पणं धूपपात्रं च घण्टामध्यादेपात्रकम् ।  
 रजांसि करणीयुग्मं पालिकां घटिकां सिताम् ॥ ३९ ॥  
 पञ्चाङ्गुलं तु सुदृढं हेमाद्रं कुशपञ्चकम् ।  
 अलक्तरज्जितं सूत्रं सुसितं कर्तरी क्षुरम् ॥ ४० ॥  
 काण्डान्यष्टौ तु साग्राणि बहिपक्षान्वितानि च ।  
 प्रोनन्तानि स्थिराग्राणि लोहमृत्काष्ठजानि वा ॥ ४१ ॥

मेदभिन्नानीश्वरपारमेश्वरयोर्हीवि.पाकप्रकरणोक्तानि (ई० सं० २५।५८-५९; पा० सं० १।८।१३४-१३६) ज्ञेयानि । अस्मिन्नवसरेऽङ्कुरप्रतिसरावीश्वरोक्तौ (२।।।७५) ग्राह्यौ,

१. दध्यन्नं विनिवेदयेत्-मु० अटी० । २. पाण्डु-अटी० । ३. गुणि-मु०, गुणा-अटी० ।  
 ४. ब्रूःसिका-अटी०, ब्रूःसिकां शाटकं-बक० बख० । ५. माषजे-बक० बख० ।  
 ६. शालिकां-मु० अटी० । ७. सुशिता-मु० अटी० । ८. हृत्-मु० अटी० ।

रञ्जितानि सुधाग्रैस्तु तदाधाराणि यानि च ।  
 कुल्लिकान्यम्बुकुम्भानि भृज्ञारं करवीं शुभाम् ॥ ४२ ॥  
 अकेलमूलनिर्गम्भै साधारं कलशं तथा ।  
 स्थालीं कमण्डलुं दर्वीं तत्पिधानं तु चूल्लिकाम् ॥ ४३ ॥  
 भद्रपीठं चतुष्पादं चतुरश्रायतं नवम् ।  
 मात्रावित्तं सताम्बूलं दन्तधावनसञ्चयम् ॥ ४४ ॥  
 शुष्कगोमयसंयुक्तामरणिं चाग्निंजं मणिम् ।  
 पालाशदूर्वासमिधः साग्राः परिधयस्तु वै ॥ ४५ ॥  
 प्रभूतमिन्धनं शुष्कमाज्याकं तिलतण्डुलम् ।  
 प्रागुक्तं सूक्ष्मसुवाद्यं च होमोपकरणं च यत् ॥ ४६ ॥  
 सर्वं पक्षमकर्यन्तं वृहत्पात्रद्वयान्वितम् ।  
 पूर्वोक्तानां च भोगानां मध्याद् यः स्थण्डलार्चने ॥ ४७ ॥  
 संयाति चाङ्गभावं तद् ज्ञात्वा सर्वं प्रवेशयेत् ।  
 अनुग्रहधियाऽचार्यो भक्तानां भाविनां विभोः ॥ ४८ ॥  
 दिव्यभोगोपलिप्सूनां निःश्रेयसपदार्थिनाम् ।  
 प्रत्येकैकं हि यद् गाङ्गे वर्धयेद् द्रव्यमूर्तिना ॥ ४९ ॥  
 नित्येनाव्यक्ततत्त्वेन सन्मन्त्रब्रह्मणा सह ।  
 सार्थं सर्वादिकं द्व्यान्मन्त्रव्यूहं यथगमम् ॥ ५० ॥  
 फलदं स्यात् सकामानामकामानां हि मोक्षदम् ।  
 संसाहायस्ततस्तत्र प्राग्वत् स्नात्वा कृताह्विकः ॥ ५१ ॥

अत्रापि सम्भारवर्गे “पालिकां घटिकाम्” ( १८३९ ) इत्युक्तत्वात् ॥ २६-४८ ॥

शिष्याणां बहुत्वे प्रत्येकं यागद्वयाणा(मण्डिमण्डि) वृद्धिमाह—अनुग्रहधियेति  
त्रिभिः ॥ ४८-५१ ॥

१. निर्गम्भं-मु०, निर्दीभं-बक० बख० । २. पुश्लि-बक० बख० । ३. चाग्निभं-अटी० ।
४. पूर्वी-बक० बख० । ५. द्यत्-मु० । ६. भाविनां-मु० । ७. भोगफले-दक० बख० ।
८. या-बक० बख० । ९. ब्राह्मणा-बक० बख० । १०. स्वात्मकर्म दुमद्रव्यं मन्त्र-बक० बख० ।
११. सह साध्यः-मु० बक० बख० । १२. पालिकायां-अ० म० ।

सम्प्रविश्याप्यदिक्संस्थः प्राङ्गुखः प्रविशेत् ततः ।  
पद्मासनादिना मार्गे चर्मण्योचामपूर्वकम् ॥ ५२ ॥

कुर्याद् यदधिकारेण मन्त्रेणानुग्रहं शिशोः ।  
तेनाङ्गसंहितेनैव सर्वं कर्म समाचरेत् ॥ ५३ ॥

समस्तैर्वेभवैर्मन्त्रैः कार्यो वाऽनुग्रहो यदि ।  
सर्वाराधनदानार्थं वा द्विषट्काप्तये तदा ॥ ५४ ॥

विशाख्यूपमन्त्रेण कुर्यात् तद्वारणाद्वयम् ।  
तद्वीजेन ततुं व्याप्य ग्राह्यत् तदभिमन्त्रितैः ॥ ५५ ॥

पुगहृतैर्यथाशक्ति मण्डलं च समाचरेत् ।  
प्राक् समालभनैर्वस्त्रैः कटकाद्यज्ञुलीयकैः ॥ ५६ ॥

सितोष्णाषिण महता सितमाल्येन वै सह ।  
मुखवासैः सताम्बूलैर्ललाटतिलकेन च ॥ ५७ ॥

कृत्वा शुभेन शारीरं योगपूर्वेन संस्थितम् ।  
हत्पुण्डरीकमध्ये तु संन्यसेद् वीजमैश्वरम् ॥ ५८ ॥

अथ स्नानाह्लिकादिपूर्वकं स्वासनोपवेशनमाह—ससहाय इति । ससहायः सपरिचारक इत्यर्थः । मार्गे चर्मणि एणाजिन इत्यर्थः ॥ ५१-५२ ॥

येन मन्त्रेण दीक्षा क्रियते, तेनैवाङ्गसंहितेन सर्वकर्मचिरणमाह—कुर्यादिति ॥ ५३ ॥

सर्वाराधनादियोग्यतासिद्ध्यर्थं समस्तैरपि वैभवमन्त्रैर्युग्यपदेव दीक्षाप्रकरणे समस्तविभवेदवानामपि कारणभूतस्य विशाख्यूपस्य मन्त्रेण दहनाप्यायनाख्यधारण-द्व्यात्मकभूतशुद्धयनुष्ठानं पूर्वोक्तेन विशाख्यूपबीजेनैव स्वशरीरे व्यापकन्यासं तदभिमन्त्रितं रेव मिनादिराग्मण्डलपूरणं चाह—समस्तेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५४-५६ ॥

आदौ स्वस्य गन्धाद्यलङ्करणादिकमाह—प्रागिति द्वाभ्याम् ॥ ५६-५८ ॥

१. ष्पास्यात् प्रपूर्वक० वस्त० । २. वषट्कारा-बक० । ३. मण्डनं-मू० अटी० ।

करयोः पद्मनाभीयं ध्रुवाख्यमथ विग्रहे ।  
 शेषैरालभ्य पादान्तमामूर्ध्नश्चापि पूर्ववत् ॥ ५९ ॥  
 हस्तयोर्विग्रहे साङ्गं विन्यसेद् बीजमैश्वरम् ।  
 मुद्रावसानं कृत्वैव सम्यक् तदनु चाहरेत् ॥ ६० ॥  
 पाणिभ्यां शङ्खक्रे द्वे स्वमन्त्रेणाभिमन्त्रिते ।  
 भूत्वा तदात्मना पञ्चात्ते निधाय धरातले ॥ ६१ ॥  
 अवलोक्याखिलं तत्स्थं प्रवर्तेताथ कर्मणि ।  
 अस्त्राभिमन्त्रितं कृत्वा कर्म भूज्ञान्तरे स्थितम् ॥ ६२ ॥  
 तेनोपलिष्य सम्मार्ज्य यागस्थानं निघृष्य च ।  
 तदूत्रक्षाख्यावधौ भूयस्तेजसोऽ हि विवृद्ये ॥ ६३ ॥  
 हेमपूर्वाणि रत्नानि बीजानि विनिवेश्य च ।  
 गालितेनाम्भसाऽप्य ततः पात्रचतुष्टयम् ॥ ६४ ॥  
 एकस्मिन् चन्दनादीनि पूर्वं सिद्धार्थकानि च ।  
 साक्षतानि कुवाग्राणि तण्डुलानि तिलांस्तु चै ॥ ६५ ॥  
 सरत्नानुत्तमान् धातून् सफलान् विनिवेशयेत् ।  
 द्वितीये दधिमध्वाज्यक्षीरबिन्दुचतुष्टयम् ॥ ६६ ॥

हृदये विशाखयूपबीजन्यासं करयोः पद्मनाभबीजन्यासं शरीरे ध्रुवबीजन्यास-  
 मवशिष्ठैरनन्तादिषट्टिंशद्वाजैरामूर्ध्नः पादान्तमभिमर्शनं पुनर्हस्तयोर्विग्रहे च विशाख-  
 यूपबीजेन षडङ्गन्यासं विभवमुद्भादर्शनं हस्ताभ्यां शङ्खचक्रादानं तन्मन्त्राभ्यां तयोरभि-  
 मन्त्रणं स्वस्य तादात्म्यावलम्बनादिकमखिलसम्भाराणामपि चक्रशङ्खात्तर्गतत्वेनाव-  
 लोकनपूर्वकं कर्मप्रारम्भं चाह—हृत्पुण्डरीकेति चतुर्भिः ॥ ५८-६२ ॥

यागगेहशोधनालङ्घरणमाह—अस्त्राभिमन्त्रितमिति द्वाभ्याम् ॥ ६२-६४ ॥

अद्यर्थादिपरिकल्पनक्रममाह—गालितेनेत्यादिभिः । पात्रचतुष्टयम् अर्ध्यद्वितीया-  
 र्ध्यपाद्याचमनपात्रचतुष्टयमित्यर्थः । एकस्मिन् प्रधानानार्थे । चन्दनादीनीत्यत्रादिपदेन  
 कर्पूरकुङ्गमे ग्राहो, “चन्दनं शशिबाह्लीकौ (६।४२) इति पारमेश्वरे विवृतत्वात् ।  
 सिद्धार्थकं श्वेतसर्पणः । साक्षतानि शोभनाक्षतसहितानि । पारमेश्वरव्याख्याने तु

१. कृत्वैव—मु० अटी० । २. कमगिरा—बक० वर्ख० । ३. स्य वयो—बक० वर्ख० ।

४. सोऽभिवि—बक्त० अटी० ।

कुशाग्रेण सबाहीकं सपुष्पं तिलतण्डुलम् ।  
 दूर्वा संविष्णुक्रान्तां च श्यामाकं शङ्खपुष्पिकाम् ॥ ६७ ॥  
 पद्मकं च तृतीये तु कुन्दरेणुसमन्वितम् ।  
 त्वगेलाद्यचयं सर्वं सकर्पूरं च चन्दनम् ॥ ६८ ॥  
 विनिक्षिप्य चतुर्थे तु द्रव्यं सर्वमिदं शुभम् ।  
 हृन्मन्त्रेण चतुर्णा तु कुर्याद् वै द्रव्ययोजनम् ॥ ६९ ॥  
 सास्त्रेण मूलमन्त्रेण सर्वं तच्चाभिमन्त्र्य तु ।  
 सप्तडङ्गेन तेनैव कुर्यात् पुष्पादिनाऽर्चनम् ॥ ७० ॥  
 यथाक्रमेण सर्वेषां ध्येयं सर्वं सुधोपमम् ।  
 आवाहने सन्निधाने सन्निरोधे तथार्चने ॥ ७१ ॥

क्षतिरहितानीति कुशाग्रविशेषणं कृतम् । उत्तमान् धातून् सुवर्णरजतताम्रान् । तथा विवृतं पारमेश्वरे—“काञ्चनं रजतं ताम्रम्” (६।४३) इति । सफलान् कदल्यादिफलान्वितानित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—“कदलीफलपूर्वाणि प्रधानार्थं विनिक्षिपेत्” (६।४३) इति । सबाहीकं सकुञ्जमम् । विष्णुक्रान्ता प्रसिद्धा । श्यामाकः मुनिप्रियः । श्याम अरिशि, “श्यामाको नीलपुष्पः स्यात् स्मयाकश्च मुनिप्रियः” (३।८।५८) इति वैजयन्ती । शङ्खपुष्पं कण्टिभाषायां विषप्रहरी । पद्मकं वैद्यग्रन्थे प्रसिद्धम् । कुन्दरेणुः कुन्देन सहिता रेणुः, कुन्दो नाम वालुक्याख्यस्तृणविशेषः । “वालुकं चाथ वालुक्यं मुकुन्दः कुन्दकुन्दरु” (अ० २।४।१२१) इति नैवैष्टुकाः । कण्टिभाषायां कर्णिकेय हृल्लु । रेणुर्नाम रेणुकाः, तथैव प्रसिद्धो गन्धद्रव्यविशेषः । “हरेणूं रेणुका कौन्ती” (२।४।१२०) इत्यमरः । अथवा “कुन्दरेण समन्वितः” इति पाठे कुन्दरः पूर्वोक्तः कुन्द एव । वस्तुतस्तु तथैव पाठः सरसः । पूर्वं सम्भारार्जनप्रकरणे “विष्णुक्रान्ता च कुन्दरम्” (१।८।२९) इति कुन्दमात्रस्योक्तत्वात्, रेणुकाया अनुकृत्वाच्च । त्वगेलाद्यचयं त्वग् लवङ्गः, “त्वक्-पत्रमुक्तर्ट भृङ्गम्” (२।४।१३४) इत्यमरः । एला प्रसिद्धा । तदाद्यानां द्रव्याणां चयं समूहम् । अत्राद्यशब्देन तक्कोलजातिफले ग्राह्ये । तथोक्तं पारमेश्वरे—“एला-लवङ्गतक्कोलैः सह जातीफलानि च” (६।४६) इति । एषामध्यादीनां स्थाननियमादिकं पष्ठपरिच्छेदे (६।९-११) प्रदर्शितम् । दहनाप्यायनादिकं तु नृसिंहकल्पपरिच्छेदे (१।७।१७-२७) प्रदर्शितम् । तत्सर्वं संगृह्येश्वरादिषु<sup>१</sup> सुव्यक्तमुक्तं द्रष्टव्यम् ॥६४-७१॥

१. सित-मु० अटी० । २. च वि-बख० । ३. कुन्दरेण-मु० अटी० बक० बख० ।
४. षडङ्गेन च-मु० । ५. शामेधरिशि-म० । ६. पुष्पा स्यान्मायाकच-अ० म० ।
७. नैखण्डुकाः-अ० । ८. हुब्लु-म० । ९. हरेणु-अ० म० । १०. ईश्वरे तृतीयाध्याये पारमेश्वरे च षष्ठाध्याये विषयोऽयं द्रष्टव्यः ।

विसर्जनेऽर्थदानं तु प्राक्पात्रान्नित्यमाचरेत् ।  
 तदभ्मसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम् ॥ ७२ ॥  
 कुर्यात् प्रणयनादानं श्रीणनं श्रीतिकर्म च ।  
 प्रोक्षणं सर्ववस्तुनाम् अन्यस्मादुदकेन तु ॥ ७३ ॥  
 आरम्भे सर्वकार्यणां तत्समाप्तौ तथैव हि ।  
 न्यूनाधिकानां शान्त्यै तु ज्ञानव्यत्ययशान्तये ॥ ७४ ॥  
 कार्यं तदर्थदानं च नित्यं मन्त्रात्मना विभोः ।  
 कुम्भोपकुम्भकुण्डानां मन्त्रास्त्रकलशाच्चने ॥ ७५ ॥

---

प्रधानार्थस्य विनियोगमाह—आवाहन इति । प्रणयनादानं प्रणयनं पात्रान्तरे सेचनम्, तत्पूर्वकमादानं ग्रहणम् । तच्च “तर्पणं संप्रतिष्ठाप्य वासितं चार्यवारिणा” (६।३७६) इति पारमेश्वराद्युक्तप्रकरणेषूपयुक्तं ज्ञेयम् ॥ ७१-७३ ॥

द्वितीयार्थविनियोगमाह—अन्यस्मादित्यारभ्योक्तानुक्ताच्चनं प्रतीत्यन्तम् । न्यूनाधिकानां कार्यणामित्यनुषङ्गः । एवं च सर्वकार्येष्वपि समाहितस्यापि कर्मज्ञानवैपरीत्याद् दोषः संभवत्येव । तच्छान्त्यर्थं सर्वकार्यणामारम्भेऽवसाने च भगवते सकृत् सकृत् समर्पणीयमिति भावः ।

कुम्भोपकुम्भकुण्डानां कुम्भस्य महाकुम्भस्य ये उपकुम्भास्तेषां कुण्डस्य चेत्यर्थः । यद्वा कुम्भा महाकुम्भस्य प्रागादिषु स्थापिताः कलशाः, उपकुम्भाः शान्तिकादिषूक्तप्रकारेण तदुपरि स्थापिताः कलशा इत्यर्थः । मन्त्रास्त्रकलशाच्चने मन्त्राणामुपकुम्भेषु कुण्डमेखलास्थितकूर्चादिषु च संस्थितवासुदेवादिमन्त्राणामस्त्रकलशस्य चाच्चन इत्यर्थः । महाकुम्भस्थायार्थदानं तु प्रधानार्थजलेनैवेति ज्ञेयम् । भूतानां संपूजने कुमुदाद्यर्चन इत्यर्थः । “संपूजने च भोगानाम्” (६।१५) इति पाठान्तरमुक्तं पारमेश्वरे, तथैव विवृतं तद्व्याख्याकारैरपि । गुर्वादीनामित्यत्र दक्षशिष्यात्मपूजार्थमित्यत्र च तत्तद्विग्रहविन्यस्तमन्त्राच्चनविषयमिति बोध्यम् । उक्तानुकार्चनं प्रतीति संक्षेपेणोक्तम् ।

---

१. दानान्तं-अटी० । २. पात्रं नित्य-बक० बख० । ३. यनं दानं-मु० अटी० ।
४. सदैव-बख० । ५. ऊना-मु० अटी० बक० । ६. साम्ये-मु० अटी० । ७. ज्ञातव्यं त्वघ-मु० अटी० । ८. षूक्ते प्रकरणे-अ० । ९. शस्याच्चने-अ० ।

सम्पूजने च भूतानां गुर्वादीनां महामते ।  
 दक्षशिष्यात्मपूजार्थमुक्तानुकार्चनं प्रति ॥ ७६ ॥  
 पाद्यदानं तृतीयात् तु नित्यं पात्रात् समाचरेत् ।  
 चतुर्थीत् तु यथाकालं दद्यादाचमनं ततः ॥ ७७ ॥  
 मुख्याधर्यवारिणा प्रोक्ष्य पृथग् भाण्डस्थितं पुरा ।  
 पञ्चगव्यं ततः प्राप्वत् कल्पनीयं हृदादिक्षैः ॥ ७८ ॥  
 कुशोदकं तदस्त्रेण दत्त्वाद्येनाभिमन्त्र्य च ।  
 अथ पाणिद्वयेनैव अग्नीषोमात्मकेन च ॥ ७९ ॥  
 योग्यतापदवीं नीत्वा प्रोक्षयेद् यत् पूराहृतम् ।  
 साम्भसा तेन वै सर्वं विष्टराग्रगतैः कुशैः ॥ ८० ॥  
 सर्वबीजानि धान्यानि सिद्धार्थकयुतान्यथ ।  
 कृत्वास्त्रपरिजप्तानि ध्यात्वा चास्त्रसमानि च ॥ ८१ ॥

विशदीकृतमीश्वरपारमेश्वराभ्याम्—

दक्षशिष्यात्मपूजार्थं द्वास्थानामर्चनं प्रति ।  
 प्रासादासनदेवानां गुरुणां सन्ततेस्तथा ॥  
 लाङ्छनाङ्गपरीवारशक्तिभूषणरूपिणाम् ।  
 मण्डलावरणस्थानां देवानां चार्चने तथा ॥  
 मुद्राबन्धे कराभ्युक्तं तदचर्चां क्षालनं तथा ।  
 जपकालेऽक्षसूत्रस्य कुर्यात् तैक्षालनं तथा ॥ इति ॥ ७३-७६ ॥

(ई० सं० ३।९४-९६; पा० सं० ६।११५-११८)

पाद्यविनियोगमाह—पाद्यदानमित्यधर्मेन ।

आचमनविनियोगमाह—चतुर्थादित्यधर्मेन ॥ ७७ ॥

मुख्याधर्यवारिणा पञ्चगव्यप्रोक्षणं तत्संयोजनं चाह—मुख्येति सार्धेन । आद्येन हृन्मन्त्रेणोत्यर्थः ॥ ७८-७९ ॥

सर्वोपकरणानां दहनाप्यायनमुद्रादर्शनपूर्वकं पञ्चगव्यप्रोक्षणमाह—अथेति सार्धेन । तेन पञ्चगव्येनेत्यर्थः ॥ ७९-८० ॥

विघ्नोपशमनार्थं दशदिक्षवस्त्राभिमन्त्रितबीजधान्यश्वेतसर्षपविक्षेपादिकमाह—

१. नि च—बक० वग्न० । २. र्थमुक्तानुक्तार्चनं—अ० म० । ३. भ्युक्तां—पा०, सुर्क्ष—ई० ।  
 ४. तदर्थी—अ० म० । ५. नास्त्रेषा पड्कितः—ई० । ६. तत्पूजनं—पा० ।

विघ्नोपशान्तये वेगाद् दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।  
 संहत्य व्रहिंक्खर्चेन ग्राच्यां दिशि निधाय वै ॥ ८२ ॥  
 तद् गर्भीकृत्य संलिख्य हेतिराट् चन्दनादिना ।  
 करकं कुम्भसंयुक्तमलङ्कृत्य यथा पुरा ॥ ८३ ॥  
 भोगैः प्रावरणान्तैश्च मूर्तीभूतौ विचिन्त्य च ।  
 तदेवताशरीरं तु पश्येदम्बरवच्छुभम् ॥ ८४ ॥  
 विशाख्यूपं तन्मध्ये समावाह्य यजेत् ततः ।  
 क्रमान्मुद्रावसानं तु तस्य दक्षिणदिग्गतम् ॥ ८५ ॥  
 अस्त्रविग्रहरूपं च स्मृत्वा कुरवकं तु तत् ।  
 अस्त्रमन्त्रं तु तन्मध्ये ध्यात्वाऽभ्यर्थ्य यथाविधि ॥ ८६ ॥  
 ध्वंसयन्तं च विघ्नानां कालं कर्मावसानंकम् ।  
 इदमभ्यर्थ्येद् विद्वान् सास्त्रो वद्वाज्ञलिस्थितः ॥ ८७ ॥  
 यागालयं हि विश्वेश गृहाण रचितं मया ।  
 आ समाप्तेर्भजं विभो क्रियाङ्गानां च सन्निधिम् ॥ ८८ ॥

सर्वबीजानीति सार्वद्वाभ्याम् । हेतिराइ हेतिराजं चक्रमित्यर्थः । विभक्तिनियमश्छान्दसः ॥ ८१-८३ ॥

अथ कुम्भमण्डलानिषु भगवदर्चनक्रममाह—करकं कुम्भसंयुक्तमित्यारभ्य प्राग्वत् कुम्भेऽथ पूजित इत्यन्तम् । यथापुरमलङ्कृत्य, “प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशमादाय शुभलक्षणम्” (१७।५७) इत्यादिसप्तदशपरिच्छेदोक्तप्रकारेणालङ्कृत्येत्यर्थः । एवमेवोक्तं जयाख्येऽपि दीक्षापटले—

अथादाय दृढं शुभ्रमेकरूपं च निर्वणम् ।  
 कलशं मूष्मयं रम्यं सौवर्णं वाऽथ राजतम् ।  
 रत्नहाटकसद्गन्धपुष्पसर्वैष्ठीयुतम् ॥  
 शूभपादपशाखाढचं पट्टस्कूकण्ठभूषणम् ।  
 गालितोदकसंपूर्णं वारिधारान्वितं शुभम् ॥  
 चन्दनाद्युपलिप्तं च परितश्चार्ध्यच्चितम् । (१६।९५-९८) इति ।

१. योगाद्-बक० वख० । २. करवीं कुम्भसंयुक्तां-मु० । ३. यथापुरमिति भाष्यानु-सारी पाठः । ४. मूर्ति-मु० अटी० । ५. पड्किच्चतुष्ट्यं नास्ति-बक० वख० । ६. निकम्-अटी० । ७. श्वर्य भगवान्-बक० वख० । ८. देवं सास्त्रमिति भाष्यानुसारी पाठः । ९. सिं भज-वख० । १०. उपपादपशाकाढचं-अ०, शूपपादकशाखाढचं-म० ।

तौऽस्त्रोदकधारां चाप्यच्छिन्नां भिंत्तिकां नयेत् ।  
 प्रादक्षिण्येन प्राग्भागात् तत्पदान्तं च संस्मरेत् ॥ ८९ ॥  
 तन्निधायाऽथ कुम्भेन सह कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।  
 अर्घ्यदानं तयोः कृत्वा प्राग्भागे चॉधरोर्ध्वगम् ॥ ९० ॥  
 पूजितं वाससाच्छन्नं चक्रमन्त्राभिमन्त्रितम् ।  
 निदध्याद् भद्रपीठं तु तत्राधारगतं न्यसेत् ॥ ९१ ॥  
 सास्त्रं हि मन्त्रकलशमर्चयित्वा प्रणम्य च ।  
 दिगीश्वरगणं दिक्षु पूर्वोक्तं विन्यसेत् ततः ॥ ९२ ॥  
 तैः समर्चनं तेषां कृत्वाऽस्त्रेण हृदा सह ।  
 प्रणवेन स्वनाम्ना च नमस्कारानुगेन वै ॥ ९३ ॥

प्रावरणान्तैभर्गैर्वस्त्रान्तैरुपचारैरित्यर्थः । मूर्तीभूतौ विचिन्त्य कुम्भकरकौ मन्त्रनाथ-  
 सुदर्शनयोः शरीरस्त्वेन ध्यात्वेत्यर्थः, “तदेवताशरीरं तु पैश्येदमलवर्चसम्” (ई० सं०  
 १११९५; पा० सं० १२०२२४) इतीश्वरपारमेश्वरोवतेः । विचिन्त्य चेत्यत्र चकारेण  
 पूर्वं महाकुम्भमध्ये भगवदर्चनमपि सूचितं भवति । अन्यथा—“इदमभ्यर्थयैद् देवं  
 सास्त्रं वद्वाज्जलिस्थितः” (१८८७) इत्युक्तिविरोधात् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

कुम्भमध्ये विभोः प्राग्वदासनं परिकल्प्य च ॥  
 तन्मध्ये पुण्डरीकाङ्क्षं समावाह्य विधानतः ।  
 संनिधिं सन्निरोधादि भोगयागावसानकम् ॥  
 पूर्ववत् सकलं कृत्वा तस्य दक्षिणदिग्गतम् ।  
 अस्त्रविग्रहरूपं च ध्यात्वाऽभ्यर्थ्य यथाविधि ॥  
 ध्वंसयन्तं च विघ्नानां जालं कर्मावसानकम् । इति ।  
 (ई० सं० ११११८-१२१; पा० सं० १२०२२७-२२९)

जयाख्ये ( १६१०२ ) ईशानदिशि महाकुम्भस्थापनमुक्तम् । अतस्त्वेतत्पक्षद्वय-  
 मपीश्वरपारमेश्वरयोर्महोत्सवप्रकरणे पवित्रोत्सवप्रकरणे च प्रदर्शितम्—

प्रादक्षिण्येन प्राग्भागात् तत्पदान्तं च तत् स्मरेत् ॥  
 अथवेशानदिभागात् तत्पदान्तं द्विजोत्तमाः । इति ।  
 ( ई० सं० १११२४-१२५; पा० सं० १२०२३२ )

१. तदेवास्त्रक-बक० वख० । २. भक्तिर्गा-बक०, भित्तिगां-बख० । ३. प्रदक्षिणेन—  
 मु० अठी० । ४. विकिरो-बक० वख० । ५. गणात्-बख० । ६. निरोधं सार्चनं-बक० वख० ।  
 ७. वश्यदं बल-पा० । ८. प्रद-ई० पा० । ९. त्तम-पा० ।

तोरणध्वजपूर्वाणां कार्यमध्यादिनार्चनम् ।  
 ततो हैवनभूमध्ये ध्यात्वा पीठं पुरोदितम् ॥ ९४ ॥  
 तत्रार्चनं विभोः कुर्यात् पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ।  
 पूर्णान्तं तर्पणं कुर्यात् प्राग्वत् कुण्डेऽथ पूजिते ॥ ९५ ॥  
 ततस्तु भगवद्भूतान् क्षेत्रनाथसमन्वितान् ।  
 अर्घ्यपूष्पादिनाऽमर्येच्य वलिमादाय पात्रगम् ॥ ९६ ॥  
 इदमुक्त्वा च तदनु क्षिपेद् यागगृहाद् वाहिः ।  
 ये विष्णुभाविनो भूता ये च तेष्वनुयानिनः ॥ ९७ ॥  
 आहरन्तु वलि तुष्टाः प्रयच्छन्तु शुभं मम ।  
 प्रक्षालिताङ्ग्रिस्त्वाचान्तः संविशेद् यागमन्दिरम् ॥ ९८ ॥  
 अङ्गिनगेहेऽथ संस्कृत्य चुल्लीं ग्राग्दिश्यवस्थिताम् ।  
 पचनार्लयमुत्सुज्य स्वदेशात् कुण्डमध्यगम् ॥ ९९ ॥  
 स्थालीं चास्त्रेण संक्षाल्य वाद्यतो गोमयेनैँ तु ।  
 विलिप्यान्तः सुगन्धैस्तु प्रताप्य ज्वलितैः कुशैः ॥ १०० ॥

अत्र तन्निधायाथ कुम्भेन सह कुर्यात् प्रदक्षिणमिति पूर्वं प्रादक्षिण्येन कनकधारया भित्तिसेचनानन्तरं महाकुम्भस्य प्रादक्षिण्येन भ्रामणमुक्तम्, जयाख्ये तु करककुम्भयोर्युगपदपि प्रदक्षिणमुक्तम्—“पृष्ठतः कलशो भ्राम्यस्तुल्यकालं” तु वा पृथक्” (१६।१०।) इति । अत्र महाकुम्भार्चनानन्तरं तोरणध्वजाद्यार्चनोक्तावपि पूर्वोत्तरसंगत्यनुसारादीश्वराच्युपबृंहणानुसाराच्च महाकुम्भार्चनात् पूर्वमेव तत्कार्यम् । किञ्च, महाकुम्भार्चनं मण्डलार्चनस्याप्युपलक्षणं बोध्यम् । यतः—“पुराहैतैर्यथाशक्ति मण्डलं च समाचरेत्” (१८।५६) इति मण्डललेखनमुक्तम् । उत्तरत्रापि—“स्थण्डले कलशाग्नौ च विनियुज्य यथाविधि” (१८।११०) इति कुम्भमण्डलाग्नीनां हविर्विभागं च वक्ष्यति ॥ ८३-९५ ॥

अथ भगवद्भूतवलिदानमाह—तत इति त्रिभिः ॥ ९६-९८ ॥

हविःपाकविधानं तद्विभागनिवेदनादिक्रमं चाह—अग्निगेहेऽथ संस्कृत्येत्यारभ्य

१. भवन—मु० अटी० । २. प्राग्वत् कृत्वा—मु०, कृत्वा प्राग्वत्—अटी० ।
३. कुम्भे—अटी० । ४. चार्च्य—बक० वख० । ५. मानिनः—मु० अटी० । ६. आहारं तु—मु० ।
७. अथ गेहे तु—मु० । ८. लाय—मु० । ९. चार्ध्येण—बक० वख० । १०. यादिना—बक० वख० ।
११. काली—अ० म० । १२. हूतै—अ० म० ।

सन्ताञ्च कुमुमास्त्रेण सितसूत्रेण कण्ठतः ।  
 चतुर्धा वर्मजप्तेन संवेष्टयाध्यादिनार्च्यं च ॥ १०१ ॥  
 चुल्लयां कृत्वा समारोप्य तस्यां मधु घृतं पयः ।  
 परिशुद्धे शृते क्षीरे तस्त्रेणारोप्य तण्डुलान् ॥ १०२ ॥  
 चौलयेन्मूलमन्त्रेण दृष्ट्वा नेत्रेण संस्कृतम् ।  
 हृदावतार्याभिधार्यं विश्वामन्त्रेण घट्येत् ॥ १०३ ॥  
 चिरसालिष्य संक्षाल्य सुप्रसन्नेन वारिणा ।  
 भूतिना चन्दनाग्रेन भूषयेद्धर्वगुणङ्गकैः ॥ १०४ ॥  
 विष्टरोपरि चान्यत्र निध्यान्मण्डलान्तरे ।  
 होमं तत्सिद्धये कृत्वा पूर्णान्तमथ वै चरोः ॥ १०५ ॥  
 आघारदानमाज्येन कुर्यात् तेजोमृतात्मकम् ।  
 ईशाब्जनाभरुद्धेन हंसार्णेन सविन्दुना ॥ १०६ ॥  
 तद्वद् वौषड्वप्तकरप्रणवद्वितयेन च ।  
 यैतोऽविनाभाविनोऽत्र स्थितिर्द्वाभ्यां च साम्प्रतम् ॥ १०७ ॥  
 अतः पुरोदितेनैव तदन्नं सम्पुटेन च ।  
 अै(थैध) ऊर्ध्वे च संच्छन्नं स्मरेदादाय वै हृदि ॥ १०८ ॥  
 द्रव्यसम्पातहोमेऽथ पूर्णान्ते तु कृते सति ।  
 उद्धृत्याहुतियोगेन पात्रत्रयगतं तु तत् ॥ १०९ ॥  
 स्थणिङ्गले कलशोऽग्नौ च विनियुज्य यथाविधि ।  
 तदाद्यभावितं शेषं कुशाक्रान्तं विघ्न्य च ॥ ११० ॥

पूर्णया पुनरेव हीत्यन्तम् । ईशाब्जनाभरुद्धेन ईशः पूर्वोक्तो विश्वाखयूपः, अब्जनाभः पद्मनाभः, ताभ्यां रुद्धेन तद्वीजाभ्यां संपुटितेत्यर्थः । हंसार्णेन हकारेणेत्यर्थः । तद्वद् ईशाब्जनाभवीजवत् स्थिताभ्यां वौषड्वप्तकराभ्यां प्रणवाभ्यां च संरुद्धेनेत्यनुषङ्गः । सात्वतामृते तु व्यापकमन्त्रदोक्षाप्रकरणादेतन्मन्त्रस्थाने मूलमन्त्र एव प्रतिपादितः ॥ ९९-१११ ॥

- 
१. वर्ण-अटी० । २. श्रिते-मु०अटी० । ३. पाच-बख० । ४. यविंश्रस्य-बक० ।  
 ५. आघारा-बख० । ६. यतोऽपि न भातोऽत्र-मु० अटी० । ७. अत-बक० बख० । ८. पत्रे  
 कुत्रयगन्तु-मु०, पत्रे तु त्रयगं तु-अटी० । ९. कलशो तौ-मु०, कलशोशौ-अटी०, कलशाग्नौ-भा० ।

क्रमान्मूलास्त्रनेत्रेण जुहुयाच्च शतत्रयम् ।  
 नीत्वा सम्पूर्णभावं च पूर्णया पुनरेव हि ॥ १११ ॥  
 ततश्चोत्तरदिक् कुर्यान्मण्डलं गोमयादिना ।  
 ग्राकृप्रौन्तं विष्टरं तत्र दद्याद् दर्भैः हृदन्तरे ॥ ११२ ॥  
 तन्मध्ये विन्यसेच्छिष्ठ्यं समाङ्ग्विं स्तव्यविग्रहम् ।  
 प्राङ्मुखं यतवाक्विचत्तवृत्तिरूपं धृताऽज्जलिम् ॥ ११३ ॥  
 अस्त्रेण पूर्ववत् कुर्यात् प्रोक्षणं तस्य चाम्भसा ।  
 तेनैव ताङ्गेन्मूर्धिन दीप्तैः सिद्धार्थकौस्तिलैः ॥ ११४ ॥  
 अनादिवासनोत्थानां बैन्धानां चालनाय च ।  
 फडन्तेनाथ चास्त्रेण कुशाग्रेणाङ्ग्विगोचरात् ॥ ११५ ॥  
 समुल्लिख्य शिखान्तं च ऋज्वर्थं मार्गसन्ततेः ।  
 जालवन्मन्त्रजालेन व्याप्तं स्मृत्वा च संवृतम् ॥ ११६ ॥  
 वधनीयान्नेत्रमन्त्रेण तस्य नेत्रे च वाससा ।  
 वैस्वर्यकुम्भैर्गन्धैः कृत्वा पूर्णञ्जलिं पुरा ॥ ११७ ॥

अथ शिष्यस्य विष्टरोपरि स्थापनं प्रोक्षणं सिद्धार्थतिलैस्ताडनं कुशाग्रेण  
 तद्विग्रहोल्लेखनं मन्त्रव्याप्तिं नेत्रबन्धं पुष्पाङ्गजलिप्रक्षेपणमच्युतकरेणालैभैं मण्डलार्वनं  
 तत्पुरतः पृथिव्यादिभूतसप्तकस्य तदधीशमन्त्रसंघस्य च पूजनमग्निसंनिधौ शिष्येण  
 सहोपवेशनं शिष्यस्य कर्मवासनाविश्लेषसिद्धिर्थं होमं संपातस्पर्शं विज्ञापनं प्रायश्चित्त-  
 होमं शिष्यस्य सूत्रात्मकशरीरकल्पनं गुल्फादिषु पृथिव्यादिव्यासिक्रमं पृथिव्यादिषु  
 भुवनाधावादीनां संस्थिर्ति पातालशयनादीनामवस्थानं तत्र विभवव्यूहपरमन्त्रदीक्षा-  
 भेदेन पृथिव्यादिभूतसप्तकविन्यासभेदं पुनः कुम्भार्चनं शिष्यस्य पञ्चवाव्यप्राशनं  
 चर्होजनं दन्तधावनं तत्काष्ठपत्तनपरीक्षां तच्छान्ति मण्डलस्थस्य देवस्य कुम्भादौ  
 विसर्जनं स्वप्नलाभाय शिष्यस्य शयनं तत्परितो रक्षाकरणम् आचार्यस्यापि दन्त-  
 धावनादिकं भगवत्प्रार्थनापूर्वकं प्रस्वापं चाह—ततश्चोत्तरदिक् कुर्यान्मण्डलं गोमयादिने-

१. रतः—मू०, दिक्षवस्य—वख० । २. कुर्युर्म—बक० । ३. प्रान्त—बक० बख० ।  
 ४. वार्भ—वख० । ५. वित्ति—मू० अटी० । ६. मन्त्र—मू० अटी० । ७. बाधानां—वख० ।  
 ८. वच—बक०, चल—बख० । ९. कूर्वा—बक० बख० । १०. साम्र—बक० बख० ।  
 ११. वस्त्र—बक० बख० । १२. लम्भन—म० ।

पाणिनादाय चाम्रे वा निधायाग्रस्थितं बद्म् ।  
 प्रक्षेपयेद् देवधाम्नि नतमूर्धनाऽज्जलिं च तम् ॥ ११८ ॥  
 तस्योद्घाटितनेत्रस्य त्वदृष्टस्येतरैर्जनैः ।  
 कुशलाध्वनिविष्टस्य दृष्ट्वा वै भक्तिलक्षणम् ॥ ११९ ॥  
 रोमाञ्चौत्सुक्यहपीळ्यमानन्दाश्रुमन्वितम् ।  
 सप्रणामजपालापदिकप्रदक्षिणसंयुतम् ॥ १२० ॥  
 शुद्धान्तःकरणं बुद्ध्वा योग्योऽयमिति भावयेत् ।  
 यदा तदाञ्चयुतात्मानमात्मानं भावयस्ततः ॥ १२१ ॥  
 स्मरेद् दक्षिणपाणौ तु चक्राम्बुद्धमध्यगम् ।  
 प्रधानदेवतावृन्दं स्वे स्वे धाम्नि परे स्थितम् ॥ १२२ ॥  
 स्वमरीचिगणेनैव द्योतयन्तं तु चाखिलम् ।  
 तेनाच्युतकरेणैव सोदकेनालभेत तम् ॥ १२३ ॥  
 पुष्पपूर्णाऽज्जलौ पृष्ठे तस्य तत्त्वितयाश्रितम् ।  
 कृत्वा मन्त्रगणान्तं वै मोक्षविद्धनोपशान्तये ॥ १२४ ॥  
 पुनरभ्यर्चयेन्नीत्वा मन्त्रेण परमेश्वरम् ।  
 आधाराधेयभावेन बुद्ध्वाऽन्तःसंस्थितिं पुरा ॥ १२५ ॥  
 क्षमादीनां बुद्धिनिष्ठानां वासनानां तथात्मर्नः ।  
 ततः कुर्याच्च विश्लेषं तेषां ध्यानार्चनादिना ॥ १२६ ॥  
 आत्मतंचं समाश्रित्य कर्मचक्रं हि वर्तते ।  
 तच्चक्रमवलम्ब्यास्ते बुद्धिनिष्ठं हि सप्तकम् ॥ १२७ ॥  
 ॐ अज्ञानं व्यापकत्वं च सुखदुःखादि वेदनम् ।  
 सर्वज्ञस्यात्मतत्त्वस्य कर्मचक्रावलम्बनात् ॥ १२८ ॥  
 चपलं कर्मचक्रं तद् वर्धमानं सदैव हि ।  
 क्षमाद्यमाधारमाश्रित्य तावदेवावतिष्ठते ॥ १२९ ॥

१. चाम्नेति—बक० वख० । २. मूर्ध्वं जलाऽज्जलिम्—बक० वख० । ३. वृता—बक० वख० ।
४. ख्यायाज्ञनुगृहीतो धिया तथा—बक० वख० । ५. गर्णं तं—मु० अटी० । ६. विष्णवि—मु० अटी० ।
७. स्थितं—बख० । ८. त्मनाम्—बक० वख० । ९. सत्त्वं—बख० । १०. श्लोकोऽयं स्पन्दप्रदीपिकायाम् (पृ० ९८) उद्भूतो वर्तते । ११. अज्ञता—सा० । १२. दुःखनि—बख० ।

यावत् सर्वज्ञशक्त्या वै कर्मात्मा न प्रबोधितः ।  
 प्रबुद्धस्तस्य संरोधं कर्तुं शक्नोति सर्वदा ॥ १३० ॥  
 मन्त्राराधनपूर्वेण ज्ञाननिष्ठेन कर्मणा ।  
 अतो य आश्रयः क्षमाद्यः सत्त्वेसारो हि पौरुषः ॥ १३१ ॥  
 नीरसं चेरणीभूतं कुर्यात् संस्थाप्य साम्प्रतम् ।  
 निर्मुक्तंचित्कलो येन कर्मवृक्षो विनश्यति ॥ १३२ ॥  
 शुद्धचर्थमात्मनस्तस्मात् सर्वज्ञस्याग्रतः स्थले ।  
 भूताधिदेवमन्त्राणां कुर्याद् वै पूजनं क्रमात् ॥ १३३ ॥  
 चिन्तानुविद्वं सामान्यं मन्त्रनाथैरंधिष्ठितम् ।  
 क्षमाद्यध्वानं च बुद्ध्यन्तं ध्यात्वा पट्पत्रवत् पुरा ॥ १३४ ॥  
 तत्र मध्येऽज्जनाम तु ग्रामभागे केसरोर्ध्वगम् ।  
 षट्कं च विश्वरूपाद्यं क्षमाधरान्तं तु विन्यसेत् ॥ १३५ ॥  
 नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्णं क्षमान्तानां बीजतां पुरा ।  
 तेन तेषां बैलान्तस्थं प्राणवन्न्याम स्मरेत् क्रमात् ॥ १३६ ॥  
 क्षमाबीजं च दलाग्रेषु मूलनिष्ठेषु षट्सु च ।  
 इँष्टवा सर्वेन्द्रियाधारमित्यभिनन्नं पुरा ततः ॥ १३७ ॥  
 चिद्रातस्कं नघवृन्देन खस्थितेनान्तरीकृतम् ।  
 उपर्युपरि योगेन बुद्ध्यन्तं समुपस्थितम् ॥ १३८ ॥  
 भेददृष्टच्चा यजेत् सम्यग् भ्रयः संहारवर्त्मना ।  
 सवज्जं स्वेन बीजेन पीतं तुर्याभिलक्षणम् ॥ १३९ ॥

त्यारभ्य यावत्परिच्छेदपरिसमाप्ति । विश्वरूपाद्यं क्षमाधरान्तं षट्कं विश्वरूपवागीश-  
खगानननृसिंहसरशायिवराहाख्यदेवताषट्कमित्यर्थः ।

- |                     |                                     |                               |
|---------------------|-------------------------------------|-------------------------------|
| १. स सर्व—बख० ।     | २. रूपेण—बख० ।                      | ३. ज्ञानानुष्ठान—मु० अटी० ।   |
| ४. स साधारो—बक० ।   | ५. निरासं—बख० ।                     | ६. चोरि—बक० बख० ।             |
| ७. निर्मुक्ता—बख० । | ८. भूतादि—बख० अटी० ।                | ९. चिन्तनं विधि—बक० बख० ।     |
| १०. रनु—बक० बख० ।   | ११. द्वहम्—मु० अटी० ।               | १२. धारा—मु० अटी० ।           |
| १३. गतम्—बक० बख० ।  | १४. दलानां तु—बक० बख० ।             | १५. प्राग् विन्यासं—बक० बख० । |
| १६. सत्सु वा—बक०    | १७. सर्व—बक० बख० ।                  | १८. स्कन्द—अटी० बक० बख० ।     |
| १९. खभूते—बक० बख० । | २०. तुर्याद्य—अटी०, तुर्याश्र—बख० । |                               |

हेमाब्जभूतं तद्वात्वा क्षमातच्चं तत्र मध्यतः ।  
 वाराहं संयजेन्मन्त्रं साङ्गं सावरणं क्रमात् ॥ १४० ॥  
 तत्कारणाश्रितं कृत्वा परिधीनसमन्वितम् ।  
 अथैः क्षमामण्डलोर्ध्वस्थमर्थेन्दुसदृशं स्थैतम् ॥ १४१ ॥  
 पुरं पद्माङ्कितं स्मृत्वा सितपद्मोदरं महत् ।  
 सरश्यं तदन्तःस्थमभिसन्धाय संयजेत् ॥ १४२ ॥  
 तेजोमयं तदूर्ध्वं तु त्रिकोणं भावयेत् पुरा ।  
 रूत्नज्वालाकणाकीर्णं स्वस्तिकैरुपलाज्ञितम् ॥ १४३ ॥  
 नृसिंहं पूजयेत् तत्र मध्ये रूत्नारविन्दगम् ।  
 तस्योपरि सितं<sup>११</sup> वृत्तं पुरं तारागणाङ्कितम् ॥ १४४ ॥  
 स्मृत्वा नीलाम्बुजाकान्तं स्मरेत् तत्र खगासनम् ।  
 नीरुपं खं<sup>१२</sup> तदूर्ध्वं तु स्मरेच्छब्दैकलक्षणम् ॥ १४५ ॥  
 ध्यायेत् तदन्तः सूर्याभं प्राग्वर्णं तु सपङ्कजम् ।  
 तत्र शारीशवरं देवमध्यर्चर्यं विधिवत् ततः ॥ १४६ ॥  
 तत्कणिकोदराकाशे नानारत्नस्त्रिं ततः ।  
 संस्मरेत् कमलाकारं चित्तवृत्तिमयं तु यत् ॥ १४७ ॥  
 यजेत् तन्मध्यगं विश्वरूपं तु मनसस्पतिम् ।  
 तदूर्ध्वेऽमृतगर्भं तु शीतांशुकरकोटिवत् ॥ १४८ ॥  
 पद्मं स्वेनात्मनात्मानं धारयन्तं विभाव्य च ।  
 समध्यर्चर्यस्तदन्तःस्थो<sup>१३</sup> इप्यब्जनाभोधियांपतिः ॥ १४९ ॥  
 एवं गन्धरसरूपस्पर्शशब्दमनोधियाम् ।  
 क्रमेणाधीशसङ्घं तु अवतार्य पराद् यजेत् ॥ १५० ॥

---

१. भूषितं ध्यात्वा—बक० बख० । २. वार—बक० बख० । ३. तः—बक० ।  
 ४. अधस्तान्म—बक० बख० । ५. सितम्—बख० । ६. शारीं—बक० बख० । ७. पुरम्—बक० बख० ।  
 ८. रक्त—बक० बख० । ९. गणा—बक० बख० । १०. रक्तच्छवि विभुम्—बक० बख० ।  
 ११. पर्यसितं—बक० बख० । १२. च—म० अटी० । १३. प्राग्वद् वर्णं तु—बक० बख० ।  
 १४. स्थो ह्य—बक० ।

अर्चयित्वाऽर्चयित्वा च न्यसेत् तत्रैव तं पुनः ।  
 ये वर्णा भूतयोनीनां रैश्मयः कमलोपमाः ॥ १५१ ॥  
 संस्थितिं संस्मरेत् तेषामस्मिंशक्तौ तथागतिम् ।  
 अङ्नादिवासनारूपां त्वभेदेनात्मनि स्थिताम् ॥ १५२ ॥  
 निशेषघीजैरभ्युत्थां पद्मनाभविधारणीम् ।  
 निर्गतां वैषयात् सर्वाद् वियुक्तां स्वामिना कृताम् ॥ १५३ ॥  
 स्फुरद्रूपां परिप्रष्टां निराधारां च संस्मरेत् ।  
 प्रणवेन समभ्यच्य दीक्षाकालेऽभ्युपस्थिते ॥ १५४ ॥  
 साधिभूताधिदैवं च इष्टवैवं भूतसप्तकम् ।  
 स्वयमभ्यर्चयेत् पश्चात् शिष्यमञ्जलिना च तम् ॥ १५५ ॥  
 ततोऽनेः सन्नाधिं गत्वा ध्यात्वा <sup>१</sup>यामत्रयोपरि ।  
 दक्षिणेनात्मनो <sup>२</sup>दीर्घे विष्टरे चक्रमन्दिरे<sup>३</sup> ॥ १५६ ॥  
<sup>४</sup>संकुशेन स्वहस्तेन दक्षिणं चरणं गुरोः ।  
 अवलम्बय <sup>५</sup>संमास्ते वै स्पर्शनाद्येकतात्मना ॥ १५७ ॥  
 वीजेनाङ्गेः शिखान्तं च स्मरेत् <sup>६</sup>तेजोमयं विभुम् ।  
<sup>७</sup>विश्लेषयन्तं सहसा ह्यना <sup>८</sup>द्युत्थमविग्रहम् ॥ १५८ ॥  
<sup>९</sup>संस्कारचक्रं विविधं ग्रेकं दुःखवर्त्मनि ।  
<sup>१०</sup>नाड्यैव्यमभिसन्धानमभिसन्धानचेतसा ॥ १५९ ॥  
 विश्लेषं कर्मणां तद्वद् वर्मणास्त्रेण होमयेत् ।  
 क्रमेण सघृतानां च तिळानां द्वादशाहुतीः<sup>११</sup> ॥ १६० ॥

१. राशमीयाः—मु० अटी० । २. मस्मिन्—बक० बख० । ३. गतम्—बक० बख० ।
४. सानादि—मु० अटो० । ५. जरशमीद्वयानां भाविधारणीम्—मु० अटी० ।
६. सत्याद्—मु० अटी० । ७. क्षरद्रूपा—मु० अटी० । ८. दिश्—मु० अटी० । ९. लेङ्यु—अटी०,  
ले ह्यु—बक० । १०. धाम—अटी० । ११. दर्भे—बख० । १२. मन्त्रिते—बक० बख० । १३. स्व—बख० ।
१४. समाप्ते—बक० बख० । १५. तोय—मु० अटी० । १६. विशेष—मु० । १७. द्वार्थ—मु०,  
वर्ण—अटी० । १८. नास्त्येषा पङ्क्तिः—अटी० । १९. नास्त्यै—मु० अटी० । २०. हुतिः—अटी०,  
हुतिम्—बक० बख० ।

अनुसन्धाय सम्पादो मयाऽयं वै परात्मनि ।  
 दद्यादैष्टावाहुतीश्च मूलेन सघृताः पुरा ॥ १६१ ॥  
 तदुत्तमाङ्गं संस्पृष्टवा स्त्रुवेणाज्यान्वितेन च ।  
 हुत्वा ज्ञानपदेनैव भूयः सर्वगुणात्मना ॥ १६२ ॥  
 प्राक्संख्यमाचरेद् होममन्तरान्तरयोगतः ।  
 आ चेश्वरपैदात् सम्यड्नेत्रान्तं द्वेवमेव हि ॥ १६३ ॥  
 इति सम्पातहोमो वै सम्पन्ने सति जायते ।  
 कर्तव्यो मन्त्रमाहात्म्यात् संस्कारैर्निखिलैर्युतः ॥ १६४ ॥  
 साम्प्रतं चाणिमादीनां गुणानामुत्तरत्र तु ।  
 विभोराराघनात् सम्यग् योग्याभ्यासाच्च भाजनम् ॥ १६५ ॥  
 कृते सम्पातभवने आज्येनोथ सकृत् सकृत् ।  
 मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा सार्चनं श्रावयेद् विभूम् ॥ १६६ ॥  
 अस्य कर्मात्मतत्त्वस्य कर्मपिण्डं सवासनम् ।  
 यद्देनेकप्रकारं तु त्वच्छब्दत्या स्तम्भितं मया ॥ १६७ ॥  
 प्रायश्चित्तनिमित्तं तु जुहुयात् तदनन्तरम् ।  
 वीजेनान्तर्निरुद्धेन स्वाङ्गेनाकृतिकाष्टकम् ॥ १६८ ॥  
 एतावता महाबुद्धेर्जन्तोर्जन्माश्रितस्य च ।  
 याति व्यामिश्ररूपस्य हैयरूपस्य संक्षयः ॥ १६९ ॥  
 मोक्षैकफलदो धर्म उपादेयस्त्वनन्तरम् ।  
 योऽसौ साम्मुख्यमायाति विविधस्तस्य वाच्युर्तः ॥ १७० ॥  
 येनान्तर्लीनमभ्येति द्वज्ञानं सहसा क्षयम् ।  
 अथादायारुणं सूत्रं कृत्वा नैकगुणं पुरा ॥ १७१ ॥  
 १० निरीक्षितं दृशा चास्त्रवारिणा परिशोधितम् ॥ १७२ ॥  
 तदङ्गुष्ठावधिं यावत् १२ शिखान्तात् सम्प्रधार्य च ॥ १७२ ॥

- 
१. दाहुतिकाश्चाट्टौ—बक० बख० । २. रमुपादद्यात्—बक० बख० । ३. कर्तव्यं—बक० बख० ।  
 ४. शक्तिरा—बक० बख० । ५. चाथ—मु० अटी० । ६. बद्धं—बक० बख० ।  
 ७. तद—बक० बख० । ८. तम्—बक० बख० । ९. त्वानेक—अटी० । १०. निरीक्ष्य—बक० बख० ।  
 ११. धनम्—बक० बख० । १२. शिखायाः—बक० बख० । १३. सार्य—बक० बख० ।

संस्मरेत् सर्वदुःखानां सम्बन्धानां तदासप्दम् ।  
 संविश्य देवयानेन शिशुचैतन्यसन्निधिम् ॥ १७३ ॥  
 हुंफडन्तं च शिरसि नाम च प्रणवादिकम् ।  
 हृन्मन्त्रसम्पुटस्थं च कृत्वा वै पितृवर्त्मना ॥ १७४ ॥  
 आनीय सह सूत्रेण नयेन्नेत्रेण साम्यताम् ।  
 अभ्यच्यर्थादिनावेष्य कवचेन महात्मना ॥ १७५ ॥  
 ॐ हं अदन्यै हं स्वाहेत्यनेनां कृतिसप्तकम् ।  
 हृत्वास्त्रमन्त्रजप्तेन मितेन रजसा ततः ॥ १७६ ॥  
 सन्ताङ्गं शैशवं कायं विशेत् तदवधिं तथा ।  
 विश्लेष्याऽमुकं ब्रूयात् पदं वीर्यपदानुगम् ॥ १७७ ॥  
 तं ज्ञानंवाचकेनाथ त्वाद्यन्तेन विकृष्य च ।  
 स्वबुद्ध्याऽनुगतं कृत्वा ध्यात्वा नक्षत्रगोलवत् ॥ १७८ ॥  
 संन्धायाभ्यन्तरे सूत्रे हं सार्णेन सविन्दुना ।  
 नदीप्रणवगमेण रूढशक्तिं च विग्रहे ॥ १७९ ॥  
 वासनामयमित्येवमातिवाहिकमसंजकम् ।  
 सूत्रात्मकं वपुः कृत्वा आत्मशक्त्या विभावितम् ॥ १८० ॥  
 बलमन्त्रेण संसद्वं तदर्थं जुहुयात् ततः ।  
 उक्त्वा ओमात्मने स्वाहा द्विषट्कौपीरिसंख्यया ॥ १८१ ॥  
 आदाय भाविनो बन्धान् व्याप्कान् शुद्धभोगदान् ।  
 ज्ञानादयः समाश्रित्य येऽत्र तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १८२ ॥  
 स्वस्थानेषु स्वमन्त्रेभ्यस्तांस्तत्रैवं च योजयेत् ।  
 यथाक्रमे णाचितानां कृत्वा तेषां च तर्पणम् ॥ १८३ ॥  
 अथ संस्कारचक्रस्य तत्त्ववृन्दाश्रितस्य च ।  
 सर्वगस्यापि वै विद्धि स्थितिं नियतलक्षणम् ॥ १८४ ॥

१. शिष्यस्य—वक्त० वख० । २. नात्मना—मु० अटी० । ३. हुं अदन्यै हुं—मु०  
 अटी० । ४. हुंकृति—मु० अटी० । ५. संताङ्गं—मु० अटी० । ६. विश्लेष्याऽमुखं—  
 वक्त० वख० । ७. ज्ञात्वा नवताचक्रेनाथ—मु० अटी० । ८. सन्ताङ्गा—मु० अटी० ।  
 ९. वपुं स्मृत्वा—वक्त० । १०. तदर्थं—वक्त० वख० । ११. पर—मु० अटी० । १२. स्तु तत्रैव—  
 वक्त० वख० । १३. णोचिता—वक्त० वख० । १४. स्थितिं नियतलक्षणम्—वक्त० ।

तच्चव्याप्तिज्ञलेनैव शरीरे पाञ्चभौतिके ।  
 गुल्फजानुकटीवक्षःकर्णभ्रूकावटावधि ॥ १८५ ॥  
 बुद्धयन्तानां धरादीनां क्रमादवनिसप्तकम् ।  
 अहङ्कारस्तदुत्थास्तु ये भेदा विविधा अपि ॥ १८६ ॥  
 चित्तजा अपि ये चान्ये तिष्ठन्ति मनसा सह ।  
 सकालोत्थास्तथा बौद्धास्तपूर्वास्त्वपरे च ये ॥ १८७ ॥  
 अनेकभेदभिन्नास्तु श्रिता आश्रित्य ते धियम् ।  
 द्विसप्तभुवनं विश्वमनेकरचनान्वितम् ॥ १८८ ॥  
 शतकोटिप्रविस्तीर्णमष्टयोऽन्यार्धसेवितम् ।  
 स्थिरं धराश्रितं भूयो बोद्धव्यं सर्वदैव हि ॥ १८९ ॥  
 चतुष्कं जाग्रदाद्यं यत् पदानामप्सु वर्तते ।  
 मन्त्रकोटिसहस्राणां विविधानां महामते ॥ १९० ॥  
 योगसिद्धिसमेतानां संस्थितिस्तैजसे पदे ।  
 चातुरात्मीयतत्त्वानां ज्ञेयैः कैवल्यदेहिनाम् ॥ १९१ ॥  
 शान्तोदितस्वरूपाणां सन्निवेशो मरुत्पदे ।  
 अनेकशक्तिभूतानां ज्ञानादीनां च लाङ्गलिन् ॥ १९२ ॥  
 कालानामाश्रयो व्योम या सा॑ मूर्तिर्न लक्ष्यते ।  
 संस्थिताश्रादयो वर्णाः पदे षष्ठे तु मानसे ॥ १९३ ॥  
 अस्मिन् मात्रानुरक्तानि कीर्तिंतेऽस्मिन् षडध्वनि ।  
 क्षिपंस्तु चाहरंस्त्वेवं शुद्धयर्थं लीलयैवं हि ॥ १९४ ॥  
 सं स्थितः कर्मतत्त्वानि बुद्धिशक्तिपदे प्रभुः ।  
 निरस्तदोषं कृत्वा प्राक् समाविश्य तदैव हि ॥ १९५ ॥

---

१. स्थिता—बक० वख० । २. न्युद्धय—मु०, न्मुध्य—अटी० । ३. स्थितं धारा—बक० वख० ।  
 ४. ज्ञेयं—बक० वख० । ५. यासां—बख० । ६. द्यमु—बक० वख० । ७. येव—मु० अटी० वख० ।  
 ८. स्थितः कर्मतिमत—बक० वख० ।

स्वं शक्तिमुपसंहृत्य शान्तिमभ्येति शाश्वतीम् ।  
 मधुसूदनपर्यन्तं पातालशयनादर्थं ॥ १९६ ॥  
 सप्तकं सप्तकं षट्कं सम्पश्येत् क्षमादिपञ्चके ।  
 मनस्यवस्थितं ह्येवं शक्तीशात् त्रितयं हि यत् ॥ १९७ ॥  
 बुद्धौ कमलनाभात्मा देवः सर्वेश्वरः प्रभुः ।  
 पुनः स्वसिद्धैर्युक्तानां सर्वेषां पार्थिवे पदे ॥ १९८ ॥  
 द्विसप्तभेदभिन्ने तु बोद्धव्या संस्थितिः शुभा ।  
 तीव्रमन्दादिकं बुद्ध्वा भावं भक्तिसमन्वितम् ॥ १९९ ॥  
 आलम्बनवशात् कुर्यात् सर्वेषां स्वपदे स्थितिम् ।  
 एष वैभवदीक्षायामधिवासनकर्मणि ॥ २०० ॥

मधुसूदनपर्यन्तं पातालशयनादर्थं ॥  
 सप्तकं सप्तकं षट्कं सम्पश्येत् क्षमादिपञ्चके ।  
 मनस्यवस्थितं ह्येवं शक्तीशात् त्रितयं हि यत् ॥  
 बुद्धौ कमलनाभात्मा देवः सर्वेश्वरः प्रभुः । (१८।१९६-१९८)

इत्यस्यार्थः—पातालशयनमारभ्य पद्मनाभान्तमष्टविंशद्विभवदेवेषु पातालशयनादि-  
 सप्तकं द्वातत्त्वे, नारायणादिसप्तकमप्तत्त्वे, लोकनाथादिसप्तकं तेजस्तत्त्वे, नारसिंहा-  
 दिसप्तकं वायुतत्त्वे, क्रोडात्मादिषट्कमाकाशतत्त्वे, शक्तयात्मादिवयं मनस्तत्त्वे, पद्मनाभं  
 बुद्धितत्त्वे च संपश्येदित्यर्थः । सात्वतामृते तु व्यापकमन्त्रदीक्षाया उक्तत्वात्

येन येन हि मन्त्रेण दीक्षा कार्यात्थ कस्यचित् ।  
 तस्य तस्य तर्दीयानां पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥  
 कार्योऽत्रावयवानां तु विनियोगो यथोदितः ।  
 समूहवद् हृदादीनां मूलान्तानां समाचरेत् ॥  
 सह तत्त्वगणेनैव सर्वदाध्यात्मरूपताम् ।  
 सम्यगूह्यं ततः कुर्यात् प्राग्वदभ्यर्चनं तु वै ॥ (१९।१७२-१७४)

इति वक्ष्यमाणानुसारेण क्षमातत्त्वादिषु हृन्मन्त्रादयः प्रतिपादिता इति बोध्यम्  
 ॥ ११२-२३३ ॥

१. दधः—जक० । २. स्थितम्—वक० वक्त्र० । ३. एषा—म० अटी० । ४. दयः—अ० म० ।  
 ५. ह्येकं—अ० म० ।

क्रम उक्तस्त्वथेदानीमपरायां निवोधतु ।  
 १. आ पादानाभिदेशान्तं महाभूतैर्धरादिकौः ॥ २०१ ॥  
 व्याप्तं चतुर्धा वायवन्तैस्तदूर्ध्वं नभसा पुनः ।  
 पूरितं हृदयान्तं च तदुदेशाच्छिखावधि ॥ २०२ ॥  
 विभाव्य मनसा व्याप्तमनेनैव क्रमेण तु ।  
 स्थिताः सङ्कर्षणान्ताश्चाप्यनिरुद्धादयस्तु वै ॥ २०३ ॥  
 समाक्रम्याध्वषट्कं तु अङ्गातीतस्तु बुद्धिगः ।  
 संमादायात्मतच्चं च प्राग्वदभ्येत्य मूर्तिताम् ॥ २०४ ॥  
 व्यापिका मूर्तयस्त्वेताः पृथग् भक्तिपरायणैः ।  
 तदाकारैरसंख्यैस्तु संबृताः क्षमावनीषु च ॥ २०५ ॥  
 प्राक्संख्यामु च तिष्ठन्ति सर्वाः सर्वासु सर्वदा ।  
 स्मृत्वा ह्यभेदभावेन षट्कर्मोदकवत् पुरा ॥ २०६ ॥  
 १० शिखान्तं क्षमादिना तेन सर्वं व्याप्तं विचिन्तयेत् ।  
 चतुरात्मानमव्यक्तं शब्दमूर्ति निराकृतिम् ॥ २०७ ॥  
 गुणमात्रैर्विभिन्नं च खवत् तत्रैव भावयेत् ।  
 अग्राह्येणाथ वपुषा स्वस्वभावमयेन च ॥ २०८ ॥  
 संक्रान्तेन तु वै बुद्धौ सर्वदैवोदितेन तु ।  
 स्वशक्त्या वै ह्यनिच्छातो जीवमादाय सोध्वगम् ॥ २०९ ॥  
 स्त्रसामर्थ्यं स्वशक्त्या तत् शान्तात्मास्ते विलाप्य च ।  
 शुद्धाशयानां भक्तानां तत्पादैकाभिलापिणाम् ॥ २१० ॥  
 तत्सामर्थ्यनुविद्वानां सर्वत्र व्यक्तिमेति च ।  
 अतस्तु १३ यद्यत् संवेद्यं हेयं परिमितं त्वपि ॥ २११ ॥

---

१. आपदानाभिदेशं च—मु० । २. वायवन्नैः—मु० । ३. स्थितः—मु० अटी० ।
४. बुद्धचा—मु० अटी० । ५. समना आ—बक० बख० । ६. मूर्तिताम्—मु०, मूर्छिताम्—मु० अटी० ।
७. व्याप्तिका—बक० बख० । ८. इमुक्ति—बक० । ९. कर्म मादगवत्—मु० अटी० ।
१०. ततस्तु—मु० अटी० । ११. सर्वं समु—बक० बख० । १२. लक्षणाम्—बक०, लक्षणाम्—बख० ।
१३. यदसंवेद्यं—मु० अटी०, यत्तत् संवेद्यं—बक० ।

तत्र तदात्मनाभ्येति सर्वदा भावितात्मनाम् ।  
 इत्यादौ सर्वसामान्यो नित्यो विद्यारूप्य आश्रयः ॥ २१२ ॥  
 बोद्धव्यः सोऽपि तदनु श्वसामान्यं तया गतः ।  
 आ मोक्षादेहभावं च जीवानां स्वयमेव हि ॥ २१३ ॥  
 वज्रवत् सूक्ष्मरूपेण सम्पूर्णेन महामते ।  
 दीक्षाकाले तु शिष्याणां परिज्ञेयं यथोदितम् ॥ २१४ ॥  
 एवमेव विज्ञानीयाद् भूयः सौत्रे तु विग्रहे ।  
 सप्तधा तु विभज्यादौ सन्धिं वै कुद्धुमादिना ॥ २१५ ॥  
 चित्रीकृत्य चेतुर्देशात् प्रणवाद्यन्तं गैस्ततः ।  
 स्वनामपदसंयुक्तोऽ ग्रथनीयः स्वकारणैः ॥ २१६ ॥  
 एवं प्राप्तिमयैर्भोगैर्हृदा पूर्णान्तिमे कृते ।  
 नीत्वा वै मण्डलस्थस्य विभोस्तं सञ्चिवेदयेत् ॥ २१७ ॥  
 वर्मणाच्छादितं कृत्वा निधाय कलशाग्रतः ।  
 माशिष्योऽथार्चनं कुर्यात् पुनर्विश्वात्मनो विभोः ॥ २१८ ॥  
 प्रदक्षिणैः प्रणामैस्तु नानाऽस्तुतिपदैः सह ।  
 तत्रोपलिप्ते<sup>१</sup> भूभागे मण्डलान्तर्गतं वहिः ॥ २१९ ॥  
 स्थानभैदस्थितं कृत्वा नेत्रहन्मन्त्रमन्तिते<sup>२</sup> ।  
 पञ्चगच्छे<sup>३</sup> चरौ दन्तधावने विनियोजय<sup>४</sup> तम् ॥ २२० ॥  
 भुक्तोऽजिङ्गते दन्तकाष्ठे कुर्यात् सिद्धिविचारणम्<sup>५</sup> ।  
 सौम्यवारुण ईशाने यदि पूर्वदिगा<sup>६</sup> ननम् ॥ २२१ ॥

---

१. न्यं तदागतः—मु० अटी० । २. दघ—मु०, दघ—अटी० । ३. ज्येन—बक० बख० ।  
 ४. तदुद्दे—बक० बख० । ५. न्तकैः—बक० । ६. क्तं—बक० बख० । ७. यं—बक० बख० ।  
 ८. व्याप्तिमयैर्भग्नै—बक० बख० । ९. न्तिकै—बक० बख० । १०. वस्तु—बक० । ११. लिप्त—  
 बक० बख० । १२. तैः—बक० बख० । १३. व्येऽवनौ—मु० अटी० । १४. जितम्—मु० अटी० ।  
 १५. णाम्—बक० । १६. दिशा—बक० बख० ।

तत्सिद्धिसूचकं विद्धि विपरीतमतोऽन्यथा ।  
 तदध्वंसनाय जुहुयाद् वीर्यमन्त्रेण वै शतम् ॥ २२२ ॥  
 धूपानुलेपनादीनि रजांसि घटिकादयः ।  
 माज्यानि च तिलादीनि योग्यान्यन्यानि लाङ्गलिन् ॥ २२३ ॥  
 उदधृत्योत्तरं ऋत्वा वर्मजप्तेन वाससा ।  
 अभुवतेनाहतेनैव त्वाच्छाद्य सुमितेन च ॥ २२४ ॥  
 समश्यच्यास्त्रमन्त्रेण पुष्पधूपानुलेपनैः ।  
 क्षान्त्वा स्थलस्थितं देवमग्नौ वा कलशे न्यसेत् ॥ २२५ ॥  
 अथ शुद्धे च भूमागे हृन्मन्त्रितकुशास्तरे ।  
 कृत्वा प्राण्मस्तकं शिष्यं बलजप्ताङ्गकुशेन तु ॥ २२६ ॥  
 हृदावगुणिठततरुं पुख्यमन्त्रमनुस्मरन् ।  
 स्वापयेत् स्वप्नलाभाय ततो हृन्मन्त्रितैस्तिलैः ॥ २२७ ॥  
 सिद्धार्थक्युतैस्तस्य निदध्यात् परितोऽवहिः ।  
 सवहिः पक्षमन्त्रेण प्राणवद् दिक्षब्धकं न्यसेत् ॥ २२८ ॥  
 प्रदक्षिणेन तच्चापि सितसूत्रेण वर्मणा ।  
 चर्तुर्धा वेष्टयित्वा तु मण्टपान्निष्कमेद् वहिः ॥ २२९ ॥  
 दन्तकाष्ठादिकं कर्म विनिष्पाद्य स्वयं स्वपेत् ।  
 भूर्तले दर्भशश्यायां कृत्वा दक्षिणतः॑ शिरः ॥ २३० ॥  
 संस्पृशन् स्वाङ्गवियुग्मेन शिशुं शयनसंस्थितम् ।  
 भगवन्तं हि मनसा प्रार्थयन्नपवर्गदम् ॥ २३१ ॥  
 ओमादिश<sup>११</sup> जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय ।  
 तत्राहं योजयाम्येनं<sup>१२</sup> कर्मिणं त्वत्परायणम् ॥ २३२ ॥

१. रदिक्—मु० अटी० । २. सं—मु० बक० बख० । ३. तु—बक० बख० ।  
 ४. हुं—अटी० । ५. प्तांशुकेन—मु० बक० बख० । ६. परिखां—मु०, परिधां—अटी० ।  
 ७. हि यत्—मु० अटी० । ८. तुरावे—मु० अटी० । ९. कुतले—मु० अटी०, आतपे—बख० ।  
 १०. दिक्—मु० अटी० । ११. ओमादिश—मु० अटी० बख० । १२. सतकर्म—बख० ।

प्राप्तानुज्ञस्तु शिष्याणां कुर्याद् वै तत्र योजनम् ।  
यत्र तत्र च तत् तेषामवश्यं शाश्वतं भवेत् ॥ २३३ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधिवासदीक्षाविधि-  
अष्टादशः परिच्छेदः ॥

■

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशाचरणकमलार्चकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्योष्टादशः परिच्छेदः ॥

■

## एकोनर्विशः परिच्छेदः

नारद उवाच

अधिवासाभिधानेयं पूर्वदीक्षाऽच्युतेन वै ।  
कथिता सीरिणे विप्रास्तेनाऽतश्चोदितः पुनः ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

देव दीक्षाविधानं च त्वद्वक्त्रकमलादहम् ।  
श्रोतुमिच्छामि संक्षेपाद् वैष्णवानां हिताय च ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

एकानेकस्वरूपां वै दीक्षां संमारिणां॑ शृणु ।  
आसाद्य यां समायान्ति देहान्तेऽभिमतं पदम् ॥ ३ ॥  
कैवल्यफलदाऽप्येकां भोगवैवल्यदा परा ।  
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि ॥ ४ ॥  
आचार्यानुमैताः सर्वाः कार्याः सम्यक् फलाप्तये ।  
भक्तिभावानुविद्वानां शिष्याणां भावितात्मनाम् ॥ ५ ॥

अथैकोनर्विशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । एवमधिवासदीक्षां श्रुत्वा पुनः संकर्षणः पृच्छतीत्याह—अधिवासेति ॥१॥

प्रश्नप्रकारमाह—देवेति ॥ २ ॥

एवं पृष्ठः श्रीभगवान् परब्यूहविभवभेदभिन्नदीक्षात्रयस्य फलभेदानुकृत्वा तत्र दीक्षात्रप्रेतप्याचारवतां शिष्याणामधिकारं वृद्धबालाङ्गनानां तु दुशकाचारविरहेऽप्यधिकारं च दर्शयित्वा तेषां तत्तत्फलाभिसन्ध्यनुसारेण दीक्षात्रप्रेत्यन्यतमा कर्तव्येत्याह—एकानेकत्यादिभिः । अत्राशक्तविषये लघुतरानुष्ठानमप्युक्तं जैयाख्यलक्ष्मीतन्त्रयोः—

- १. अष्टादशः—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति—म० अटी० बक० । ३. रिणः—म० अटी० ।
- ४. ह्येका—अ० उ० अटी० । ५. गताः—अ० उ०, मतः—अटी० । ६. भविनां तु वै—बक० बख० उ०, हविनां तु वै—अ० । ७. जयाख्यसंहितायाम् (१६।४—६) एतदभिप्रायका श्लोका द्रष्टव्याः ।

बृद्धानामङ्गनानां च वालानां भावितात्मनाम् ।  
 विनाचारसमूहेन दुश्शकेन च ता हिताः ॥ ६ ॥  
 पुरा धिया विचार्यैवमुपसंनेन वै सह ।  
 तदीयमाशयं ज्ञात्वा सम्पाद्यैका महामते ॥ ७ ॥  
 अथाऽतीतेऽर्थरात्रे तु उत्थाय शयनाद् गुरुः ।  
 कमण्डलुं समादाय वहिराचम्य संविशेत् ॥ ८ ॥  
 संस्मरेदग्रतश्चास्त्रं हुतभुग्राशिसन्निभम् ।  
 तदन्तैःस्थं विशेद् देवं स्नानं मान्त्रं कृतं भवेत् ॥ ९ ॥  
 निद्रामोहमलं येन शश्वदायाति संक्षयम् ।  
 शड्कून वै धौटिकास्तत्र रजांस्यस्त्रवरेण च ॥ १० ॥  
 समादाय च संसृत्यं निष्पिष्ठ्यायैर्महीतले ।  
 शुष्कगोमयसंघृष्टे मण्डलं यत् पुरोदितम् ॥ ११ ॥  
 भद्रत्वपरिक्षार्थं न्यस्याः कोणेषु शङ्कवः ।  
 कमलभ्रमसिद्ध्यर्थमेकं मध्ये निवेश्य च ॥ १२ ॥  
 ईषन्न याति वैषम्यं तद् रात्रिसमये यथा ।  
 महाननाधिके दोषः सशिष्यस्य यतो गुरोः ॥ १३ ॥  
 अतस्तद् रक्षणीयं च यत्नेन महता सदा ।  
 निर्वर्त्य नित्यं प्रत्यूपे पुरा वै स्नानपूर्वकम् ॥ १४ ॥

महामण्डलयागेन हवनाद्वाऽथ केवलात् ।  
 वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥

<sup>१५</sup>वित्ताढ्यस्यात्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात् । (ल० ४१९-१०)

इति ॥ ३-७ ॥

अथाऽतीतेऽर्थरात्रे आचार्यस्य शयनादुत्थानमाचमनं मन्त्रस्नानं मण्डललेखनं  
 प्रत्यूपे नित्यकर्मनिष्ठानं शिष्यस्वप्नपरीक्षां चाह—

- १. पन्नन-अ० । २. गुरोः-मु०अटी० वक० वख० । ३. न्तः संविशेदेव-मु०
- अटी० अ० । ४. मात्रं-मु० अटी० वक० वख० अ०, मास्त्रं-उ० । ५. खटिका सूत्रं-अ० उ० ।
- ६. संस्कृत्य-अटी० । ७. प्यार्थ्ये-अ० उ० । ८. पङ्किरेषा न दृश्यते-अ० । ९. संपृष्टे-
- वक० वख० । १०. भद्रत्वक्-अटी० । ११. वित्तालस्या-अ० म० ।

शिष्यमाहूये संचोद्य स्वप्नप्राप्ति शुभाशुभाम् ।  
 चतुर्मूर्तिसमूहं तु यथादिकसंस्थितं तु वै ॥ १५ ॥  
 पश्येत् पङ्किनिविष्टं च उपविष्टं तु चोत्थितम् ।  
 तन्मध्याद् भगवत्तत्त्वमेकं वा भिन्नलक्षणम् ॥ १६ ॥  
 प्रादुर्भावसमूहं च तल्लाज्ञनगणश्च यः ।  
 दैवीयं वनितावृन्दं सर्वमेकैमथापि वा ॥ १७ ॥  
 भवोपकरणत्रात्मशेषं वा पृथक् स्थितम् ।  
 रुद्रेन्द्रचन्द्रसूर्यम्बुहुतभुग्वातलक्षणम् ॥ १८ ॥  
 पञ्चरात्रविदो विप्रा आराधनपरायणाः ।  
 त्रयीमुद्घोषयन्तश्च निगदन्तश्च वा द्विजाः ॥ १९ ॥  
 यतयः शुद्धसत्त्वाश्च सद्ग्रह्यपदसंस्थिताः ।  
 नगस्त्रक्चन्दनाद्यानि सुगन्धानि तरुतमः ॥ २० ॥  
 उद्यानवनितारामवापीहर्म्यमहालयाः ।  
 फलबीजौषधीः साम्बुकुम्भो वा पाकनिर्गतः ॥ २१ ॥  
 गोगजाश्च नदी यानं कन्या सालङ्कृता शिशुः ।  
 मङ्गल्यगीतिर्मधुरा भेरी वंशश्च वल्लरी ॥ २२ ॥  
 ससारसं सरः पञ्चैः पूर्णं छैंत्रं सितं ततम् ।  
 हेमादिधातवो रत्नजालं गोसम्भवानि च ॥ २३ ॥  
 नवो नेर्त्रैचयः ॑शुद्धं वस्त्रवृन्दमनाहतम् ।  
 राजा पुरोधाः सामन्तो राजपत्नी च दर्पणम् ॥ २४ ॥

अथातीतेऽर्धरात्रे त्वित्यादिभिः ॥८-१५॥

शुभाशुभस्वप्नान्याह—चतुर्मूर्तिसमूहं त्वित्यादिभिः ॥१५-३३॥

१. मादाय—वक० वख० । २. द्वयो—उ० । ३. तमाथवा—मु० अटी० वक० वख० उ० ।
४. लयम—मु० अटी० । ५. चित्रं—मु० अटी० वक० वख० । ६. नेत्रः सितं—मु० अटी० ।
७. शुक्लं—उ० ।

तुंषारपातः सदृष्टिर्महामेघोदयो दिवि ।  
 शोणितं चार्द्मांसानि खप्लुतिर्मदिगलयः ॥ २५ ॥  
 सत्पश्मृगसङ्गातः सुरार्चा चामरं सितम् ।  
 एवमादीनि चान्यानि विद्वि सिद्धिप्रदानि च ॥ २६ ॥  
 स्वप्नानि यान्यनिष्टानि तानि मे लेशतः शृणु ।  
 म्लानता क्षितिकम्पश्च उपरागोऽतिभीषणः ॥ २७ ॥  
 नीहार उल्कापातश्च निर्धातिश्चित्तभङ्गकृत् ।  
 गर्तप्रवेशो दध्यन्नं स्विन्नमांसस्य भक्षणम् ॥ २८ ॥  
 वर्तनं रथविध्वंश आज्यं स्वाङ्गद्विजच्युतिः ।  
 खरोष्टं चोत्कटं हास्यं कपित्रक्षाकुलं वनम् ॥ २९ ॥  
 स्थानं धूमाकुलं दैर्घ्यमसिताम्बरवेष्टितम् ।  
 शुष्कत्वं सरिदादीनां प्रतिस्रोतस्त्वमेव च ॥ ३० ॥  
 पोतयानध्वजच्छत्रतरुभङ्गोऽप्यसिद्धिकृत् ।  
 अवतारो नगाद् वृक्षान्नग्नत्वं प्रेतदर्शनम् ॥ ३१ ॥  
 वसाकज्जलैलाज्यलेपः सत्कर्दमे स्थितिः ।  
 महिषोऽहिर्नरः कृष्णो दक्षिणाशागमः क्षुधा ॥ ३२ ॥  
 लुञ्छनं नखकेशानामस्थिभङ्गादिकं द्रुतम् ।  
 एवमादीनि चान्यानि अशुभानि महामते ॥ ३३ ॥  
 ग्राप्ते शुभाशुभे स्वप्नेऽप्यभिसन्धाय वै हृदि ।  
 औत्सुक्यादशिवध्वंसि पूजाहोमं समाचरेत् ॥ ३४ ॥  
 यथोक्तविधिना देवमवतार्य क्रमाद् यजेत् ।  
 तर्पयित्वा यथान्यायं पूर्णान्तं चाचरेत् तंतः ॥ ३५ ॥

अशुभस्वप्ने तच्छान्तिमाह—प्राप्त इति ॥३४॥

पुनर्यथाक्रमं कुम्भादिष्वर्चनमाह—यथोक्तविधिनेति ॥३५॥

१. तुरगश्चैव—मु० अटी० । २. निर्याति—मु० अटी० । ३. चैव—मु० अटी०, दण्ड—बख० ।
४. वेष्टनम्—मु० अटी० । ५. लाङ्घन—अटी०, लुण्ठन—बक० बख० अ०, लुण्ठन—उ० ।
६. अथो—मु० । ७. न्यास—मु० बक० बख० । ८. चार्पणे—बक० बख० । ९. पुनः—बक० बख० अ० उ० ।

ईशकोणेऽथवा सौम्ये पदे यागगृहस्य च ।  
 मण्डले पूर्वनिर्दिष्टे वृत्ते वा चतुरश्रके ॥ ३६ ॥  
 स्नातं स्नग्धस्त्रभृच्छिष्यं कृतन्यासं निवेशयेत् ।  
 निरीक्ष्य ताङ्ग संप्रोक्ष्य दर्भेरालभ्य पूर्ववत् ॥ ३७ ॥  
 संस्कृत्य मूर्तिवत् किन्तु अनुग्राहं धैरागतम् ।  
 आपादानमन्त्रहस्तेन परामृश्याऽथ मध्यनि ॥ ३८ ॥  
 मन्त्रहस्तं ज्लवदरूपं दद्याद् यो दुःखबीजैजित् ।  
 तमादाय कराद् देवधामसन्निकटं व्रजेत् ॥ ३९ ॥  
 कृत्वात्मनो वामभागे भूयः संचाद्य लोचने ।  
 ग्रक्षेपयेत् तथा साध्यमञ्जलिं मुक्तलोचनम् ॥ ४० ॥  
 संपश्येत् परमं धाम मान्त्रमच्छफलप्रदम् ।  
 तस्मिन्नवसरे कुर्यान्नाम यस्य यथोचितम् ॥ ४१ ॥  
 रहस्यसंज्ञं मुख्यं च गौणं वास्य यथास्थितम् ।  
 सामान्यं वासुदेवाद्यं नाम स्वाङ्गाच्चतुर्ष्विंशि ॥ ४२ ॥

---

स्नातस्यालङ्कृतस्य कृतन्यासस्य शिष्यस्य गोमयलिप्ते मण्डले समुपवेशनं निरीक्षणादिसंस्कारांश्चाह—ईशकोणेति सार्वेस्त्रिभिः । निरीक्षणं नेत्रमन्त्रेण, ताडनमस्त्राभिमन्त्रिततिलिसद्वार्थः, प्रोक्षणमस्त्राभ्यसा, दर्भेरालभनम्, पीठ<sup>११</sup> तेनास्त्रमन्त्रेण, मूर्तिवत् संस्कारो<sup>१२</sup> मन्त्रन्यासैरिति ज्ञेयम् । मन्त्रहस्तेन प्रधानैमन्त्रत्वेन भावितनिजदक्षिणहस्तेनेत्यर्थः ॥ ३६—३९ ॥

अथ शिष्यस्य वैष्णवनामकरणविधानमाह—तमादायेत्यारभ्य दासान्तं शूद्रजन्मनामित्यन्तम् । अस्मिन्नवसरे शिष्यस्य नामकरणात् पूर्वं सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणमूर्ध्वपुण्ड्रधारणं च कार्यम्, यतः—“तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः” (ई० सं० २११२८४) इति तयोर्नामकरणप्राक्कालीनत्वमुक्तम् । किञ्च, “पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम्” (१८।३५) इति पूर्वं सम्भारार्जनप्रकरणोक्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यां तापस्त्ववसरैरान्तरे(न?न) प्रतिपादितश्च ।

ननु सम्भारार्जनप्रकरणे चक्रशङ्खौ नहि तापार्थं प्रतिपादितौ, अपि तु—

- 
- १. निवेद—मू० अटी० । २. संस्तुत्य—वक० । ३. पूर्व—अ० । ४. गृह्ण—मू० अटी०,  
ग्राह्यान्तरा—उ० । ५. परादिकम्—अ० । ६. अप—मू०, आप—अटी० । ७. भेद—अटी० ।  
८. मिच्छा—अ० उ० । ९. गण—वक० बख० । १०. ज्विव—मू० अटी० । ११. पठन्ते—अ० ।  
१२. संस्कारा—म० । १३. मन्त्रवत्वेन—अ० । १४. सरान्तेन—म० ।

सर्वेषां सविशेषं वा यथा चानुकमेण तु ।  
द्विषट्कमूर्त्यङ्गितं च स्वाम्यन्तं ब्राह्मणेषु च ॥ ४३ ॥

मुद्रावसानं कृत्वैव सम्यक् तदनु चाहरेत् ॥  
पाणिभ्यां शङ्खचक्रे द्वे स्वमन्त्रेणाभिमन्त्रिते ।  
भूत्वा तदात्मना पश्चात् ते निधाय धरातले ॥  
अवलोक्याखिलं तत्स्थं प्रवर्तेताथ कर्मणि । (१८५९-६१)

इत्येतावन्मात्रोपयोगार्थं प्रतिपादिताविति चेत्, कस्तावता भवतो विरोधः, प्रसिद्धे तौपेत्युपयुज्येतां नाम । न च वेदविश्वद्वत्वमेव मम विरोध इति वाच्यम्, तस्य वेदोक्तत्वे परश्शतप्रमाणानि सँचरित्ररक्षायां तस्मुद्राविद्रावणविद्राविण्यां सिद्धान्तचन्द्रिकायां च प्रतिपादितानि । सावधानं पश्यतु भवान् । अत एव वेदमूलेऽस्मिन्नपि तन्त्रे द्वादशपरिच्छेदे—

नास्त्रैर्वस्त्रैर्धवैर्येषां व्यक्तिर्वक्ता जगत्त्रये ॥  
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्गिगोचरे ।  
ललाटे चांसपटे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥  
तनूरुहृचये मूर्धन कर्मिणां प्रतिपत्तये ।  
अपि संसारिणो जन्तोः स्वभावाद् वैष्णवस्य च ॥  
न जहात्याच्युतं लिङ्गं किं पुनर्विभवाकृतेः । (१२१६८-१७१)

इति वैष्णवभगवत्तलाङ्ग्लनधारणं सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । किञ्च, एतद्वचनस्य सहजलाङ्ग्लनपरत्वभ्रमोऽपि सच्चरित्ररक्षायामेव (पृ० ४३) निवारितः ।

नन्वस्तु नाम सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणं प्रमाणसिद्धम्, तदिदानीमेव दीक्षाप्रकरणे कार्यमिति कोऽयं नियमः । तथा नियमे नामकरणवत् तदपि भगवतैव कण्ठरवेणोक्तं भवेत् । जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रपाद्मादिष्वपि नहि तदीक्षाङ्गत्वेन प्रतिपादितमिति चेत्, सत्यम् । दीक्षाङ्गमिति केनोक्तम् । पूर्वमप्राप्तशङ्खचक्रलाङ्ग्लनानामेव, “पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम्” (१८३५) इति सम्भारप्रकरणे प्रतिपादितम् । उत्तरत्राचार्याभिषेकानन्तरं शिंषायाचार्यालाङ्ग्लनप्रदानसमयेऽपि—“सुक्सुवौ योगपटृं च शङ्खचक्रे कमण्डलम्” (२०।१६) इति वक्ष्यति । किन्तु चक्राङ्ग (ङ्ग?ङ्ग)नादीनां दीक्षायाः पूर्वमेव मूर्खयकालत्वाद् गौणकाले दीक्षामध्ये तत्र प्रतिपादितम् । ईश्वरतन्त्रे तु गौणकाल एव प्रतिपादितम् । नहि तत्र दीक्षाकाले प्रतिपादितत्वमात्रेण तत्तदानीमेवानुष्ठेयैमिति

१. या-मू० । २. तावप्य-अ० । ३. सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणविधिनामके प्रथमाधिकारे ।
४. शिष्याचार्य-म० । ५. मुक्त-म० । ६. ईश्वरसंहितायां (२१२८३) इत्यादितो विस्तरेणायं विषयः प्रतिपादितः । ७. ज्येय-म० ।

देवान्तं भत्रियाणां च कुर्याद् द्वादशधा पूनः ।  
पाण्यन्तं धोरनिष्ठं वा लाञ्छनास्त्रपुरस्सरम् ॥ ४४ ॥

नियमोऽस्ति, शङ्खचक्रधारणस्य जातकर्मनामकरणादिकालेषुपनयनात् पूर्वमुपनयनान्तरं विवाहाद्यनन्तरं वा कर्तव्यत्वेन बहुविधसमयानां तत्र तत्र प्रतिपादितत्वात् । दीक्षाकालस्तु सर्वथा नोल्लङ्घनीयः । यतः पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

एवं तदीया विप्राश्च क्षत्रिया वैश्यजातयः ॥  
मौद्गल्याद्यास्तथान्ये च न तच्चक्षविर्जिताः ।  
भवेयुः सर्वथा तस्माच्छङ्खचक्रगदाम्बुजैः ॥  
लोहैरनलसंतस्मैस्तत्तन्मन्त्राधिवासितैः ।  
पूजितैरर्ध्यगन्धाद्यैरङ्ग्नितव्याः क्षणेन तु ॥  
त्रैयन्तज्ञानसंपन्ना यथोक्ताचारनिष्ठिताः ।  
विप्राद्यास्ते च शूद्राश्च यदैवैः कृतलक्षणाः ॥  
तदा तु योग्या विज्ञेयाः समयश्वरणादिषु । (१५१९६१-९६५)

इति कृतलक्षणानामेव दीक्षायां योग्यता प्रतिपादिता । नन्वेवम्—  
सुदर्शनं धारयित्वा वहितसं द्विजोत्तमः ।  
उपनीय विधानेन पश्चात् कर्मसु योजयेत् ॥

इति कृतलक्षणस्यैव गायत्रीग्रहणादिकर्मयोग्यत्वं प्रतिपाद्यते,  
भुजे चक्रं द्विजातोनां शिरश्चक्रं तु दैवतम् ।  
अचक्रद्विजदेवानां पूजा दानं च निष्कलम् ॥

इत्युक्त्याऽकृतलक्षणस्य कन्यादानाद्यहृत्वमपि नास्ति, अतश्चक्रादिलाङ्ग्नेऽपि उपनयनविवाहकालावप्यनुलङ्घनीयाविति चेत्, कैस्येष्टं तदुलङ्घनम् । अनुपपत्तिवशात् स्मार्तसंस्कारोल्लङ्घनेऽपि दीक्षास्थ्यवैष्णवसम्प्रदायकालः सर्वथाऽनुलङ्घनीय इति निर्णयः । यतः पाद्ये—“चक्रेणैवाङ्ग्नितो विद्वान् वासुदेवं समाश्रयेत्” इति प्रतिपाद्यते । अत एवेश्वरे दीक्षाकालस्याप्युलङ्घनभिया तत्प्रकरण एव चक्राङ्ग्नादिकमुक्तम् । तत्पूर्वमेव कृतचक्राङ्ग्नानां तु दीक्षाकाले तन्न प्रकृतम् । आचारे सति पुनर्दीक्षाकाले तत्प्रकरणेऽपि न प्रत्यवायः,

चक्रादि धारयेद् विप्रो ललाटे मस्तके भुजे ।  
पातकादिविशुद्ध्यर्थं भवक्लेशविनाशनम् ॥

१. धर्म-वक्र० वख० अ० उ० । २. पत्तैः सूत्र-अ० म० । ३. त्रैविद्या-म० ।  
४. यदैवै-म० । ५. कस्येदं-अ० ।

ध्वजलाङ्घनसंज्ञं च यथावस्थं नृपेषु च ।  
एवं वर्धननिष्ठं च मूर्तिलाङ्घनपूर्वकम् ॥ ४६ ॥

इत्यादित्यपुराणादिषु शुद्ध्यापादकत्वेन च प्रतिपादनात्, पूर्वं कृतलाङ्घनस्य देहोपचया-  
दिना मलिनत्वे पुनः स्फुटत्वसिद्धेश्च । ननु—

विष्णवागमादित्तन्त्रेषु दीक्षितानां विधीयते ।  
शङ्खचक्रगदापूर्वरङ्ग्नं नान्यदेहिनाम् ॥

इत्यादिवचनैर्दीक्षानन्तरमपि चक्राङ्गुनमवगम्यत इति चेन्न, दीक्षितानामित्यस्य दीक्षाहं-  
परत्वात् । सिद्धान्तचन्द्रिकायां तु दीक्षितानामित्यस्य मुमुक्षुपरत्वमुक्तम् । तदसंगतम्,  
तन्त्रदीक्षाप्रवेशभिया तादृशार्थाङ्गीकरणात् । निर्निमित्तेयं भीतिः । यतो महाभारते  
शान्तिपर्वणि—

अवश्यं वैष्णवो दीक्षां प्रविशेत् सर्वयत्नतः ।  
दीक्षिताय विशेषेण प्रसीदेन्नान्यथा हरिः ॥  
वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।  
शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ॥  
स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः ।

इति ब्राह्मणादीनां सर्वेषामप्यविशेषेण तन्त्रदीक्षाप्रवेशो<sup>१</sup> विधीयते । एतद्वचनानामधि-  
कारिविशेषत्वे कथिते विनिगमनाविरहेण—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।  
अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्ययुक्तैः स्वकर्मसु ॥  
(द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।)  
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः ॥ (६६।३९-४०)

इति महाभारतभीष्मपर्ववचनानामप्यधिकारिविशेषपरत्वमेव संभवति । संभवतु नाम,  
तावताऽस्माकं का हानिरिति चेत्, आचार्योऽक्षिविस्तुं वचो भा वोचः । पञ्चरात्ररक्षायां  
ह्येतद्वीष्मपर्ववचनान्युदाहृत्य—“एवमविशेषेण सर्वेषां ब्राह्मणादीनां श्रीमत्यञ्चरात्रोक्त-  
मार्गेण भगवदर्चनादिकं कर्तव्यम्” (पृ० २१) इत्यभिहितत्वात् । “सर्वसूत्रनिष्ठानामपि  
भगवच्छास्त्रोक्तप्रक्रियया समाराधनादिकं प्रशस्ततमम् । तथा च शिष्टैरनुष्ठीयते”  
(पृ० २१) इति सिद्धान्तितम् । तत्रैव द्वितीयाधिकारेऽपि (पृ० ५६) श्रीमद्भाष्यकार-  
प्रभृतिभिः श्रीपौञ्चरात्रे यत्किञ्चित् सिद्धान्तस्थां काञ्चित् संहितां प्रधानीकृत्य  
नित्याराधनं संगृहीतमित्यपि प्रतिपादितम् । अतस्त्वेकत्र निर्णीतोऽर्थः सर्वत्रेति न्यायेन  
दीक्षाप्रवेशविधायकशान्तिपर्ववचनानामप्यविशेषेण सर्वजनविषयत्वं बोद्धयम् । एतादृशे

१. शोऽभिधीयते—म० । २. पञ्च—म० ।

विहितं चापि वैश्यानां दामानं शूद्रजन्मनाम् ।  
अथोत्थाय नमस्कृत्य मण्डलं कलशं गुरुम् ॥ ४६ ॥

पञ्चमवेदवचने जागरुके सति भवतां तत्र दीक्षाप्रवेशे का भीति: । तन्त्रदीक्षामन्तरा तदुक्तभगवदर्चनादौ भवतामधिकारः कथं सिद्ध्यति ?

अन्येषां ब्राह्मणादीनां वर्णानां दीक्षया क्रमात् ।  
अधिकारोऽनुलोमानामपि नान्यस्य कस्यचित् ॥  
पूजाविधौ भगवत्स्तेऽनुकृत्याधिकारिणः ।

इति पाद्मादिपु दीक्षितानामेव हि भगवदर्चनाधिकारः श्रूयते । किञ्च, अत्रापि द्वितीये परिच्छेदे—“ततुर्णामधिकारो वै वृत्ते दीक्षाक्रमे सति” (२।१२) इति प्रतिपादितम् । इदं परार्थ्यवजनैविषयमिति मावोचः, चतुर्णानामविशेषेणाधिकारवर्णनात् । यद्यपि भवद्विरपि सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्—“वैखानसाद्यागमोक्तदीक्षां प्राप्तो हि वैष्णवः” इत्यत्र,

तन्त्रदीक्षां विना यस्तु शङ्खचक्रादिलाङ्घनम् ।  
विभर्ति स तु पाषण्डो विज्ञेयस्त्वदर्शभिः ॥

इत्यत्र चें तन्त्रदीक्षाऽङ्गीकृतैव, तथापि यावदर्थानुष्ठानभिया दीक्षाशब्दस्य देवतान्तर-परित्यागरूपनियमपरिग्रहमात्रपरत्वमुक्तम् । महाभारतादिवचनपर्यालोचनया दीक्षाप्रवेशे मा भीतिं भजन्तु भवन्तः । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः । एवां चक्राङ्घनादिसंस्काराणां दीक्षाकालेऽनुष्ठानक्रम ईश्वरसंहितायां सम्यक् प्रतिपादितः । पृथक्कालेऽनुष्ठानेऽपि स एव क्रमोऽनुसरणीयः । तदानीमग्निस्तु—

विष्णोरायतनाग्नौ वा गुरोरात्मन एव वा ।  
हुते होमादिभिस्तसैः सुरूपैर्चितैः क्रमात् ॥  
दासभूतं यदात्मानं बुद्ध्येत परमात्मनः ।  
तदैव गात्रं कुर्वीत शङ्खचक्रादिलाङ्घितम् ॥ (३।६२-६३)

इति भारद्वाजसंहितोक्तो ग्राह्यः । तत्र विष्णवायतनाग्निवैष्णव एव । गुरोरात्मनो वाऽग्निश्चेत्, स्वगृह्योक्तप्रतिष्ठापूर्वकमीश्वरतन्त्रोपैङ्गवृंहितवैष्णवीकरणप्रक्रियया संस्कार्यः । ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणमपि चक्राङ्घनानन्तरमेव कार्यम् । नाममन्त्रयागाख्यसंस्कार-त्रयं तु दीक्षाकाल एवानुष्ठेयम्, तस्य दीक्षाङ्घत्वेनैव प्रतिपादितत्वात् ।

ननु तैर्हि पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठानं न संभवतीति चेत्, किं तावता

१. ‘यजन’ नास्ति-अ० । २. ‘च’ नास्ति-अ० । ३. ईश्वरसंहितायां २१ तमेऽध्याये २८३-३२५ श्लोकेषु विषयोऽप्यं द्रष्टव्यः । ४. अर्नेगर्भाधानादयः संस्कारा ईश्वरे (५।१४७-१५८), पारमेश्वरे (७।१०६-११७) च द्रष्टव्याः । ५. ‘तैर्हि’ नास्ति-अ० ।

यायात् कुण्डसमीपे तु शिशुंना सह देशिकः ।  
 कृतस्य कर्मणोऽच्छिद्रसिद्धये च हुते सति ॥ ४७ ॥  
 सन्ताड्यास्त्रात्मको भूत्वा प्राण्वत् तद्गृहदयं विशेत् ।  
 प्राणशक्तिवियुक्तं च कृत्वानीय समासतः ॥ ४८ ॥  
 संप्रवेश्य खकं स्थानं तत्राग्निकणवच्च तम् ।  
 नीत्वा सम्यक् पृथग्भावं विरेच्य सह वायुजा ॥ ४९ ॥  
 स्वभूमौ वाममार्गेण हृदाद्यन्तं निरोधितम् ।  
 जन्मग्रहमनेनैव मन्त्रयुक्तेन कर्मणा ॥ ५० ॥  
 भावध्यानानुविद्धेन पितृमातृमयं त्यजेत् ।  
 ततः कवचमन्त्रेण दद्यात् सप्ताभिमन्त्रितम् ॥ ५१ ॥

प्रत्यवायः । जातस्य कुमारस्य द्वादशोऽहनि नामकरणप्रकरणे शाह्वचक्राङ्कनं शास्त्रे-  
 षूच्यते । तथैव शिष्टैरनुष्ठीयते,

द्वादशोऽहनि पुत्रस्य केशवो बन्धुभिः सह ।  
 तेन श्रीशैलैपूर्णेन गुरुणाऽमिततेजसा ॥  
 शाह्वचक्राङ्कनं पूर्वं कारयित्वाऽथ लीलया ।  
 लोके रामानुज इति नाम चक्रे सुमङ्गलम् ॥ (२।३८-३९)

इति प्रपन्नामृतादिषु श्रीभाष्यकारादिशिष्टाचारोऽप्युद्घुब्यते च । अतो न पञ्च-  
 संस्काराणां यौगपद्योनानुष्ठाननियमोऽस्ति ।

ननु तदानीं तेषां यौगपद्योनानुष्ठानासंभवेऽपि पुनरुपनयनानन्तरं विवाहानन्तरं  
 वा पञ्चसंस्काराणां यौगपद्योनानुष्ठानं संभवति, तथैव भाष्यकारादिशिष्टाचारश्च  
 प्रतिपादित इति चेत्, सत्यम् । अत एव हि दीक्षाकाले तेषां पुनःकरणहेतुः पूर्वमस्माभि-  
 रपि प्रतिपादितः ॥ ३९-४६ ॥

ततो मण्डलसमीपादुत्थाय गुरुदेवनमस्कारं कृतवता शिष्येण सह कुण्डसमीपं  
 गतवा प्रायश्चित्तहोमानन्तरमस्त्राभिमन्त्रितसिद्धार्थादिभिः शिष्यसन्ताडनं दहना-  
 प्यायनाख्यधारणाद्येन तद्गूतशोधनं च कुर्यादित्याह—अथोत्थायेति पञ्चभिः  
 श्लोकैः ॥ ४६-५१ ॥

तस्योपवीतमपरमुदितं चापि यस्य यत् ।  
 सर्वदा दासभावत्वमापन्नस्य च तच्चतः ॥ ५२ ॥  
 अमैश्वपाऽन्वयोत्थस्य लोकधर्मोऽज्ञितस्य च ।  
 आप्तवद् ब्रह्मनिष्ठस्य कर्मतन्त्ररतस्य च ॥ ५३ ॥  
 गोदानं शूद्रजातेषै विहितं चैव नान्यथा ।  
 वौषट्स्वाहावषट्कारनिष्ठानां तु प्रतिक्रिया ॥ ५४ ॥  
 नमस्कारेण मन्त्राणां कार्ये प्राप्ते ह्यनुग्रहे ।  
 तदीयमर्घ्यपुष्पाद्यां यत्किञ्चिद् यागसाधनम् ॥ ५५ ॥  
 सुसंकृतमसिद्धं वा भक्त्या कर्मण्यतां व्रजेत् ।  
 अतोऽन्येषां तु भक्तानां विहिता यागसाधने ॥ ५६ ॥

उपवीतधारणाहैस्य त्रैर्वणिकस्य शिष्यस्य नूतनोपवीतधारणमाह—तत  
इति ॥ ५१-५२ ॥

योग्यस्य शूद्रस्य तु गोदानं विहितमित्याह—सर्वदेति द्वाभ्याम् ॥ ५२-५४ ॥  
 शूद्रस्य वर्षट्काराद्यनहृत्वान्मन्त्रशारीरे तत्प्रतिनिधित्वेन नमस्कारो योज्य  
इत्याह—वौषडिति । पाचे तु—

द्वादशाक्षरमादौ तु पश्चादष्टाक्षरात्मकम् ।  
 मूर्तिमन्त्राश्च तदनु समध्याप्य यथाविधि ॥  
 केवलं वैष्णवं नाम नमःप्रणववर्जितम् ।  
 हुंफडादिवषट्स्वाहावर्जितं केशावादिकम् ॥  
 अध्याप्य स्त्रीषु शूद्रेषु तद्वदेवानुलोमजे ।  
 सावित्रीं येऽनुतिष्ठन्ति तेषां विप्रवदिष्यते ॥

इति शूद्रादीनां प्रणवनमस्कारावपि निषिद्धो । अन्यत्र—  
 न स्वरः प्रणवोऽज्ञानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः ।  
 स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ॥

इति प्रणवमात्रं निषिद्धम् । अतः सहिताभेदेन व्यवस्था ज्ञेया । पुष्पाऽजल्यादिसमर्पणार्थं  
 शूद्राहृतं पुष्पादिकमपि तद्भूक्तिवशेन कर्मार्हं भवतीत्याह—तदीयमिति ॥ ५४-५६ ॥

१. तत्-बक० बख० । २. सर्वथा—बक० बख० अ० उ० । ३. अमध्यमा—अटी० ।  
 ४. वौषट्—म० ।

सम्यक् संचनिवृत्तिः प्राग् दर्शनं प्रोक्षणान्वितम् ।  
 मूर्तौ वा मण्डलाग्रे तु पुष्पक्षेपं महामते ॥ ५७ ॥  
 नक्तं वा परिपीड़े च व्रतार्थं त्वेक्षमेव हि ।  
 एवं संस्कारसंशुद्धं कृत्वा वर्णगणं पुरा ॥ ५८ ॥  
 साङ्गेन विभुना कुर्यात् तत्प्रायश्चित्ततर्पणम् ।  
 सदशांशं सहस्रं तु यथा चानुक्रमेण तु ॥ ५९ ॥  
 गत्वाऽभ्यर्च्य च कुम्भेशं सूत्रमादाय तत्स्थितम् ।  
 ऋजुभूतं शिशुं कृत्वा तद्वत् सूत्रं प्रसार्य च ॥ ६० ॥  
 व्यक्तरूपं च मन्त्रेशं संस्मरेदग्निमध्यगम् ।  
 पश्येद् विभौ शिशौ सूत्रे स्वात्मन्यध्वानमञ्जसा ॥ ६१ ॥

एवं त्रैवर्णिकानामपि यागसाधनद्रव्येषु स्वीयत्वाभिमाननिवृत्तिर्विहितेत्याह—  
 अतोऽन्येषामिति त्रिभिः पादैः ॥ ५६-५७ ॥

शिशैः पुष्पाञ्जलिसमर्पणं बिम्बाग्रे मण्डलाग्रे वा कार्यमित्याह—दर्शनैति  
 त्रिभिः पादैः । दर्शनं नेत्रमन्त्रेणावलोकनमित्यर्थः । अनेन दीक्षाकाले मण्डलबिम्बयोरन्य-  
 तरार्चनं सूच्यते ॥ ५७ ॥

दीक्षाव्रतार्थं शुद्धोपोषणं नक्तमोजनं वा विहितमित्याह—नक्तमित्यर्थेन ॥

एवं ब्राह्मणादीनां संस्कारानन्तरं वर्णानुक्रमेण साङ्गमूलमन्त्रैः सदशांशसहस्र-  
 संख्या प्रायश्चित्तहोमं कुम्भस्थितभगवदभ्यर्थनपूर्वकं तत्समीपस्थापितमायासूत्रप्रहणम्  
 ऋजुभूतस्य शिष्यस्या पादाच्छिखान्तं तत्सूत्रप्रसारणं चाह—एवमिति सार्वद्वाभ्याम्  
 ॥ ५८-६० ॥

अग्निमध्ये व्यक्तरूपं भगवन्तं संस्मृत्य तस्मिन् भगवति शिशौ सूत्रे स्वात्मनि  
 चाध्वानं स्मरेदित्याह—व्यक्तेति ॥ ६१ ॥

१. सत्त्वनिवृत्यर्थ—अटी० । २. दर्शनं—मु० अटी० बक० बख० । ३. मूर्ते—अ० ।  
 ४. पिण्ड—बक० बख० उ० । ५. भूता—बक० बख० । ६. चैव—बक० बख० उ० । ७. प्रायश्चित्तं  
 च—बक० उ० । ८. शांश—मु० अटी० । ९. प्रचार्य—मु० अटी० । १०. शिशू—मु० अटी०  
 बक० बख० अ० ।

तत्राध्यात्मस्वरूपं च संस्मरेनमन्त्रदेहगम् ।  
 अधिदैवस्वभावं च तत्स्वात्मन्यवतार्य च ॥ ६२ ॥  
 अधिभूतमयं सूत्रे त्रिविधं शिष्यविग्रहे ।  
 मूलमन्त्रावसाने तु सनमस्कं परात्मने ॥ ६३ ॥  
 पदं कृत्वा तु जुहुयादाहुतीनां चतुष्टयम् ।  
 तथा सूक्ष्मात्मने चोक्त्वा ततः स्थूलात्मने तु वै ॥ ६४ ॥  
 सर्वात्मने च तदनु ततोऽध्वनिचयं हितम् ।  
 आ पादाग्राच्छिखान्तं च सर्वं ध्यात्वा स्वदेहगम् ॥ ६५ ॥  
 यथोद्दिष्टक्लेणैव विभिन्नं त्रिविधं त्वपि ।  
 रचनासन्निवेशो यः क्षमादीनां चाधिभूतता ॥ ६६ ॥  
 वोद्वव्यमधिदैवत्वं सामर्थ्यं यस्य यत् स्वकम् ।  
 तदविष्ठातुमन्त्राणामध्यात्मत्वं विधीयते ॥ ६७ ॥  
 अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वा द्वादशान्तं समाश्रयेत् ।  
 मूलमन्त्रमयो भूत्वा संत्रजेत् स्वधिया ततः ॥ ६८ ॥  
 ब्रह्मद्वारपदं शैल्यं ततस्तन्मध्यवर्तमना ।  
 पार्थिवं पदमाक्रम्य कुर्यात् तच्छक्तिमात्मसात् ॥ ६९ ॥  
 बीजभूतां च हन्मन्त्रसंरुद्धां सँन्धिविग्रहाम् ।  
 नानाण्डबीजसंयुक्ताम् अनेकरचनान्विताम् ॥ ७० ॥

अध्वस्मरणक्रममाह—तत्रेति सार्वेन । त्रिविधम् अध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदभिन्नस्वरूपमित्यर्थः ॥ ६२-६३ ॥

तेषां सन्तर्पणमन्त्रानाहुतिसंख्यां ततस्तेषां स्वशरीरे आ पादाच्छिखान्तं यथाक्रमं व्याप्तिस्मरणं चाह—मूलमन्त्रेति त्रिभिः ॥ ६३-६६ ॥

अधिभूताधिदैवाध्यात्मपदार्थविवरणमाह—रचनेति सार्वेन । तदविष्ठातुमन्त्राणां पूर्वोक्तवराहादिमन्त्रणामित्यर्थः ॥ ६६-६७ ॥

अथाचार्यस्य शिष्यब्रह्मरन्धद्वारा॑ तदन्तःप्रवेशं तत्र पृथिव्यादितत्त्वशक्तीनां संहारप्रकारं ततः सूत्रमयदेहान्तःप्रवेशं तत्र ध्याताऽर्थिभूताध्यात्मादीनां च ग्रहणं

१. पदा—मु० अटी० वक० । २. षट् क्र—मु० । ३. शैष्ट्यं—अटी० । ४. गन्ध—अ० उ० ।  
५. द्वारं—म० । ६. ‘अधि’ नास्ति—अ० ।

एवमादाय वै सर्वा बुद्धिनिष्ठास्तु शब्दतयः ।  
 पृथक् पृथक् क्रमेणैव तस्मिन् हृन्मन्त्रसम्पुटे ॥ ७१ ॥  
 स्वेनाध्यात्मगुणेनैव परेण व्यापकात्मना ।  
 तद्देहं धारयन्तं च स्मरेत् तेऽमुभयात्मकम् ॥ ७२ ॥  
 कौलं भोगक्षयान्तं च तत्कालीत् तु महामते ।  
 कृत्वैवं भूतशब्दतीनां मंहारं शिशुविग्रहात् ॥ ७३ ॥  
 सौत्रं देहमथाक्रम्य सम्यक् तेनैव वर्त्मना ।  
 प्रोल्लसंस्तद् व्रजेत्तत्र व्यञ्जयेत् तु धियादिंवत् ॥ ७४ ॥  
 आदायाध्यात्ममन्त्रांश्च भूतभूतान्वितानथ ।  
 नित्यैर्जलक्षणैः शुद्धैः समन्त्रैः स्वस्थितानपि ॥ ७५ ॥  
 अथ सूत्राद् विनिष्क्रम्य प्रयायादनलाश्रयम् ।  
 तत्रावयवसन्धानान्मन्त्रसाम्यैः समाचरेत् ॥ ७६ ॥  
 समाहृतानां मन्त्राणां परे सर्वज्ञलक्षणे ।  
 व्यापके सर्वसामान्ये कृत्वा स्वे स्वे पदे स्थितिम् ॥ ७७ ॥  
 स्वशरीरमथासाद्य ब्रह्मद्वारेण देशिकः ।  
 सुवमादाय सन्तप्य मन्त्रवृन्दं यथोदितम् ॥ ७८ ॥  
 तत्त्ववृन्दसमेतं च स्वनाम्ना प्रणवादिना ।  
 भूयः संसृष्टियोगेन द्विषट्कपरिसंख्यया ॥ ७९ ॥

ततोऽग्निस्थितं भगवन्तं प्राप्य तत्र समाहृतानां मन्त्राणां स्थापनं पुनः स्वशरीरान्तः-प्रवेशनं चाह—अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वेत्यादिभिः । मार्गद्वयं भुवनपदाध्वनोद्द्यमित्यर्थः, तयोरशुद्धत्वात् । मन्त्राध्वानं प्रविष्टस्य हि मूलमन्त्रमयत्वं सिद्ध्यति ॥ ६८-७८ ॥

पृथिव्यादितत्त्वानां तदधीशमन्त्राणां च संहारक्रमेण संतर्पणमाह—सुवमिति । ३० द्वामां नमः क्षमातत्त्वाय स्वाहा द्व्यमातत्त्वायेदं न मम । ३० वराहाय स्वाहा वराहायेदं न मम । अप्ततत्त्वाय स्वाहा अप्ततत्त्वायेदं न मम । ३० सरशशायिने स्वाहा शरशशायिन इदं न मम । इत्यादिक्रमेण प्रयोगो बोध्यः । अत्र द्विषट्कपरिसंख्येत्यनेन पूर्वं संहार-क्रमेऽप्याहृतीनां द्वादशसंख्याकल्पं ज्ञायते ॥ ७८-७९ ॥

१. गणे-उ० । २. ध्यात्वा च-उ० । ३. न्तश्च-मु० । ४. तदु-वक० वख० ।  
 ५. काल-उ० । ६. लाच्च-उ० । ७. तु यत्-वक० वख० उ०, दि तत्-अ० ।  
 ८. नित्यज्ञ-वख०, नित्यैः स्व-अ०, नित्यैर्ज्ञ-उ० । ९. मन्त्रैस्तत्-वक०, मन्त्रैस्तत्-वख० अ० उ० । १०. सात्म्यं समुच्च-उ० । ११. समाश्रिता-उ० । १२. संसृष्ट-उ० ।

पूरकेण समाकृष्य शिष्यहृत्कमलाद् हृदि ।  
 अथ न्यक्तिनिरस्तं च क्षमाबीजं परलक्षणम् ॥ ८० ॥  
 ज्ञेशक्त्या ज्ञानसंरुद्धं कृत्वादायानलाद् हृदि ।  
 प्रणवासनविश्रान्तं<sup>१</sup> विरेच्यावजे तु शैशवे ॥ ८१ ॥  
 स्मृत्वाऽथ शिष्यचैतन्यमेकमेव<sup>२</sup> द्विरूपधृक् ।  
 शक्तिमच्छक्तिभावेन शक्तित्वेन तु संस्मरेत् ॥ ८२ ॥  
 क्षमातत्त्वान्तर्गतं कुण्डे शक्तिमच्चेन तत्पुनः ।  
 रेचयित्वा स्वनाम्ना च विग्रहे मध्यवर्त्मना ॥ ८३ ॥  
 नियोज्य तत्समाधौतं जपध्यानैकलक्षणे ।  
 तदेव पाथिवं बीजं हृदा वै होमकर्मणा ॥ ८४ ॥  
 सम्यक् तस्योपकारार्थं नेतव्यं सूक्ष्मदेहताम् ।  
 स्वाहान्तं भोगसिद्ध्यर्थं नमोऽन्तं मोक्षसिद्ध्ये ॥ ८५ ॥  
 भोगमोक्षाप्तये चापि तदेवोभयलक्षणम् ।  
 कर्मणामवसाने तु सम्पादयपदं न्यसेत् ॥ ८६ ॥  
 एवं तु विग्रहे सूक्ष्मे तदहृत्पद्मगतस्य च ।  
 शिरसा चाधिकारांत् तु तस्यापाद्य यथास्थितम् ॥ ८७ ॥  
 शिंखामन्त्रेण तद्वोगं निर्वर्त्य<sup>३</sup> शतसंख्यया ।  
 वर्मणा तत्फलप्राप्तिं तल्लयत्वमपि स्मरेत् ॥ ८८ ॥  
 सुतृप्तिमथ नेत्रेण कुर्यात् तेनैव<sup>४</sup> संस्थितिम् ।  
 तत्यागश्चास्त्रमन्त्रेण विश्लेषेण युतो भवेत् ॥ ८९ ॥

शिष्यचैतन्यस्य स्वहृदि संकर्षणम् अग्निस्थस्य व्यक्तिनिरस्तस्य क्षमाबीजस्य  
 चाकर्षणं तस्य शिष्यहृत्कमले स्थापनं शिष्यचैतन्यस्याग्नौ क्षमातत्त्वान्तःशक्तित्वेन  
 स्मरणं शक्तिमत्वेन पुनस्तस्य तद्विग्रहरेचनं क्षमाबीजजपध्यानरूपे समये नियोजनम्  
 ॐ ज्ञानाय हृदयाय नम इत्यस्य सूक्ष्मदेहतां सम्पादय स्वाहेति वा, सम्पादय नम इति  
 वा, सम्पादय नमः स्वाहेति वा मन्त्रेण होमैः सूक्ष्मदेहतानयनं तथैव तदधिकारादि-

१. शिष्यं—मू० अटी० बक० बब० । २. भू—बक० बब०, स्व—अ० । ३. विश्रान्ति—अ० ।  
 ४. मेव—उ० । ५. तद्वि—अ० उ० । ६. कारं तु—अ०उ० । ७. जिरो—अ० ।  
 ८. निकर्त्य—अ० । ९. तत्स्थितम्—बब०, तत्स्थितिम्—उ० ।

मूलेनाथ गृहीत्वा तत् कुर्याच्चैवात्मसात् पुनः ।  
 तद्वच्छक्ति तदीयां च कुण्डाद् व्यापकलक्षणाम् ॥ ९० ॥  
 क्षमातत्त्वस्याथ साध्यस्य ह्यैसाधारस्य शान्तये ।  
 पूर्वसंख्यं तु चास्त्रेण कृत्वा होमं महामते ॥ ९१ ॥  
 सुवमाज्येन सम्पूर्य स्कन्धसूत्रात् तु पार्थिवम् ।  
 विकर्त्य पूर्णया सार्धं विलाप्याग्नौ स्वके पदे ॥ ९२ ॥  
 मूलमन्त्रेण सहसा हृत्पद्मप्रेरितेन तु ।  
 स्वदेहाद् रेचकेनाथ प्रेर्य शक्ति च शैशवीम् ॥ ९३ ॥  
 तयाक्रान्तं मध्यः स्थं च संस्मरेद् व्यतिरिक्तया ।  
 कुबिन्दुनेवाब्जपत्रमाद्याध्वानं च भौवनम् ॥ ९४ ॥  
 शिष्यदेहे निरुद्धस्य व्यक्तिक्रोडीकृतस्य च ।  
 स्वशक्तिपरिपूर्णस्य क्षमाबीजस्य त्वथोपरि ॥ ९५ ॥  
 विरेच्य शक्तिमन्तं च व्यस्तधर्मेण पूर्ववत् ।  
 तत्क्षणे बीजसंस्थं तु अध्वानं तु यथास्थितम् ॥ ९६ ॥  
 प्रकाशयन्ति कृपया तन्नाथास्तस्य सिद्धये ।  
 विरक्तं भावयेच्छिष्यं चिन्तैर्यन्तमिदं घिया ॥ ९७ ॥  
 इदं तत्पार्थिवं तत्त्वं <sup>१२</sup>मुधा वै दुःखपञ्जरम् ।  
 भावतत्त्वं <sup>१३</sup>गतं चास्य <sup>१४</sup>सुमहत्वं च साम्प्रतम् ॥ ९८ ॥

होमं तद्विश्लेषणार्थं <sup>१५</sup>होमं ततः शक्तिमतः शक्त्यात्त्वं पुनरात्मसात्करणं क्षमातत्त्वस्य  
 शान्त्यर्थं होमं सकर्मसुत्रपार्थिवांशाखण्डेन सह पूर्णहृति पुनः शिष्यदेहे तच्छक्तिभुवना-  
 ध्वनोजलबिन्दुपद्मपत्रयोरिव संबन्धं तथैव शक्तिवत् क्षमाबीजयोरपि संबन्धं चाह—  
 पूरकेण समाकृष्टेत्यारभ्य व्यस्तधर्मेण पूर्ववदित्यन्तम् ॥ ८०-९६ ॥

तदानीं भुवनाध्वाद्यधीशास्तद्बीजस्थितमध्वानं यथास्थितं कृपया शिष्याय  
 प्रकाशयन्तीत्याह—तत्क्षण इति ॥ ९६-९७ ॥

१. थवाद्वचस्य—मु० अटी० । २. ह्याना—मु० अटी० । ३. शास्त्रेण—अ० उ० ।
४. विलप्यम्—मु०, विलप्या—अटी० । ५. शैशवम्—मु० अटी० । ६. तयाक्रान्तं मयस्थं—मु० अटी० ।
७. कुबिन्दुनो—बक० बख० । ८. यन्तं—मु० अटी० बक० बख० । ९. तन्नाथं—मु० अटी० बक० बख० ।
१०. येत्तदिदं—मु० अटी० । ११. बुधा—मु० बक० बख०, बुध्वा—अटी० ।
१२. तत्त्वं—मु० अटी० बक० बख० । १३. चापि—उ० । १४. समुद्धृत्य तु—उ० ।
१५. श्लेषार्थ—अ० ।

कथमत्र त्वं हं चासं यस्य मे नैतता इमाः ।  
 विमुक्तः पञ्जराद् यद्गत् सुखमास्ते विहङ्गमः ॥ ९९ ॥  
 ऊर्ध्वपाती तदारूढस्त्वेवं मन्त्रवलाच्छिशुः ।  
 समूहमथ विज्ञाप्य तत्प्रभुत्वेन यः स्थितः ॥ १०० ॥  
 सनिनरुद्धो भैवत्वस्य सर्वतः सर्वदैव हि ।  
 युष्मत्प्रसादसामर्थ्याद् यथावत् पौर्णिंशु गुणः ॥ १०१ ॥  
 देहान्तं गन्धतन्मात्रं भवेदासीनमस्य वै ।  
 सम्यक् संप्रतिपन्नस्य शासने पौरमेश्वरे ॥ १०२ ॥  
 हे धराधिपते नाथ अस्याद्य ग्रभृति त्वया ।  
 ध्वंसिनां मोक्षविघ्नानां भवितव्यं च कर्मिणः ॥ १०३ ॥  
 इति विज्ञाप्य चाज्ञाप्य आपाद्याहुतयः क्रमात् ।  
 सह शक्त्या समाकृष्य भूयात् तत्पूरकेण तु ॥ १०४ ॥  
 तद्देहे चाम्मयं बीजं साधारं पूर्ववद् न्यसेत् ।

---

प्रकौशनेन विरक्तस्य शिष्यस्य चिन्तनप्रकारमाह—विरक्तमिति द्वाभ्याम् ॥१९७-१९८॥

इतः परं शिष्यस्य पञ्जरविमुक्तविहङ्गमसादृश्यमाह—विमुक्त इति । शिष्यचैत-  
 न्यस्य मन्त्रवलात् क्षमातत्त्वविमुक्तत्वेऽपि तदारूढत्वाद् विहङ्गमस्यापि पञ्जरोर्ध्वारूढत्व-  
 मुक्तम् ॥९९-१००॥

क्षमातत्त्वस्थितपातालशयनादिमन्त्रसमूहविज्ञापनं तत्प्रकारं चाह—समूहमिति  
 सार्वद्वाभ्याम् ॥१००-१०२॥

तदधीनवराहविज्ञापनप्रकारमाह—हे धराधिपते इति ॥१०३॥

इति विज्ञापनानन्तरं पुर्वोक्तक्षमातत्त्वतदधीशमन्त्रैर्होमं शिष्यदेहात् पूरकेण  
 शक्तिमच्चैतन्यस्य शक्त्या सहाकर्षणं चाह—इतीति । आज्ञाप्यत्यत्र गन्धमिति शेषः,  
 “रसमाज्ञाप्य गन्धवत्” (१९।१०९) इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥१०४॥

अथासत्त्वसंस्कारमाह—तद्देह इति पञ्चमिः । तद्देहे शिष्यदेह इत्यर्थः ।  
 अम्मयं बीजं असत्त्वं बीजमित्यर्थः । ३० अं नम इति यावत्, “नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्ण

- 
१. मेने ततामिमाम्-उ० । २. भवेत्तस्य-मु० अटी० वक्ष० बख० अ० ।  
 ३. प्रथितो-उ० । ४. परमे-उ० । ५. ध्वंसाय-बख० अ० उ० । ६. चामयमिति सार्वत्रिकः  
 पाठः । ७. तत्प्रका-म० । ८. वरात्-अ० ।

कुण्डमध्येऽनुसन्धाय जीवशक्तिं च पूर्ववत् ॥ १०५ ॥  
 विरेत्य शक्तिमांस्तत्र नियोजयस्तदनन्तरम् ।  
 तत्समाधौ यथापूर्वं कुम्भकेन महामते ॥ १०६ ॥  
 अंथाप्यं देहमापाद्य होमध्यानैदिना परम् ।  
 तत्राधिकारपूर्वं तु सर्वं निर्वर्त्य तस्य वै ॥ १०७ ॥  
 औष्ठेन सूत्रस्कन्धेन सह पूर्वान्निपात्य च ।  
 अंप्रतच्चं पदसंयुक्तं तेनाक्रान्तं स्मरेत तथा ॥ १०८ ॥  
 तत्स्थं मन्त्रसमूहं तु सह तत्पतिना तु वै ।  
 पूर्ववच्छावयित्वा च रसमाज्ञाप्य गन्धवत् ॥ १०९ ॥  
 मनोऽवसानं नीत्वैवं तं वणिध्वोर्ध्वगोचरम् ।  
 निष्ठाङ्गेन महाबुद्धे तेजसाऽस्त्रेण चेच्छ्या ॥ ११० ॥  
 समुद्धृत्याथ वै प्राप्वद् योऽक्तव्यं बुद्धिगोचरे ।  
 षट्ध्वगुक्तमूलेन प्राप्तसंज्ञं च तं शिशुम् ॥ १११ ॥

‘हमान्तानां वीजतां गतम्’ (१८।१३५) इति पूर्वोक्तेः । साधारं प्रणवासर्नविश्रान्त-मित्यर्थः । शक्तिमान् शक्तिमत्वेन ध्यातं शिष्यप्रचैतन्यमित्यर्थः । तत्र शिष्यविग्रह इत्यर्थः । तत्समाधौ पूर्वोक्तजप्त्यानैकलक्षणे समाधावित्यर्थः । आप्यं देहमापाद्य सूक्ष्मदेहं संपाद्येत्यर्थः । होमध्यानादिना हृन्मन्त्रहोमादिनेत्यर्थः । अधिकारपूर्वम् अधिकारभोगाधिकमित्यर्थः । पदसंयुक्तं पदाध्वसंयुक्तमित्यर्थः । तेनाक्रान्तं शक्तिसहितशक्तिमताक्रान्त-मित्यर्थः । तत्स्थं मन्त्रसमूहं नारायणादिसत्तमन्त्रसमूहमित्यर्थः । तत्पतिना सह सरश्चायिना सार्वमित्यर्थः । पूर्ववत् श्रावयित्वा पूर्वोक्तप्रार्थनाश्लोकान् श्रावयित्वेत्यर्थः । किन्तु तत्र यथावत् पार्थिवो गुण इत्यत्र यथावच्चाम्मयो गुण इति, गन्धतन्मात्रमित्यत्र रसतन्मात्रमिति, हे धराधिपते इत्यत्र हे जलाधिपते इति च योज्यम् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥१०५-१०९॥

एवं तेजस्तत्त्वप्रभृतिमनस्तत्त्वान्तानां मन्त्राध्वादिवणिध्वान्तसहितानां चतुर्णा क्रमेण संस्काराः कार्या इत्याह—मनोऽवसानमित्यर्थेन ॥

१. मध्ये तु—अ० उ० । २. अथान्यं—मू० अटी० । ३. दाना—वक० । ४. अन्धेन—मू० अटी० । ५. पूर्णा नि—उ० । ६. आप्ततच्च—मू० । ७. वक्तव्यं—मू० अटी० वक० वक्त० । ८. सनमवि—अ० ।

तच्चकञ्चुकनिरुक्तं शान्तात्मन्येकतां गतम् ।  
 स्मृत्वा शक्त्यात्मनाऽग्नौ तु लब्धलक्षं परे वैदे ॥ ११२ ॥  
 ऐश्वरेण तु वीजेन प्रोक्तसच्चान्वितेन च ।  
 ततः संवेदनिरुक्ते समाधौ विनियोज्य च ॥ ११३ ॥  
 न वेत्ति यत्र संलीनं सानन्दं द्वैतमात्रकम् ।  
 आहुतीनां शतं हृत्वा तदापादनकर्मणि ॥ ११४ ॥  
 नीत्वा समानतां सर्वं तेनैर्व स्वधियाऽग्निलम् ।  
 सह संवेद्यजालेन वाकप्रवन्धं यथास्थितम् ॥ ११५ ॥  
 निस्तरङ्गमयो भूत्वा दद्यात् पूर्णाहुतिं पराम् ।  
 अंथास्मितां प्राप्य गुरुः प्रदद्यादाहुतीः<sup>१०</sup> पुनः ॥ ११६ ॥  
 वीजनाथेन शिष्यस्य त्वपमोक्षनिवृत्तये ।  
 पदैरोङ्गारसंरुद्धैः पदावस्थितमानसः ॥ ११७ ॥  
 सर्वज्ञो भव चोक्त्वैव<sup>११</sup> जुहुयाद् द्वादशाहुतीः ।  
 भैवैवमेव भगवन्निरवद्यो निराश्रयः ॥ ११८ ॥

अथ नेत्रमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा शक्तिमतः शिष्यवैतन्यस्य वैद्विमयेऽध्वनियोजनं तच्छक्त्या: पूर्वदग्नौ योजनम् ऐश्वरेण वीजेन जपध्यानैकलक्षणे समाधौ नियोजनं चाह—निष्ठाङ्गेनेति चतुर्भिः । निष्ठाङ्गेन चरमाङ्गेनेत्यर्थः । इदं तेजोऽस्त्रमन्त्रयोरभ्योरपि विशेषणं बोध्यम् । यतः—

प्राधान्येन त्वथैश्वर्यं मोक्षो यत्रानुषङ्गतः ॥  
 तत्र तद्विनश्नान्तर्थमस्त्रान्तं विद्वि मन्त्रपम् ।  
 विपर्यये तु नेत्रान्तो<sup>१२</sup> मन्त्रो यस्मान्महामते ॥ (२३३-४०)  
 इति फलाभिसन्धिभेदेनोभयोरपि चरमाङ्गत्वं द्वितीयपरिच्छेदे प्रतिपादितम् ॥ ११०-११४ ॥  
 होमविधिमाह—आहुतीनामिति द्वाभ्याम् ॥ ११४-११६ ॥

१. स्मृत्या—उ० । २. लक्ष्म—उ० । ३. पदे परे—म० । ४. स्वानन्द—अ० उ० ।  
 ५. कृत्वा—म० अटी०बक०वख० । ६. तेन च—उ० । ७. संवेष्ट्य—अ० । ८. कालेन—बक० वख० ।  
 ९. अथास्थितां—म० अटी० । १०. हुर्ति—वख०उ० । ११. पदाया—उ० । १२. व—उ० ।  
 १३. भद्रैक—उ० । १४. भूशुद्वि—अ० । १५. मन्त्रान्तो—अ० । १६. यस्मिन्—अ० ।

सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः सुममूणोऽच्युतो वैशी ।  
 व्यापी निरुद्धपाद्गुण्यो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ ११९ ॥  
 नित्यो नित्योदितंज्ञानो नित्यानन्दः सुनिष्कलः ।  
 अनाद्यनन्तोऽनिधनो वासुदेवो विभूतिमान् ॥ १२० ॥  
 भूत्वैवं च ततः कुर्यात् पूर्णया पुनरेव हि ।  
 स्थैर्यं वैभवदीक्षायां मुमुक्षोरैश्वरे पदे ॥ १२१ ॥  
 यत्रस्थो धाम चाभ्येति द्युचिरात् पारमेश्वरम् ।  
 ईश्वरेच्छावशेनैव देहपातान्महामते ॥ १२२ ॥  
 भोगेच्छोः॑ पद्मनाभीय उभयेच्छोः॑ पदद्वये ।  
 शक्तिमच्छक्तियोगेन त्वथ बुद्धिमयेऽध्वनि ॥ १२३ ॥  
 निवेश्यो देहपातान्तं कालमुद्धृत्य तत्पदात् ।  
 अन्तरुद्धो यथा काष्ठात् पावकश्च पृथक् कृतः ॥ १२४ ॥  
 न भूयः सह काष्ठेन साम्यमेति तथा पुमान् ।  
 योजितोऽध्वान्तरे भूयो नैति तन्मयतां ततः ॥ १२५ ॥  
 समाधिप्रच्युतिं कृत्वा विनिवेश्यात्मनोऽग्रतः ।  
 यथावदुपदेष्टव्यस्तस्याध्वा च सितासितः॑ ॥ १२६ ॥  
 संस्थितो॑ यस्त्वभेदेन मिन्नरूपः परात्मनि ।  
 वेदवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत्परम् ॥ १२७ ॥

पुनरपमोक्षनिवृत्यर्थं होममाह—अथेति पञ्चभिः । वीजनाथेन ऐश्वर्यबीजेने-  
 त्यर्थः । विशाख्यूपवीजेनेति यावत् ॥ ११६—१२१ ॥

अथ बुद्धिपदाद् वैशाख्यूपपदे पद्मनाभाभिधपदे वा शक्तिमच्छक्तिभेदेनोभयत्र  
 वा तत्फलाभिसन्ध्यनुसारेण शिष्यचैतन्यस्थापनं पुनस्तस्मात् पदादुद्धृत्य देहपातान्तं  
 कालं बुद्धिमयेऽध्वन्येव स्थापनं तथा बुद्धिपदे स्थापितस्यापि चैतन्यस्य काष्ठवह्निदृष्टा-  
 नेन तन्मयाभावत्वं चाह—स्थितमिति सार्धेश्चतुर्भिः ॥ १२१—१२५ ॥

अथ शिष्यं पूर्वोक्तसमाधिविमुखं कृत्वाऽऽस्मनोऽग्रे निवेश्य तस्य वक्ष्यमाणप्रकारेण  
 षड्ध्वोपदेशं कुर्यादित्याह—समाधीति सार्धेन ॥ १२६—१२७ ॥

१. हरिः—बक० वख० । २. तोऽज्ञनो—अ० ऊ० । ३. अनाद्यन्तो ह्वनि—बक० वख०,
- अनाद्यन्तो निधानो वा—अटी० । ४. हुत्वै—अ० ऊ० । ५. स्थिति—ऊ० । ६. भोगेष्ठोः—अ० ऊ० ।
७. येष्ठोः—अ० ऊ० । ८. अन्तर्गूढो—बख० अ० ऊ० । ९. स्वात्म्य—ऊ० । १०. ततः—बक० वख० । ११. यः स्वदेहेन—अ० ।

तच्छब्दब्रह्मभावेन स्वशक्त्या स्वयमेव हि ।  
 मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेति परमेश्वरः ॥ १२८ ॥  
 तदव्यक्ताक्षरं विद्वि तन्त्रीशब्दो यथा कलः ।  
 पृथग्वर्णात्मना याति स्थितयेऽनेकधा स्वयम् ॥ १२९ ॥  
 नो यान्ति निश्चयं यत्र चातुरात्म्यादनुग्रहात् ।  
 ऋते वेदविदो विप्रास्त्वेतस्मिन् प्रथमेऽक्षरे ॥ १३० ॥  
 स शब्दमूर्तिर्भगवानभ्येति च कलात्मना ।  
 तद्ग्रहो युज्यते येन तन्निष्ठानां हि कर्मिणाम् ॥ १३१ ॥  
 न षाढगुण्यकलोत्था च यावन्मूर्तिर्निरञ्जना ।  
 वद केनाऽन्यथाऽमूर्त तद्ग्रहीतुं नियुज्यते ॥ १३२ ॥  
 तत्त्वाः कलामयाः सर्वे प्रभवाप्ययलक्षणाः ।  
 पूर्वोक्ता वासुदेवाद्या अध्यक्षान्ता यथोदिताः ॥ १३३ ॥

परंब्रह्मैव निखिलचेतनसंरक्षणार्थं शब्दब्रह्मभावं भजतीत्याह—वेदेति सार्थेन  
॥१२७-१२८॥

तन्त्रीशब्दवद्व्यक्ताक्षरं तच्छब्दब्रह्म अकारादिक्षकारान्तवर्णरूपेण पुनर्व्यक्ततां  
भजतीत्याह—तदिति । एतद्व्यक्तरूपं सर्वैरपि ज्ञायते ॥१२९॥

अव्यक्ताक्षरे शब्दब्रह्मणः प्रथमरूपे तु भगवदनुग्रहं विना वेदविदामपि निर्णयो  
न संभवतीत्याह—नो यान्तीति ॥१३०॥

एष वर्णध्वैव कलाध्वरूपेण परिणमतीत्याह—स इति । कलात्मना ज्ञानादि-  
षड्गुणेनेत्यर्थः । तन्निष्ठानां भगवज्ञानादिपाढगुण्यानुभवनिष्ठानां कर्मिणां तदा-  
राधनादिकर्मवतां चेतनानां तद्ग्रहो ज्ञानादिगुणग्रहणं येन युज्यते कलाध्वरूपपरिणामेन  
संभवतीति पूर्वेणान्वयः ॥१३१॥

एवं शब्दमूर्तेः षाढगुण्यात्मना परिणामाभावे तन्मयभगवन्मूर्तिज्ञानं कथं भव-  
तीत्याह—नेति ॥१३२॥

अस्मात् कलाध्वनो वासुदेवमूर्त्यादितत्त्वोत्पत्तिमाह—तत्त्वा इति ॥१३३॥

१. तद्ग्रहो—मु० अटी० । २. कर्मणा—मु० । ३. मलो—मु० अटी० । ४. तिनिरञ्ज-  
नम्—मु० अटी० बक० ।

तंचेभ्यो निर्गता मन्त्रास्त्वणिमादिगुणैर्युताः ।  
षट्कलाङ्गलवैर्युक्ता येषु संख्या न विद्यते ॥ १३४ ॥

व्यञ्जितं तैः सैनिमाणं तुर्यांशं पदसंज्ञकम् ।  
कर्मिणामात्मलाभार्थं मोहार्थं तत् क्षयाय च ॥ १३५ ॥

द्विसप्तभुवनं विश्वं गुणत्रयमेयं हि यत् ।  
तदशुद्धं जैगन्नत्यं भोग्यं ग्रीष्म्यं पृथक् स्थितम् ॥ १३६ ॥

इत्यध्वषट्कमुद्घृष्टं हेयोपादेयलक्षणम् ।  
भुवनाध्वा पदाध्वा च विना तुर्यपदेन तुर्य ॥ १३७ ॥

हेयः शेषमुपादेयं कर्मिणां तदपेक्षया ।  
व्यपेक्षयाऽप्युपेयश्च हेयपक्षे प्रयाति च ॥ १३८ ॥

तत्त्वाध्वनो मन्त्राध्वसमुत्पत्तिं तस्मात् पदाध्वसमुत्पत्तिं ततो भुवनाध्वोत्पत्तिं  
चाह—तत्त्वेभ्य इति त्रिभिः । षट्कलाङ्गलवैर्युक्ता ज्ञानैश्वर्यादिपद्गुणात्मकहृदयाच्चञ्जन-  
मन्त्रैरन्वितां इत्यर्थः । तुर्याच्चमित्यत्र आद्यपदेन सुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदत्रयमुच्च्रते  
॥१३४-१३६॥

उक्तार्थनिगमनपूर्वकं तस्मिन्नध्वषट्के भुवनाध्वनः पदाध्व(नि?नः) सुषुप्त्यादि-  
पदत्रिकस्य च हेयत्वं तुर्यपदस्य मन्त्राध्वादीनां चोपादेयत्वं चाह—इत्यध्वषट्कमिति  
सार्वेन । एवमेवोपवृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

तुर्यवर्जी० सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम् ।  
मायादिक्षितिपर्यन्ताँ० योक्ता भुवनपद्धतिः ॥  
भुवनाध्वा स विजेयो ह्यशुद्धो मलपञ्चलः । (२२२७-२८)

इति ॥ १३७-१३८ ॥

१. तेभ्यो विनि-मु० ।      २. स्व-अ०, स्त्व-उ० ।      ३. तस्यां-मु०
- अटी० ब्रक० ब्रह्म० । ४. युत-उ० । ५. जडं नित्य-अ० उ० । ६. व्याप्य-दक० व्रग्न० अ०,
- चाप्य-उ० । ७. लक्षणः-मु० अटी० । ८. तत्-उ० । ९. तामि-अ० । १०. तुर्य वर्ज्य-अ० म० ।
११. पर्यन्तं-अ० ।

किन्तु तत्प्राप्त्युपायं वै निस्तरङ्गे परे पदे ।  
 विशेकपदसंस्थस्य दीक्षया संस्कृतस्य च ॥ १३९ ॥  
 विचार्यमाण एवं हि विश्रामो यत्र वै स्फुटम् ।  
 जायते तत्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥ १४० ॥  
 अम्बरं परमाणुनां बैदूनामास्पदं यथा ।  
 तथाऽन्नाद्यप्रबुद्धानां जीवानां हि निकेतनम् ॥ १४१ ॥  
 विज्ञेयं भुवनानां च पदानामन्तरं हि यत् ।  
 विनेश्वरेच्छाया तेषां मन्त्रा वै क्रीडयन्ति च ॥ १४२ ॥  
 मायीयेऽध्वद्ये तस्मिन् सुखदुःखमयैः फलैः ।  
 ईश्वरेच्छानुविद्वानां भवतानां परमेश्वरे ॥ १४३ ॥  
 गुरुणां दीक्षितानां चाप्याराधनरतात्मनाम् ।  
 भवन्त्यध्वद्योर्ध्वस्था मन्त्राश्चाज्ञाप्रतीक्षकाः ॥ १४४ ॥  
 नयन्ति कर्मणः सम्यग् मायीयाध्वद्याद् बलात् ।  
 स्वस्थानमणिमादीनां भोगानां प्राप्तये तु वै ॥ १४५ ॥

मुमुक्षोः शुद्धाः सन्तोऽप्यनपेक्षया तस्य तेऽपि हेयपक्षान्तर्गता भवन्तीत्याह—  
व्यपेक्षयेत्यर्थेन ।

तर्हि मुमुक्षुप्राप्यं किमिति चेत् तदाह—किन्त्वति द्वाभ्याम् । विश्राम इत्यत्र  
षड्ध्वनामिति शेषः ॥ १३९—१४० ॥

भुवनपदाध्वद्यमप्यसंख्यातचेतनास्पदमित्याह—अम्बरमिति सार्थेन ॥ १४१—  
१४२॥

तत्राम्बरे<sup>१</sup> इच्छाविधुरात् जीवात् सुखदुःखफलानुभवैमन्त्राः क्रीडयन्तीत्याह—  
विनेति । मायीये प्राकृत इत्यर्थः ॥ १४२—१४३ ॥

ईश्वरेच्छानुविद्वानां तु स्वयं वश्या भूत्वा तात् भोगार्थं स्वस्थाने नयन्तीत्याह—  
ईश्वरेति सार्थद्वाभ्याम् ॥ १४३—१४५ ॥

१. सुदीक्षा—बख०उ०, दीक्षायां—अ० । २. विश्रमो—अ० उ० । ३. ब्रह्म—मु० अटी०  
बक० बख० । ४. चाद्या—बख० । ५. मान्त्ररं—मु० । ६. च आ—अ० । ७. कर्मणः—मु० अटी० ।  
८. शुद्धास्वप्य—म० । ९. स्वराच्चाविधूरान्—म० । १०. दुःखानुभवै—अ० ।

विरंकतस्य च तद्भोगात् स्वशक्त्या प्रेरयन्ति च ।  
 स्वव्यापारवशेनापि तत्त्वाध्वन्यमृतोपमे ॥ १४६ ॥  
 यंत्राणिमादि मन्येत तृणानीव च संस्थितः ।  
 अनुग्रहपरास्तस्य तत्त्वाध्यक्षाद्योऽमलाः ॥ १४७ ॥  
 नयन्त्यैष्यतां सम्यक् संकलाध्वनि शाश्वते ।  
 स पाङ्गुण्यमयो ब्रह्म वासुदेवोऽध्वमूर्तिभृत् ॥ १४८ ॥  
 नित्ये स्वात्मनि सम्बन्धे जब्दब्रह्माभिधेऽध्वनि ।  
 करोति योजनां तस्य यत्रस्थः स्वयमेव हि ॥ १४९ ॥  
 प्राप्नोति तत्परिज्ञानात् सुशान्तं भगवत्पदम् ।

सङ्कर्षण उवाच

देव वर्णाध्वविज्ञानं वद किंलक्षणं मम ॥ १५० ॥  
 प्राप्नोति यत्परिज्ञानादधी यद्वासुदेवताम् ।

श्रीभगवानुवाच

पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य लब्धसर्त्तस्य चात्मनः ॥ १५१ ॥  
 योऽनुभूतिपदं याति धीगसन्तानरूपधृक् ।

तत्र भोगविरक्तं चेतनं तु मन्त्राः स्वशक्त्यैव वासुदेवादितत्त्वाध्वानं प्रापयन्तीत्याह—विरक्तस्येति सार्वेन । यत्र तत्त्वाध्वनि संस्थितः पुरुषोऽणिमादि मन्त्राध्वन्यनुभावभोगात् तृणानीव मन्येत तृणसदृशात् भावयेदित्यर्थः ॥ १४६—१४७ ॥

तत्रापि विरक्तं पुरुषमनिरुद्धादयः कलाध्वनि योजयन्तीत्याह—अनुग्रहेति । ततो विकलाध्वमूर्तिर्वासुदेवो वर्णाध्वानं प्रापयति ॥ १४७—१४८ ॥

तत्र स्थितः पुरुषः स्वयमेव वर्णाध्वपरिज्ञानाद् भगवत्पदं प्राप्नोतीत्याह—स इति द्वाभ्याम् ॥ १४८—१५० ॥

संकर्षणः प्रसक्तं वर्णाध्वज्ञानं पृच्छति—देवेति ॥ १५०—१५१ ॥

१. विरक्तस्य—मु० बक० बख० । २. यन्त्राणीमानि—मु० अटी० । ३. न्त्यव्यय—मु० अटी० ।
४. सत्कला—मु० अटी० अ० । ५. ‘उवाच’ नास्ति—मु० अटी० । ६. सत्त्वस्य—बक० बख० उ० ।
७. सोऽनु—मु० अटी० । ८. धरा—मु० अटी० बक० बख० । ९. धृत—मु० ।
१०. तंत्रा—अ० ।

मिन्नवर्णमयः शब्दः पूर्वलक्षणलक्षितः ॥ १७२ ॥

स चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ।

प्रभवार्थययोगेन शब्दभास्वरलक्षणः ॥ १७३ ॥

सकारान्तस्त्वकाराच्च हकारादान्त एव हि ।

प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकारश्चतुरात्मनाम् ॥ १७४ ॥

अकारस्त्वैर्थ्यये चैव तुल्यताऽतोऽनयोः स्मृता ।

वर्णव्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ॥ १७५ ॥

विश्राम उदयो व्याप्तिर्थ्यकितरा वासुदेवतः ।

अत्रैकैका परिज्ञेया मूर्तिर्थै त्वेवमेव हि ॥ १७६ ॥

एवं पृष्ठो वासुदेवः पूर्वोक्तं वर्णधिवानं प्रभवक्रमेऽकारादिसकारान्तम्, अप्ययक्रमे हकाराद् आकारान्तं च चातुरात्म्यसमूहरूपेण भावयेदित्याह—पञ्चेति त्रिभिः । पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य भुवनादिपञ्चाध्वनः समतिक्रान्तस्येत्यर्थः । शब्दभास्वरलक्षणो भास्वररथ्वनिलक्षण इत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

मच्चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ॥

प्रभवार्थययोगेन भास्वरलक्षणः । (२०।१०-११)

इति ॥ १५१-१५४ ॥

अकारहकारयोद्वादशान्तत्वेन साम्यमाह—प्रभव इति । चतुरात्मनां द्वादशान्त इत्यन्वयः । द्वादशान्तो धारणाद्विषट्कान्त इत्यर्थः । अत्राकारादिहकारादिष्वेकोन-चत्वारिंशद्वर्णोष्वकारादिसकारान्तं वर्णचतुष्टयक्रमेण द्वादश व्यूहा भवन्ति । तदुपर्य-वशिष्टस्य हकारस्य द्वादशान्तत्वम्, एवमप्ययक्रमे हकारमारभ्याऽकारान्तं व्यूहद्विषट्कानन्तरमवशिष्टस्याऽकारस्य द्वादशान्तत्वमिति भावः ॥ १५४-१५५ ॥

तस्मिन् वर्णधिवन्यकारादिक्रमेण विश्रामादिचतुष्टयेनास्य ज्ञेयत्वं वासुदेवाद्यैकैक-मूर्तेरपि विश्रामादिचतुष्केण युक्तत्वं दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिति तस्यां द्वादशधारणानां द्वादशान्तारोहणे सोपानभूतत्वं चाह—वर्णव्यूहेति सार्धेस्त्रिभिः । आ वासु-देवतो वासुदेवमारभ्येत्यर्थः । अस्यैकैका मूर्तिरित्यत्रान्वयः । विश्रामो वर्णानां सूक्ष्मा-वस्त्रेत्यर्थः । उदयः पश्यन्त्यवस्था । व्याप्तिर्थ्यमावस्था । व्यक्तिर्थ्यवस्था । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

१. दन्त-मु० अटी० बक० वख० । २. भकार-मु० बक० वख० अ० उ० ।

३. स्त्वव्ययेनैव-मु० अटी० बक० वख० । ४. वर्ण-मु० अटी० बक० वख० ।

५. रराध्वामु० च देवताः-मु० अटी०, वर्यकिराध्वामु०-बक० वख० ।

युक्ता विश्रामपूर्वेण चतुष्कण समाप्तः ।  
दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ॥ १५७ ॥

शान्तरूपाऽथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा ।  
चैतूरूपा चैतूरूपं वच्चिम वाच्यं स्वनिर्मितम् ॥  
वासुदेवादयः सूक्ष्मा वाच्याः शान्तादयः क्रमात् । (१८२९-३०)

एवं वासुदेवाद्येकैकमूर्तिरपि विश्रामादिचतुष्टयेन युक्ता ज्ञेया । तत्र विश्रामस्तुरीयव्यूहावस्था । उदयः सुषुप्तिव्यूहावस्था । एवं विश्रामादिशब्दवाच्यतुरीयव्यूहावस्थादिचतुष्टयविशिष्टा वासुदेवादिमूर्तिविश्रामादिशब्दवाच्यसूक्ष्मावस्थादिचतुष्टयविशिष्टेष्वकारादिवर्णेषु दण्डवत्सन्निवेशेन संस्थितेति फलितोऽथः । अथवा वर्णानां सूक्ष्माद्यवस्था इदानीं न विवक्षिताः, किन्तु विश्रामादिशब्दविसुदेवादिमूर्तेस्तुरीयव्यूहावस्थादय एव विवक्षिताः । तामामवस्थानामेककस्मिन् वर्णे एककावस्थाक्रमेण प्रत्येकं वर्णचतुष्टयेऽवस्थाचतुष्टयं बोध्यम् ।

एवमवस्थाचतुष्टयात्मके वर्णचतुष्टये वासुदेवाद्येकैकमूर्तिज्ञेया । एवं चाकारादिषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के जाग्रद्वयूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, (अ?क)-कारादिचतुष्टयवर्णानां चतुष्टयचतुष्के स्वप्नव्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, थैकारादिसकारान्तपोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के सुषुप्तिव्यूहमूर्तयः, एतद्वादशान्ते हकारे—

अैभेदेनादिमूर्तेवं संस्थितं वटवीजवत् ।  
सर्वक्रियाविनिर्मुक्तममर्तं परमार्थतः ॥  
चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धसंविन्मयं महत् । (५१८१-८२)

इत्युक्तलक्षणा तुरीयव्यूहमूर्तिरित्यर्थो ज्ञेयः । एवं हकाराद्यकारान्तं प्रातिलोम्येनापि ज्ञेयम् । यद्वाऽकारादिवर्णिषोडशके व्यक्तिशब्दवाच्या जाग्रदवस्था, ककारादिवर्णपोडशके व्याप्तिशब्दवाच्या स्वप्नावस्था, थैकारादिसकारान्तवर्णपोडशके उदयशब्दवाच्या सुषुप्त्यवस्था, द्वादशान्ते हकारे विश्रामशब्दवाच्या तुरीयावस्था । तत्र तत्र तत्तद्वयूहमूर्तयः पूर्वोक्तक्रमेणैव बोध्याः ।

नन्वत्र भवदुक्तं त्रिविधं व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, जगज्जननीकृतव्याख्याविरोधात् ।  
लक्ष्मीतन्त्रे हि—

वाँर्णे व्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ।  
विश्राम उदयो व्याप्तिर्व्यक्तिरा वासुदेवतः ॥

१. चित्ररूपा-अ०, चित्ररूपात्-म० । २. चित्ररूपं वाचि-अ० म० । ३. मूर्ते-अ० ।  
४. धकारा-अ० । ५. अभेदोऽनादि-अ० । ६. धकारा-अ० । ७. वर्ण-अ० ।

द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ।  
सोपानभूतं यत् क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम् ॥ १६८ ॥

अत्रैकैकारे परिज्ञेया मूर्तिर्वै<sup>३</sup> त्वेवमेव हि ।  
युक्ता विश्रामपूर्वेण चातुष्केण समाप्तः ॥  
विश्रामं चिन्तयेद् देवं वासुदेवं सनातनम् ।  
अकारं पुण्डरीकाक्षं पूर्वदेवं सनातनम् ॥  
संकर्षणादितत्वानि विश्रामन्ति लयेऽत्र हि ।  
ततः संकर्षणं देवमाकारमुदयं स्मरेत् ॥  
उदितो हि स सर्वात्मा प्रथमं सर्वकृत् स्वयम् ।  
‘व्यासि प्रद्युम्नदेवं तमिकारं परिचिन्तयेत् ॥  
‘त्रिविधं प्राप्यते तेन त्रयीकर्मात्मना जगत् ।  
अनिरुद्धं व्यक्तिरूपमीकारान्तमनुस्मरेत् ॥  
व्यज्यन्ते शक्तयो ह्यत्र जगत्सृष्ट्यादये ऽखिलाः ।  
दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ॥  
आ सकारांच्चतूरुपयुक्ता मे चतुरात्मता ।  
स्मरेत् प्रभवचिन्तायां हकारं द्वादशान्तकम् ॥  
हकारं वासुदेवं तु विश्रामं परिचिन्तयेत् ।  
संकर्षणं सकारान्तमुदयं त्वप्यये स्मरेत् ॥  
एवमाकारतो दिव्यं चिन्तयेच्चतुरात्मनाम् ।  
द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ॥  
सोपानभूतं यत्क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम् ।  
एषा सा प्रथमा रीतिर्वर्णमार्गस्य दर्शिता ॥ (२०।१३-२३)

इति विश्रामोदयव्यासिव्यक्तिशब्दानां वासुदेवादिचतुर्मूर्तिपरत्वं सुस्पष्टं व्याख्यात-  
मिति चेत्, अस्मद्भुक्तप्राथमिकव्याख्यानस्य लक्ष्मीवचनानुसारित्वमजानन्नेवमात्थ ।  
तत्राकारादिवर्णेषु चतुर्षु चतुर्षु वासुदेवादीनां चतुर्णा चतुर्णमिवस्थानं किमस्माभि-  
निरुद्धम्, अपि तु विश्रामादिशब्दानां सूक्ष्मावस्थादिवाचकत्वमस्माभिरुक्तम् । लक्ष्मी-  
तन्त्रे तु तदर्थस्य सुप्रसिद्धत्वात् तद्विवरणं विना वासुदेवादिवाचकत्वं दुर्ज्ञयं सुस्पष्टं  
व्याख्यातम् । तावता तेषां शब्दानां वासुदेवादिवाचकत्वमेव, सूक्ष्माद्यवस्थावाचकत्वं न  
संभवतीतिनैः नियमोऽस्ति, उत्तरत्र—“युक्ता विश्रामपूर्वेण चतुष्केण समाप्तः” (लक्ष्मी०  
२०।१४) इत्यत्र विश्रामादिशब्दानामवस्थावाचकत्वस्य दुर्जिवारत्वात् ॥१५५-१५८॥

१. शाथा-मू० अटी० । २. कोपरि-मू० । ३. वेत्येव-अ० म० । ४. णानि-अ० म० ।  
५. व्याप्त-म० म० । ६. विविध-मू० । ७. काशाच्च भू-अ० म० । ८. रं तमु-मू० ।  
९. ‘न’ नास्ति-अ० ।

नीत्वैवं व्यक्तिभावेन हृत्पद्मोदरसंस्थितम् ।  
वर्णाध्वानं दीक्षितस्य शब्दब्रह्मेति यां स्थितिः ॥ १५९ ॥  
संसेच्यै हुतभुग्भूमि ग्राणीतेनोदकेन तु । -  
सह शिष्येण चात्मानं तेनैवाच्छिद्रसिद्धये ॥ १६० ॥  
पूर्ववद् भूतिना कृत्वा लक्ष्म चार्णिं प्रणम्य च ।  
समुत्थाय ततो यायात् तं गृहीत्वाऽच्युतालयम् ॥ १६१ ॥

एवंभूतस्य वर्णाध्वनः प्रकारः शिष्याय सुव्यक्तमुपदेश्य इत्याह—नीत्वेति ।  
हृत्पद्मोदरसंस्थितम्

तत्राब्जं चार्कमालम्ब्य परा वाग् भ्रमरी स्थिता ।  
या सर्वमन्त्रजननी शक्तिः शान्तात्मनो विभोः ॥  
नदन्ती वर्णं नादं शब्दब्रह्मेति यत् स्मृतम् ।  
अकारपूर्वो हान्तश्च धारासन्तानरूपधृक् ॥ (२१६७-६८)

इत्युक्तप्रकारेण हृदयकमलान्तः स्थितमित्यर्थः । अत्र दीक्षितस्येत्यनेन षड्घर्मोचनपर्यन्त-स्यैव कर्मणो दीक्षाशब्दाभिधेयत्वं ज्ञायते । एवमेवोक्तं जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रादिष्वपि । एतेन सिद्धान्तचन्द्रिकायां दीक्षाशब्दस्य नियमपरिग्रहणवाचित्वमुक्तं निरस्तं भवति, नियमानामुत्तरत्र वद्यमाणत्वात् ॥ १५९ ॥

अथ प्रणीतोदकेन कुण्डादिसेचनं भस्मना तिळकधारणम् अग्निप्र(माणा?णामा)-दिकं मण्डलस्थस्य बिम्बस्थस्य वा भगवतोऽभ्यर्चनपूर्वकं तत्संनिधौ शिष्याय नियमो-पदेशं मानसाराधनक्रममुद्रान्यासध्यानसमन्वितमन्त्रोपदेशम् आराधनादीनामितिकर्तव्यताक्रमोपदेशं स्वसमक्षमेव शिष्येण भगवदाराधनाद्यनुष्ठापेनं गुर्वर्चनं शिष्यस्य मस्तके मन्त्रोदकसेचनम् आशीर्वचनपूर्वकं तन्मस्तके मन्त्रहस्तदानमाशीर्वचनप्रकारं चाह—संसेच्य हुतभुग्भूर्त्तमित्यारभ्य मोक्षलक्ष्मीसमन्वितेत्यन्तम् । तवास्तु वैभवी सिद्धिरित्य व्यूहदीक्षायां तवास्तु व्यूहसंसिद्धिरिति, व्यूहदीक्षायां तवास्तु ब्रह्मसंसिद्धिरिति योज्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकरणात्—“तवास्तु विभवादीनां सिद्धिर्मार्क्षश्रियान्विता” इति प्रतिपादितम् ।

१. वर्ण—अटी० । २. यः स्थितः—वक० वख० उ०, यत्—अ० अटी० । ३. संसेच्य—वख० अ० । ४. तत्राकं चाब्ज—नु० । ५. ष्ठानं—मु० । ६. भूमिमिति मूले सार्वत्रिकः पाठः । ७. ब्रह्म—अ० ।

पूजयित्वा जगन्नाथं निवेद्य नियमान् शिगोः ।  
 सर्विशेषान् समासेन सान्तरान् योग्यतावशात् ॥ १६२ ॥  
 यथावदुपदेष्टव्यं तत्तस्तस्यार्चनं हृदि ।  
 मुद्रासमन्वितो मन्त्रो न्यासध्यानपुरस्सरः ॥ १६३ ॥  
 इतिकर्तव्यताशास्त्रसंक्षिप्ता च सविस्तरा ।  
 तत्समक्षं तत्स्तेन सर्वं कार्यं यथास्थितम् ॥ १६४ ॥  
 गुर्वर्चनं ततः कुर्यादात्मना चै धनादेना ।  
 पूरयित्वाऽभसा पाणिमर्घ्यपात्रात् तु दक्षिणम् ॥ १६५ ॥  
 पष्डङ्गमन्त्रसंजप्तं क्षेष्टव्यं तस्य मस्तके ।  
 मैण्डलं प्रणवेनाथं पाणौ सूर्यप्रभं स्मरेत् ॥ १६६ ॥  
 तत्राभिननं न्यसेत् प्राग्वद् वैमवं देवतागणम् ।  
 कृत्वा धियाचित्तं दद्यात् सांशिषं तस्य मूर्धनि ॥ १६७ ॥

ननु केवलं परव्यूहविभवदीक्षात्रयमन्त्रं प्रतिपादितम्, व्यापकमन्त्रदीक्षानुष्ठाने किं मूलम्, तावतैकमन्त्रेण विभवादिसर्वदेवीया सिद्धिः ‘कथं जायत इति चेत्, अस्ति तत्र च सात्वतोपबृहणमोश्वरतन्त्रं पाद्मादिकं च मूलम्, एकमन्त्रस्यापि व्यापकत्वेन विभवादिसर्वदेवाविष्कृतत्वात् । तेन सर्वदेवीया सिद्धिरञ्जुशा सिद्धयतीति बोध्यम् ।

ननु सिद्धयतु नाम तादृशी सिद्धिः, तदानीं व्यापकमन्त्रं एव तददीक्षितस्याधिकारः । नहि विभवादिदीक्षां विना तत्तन्मन्त्रेष्वधिकारः सिद्धयतीति वाच्यम्, तेनैव सर्वदीक्षाणां चारिताथ्यात् । तथा चैश्वरे तन्त्रे—

एवं दीक्षात्रयं चापि दद्यादेकस्य वा क्रमात् ।  
 सर्वाराधनयोग्यत्वसिद्धये मुनिपुञ्जवाः ॥  
 यद्वाऽष्टाक्षरमन्त्रादौ व्योपकत्रितये द्विजाः ।……  
 शक्तिभूषणवाहास्त्रमन्त्रांश्चोपदिशोद् गुरुः ॥ इति । (२१४६०-४६१, ४६३)  
 पाद्येऽपि—

ध्यात्वा च दक्षिणे कर्णे शिष्यस्य प्रणवान्वितम् ।  
 मन्त्रं दद्यादृषिच्छन्दोदैवतं चाङ्गमेव च ॥  
 द्वादशाक्षरमादौ तु पश्चादष्टाक्षरात्मकम् ।  
 मूर्तिमन्त्रांश्च तदनु समध्याप्य यथाविधि ॥

१. साव-अ० । २. यत-अटी० । ३. नमतः-अ० उ० । ४. द्वयवादिना-मु०,  
 ध्ययनादिना-अटी० । ५. कमल-अ० उ० । ६. चूर्चन-अ० । ७. सशिष्य-अ० उ० । ८. ‘कथं  
 जायत’‘सर्वदेशीया सिद्धि’ नास्ति-अ० । ९. ‘व्यापकत्रितये’‘क्षरमादौ तु’ नास्ति-अ० ।

यथोक्ता च यथाभीष्टो त्वचिरादेव पुत्रक ।  
 तवास्तु वैभवी सिद्धिमोक्षलङ्घमीसमन्विता ॥ १६८ ॥  
 इति वैभवदीक्षाया लक्षणं समुदाहृतम् ।  
 तत्प्रयुक्तस्य मामान्यं सर्वमन्त्रगणस्य च ॥ १६९ ॥  
 येन येन हि मन्त्रेण दीक्षा कार्यैः हि कस्यचित् ।  
 तस्य तस्य तदीयानां पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥ १७० ॥  
 कार्योऽत्रावयवानां तु विनियोगो यथोदितः ।  
 समूहवद् हृदादीनां मूलान्तानां समाचरेत् ॥ १७१ ॥  
 सह तत्त्वगणेनैव सर्वदाऽध्यात्मरूपताम् ।  
 समभ्यूह्य ततः कुर्यात् प्राग्वदभ्यर्चनं तु वै ॥ १७२ ॥  
 नेत्रकर्मणि हृदीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते ।  
 निरङ्गानां तु मन्त्राणामङ्गमन्त्रोक्तकर्मणाम् ॥ १७३ ॥  
 प्रणवो विनियोक्तव्यः सह कर्मपदेन तु ।  
 सर्पाद्या विधिनानेन व्यूहदीक्षार्थिनां सदा ॥ १७४ ॥

इति व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकरण एव समस्तमूर्तिमन्त्राणामप्युपदेशः प्रतिपादितः । एवं च यथा प्रधानमन्त्रदीक्षायाः शक्तिभूषणवाहनास्त्रमन्त्रोद्देवप्रथमिकारः सिद्ध्यति, तथा व्यापकमन्त्रदीक्षयैव विभवादिमन्त्रेऽवधिकारः सिद्ध्यतीति ज्ञेयम् ॥ १६०-१६८ ॥

अथोक्तमर्थं निगमयति—इतीति । तत्प्रयुक्तस्य वैभवार्चनासक्तस्य शिष्यस्येत्यर्थः । सर्वमन्त्रगणस्य पद्मनाभादिपातालशायन्तविभवदेवमन्त्रसमूहस्येत्यर्थः ॥ १६९ ॥

एतेषु विभवमन्त्रोद्वेकैकेनैव मन्त्रेण यस्य दीक्षाऽभिमता तस्य तादृशदीक्षायां विशेषानाह—येनेति त्रिभिः । अवयवानामङ्गमन्त्राणामित्यर्थः । समूहवद् पातालशयनादिपद्मनाभान्तसमूहवदित्यर्थः । एकमन्त्रदीक्षाप्रकरणात् पृथिव्यादिसप्तके पूर्वोक्तविभवदेवसमूहं विना तत्स्थाने हृत्मन्त्रादिमूलमन्त्रान्तानां सप्तानां विनियोगः कार्य इति कलितोऽर्थः ॥ १७०-१७२ ॥

पञ्चाङ्गमन्त्रदीक्षायां निरङ्गमन्त्रदीक्षायां च गतिमाह—नेत्रेति सार्धेन ॥ १७३-१७४ ॥

१. षट्म—मु० अटी० । २. लक्ष्म—मु० अटी० । ३. यर्जिथ—वख० अ० उ० ।  
 ४. ज्ञाना—मु० अटी० वक० वख० । ५. सर्वम—मु० अटी० वक० । ६. रूपता—मु० अटी० ।  
 ७. वा—अ० । ८. सम्पाद्र—मु० अटी० वक० वख० उ० । ९. मन्त्रे—म० ।

किन्तु वै तत्र योक्तव्यं प्रत्येकस्मिन् हि कर्मणि ।  
 चतुष्कं वासुदेवाद्यं बीजानां यत् पुरोदितम् ॥ १७५ ॥  
 एवमेवाद्यमन्त्रस्तु निःशेषः कर्मसंग्रहे ।  
 योक्तव्यो ब्रह्मदीक्षायां पोढा भक्तवौ च पूर्ववत् ॥ १७६ ॥  
 स्वरूपेण यथावस्थमुक्तेष्ववसरेषु च ।  
 किन्त्वेकवचनेनात्र देवानां प्रार्थना मताँ ॥ १७७ ॥  
 योजना त्वधिवासोक्ता विज्ञातव्या समाप्तः ।  
 नित्यदीक्षाद्वयस्यास्य नान्यन्मोक्षादृते फलम् ॥ १७८ ॥

ब्रह्मदीक्षायां विशेषमाह—संपादेति सार्वेन । पुरोदितम् अष्टमे परिच्छेदे  
 “सान्तं षष्ठस्वराखण्डम्” (८१०) इत्यादिभिः प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ १७४—१७५ ॥

ब्रह्मदीक्षायां विशेषानाह—एवमेवेति सार्धद्वाभ्याम् । आद्यमन्त्रस्य पोढा  
 विभजनप्रकारस्तु द्वितीयपरिच्छेद (२३२-३५) एव प्रदर्शितः । एकवचनेन प्रार्थना  
 “युष्मत्रसादसामर्थ्यात्” (१०१०१) इत्यादिस्थलेषु ज्ञेया ।

नन्वत्र देवानामिति बहुवचनमस्ति, कथं तेषामेकवचनेन प्रार्थनेति चेत्,  
 सत्यम् । तत्रापि चातुरात्म्यसत्त्वाद् बहुवचनमुक्तम् । तथापि—

अभेदेनादिमूर्त्तें संस्थितं वटबीजवत् ।  
 सर्वक्रियाविनिर्मुक्तममूर्तं परमार्थतः ॥

चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धं संविन्मयं महत् । (५८१-८२)

इत्यादिमूर्त्तेव प्राधान्यादेक एव मन्त्र उक्तः, ऐकवचनेनैव प्रार्थनेति बोध्यम् ।  
 अधिवासोक्ता योजना नाम,

ओमादिश जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय ।

तत्राहं योज्याऽयैनं यैत्कर्म त्वत्परायणम् ॥ (१८२३२)

इत्येवंरूपेत्यर्थः । इयं योजना ज्ञातव्या एतदीक्षाविषयत्वेन बोध्याऽनेनेत्यर्थः, एकवचन-  
 प्रयोगात् । एतेन ब्रह्मदीक्षायां विभवदीक्षायां च तस्मिन् योजनाश्लोके बहुवचनं  
 योजप्रमित्यर्थात् सिद्धम् । तत्राप्येकमन्त्रेणैव दीक्षायामेकवचनेनैव प्रार्थनायोजनादिकं  
 कार्यम् । अत एवास्मत्तात्पादैः सात्वतामृते युष्मत्रसादसामर्थ्यादिति प्रार्थनाश्लोके  
 त्वत्प्रसादस्य सामर्थ्यादित्येकवचनं प्रयुक्तम् ।

ननु सात्वतामृते व्यापकमन्त्रदीक्षा प्रतिपादिता । व्यापकमन्त्रस्यै परब्रह्म-  
 विभवाख्यसर्वदेवविषयत्वं भवतैवोक्तम् । तादृशमन्त्रदीक्षायां सर्वे देवा अपि प्रार्थ्याः ।

१. भद्रकृत्वा—अ० उ० । २. मताः—अ० । ३. नक्षत्रेक—म० । ४. कर्मिण—मु० ।  
 ५. मन्त्रेऽस्य—म० ।

तत्रापि चातुरात्मीया दीक्षा प्राक् कमलेक्षण ।  
बलाद् ददाति षाढगुण्यभोगार्पित भावितात्मनाम् ॥ १७९ ॥  
फलं स्वकचन्दनादीनां होमद्रव्यस्य चापि यत् ।  
प्रकृत्या सह चाभ्येति विलयं ब्रह्मदीक्षया ॥ १८० ॥

इति श्रीपौञ्चरात्रे श्रीसात्वतसाहितायां दीक्षाविधिनाम्  
एकोनविशः परिच्छेदः ॥

तथा सति कथमेकवचनं समञ्जसं भवतीति चेत्, ब्रूमः—यथैक एव मन्त्रः सर्वान् विषयीकरोति, तथैकवचनमपीति बोध्यम् । अत एव हि पाद्येष्टाक्षरकल्पे द्वादशाक्षरकल्पे चैकवचनेनैव ध्यानमुक्तम्—“चतुर्बाहुमुदाराङ्गम्” इत्यादिभिः ।

ननु तद्वैष्टाक्षरेण परव्यूहविभवार्चनप्रकरणे सर्वत्र पाद्योक्तध्यानमेवानु-  
सरणीयं किमिति चेदुच्यते, अष्टाक्षरेण तेषामर्चनप्रकारेण सामान्यतः पाद्याद्युक्त-  
प्रकारेण वा विशेषाकारेण वा ध्येयम् । तत्र न विवादः । अत एव हीश्वरपार-  
मेश्वरयोग्यापिकमन्त्रेणवार्चने उक्तेऽपि तत्तद्विद्यदेशस्थितमूर्तिध्यानमेव प्रति-  
पादितम् ॥ १७६-१८८ ॥

किं बहुना, व्यूहब्रह्मदीक्षयोः केवलमोक्षप्रदत्वेऽपि तत्रैहिकफलानामप्यानु-  
षड्जकल्पमस्तोत्याह—नित्येति साध्वद्वाभ्याम् ॥ १७८-१८० ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये एकोनविशः परिच्छेदः ॥

१. पञ्च-उ० । २. ‘नाम’ नास्ति-उ० । ३. अष्टादशः—अ० । ४. विशतिः—म० ।

## विश्वः परिच्छेदः

नारद उवाच

दीक्षालक्षणमुक्तवैवं सोरिणैँ चाथ चक्रभृत् ।  
यथावच्च मुनिश्रेष्ठाः पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ १ ॥  
अथ मैण्डलदृष्टस्य शास्त्रज्ञस्य यथार्थतःैँ ।  
समाराधनसक्तस्य पुत्रकत्वं गतस्य च ॥ २ ॥

अथ विश्वः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । भगवानेवं दीक्षालक्षणमुक्तवा पुनरभिषेक-  
मुपदिशतीत्याह—दीक्षेति ॥ १ ॥

अभिषेकेऽधिकारिणं तत्प्रयोजनं कालं चाह—अथेति द्वाभ्याम् । मण्डलदृष्टस्य  
दृष्टमण्डलस्येत्यर्थः, समयनिष्ठस्येति यावत् । “लब्धदर्शनमात्रो वै मन्त्रमूर्तेस्तु मैण्डले”  
(२२।१४) इति समयनिष्ठस्य लक्षणं वद्यति । शास्त्रज्ञस्य तदनन्तरं शास्त्रव्यवसाय-  
परस्येत्यर्थः,

ततः प्रभृति कालाच्च “सुप्रश्नाच्च सुदेशिकात् ॥

पाठ्यूर्वं हि शास्त्रार्थमध्यर्थयति योऽनिशाम् । (२२।१५-१६)

इति वक्ष्यमाणत्वात् । पुत्रकत्वं गतस्य “विज्ञाता गुरुणा यस्य” (२२।२९) इत्यारभ्य,  
“स शिष्यः पुत्रको नाम स्वपुत्रादिधिकः सदा” (२२।३८) इत्यन्तं वक्ष्यमाणलक्षण-  
विशिष्टस्येत्यर्थः । समाराधनसक्तस्य “पूर्ववलब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः”  
(२२।३९) इत्यादिक्रमेण वक्ष्यमाणलक्षणविशिष्टस्येत्यर्थः । एवं मण्डलदृष्टस्येत्यादि-  
विशेषणचतुष्टयविशिष्टस्य शिष्यस्य तत्कालं दीक्षानन्तरमेवाभिषेचनं कार्यमिति  
फलितार्थः ।

नन्वेतदभिषेचनं विशेषणविशिष्टस्येति कि नियामकम्, समयिनः पुत्रकस्य  
साधकस्य वाऽभिषेकः कार्य इत्यर्थः सरसः । यतः श्रीजयाख्ये—

सेनापतिक्रमेणैव समयज्ञस्य सर्वदा ।

महामन्त्रत्वविधिना पुत्रकस्याभिषेचनम् ॥

१. एकोनर्विशः—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति—म० अटी० उ० । ३. णश्चाथ—उ० ।
४. चाधि—म० अटी० । ५. युक—बक० बख०, धूक—अ० उ० । ६. मण्ड(र्ण)स्य दृष्ट(प्ल)स्य—म० ।
७. इतः परम्—“तप्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यामद्वितस्य भुजद्वये । सम्यग्धृतोर्धर्वपुण्ड्रस्य दत्तनामनश्च  
मन्त्रिणः ।” इत्यर्थं श्लोकाऽधिको दृश्यते—म० अटी० । मातृकास्वनुपलब्धेभिष्यकारेणाऽव्याख्या-  
तस्वाच्च प्रक्षिप्तोऽप्यं श्लोक इति प्रतीयते । ८. पुत्रत्वं च—म० अटी० बक० उख० अ० ।
९. मण्डलः—अ० म० । १०. सुप्रसन्नाच्च देशिकात्—म० ।

सिद्धुचर्थं सर्वमन्त्राणामधिकारापतये तु वा ।  
तत्कालं गुरुणा कार्यं सौचिष्ठ्यस्याभिपेचनम् ॥ ३ ॥

युवराजविधानेन दातव्यः साधकस्य तु ।  
राजोपचारविधिना अभिषेको गुरोः स्मृतः ॥ (१८।३४-३५)

इति सौमयिकादीनां चतुर्णामप्यभिषेकः प्रतिपादित इति चेत्, ब्रूमः—ज्याख्ये तेषां प्रत्येकमभिषेकप्रयोगभेदाश्च प्रतिपादिताः । अत्र तु केवलमाचार्याभिषेकविधान-मुक्तम् । अतोऽस्मद्मुक्तार्थं एव सरसः । न च तर्हि विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तिः, समाराधनसक्तस्येतेतावन्मात्रेणैव चारितार्थ्यादिति वाच्यम्, तत्तत्सर्वगुणविशिष्टस्यैवाभिषेकाहृत्वोक्त्या सौमर्थ्यात् । किञ्चच, अत्र वक्ष्यमाणेषु समयिपुत्रकसाधकलक्षणेषु जयाख्यवदभिषिक्तत्वं कुत्रापि न वक्ष्यति । आचार्यलक्षणेष्वैव—“लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तस्त्वभिषिक्तो विशेषतः” (२२।४४) इत्यभिषिक्तत्वं वक्ष्यति । अत एवैतदुपबृहणेश्वरतन्त्रे—

इत्येवमभिषेकस्तु भवेन्मुख्याधिकारिणम् ॥  
अन्ये तु दीक्षामात्रेण संस्कार्या मुनिपुङ्गवाः ॥ (२१।५०३-५०४)

इति सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । पाद्येऽपि—

शिष्यं मुतं वा सर्वज्ञमैनसूयं जितेन्द्रियम् ।  
आचार्यवंशजन्मानं निग्रहानुप्रहक्षमम् ॥  
शान्तिके पौष्टिके चैव कर्मणि क्षममयिनाम् ।  
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञमाचार्यपदाकाङ्क्षिणम् ॥  
देशिकेन्द्रो विधानेन क्षयमाणेन तत्त्ववित् ।  
कर्षणादिपु सर्वेषु विधानेष्वधिकारिणम् ॥  
कुर्यान्मण्डलपूर्जादि कुम्भयागावसानिकम् ॥

इत्याचार्यवंशजानामेवाभिषेकः प्रतिपादितः, तेषामेव कर्षणादिष्वधिकारश्च ॥ २ ॥

ननु तर्हि जयाख्ये<sup>१०</sup> चतुर्वर्णनां चतुरुराश्रमिणां चतुर्विधशिष्याणां चाभिषेकः प्रतिपादितः । तत्र का गतिरिति चेत्, दत्तोत्तरमेतत् । जयाख्यनिष्ठानां सर्वेषामपि तारतम्येनाभिषेकः स्यात् । एतस्मिन्नाचार्याभिषेकमात्रस्योक्त्वात् साधकाचाभिषेकविधानानामनुकृत्वाच्चैतन्निष्ठैराचार्याभिषेकमात्रमनुष्ठेयम् । यद्वा—अनुकृतमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायेन साधकाभिषेकाद्यनुष्ठानेऽपि न प्रत्यवायः ॥ ३ ॥

१. यच्छिष्ठ्य—मू० अटी० वक० वख० उ० । २. सामयिकानां—अ० । ३. अष्टादशः पटलो द्रष्टव्यः । ४. सार्थक्यादित्यर्थतया नेयः । ५. द्वार्चिशो परिच्छेदे २-५.८ श्लोकेषु । ६. ‘एव’ नास्ति—अ० । ७. मनसोऽयं—अ० । ८. मर्थिना—म० । ९. पूज्या—अ० । १०. अष्टादशो पटले ।

भगवत्तत्त्ववेतुणां पञ्चकालरतात्मनाम् ।  
 संहितापारगणां च आचार्याणां च सन्निधौ ॥ ४ ॥  
 यतीनां बद्धलक्ष्याणां साधकानां महात्मनाम् ।  
 देवस्य पुरतः कुर्याच्चतुरश्रं तु मण्डपम् ॥ ५ ॥  
 सर्वोपकरणोपेतं मध्ये भद्रासनान्वितम् ।  
 तस्मिन् कुर्यादिनन्ताद्यं सन्धानं त्वासनोदितम् ॥ ६ ॥

अथाभिषेकविधानमाह—भगवत्तत्त्ववेतुणामित्यारभ्य पूर्णान्तं चाग्निमध्य-  
 गुमित्यन्तम् । देवस्य पुरत इत्यत्र मण्डलस्थस्य बिम्बस्थस्य वा देवस्येत्यर्थः । अनन्ताद्य-  
 मित्यत्राद्यपदेन धर्मज्ञानादयः संग्राह्याः । अष्टाङ्गेन अष्टोपचारैरित्यर्थः । वैष्णवं  
 कुम्भं दीक्षार्थं स्थापितं महाकुम्भमित्यर्थः ।

ननु दीक्षार्थं स्थापितं महाकुम्भमिति कोऽयं नियमः । यतो जयाख्यपाद्यो-  
 रभिषेकार्थं पृथक् कुम्भस्थापनमुच्यते इति चेन्न, अत्र पृथगनुकृत्वात्, महाकुम्भस्य  
 विनियुक्तत्वादेवोत्तरत्र—“क्षान्त्वा यथोक्तविधिना सकुण्डानमण्डलान्तरात्” (२०।१९)  
 इति केवलकुण्डमण्डलाभ्यामेव भगवद्विसर्जनस्य वच्यमाणत्वाच्च ।

ननु साधकस्य खल्वाचार्याभिषेकः कार्यः । साधकलक्षणं तु—“पूर्ववल्लब्ध-  
 दीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः” (२२।३९) इत्यादि वक्ष्यति । जयाख्येऽपि—

मन्त्रसिद्धिस्तु वै यैस्य विज्ञाता गुरुणा यदा ।

गुरुणा वै सोऽभिषिक्तस्ततः शिष्यः प्रसादतः ॥ (१७।४६)

इति प्रतिपाद्यते । एवं दीक्षानन्तरं मन्त्रसिद्ध्यर्थं बहुकालमनुष्ठितव्रतस्य साधकस्य  
 दीक्षार्थं स्थापितमहाकुम्भेनाभिषेकः कथं संघटते । अतोऽभिषेककालेऽपि कुम्भमण्डला-  
 मिनष्वर्चनं कार्यम् । तदातनमहाकुम्भेनवाभिषेकः सरस इति चेत्, स्थूलमनीषोऽसि ।  
 किमेकं शिष्यमुद्दिश्यैव दीक्षाप्रारम्भः क्रियते ? बहूनुद्दिश्य क्रियमाणे दीक्षाक्रमे कांश्चित्  
 समये नियोजयति, समयिनः पुत्रकपदे नियोजयति, पुत्रकान् साधकपदे नियोजयति,  
 साधकानाचार्यपदेऽभिषेचयतीति सूक्ष्मदृष्ट्या द्रष्टव्यम् । नृसिंहदीक्षाप्रकरणे—

ततः शुचीन् सोपवासान् शोधितान् बद्धलोचनान् ॥

भक्तान् प्रवेशयेत् तत्र गृहीतकुसुमांस्तु वै । (१७।११५-११६)

१. बद्धकियुक्तानां-मू० । २. अथ कुर्यादिगुरुः सम्यक्-मू० अटी० । ३. मण्टपम्-अटी० ।  
 ४. मण्डलस्य-अ० । ५. जयाख्येऽष्टादशो पटले । ६. तस्य-मू० ।

पूजयित्वाऽर्थ्यपुष्पाद्यैस्ततो देवस्य समुखम् ।  
 वद्रपद्मासनं शिष्यं तत्रारोप्य कृताङ्गलिम् ॥ ७ ॥  
 कान्ताभिर्गीयमानं तु स्तूयमानं च वन्दिभिः ।  
 शङ्खाद्यैर्धर्मायमानं तु पठ्यमानं तु मङ्गलैः ॥ ८ ॥  
 जपमानं परं मन्त्रं ध्यायमानैभिवाच्युतम् ।  
 अष्टाङ्गेनार्चयित्वा तु कुम्भमादाय वैष्णवम् ॥ ९ ॥  
 सै तत्रस्थेन मन्त्रेण सम्यक् सिद्धिव्यपेक्षया ।  
 सहस्रावर्तिं कृत्वा शतावर्तिंतमेव वा ॥ १० ॥  
 मिद्ये द्रुतहेमाभं स्मृत्वा तमभिषिञ्च च ।  
 स्वाहान्तमन्त्रमुच्चार्य एलुं हृत्कमलोदरात् ॥ ११ ॥  
 एवमुक्त्वा नमोऽन्तं तु ध्यात्वा तं स्फटिकामलम् ।  
 संमुक्तीर्थं खरन्ध्रेण तस्य हृत्पद्मगं स्मरेत् ॥ १२ ॥

इति बहूनां युगपदीक्षाक्रममुक्तं किं न श्रुतवानसि । अन्यथा—“तत्कालं गुरुणा कार्यं सच्छिष्यस्याभिषेचनम्” (२०।३) इत्युक्तैः कालः कथं संभवेत् । एकमेवोद्दिश्य क्रियमाणदीक्षाक्रमेऽपि भगवदनुग्रहवशात् सद्यस्तन्मन्त्रसिद्धिलङ्घदर्शनादौ तत्काल एवाभिषेकोऽपि संभवत्येव ।

प्रक्षेपयेन्मण्डलान्तर्नेत्रबन्धं विमुच्य च ॥  
 अष्टाङ्गप्रणिपातैस्तु प्रदक्षिणयुतैस्ततः ।  
 देवश्चाग्निर्गृहः कुम्भः पूजनीयः पुनः पुनः ॥  
 तत्कालं भक्तिभावेन विज्ञाता योग्यता यदा ।  
 तीव्रमन्दधियां तेषां तदा दीक्षां समाचरेत् ॥ (१७।१६-१८)

इति समयिपुत्रकाणां भक्त्यतिशये<sup>५</sup> तीव्रवृद्धित्वे च तदानीमेव दीक्षाचरणं सुस्पष्टं प्रतिपादितं हि ।

नेनु पुत्रकाणां दीक्षाचरणकथं तत्र किं साधकमिति चेत्, <sup>६०</sup>जरत्कुड्यदुःशङ्खा-परिहरणं चतुर्मुखस्याप्यशक्यम् ।

१. अङ्गलिः—मु० अटी० । २. नं गुणाच्युतम्—अ० । ३. तत्त—अ० । ४. वर्तन—अ० ।  
 ५. उद्गीर्थ कर्ण—मु० अटी० । ६. इत्युक्तैः—अ० । ७. शयतीव्रवृद्धित्वं—अ० । ८. न तु—म० ।  
 ९. ऐ कथं—म० । १०. चर—अ० ।

चिर्चक्रितविग्रहं ब्रह्म त्वाहादानन्दलक्षणम् ।  
 समारोप्य धिया सम्यक् स्वाधिकारं तु चाखिलम् ॥ १३ ॥  
 प्रतिपादाचितं शुद्धं दिव्यमागमसञ्चयम् ।  
 शुभमाराधनाधारमक्षसूत्रं च किङ्किणीम् ॥ १४ ॥  
 सुक्सुबौ योगपट्टं च शङ्खचक्रे कमण्डलुम् ।  
 चमसं सौर्यपात्रं च दर्भान् कृष्णाजिनं तैतम् ॥ १५ ॥  
 पादुके पादपीठं च छत्रमासनदर्पणंम् ।  
 मायरं व्यजनं शुक्रलं चामरं भगवदध्वजम् ॥ १६ ॥  
 यथार्हदण्डसहितं काषाये क्षौमवाससी ।  
 समुत्थाप्यासनात् सर्वमाहत्य स्नानजं जलम् ॥ १७ ॥  
 विनिशिप्य शुचौ स्थाने देवैमम्यर्थ्य वै ततः ।  
 तादर्थेन तु सन्तर्प्य पूर्णान्तं चाग्निमध्यगम् ॥ १८ ॥  
 क्षान्त्वा पूर्वोक्तविधिना सकुण्डान्मण्डलान्तरात् ।  
 अर्धपात्रसमूहाच्च वलिदानं समाचरेत् ॥ १९ ॥

कृत्वा निरीक्षणाद्यं च देवधाम्नि तु क्षेपयेत् ।  
 तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक् सार्धपुष्पाहिताऽङ्गलिः ॥ (२२।३१)

इति वक्ष्यमाणलक्षणानुसारेण पुष्पाऽङ्गलिप्रक्षेपाद्यनन्तरं हि पुत्रकत्वं सिद्धयति ।  
 तर्दा पुत्रकपदारूढस्यापि तदानीमेव दीक्षाचरणकथनं तत्र साधकं (कथं) न भवेत्, “सिद्धये  
 द्रुतहेमाभम्” (२०।११) इत्युक्त्वात् । “ध्यात्वा तं स्फटिकामलम्” (२०।१२) इत्यत्र  
 मुक्तय इति ज्ञेयम् । “स्वाहान्तं भोगसिद्धर्थं न मोऽन्तं मोक्षसिद्धये” (१९।८५)  
 इति पूर्वमेवोक्तं हि । यथार्हदण्डसहितं तत्तद्वर्णश्रिमविहितदण्डमित्यर्थः । एतेन  
 “काषाये क्षौमवाससी” (२०।१७) इत्यपि व्याख्याते ॥ ४-१८ ॥

अथ कुण्डान्मण्डलादर्थादिपात्रसमूहाच्च मन्त्रोपसंहारं वलिदानक्रमं चाह—

१. अपशक्ति-वक० वख० अ० उ० । २. त्वखिला-उ० । ३. चार्ध-अटी० अ० ।
४. ततः-वक० वख० अ० । ५. दर्पणे-मु० अटी० । ६. मायूर-अ० उ०, मयूर-वख० ।
७. दैव-मु० वक० वख० । ८. तथा-म० ।

१ सोदकेन च भूतानांमोदनेनास्त्रमुच्चरन् ।  
 बलिमण्डलकं कृत्वा यागागागच्च वायतः ॥ २० ॥  
 कृत्वान्तर्बलिदानं तु ग्रादक्षिण्येन वै पुरा ।  
 अथ ऊर्ध्वं इदं चोक्त्वा शेषं तन्मण्डले वहिः ॥ २१ ॥  
 नमोऽस्त्वच्युतभूतेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वदैव हि ।  
 मदिक्षपतिभ्यः सास्त्रेभ्यः शान्तिर्नोऽस्त्वस्य वै शिशोः ॥ २२ ॥  
 पूजाद्यमुपसंहृत्य दत्तशिष्टेन पूर्ववत् ।  
 वृत्तमण्डलमध्ये तु सेतपओदरे ततः ॥ २३ ॥  
 दत्तशिष्टैर्यजेद् देवं सर्वदेवगुरुं प्रसुप् ।  
 तर्पयित्वाऽग्निमध्ये तु कुर्यात् तस्य विसर्जनम् ॥ २४ ॥  
 तदीयमथ निक्षिप्य क्षमावटे वा जलान्तरे ।  
 यागावनौ च तच्चक्रं द्वादशारं विचिन्त्य च ॥ २५ ॥  
 न्यस्यात्मन्यर्थ्यं पुष्पाद्यैः समभ्यर्थ्यं तदन्तरे ।  
 करकं वारिसम्पूर्णमादाय विनिवेश्य च ॥ २६ ॥  
 तत्रेष्ट्वा वीर्यमन्त्रेण मध्ये मन्त्रास्त्रमुत्तमम् ।  
 मध्वम्बुपयसा पूर्णमपरं शुभलक्षणम् ॥ २७ ॥  
 १ तेदग्रतोऽर्थ्यकलशं तन्मध्येऽस्त्रं च चक्रगम् ।  
 १ तेमभ्यर्थ्यं यथान्यायं कृत्वाऽष्टशतमन्त्रितम् ॥ २८ ॥

क्षान्त्वेति चतुर्भिः । भूतानां कुमुदादीनामित्यर्थः । बलिमण्डलकं बलिदानार्थं गोमयो-  
पलिसं स्थानमित्यर्थः ॥ १९-२२ ॥

१ अँथ विष्वक्सेनार्चनं १ तेसन्तर्पणं तद्विसर्जनं तन्त्रिवेदितपरित्यागं चाह—  
पूजाद्यमिति सार्वद्वाभ्याम् ॥ २३-२५ ॥

१. पङ्कित्वतुष्टयं नास्ति-उ० । २. भूतानां-अ० । ३. बलि मण्डलतः-मु० अटी० ।
४. शान्तये स्वस्य-बक० वख०, पातृभ्यः स्वस्य-उ० । ५. वृत्तं-अ० उ० ।
६. पङ्कित्वयं न दृश्यते-मु०, यागावनौ च तच्चक्रमित्येतावानशो दृश्यते-अटी० ।
७. पूर्वाद्यैः-बक० वख० । ८. मवरं शुभलक्षणम्-मु० अटी० । ९. मादाय विनिवेश्य च-मु० अटी० ।
१०. तदस्त्र-मु० अटी० । ११. सम-अटी० । १२. 'अथ' नास्ति-म० ।
१३. 'तत्' नास्ति-अ० ।

वषट्पदनिरुद्धेन मूलमन्त्रेण तं पुनः ।  
 दद्यात् तदन्तः<sup>१</sup> साणेन प्रावत् पीयूषधारिणा<sup>२</sup> ॥ २९ ॥  
 निनिद्रीकरणं कुर्यात् सर्वेषां मन्त्रवारिणा ।  
 तद्म्बुधारादानेन ध्यानोच्चारयुतेन च ॥ ३० ॥  
 संविभज्याथ वैतेषां मन्त्रपानं सुधामयम् ।  
 सुधादस्त्रवरं पश्चात् समन्त्रं चक्रगंन्यसेत् ॥ ३१ ॥  
 आदाय तं तोयकुम्भमस्त्रमन्त्रमुदीरयन् ।  
 भ्रामयेत् पूर्ववद्वारामथ मध्ये निधाय तम् ॥ ३२ ॥  
 संपूर्णमुदकेनैव कृत्वा फलसमन्वितम् ।  
 गुरुयागमतः कुर्याच्छिष्यः प्रयतमानसः ॥ ३३ ॥  
 भगवद्यागवद् भक्त्या कर्मणा मनसा गिरा ।  
 यागोपयुक्तं सम्भारं तस्मै सर्वं निवेद्य च ॥ ३४ ॥

सुधापानप्रदानप्रकारमाह—यागावनौ च तच्चक्रमित्यारभ्य कृत्वा फलसमन्वित-  
 मित्यन्तम् ॥ २५-३३ ॥

गुरुपूजनमाह—गुरुयागमिति साध्वद्वाभ्याम् । गुर्वर्चनमन्त्रस्तु लक्ष्मीतन्त्रोक्तो  
 प्राद्यः—

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्निमूर्तये ।  
 दुःखत्रयाग्निसन्तापशान्तये गुरवे नमः ॥ (४१६४) इति ।

अस्मिन्नवसरे पादतीर्थपरिग्रहश्चोक्तो जयाख्ये—

प्रक्षाल्य सलिलेनाथ गुरोश्चरणपङ्कजे ॥  
 तेनात्मानं तु संसिच्य पिवेदञ्जलिना ततः । (१८१८४-८५)

इति ॥ ३३-३५ ॥

१. सास्त्रेण पृथक्-बक० वख० । २. णम्-मु० अटी० उ० । ३. निर्विघ्न-अ०,  
 निर्वञ्जी-उ० । ४. तम्बु-उ० । ५. मर्य-अटी० । ६. तत आदाय ततोयकुम्भमस्त्रमुदीरयत्-उ० ।  
 ७. सुपूर्ण-अ० उ० ।

सशिरः पाणियुग्मं तु कृत्वा वै च तद्भूमिगम् ।  
 क्षान्तव्यः सुप्रयत्नेन श्रद्धापूर्तेन चेतसा ॥ ३५ ॥  
 पञ्चरात्रविदस्तद्वद् यतीश्च स्नातकादिकान्ै ।  
 सम्पूज्य विधिवद् दद्यात् तेषां शक्त्या च दक्षिणाम् ॥ ३६ ॥  
 संवाहनपरात् कालाद् लब्ध्वाऽनुज्ञां तु गौरवीम् ।  
 भ्रातृभिः सह चाशनीयाद् बहुभिः पूर्वदीक्षितैः ॥ ३७ ॥  
 तथान्यैर्भगवद्भक्तैः सुहृत्सम्बन्धिवान्धवैः ।  
 व्रजन्तं सह शिष्यैस्तु काले द्यन्यत्र तत्र वा ॥ ३८ ॥  
 तदिच्छया ह्यनुवज्य निवर्तेताथ वै यदा ।  
 कृत्वा तु पादपतनं बहुधा सम्प्रदक्षिणम् ॥ ३९ ॥  
 आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां भक्तानां भावितात्पनाम् ।  
 परा गतिर्गुरुर्यस्मात् प्रसाद्यः स्मृत एव सः ॥ ४० ॥  
 इति श्रीपांच्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामभिषेकविधिर्नाम  
 'विशः परिच्छेदः ॥



सर्वेषां भागवतानां दक्षिणादानादिकमाह—पञ्चरात्रेति ॥ ३६ ॥

तदनन्तरं गुर्वनुज्ञया भ्रातृभिः सह भोजनमाह—संवाहनेति सार्वेन ॥ ३७-३८ ॥

तस्मिन् कालेऽन्यत्र वार्त्त्या गुरुणा सहानुव्रजनं पुनस्तदनुज्ञया निवर्तनकाले  
 प्रणिपतनप्रदक्षिणादिभिर्गुरोः प्रसादीकरणं चाह—व्रजन्तमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ३८-४० ॥

तिह श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशाचरणकमलाचर्कस्य

योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते

सात्वततन्त्रभाष्ये १०विशः परिच्छेदः ॥



१. चैव—अ० ।

२. सनकादयः—उ० ।

३. कादयः—बक० बख० अ० ।

४. प्यनु—अ० उ० । ५. सप्र—बख० उ० । ६. पञ्च—उ० । ७. 'नाम' नास्ति—उ० ।

८. विशतिः—बख०, एकोनविशतिः—अ० । ९. व्रजता—म० । १०. विशतिः—म० ।

## ‘एकविंशः परिच्छेदः

नारद उवाच

भगवानथ विश्वात्मा चोदितस्तालकेतुना ।  
द्विजप्रधाना यत् तन्मे आकर्णयत साम्रतम् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

नियमाः किं स्वरूपास्तु दातव्या दीक्षितस्य च ।  
गुरुणा प्रतिपन्नस्य शासनेऽस्मिन् जगत्प्रभो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रत्येकस्मिन् हि नियमे निर्गते तु गुरोर्मुखात् ।  
प्रैत्र्याद् बाढमित्येवं शिष्यः शोकाग्निशान्तये ॥ ३ ॥  
नाक्रम्या गौरवी च्छाया दैवी यानगता त्वयि ।  
गुरुवद् गुरुवर्गश्च द्रष्टव्यो नित्यमेव हि ॥ ४ ॥  
शयनासनयानाद्यं तदीयमभिवादयेत् ।  
अतन्द्रितः सदा कुर्याद् व्यापारं तदगृहेऽशिलम् ॥ ५ ॥

अथैकविंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र पुनर्भगवान् वासुदेवः संकर्षणेन  
यत्पृष्ठस्तच्छृण्वित्याह—भगवानिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—नियमा इति ॥ २ ॥

एवं पृष्ठो वासुदेव आचार्येणैकस्मिन् नियमे उपदिष्टे शिष्यो बाढं बाढ-  
मिति बूयादित्याह—प्रत्येकस्मिन्निति ॥ ३ ॥

गुरोदेवस्य तत्तद्वाहनस्य च छायोलङ्घनं न कार्यमित्याह—नेत्यर्थेन । आचार्य-  
पुत्रकलन्वादिषु चाचार्यदृष्टिः कार्येत्याह—गुरुवदित्यर्थेन । गुरोः शयनासनादीनामपि  
नमस्कारः कार्य इत्याह—शयनेत्यर्थेन । आचार्यगृहकृत्येषु जागरूकेण भवितव्य-  
मित्याह—अतन्द्रित इत्यर्थेन । गुरोः समक्षमासनोपरि वा तद्विक्षिणभागे वा न वर्तितव्य-

१. विंशः—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति—म० अटी० । ३. ‘उवाच’ उ० विहाय कुत्रापि  
नास्ति । ४. ‘उवाच’ नास्ति—म० अटी० । ५. बूयाद्वै—बक० बख० अ० उ० । ६. वन्द—उ० ।  
७. रान्—उ० । ८. विशतिः—म० । ९. यैकस्मिन्—अ० ।

नासने तत्समक्षं च वस्तव्यं न च दक्षिणे ।  
 सुयन्त्रितः संयतवाक् तदाज्ञासम्प्रतीक्षकः ॥ ६ ॥

तत्सन्धिष्ठौ तु नान्येषां प्रत्युत्थानं समाचरेत् ।  
 कुर्यात् संशयविच्छिन्ति न तदादेशतो विना ॥ ७ ॥

व्याख्यानमागमानां च योगाभ्यासश्च धारणा ।  
 अवैश्यकार्याभ्येतानि स्वगृहे न गुरोर्गृहे ॥ ८ ॥

न शङ्खचक्रपद्माङ्के भोक्तव्यं भाजने तु वै ।  
 तल्लक्ष्म चोपलं काष्ठं लोष्टं वा फलकादिकम् ॥ ९ ॥

क्रमणीयं न पादेन कल्प्यं नैवासनार्थतः ।  
 भगवच्छासनज्ञानामाराधनरतात्मनाम् ॥ १० ॥

यथोचितं यथाशक्ति पूजा कार्या सदैव हि ।  
 प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पूञ्चरात्रिकम् ॥ ११ ॥

अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं गुरोर्गृहम् ।  
 दूरात् प्रदक्षिणीकुर्यान्निकटात् प्रतिमां विभोः ॥ १२ ॥

मित्याह—नेत्यर्थेन । गुरुसंनिधाववहितो मितभाषी तदाज्ञाप्रतीक्षकश्च भूयादित्याह—  
 सुयन्त्रित इत्यर्थेन । गुरुसंनिधावन्येषां प्रत्युत्थानादिकं न कुर्यादित्याह—तदित्यर्थेन ।  
 गुर्वज्ञां विना पृच्छकाणां संशयविच्छेदनं न कुर्यादित्याह—कुर्यादित्यर्थेन ॥ ४-७ ॥

आगमव्याख्यादीनां स्वगृह एव कर्तव्यत्वमाचार्यगृहे तन्निषेधं चाह—व्याख्यान-  
 मिति ॥ ८ ॥

शङ्खचक्रादङ्कितपात्रे न भोक्तव्यमित्याह—नेत्यर्थेन । शङ्खचक्राङ्कितं  
 शिलाकाष्ठलोष्टफलकादिकं च पादेन नाक्रमणीयम्, आसनार्थं न कल्पनीयमिति  
 चाह—तल्लक्ष्मेति । भगवच्छास्त्राभिज्ञानां तदुक्तभगवदाराधननिष्ठानां च निरन्तरं  
 यथाशक्त्यर्थं कार्यमित्याह—भगवच्छासनेति ॥ ९-११ ॥

१. तदाज्ञां सम्प्रतीक्षते—मु० अटी० । २. एवमादिकमन्यच्च—मु० अटी० । ३. चिता—  
 बख० उ० । ४. पञ्च—बख० अ० उ० । ५. सत्समीपं—उ० ।

दण्डवत्प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्यच्चतुर्दिशम् ।  
 न यानपादुकारुढो न सोपानत्कपादभृत् ॥ १३ ॥  
 नै विक्षिप्तमना भूत्वा संविशेद भगवद्गृहम् ।  
 न व्याख्यावसरे कुर्यात् प्रत्युत्थानाभिवादने ॥ १४ ॥  
 नाभक्तानां न मूर्खाणां नास्तिकानां विशेषतः ।  
 दातव्यः संप्रवेशश्च नोपहासरतात्मनाम् ॥ १५ ॥  
 नापूजितं समुद्घाटयं शासनं पारमेश्वरम् ।  
 समक्षं नान्यभक्तानां न तत्सन्देहशान्तये ॥ १६ ॥  
 प्रकाशनीयं तल्लोभान्न चौन्यायेन नो भयात् ।  
 सुगन्धफलपुष्पाद्यैमपूर्वमुचितं च यत् ॥ १७ ॥  
 अभोज्यं गुरुदेवाग्निवेदनविवर्जितम् ।  
 तस्करात् पतिताच्चण्डाद् दम्भलोभमेदान्वितात् ॥ १८ ॥

---

भगवद्विमानादीनां प्रदक्षिणनमस्कारप्रकारावाह—प्रासादमिति द्वाभ्याम् ।  
 छायाक्रमणभिया दूरादित्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ११-१३ ॥

भगवन्मन्दिरप्रवेशकाले पादुकामुपानहं वा पदभ्यां न स्पृशेदन्यत्र मनोवृत्तिं  
 च न वर्तयेदित्याह—नेति ॥ १४ ॥

आगमव्याख्यानकाले प्रत्युत्थानप्रणामनिषेधमभक्तादीनां तत्र प्रवेशनिषेधं  
 चाह—नेति सार्धेन । नास्तिकानामित्यत्रापि नेत्यनुषङ्गः कार्यः ॥ १४-१५ ॥

अयोग्यं प्रति वाऽन्यदेवताभक्तानां समक्षं वा लोभाद् भयादन्यायाद्वा भग-  
 वच्छास्त्रं न प्रकाशयमित्याह—नेति ॥ १६-१७ ॥

अपूर्वं योग्यं फलपुष्पादिकं वस्तु गुरुदेवाग्निसमर्पणमन्तरा न भोज्यमित्याह—  
 सुगन्धेति ॥ १७-१८ ॥

१. नह—बक० बख० । २. विनि—मु० अटी० । ३. चान्येन कुतो—मु० अटी० ।  
 ४. षाढच—बक० बख० । ५. मपूत—अटी० । ६. विनिवेदन—बख०, विनिवेदित—अ० उ० ।  
 ७. सम—मु० अटी० बक० ।

मात्रावित्तं न गृहीयादभक्तादुपचारतः ।  
 गृहीत्वा भगवद्विम्बं वृत्त्यर्थमट्टीह यः ॥ १९ ॥  
 नगरापणवीथीषु तस्य देवलकस्य च ।  
 दर्शनं स्पर्शनं नैव कुर्यात् सम्भाषणं तथो ॥ २० ॥  
 गायेत् तु भगवद्गाथां यो ग्रामे नगरान्तरे ।  
 तं प्रभुस्तावकं चैव पूजयेच्चैव सर्वदा ॥ २१ ॥  
 विष्णुव्रतपरं चैव विष्णवायतनवासिनम् ।  
 विष्णवालापकथासक्तं विष्णवायतनमार्जकम् ॥ २२ ॥  
 स्तौवकं वैष्णवानां च विष्णुधर्मपरायणम् ।  
 पर्येष्ठिकृद् वैष्णवानां मान्यो वै विष्णुवत् सदा ॥ २३ ॥  
 प्रातरुत्थाय चिन्वीयात् स्वारामात् स्वयमेव हि ।  
 पूजार्थमस्त्रमन्त्रेण पुष्पादीन् प्रयतः सदा ॥ २४ ॥

तस्करादिभ्यो मात्राद्वयप्रतिग्रहनिषेधमाह—तस्करादिति । तथा च स्मैरति  
शाण्डिल्यः—

कुलटाषण्डपतितस्वैरिभ्यः काकिणीमपि ।  
 उद्यतामपि गृहीयान्नापद्यपि कदाचन ॥ (६।१८) इति ॥ १८-१९ ॥

स्वगृहे समाराध्यं भगवद्विम्बमादाय द्रव्यार्जनार्थं नगरादिषु संचरमाणस्य  
 देवलकस्य दर्शनादिकमपि न कार्यमित्याह—गृहीत्वेति सार्थेन । नन्वेतन्मन्दिरस्थभग-  
 द्विम्बविषयमपि स्यादिति चेन्न, तस्य राजाधीनतया वह्र्दव्याजनार्थमानेतुमशक्य-  
 त्वात्, तत्र तादृशशङ्काया एवानवकाशात् ॥ १९-२० ॥

श्रीमद्भुट्ठभरणादिविरचितदिव्यप्रबन्धगाथागायकानां निरन्तरपूज्यत्वमाह—  
 गायेदिति ॥ २१ ॥

भगवत्कैङ्कुर्यपराणां विष्णुवत् पूज्यत्वमाह—विष्णवति द्वाभ्याम् । वैष्णवानां  
 पर्येष्ठिकृद् वैष्णवधर्मान्वेषणपरः, पूजनार्थं भागवतान्वेषणपर इति वाऽर्थः । “पर्येष-  
 णा परीष्ठिश्चान्वेषणा च गवेषणा” (२।७।३२) इत्यमरः । गायेदिति वचनं शठको-  
 पाद्यर्चनपरम, विष्णुव्रतपरमित्यादिकं शाण्डिल्याद्यर्चनपरमित्यपि सरसम् ॥२२-२३॥

१. तीति—बक० बख० उ० । २. वीथीनां—बक० बख० अ० उ० । ३. चैव—मू०  
 अटी० बक० अ० । ४. नहि—मू० अटी० । ५. शावकं—मू० अटी० बक० बख० ।  
 ६. दिव्य—अ० । ७. स्मरन्ति शाण्डिल्याः—म० ।

यायादरण्यमथवा निर्बाधं हि तदार्जने<sup>१</sup> ।  
 अकण्टकद्रुमोत्थाश्च कण्टकद्रुमजा अपि ॥ २५ ॥  
 हृद्याः सुगन्ध्याः कर्मण्या ग्राह्याः सर्वे सितादयः ।  
 उग्रगन्धा ह्यकर्मण्यास्त्वप्रसिद्धास्तथैव च ॥ २६ ॥  
 चतुष्पथशिवावासशमशानावनिमध्यगाः ।  
 क्षता अशनिपाताद्यैः क्रिमिकीटसमावृताः ॥ २७ ॥

---

भगवदाराधनार्थं पुष्पादीनामाहरणप्रकारमाह—प्रातरिति साधेन । “अत्र वैशेषिकार्चनादिषु कदाचित् प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थता, अन्यथाऽभिगमनविधिना प्रातःकालोपरोधात्, अन्येषु च सर्वेषु शास्त्रेषु द्वितीयकाल एव द्रव्यार्जनविधानात् । प्रातःशब्देन सन्निकर्षवशात् त्वरातिशयसिद्ध्यर्थं तदुचितकालो लक्ष्यते, “सार्थं प्रातद्विजातीनामशनं विधिचोदितम्” इतिवत् । अत एवात्रत्यमुत्थानं च न स्वौपानन्तरभावि, अपि तु—“ततः पुष्पकुङ्शादीनामुत्थायार्जनमाचरेत्” (२२।६९) इति ज्याख्यसंहितोक्तमभिगमनानन्तरं देवसन्निधेरुत्थानम्” (पृ० १२९) इति श्रीपञ्चरात्ररक्षायां व्याख्यातम् । एवं व्याख्यानं गृहार्चनप्रकरणे समञ्जसं भवति । मन्दिरे तु प्राभातिकार्चनादीनां कर्तव्यत्वात् तत्र प्रत्यहं प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थतैव संभवतीति बोध्यम् ।

ननु प्रातरुत्थाय चिन्वीयादित्यादिनियमः स्वगृहार्चनपर एव, मन्दिरार्चने तु पुष्पाद्याहरणं परिचारकैः क्रियत इति चेन्न, यत उभयत्रापि स्वार्जितं मुख्यम्, अन्यार्जितं गौणमिति सिद्धम् । ननु तर्हि स्वयमेवोपादानप्रवृत्तः कथं मन्दिरे प्राभातिकार्चनादि निर्वहेदिति चेत्, शक्तः सर्वं निर्वहत्येव । अशक्तस्य गौणानुष्ठानम् । अन्यथा मन्दिरार्चनपरस्याभिगमनादिपाञ्चकालिकानुष्ठानं कथं सिद्ध्येत् । अत एव हि पारमेश्वरादिषु द्वादशकालार्चनप्रवृत्तस्यापि पाञ्चकालिकधर्मानुष्ठापनावकाशः प्रदर्शितः । परिचारकाश्चेदपि प्रातःकालं विना पुष्पाद्याहरणं पुनः कदा कुर्यात् । गृहार्चनार्थमिव तैः संभवकाले संगृहीतं पुष्पादिकं कथं प्राभातिकार्चने उपयुज्यते ॥२४-२५॥

अथ पुष्पफलपत्राङ्कुराणां मधुपर्कधूपदीपद्रव्याणां हविःपाकोपयुक्तद्रव्याणां च

१. जनैः—बक० बख० । २. स्वप्नान्तर-अ० । ३. फला—मु० । ४. पारमेश्वरे नवमाध्याये ।

वर्जनीयाः प्रयत्नेन पत्रपुष्पफलादयः ।  
 अम्बुजानि सुगन्धीनि सितरक्तादिकानि च ॥२८॥  
 योक्तव्यानि पवित्राणि नित्यमाराधने तु वै ।  
 साङ्कुराणि च पत्राणि भूगतान्येवमेव हि ॥ २९ ॥  
 विहितान्यर्चने नित्यं यथृतुप्रभवाणि च ।  
 न गृहे करवीरोत्थैः कुसुमैरर्चनं हितम् ॥ ३० ॥  
 विशेषतः सकामस्य सिद्धिभूतयुतस्य च ।  
 अतोऽन्यथा न दोषोऽस्ति दोष उन्मत्तकादिभिः ॥ ३१ ॥  
 सद्योहृतानां विहितस्त्वम्लानानां यथां क्रयः ।  
 प्रदानमम्बुसिक्तानां तेषां कार्यं न चान्यथा ॥ ३२ ॥  
 निर्दोषतां प्रयान्त्याशु मन्त्रिणामवलोकनात् ।  
 भवन्ति भक्तिपूतानि हृन्मन्त्रनिरतात्मनाम् ॥ ३३ ॥  
 न कांस्यपात्रे भोक्तव्यं न तत्र विनिवेदयेत् ।  
 देवाय मधुपकार्यं तथा वै सति सम्भवे ॥ ३४ ॥  
 मृण्मयायसपात्रेषु न धूपमपि निर्दहेत् ।  
 धूपार्थं उगुगुलुः साङ्गयो देयश्चाभावतोऽपरः ॥ ३५ ॥  
 सह घण्टारवेणैव दीपार्थं परिवर्जयेत् ।  
 मेदो मज्जाऽतसीतैलं धृतं तैलविमिश्रितम् ॥ ३६ ॥  
 नाविकं मधुपकार्थं दधिक्षीरादिकं शुभम् ।  
 कौलत्थैः कौद्रवः कृष्णशाल्युत्थो नौदनो हितः ॥ ३७ ॥  
 नापवान्नं न मांसश्च नारनालविभावितम् ।  
 न चाराधनकाले तु समुच्चिष्ठेत् त्वरान्वितः ॥ ३८ ॥

ग्राह्याग्राह्यत्वनियममाह—अकण्टकदुमोत्थाश्वेत्यारभ्य नारनालविभावितमित्यन्तम् ।  
 एवं पुष्पादीनां हविःपाकद्रव्याणां च वज्यविर्ज्यविभागः संहितान्तरेषु श्रीपञ्चरात्र-  
 रक्षायां ( पृ० १२७-१३४ ) च विस्तरेण विचारितो द्रष्टव्यः ॥ २५-२८ ॥

१. वतानि कानिचित्—मु० अटी० बक० । २. धकेन तु—मु० टी० । ३. यदा—मु० ।  
 ४. पात्राणां—वख० अ० उ० । ५. इव सुरभिः परः—मु० अटी० । ६. नाविकं—अ० उ० ।  
 ७. कौलुत्थः कौलयः कार्ण—मु० अटी० ।

आ समाप्तिक्रियां चैव उपरोधेन केनचिद् ।  
 आधाराद् भगवद्विम्बाद् भद्रपीठान्मलच्युतिः ॥ ३९ ॥  
 न कार्या कण्टकैर्लोहैर्मृदुकूर्चादिना विना ।  
 न स्नायान्न स्वपेन्नग्नो न मौनं चाचरेद् गुरोः ॥ ४० ॥  
 नोच्छिष्टं संस्पृशेत् किञ्चिच्नाशनीयाद् भगवद्गृहे ।  
 सन्निकर्षे न चानेस्तु न गृहे मद्यसंकरे ॥ ४१ ॥  
 भक्तानां कृतदीक्षाणां व्यङ्ग्यः शास्त्रार्थं एव हि ।  
 अन्येषां धर्मशास्त्रं च लोभनिर्मुक्तया धिया ॥ ४२ ॥  
 शिष्याणां विष्णुभक्तानां नित्यं कुर्याच्च संग्रहम् ।  
 मानमात्सर्यकार्पण्यलोभमोहादयोऽगुणाः ॥ ४३ ॥  
 नेतौच्यास्तानवं सर्वे यावज्जीवावधीं क्रमात् ।  
 अकस्मादुपसन्नानां देशान्तरनिवासिनाम् ॥ ४४ ॥

आराधनकाले केनचित् कारणेन त्वरया नोत्थातव्यमित्याह—नेति ॥ ३८-३९ ॥  
 विम्बादिशोधनं शिखिपक्षादिमृदुकूर्चिविना कण्टकादिभिर्न कार्यमित्याह—  
 आधारादिति ॥ ३९-४० ॥

स्नानकाले स्वापकाले च विवस्त्रो न भवेत्, गुरुषु मौनं न कुर्यात्, उच्छिष्टं  
 न स्पृशेत्, भगवन्मन्दिरादिषु न भुज्जीतेति चाह—नेति सार्धेन । अत्र भोजननिषेध-  
 मात्रतात्पर्येण निकृष्टोत्कृष्टानां सह पाठः कृत इति बोध्यम् । यथा “श्वयुवमघोनाम्”  
 ( ६।४।१३३ ) इति सहपठिताः पाणिनिना ॥ ४०-४१ ॥

कृतदीक्षाणमेव भगवच्छास्त्रो वाच्यः, तदन्येषां तु केवलधर्मशास्त्रमेव वाच्य-  
 मिति, द्रव्यसंग्रहणबुद्धि विना केवलमुपकारार्थं वैष्णवानां शिष्याणां संग्रहम्  
 कुर्यादिति चाह—भक्तानामिति सार्धेन ॥ ४२-४३ ॥

स्वनिष्ठाः शिष्यनिष्ठाश्च मानादिदुर्गुणाः कार्यं नेतव्या इत्याह—मानेति ।  
 तानवं तनुत्वम्, कार्यमित्यर्थः ॥ ४३-४४ ॥

१. क्रियं—अ० उ० । २. ज्जलच्युतिः—मु० अटी० ब्रक० । ३. व्यङ्गं शास्त्रार्थमेव  
 च—मु० अटो० । ४. न कुर्यात् तैर्जिगोषुः सन्—मु० अटी० । ५. वर्जनीयाः प्रयत्नेन—मु० अटी० ।  
 ६. वर्णि—ब्रक० बख० अ० । ७. दित्याह—अ० ।

इष्टोपदेशः कर्तव्यो नारायणरतात्मनाम् ।  
यो न वेच्याच्युतं तत्त्वं पञ्चरात्रार्थमेव च ॥ ४५ ॥  
तथा सदैष्णवीं दीक्षां नानाशास्त्रोक्तलक्षणाम् ।  
न तेन सह सम्बन्धः कार्ये भिन्नक्रमेण तु ॥ ४६ ॥  
न शास्त्रार्थस्य शास्त्राणां गुद्धिपूर्व उपप्लवः ।  
आचर्तव्य इहाज्ञानात् पारम्पर्यक्रमं विना ॥ ४७ ॥  
प्रष्टव्यो भगवद्भक्त आप्तो लक्षणकोविदः ।  
प्रसिद्ध आर्जवे वृद्धो नष्टं शास्त्रार्थलक्षणम् ॥ ४८ ॥  
मुद्रामण्डलमन्त्रागां निस्सन्देहपरेण च ।  
भवितव्यं गुरुणां च सकासात् सर्वदैव हि ॥ ४९ ॥  
न च सर्वज्ञमन्त्राणां विना भावांशकेन तु ।  
आनुकूल्यं गवेष्टव्यं मुक्त्वा मण्डलदर्शनम् ॥ ५० ॥  
नाभिचक्रे तु हृत्पद्मे कन्दमूले गलावटे ।  
अमूर्धये ब्रह्मरन्धे च स्थानेष्वेतेषु मन्त्रराट् ॥ ५१ ॥

देशान्तरादागतानां वैष्णवानामिष्टोपदेशः कार्य इत्याह—अकस्मादिति ॥ ४४-४५ ॥

अवैष्णवेन सह संबन्धो न कार्य इत्याह—य इति सार्वेन ॥ ४५-४६ ॥

शास्त्रशास्त्रार्थयोः साङ्कृत्यं न कार्यमित्याह—नेति । एतद्वचनतात्पर्यमेवमुक्तं श्रीपञ्चरात्ररक्षायाम्—“अस्खलितपारम्पर्यप्रत्यभिज्ञानेषु स्थानेषु परिदृश्यमान-प्रमाणमूलान्याचारपरम्परागृहीतानि च कर्मणि न मात्रयापि परिहौप्यानि, न च तद्विस्त्रान्युपादेयानीत्युक्तं भवति” ( पृ० ५ ) इति ॥ ४७ ॥

चिरकालराष्ट्रक्षोभादिना प्रस्खलितपारम्पर्यप्रत्यभिज्ञानेषु स्थानेषु वृद्धमुखात् तज्ज्ञातव्यमित्याह—प्रष्टव्य इति ॥ ४८ ॥

मुद्रामण्डलमन्त्राश्च गुरोः सकाशान्निःसन्देहं ज्ञातव्या इत्याह—मुद्रेति ॥ ४९ ॥

भगवन्मन्त्राणां सिद्धार्थीक्षणादिनाऽनुकूल्यान्वेषणं न कार्यमित्याह—न चेति ॥ ५० ॥

स्वशरीरे मन्त्रनाथस्मरणस्थानानि तत्कालांश्चाह—नाभीति सार्वेन ॥ ५१-५२ ॥

१. पाञ्च-बक० । २. इहाज्ञात्वात्-बक० वख०, इहाज्ञात्वा-अ० उ० ।

३. नात्-बक० वख० । ४. कुला-अ० उ० । ५. हात्य च तद्विस्त्रानीत्युक्तं भवतीति—अ० म० ।

स्मर्तव्यः सूर्यसंकाशः प्रवासे शयनेऽव्वनि ।  
 मृगसूकरमांसानि नाद्यान्मीनोत्थितानि च ॥ ५२ ॥  
 न हंसकच्छपीयानि न शृङ्गाटपलानि च ।  
 न तथा पद्मवीजानि न वटाग्रं समारुहेत् ॥ ५३ ॥  
 छेद्यमानं न तत्पश्येत् तद्वलं नाड्यिणा स्पृशेत् ।  
 पुण्यक्षेत्रं महातीर्थं सिद्धाश्रममनुत्तमम् ॥ ५४ ॥  
 वैष्णवीं पर्षदं वापि व्यक्तिस्थानं तथाच्युतम् ।  
 आसाद्य मण्डलं कृत्वा चक्रं वा द्वादशारकम् ॥ ५५ ॥  
 निर्वाहणीयं विधिवत् चातुर्मास्यं महामते ।  
 गृहे संयमपूर्वं वा चक्रं कृत्वा तु कुञ्जगम् ॥ ५६ ॥  
 चतुर्विधेन रजसा प्रतिमाया अथाग्रतः ।  
 संयुक्तानपि पूर्वोक्तरैतांश्च समयान् सदा ॥ ५७ ॥  
 निर्वाहकाणां भक्तानां प्रयच्छेत् सततं गुरुः ।  
 ज्ञात्वा निर्वाहकं भक्तं तस्यादौ देशिकेन तु ॥ ५८ ॥

सिंहसूकरादिसूपैर्भगवतोऽवतीर्णत्वात् तँत्तम्भांसानि न भक्षयेत् । तथा चतुष्पथ-  
 विक्रीतमांसानि च न भक्षयेदिति चाह—मृगेति । मृगसूकरादिषु भगवद्बुद्धिरेव  
 कार्येति भावः । लक्तं खलु नृसिंहकल्पे समयोपदेशप्रकरणे—

द्वारादेव नमस्कार्ये मृगराङ् व्याघ्रं एव वा ।  
 तदाकृतिमृगो वान्यो तच्चर्माणि चै नास्त्वेत् ॥ (१७।१२९) इति ।  
 एवं मांसनिषेधश्च कृतयुगविषयः, कलौ सामान्यतो निषेधात् ॥ ५२-५३ ॥

एवं पद्मस्य भगवदाश्रितत्वात् तद्वीजानामभव्यत्वम्, भगवतो वटपत्रशायि-  
 त्वात् तदारोहणादिनिषेधं चाह—न तथेति ॥ ५३-५४ ॥

चातुर्मास्यव्रतानुष्ठानस्थानान्याह—पुण्यक्षेत्रमिति त्रिभिः ॥५४-५७॥

एतान् समयान् निर्वाहकाणां शिष्याणामुपदिशोदित्याह—संयुक्तानिति । पूर्वोक्तैः  
 श्रीनृसिंहकल्पोक्तैः समयैरित्यर्थः ॥ ५७-५८ ॥

१. क्रमं—मु० अटी० । २. नथ—अ० । ३. समयांस्तदा—अ० । ४. तन्मांसानि—अ० ।  
 ५. न चारु—म० । ६. समदशे परिच्छेदे १२४-१३९ श्लोकेषुक्तैः ।

समुद्दिश्यास्तु ते सर्वे निर्वहत्यथ येषु वै ।  
 तेषु तेषु नियोक्तव्यो यथा न च्यवते पुनः ॥ ५९ ॥  
 धावन्ति समयधनस्य सविद्वनास्तु विनायकाः ।  
 विमुखाः सिद्धयो यान्ति ह्यापदो हि भवन्ति च ॥ ६० ॥  
 ज्ञात्वैवं सावधानेन निर्वक्तव्यं हि तान् ग्रति ।  
 सारमादाय वै बुद्ध्या निर्मथ्य नियमोदधिम् ॥ ६१ ॥  
 कृपया गुरुणा देयं<sup>x</sup> समयानां तु पञ्चकम् ।  
 भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि ॥ ६२ ॥  
 नियतं पञ्चकस्यास्य यथावत् परिपालनात् ।  
 अनुष्ठानात् तु नान्येषां स्वातन्त्र्येण यथेच्छया ॥ ६३ ॥  
 भैव्यानां मनसोऽभीष्टाः प्रवर्तन्ते हि सिद्धयः ।  
 येऽनिर्मलेन मनसा उपरोधात् तु कुर्वते ॥ ६४ ॥

पूर्वं शिष्यस्य निर्वाहकतां ज्ञात्वा तस्य समया उपदेष्टव्याः । ततस्तस्य येषु  
 येषु निर्वाहः संभवति, स तेषु तेषु समयेषु पुर्यथा समयच्युतो न भवेत्, तथा नियोज-  
 नीय इत्याह—ज्ञात्वेति सार्थेन ॥ ५८-५९ ॥

समयभ्रष्टस्यानिष्टपरम्परा संभवति, अतः सावधानं समयाः पालनीया  
 इत्याह—धावन्तीति सार्थेन । विनायका दुष्टप्रहविशेषा इत्यर्थः । “भूतप्रेतपिशाचाश्च  
 यक्षरक्षोविनायकाः” (१०।६।२७) इति श्रीभागवते । समयधनस्य धावन्ति समयधनं  
 प्रति धावन्तीत्यर्थः ॥ ६०-६१ ॥

एतेषु समयेषु सारभूतमग्निभक्तिगुरुभक्त्यादिपञ्चकं विशेषेणोपदेष्टव्य-  
 मित्याह—सारमिति सार्थेन ॥ ६१-६२ ॥

एतत्समयपञ्चकस्य परिपालनादन्येषां समयानामननुष्ठानेऽपि मनोऽभीष्ट-  
 सिद्धिमान् भवतीत्याह—नियतमिति सार्थेन । अथवा गुर्वादिचोदनां विनाऽन्येषां  
 कर्मणां स्वच्छन्दस्वातन्त्र्येणानुष्ठानाभावाच्चेत्यर्थः । यद्वा (आनन्दः ?) क्रियापदेनान्वये  
 परिपालनादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी ॥ ६३-६४ ॥

एवं समयपरिपालनं कुर्वतामपि मनःकालुष्ये सति नैषफल्यं तदभावे साफल्यं  
 चाह—य इति द्वाभ्याम् । अनिर्मलेति पदच्छेदः ॥ ६४-६५ ॥

१. श्याश्च मन्त्रार्हा—उ० । २. यावन्ति—अटी० बक० बख० अ० । ३. भवितव्यं—उ० ।  
 ४. देयमशठानां—मु० बक० बख० अ० उ० । ५. कं चास्य—मु० अटी० बक० बख० ।  
 ६. हव्यानां—अ० । ७. स्वच्छन्दं—अ० । ८. नमिति—अ० ।

पालनं समयानां च ते मज्जन्त्यसितेऽध्वनि ।  
 सुग्रसन्नेन मनसा यथैतत् परिपाल्यते ॥  
 तथा प्रसादमभ्येति स्व आत्मा तु हृतैषिणाम् ॥ ६५ ॥  
 नूनं कालुष्यमुक्तानां स्थितानामिह सत्पथे ।  
 सौमयिसाधकाचार्यपुत्रकाणां भवेच्छुभम् ॥ ६६ ॥  
 इति श्रीपौञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां समयविधिर्नाम्  
 'एकविंशः परिच्छेदः' ॥

अतश्चतुर्विधशिष्याणामपि मनःकालुष्यरहितानामेव शुभं भवेदित्याह—  
 नूनमिति ॥ ६६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये एकविंशः 'परिच्छेदः' ॥




---

१. हि कर्मिणाम्-उ० । २. समये-मु० बक० बख० अ० उ० । ३. पञ्च-उ० ।  
 ४. 'नाम' नास्ति-बक० बख० उ० । ५. एकविशतितमः-उ०, विशतितमः-अ० ।  
 ६. विशतिः-म० ।

## द्वार्विशः परिच्छेदः

सङ्क्षण उवाच

लक्षणं ज्ञातुमिच्छामि चतुर्णा॒ देव साम्प्रतम् ।  
विज्ञातव्यास्तु कैलिङ्गैर्भेदस्तेषां तु कि कृतः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

यः श्रीमान् श्रद्धानस्तु मतिमान् सुदृढवतः ।  
सत्यवाग् भगवद्वक्तो मिताशी सङ्गवर्जितः ॥ २ ॥  
गुर्वाराधननिष्ठस्तु स्थिरबुद्धिरतन्द्रितः ।  
सद्वैष्णवकुले जातः सुसंस्कारैः सुसंस्कृतः ॥ ३ ॥  
पुरा मातापितृभ्यां तु नीतः सद्योग्यतापदम् ।  
विमुक्तसङ्गरो दान्तः परत्र भयशङ्कितः ॥ ४ ॥  
साधुसङ्गस्माकाङ्क्षी शास्त्रार्थास्वादलम्पटः ।  
तत्सञ्चयव्यसनवान् धार्मिकाणां पथि स्थितः ॥ ५ ॥  
शुभकर्मरतो नित्यमदीनः सञ्चवान् क्षमी ।  
धीरो दयापरश्चैव साधूनामुपकारकृत् ॥ ६ ॥  
निर्मलाम्बरधारी च विमलाङ्गः सदैव हि ।  
प्रियभाषी प्रसन्नास्यः परद्रव्येष्वलोलुपः ॥ ७ ॥  
परदारस्पृहामुकतः सद्विवेकपदाश्रितः ।  
क्षत्रविट्शूद्रजातीयो मद्यमांसेष्वलम्पटः ॥ ८ ॥

अथ द्वार्विशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह पूर्वं परिच्छेदान्ते सूचितानां सामयिकादीनां चतुर्णा॒ लक्षणं पृच्छति संकर्षणः—लक्षणमिति ॥ १ ॥

एवं पृष्ठो वासुदेवः पूर्वं समयिलक्षणमाह—यः श्रीमानित्यारभ्य शिष्यो

१. एकविशतिमः—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति—मु० अटी० । ३. वर्णनां—उ० ।

४. ‘उवाच’ नास्ति—मु० अटी० । ५. परम्—वक० बख० । ६. मसाकाङ्क्षी—मु० अटी० ।

७. सत्य—वक० बख० अ० ।

शौचस्वाध्यायनिरतः सन्तुष्टः सततोद्यतः ।  
 उच्छिष्टवर्जनपरश्चक्रतप्तततुः सदा ॥ ९ ॥  
 मौनमात्सर्यकार्पणपरित्यागपरो महान् ।  
 दैवे पित्र्ये सदोद्युक्तो दम्भाचारविवर्जितः ॥ १० ॥  
 निःशेषाणामकर्मण्यद्रव्याणां परिहारकृत् ।  
 मातुर्जनकनिष्ठानां सद्बन्धूनां च वत्सलः ॥ ११ ॥  
 उत्कनिर्वाहकश्च भीनित्यं नीचासनप्रियः ।  
 सर्वेषामूर्ध्वतो नित्यं स्थितिकामपरायणः ॥ १२ ॥  
 वंशोद्धारैकरतयौ सुधियाङ्गुडकृतः सदा ।  
 गुरुप्रसादादन्यत्र स्वगृहे वा गुरोगृहे ॥ १३ ॥  
 लब्धदर्शनमत्रो वै मन्त्रमूर्तेस्तु मण्डले ।  
 गुरुदृग्वीक्षणेनैव प्रोक्षणेनैव संस्कृतः ॥ १४ ॥  
 बुद्ध्यते तावता चैव कृतार्थोऽस्मीति साम्प्रतम् ।  
 ततः प्रभृतिकालाच्च सुप्रसन्नाच्च देशिकात् ॥ १५ ॥  
 पाठपूर्वं हि शास्त्रार्थमभ्यर्थयति योऽनिशम् ।  
 श्रुत्वा विचारयत्यर्थनिकान्ते विजने स्थितः ॥ १६ ॥  
 नाभिमानपदं याति सुसम्पूर्णोऽपि चोदितः ।  
 शिक्षयत्यथ नान्येषां लुब्धः स्वार्थस्य सिद्धये ॥ १७ ॥  
 नोद्ग्रायहति शास्त्रार्थमभ्यर्थयति० योऽनिशम् ।  
 न विक्रियामवाप्नोति ह्याक्षिप्तोऽप्यथ संसदि० ॥ १८ ॥

जात्या चतुर्विध इत्यन्तम् । एवं च यथोक्तलक्षणविशिष्टो दीक्षोक्तरीत्या नेत्रबन्ध-

- 
१. त्थितः—अ० । २. उत्कृष्टमध्यमन्यूनतपः—बक० बख० अ० उ० । ३. मनोवाग्-  
 दृष्ट—बक० बख० अ० उ० । ४. स्त्यागी—उ० । ५. ढारणभूतायाः—बक०, द्वरण—उ०,  
 भूताय—अ० । ६. नैव—अ० उ० । ७. सुप्रश्नाच्च सु—बख०, सुप्रसन्नांश्च देशिकान्—अ० ।  
 ८. र्णे तु—बख० । ९. यल्लुब्धं स्वार्थ—बख०, यल्लुब्धं स्वार्थ—अ०, यल्लुब्धं स्वात्म—उ० ।  
 १०. ‘भ्यर्थयति योऽनिशम् । न विक्रियामवाप्नोति ह्या’ नास्ति—अ० उ० । ११. शंसति—उ० ।

न मन्यते तदा सम्यग् विजेष्यामीति वादिनः ।  
 कुण्डमण्डलमुद्रास्त्रपीठविम्बालयेषु च ॥ १९ ॥  
 समन्वेषु च बुद्धिस्थं नित्यं कुर्याच्च संग्रहैम् ।  
 अयनादिषु कालेषु प्रत्यहं त्वस्य सम्भवात् ॥ २० ॥  
 देवमर्चपियेत् कुर्यात् स्वयं वा मान्त्रमर्चनम् ।  
 गुर्वादिष्टो गुरुणां च कुर्यात् पादाभिवन्दनम् ॥ २१ ॥  
 कार्या तेषां न जिज्ञासा यया यान्त्यप्रसन्नताम् ।  
 प्रसाद्य विधिवत् पृच्छेदवृद्धमथ विस्मृतम् ॥ २२ ॥  
 विज्ञातमैथवा ज्ञातमाचार्यैः परिचोदितः ।  
 कल्यृप्तां तेषां स्वकां मुद्रां गुण्ठां कृत्वा प्रैकाशयेत् ॥ २३ ॥  
 संस्कृतश्रुतपाठाभ्यां स्वगुरुं प्रार्थयेत् ततः ।  
 भगवद्यागपूर्वं तु पुत्रकारुण्यं परं पदम् ॥ २४ ॥  
 असन्निधानात् स्वगुरोः प्रार्थयेत् तत्प्रतिष्ठितम् ।  
 तदभावात् तु वै चान्यं क्रमात् सद्वैष्णवो हि यः ॥ २५ ॥  
 नान्यदर्शनसंस्थं तु गुरोर्यस्मादवैष्णवात् ।  
 कर्मतन्त्रं समन्त्रं च द्रव्यसामान्यजं फलम् ॥ २६ ॥  
 नूनं वैफल्यमायाति तस्मात् तं परिवर्जयेत् ।  
 द्रव्यमन्त्रक्रियाभावभेदात् फलमनश्वरम् ॥ २७ ॥  
 जायते कर्मिणां शश्वदभेदाद् वै द्यक्कर्मिणाम् ।  
 संवृत्र समबुद्धीनामात्मन्यभिरत्मनाम् ॥ २८ ॥  
 लोकाचारवियुक्तानां यज्ञविग्रहिणां तु वै ।  
 शात्वैवं सह वै यस्य सम्बन्धः सफलो भवेत् ॥ २९ ॥

विमोचनपूर्वकं लब्धमण्डलदर्शनमात्रः शास्त्रार्थग्रहणशीलोऽयनादिविशेषेष्वेव भगव-

१. मन्येत कदा-बख० २० उ० । २. ग्रहे-बख० । ३. मपि च-बख० । ४. कृत्वा-बख०,  
 कस्त्वं-अ०, अस्त्वं-उ० । ५. प्रशान्त-अ०, प्रशात-उ० । ६. स प्रति-उ० ।  
 ७. संघातजं-मु० अटी० । ८. द्वैश्य-मु० अटी० बक० बख० । ९. सर्वतः-उ० ।

सर्वदा स उपास्तव्य इहामुष्मिकसिद्धये ।  
 लिङ्गैरतैः परिज्ञेयः सहजोत्थैरकृत्रिमैः ॥ ३० ॥  
 आचार्यैः समयी नाम शिष्यो जात्या चतुर्विधः ।  
 एवं पुत्रकपूर्वा ये परिज्ञेयास्तु ते त्रयः ॥ ३१ ॥  
 किन्तु तस्य विशेषो यस्तमिदानीं निवोधतु ।  
 विज्ञाता गुरुणा यस्य विनियोगात् कृतार्थता ॥ ३२ ॥  
 स्वल्पमध्योत्तमाद्येन शिक्षितेनागमेन च ।  
 तस्यानुग्रहबुद्ध्या तु आहूतस्याच्युतालये ॥ ३३ ॥  
 कृत्वा निरीक्षणाद्यं च देवधामिन् तु क्षेपयेत् ।  
 तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक् सार्थपुष्पाक्षेत्राज्जलिः ॥ ३४ ॥  
 ततः प्रभृति कालाच्च ध्यानं न्यासादिकं विना ।  
 पूजनं मन्त्रमात्रेण वह्नितर्पणवज्जितम् ॥ ३५ ॥  
 योग्यतापदसिद्धवर्थं दत्तं विम्बेऽप्सु वा स्थले ।  
 सामान्यविधिना चोक्तो गुरुणा चार्चयाच्युतम् ॥ ३६ ॥  
 स तथेति तदुक्तं च मत्वाऽस्ते मुदितः सदा ।  
 आलोचयंस्तु शास्त्रार्थं स्वमुद्रामुद्रितं तु वै ॥ ३७ ॥  
 शक्त्या निरीक्षमाणं च योगक्षेमादिकं गुरोः ।  
 तदाराधननिष्ठस्तु तच्चित्तस्तत्परायणः ॥ ३८ ॥

दर्चनपरो यः स समयीति ज्ञेयः ॥ २-३१ ॥

पूर्वोक्तानि समयिलक्षणानि पुत्रकादिषु त्रिष्वपि समानानि । तद्विशेषांस्तूपरि वक्ष्यामीत्याह—एवमिति ॥ ३२ ॥

पुत्रकस्य विशेषलक्षणान्याह—विज्ञाता गुरुणा यस्येत्यारभ्य स्वपुत्रादधिकः सदेत्यन्तम् । एवं च सम्यग् गृहीतशास्त्रार्थः पुत्रपदार्होऽप्यमिति गुरुणा ज्ञातः । मण्डलोपरि प्रदेषपितपुष्पाऽज्जलिकसतदा प्रभृत्यत्राच्युतमर्थेति गुरुणानुज्ञातो विम्बे मण्डलेऽप्सु

१. यस्य—अ० उ० । २. आभू—मू० अटी० । ३. वदेत् स्वयम्—मू० अटी० । ४. हिता—बख० अ० उ० । २. त्राच्चना—अ०, त्राच्चया—उ० । ६. ‘च मःवाऽस्ते’ क्षेमादिकं’ नास्ति—उ० । ७. मत्त—मू० अटी० । ८. तस्तदा—अ० । ९. तस्तु—अ० ।

समाक्षिप्तस्तदादेशान्मन्त्रमुद्राद्वयं विना ।  
 कीर्त्यर्थं स्वगुरोर्ब्रूयात् ज्ञातं शास्त्रार्थमुच्चमम् ॥ ३९ ॥  
 विचार्य स्वधिया सम्यग् वैष्णवानां हि संसदि ।  
 यथा नैति जनानां च मध्ये मात्सर्यभूमिताम् ॥ ४० ॥  
 स शिष्यः पुत्रको नाम स्वपुत्रादधिकः सदा ।  
 साधकाख्ये विशेषो यस्तमिदानां निवोधं मे ॥ ४१ ॥  
 पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः ।  
 स्नानादिनाऽखिलेनैव देवभूतेन कर्मणा ॥ ४२ ॥  
 सिद्धये स्वात्मनश्चैव नै लोकाराधनाय च ।  
 वने वायतनोद्देशे स्वगृहे वा मनोरमे ॥ ४३ ॥  
 मन्त्रसेवार्घ्यदानं च कुर्यान्मन्त्रवतं महत् ।  
 परमः पालनीयश्च तेनैषं समयः सदा ॥ ४४ ॥  
 यदतीव च संलब्धं यच्छक्त्यानन्दमात्मनिं ।  
 तदाश्चर्यं न वक्तव्यं पूजापूर्वं गुरोर्विना ॥ ४५ ॥  
 आत्मीयमुद्रासंयुक्तो नित्योद्युक्तः स्वकर्मणि ।  
 श्रद्धया यः स वोद्वव्यः साधको भगवन्मयः ॥ ४६ ॥  
 लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तस्त्वभिर्युक्तो विशेषतः ।  
 अनुग्रहार्थं गुरुणा भक्तानां विनियोजितः ॥ ४७ ॥  
 पदानि पदमन्त्राणां सार्थकानि च वेच्च यः ।  
 वाच्यवाचकभावेन साङ्गानङ्गवशेन वा ॥ ४८ ॥

वा प्रत्यहं ध्यानन्यासवक्त्रितर्पणानि विना मन्त्रमात्रार्चनपरः शास्त्रार्थपर्यालोचनादिशीलो यः स पुत्रक इति ज्ञेयः ॥ ३२-४१ ॥

अथ साधकलक्षणमाह—साधकाख्ये विशेषो य इत्यारभ्य साधको भगवन्मय इत्यन्तम् । एवं च यावन्तं पूर्वोक्तदीक्षया संस्कृत आयतने वने भवने वा यथाविधि ध्यानन्यासादिभिः सह मन्त्रार्चनं कुर्वन् जपादिभिस्तसाधनपरो यः स साधक इति बोध्यः ॥ ४१-४८ ॥

१. यथाभ्येति—उ० । २. धतु—अ० । ३. लोकानां साधनाय—म० अटी० ।  
 ४. तेनैव—म० अटी० । ५. तमनः—अ० । ६. षिक्तो—अ० उ० । ७. साङ्गानङ्ग—म० अटी० ।  
 ८. च—उ० ।

करविग्रहकहारचकन्यासार्थमेव च ।  
 समेन विषमेणैव संकुचित्रादिकेन च ॥ ४९ ॥  
 तेषामर्थवशाच्चैव विनियोगं हि वस्तुषु ।  
 ध्यानदैवतविज्ञानाद् व्यापकत्वं तु चाध्वनि ॥ ५० ॥  
 निलिङ्गं देवतानां च शब्दब्रह्मत्वमेव हि ।  
 यथावदनुजानाति स्ववर्णः प्रागुदीरितम् ॥ ५१ ॥  
 साङ्कर्यमागमानां च वेच्च वाक्यवशात् तु यः ।  
 तत्र वै त्रिविधं वाक्यं दिव्यं च मुनिभाषितम् ॥ ५२ ॥  
 पौरुषं चाँरविन्दाक्ष तद्भेदमवधारय ।  
 यदर्थाद्यमसन्दिग्धं स्वच्छमल्पाक्षरं स्थैरम् ॥ ५३ ॥  
 तत्पारमेश्वरं वाक्यमाज्ञासिद्धं चै मोक्षदम् ।  
 प्रशंसकं वै सिद्धीनां संप्रवर्तकमध्यथ ॥ ५४ ॥  
 सर्वेषां रक्तकं गूढं निश्चयीकरणक्षमम् ।  
 मुनिवाक्यं तु तद्विद्धि चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ ५५ ॥  
 अनर्थकमसम्बद्धमल्पार्थं शब्दङ्गम्वरम् ।  
 अनिर्वाहकमाद्योक्तेर्वक्यं तत्पौरुषं स्मृतम् ॥ ५६ ॥

अथाचार्यलक्षणमाह—लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्त इत्यारभ्य सर्वैः सामयिकैर्गुणैरित्य-  
 न्तम् । अथ प्रसङ्गात् शास्त्रसङ्करभेदं दिव्यादिभेदैरागमत्रैविध्यमपि दर्शितम् । तत्र  
 मुनिभाषितस्यापि सात्त्विकादिभेदैस्त्रैविध्यमैश्वर(१५७-६३)-पारमेश्वरा(१०३४७-  
 ३७४)दिष्पबृंहितं ग्राह्यम् । एतसाङ्कर्यविचारः श्रीपञ्चरात्ररक्षायां बहुशः प्रतिपा-  
 दितो द्रष्टव्यः । “अनिर्वाहकमाद्योक्तेरिति दिव्यमुनिभाषितयोर्विरुद्धार्थत्वमुच्यते । असं-  
 बद्धमिति पूर्वोपरविरुद्धत्वम्” पू० (२१) इति पौरुषवाक्यलक्षणप्रकरणोक्तं पदद्वयमपि  
 तत्रैव व्याख्यातम् । एवं च पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तो व्रतादिभिः सिद्धमन्त्र आचार्याभिषेकेना-  
 भिषिकतः पदमन्त्राद्यर्थज्ञानसंपन्नो यः स आचार्य इति बोध्यः ।

ननु “पूर्ववल्लब्धदीक्षः” (२२४२) इति साधकस्य । “लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तः”  
 (२२४७) इत्याचार्यस्य च प्राप्तदीक्षत्वमुक्तं भवति, समयिपुत्रक्योस्तु तन्नास्ति, तथापि

१. सङ्कृद् द्वि-उ० । २. त्वर-अ० उ० । ३. स्मृतम्-म० अटी० । ४. हि-म० अटी०  
 बक० । ५. हि-म० अटी० बक० ।

हेयं चौनर्थसिद्धीनामाकरं नरकावहम् ।  
 प्रसिद्धार्थानुवादं यत् संगतार्थं विलक्षणम् ॥ ५७ ॥  
 अपि चेत् पौरुषं वाक्यं ग्राह्यं तन्मुनिवाक्यवत् ।  
 एवमादेयवाक्योत्थ आगमो यो महामते ॥ ५८ ॥  
 सैन्मार्गदर्शनं कृत्स्नं विधिवादं च विद्धि तम् ।  
 तत्प्रामाण्यात् तु यत्किञ्चित् समभ्यूह्य यथार्थतः ॥ ५९ ॥  
 पूर्वापराविरोधेन निर्वाहयति सर्वदा ।  
 भक्तानां चोदितस्त्वेवं पदवाक्यप्रमाणवित् ॥ ६० ॥  
 स्वमुद्रालङ्कृतश्चापि यः सदा चक्रधृक् चरेत् ।  
 स देशिको निबोद्धव्यः सर्वैः सामयिकैर्गुणैः ॥ ६१ ॥  
 वेदैत्यत्यन्यथात्मानं योऽन्यस्मिन् योजितं पदे ।  
 कृत्वापेक्षां तु हृदये स याति नरकेभ्यः ॥ ६२ ॥  
 नो भाजनं स्यात् सिद्धीनां क्रमत्यागे कृते सति ।  
 स्वंमाचारं स्वकां जातिं स्वगोत्रं स्वगुरोर्गृहम् ॥ ६३ ॥  
 स्वपदं च स्वसंस्कारं प्राङ्मनिषिद्धेन वै विना ।  
 गोपायत्यचिराद् यो वै पातित्यमुपयाति सः ॥ ६४ ॥

तयोर्मन्त्रमात्राच्चने कथमधिकारः सिद्ध्यति ? दीक्षाकालमन्तरा तयोर्मन्त्रः कदा प्राप्त  
 इति चेत्, मध्ये<sup>१</sup> (कमनीया?किमनया) शङ्खया, वचनात् प्रवृत्तिः वचनान्निवृत्तिः ।  
 अदीक्षितानामर्चना(न)धिकारप्रतिपादकानि वचनानि तु मुद्रान्याससहिताच्चना-  
 धिकारनिषेधपराणि बोद्धयानि । मन्त्रस्तु मण्डलदर्शनानन्तरं शास्त्राभ्याससमय एव  
 संगृह्यते ॥४७-६१॥

सर्वयिपुत्राद्यवरपदस्थोऽपि प्रतिष्ठापेक्षया साधकाचार्यपदारूढत्वेनात्मानं वेद-  
 यति, तस्य महत्तरं दोषमाह—वेदयतीति सार्वेन ॥६२-६३॥

१. स्यादर्थ—अ० । २. ‘संगतार्थ’—‘यत्किञ्चिचत्’ नास्ति—उ० । ३. समार्ग—बक० बख० ।
४. सामयिकादिकैः—बख० अ० उ०, सामयिकैर्गुणैः—अटी० । ५. चोद—उ० । ६. योऽन्यमन्यो  
 जितः—बक० बख०, मयाऽस्मिन् योजितः—अ०, योऽस्मिन् संयोजितः परे—उ० । ७. स्वपदम्,  
 गोपायति, स्वमाचारमिति पद्कित्रयक्रमः—अटी० । ८. हृषेक—अ० । ९. समयी पुत्रावर—अ० ।

तस्माच्छ्रेयोऽर्थिना नित्यं नाभिमानं न तैश्यात् ।  
अधरोन्नरता सम्यग् आचर्तव्या च कुत्रचित् ॥ ६५ ॥

सङ्करण उवाच

मुद्राचतुष्टयं देव कीदृग्लक्षणलक्षितम् ।  
ज्ञायते यत्परिज्ञानाद् देशिकान्तं चतुष्टयम् ॥ ६६ ॥

श्रीर्भेगवानुवाच

यत्पूर्वं नृहरेः प्रोक्तं शिरोमुद्रादिपञ्चकम् ।  
तदण्डगुष्ठविनिर्मुक्तं चिद्धि न्यूनाढ्गुलैः क्रमात् ॥  
चतुष्टयं चतुर्णा तु गुर्वन्तानां यथास्थितम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीपौञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधिकारिमुद्राभेदविधिर्नामै  
द्वाविशः परिच्छेदः ॥

एवं स्वाचारजातिगोत्रादिगोपनेऽपि पातित्यं संभवतीत्याह—एवमिति साधेन ।  
प्राङ्गनिषिद्धेन मन्त्रमुद्रादिनेतर्थः,

समाक्षिस्तदादेशान्मन्त्रमुद्राद्वयं विना ।  
कीर्त्यर्थं स्वगुरोब्रूयाद् ज्ञातं शास्त्रार्थमुत्तमम् ॥ (२२।३९)  
इत्यादिभिस्तेषां प्रकाशन(स्य) निषिद्धत्वात् । अतस्त्वहङ्कारादुत्कृष्टत्वकथनं च न  
कार्यम् ॥६३—६४॥

वास्तविकार्थकथनं श्रेयस्करमित्याह—तस्मादिति ॥६५॥  
पूर्वोक्तसमयिपुत्रकादिज्ञापकतत्तन्मुद्राचतुष्टयलक्षणं पृच्छति संकरणः—  
मुद्रेति ॥६६॥

एवं पृष्ठो वासुदेवः पूर्वं नृसिंहकल्पोक्त(१६।१०२)शिखामुद्रादिचतुष्टयमेव  
समयिपुत्रका(णां ? दीनां) मुद्राचतुष्टयमित्याह—यदिति साधेन ॥६७॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य  
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
सात्वततन्त्रभाष्ये द्वाविशः परिच्छेदः ॥

१. तत्क्षणात्—उ० । २. 'सङ्करण' नास्ति—उ० । ३. 'उवाच' अ० विहाय कुत्रापि नास्ति ।
४. भगवान्—मु० अटी० बक० बख० । ५. पञ्च—बक० अ० उ० । ६. चतुर्विधशिष्याचार्य-  
लक्षणं नाम—बक० । ७. 'नाम' नास्ति—बख० अ० उ० । ८. द्वाविशतिः—बख०, द्वाविशति-  
तमः—उ०, एकविशतिमः—अ० ।

## ० त्रयोविशः परिच्छेदः

नारद उवाच

कामपालेन देवेशस्त्वथ ब्राह्मणसत्तमाः ।  
चोदितो यत् तदधुना कथयामि समाप्तः ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

ज्ञातो विभवदेवानां देव बीजगणो मया ।  
अधुना ज्ञातुमिच्छामि तत्पिण्डनिचयो हि यः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

यथाक्रमोदितानां च देवानां विनिबोधतु ।  
पिण्डमन्त्रगणं मत्तः सावधानेन चेतसा ॥ ३ ॥  
नाभेरष्टमबीजं यत् स्थितं तत् सप्तमोपरि ।  
तदधश्चोत्तरं चाक्षादरान्तेन विभूषयेत् ॥ ४ ॥  
अथोत्तरं चाक्षदेशादादाय तदधो न्यसेत् ।

अथ त्रयोविशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह संकर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्ठस्तत् कथयामीत्याह—कामपालेति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—ज्ञात इति ॥ २ ॥

एवं पृष्ठो वासुदेवः पिण्डमन्त्रात् शृणित्याह—यथेति । यथाक्रमोदितानां देवानां पद्मनाभध्रुवाणामित्यर्थः ॥ ३ ॥

तेषामुद्घारकममाह—नाभेरष्टमबीजं यदित्यारभ्य नमोऽन्ताः प्रणवाद्याश्च

१. द्वार्विशः—अ० । २. स्थानत्रयेऽप्युवाचपदं नास्ति—मु० अटी० । ३. ध्रुवादीनामिति पठनीयम् ।

बीजं नेमेद्वितीयं यन्मध्यान्मध्यं तदासने ॥ ५ ॥  
 आश्रारष्टसंरुद्धं कुर्याद् वै नाभिसप्तकम् ।  
 अङ्गमं च तदूर्ध्वे तु एतद् विद्वि तृतीयकम् ॥ ६ ॥  
 नाभ्यष्टममथादाय अरात् षष्ठासनस्थितम् ।  
 ततो नाभिद्वितीयस्य क्रमेणाद्यो निवेश्य च ॥ ७ ॥  
 तदुद्देशात् तृतीयं च सप्तमं तुर्यमेव च ।  
 अथादाय च नेमेः प्राक् तदधो नाभिसप्तमम् ॥ ८ ॥  
 तस्याप्यधस्तदुद्देशात् तृतीयं विनिवेश्य च ।  
 ततस्तु नवमं नाभेस्तस्योध्वीधोगतं न्यसेत् ॥ ९ ॥  
 तत्रैव यद् द्वितीयं तु तत्पिण्डं विद्वि सप्तमम् ।  
 अरात् षष्ठस्य चोर्ध्वे तु नाभिपूर्वं तु विन्यसेत् ॥ १० ॥  
 सप्तमं चाष्टमं चापि श्युपर्युपरि वै क्रमात् ।  
 अथाष्टमं नाभिदेशादारुद्धं सप्तमोपरि ॥ ११ ॥  
 तदधो मध्यगं चाक्षान्नवमं परिकीर्तितम् ।  
 भूयोऽरात् पञ्चमस्योर्ध्वे दद्यान्नाभितृतीयकम् ॥ १२ ॥  
 ब्राह्मात् तृतीयं तन्मूर्ज्ञान्पिण्डोऽयं दशमः स्मृतः ।  
 द्वितीयं नाभिदेशाच्च तत्तृतीयं तदूर्ध्वगम् ॥ १३ ॥  
 नेमेरार्द्धन्तमूर्ध्वे तु स्मृतमेकादशं त्विदम् ।  
 अथो नाभिचतुर्थस्य सप्तमं विनिवेश्य च ॥ १४ ॥  
 तदधो नेमिपूर्वं तु एतद् द्वादशमं स्मृतम् ।  
 नेमेस्त्रिदशमादाय तदधो योजयेत् क्रमात् ॥ १५ ॥

युक्ताः संज्ञापदैः स्वकैरित्यन्तम् । नाभेष्टमबीजं यद् हकारं तत्सप्तमोपरि सकारोपरि स्थितं कृत्वा तदधः सकारस्याधस्ताद् अक्षरादुत्तरं नकारं संयोज्य अरान्तेन विसर्गेण भूषयेत् । पद्मनाभस्यपिण्डाक्षरमिदम् । उत्तरत्राप्येवंरीत्या बोध्यम् । तथा चैषां प्रयोगः—

- १. नेमिद्वि—बख० उ० । २. ग्रत् पद्मूर्धां (पद्मां) मध्ये—मु० अटी० । ३. षष्ठं—मु० अटी० । ४. मम—मु० अटी० अ० । ५. इलोकचतुष्टयं नास्ति—मु० अटी० । ६. मध्यमं—मु० अटी० बक० । ७. चाक्षन—मु० अटी० बख० । ८. राद्यं तदू—अ० । ९. अधो—मु० बक० बख० उ० ।

सप्तमं च चतुर्थं च पूर्वं नाभेर्महामते ।  
 अैरषष्ठासनाः<sup>१</sup> सर्वे पिण्डमेतत् त्रयोदशम् ॥ १६ ॥  
 नाभेश्चतुर्थमादाय तदूध्वें सप्तमं न्यसेत् ।  
 नवमं चापि तन्मूर्धिन एतद्विद्वि चतुर्दशम् ॥ १७ ॥  
 नेमेश्चतुर्थसंख्यस्य ऊर्ध्वाधीभ्यां निवेश्य च ।  
 वैर्ण नाभिद्वितीयं यैत् तत्पञ्चदशमं स्मृतम् ॥ १८ ॥  
 यद्विंशसंख्यकं बाह्यादादायाराख्यमण्डलात् ।  
 सान्तिमेन च पष्ठेन युक्तं कुर्यादनन्तरम् ॥ १९ ॥  
 नेमेः सप्तमवर्णस्य ‘ऊर्ध्वाधीभ्यां निवेश्य च ।  
 नाभिदेशाद् द्वितीयं यद् विद्वि सप्तदशं तु तत् ॥ २० ॥  
 नवमं नाभिदेशाच्च सप्तमस्योपरि न्यसेत् ।  
 अर्थाष्टमं नाभिदेशात् कुर्यात् सप्तममूर्ध्वगम् ॥ २१ ॥  
 द्वितीयमपि<sup>२</sup> तस्याधस्तस्माद् वै नाभिमण्डलात् ।  
 अरात्<sup>३</sup> त्रयोदशादूध्वें न्यूनविंशतिमं तु तत् ॥ २२ ॥  
 नाभेश्चतुर्थं तस्योध्वें तत्तृतीयं तदूर्ध्वगम् ।  
 तत्रैव सप्तमं यद् वै विद्वि विंशतिमं त्विदम् ॥ २३ ॥  
 द्वितीयस्याष्टमं नाभेर्वर्णस्योध्वें नियोजय च ।  
 अरात् पष्ठं च तस्याधः कुर्यात् तदतु लाङ्गलिन् ॥ २४ ॥  
 नवमं नाभिदेशाच्च तृतीयस्योपरि न्यसेत् ।  
 द्वितीयं तदधः कुर्यात् त्रयोविंशतिमं<sup>४</sup> श्रृणु ॥ २५ ॥  
 अष्टमं सप्तमं नाभेद्वितीयं प्रथमं ततः ।  
 क्रमेण योजयेच्चैव अरात् पष्ठस्य मूर्धनि ॥ २६ ॥

हृस्नः, न्खमं, हृस्यू, हूं, ल्स्वं, क्स्लं, क्ष्रं, हृस्यू, हृस्मं, ग्लुं, क्स्नं, र्स्कं, क्स्व्यं, क्स्वं, क्स्वं,

१. पुनर्ना—मु० अटी० वक० । २. अरा—मु०, अरात—अटी० । ३. पष्ठसमा—अ० ।  
 ४. यस्तु—अ०, वर्ण—उ० । ५. तत—मु० अटी० । ६. संख्याकं—मु० वक० वख० । ७. वृत्त—  
 माया—मु० अटी० । ८. ऊर्ध्वाधः सन्ति—अ० उ० । ९. यथा—मु० अटी० । १०. तस्याथ—मु० ।  
 ११. अस्य—मु० अटी० । १२. शं चो—वख० अ० उ० । १३. द्वितीयस्त—मु० ।  
 १४. स्मृतम्—मु० अटी० ।

नेमेः सप्तममादाय तदधो नाभिसप्तमम् ।  
 तत्तृतीयं च तस्याधश्चतुर्विशतिमं स्मृतम् ॥ २७ ॥  
 नाभेस्तृतीयं तस्योर्ध्वे द्वितीयं तस्य चोपरि ।  
 निवेश्य नेमिपूर्वं तु षड्विंशमधुनोच्यते ॥ २८ ॥  
 अरात् पष्ठासनं कुर्याद् वैर्ण नाभितृतीयकम् ॥  
 तदूर्ध्वे सप्तमं चैव अतोऽन्यमवधारय ॥ २९ ॥  
 न्यूनं षड्विंशतिं नेमेस्तस्योर्ध्वाधोगतं न्यसेत् ।  
 सप्तमं नाभिवर्णेभ्यस्त्वरवर्गाच्च पञ्चमम् ॥ ३० ॥  
 नेमेराद्यैद्वितीयं च आदाय तदधो न्यसेत् ।  
 मध्यमक्षान्महाबुद्धेरष्टाविंशतिमं स्मृतम् ॥ ३१ ॥  
 नवमं सप्तमं नाभेस्तृतीयं च तृतीयकम् ।  
 अथोत्तरस्थमक्षाच्च आदाय तदधो न्यसेत् ॥ ३२ ॥  
 तृतीयं च द्वितीयं च नाभिदेशादनन्तरम् ।  
 नाभिद्वितीयमादाय सप्तमं तुर्यमेव च ॥ ३३ ॥  
 तृतीयस्याथ वै नाभेवाद्यादाद्यं तु मूर्धगम् ।  
 तत्स्तु नवमं नाभेरक्षमध्यस्थमूर्धगम् ॥ ३४ ॥  
 अष्टमस्याथ वै नाभेरर्थं ऊर्ध्वे द्वितीयकम् ।  
 दद्यात् तदन्वरात् पष्ठं तस्यैवाधोगतं तु वै ॥ ३५ ॥  
 अरात् पष्ठस्य चोर्ध्वे तु नाभिपूर्वं च तत्परम् ।  
 विनिवेश्याष्टमं चापि षट्विंशमवधारय ॥ ३६ ॥  
 सप्तमं च तृतीयं च चतुर्थं नाभिमण्डलात् ।  
 योजयित्वा तदूर्ध्वे चाप्यराणां त्रिदशं न्यसेत् ॥ ३७ ॥

ऋं, भ्रं, दभ्रं, क्षं, स्सं, स्लवं, ह्लं, इलुं, हेस्यूं, ज्स्वं, क्यं, स्च्यूं, स्वूं, क्खमं, हर्क्लं, न्यूं,  
 स्वं, क्षं, क्षमं, ह्लं, ह्यूं, स्ल्वों, क्षरुं, क्षरुं ।

१. वर्ण-मु० अटी० बक० बख० अ० । २. विशतिनेमेस्तु त-बख०, विशतिनेमेर्यत्-  
 अ० उ० । ३. राद्य-अ०, राद्या-उ० । ४. द्विती-अ० उ० । ५. रथ मध्यस्थ-बक०,  
 बह्यादाद्यन्त-उ० । ६. पष्टकिरेषा न दृश्यते-मु० अटी० बक० । ७. अक्ष-मु० अटी० ।  
 ८. रथ-अ० अटी० । ९. धर्वेऽथ-बख० अ० उ० । १०. तु अ-बक० बख० अ० उ० ।

अर्थवा नवमं नामेस्तुतीयं च द्वितीयकम् ।  
 तत्सप्तत्रिंशकं विद्धि नाभिदेशादथाहरेत् ॥ ३८ ॥  
 अरैत् षष्ठासनं पूर्वं द्वितीयं च तदूर्ध्वतः ।  
 नवमं चापि तस्योद्धर्वे पिण्डास्त्वंद्यादिमं विना ॥ ३९ ॥  
 अरान्ताद्येन वै मूर्धनी सर्वे कार्या श्लङ्कुताः ।  
 नमोऽन्ताः प्रणवाद्याश्च युक्ताः संज्ञापदैः स्वकैः ॥ ४० ॥  
 अरान्ताद्यं विना यस्य य ऊर्ध्वे वैर्तते स्वरः ।  
 अधो वा नाभिपूर्वेण संह वा केवलं हि तम् ॥ ४१ ॥  
 अपास्य च ततः कुर्यात् सर्वेषां पूजनाय च ।  
 स्वेन स्वेन तु पिण्डेन सिंहवच्चाङ्गकल्पनम् ॥ ४२ ॥  
 नमः प्रणवसंज्ञाऽस्या जार्तिः कर्मवशात् पुनः ।  
 आ तदुक्तात् <sup>१०</sup>तु यजनाद् मोक्षनिष्ठः समाचरेत् ॥ ४३ ॥  
 वीजपिण्डपदोत्थानां विनियोगं तु चाखिलम् ।  
 किन्त्वेषां वैभवी मुद्रा देयाऽराधनकर्मणि ॥ ४४ ॥  
 तदङ्गमुद्राश्चाङ्गानां योज्या मन्त्रैः स्वकैः सहै ।  
 सर्वे <sup>११</sup> साधारमुहिष्टं सैंहमन्त्रोदितं मया ॥ ४५ ॥  
 दीक्षापूर्वं हि मन्त्राणां <sup>१२</sup>चतुर्वर्गं <sup>१३</sup>हि साधनम् ।  
 लक्षणं पदमन्त्राणामथेदानीं निवोधतु ॥ ४६ ॥

इत्यष्टत्रिंशत् पिण्डमन्त्राः । अत्राद्यं पिण्डं विनाऽन्ये सर्वेऽप्यनुस्वारेण योज्याः,  
 प्रणवादिनमोन्ताश्च चतुर्थ्यन्तपद्मनाभादिसंज्ञायुक्ताश्च कार्याः ॥ ४-४० ॥

अथ तत्तत्पिण्डं विहायाकारादिस्वरैः पूर्वोक्तविश्वत्रातृन्तसिंहमन्त्रवद् हृदया-  
 द्याङ्गकल्पनां सर्वेषां मन्त्राणामप्यविशेषेण दशमपरिच्छेदोक्त (१०।४८) वैभवमुद्रा-  
 प्रदर्शनं हृदयादीनां नृसिंहकल्पोक्त (१७।९७-१०६) तत्तन्मुद्राप्रदर्शनं नृसिंहमन्त्रवदेव  
 तेषामपि दीक्षापूर्वमर्चनादिभिश्चतुर्विधपुरुषार्थसाधनं चाह—अरान्ताद्यं विना यस्ये-  
 त्यारभ्य चतुर्वर्गं हि साधनमित्यन्तम् ॥ ४१-४६ ॥

१. अथ यज्ञ-बख० अ० उ० । २. नाभिं च दशमं तथा-उ० । ३. अथ-उ० ।
४. स्त्वत्या-अ०, स्त्वत्या-उ० । ५. वर्धते-मु० अटी० बक० बख० । ६. सहसा-मु० अटी० बक० ।
७. ना-बक० बख० उ० । ८. ज्ञाठयां-अ० उ० । ९. जार्तिं-मु० अटी०, मतिः-अ० उ० ।
१०. कत्या तु-बक० अ० उ० । ११. स्वकैः-अ० । १२. 'सर्वं साधारमुहिष्ट' नास्ति-मु० अटी० ।
१३. चातु-मु० अटी० बक० बख० । १४. तथासनम्-मु० अ० ।

यैर्विना लब्धसत्तानामर्चनं हि न जायते ।  
 विश्वातीताय विमलं पदं विद्याविधायिने ॥ ४७ ॥  
 पद्मनाभाय वै विश्वव्यापिने तदनन्तरम् ।  
 चतुर्विंशाक्षरं विद्वि एतसंख्यं परं शृणु ॥ ४८ ॥  
 ज्योतीरूपाय पञ्चार्णं पदं गगनमूर्तये ।  
 ध्रुवाय दद्यात् तदनु परमं च्यक्षरं ततः ॥ ४९ ॥  
 पदप्राप्तिचतुर्वर्णं हेतवे च्यक्षरं त्विति ।  
 अनन्ताय पदं दद्यात् ततोऽपरिमिताय च ॥ ५० ॥  
 सर्वाश्रयाय तदनु तदन्ते धृतशक्तये ।  
 एतद्विंशतिसंख्यं च द्वाविंशैर्णमतः शृणु ॥ ५१ ॥  
 नमो भगवते कृत्वा वासुदेवाय वै ततः ।  
 सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये तु पदं त्विति ॥ ५२ ॥  
 वीर्यात्मने महाशब्दं पुरुषाय पदं ततः ।  
 मोहमाया पदं चैव ततो विध्वंसिने तु वै ॥ ५३ ॥  
 सदोदिताय शब्दं तु सर्वशक्तिपदं ततः ।  
 नियोक्तव्यं चतुर्वर्णं सप्तविंशाक्षरं स्मृतम् ॥ ५४ ॥  
 पदं वेदविदे विश्वरूपजकाय ततो भवेत् ।  
 तदन्ते विश्वपतये ततो वै परमात्मने ॥ ५५ ॥  
 एष विंशतिभिर्वर्णैः शृणु सप्तदशाक्षरम् ।  
 ज्ञानात्मने पदं कुर्यात् संविच्छब्दमतः परम् ॥ ५६ ॥

अथ पदमन्त्रानाह—लक्षणं पदमन्त्राणामित्यारभ्य भक्त्या सत्कर्मणां भुवी-  
 त्यन्तम् । तथा चैषां प्रयोगः—३५ विश्वातीताय विमलविद्याविधायिने पद्मनाभाय  
 विश्वव्यापिने नमः । ३५ ज्योतीरूपाय गगनमूर्तये ध्रुवाय परमपदप्राप्तिहेतवे नमः ।  
 ३५ अनन्तायाऽपरिमिताय सर्वाश्रयाय धृतशक्तये नमः । ३५ नमो भगवते वासुदेवाय  
 सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये नमः । ३५ वीर्यात्मने महापुरुषाय मोहमायाविध्वंसिने  
 सदोदिताय सर्वशक्तये नमः । ३५ वेदविदे विश्वरूपजकाय विश्वपतये परमात्मने नमः ।

१. विमलपदं—मु० अटी० बक० बख० अ० । २. सप्तविंशतिसंख्यमित्युचितः पाठः  
 प्रतिभाति । ३. शं क्रमतः—मु० अटी० बक० । ४. विद्या—बक० बख०, विद्वा—मु० अटी० ।  
 ५. व्यञ्ज—मु० अटी० अ० । ६. ३५ नमो—अ० ।

पदं प्रकाशाक्षयाय शान्तरूपाय वै ततः ।  
 अनन्तशक्तये सर्वव्यापिने तदनन्तरम् ॥ ५७ ॥  
 जगन्मयाय तदनु विश्वरूपाय वै पदम् ।  
 एकविंशतिभिर्वर्णैर्यमुक्तोऽपरं श्रुणु ॥ ५८ ॥  
 सत्सञ्चपदमादाय गुहाशयपदं ततः ।  
 ततः परमहंसाय ततो मानसचारिणे ॥ ५९ ॥  
 न्यूनविंशत्यक्षरश्चैवाथातो यज्ञमूर्तये ।  
 पदमादाय तदनु विश्वान्तर्वर्तिने तु वै ॥ ६० ॥  
 ततो भुवनशब्दं तु वराहाय पदं त्वथ ।  
 विभूतिस्वामिने चेति चतुर्विंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ६१ ॥  
 नमो भगवते दद्यात् ततो वै वाडवाग्नये ।  
 जगज्जलेन्धनपदं प्रदीप्तपदमेव तु ॥ ६२ ॥  
 वीर्याय फट् तदन्ते तु एतत्संख्यस्त्वयं स्मृतः ।  
 सर्वान्तश्चारिणे दद्यात् ग्रसन्नपदमेव च ॥ ६३ ॥  
 मूर्तयेऽथ तदन्ते वै दद्याद् धर्मात्मने पदम् ।  
 षोडशाक्षरमेतद् वै अतो गुह्यतमं श्रुणु ॥ ६४ ॥  
 सर्वविद्येश्वरायाथ दद्यात् वाक्पतये ततः ।  
 पदं वैद वदादाय ततो वार्गिवभवं त्विति ॥ ६५ ॥  
 न्यूनविंशाक्षरो ह्येष त्वपरं कथयामि ते ।

ॐ ज्ञानात्मने संवित्प्रकाशाशयाय शान्तरूपाय नमः । ॐ अनन्तशक्तये सर्वव्यापिने जगन्मयाय विश्वरूपाय नमः । २५ सत्सञ्चगुहा(शया)य परहंसाय मानसचारिणे नमः । ॐ यज्ञमूर्तये विश्वान्तर्वर्तिने भुवनवराहाय विभूतिस्वामिने नमः । ॐ नमो भगवते वडवाग्नये जगज्जलेन्धनप्रदीप्तवीर्यय फट् नमः । ॐ सर्वान्तश्चारिणे प्रसन्नमूर्तये धर्मात्मने नमः । ॐ सर्वविद्येश्वराय वाक्पतये वद वद वार्गिवभवं नमः । ॐ योगैश्वर्य-

योगैश्वर्यप्रदायाथ योगनिद्रारसाय वै ॥ ६६ ॥  
 निरैताय पदं दयाद् भगवेज्जलशायिने ।  
 प्रिरष्टवर्णसंख्यश्च अयमेकाधिकस्तु वै ॥ ६७ ॥  
 भगवत्पदमादाय अनन्तबलशक्तये ।  
 तेजोमयाय भुवनभृतेऽथ द्रुक्षरं पदम् ॥ ६८ ॥  
 तदन्ते विनियोक्तव्यं पदं वै कच्छपात्मने ।  
 षट्विंशार्णमिमं विद्धि मन्त्रं मन्त्रविदांवर ॥ ६९ ॥  
 यज्ञाङ्गदेहायाद्यायै महापदमतः परम् ।  
 वराहाय ततो दयात् पुराणपुरुषाय वै ॥ ७० ॥  
 दयात् ततः प्रजाशब्दं तदन्ते पतये पदम् ।  
 चतुर्विशाक्षरं मन्त्रमेतन्मन्त्रविदांवर ॥ ७१ ॥  
 नमो भगवते कृत्वा नीरसिंहाय वै ततः ।  
 तेजोनिधे पदं दयात् पदं हनहनेति च ॥ ७२ ॥  
 ततो विकर्मजात्यं वै शब्दं पञ्चाक्षरं भवेत् ।  
 दुष्कृतं हि तदन्ते वै सप्तविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ७३ ॥  
 आदायामृतमूर्ते वै ततो ज्ञानबलात्मने ।  
 सर्वेश्वराय भगवन्न्यूनविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ७४ ॥  
 आदाय पुण्डरीकाक्षपदं वै परमेश्वर ।  
 ततः सकलशब्दं तु सुखसौभाग्य वै पदम् ॥ ७५ ॥

प्रदाय योगनिद्रारसाय नीरदाय भगवज्जलशायिने नमः । ३० भगवदनन्तबलशक्तये  
 तेजोमयाय भुवनधृते कच्छपात्मने नमः । ३० यज्ञाङ्गदेहाय महावराहाय पुराणपुरुषाय  
 प्रजापतये नमः । ३० नमो भगवते नारसिंहाय तेजोनिधये हन हन विकर्मजात्यं दुष्कृतं  
 नमः । ३० अमृतमूर्ते ज्ञानबलात्मने सर्वेश्वराय भगवन्नमः । ३० पुण्डरीकाक्ष परमेश्वर  
 सकलसुखसौभाग्यनिधे वाञ्छितसिद्धिप्रदायिलदुःखशमनाग्नये आनन्दसुन्दररूपमी-

१. सादाय-अ० उ० । २. रसेति च-म० अटी० बक० बख० । ३. नीरदायेति  
 भाष्यानुसारी पाठः । ४. वान-म० अटी० । ५. धाराय-अ० । ६. नर-बक० अ० उ० ।  
 ७. जायं-म० अटी० बक० बख० । ८. जर्ति दुष्कृति-अ० । ९. सुन्दरपद-अ० म० ।

१ निधे वाञ्छितशब्दं तु ततः मिद्दिप्रदेति वे ।  
 पदं चाखिलदुःखेति ततम्तु गमनाग्नये ॥ ७६ ॥  
 आनन्दसुन्दरपदं ततो लक्ष्मीपदं न्यसेन ।  
 पतये शब्दमुच्चार्यं पञ्चाशार्णस्त्रिसुजिज्ञतः ॥ ७७ ॥  
 सदसत्पदमादाय मूर्तये तदनन्तगम् ।  
 विश्वोत्तमाय तदनु ततोऽमृतनिधे तु वे ॥ ७८ ॥  
 षोडशार्णस्त्वयं मन्त्र उक्तः कान्तात्मनो विभोः ।  
 पुरुषोत्तमाय शब्दं तु तैतोऽप्रतिहतेति च ॥ ७९ ॥  
 शैक्तयेऽथ पदं दद्यात् सर्वेश्वरपदं ततः ।  
 समग्रोग्रभयेत्यत्र निवारणपदं ततः ॥ ८० ॥  
 सप्तविंशाक्षरो मन्त्र उक्तश्चातः परं शृणु ।  
 नियन्त्रे पदमुद्घृत्य तदन्ते विश्वहेतवे ॥ ८१ ॥  
 परब्रह्मसमेतं च सेतवे ओमनन्तगम् ।  
 मन्त्रो द्विरष्टवर्णश्च कथितो वच्चयतः परम् ॥ ८२ ॥  
 पदमप्रतिमेत्यादौ प्रभावं तदनन्तगम् ।  
 महाविभूते तदनु महामायापदं ततः ॥ ८३ ॥  
 अथ दर्शकशब्दं तु तदन्ते तालकेतवे ।  
 चतुर्विंशाक्षरो मन्त्रस्त्वयमुक्तः समाप्तः ॥ ८४ ॥  
 शान्तात्मने पदं दद्यात् तदन्ते यम विन्यसेत् ।  
 नियमाश्रयाय दद्यात् परमधिप्रदाय च ॥ ८५ ॥  
 नारायणाय शब्दं तु पूर्वसंख्यासमं स्मृतम् ।

पतये नमः । ३५ सदसन्मूर्तये विश्वोत्तमायामृतनिधये नमः । ३५ पुरुषोत्तमायाप्रति-  
 हतशक्तये सर्वेश्वराय समग्रोग्रभयनिवारणाय नमः । ३५ नियन्त्रे विश्वहेतवे परब्रह्म-  
 सेतवे ३५ नमः । ३५ अप्रतिमप्रभावमहाविभूते महामायार्दशकनालकेतवे नमः । ३५  
 शान्तात्मने यमनियमाश्रयाय परमधिप्रदाय नारायणाय नमः । ३५ भवभङ्गकारिणे

१. निधये वाञ्छितपदं-मु० अटी० । २. तमने-बक० बख० उ० अटी० । ३. ततः  
 सिद्धिप्रदेति-मु० अटी० । ४. शक्तये च-मु० अटी० । ५. ततः परम-बक० बख० अ० उ० ।  
 ६. वै-मु० अटी० । ७. हत-अ० । ८. दशित-अ० । ९. मार्थ-अ०, परमपदप्रदायाथ-म० ।

भवभङ्गपदं चैव कारिणे तदनन्तरम् ॥ ८६ ॥  
 ततो भगवते शब्दं दत्तात्रेयाय वै ततः ।  
 वर्णाश्रमपदं चाथ धर्मशब्दमतः परम् ॥ ८७ ॥  
 परिग्रहाय प्रणवमष्टाविंशाक्षरः स्मृतः ।  
 सर्वलोकमयायेति सर्वज्ञाय पदं ततः ॥ ८८ ॥  
 सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय पदं त्वथ ।  
 त्रयोविंशत्यक्षरश्च त्वयमन्यं निवोधतु ॥ ८९ ॥  
 भूतशब्दमथादाय भावनाय पैदं ततः ।  
 शब्दं विश्वात्मने चाथ विमलेतिपदं ततः ॥ ९० ॥  
 निकेतनाय तदनु कन्धराय पदं ततः ।  
 अयं विंशतिभिर्वर्णैद्वर्चधिकैर्मन्त्रराट् स्मृतः ॥ ९१ ॥  
 विष्णवे पदमादाय निरस्तास्त्राय वै ततः ।  
 पदं ब्रह्ममयायाऽथ जटिने दण्डने ततः ॥ ९२ ॥  
 दद्याद् विदितशब्दं वै तदन्ते विभवाय च ।  
 षड्विंशार्णस्त्वयं मन्त्रः परमस्मान्निवोधतु ॥ ९३ ॥  
 सर्वशब्दमथादाय व्यापिने तदनन्तरम् ।  
 पदं सहस्रार्चिषे तु दद्यात् पञ्चाक्षरं शुभम् ॥ ९४ ॥  
 त्रिविक्रमायाथ पदं ततोऽपरिमितेति च ।  
 प्रभावाय पदं दद्यात् त्रयोविंशाक्षरः स्मृतः ॥ ९५ ॥  
 नरनाथाय शब्दं तु पुरुषग्रवराय वै ।  
 आत्मध्यानपरायेति णाय वै द्वयक्षरं ततः ॥ ९६ ॥

---

गवते दत्तात्रेयाय वर्णाश्रमधर्मपरिग्रहाय ॐ नमः । ३५ सर्वज्ञाय विश्वात्मने विमल-  
 सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय नमः । ३५ भूतभावनाय विश्वात्मने विमलनिकेतनाय  
 कन्धराय नमः । ३५ विष्णवे निरस्तास्त्राय ब्रह्ममयाय जटिने दण्डने विदितविभवाय  
 नमः । ३५ सर्वव्यापिने सहस्रार्चिषे त्रिविक्रमायाऽपरिमितप्रभावाय नमः । ३५ नर-

१. तदन्ततः—मु० अटी० । २. शब्दश्वासा—बक० अ० उ० । ३. श्लोकद्वयं नास्ति—मु०  
 अटी० अ० । ४. सर्व—बक०, शर्व—बख०, भूत—मु० अटी० । ५. ताय वै—बख० अ० उ० ।  
 ६. प्रभवाय—बक० बख० उ० । ७. ३५ सर्वलोकमयाय सर्वज्ञाय सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय  
 नम इति मूलानुसारिणा पाठेन भाव्यम् ।

एकविंशाक्षरे मन्त्रैस्त्वतोऽन्यमवधारय ।  
 नारायणाय शब्दं तु द्व्यान्निरति वै पदम् ॥ ९७ ॥  
 शयानन्दमयाग्रेति पदं निरभिमान वै ।  
 पदासक्ताय तदनु पञ्चविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ९८ ॥  
 पराय पदमादाय ततो वै परमात्मने ।  
 योगेश्वराय हरये मन्त्रोऽयं षोडशाक्षरः ॥ ९९ ॥  
 सप्तार्णं पदमादाय प्राणनमः परमात्मने ।  
 कृष्णाय शब्दं तदनु कमलं त्र्यक्षरं ततः ॥ १०० ॥  
 दलशब्दं तु विततनेत्राय तदनन्तरम् ।  
 ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे वै अष्टाविंशाक्षरस्ततः ॥ १०१ ॥  
 भगवैन् पदमादाय युगान्तदहनेति च ।  
 दीप्तयेऽथ पदं द्व्यात् संसारपदमेव हि ॥ १०२ ॥  
 बन्धविच्छेदकर्त्रे वै द्वाविंशार्णस्त्वयं स्मृतेः ।  
 पदं चतुर्मूर्तये वै चतुर्गतिमयाय च ॥ १०३ ॥  
 शरशाङ्गभूते द्व्याच्छरदिन्दीवरत्विषे ।  
 ततो भगवते द्व्यादभिरामपदं ततः ॥ १०४ ॥  
 शरीराय पदं चैव त्वष्टत्रिंशाक्षरः स्मृतः ।  
 द्व्याद् विंशदशब्दं वै परमार्थपदं ततः ॥ १०५ ॥

नाथार्थं पुरुषप्रवराय आत्मध्यानपरायणाय नमः । ३० नारायणाय निरतिशयानन्दमयाय  
 निरभिमानपदासक्ताय नमः । ३० पराय परमात्मने योगेश्वराय हरये नमः । ३० नमः  
 परमात्मने कृष्णाय कमलदलविततनेत्राय ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे नमः । ३० भगवैन्  
 युगान्तदहनदीप्तये संसारबन्धविच्छेदकर्त्रे नमः । ३० चतुर्मूर्तये चतुर्गतिमयाय शर-  
 शाङ्गभूते शरदिन्दीवरत्विषे भगवतेऽभिरामशरीराय नमः । ३० विंशदपरमार्थवैद्व-

१. न्त्रस्त-मु० अटी० । २. स्त्वयम्-बख० अ० उ० । ३. वत-बक० बख० अ० उ० ।  
 ४. इतः परम्—‘द्व्याद् द्विशतशब्दं वै परमार्थपदं ततः’ इति दृश्यते-बक० उ० । एतच्च  
 मूलेऽप्यग्रे पाठभेदेन सह विच्छते । ५. द्विशत-बक० उ०, विदित-मु० अटी० । ६. नारायणाय-  
 अ० । ७. पदसत्ताय-अ०, पदक्ताय-म० । ८. वेदविदुषे-अ० म० ।

ततो वेदविदे शब्दं विदुषे व्यापकाय च ।  
 स्वामिस्तदनु वै दद्याद् द्रव्यक्षरं चापरं पदम् ॥ १०६ ॥  
 अयं विशतिभिर्वर्णैरुक्तस्त्वन्यगतः शृणु ।  
 दद्याद् गरुडशब्दं तु तदन्ते वाहनेति च ॥ १०७ ॥  
 सर्वश्शस्त्रास्त्रोद्यतेति शमयाऽशुभमेव च ।  
 ततो धुन धुनादाय कर्मवन्धांस्ततो वदेत् ॥ १०८ ॥  
 धर्मं पाहि ततो दद्याद् जहाधर्मं ततो वदेत् ।  
 चतुर्स्त्रिशाक्षरो मन्त्र एष वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १०९ ॥  
 संहारमूर्तये शब्दं कालवैश्वानराच्चिषे ।  
 पातालशयनायेति त्वज्ञाननिगडेतिं वै ॥ ११० ॥  
 निचयं हन वीप्साऽतः प्रणवं तदनन्तरम् ।  
 पञ्चत्रिंशाक्षरो हौष सर्वसिद्धिकरः स्मृतः ॥ १११ ॥  
 प्रणवालङ्घकृताः सर्वे नमस्कारविभूषिताः ।  
 संस्मृताः पूजिताश्चैव ध्याता जपता विशेषतः ॥ ११२ ॥  
 तन्नास्ति यन्न यच्छन्ति भक्त्या सत्कर्मणां भुवि ।  
 अथ लाङ्घनमन्त्राणां सांस्त्राणां लक्षणं शृणु ॥ ११३ ॥  
 सहस्रदीधिति पदं दद्याच्छुरित वै ततः ।  
 विग्रहाय दशार्णं च च्यधिकं मकुटस्य च ॥ ११४ ॥

विदे विदुषे व्यापकाय स्वामिन् नमः । ॐ गरुडवाहन सर्वश्शस्त्रास्त्रोद्यत शमयाऽशुभं  
 धुन धुन कर्मवन्धान् धर्मं पाहि ज्ञहाधर्मं नमः । ॐ संहारमूर्तये कालवैश्वानराच्चिषे  
 पातालशयनाय अज्ञाननिगडनिचयं हन हन ॐ नमः । इत्यष्ट्रिंशतपदमन्त्राः  
 ॥४६-११३॥

अथ तेषां किरीटादिलाङ्घनमन्त्रान्(वराहमन्त्रं?)चक्राद्यायुधमन्त्रांश्चाह—अथ  
 लाङ्घनमन्त्राणामित्यारभ्य यावत् परिच्छेदपरिसमाप्ति । तथा चैषां प्रयोगः—ॐ

१. शास्त्रोद्यतेत्येवमतः शुभमयेति च—मु० अटी० । २. तोच्चरेत—बख०, तोद्धरेत—  
 अ० उ० । ३. चतुर्विं—मु० अटी० बख० । ४. विकलेति—अ० उ० । ५. सत्कर्मिणां—अ० ।  
 ६. शास्त्राणां—मु० अटी० बख० उ० । ७. स्वामिने—अ० । ८. शास्त्रो—अ०, शास्त्रास्त्रो—म० ।  
 ९. पाहाधर्मं जहि—अ० म० ।

आदाय वाञ्छितपदं ततः सिद्धिप्रदाय वै ।  
महाचिन्तापदं दद्यान्मणये तदनन्तरम् ॥ ११५ ॥  
विद्धि पञ्चदशार्णं च दशार्णमपरं शृणु ।  
सर्वलक्षणशब्दं तु ततः सम्पत्प्रदाय वै ॥ ११६ ॥  
सौभाग्यशब्दमादाय जननि अक्षरं ततः ।  
सर्वप्रदे तु तदनु अयमेवं दशाक्षरः ॥ ११७ ॥  
प्राणात्मनेऽथ सत्याय विद्धि सप्ताक्षरं त्विदम् ।  
कालकर्त्रेऽथ चक्राय फडष्टार्णः प्रकीर्तिः ॥ ११८ ॥  
विश्वात्मने पदं दद्यात् ततो विश्वप्रदाय च ।  
नवाक्षरमिदं विद्धि परमष्टाक्षरं शृणु ॥ ११९ ॥  
समादाय पदं विद्ये ततो विद्येश्वरार्चिते ।  
प्राक् शब्दमूर्तये कुर्याच्छङ्खायाष्टाक्षरः स्मृतः ॥ १२० ॥  
पदं रसनिधे कुर्यात् भीमशब्दमतः परम् ।  
भीषणाय तदन्ते वै दशाक्षरमिदं स्मृतम् ॥ १२१ ॥  
प्राग् भुवनाधिष्ठये स्तम्भभूताय वै पदम् ।  
त्रयोदशाक्षरं विद्धि ततोऽन्यमवधारय ॥ १२२ ॥

सहस्रदीधितिच्छुरितविग्रहाय किरीटाय नमः । ॐ वाञ्छिर्तसिद्धिप्रदाय महाचिन्ता-  
मणये कौस्तुभाय नमः । ॐ सर्वलक्षणसम्पत्प्रदाय श्रीवत्साय नमः । ॐ सौभाग्य-  
जननि सर्वप्रदे० वनमालायै नमः । ॐ प्राणात्मने सत्याय नमः । ॐ कालकर्त्रे चक्राय  
फट् । ॐ विश्वात्मने विश्वप्रदाय पद्माय फट् । ॐ विद्ये॒ विद्येश्वरार्चिते॑ गदायै॒ फट् ।  
ॐ शब्दमूर्तये॑ शङ्खाय॑ फट् । ॐ रसनिधे॒॑ भीमभीषणाय॑ लाङ्गलाय॑ फट् । ॐ  
भुवनाधिष्ठये॑ स्तम्भभूताय॑ मुसलाय॑ फट् । ॐ इन्द्रियकोशाय॑ इष्वस्त्राय॑ फट् ।

१. इतः परम्—‘ततश्चिन्तापदं दद्यान्मणये तदनन्तरम्’ इत्यधिकः पाठो दृश्यते—  
मु० अटी० । २. जननी—अटी० अ०, यजनी—उ० । ३. देति—अ० । ४. मेवं—मु० अटी० ।  
५. त्विह—मु० अटी० । ६. भीष्म—मु० अटी० बक० । ७. स्तम्ब—मु० बक० बख० उ० ।  
८. तार्च—अ० । ९. नी—अ० म० । १०. प्रदायै—अ० । ११. निधेऽभीक्षाय—अ० ।

पदमिन्द्रियकोशाय इष्वस्त्राय दशाक्षरम् ।  
 कल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसित वै पदम् ॥ १२३ ॥  
 प्रेमाय षोडशार्ण तु नवाक्षरमतः शृणु ।  
 महामायापदं दद्याद् बन्धवर्णद्वयं ततः ॥ १२४ ॥  
 ध्वंसिने पदमादाय एतत्संख्यं पैदं शृणु ।  
 सर्वस्त्रिग्रेसनादाय पराय तदनन्तरम् ॥ १२५ ॥  
 संन्तापकाय शब्दं तु दर्पविध्वंसिने ततः ।  
 एकादशाक्षरं विद्वि नवाक्षरमथोच्यते ॥ १२६ ॥  
 अज्ञानखण्डनपदं पराय तदनन्तरम् ।  
 त्रैलोक्यमोहनपदं मूर्तये तु नवाक्षरम् ॥ १२७ ॥  
 सर्वाकर्षकरपदं महामायामयेति वै ।  
 द्वादशाक्षरसंख्यस्तु नवाक्षरमथोद्वरेत् ॥ १२८ ॥  
 प्रागखण्डतशब्दं तु तदन्ते विनियोज्य च ।  
 पराक्रमाय शब्दं तु सप्ताक्षरमतः शृणु ॥ १२९ ॥  
 दर्पप्रशमकर्त्रे तु पञ्चार्ण विनिबोध वै ।  
 तेजोमालिनि चेत्येतद् द्वाविंशत्यनुकीर्तिः ॥ १३० ॥  
 प्राग्वदाद्यन्तसंख्याः स्वनामपदभूषिताः ।  
 संख्यानिष्ठाक्षरस्यान्ते दद्यात् संज्ञापदं सदा ॥ १३१ ॥

ॐ कल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसितप्रभाय शाङ्काय फट् । ॐ महामायाबन्धवध्वंसिने खज्जाय फट् । ॐ सर्वास्त्रिग्रसनपराय खेटकाय फट् । ॐ संतापकाय दर्पविध्वंसिने दण्डाय फट् । ॐ अज्ञानखण्डनपराय परशवे० फट् । ॐ त्रैलोक्यमोहनमूर्तये पाशाय फट् । ॐ सर्वाकर्षकरमहामायामयायै अङ्गुशाय फट् । ॐ अखण्डतपराक्रमाय मुद्गराय फट् । ॐ दर्पप्रशमकर्त्रे वज्राय फट् । ॐ तेजोमालिनि२ शक्तयै फट् । इति च द्वाविंशतिमन्त्राः ॥११३-१३२॥

१. विश्व-उ० । २. प्रभवाय-बक० । ३. परं-उ० । ४. ग्रासमादाय-अ० उ० ।
५. वराय-अ० उ० । ६. पङ्कित्रयं नास्ति-बक० । ७. आकर्षणपर-मु०, आकर्षणपरं-अटी० ।
८. विध्वं-अ० । ९. मन्त्रस्यैकादशाक्षरतासम्पादनाय विभक्तिलोप आवश्यकः । १०. शिवे-अ० ।
११. मायाय-अ० म० । १२. मालिनी-अ० ।

चक्रवच्चास्त्रमन्त्राणां कुर्यान्नामावसानकम् ।  
क्रमाच्चतुर्दशानां तु शक्त्यन्तानां च फट्पदम् ॥ १३२ ॥

इति श्रीपौञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधिवासदीक्षाविधिर्नाम  
त्रयोविंशः परिच्छेदः ॥




---

इति श्रीमौञ्जयायनकुलतिलकस्य श्रीयोगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन  
अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये  
त्रयोविंशः परिच्छेदः ॥



- 
१. पञ्चरात्रसारे—वक० वख० ।      २. द्वार्चिशतितमः—अ०, त्रयोविंशतिः—उ० ।  
३. त्रयोविंशतिः—म० ।

## ‘चतुर्विंशः परिच्छेदः

श्रीनारद उवाच

विप्रप्रधानाः श्रुत्वैवं मन्त्राणां लक्षणं स्फुटम् ।  
चोदयामास भगवान् पुनः स तालकेतुना ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा भगवन्मयः ।  
नित्याराधनकामस्तु यदि मन्त्रमयं वपुः ॥ २ ॥  
कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं तत्र किंलक्षणो विधिः ।

श्रीभगवानुवाच

चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थं सल्लोहमयमेव वा ॥ ३ ॥  
भेदभिन्नं द्विजातीनां हितं विम्बं फलार्थिनाम् ।  
तदभिन्नमकामानां प्राप्तं चाप्यविरोधकृत् ॥ ४ ॥  
अँग्रं चित्रमयं विद्धि भित्तिकाष्ठाम्बराश्रितम् ।

अथ चतुर्विंशतिपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह पुनः संकर्षणेन वासुदेवश्चोदित इत्याह—विप्रेति । अत्र दिव्यत्वादात्मनेपदस्थाने परस्मैपदं प्रयुक्तम् । यद्वा सत्ताल-केतुनेति प्रथमैकवचनम् । सत्तालकेतुर्ना पुरुषः, संकर्षण इति यावत् ॥ १ ॥

चोदनाप्रकारमाह—ब्राह्मण इति सार्धेन ॥ २-३ ॥

एवं चोदितो वासुदेवः प्रथमं चित्रमृत्काष्ठशिलालोहमयत्वेन पञ्चविधानां बिम्बानां प्रत्येकं ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण चातुर्विध्यम्, एवं तत्तद्वर्णानुसारेण तत्तद्वय-

१. त्रयोविंशतिमः—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति—मु० अटी० बक० । ३. चोदितो भगवानेवं पुनर्वै—मु० अटी० । ४. ‘संकर्षण उवाच’ नास्ति—बक० बख० अ० उ० । ५. इत्याबख० उ० । ६. ‘उवाच’ नास्ति—मु० अटी० । ७. तत्र—उ० ।

पुनः वर्णक्रमेणैव चतुर्धा चाम्बरोत्थितम् ॥ ५ ॥  
 तच्च कार्पासकौशेयक्षौमशाणमयं तु वै ।  
 मृज्जमेवं सितायुत्थं वार्ष विविधमेव च ॥ ६ ॥  
 आश्वत्थं ब्रह्मवृक्षोत्थं श्रीपर्णिसुरदारुजम् ।  
 सौलतालमयं चैव शैशवन्तीन्दुसारजम् ॥ ७ ॥  
 एवं द्वेयं द्वयं विद्धि द्विजादीनां यथाक्रमम् ।  
 अतोऽन्ये दृढपूलाश्च सारवन्तो हि याज्ञिकाः ॥ ८ ॥  
 साधारणाश्चतुर्णा तु प्रतिमाद्ये च कर्मणि ।  
 सामान्यं भुक्तिमुक्त्यर्थमश्ममृणमयवत् स्मृतम् ॥ ९ ॥  
 तारहाटकताम्रोत्थम् आरक्षूमयं तथा ।  
 एवं हि भूमयो वस्त्रपाषाणा धातवो द्रुमाः ॥ १० ॥  
 वज्रादयोऽखिला रत्नाः सितरक्तादिलक्षणाः ।  
 असामान्याः फलेष्पूनां लाभालाभवशात् पुनः ॥ ११ ॥  
 सम्यक् स्वमूर्तिमन्त्रैस्तु जपहोमार्चनादिना ।  
 नयेत् सामान्यभासित्वं तथा तत्कारणार्चनात् ॥ १२ ॥  
 यजेत् सेन्द्रां धरां शैलं मृदापाद्दनकर्मणि ।  
 एवं पटद्रुमार्थं तु वरुणं सवनस्पतिम् ॥ १३ ॥  
 सरत्नानां च धातूनां सम्बन्धेऽकेन्दुपावकान् ।  
 रत्नाश्रयेण धात्वर्थेनार्चादेशेन वै विना ॥ १४ ॥

मयबिम्बग्रहणस्य सकामविषयत्वं विम्बसामान्यग्रहणस्य निष्कामविषयत्वं चाह—  
 चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थमित्यारभ्य लाभालाभवशात् पुनरित्यन्तम् ॥ ३-११ ॥

अथ तत्तद्विम्बनिर्माणार्थं तदुपादानद्रव्यग्रहणकाले सामान्यतः करिष्यमाण-  
 तत्तमूर्तिमन्त्ररच्चनजपहोमादिकं विशेषतः सेन्द्रवर्धादिततत्कारणार्चनं च कार्य-  
 मित्याह—सम्यगिति सार्वद्वाभ्याम् ॥ १२-१४ ॥

१. पूर्वे—मु० अटी० । २. बाल—मु० । ३. शैशुषं—मु० अटी० । ४. द्वन्द्व—अ० उ० ।
५. भावि—अ० उ० । ६. दान—बक० बख० उ० । ७. धातूत्थेनार्च्या—मु० अटी० बक० ।
८. फललाभवशात्—म० । ९. धारा—म० ।

तथार्चनासनैव चक्रपद्मयादिना ।  
 न रात्नी प्रतिमा शस्ता ध्यायिनां ध्यानसिद्धये ॥ १६ ॥  
 केवला लघुमाना च प्रमाणावयवोज्जिता ।  
 वर्णाश्रमगुरुत्वाच्च स्वामित्वादखिलस्य च ॥ १६ ॥  
 भूतादिदेवरूपत्वाद् उत्तमाद्येषु वस्तुषु ।  
 नृपश्चार्हाति वै नित्यं सविशेषपदे स्थितः ॥ १७ ॥  
 किं पुनर्योऽफलाकाङ्क्षी भक्तिश्रद्धापरः सदा ।  
 बुद्ध्वैवं चित्रविम्बार्थी यत्नेनेदं समाचरेत् ॥ १८ ॥  
 गुह्यकान् गृहदेवांस्तु हृदाऽर्च्याऽर्च्यादिना पुरा ।  
 मलभस्मतुषाङ्गारकेशकीटनखोस्तृणम् ॥ १९ ॥  
 मूलकण्टकचमास्थिसामान्येऽशमाहिभित्तिका ।  
 भैवत्यनर्थदाऽवश्यमतः प्राक् चतुरङ्गुलम् ॥ २० ॥  
 विहाय मृदलं भित्तेरीषद् विम्बात् तु चाधिकम् ।  
 उक्तदोषविमुक्तौऽथ पञ्चगव्येन साम्भसा ॥ २१ ॥  
 मर्दितया मृदा भूयस्तद्विन्यंशं प्रपूर्य च ।  
 शस्त्रेण काष्ठफलकां मृगचर्मसमां पुरा ॥ २२ ॥  
 छविं विहाय शुद्धर्थं तुरीमुक्तं तु वै पैठम् ।  
 प्रक्षाल्य सलिलैव त्वस्त्रजप्तेन सप्तधा ॥ २३ ॥

रत्नमयीं सुवर्णरजताख्योत्तमधातुमयीं वा प्रतिमां विनाऽन्यद्रव्यमयी प्रतिमा  
 लघुमाना प्रमाणावयवरहिताचेत्, न प्रशस्ता, तथैव भद्रपीठमपीत्याह—रत्नाश्रयेणेति  
 द्वाभ्याम्। अचादिशेन भगवदर्चनास्पदेन, बिम्बेनेति यावत्। अर्चनासनेन केवलभद्र-  
 पीठेनेत्यर्थः। रत्नसुवर्णरजतबिम्बं चेद् वस्तुगौरवाल्लघुमानं प्रमाणरहितमपि ग्राह्य-  
 मिति फलितोऽर्थः ॥ १४-१६ ॥

मुमुक्षुत्वमात्रेण निकृष्टवर्णोद्भव उत्कृष्टवर्णर्हेषु वस्तुषु कथमहर्तीत्याशङ्का  
 किं पुनर्न्ययेन परिहरति—वर्णाश्रमेति द्वाभ्याम्। अफलाकाङ्क्षी मुमुक्षुरित्यर्थः ॥ १६-१८ ॥

प्रथमं चित्रविम्बनिर्माणार्थं गुह्यकगृहदेवार्चनपूर्वकं भित्तिकाष्ठफलकपटानां  
 संशोधनप्रकारानाह—बुद्ध्वैति साधैः पञ्चभिः ॥ १८-२३ ॥

१. नारत्नी—बक० बख०। २. नखं तृ—अ० उ०। ३. शर्मर्यभित्तिका:—बक० बख० अ०।
४. भवन्त्य—बख० अ० उ०। ५. क्ताया—अ०। ६. मृदीर्घ्या—बक० बख०, मृदीपया—  
अ० उ०। ७. घटम्—मु० अटी० बक० बख०। ८. च न—म०।

हृन्मन्त्रेण तु सास्त्रेण मूर्तिमन्त्राजिच्चेन च ।  
 तीर्थोद्देशाननदीतीरात् पुण्यक्षेत्राच्च पर्वतात् ॥ २४ ॥  
 अपास्य दोषसङ्कीर्णमूर्धादादाय मृत्तिकाम् ।  
 साऽवचूपर्याऽथ संशोष्यौ सूपलिप्ते धरातले ॥ २५ ॥  
 शाणमौर्णैः च कार्पासं सूत्रं चालसिं तथा ।  
 कृत्वा पाषाणभिन्नं प्राग् योज्यं तत्र सवालुकम् ॥ २६ ॥  
 ईषद्गोमययुक्तेन भूरिक्षीरघृतादिना ।  
 भावयेत् पञ्चगव्येन खादिरेण कैषेण च ॥ २७ ॥  
 सिद्धार्थकालीयस्नेहतिलोत्थेन च वै सह ।  
 क्लेदयेच्च त्रिसप्ताहं भाण्डे कृत्वाऽऽयसादिके ॥ २८ ॥  
 मारुतानलसूर्येनदुर्दर्शनेन विनैव हि ।  
 तया संमाप्यं तद्विम्बं शुभकाष्ठान्तरीकृतम् ॥ २९ ॥  
 वस्त्रवच्चैव लोहानां कृत्वा प्रक्षालनं ततः ।  
 मार्जनं भूतिना भूयस्तथा तन्मन्त्रितेन च ॥ ३० ॥  
 भक्त्या प्रवर्तमानस्तु विम्बसाधनकर्मणि ।  
 सर्वत्र चास्त्रमन्त्रस्य कुर्यान्नविधनशान्तये ॥ ३१ ॥  
 पूजनं हवनं भूतवलिदानं सदक्षिणम् ।  
 संम्यग् ग्रहणकाले तु एतत् सामान्यमेव हि ॥ ३२ ॥

अथ मृद्धिम्बनिर्माणार्थं मृत्संग्रहणादिप्रकारानाह—हृन्मन्त्रेणेत्यारभ्य शुभ-  
काष्ठान्तरीकृतमित्यन्तम् ॥ २४-२९ ॥

लोहबिम्बनिर्माणार्थं लोहसंशोधनप्रकारमाह—वस्त्रवदिति । तन्मन्त्रितेन  
अस्त्राभिमन्त्रितेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

बिम्बनिर्माणप्रारम्भकाले सामान्यतस्तत्तन्मूर्तिमन्त्राचर्चनादिकं कार्यमित्याह—  
भक्त्येति<sup>१०</sup> द्वाभ्याम् ॥ ३१-३२ ॥

- |                                    |                           |                       |
|------------------------------------|---------------------------|-----------------------|
| १. न्वितेन—उ० ।                    | २. शोष्य—अ० उ० ।          | ३. मूर्ण—बक० बख० उ० । |
| ४. ससूत्रं चावि—मू० अटी० बक० बख० । | ५. खण्डेण—अ० ।            | ६. तसि—बक० बख० ।      |
| ७. समाप्य—बक० बख० ।                | ८. मानास्तु—मू० बक० बख० । | ९. सन्मृद—मू० ।       |
|                                    |                           | १०. भक्तीति—अ० ।      |

सच्छैलदारुग्रहणे विशेषस्त्वधुनोच्यते ।  
 सर्वत्रारम्भकाले तु निमित्तमुपलक्ष्य च ॥ ३३ ॥  
 विशेषाद् वनयात्रायां तच्छुभेन शुभोदयः ।  
 अशुभेन निमित्तेन यात्रा विघ्नवती भवेत् ॥ ३४ ॥  
 विरामेण तु जघ्नेन शान्तिस्वस्त्ययनादिना ।  
 निवर्तनेन तद्वन्याद् दहते शुभकृद् यतः ॥ ३५ ॥  
 मन्त्रमभ्यर्थ्य यात्रायामभ्यर्थ्यज्ञां विनन्द्य च ।  
 नैवेद्यशेषभुग् वाम्बचारस्थः संयतेन्द्रियः ॥ ३६ ॥  
 प्राङ्मुखः संस्मरेन्मन्त्रं समुत्थायामृतोदये ।  
 परिज्ञाय पुँरा मूर्ति तन्मूर्त्यन्तरमेव वाऽ ॥ ३७ ॥  
 यायात् तदीयं दिग्भागं तदभावात् तु चान्यदिक् ।  
 सहायैप्रमत्तैस्तु शिल्पिभिः सह संबृतः ॥ ३८ ॥  
 लाजदध्यक्षतैः कुम्भैर्यायात् पुष्पपुरस्सरैः ।  
 सौमनस्यं महोत्साहस्त्वज्जस्पन्दश्चै दक्षिणः ॥ ३९ ॥  
 शुभा वाणी ध्वनिः शाङ्कस्तन्त्री वाद्यं फलादयः ।  
 गोगजाश्वद्विजाः कन्या नवभाण्डं च मृदू दधि ॥ ४० ॥  
 आर्द्रमांसान्यलङ्कारो मदिराण्डी धृतं पयः ।  
 सिद्धान्नं शालिवीजादि दर्भाः सदुममञ्जरी ॥ ४१ ॥  
 छंत्रवस्त्रध्वजा यानं रोचना कुड्कुमं मधु ।  
 दर्पणं चामरश्चैव धातवः शस्त्रवर्जिताः ॥ ४२ ॥  
 रत्नानि वैबुधं विम्बं मधुमत्तो ह्यकातरः ।  
 जीवन्मत्स्याऽ निमित्तं च मनसो यद्खेददम् ॥ ४३ ॥  
 तत्सर्वं दर्शने श्रेष्ठं यत् खेददमशोभनम् ।  
 स्वगृहद्वारदेशाच्च पथि सप्तपदावधि ॥ ४४ ॥

१. पार्चन—मु० बक० बख० । २. वामी—अ० उ० । ३. परा—बक० बख० उ० ।  
 ४. च—अ० । ५. स्तु—उ० । ६. चिन—अ० उ० । ७. सिद्धार्थ—बक० बख० । ८. छत्रं वस्त्रं  
 ध्वजो—अ० । ९. रोहारो—बक० बख० अ० उ० । १०. मस्यान्नि—बक० बख० अ० ।

क्रममाणे निमित्तं च फलं यच्छैत्यनेन हि ।  
 निर्गत्य नगराद् ग्रामात् क्रोशार्धं क्रोशमेव वा ॥ ४५ ॥  
 गृहीयाच्छैकुनं चिह्नं नकुलादिमयं त्वतः ।  
 पूर्णात् सार्थाधिकात् क्रोशाद् हितकृन्मृगदर्शनम् ॥ ४६ ॥  
 दिङ्गुखे निर्मले सिद्धिव्रजेद् यत्र विशेषतः ।  
 सिद्धिकृच्चाम्बरं स्वच्छं सुदीप्ता भास्कराद्यः ॥ ४७ ॥  
 मरुत् सुखावहः स्निग्धः प्रदक्षिणगतिः स्थिरः ।  
 दिव्याद्युत्पातनिर्मुक्तः स कालः सिद्धिसूचकः ॥ ४८ ॥  
 हंसः शुको भरद्वाजः कोकिलः खञ्जरीटकः ।  
 मयूरो अमरश्चक्रवाकाद्याः खेचराः शुभाः ॥ ४९ ॥  
 भूचरा नकुलाः सौम्याः सिर्ताहिर्गृहगोधिका ।  
 गन्धाखुर्जम्बुकश्चैव सर्वेषां दर्शनं शुभम् ॥ ५० ॥  
 मृगाणां हरिणः सिंहो व्याघ्रः शशकचित्रकाः ।  
 सिद्धिसंसूचकाः सर्वे सर्वेषां विहितं तु वै ॥ ५१ ॥  
 प्रदक्षिणं विशेषेण व्यत्यये जम्बुकः शुभः ।  
 द्विजादिकं<sup>९</sup> रुतं स्निग्धं सिद्धिकृत् तत्त्वं सौख्यदम् ॥ ५२ ॥  
 समुत्पन्ने निमित्ते तु धातुसंक्षेपकर्मणि ।  
 प्रतीक्षितुं<sup>१</sup> न युज्येत् यदा शान्तिं तदाचरेत् ॥ ५३ ॥  
 पूर्वोक्तां चित्तशुद्धयर्थं सविशेषां सदक्षिणाम् ।  
 प्रविश्य विधिवत् क्षेत्रं निरीक्षेत् स्वतेजसा ॥ ५४ ॥  
 पश्येच्छिलां गुणवतां तरुं वा कर्मणि क्षमम् ।  
 वर्जयेदतिवृद्धां च परिक्षीणत्वचं तथा ॥ ५५ ॥  
 सभङ्गां दावदग्धां च निशब्दां रूक्षविग्रहाम् ।  
 सवालुकां च सच्छिद्रां विन्दुयुक्तां पुटोद्वहाम् ॥ ५६ ॥

१. ति तेन-अ० उ० । २. चल-वख० उ० । ३. द्विः पूजयेत् तु-वक० ।  
 ४. अस-म० अटी० । ५. नकुलः सौम्यः-उ० । ६. तादि-वक० वख०, तामि-अ० ।  
 ७. दीनां-म०, तिकं-वक० । ८. यातुः-अ० उ० । ९. तं च-वक० ।

आखुदुरमीनाहिमाजारशशकोपमाम् ।  
 सुवर्णपैरवर्णोत्थशिराजालेन सन्तताम् ॥ ५७ ॥  
 प्रागुक्तरूपस्याभावादमीषां ग्रहणं हितम् ।  
 पारावतशुकाब्जाभा मधुमाङ्गिष्ठमाषभौ ॥ ५८ ॥  
 गुर्वीं हृद्या शुभा स्निग्धा अतो वान्याभिशस्यते ।  
 सुहृद्ये भूतले मङ्गना जलाशयतलस्थिता ॥ ५९ ॥  
 छन्ना तरुवरेणैव वनराजिष्ववस्थिता ।  
 वेष्टिता वल्लिवृन्देन तथैवौषधिभृतां ॥ ६० ॥  
 ऊर्ध्वगा जानुदेशाच्च एकपिण्डीकृता भृगोः ।  
 मोक्षदा चं खवक्त्रा वै भोगदा सुतलानना० ॥ ६१ ॥  
 दिङ्गुखी चोभयकरी प्राढ्मूर्धा भूतिरायुपे ।  
 अतोऽन्यमस्तका कीर्तिर्यशोद्धिकरी मता ॥ ६२ ॥  
 वंशवृद्धिदमारोग्यशान्तिकृतकं१ यदाप्यदिक् ।  
 पुष्टि२ मुन्नतिसन्मेधां यच्छत्युत्तरमस्तका ॥ ६३ ॥  
 एवं पुरा परिज्ञाय पृष्ठोरुचरणं शिरः ।  
 बलात्मना सवीर्येण प्रोद्धृत्य सह शिल्पिभिः ॥ ६४ ॥  
 प्राढ्मुखं चोत्तरैस्या४ दिक् प्राणभागे चोत्तराननम्५ ।  
 स्थलेऽवतार्य मन्त्रेशमिष्टवा सक्चन्दनादिना ॥ ६५ ॥  
 ध्यात्वा शिलान्तःसंरुद्धं सम्पूज्य जुहुयात् ततः ।  
 उक्तदिग्द्वितयस्यैकदेशे कुण्डेऽथवा स्थले ॥ ६६ ॥  
 दत्वा पूर्णाहुतिं ध्यानजपयुक्तः क्षपेदहः ।  
 निशागमेऽर्चनं कुर्याद् वलिभूततर्पणम् ॥ ६७ ॥  
 नैवेद्यशेषमश्नीयान्मन्त्रविन्यस्तविग्रहः ।  
 तदक्षिणेन दर्भेषु प्राक्षिराः प्रस्वपेज्जपन् ॥ ६८ ॥

---

१. मर्जिर-अ० उ० । २. वर-बक०, खर-उ० । ३. मा-मु० अटी० ।  
 ४. श्यामा-उ० । ५. जी-अ० । ६. भिः स्मृता-बक० बख० अ० उ० । ७. जान-मु० अटी० ।  
 ८. मुदुः-सु० उ० बख०, मुग-बक० । ९. खगवक्त्रा-उ० । १०. लना-मु० । ११. त्वं-उ० ।  
 १२. मन्त्रति-बख० उ० । १३. चोत्तरास्यं-अटी० । १४. स्यां वै-मु० । १५. ननः-बक० ।

पूर्ववत् स्वप्नलाभार्थमुत्थाय रजनीक्षये ।  
 कुर्यात् स्वकृत्यं जुहुयादशुभस्वप्नशान्तये ॥ ६९ ॥  
 अभिनन्द्य शुभं स्वप्नं हृदयावर्जकं स्फुटम् ।  
 पर्वतं च स्वमात्मानं स्थानं तदुपलं स्थलम् ॥ ७० ॥  
 स्फटिकामलसंकाशं पश्येद् वा तप्तहेमवत् ।  
 निर्धूमाङ्गारकूटाभं तदाशु लभते शुभम् ॥ ७१ ॥  
 सशस्त्रमथ चादाय मुद्गरं चास्त्रमन्त्रितम् ।  
 प्राणसुखश्चतुरो वारांस्ताडयेन्मस्तकावधेः ॥ ७२ ॥  
 पाददेशाच्च वा मध्यादवेक्ष्य च फलं पुरा ।  
 चतुरश्रायतां कृत्वा भिन्नां पीठेन यन्त्रगाम् ॥ ७३ ॥  
 आनाय वा पृथक्पीठां छन्नां कर्मालयं शुभम् ।  
 आनुगुण्यपुराणेन विधिना चोद्धरेच्छिलाम् ॥ ७४ ॥  
 पोठार्थं भिन्नवर्णां च तद्रूपां वा यथेच्छया ।  
 अङ्गाङ्गिभावैगुणवद् दृष्टदां तु महामते ॥ ७५ ॥  
 काष्ठलोहमणीनां चाप्यलाभे सति वै शुभम् ।  
 सति लाभे न वै कुर्याद्वैषम्यं व्यत्ययं च वा ॥ ७६ ॥  
 तत्कालमेव चाहृत्य रत्नाधारशिलां शुभाम् ।  
 पुंस्त्रीनपुंसकोत्थाभेः शिलाभिस्त्रैतयं हितम् ॥ ७७ ॥  
 विम्बारूपं विद्वचाभावात् सर्वविम्बोपलात् तु वै ।  
 निषिद्धं भगवद्विष्मयं रत्नपीठमयोपलात् ॥ ७८ ॥  
 लक्ष्म्याद्या देवताकाराः स्वोपलाः सर्वसिद्धिदाः ।  
 याऽहताऽनलविन्दन्<sup>१</sup> वै सनादमभिमुञ्चति ॥ ७९ ॥  
 पुमानिति शिला सा वै निस्तेजा सस्वनाऽवला ।  
 आदिमध्यावसानेषु नाग्निर्यस्या न च ध्वनिः ॥ ८० ॥

१. जन—अ० । २. विन्यस्य वै पुरा तेन—म० अटी० । ३. भाव—अ० । ४. च अ—अ०  
 उ० । ५. वा—अ० । ६. वारां—म० अटी० । ७. भिः स्यात् तथा—म० अटी० ।  
 ८. विम्बाद्य—वख० अ० उ० । ९. सो—उ० । १०. कृत्—वक० वख० अ० उ० ।  
 ११. विम्बोवं—अ० उ०, विम्बोऽयं—वक० वख० ।

न पुंसकेति सा ज्ञेया स्वपदस्था फलप्रदा ।  
 शिलाग्रहणमित्युक्तं दारुग्रहणमुच्यते ॥ ८१ ॥  
 आपर्वतान्तःसञ्चारो निर्वेण सरलं वृहत् ।  
 रोगमुक्तं न सिंहाद्यैः प्राङ्मनैखैः सक्षतीकृतम् ॥ ८२ ॥  
 नानिलाशनिदावाग्निहतवीर्यं न वाशगम् ।  
 सॅलक्षणे तु सुस्थिनिधे भूभागे चोन्नते स्थितम् ॥ ८३ ॥  
 प्राप्वत् तमधिवास्यादौ परेऽहन्यर्चयेत् ततः ।  
 तदाश्रितामविज्ञातस्वरूपां देवतां पठन् ॥ ८४ ॥  
 इहाश्रितात्मने तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय च ।  
 क्षमस्वावतरान्यत्र सन्तिष्ठात्र चिदात्मना ॥ ८५ ॥  
 अथास्त्रोदकशुद्धेन विलिप्तेन वृतादिना ।  
 जपन् मन्त्रवरं वौषट् छिन्द्याद् वै क्रकचादिना ॥ ८६ ॥  
 प्राच्यामुदीच्यामैश्वान्यां पतत्यभिमुखं यदि ।  
 परिज्ञेयं शुभं कुर्यादन्यपातेऽर्चनादिकम् ॥ ८७ ॥  
 अनाश्यौ देवभागं चार्यनादेयेन वै विना ।  
 विम्बमिच्छति वै कर्तुं वार्ष चैवातिविस्तृतम् ॥ ८८ ॥  
 अनेकभुजवक्रास्त्रभूषितं तत् तस्तिथतैः ।  
 भिन्नैरवयवैर्मानयुक्तैः शिष्टैर्न दूष्यति ॥ ८९ ॥  
 भक्तिशद्वावशाच्चैव सर्वं चार्णमयं यतः ।  
 एवमेकतमस्यापि भक्तिपूर्वस्य वस्तुनः ॥ ९० ॥

विशेषेण शिलादारुसंग्रहणविधानमाह—सच्छैलदारुग्रहण इत्यारभ्य सर्वं  
 मयं तत इत्यन्तम् । एतत्प्रयोगस्तु श्रीसात्वतामृते सुविशदं प्रतिपादितो  
 द्वयः ॥ ३३-९० ॥

१. तनु-उ० । २. हिस्ता-अ० । ३. मूलैः-अ० । ४. सु-अ० उ० ।
५. र्या-बक० अ० उ० । ६. च अना-अ० उ० । ७. समयम्-अ०, स्मृतम्-उ० ।
८. स्त्रैर्मू-अ० । ९. न्तैर्दुष्टै-मु० अटी० । १०. चाणु-अ० उ० । ११. तत इति भाष्यानुसारी  
पाठः-अटी० ।

संग्रहं च पुरा कृत्वा कुर्यादाकारमीप्सितम् ।  
 तादथर्थेन तु सामान्यं सौम्यमानं पुरा शृणु ॥ ९१ ॥

ऋज्वारूप्यमविकारं च व्यापकं त्वेकमूर्तिमत् ।  
 मूभागे सुसमे श्लक्षणे मानैमुत्कीर्य तेन वै ॥ ९२ ॥

निरूप्यावयवानां च लक्ष्म विस्तृतिपूर्वकम् ।  
 अष्टाधिकशतांशो यः स्वोन्नतेरङ्गुलं च तत् ॥ ९३ ॥

द्वे अङ्गुले कलानेत्रं गोलकं भाव एव च ।  
 अङ्गुलादष्टमागो यः स यवः परिकीर्तिः ॥ ९४ ॥

षट्कलं च परिज्ञेयं तालं विम्बादिकर्मणि ।  
 मुखाङ्गनाभिमेदृक्षमास्तालमानैस्त्वथोरुयुक् ॥ ९५ ॥

द्विंकले च तथा जड्हे "गुलफं जानुर्गलाङ्गचकम् ।  
 त्यङ्गुलं त्यङ्गुलं ज्ञेयमित्युन्मानमुदाहृतम् ॥ ९६ ॥

जटाघराणां विम्बानां दीर्घहस्ववशेन तु ।  
 चतुष्कलं च त्रिकलं मानं मानाद् वहिः क्षिपेत् ॥ ९७ ॥

त्रिपञ्चसप्तशिखरो मौलिरष्टकलोन्नंतः ।  
 निर्जटानां ललाटोधर्वे मकुटं वा सुशोभनम् ॥ ९८ ॥

तालेन हासवृद्धी तु कार्ये त्वत्र व्यपेक्षया ।  
 यथोदितेषु भागेषु एकैकेनाङ्गुलेन तु ॥ ९९ ॥

आस्यनासाललाटार्थं वदनांशं भजेत् त्रिधा ।  
 ततोऽग्रतः कलामानं ग्राणं स्यात् तिलपुष्पवत् ॥ १०० ॥

कलाधर्वेन तु विस्तारः सोन्नतिस्तपुटद्रव्ये ।  
 नासाग्रग्रासनिर्मुक्तं गोजीमानं चतुर्यवम् ॥ १०१ ॥

१. सौम्य—अ० उ० । २. मुद्गीय—मु० अटी० वक० वख० । ३. मानस्त्व—बक० बख० उ० । ४. द्विताले—बक० वख० अ०, विशाले—उ० । ५. लफजानुग—बक० वख० अ० ।  
 ६. लं चरम्—मु० बक० वख० उ०, लुच्छकम्—अटी० । ७. लोङ्ततः—मु० अटी० बक० वख० ।  
 ८. कलेन—बक० वख० उ० ।

तच्चतुर्यवमानेन ग्राणाश्रेणान्तरीकृतम् ।  
 अधाङ्कुलं चोत्तरोष्ठमधरोष्ठं तु चाङ्कुलम् ॥ १०२ ॥  
 गोलकं चिंबुकं विद्धि सूक्ष्मिकण्यौ चतुरङ्कुले ।  
 आद्यस्य नासिकांशस्य मध्यभागसमाश्रिते ॥ १०३ ॥  
 कुर्यान्नेत्रश्रुतिच्छिद्रे तत्र नेत्रे कलान्तरे ।  
 कलायामसमं दैर्घ्यात् कलाधर्णेन तु विस्तृतम् ॥ १०४ ॥  
 यदुत्पलदलाकारं द्वियवेनाधिकं तु तत् ।  
 कुर्यात् पद्मदलाकारं नेत्रार्थं वृत्ततारकम् ॥ १०५ ॥  
 तारादैर्घ्यत्रिभागेन त्वाद्यस्यान्यस्य वांधिका ।  
 यवेनैकेन साधर्णेन ज्योतिस्तप्तच्चभागिकम् ॥ १०६ ॥  
 त्रिभागेनापि विहितं तत्पद्मदललोचनं ।  
 द्विषष्ववं नेत्रकोशं विस्तरेण यवाधिकम् ॥ १०७ ॥  
 सार्धाङ्कुलद्वयं दैर्घ्याद् भ्रूलर्ते द्विकले स्मृते ।  
 मध्यतो द्वियवे बालचन्द्रतुल्ये क्रमक्षते ॥ १०८ ॥  
 तदन्तरं कलार्थं च तत्कोटी समस्त्रके ।  
 श्रोत्रे द्वयङ्कुलविस्तीर्णे आयामेन द्विगोलके ॥ १०९ ॥  
 द्वियवः कंण्ठपरिधिः पर्वणी द्वे चतुर्यवे ।  
 मध्यं ताभ्यां तथा विद्धि द्रोणी साद्वाङ्कुलाङ्ग्र वै ॥ ११० ॥  
 कलाधर्णेन तु तच्छिद्रं पाशमानं यथारुचि ।  
 अङ्कुलाद् द्विकलान्तं तु वैषम्यमपि तत्र यत् ॥ १११ ॥  
 अन्तश्चिद्रविनिर्मुक्तं तद्विज्ञेयं चतुर्यवम् ।  
 सदलं करणोपेतमेवं श्रोत्रद्वयं स्मृतम् ॥ ११२ ॥

---

१. सूक्ष्मिकण्यौ—अ० उ० । २. श्रुती—अटी० । ३. दैर्घ्यात्—अ० उ० । ४. चा—अ० ।  
 ५. नाभिवि—बक० वख० । ६. चने—अ० । ७. विस्ता—मु० अटी० । ८. कले—अ०, तले—मु०  
 बक० वख० । ९. कर्ण—उ० । १०. न्तस्तु—मु० अटी० बक० वख० ।

चतुष्कलं ललाटं तु शिखरे द्वे द्विगोलके ।  
 उच्छ्रायात् च्यद्गुले चैव अग्रतोऽड्गुलविस्तृते ॥ ११३ ॥

केशभूमेः समुद्भूतं ललाटोपरि संस्थितम् ।  
 कुर्यात् कलार्धमानं तु वक्त्रं चालकसंचयम् ॥ ११४ ॥

कपोलपरिधिं कुर्यात् कणात् कण्ठगतं समम् ।  
 तन्मध्ये वर्तुलौ गण्डौ परिच्छिन्नौ पुरोदितैः<sup>३</sup> ॥ ११५ ॥

शिरसः परिणाहं तु विद्वि पट्टिंशद्गुलम् ।  
 श्रोत्रकोटिद्वयाच्चैव मस्तकस्य यदन्तरम् ॥ ११६ ॥

तत्षोडशाड्गुलं विद्वि वर्तिभ्यां पृष्ठस्तथा ।  
 सार्धतालं परिज्ञेयं ललाटात् कगुहान्तरम् ॥ ११७ ॥

सत्कम्बुसदृशी ग्रीवा मूलमध्याग्रतो हि सा ।  
 परिधेद्वादशकला एकविंशाड्गुलाग्रतः ॥ ११८ ॥

अष्टादशाड्गुला चैव स्वांशात् च्यंशेन विस्तृता ।  
 तन्मूलं विस्तृतौ स्कन्धौ तुङ्गौ वृत्तायतौ समौ ॥ ११९ ॥

पड्डगुलं तद्वाहुल्यं वाहुमानंमथोच्यते ।  
 स्कन्धोत्तमाङ्गं त्रिकलं सन्ध्यन्तं पट्कलं स्मृतम् ॥ १२० ॥

सैन्धेवै<sup>४</sup> मणिवन्धान्तं मानं नवकलं स्मृतम् ।  
 मणेमध्यमशाखान्तो<sup>५</sup> हस्तः सप्ताड्गुलो मतः ॥ १२१ ॥

परिज्ञेयं कलाहीनं तन्मानं मध्यमाड्गुलेः<sup>६</sup> ।  
 तच्चतुर्यवहीना च साऽनामा तु प्रदेशिनी ॥ १२२ ॥

द्विकला च परिज्ञेया साड्गुष्ठा तु कनीयसी ।  
 द्विपर्वा च स्वतोऽड्गुष्ठः सर्वाश्चाड्गुलै<sup>७</sup> विस्तृताः ॥ १२३ ॥

१. यत्प्र-अ० उ० । २. कर्ण-उ० । ३. दितौ-अ० । ४. च-उ० । ५. टाच्च-अ०,  
 टात् ककुभा-उ० । ६. नं त-उ० । ७. पड्डकितरेषा नास्ति-उ० । ८. स्कन्धेवै-मु० अटी० वक० ।  
 ९. न्तौ हस्तौ सप्ताड्गुलौ मतौ-अ० । १०. ले-वक० वख० । ११. ल-अ० उ० ।

सर्वासां मूलपर्यन्ताद् हासयेच्च यवं यवम् ।  
 अग्रपर्वार्धमानेन कार्या लिङ्गोपमा नखाः ॥ १२४ ॥  
 मानमङ्गुष्ठमूलस्य परिधेश्चतुरड्गुलम् ।  
 तच्चतुर्यवहीनं च ज्ञेयं त्रिष्वङ्गुलीषु च ॥ १२५ ॥  
 न्यूनाङ्गुलेः कला सार्था प्राणवद् हासश्च वेष्टनात् ।  
 अङ्गुष्ठमङ्गुलं चाग्रात् त्रिस्रोऽन्याः षष्ठ्यवाः स्मृताः ॥ १२६ ॥  
 अर्धाङ्गुलाग्रतो न्यूना विद्धि मध्यं क्रमक्षतम् ।  
 निंजलक्ष्मोपलं चाग्रात् साङ्गुलं द्विकलं करम् ॥ १२७ ॥  
 ईशन्निम्नतलं चैव लक्ष्मरेखाविभूषितम् ।  
 शाखामूलावधे: पाणीं बाहुल्यं द्वे यवेऽङ्गुलम् ॥ १२८ ॥  
 चतुर्यवाधिकं चैव मणिवन्धावधे: स्मृतम् ।  
 मध्ये कलार्धहीनं तु तद्वाहुल्यमुदाहृतम् ॥ १२९ ॥  
 मणिवन्धावधेवाहुवेष्टनं षट्कलं स्मृतम् ।  
 सन्धेः सप्तकलं विद्धि साङ्गुलं त्रियवच्युतम् ॥ १३० ॥  
 हीनर्मधाङ्गुलेनैव मूलाद् वै नवगोलकम् ।  
 तथैव सन्धेरुद्धर्त् तु विस्तारः प्राणवदत्र च ॥ १३१ ॥  
 अत्रापि पूर्ववद् दृष्ट्या कार्याऽन्तःस्था क्षितिः स्वयम् ।  
 तालं गलावधेस्त्यक्षत्वा तन्मानेनान्तरीकृतम् ॥ १३२ ॥  
 स्तनद्रयं समं कुर्यात् तद्वारा च समांसला ।  
 निम्नं हृदगोलकार्धेन ऊर्ध्वतो रत्नराङ्गुतम् ॥ १३३ ॥  
 स्तनाभ्यां त्रिकलौ पाश्वौ त्रियवं स्तनमण्डलम् ।  
 यवोन्नतं तथा चाग्राद् विस्तृतं तेन चूचुकम् ॥ १३४ ॥

१. मूला-मु० अटी० । २. सार्थात्-अ० । ३. न च लक्ष्मापमं-मु० बक० बख०  
 अ० उ० । ४. पाणि-अ० उ० । ५. तुल्यं-अ० उ० । ६. लं त्र्यवम-मु० अटी० बक०  
 ल्यक्रम-बक०, लं त्र्यम-उ० । ७. प्युत-यक० बख०, च्युत-उ० । ८. मध्या-मु० अटी०  
 बक० बख० । ९. रुद्धवं तु-मु० अटी० बक० बख० । १०. कृते-मु० अटी० बक० बख० ।

लोचनं त्रियवं सार्धं कक्षमानमुदाहृतम् ।  
 स्कन्धमानविनिर्मुक्तं पृष्ठमंसावधेः सैमम् ॥ १३६ ॥  
 द्रोणीैनिकाशसदृशंै मंध्यराशेः समांसलम् ।  
 कक्षान्तर्वेष्टनं विद्वि पञ्चतालं सुलोचनम् ॥ १३६ ॥  
 विनाङ्गुलद्वयैनैव द्वे ताले दिगुणीकृते ।  
 यवत्रयसमायुक्ते विद्वि तत्कुक्षिवेष्टनम् ॥ १३७ ॥  
 त्रियवोनं कलामानं विज्ञेयं नाभिमण्डलम् ।  
 तन्मानंै त्रियवोनं तु तन्निमन्त्वं विधीयते ॥ १३८ ॥  
 परिधिनाभिमध्ये तु त्रितालःै सत्रिलोचनः ।  
 पृष्ठगोलकं च तन्मानपरिद्वयर्थं कटेःै॒ स्मृतम् ॥ १३९ ॥  
 करिकुम्भोपमौ पीनौ परितः पञ्चगोलकौ ।  
 स्फजौ कौपीनराजी च द्वयज्ञला मूलतः स्मृता ॥ १४० ॥  
 परितोऽङ्गुलमानाँै सा मेद्रं तु त्रिकलं स्मृतम् ।  
 चतुर्यवं च तत्कोशं वेष्टनं तु पदङ्गुलम् ॥ १४१ ॥  
 द्वयङ्गुलौ वृषणौ दैव्यान्मूलान्तसमविस्तृतौ ।  
 परितोैऽङ्गुलं विद्वि वायुरन्धं सुवर्तुलम् ॥ १४२ ॥  
 ऊरुमानं परिज्ञेयं मध्यभूमेन्वाङ्गुलम् ।  
 पट्कलं मूलदेशाच्च अग्रान्तं त्रिकलं स्मृतम् ॥ १४३ ॥  
 हीनमेकाङ्गुलेनैव द्रिकलं जानुमण्डलम् ।  
 विस्तारेणोन्नतत्वेन चतुर्यवसमं तु तत् ॥ १४४ ॥  
 जङ्घामूले परिज्ञेयै॒ वेष्टनं नवगोलकम् ।  
 द्विसप्ताङ्गुलकं मध्ये सार्धपञ्चाङ्गुलंै॑ ततः ॥ १४५ ॥

१. मांसा—मु० अटी० । २. शमम्—बक० बख० । ३. णनी—बक० । ४. शम—बक०  
 बख० उ० । ५. मध्ये राजोः—उ० । ६. पङ्क्तित्रयं नास्ति—उ० । ७. स्व—अ०, स—बक० बख० ।  
 ८. तन्मानात्—अ० । ९. तत् त्र्यवोनं—मु० अटी० बक० बख० । १०. कालः—मु० अटी०  
 बक० बख० । ११. सप्तगोलं च तन्मानं—अ० उ० । १२. कटे—मु० अटी० ।  
 १३. नास्ति—बक० बख० । १४. द्वियवं—मु० अटी० । १५. आयात्—अ० । १६. ज्ञेये—मु० अटी०  
 बक० बख० । १७. पञ्चकलं—अ० उ० मु० ।

अत्रापि वेष्टनाद् विद्धि तृतीयांशेन विस्तृतम् ।  
 मध्यमूलावसानेभ्यो विस्तारमनुगुण्य तु ॥ १४६ ॥  
 शुजाभ्यां मध्यदेशस्य तथाङ्गुलिगणस्य च ।  
 ऊरुग्रमस्य जङ्घाभ्यामापाद्या द्विप्रहस्तता ॥ १४७ ॥  
 सतालंभागमानं च दैर्घ्यं वै चारणं स्मृतम् ।  
 पाणीं द्विगोलकतते तन्मध्ये साङ्गुले कले ॥ १४८ ॥  
 त्रिकलं चाग्रतश्चैव बाहुल्येन कलासमम् ।  
 पांदमङ्गुष्ठनिकट्टात् त्रियबोनं प्रकीर्तिम् ॥ १४९ ॥  
 बाहुल्यं च कलामानं गुल्फदेशाच्च साङ्गुलम् ।  
 कनीयोऽङ्गुलिमूलाच्च गुल्फान्तं पिण्डकाङ्गुलम् ॥ १५० ॥  
 जङ्घावर्सानदेशाच्च वेष्टनं सप्तलोचनम् ।  
 कलाहीनं तदैवाग्रात् परिणाहोँ विधीयते ॥ १५१ ॥  
 चरणं विधिनानेन कूर्मपृष्ठं समाप्य च ।  
 त्यङ्गुलेन च तदैर्घ्यादङ्गुष्ठस्य च दीर्घता ॥ १५२ ॥  
 पञ्चाङ्गुलः परिज्ञेयः परिधिस्तस्य लाङ्गलिन् ।  
 यवद्वयाधिका कार्या तदैर्घ्यात् तु प्रदेशिनी ॥ १५३ ॥  
 अङ्गुष्ठायामतुल्याऽथ कार्या वै पांदमध्यमा ।  
 मध्याङ्गुलेद्विरप्टांशहीना तदनु या स्थिता ॥ १५४ ॥  
 तद्वत् तदनुगा या च त्रिपर्वास्तु पूर्ववत् ।  
 संयुक्ता नखजालेन कूर्मपृष्ठोपमेन च ॥ १५५ ॥

---

१. द्विवि-अ० । २. सतालं-अ० उ० । ३. पद-म० अटी० । ४. रात्-म० अटी० ।  
 ५. लं-म० अटी० बक० बख० उ० । ६. स्थान-बक० । ७. णामो-अ० । ८. तेन-बक० बख० ।  
 ९. पदमध्यगा-बक० बख० अ० उ० ।

द्विकलं तु कैलाधीनं पादतर्जनिवेष्टनम् ।  
 चतुश्चतुर्यवोनं च तच्छेषाणां प्रकीर्तिम् ॥ १५६ ॥  
 त्रयंशेन वेष्टनाद् विद्धि सर्वासां चैव विस्तृतिम् ।  
 सर्वे समांसलाः सौभ्याः समास्त्ववयवाः शुभाः ॥ १५७ ॥  
 दशनावलिवाहस्थे दर्शे सप्तयवोन्नते ।  
 यवद्वयोन्नतैः मानं मध्यदन्तचतुष्टये ॥ १५८ ॥  
 तत्पक्षगोणां सर्वेषां मानं विद्धि चतुर्यवम् ।  
 त्रियवं द्विजविस्तारमग्रान्मूलाद् यवद्वयम् ॥ १५९ ॥  
 तत्सार्धं मध्यदेशाच्च सर्वे दन्ता निरन्तराः ।  
 लोम प्रदक्षिणावर्तमयुग्जैन्मोत्थितं शुभम् ॥ १६० ॥  
 सुनिश्चितं हितं चैतन्मानमव्यभिचारि यत् ।  
 मनोहारित्वमेकत्र रूपलावण्यभूषितम् ॥ १६१ ॥  
 सर्वदा चानयोर्विद्धि अन्योन्यत्वेन संस्थितिम् ।  
 सुंसौन्दर्यं तु मानस्य क्वचिदाक्रम्य वर्तते ॥ १६२ ॥  
 लावण्यस्य क्वचिन्मानं समाच्छाद्यावतिष्ठते ।  
 यथातिरूपवान् लोके दरिद्रोऽप्येति<sup>१</sup> मान्यताम् ॥ १६३ ॥  
 विरूपोऽप्यतिविच्छाद्यो नारूपो नैव निर्धनः ।  
 एवं द्रयोज्ञितं विम्बमनादेयत्वमेति च ॥ १६४ ॥

अथ विम्बस्य सामान्यतो मानोन्मानादिलक्षणमाह—एवमेकतमस्यापीत्यारभ्य  
 अयुग्जन्मोत्थितं शुभमित्यन्तम् ॥ ९१—१६० ॥

एवमुक्तस्य मानादेः किञ्चिद्वैष्म्येऽपि सौन्दर्यातिशयविशिष्टं चेद विम्ब-  
 मुपादेयम्, सौन्दर्याभावेऽपि मानयुक्तं चेत् तदपि ग्राह्यम् । ताभ्यां द्वाभ्या-  
 मप्युज्जितं चेत् तत् त्याज्यमिति सलौकिकदृष्टान्तमाह—सुनिश्चितमिति सार्ध-  
 इचतुर्भिः ॥ १६१—१६५ ॥

१. यवा—बक० बख० उ० । २. तम्—बक० बख० । ३. तान्मानं—बक० । ४. काणां—  
 अटी० । ५. मुं जन्मायिदं—अ० । ६. चैव तन्मानं व्यभि—बक० बख० । ७. अन्यूनत्वेन—अटी० ।  
 ८. तम्—बक० अ० । ९. स—मु० अटी० अ०, सं—बक० । १०. चिछद्या—अ० । ११. हौति—अ०,  
 म्येति—उ० ।

आदेयमेकयुक्तं च नित्यं यैस्मान्महामते ।  
 संम्यङ्गमाने च सौन्दर्ये भवतानुग्रहकाम्यया ॥ १६५ ॥  
 मौन्त्रसन्निधिशक्तिर्वै सफला द्युविष्ठते ।  
 सा सम्यक् प्रतिपन्नस्य विम्बे दृग्गोचरस्थिते ॥ १६६ ॥  
 औमूर्ती ह्लादयत्याशु ज्ञात्वैवं यत्नमाचरेत् ।  
 मानोन्मानप्रमाणानामथ सौन्दर्यसिद्धये ॥ १६७ ॥  
 ऋजोः सुंसमपादस्य त्यज्ञुलं चरणान्तरम् ।  
 तद् वै विषमपादस्य अङ्ग्रात् तालसमं स्मृतम् ॥ १६८ ॥  
 तत्पार्षिंद्रयमध्यात् तु परिज्ञेयं द्विगोलकम् ।  
 स्थित्यर्थं ब्रह्मनाड्या वै तथा मार्गद्रव्यस्य च ॥ १६९ ॥  
 सूत्रेण सुसमे कुर्याद् देहोत्थे दक्षिणोत्तरे ।  
 समपादस्य विम्बस्य ललाटान्मेद्भूमस्तकम् ॥ १७० ॥  
 प्रसार्य सूत्रमाच्छाद्य तेन नाभिहृदन्तरम् ।  
 ग्राणग्रमलकानां च सन्धिर्यस्तिलकोर्व्वगः ॥ १७१ ॥  
 एवं विषमपादस्य दक्षाङ्गुष्ठाग्रगं नयेत् ।  
 गात्रसाम्यं समापादं क्षेत्रात् क्षेत्रगतेन च ॥ १७२ ॥  
 सूत्रेण सर्वविम्बानां वैषम्यविनिवृत्तये ।  
 चंतुस्त्रिद्रव्यश्रिपरितः<sup>१०</sup> परिशुद्धा यतः शुभाः<sup>११</sup> ॥ १७३ ॥

एवं विम्बस्य प्रमाणवत्त्वे सौन्दर्यवत्त्वे च “आभिरूप्याच्च विम्बस्य”<sup>१२</sup> इत्युक्त-  
 रीत्या निरतिशयाह्लादजननी भगवत्सानिध्यशक्ति(वि ? वि)स्वे<sup>१३</sup> स्वत एवाविर्भूता  
 सफलाऽविष्ठते, अतस्तदर्थं सुतरां यत्नः कार्यं इत्याह—सम्यङ्गमाने चेति सार्ध-  
 द्वाभ्याम् ॥ १६६-१६७ ॥

समपादविषमपादविम्बानां सूत्रेणावयवसाम्यपरीक्षामाह—ऋजोः सुसम-

१. यः स्या—बक० वख० । २. साम्य—बक० । ३. मन्त्र—मु० अटी०, मान्त्री—अ० उ० ।
४. चरे—अ० उ० । ५. अमूर्ती—अटी० । ६. सुलभ—उ० । ७. अग्राजाल—बक० । ८. तु—उ० ।
९. चतुस्त्रिश्रीपरिमितः—अ० उ० । १०. परतः—मु० । ११. शुभः—बक० वख० अ० उ० ।
१२. ‘अर्चकस्य तपोयोगादर्चनस्यातिशयनात् । आभिरूप्याच्च विम्बानां देवः सन्धिमृच्छति ॥’
- इत्यर्थं श्लोको देवीपुराणवचनत्वेन समुद्दृतो धर्मसिन्धौ तृतीये परिच्छेदे ग्रतिमानिण्यविचार-  
प्रकरणे । १३. तत—अ० ।

अशुभाऽपरिशुद्धा तु बिम्बोत्थाऽवयवी स्थितिः ।  
 ललाटमश्ववक्त्रस्य विस्ताराद् द्वादशाङ्गुलम् ॥ १७४ ॥  
 अष्टलोचनमायामाद् अग्रतश्चतुरड्गुलम् ।  
 कलार्धसुषिरे ग्राणैरन्धे भागान्तरीकृते ॥ १७५ ॥  
 अष्टाड्गुले तु हनुके सृकिकण्यौ द्वेऽथ तत्समे ।  
 मध्यतः श्रोत्रंशुक्ती द्वे द्वयड्गुले द्विकलोन्नते ॥ १७६ ॥  
 द्वयड्गुलं ग्राणवंशं तु तदूर्ध्वं द्विकलं स्मृतम् ।  
 विद्वि वक्त्रविकासं च द्वियं चाग्रतः क्रमात् ॥ १७७ ॥  
 तमेव हि यवांसेन हन्वन्तं ततुतां नयेत् ।  
 ग्राणवंशस्य पक्षौ द्वौ मध्यनिम्नौ च संहतौ ॥ १७८ ॥  
 यवद्वयेन साधेन दृग्ग्राणाभ्यां तु चान्तरे ।  
 अथो दलं तु दृग्द्रोणेयवमानेन सञ्चितम् ॥ १७९ ॥  
 ललाटं सालकं प्राञ्चद् दृढमध्यं साड्गुला कला ।  
 नृसिंहस्य मुखे विद्वि परितश्चाष्टलोचनम् ॥ १८० ॥  
 ततोऽष्टकण्ठदेशाच्च कुर्यात् कर्णद्वयोजिज्ञतम् ।  
 तत्कर्णद्वयमानेन ललाटान्तं नयेत् पुनः ॥ १८१ ॥  
 ग्राणात् प्राक् प्रणीताच्च संरम्भाग्रातलक्षणम् ।  
 प्रफुल्लविकसच्छिद्रं ग्राणवंशान्वितं भवेत् ॥ १८२ ॥

पादस्येत्यारभ्य बिम्बोत्थाऽवयवी स्थितिरित्यन्तम् ॥ १६८-१७४ ॥

अथ हयग्रीवबिम्बस्य मुखलक्षणमाह—ललाटमश्ववक्त्रस्येत्यादिभिः ॥ १७४-१८० ॥

१. वृत्ता—अ० । २. यव—बक० बख०, त्योऽवयवः स्थितः—उ० । ३. ग्राणे—मु० अटी०,  
ज्ञाने—श० । ४. विव—मु० बक० बख०, ग्रिव—अ० । ५. तृश—अ०, त्रश—उ० । ६. तु—अ० ।  
७. सौहृ—बक०, संहृ—अ०, संस्मृ—उ० । ८. रा—अ० उ० । ९. अधो—बक० बख० उ० ।  
१०. कु—अ० उ० । ११. मा—उ० । १२. ततोऽष्ट—मु० । १३. खण्ड—बक० बख० ।  
१४. त्यितम्—बक०, त्यितः—अ० । १५. भात्—अ० । १६. णः—बक० । १७. प्रफुल्त—बक०  
बख०, प्रफुल्ल—उ०, प्रफुल्लविकजं सान्द्र—अ० ।

तच्छद्रे<sup>१</sup> पूर्वमानाच्चाप्येस्य वै त्रियवाधिकम् ।  
 सैंगोलमुत्तराङ्गेषु सकलांशं च लोचनम् ॥ १८३ ॥  
 अधरोष्ठं परिज्ञेयं सच्चतुर्यवमङ्गुलम् ।  
 सार्धं चतुष्कलं वक्रं शेषायामो हनोः स्मृतः ॥ १८४ ॥  
 तद्विकासः परिज्ञेयो नेत्रमानं यवाधिकम् ।  
 अग्रतो हासैमायाति सृकिर्ण्यन्तं हि चाङ्गुलम् ॥ १८५ ॥  
 सर्ववृत्तं तदर्थेन नेत्रयुग्मं सविस्मयम् ।  
 पूर्ववद् विस्तृतं श्रोत्रं कलाधर्मेनैँ तदुन्नतेः ॥ १८६ ॥  
 तुल्या चेन्दुकला युग्मयोगस्य अूस्त्रिगोलर्का ।  
 तन्मध्यं तु कलामानं शङ्खावर्तोपमं मदत् ॥ १८७ ॥  
 भागमानं संटावृत्तं कार्यं तच्छिरसि स्फुटम् ।  
 दैर्घ्येण सार्धतालं च इमाधरस्याननं स्मृतम् ॥ १८८ ॥  
 विस्तारेण ललाटाच्च तन्मानं द्वयङ्गुलोज्जितम्<sup>२</sup> ।  
<sup>१</sup>सौम्यरूपस्य च विभोः ग्रोद्यतस्य कलोज्जितम् ॥ १८९ ॥  
 तच्चतुर्थाशमानेन पोत्रदेशस्य विस्तृतिः ।  
 तस्योपरिष्टाद् बाहुल्यं तत्समं चाङ्गुलं त्वधः<sup>२</sup> ॥ १९० ॥  
 हनुद्रुयस्य वै मानं सार्धं सप्ताङ्गुलं स्मृतम् ।  
 शेषमाननरन्त्रं तु सृकिकणीभ्यां यदन्तरम् ॥ १९१ ॥  
 तद्विकासश्च सार्धेन कलार्थेनाग्रदेशतः ।  
 स एवाङ्गुलमानेन विज्ञेयः सृकिर्णीद्रयात् ॥ १९२ ॥

---

श्रीनृसिंहवक्त्रलक्षणमाह—श्रीनृसिंहस्येत्यादिभिः ॥ १८०—१८८ ॥

---

१. द्र—मु० अटी० बक० बख० । २. च्च अ—अ० । ३. सगोम चत्वरं गोष्ठं—अ०,  
 यगोमुच्चत्तरङ्गेषु—उ० । ४. शेष—बक० बख० उ० । ५. ग्रास—मु० अटी० । ६. किव—मु०  
 अटी०, चिव—अ० । ७. धैर्य—मु० अटी० उ० । ८. कः—अ० । ९. समा—बक० बख०, सदा—उ०,  
 सत्य—अ० । १०. त्थितम्—अ० । ११. नास्त्येषा पङ्क्तिः—उ० । १२. द्यतम्—अ० ।  
 १३. ततः—उ० । १४. किव—मु० अटी०, चिव—अ० उ० ।

ग्राणरन्नं च वक्त्रोक्ते दंष्ट्रे द्वैर्यर्थकलोन्नते ।  
 नासावंशं यथापूर्वं कदलीनाडिपृष्ठवत् ॥ १९३ ॥  
 श्रोत्रे वाजिमुखोक्ते तु कोटेः सप्तकलान्तरे ।  
 तत्तुल्ये लोचने किन्तु ग्रान्ततीक्षणे यवोजिङ्गते ॥ १९४ ॥  
 एतेषां वैहिता ग्रीवा ह्यगुलद्वितयेन तु ।  
 प्रत्येकदेशात् संयुक्ता सौम्यमूर्त्युदिता च या ॥ १९५ ॥  
 विनोच्छायेण नृहरेर्यस्य गात्रस्य या ग्रीमा ।  
 सा सा सवेष्टनाद् व्यासात् कलार्थेनाधिका भवेत् ॥ १९६ ॥  
 वक्षःकट्युदरांसस्फिक्कलामानाधिकानि च ।  
 तथैव नखपत्राणि देहश्चास्य समांसलः ॥ १९७ ॥  
 सम्पूर्णो दक्षिणावर्तैर्लोमभिश्चातिकुञ्जितैः ।  
 त्रिचतुःपञ्चवक्त्रस्य विनैवोर्ध्वमुखेन तु ॥ १९८ ॥  
 दक्षिणोत्तरवक्त्राभ्यां हासं कुर्याद् द्विगोलकम् ।  
 विकासः सिंहवक्त्रोक्त उदग्वक्त्रस्य तत्र च ॥ १९९ ॥  
 समो दृक्सन्निवेशस्तु चतुर्णीं मोक्षसिद्धये ।  
 आरोग्यभोगकैवल्यग्रापतयेऽर्धाङ्गुलेन तु ॥ २०० ॥  
 कुर्यात् सव्यापसव्याभ्यामधो दृक्सन्निवेशनम् ।  
 सह पूर्वनेनैर्व साम्यं प्रत्यङ्गुमुखस्य च ॥ २०१ ॥  
 निष्कासायामविस्तारग्राणदृग्भ्रूतिष्वथ ।  
 ईषत्तिर्यक्षिर्तिन्यस्तदृग्मुखं दक्षिणं शुभम् ॥ २०२ ॥  
 तद्रच्च पोत्रदग्वक्त्रमुत्तरं सर्वसिद्धिकृत् ।  
 स्वकार्यसूचनान्युनं तन्मन्त्रस्य च सन्निधिः ॥ २०३ ॥

अथ वराहवक्त्रलक्षणमाह—दैर्घ्येण सार्धतालं चेत्यादिभिः ॥ १८८-१९४ ॥

अथ हयग्रीवादीनां ग्रीवाद्यवयवलक्षणानि त्रिचतुःपञ्चवक्त्रादिविम्बस्य

- 
- |                            |                             |                           |
|----------------------------|-----------------------------|---------------------------|
| १. त्वर्ध—वक्त्र० वख० अ० । | २. स्थिते—अ० ।              | ३. सहिता—वक्त्र० वख० उ० । |
| ४. संरुद्धात्—अ० ।         | ५. प्रभा—वक्त्र० वख० अ० ।   | ६. चैव सम्यक्—मु० अटी० ।  |
| ७. निष्ठा—मु० अटी० ।       | ८. तिं न्यस्य दुर्मुखं—अ० । | ९. न्मानं—वक्त्र० ।       |

अतोऽन्यथा समाश्रित्य शान्तिमास्ते च मन्त्रराट् ।  
 नित्यं तैत्सनिधानाच्च भूतवेतालराक्षसाः ॥ २०४ ॥  
 आ दर्शनात् पलायन्ते आविशन्ति च दर्शनात् ।  
 आदाय शिरसा मैन्निसमाज्ञां सम्प्रयान्ति ते ॥ २०५ ॥  
 अतः समाचरेद् यैत्नाद् येन स्याद् विम्बसनिधिः ।  
 नहि तत्सनिधानाद् वै कश्चिदारभते शुभम् ॥ २०६ ॥  
 वराहदंष्ट्रं सिंहाक्षं तथा चिपिटनासिकम् ।  
 विधेयं पञ्चमं वक्त्रं पञ्चवक्त्रस्य वै विभोः ॥ २०७ ॥  
 अस्याघरोत्तराभ्यां त्वप्योष्ठाभ्यां समता भवेत् ।  
 विभिन्नेताङ्गुलाधेन ताभ्यां तन्मध्यगा स्फुटा ॥ २०८ ॥  
 कार्या दशनपाली वै मूलमध्याग्रतः समा ।  
 कलाधेनोल्बणं वृत्तं तद्गण्डद्वितयं ततः ॥ २०९ ॥  
 द्विकलं चाग्रतः इमश्रु कला चार्धकला क्रमात् ।  
 सौम्बन्धवेणिः पूर्वोक्तमानेन शुभकृद् भवेत् ॥ २१० ॥  
 सिंहसूक्रवाज्याख्यवक्त्राणां सौम्यतां नयेत् ।  
 प्रमाणं दृगताल्लक्षाद् व्यवहारमयात् तु वै ॥ २११ ॥  
 विकासश्चाश्ववक्त्रोक्तः सौम्यरूपस्य भूमृतः ।  
 तदाद्योक्तस्तु नृहरेः प्रागुक्तो यः सं चोदितः ॥ २१२ ॥  
 तथा वक्त्राङ्गभावित्वे विभोः शक्तीश्वरस्य च ।  
 हारन्पुरवस्त्रस्वकटकाङ्गदभूषिर्ता ॥ २१३ ॥  
 माल्योपवीतकेयूरमकुटाद्युपशोभिता ।  
 प्रतिमा मन्त्रमूर्तीनां कृता भवति सिद्धिदा ॥ २१४ ॥

---

मुखाद्यवयवलक्षणानि<sup>१</sup> चाह—एतेषां विहिता ग्रीवेत्यारभ्य कृता भवति सिद्धि-देत्यन्तम् ॥ १९५—२१४ ॥

१. सत्—अ० । २. मान्त्री—उ० । ३. यत्तो—बक० । ४. विविक्तता—बख० अ० उ० ।  
 ५. संबद्ध—अ० उ० । ६. जीभ—अ०, वान्मु—बक० बख० मु० । ७. स चोद्यतः—मु०, समाचरेत्—  
 बक० बख० उ० । ८. ताः—अ० उ० । ९. ताः—अ० उ० । १०. लक्षण—अ० ।

यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तं वाहनं प्राणदैवतम् ।  
 तस्य विम्बसमुत्थेन तालेन मुखभण्डलम् ॥ २१५ ॥  
 द्वयड्गुलं तु ललाटोक्तं जटावन्धो द्विलोचनः ।  
 द्वयड्गुलेनोन्नतः कैष्ठ उरः पञ्चकलं स्मृतम् ॥ २१६ ॥  
 अष्टाङ्गुलं तदुदरं कटिः पञ्चाङ्गुलोन्नता ।  
 नवाङ्गुलोन्नतावूरु जानुनी द्वयड्गुले स्मृते ॥ २१७ ॥  
 अष्टाङ्गुलोच्छ्रुते जडघे द्वयड्गुले पाँदपिण्डके ।  
 शैममेक्कलाहीनं तदग्रीवायाश्च वेष्टनम् ॥ २१८ ॥  
 विम्बतुल्या परिज्ञेया सर्वदाऽस्याङ्गविस्तृतिः ।  
 तद्विभागाधिकं विद्धि वेष्टनं ह्युदरस्य च ॥ २१९ ॥  
 परिधिः कटिदेशस्य चतुर्नेत्राधिकस्तु वै ।  
 विम्बोक्तंसदृशं विद्धि तदूर्धोर्मूलवेष्टनम् ॥ २२० ॥  
 तदेव जडघामध्यस्य जडघान्तस्य तदेव हि ।  
 पादं पञ्चकलायामं चतुरड्गुलविस्तृतम् ॥ २२१ ॥  
 त्र्यड्गुलं पाणिदेशाच्च अड्गुण्ठोर्धकलासमः ।  
 विज्ञेया अड्ग्रिदैर्घ्यच्चैर्यवोनाङ्गुलयः क्रमात् ॥ २२२ ॥  
 नाभिरन्धं सुविस्तीर्णं ह्यर्धलोचनविस्तृतम् ।  
 मंध्यमाङ्गुलिपर्यन्तं मणिबैर्न्धानवाङ्गुलम् ॥ २२३ ॥  
 त्रिकलः पाणिविस्तारस्तन्नखा निशितोन्नताः ।  
 तद्वाहुमस्तकं विद्धि उच्छ्रायेण द्विलोचनम् ॥ २२४ ॥  
 भुजोपध्वजयुग्मं यत् तद् द्वितालसमं स्मृतम् ।  
 कलाधेनाधिकं विम्बं बाहोस्तद्वाहुवेष्टनम् ॥ २२५ ॥

सत्यसुपर्णादिग्रहडव्यूहलक्षणमाह—यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तमित्यारभ्य स्थिताना-

१. कर्णः—उ० । २. पद—बख० । ३. श्याम—उ० । ४. मेकं—म० अटी० उ० ।  
 ५. विम्बोक्तं—बक० बख० अ० उ० । ६. पाणिं—बक० बख० अ० उ० । ७. देशाच्च—म०  
 बक० बख० । ८. यवेना—म० बक० बख० । ९. पड़न्तिद्वयमेतत् पड़न्तिद्वयानन्तरं स्थापितम्—अ० ।  
 १०. बन्धं—अ० ।

१ विम्बोक्तां संद्विधि ह्येवं स्तनभूर्लोचनोल्बणा ।  
 वृत्तवैपुल्यमानेन लोचने पञ्चपत्रवत् ॥ २२६ ॥  
 अशुगं नरसिंहोत्थं प्राणाशं शुकचच्छुवत् ।  
 कलार्धमौनं दीर्घं च तद्वंशं गजपृष्ठवत् ॥ २२७ ॥  
 स्वायामदीर्घं तत्पक्षयुगलं कुक्षिदेशगम् ।  
 तदेव दैर्घ्यादधेन विस्तृतं हंसपक्षवत् ॥ २२८ ॥  
 स्वपक्षमानाद् द्विगुणं तत्पुच्छं शतशाखकम् ।  
 संपक्षमिममायामं सात्यं त्ववयवान्वितम् ॥ २२९ ॥  
 सर्वेषां विद्धि सामान्यं विशेषाख्यमयोच्यते ।  
 उरुद्धयाननयेद् हासमङ्गुलानां त्रयं तथा ॥ २३० ॥  
 जडघाकाण्डोच्छ्रुतेः कुर्याज्ज्ञाभ्यां चात्र वेष्टनम् ।  
 विम्बाख्यं मणिवन्धस्य सममूलान्महामते ॥ २३१ ॥  
 १० जानुदेशात् तदधेन सह चार्धाङ्गुलेन तु ।  
 पादे ११ जालं परिज्ञेयं विस्तारेण पडङ्गुलम् ॥ २३२ ॥  
 शेषं सत्योदितं सर्वं सर्वेषां विद्धि सर्वदा ।  
 किन्तु पादोज्जितौ १२ पक्षौ दैर्घ्यात् तदलविस्तृतौ ॥ २३३ ॥  
 एषां १३ चोड़डीयमौनानां स्वायामा पक्षविस्तृतिः ।  
 पञ्चानां च परिज्ञेया स्थितानामर्धलक्षणा ॥ २३४ ॥  
 एतदादाय मानं तु पुच्छभ्रूपक्षवर्जितम् ।  
 विद्धि वामनरूपस्य लक्षणं किन्तु लाङ्गलिन् ॥ २३५ ॥

मर्धलक्षणेत्यन्तम् ॥ २१५-२३४ ॥

वामनलक्षणमाह—एतदिति सार्वद्वाभ्याम् ॥ २३५-२३७ ॥

१. विम्बोष्ठां—बक० बख० उ० । २. सद्विधि—बक० बख०, साद्विधी—अ०, सद्वये—उ०, सद्विती—मु० अटी० । ३. मान—अ० उ० । ४. दैर्घ्यदीर्घेण—अटी० । ५. खिनम्—बक० बख० अ० उ० । ६. स्व—बक० बख० । ७. सत्य—बक० बख० अ० उ० । ८. सिद्धि—उ० । ९. मूलां—मु० अटी० बक० बख० । १०. ज्वाला—मु०, ज्वाल—अटी०, जाल—बख० अ० उ० । ११. जाल—बक० बख० । १२. त्वितौ—अ० । १३. एषा—बख० अ० उ० । १४. हुय—बख० अ०, त्प्लव—उ० ।

ललाटनासावक्त्रेभ्यः समादायाङ्गुलत्रयम् ।  
 मस्तकस्योपरिष्टात् तु जटावन्धं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

जटावसानमायामं यथा स्यात् पञ्चतालकम् ।  
 इत्युक्तं लेशतो विम्बलक्ष्म पीठमथोच्यते ॥ २३७ ॥

विम्बानामुपविष्टानां चतुरश्चं तु तद् भवेत् ।  
 चतुरश्चायतं चैव प्रोत्थितानां सदैव हि ॥ २३८ ॥

बृत्तवृत्तायतत्वेन श्वनयो रूपमन्यथा ।  
 याङ्गुलैः परमाणूथैरागधकमयैस्तु वा ॥ २३९ ॥

॒घत्तेऽचार्चा तु समायामं द्वाराद् वा मन्दिरोत्थितात् ।  
 तन्मानेन तु पीठस्य ॑दैर्घ्यमर्धेन विस्तृतिः ॥ २४० ॥

द्वारोध्वाच्च त्रिरन्तानि० एकपूर्वाणि वै पुरा ।  
 सन्त्यज्य द्वादशांशाद् वै अधः॑ पीठोन्नतिस्त्रिभिः ॥ २४१ ॥

॑शेषेणास्त्रांशसङ्घेन प्रतिमा चोत्थिता भवेत् ।  
 अथवा वाहनारूढा न्यूना वा मध्यमोत्तमा ॥ २४२ ॥

चतुर्भिर्द्वादशांशैस्तदुपविष्टस्य चोन्नतिः ।  
 विहिता चास्य सर्वत्र प्रतिमार्धेन विस्तृतिः ॥ २४३ ॥

तत् च्यंशपरिलुप्ता चै॒ चतुर्थांशोजिङ्गता॑ ऽथवा ।  
 परिवारवशेनैव चातुरात्म्यस्य वै पुनः ॥ २४४ ॥

उक्तनि(गं?ग)मनपूर्वकं पीठलक्षणमाह—इत्युक्तं लेशतो विम्बमित्यारभ्य  
 विलोमाद् विपरीतदमित्यन्तम् ॥२३७-२४१॥

१. विम्बं-अ० उ० । २. पीठ-उ० । ३. स्नायतं-बक० बख० ।

४. रथं तथाप्यन्यं-बक० बख० । ५. वृत्ता-बक० । ६. वै-अ० । ७. यत्तेऽचार्चा-मु० ।

८. चानु-अ० उ० । ९. अङ्गुल्यर्धेन-बक० बख०, अर्ध्यमस्त्रेण-अ०, अर्ध्यमर्धेन-उ० ।

१०. रन्ध्राणि-अटी० । ११. अयः-बक०, रथः-अ० । १२. णाक्रां-बक० बख०, ण ऋं-अ० ।

१३. वा-बख० अ० उ० । १४. स्थिता-अ० ।

अलुप्तांशं च विहितं पीठायामं च सर्वदिक् ।  
 चतुर्दिग्दृग्गतस्यैवमेकदिग्दृग्गतस्य च ॥ २४५ ॥  
 तदेव दैर्घ्यद्विगुणं लाङ्छनैरावृतस्य च ।  
 सार्वं चानावृतस्यैव तद्वाहुल्यं पुरोदितम् ॥ २४६ ॥  
 [चतुष्कमेकपीठानां केवलं लक्ष्मवर्जितम् ।]  
 एकैकं लक्ष्मभेदेन तत्संख्यं विद्धि वै पुनः ।  
 अनन्तासनमाद्यं च द्वितीयं पक्षमन्दिरम् ॥ २४७ ॥  
 कमलाङ्कं त्रुतीयं तु चतुर्थं चक्रभूषणम् ।  
 एवं हि सर्वसामान्यं पीठानां हि द्विरष्टकम् ॥ २४८ ॥  
 भेदभिन्नं समासेन पुनरेव निवोधतु ।  
 दिक्षु लक्ष्माणि पीठानां विद्धि कण्ठगतानि च ॥ २४९ ॥  
 अन्योन्यसन्निवेशाच्च तेषां बौहात्मना पुनः ।  
 चक्राम्बुजाभ्यां तत्स्थाभ्यां लुप्ताभ्यामपि तत्क्षितेः ॥ २५० ॥  
 तौभ्यामन्योन्ययोगाच्च दिक्ष्वनन्तखगाश्रयात् ।  
 द्विद्वयात्मना द्वयात्मना वा बहुत्वमवधारय ॥ २५१ ॥  
 पद्मेनोर्ध्वगतेनैव द्वयं चक्रेण तद्विहिः ।  
 एवं ह्याद्योगतेनैव परिज्ञेयं द्वयं द्वयम् ॥ २५२ ॥  
 उपरिष्टात् तु पद्माभ्यामधश्चक्रं द्वयं द्वयम् ।  
 द्वितयव्यत्ययाच्चान्यत् परिज्ञेयं महामते ॥ २५३ ॥  
 अन्तर्बहिःस्थितिवशाच्चक्रपद्मद्वयस्य च ।  
 व्यत्ययादनयोर्विद्धि ऊर्ध्वभागाच्चतुष्टयम् ॥ २५४ ॥  
 अधोभागादेवमेव चतुष्कमपरं तु वै ।  
 पीठानार्मष्टकमिदमधस्तादूर्ध्वतस्तु वा ॥ २५५ ॥

---

१. दैर्घ्यं—अ० उ० । २. नास्त्येषा पद्मक्षिः—मु० अटी० । ३. बह्वा—मु०, बाह्वा—अटी०,  
 सा ह्यात्मना—अ० । ४. बवत्रा—मु० अटी० बक० बख० । ५. नाभ्या—मु० ।  
 ६. विद्या—बक० बख०, द्वित्वा—अ० । ७. व्यक्त्या चा—बक० बख० । ८. मिष्टक—बक० बख० ।  
 ९. स्त्वतः—अ० ।

युक्तमेकेन वै कुर्याच्चक्रेण कमलेन वा ।  
 चकाकारास्तु विहिता ह्येकभ्रमसमाश्रिताः ॥ २५६ ॥  
 बहवो हि दलास्तैद्वदीषद् वै कणिकान्विताः ।  
 इति लाज्जनसञ्चारो बहुधा ते मयोदितः ॥ २५७ ॥  
 यस्मिन् प्रकृतिभूते तु पीठे तदधुना श्रुणु ।  
 कृत्वा द्विर्दशधा पीठं पुरायामात् समैः पदैः ॥ २५८ ॥  
 एकेन चरणं जड्धा कलशौ च त्रिभिस्त्रिभिः ।  
 कण्ठवीथिमथैकेन डृष्टिभिः कण्ठं तदूर्ध्वतः ॥ २५९ ॥  
 भागेन कण्ठसूत्रं तु शुक्तिकांशत्रयेण तु ।  
 उष्णीयं च तदूर्ध्वे तु कुर्यादंशद्वयेन वै ॥ २६० ॥  
 निर्गमः स्वदलेनैव विहितश्चरणस्य तु ।  
 चतुर्दिक्षु महाबुद्धे क्षेत्रोऽभ्येविकः स्मृतः ॥ २६१ ॥  
 सर्ववृत्तं घटं कुर्यात् पल्लवैर्वारकैर्युतम् ।  
 परितोऽशद्वयेनैव कण्ठपीठं प्रवेशयेत् ॥ २६२ ॥  
 अन्तःप्रवेशमेकेन विध्यंशेन गलस्य च ।  
 कुर्याद् गलप्रवेशस्य समां सूत्रस्य निःसृतिम् ॥ २६३ ॥  
 शुक्तेरधः कण्ठसूत्रभागात् पादेन निर्गतम् ।  
 वदनान्तं समासेन शुक्तेः संकोचमाचरेत् ॥ २६४ ॥  
 उष्णीपघटजंडधानामश्रिसौम्यं यथा स्थितम् ।  
 घटवद् भूषयेच्छुक्तिमरकैर्वाङ्गपल्लवैः ॥ २६५ ॥  
 तत्रोपरिष्टात् परिधिं चतुरंशकसम्मितम् ।  
 सन्त्यज्य निखनेद् द्रोणीमंशनिम्नां समन्ततः ॥ २६६ ॥

१. स्ताव—अ० । २. तन्मयोदितम्—बक० बख० । ३. च—म० अटी० । ४. तो ह्य—  
 अ० उ० । ५. कण—म० अटी० । ६. इतः २८१ संख्यापर्यन्ताः श्लोका वारद्वयं लिखिताः—उ० ।  
 ७. तु—अ० । ८. विस्तृतिम्—अ० । ९. निर्मितम्—बक० बख० । १०. सं—बक० बख० उ० ।  
 ११. मश्री—अटी० उ० ।

विस्तुतेर्मध्यभागेऽथ स्वच्यंशेन चै निर्गमैम् ।  
 तन्मानं चतुरश्रं तु पीठक्षेत्राद् विनिर्गतम् ॥ २६७ ॥  
 तच्चाग्रतस्त्रिधा कृत्वा पक्षभागौ क्षयं नयेत् ।  
 अनुपादेन चामूलात् सम्यग् लाङ्गलवक्त्रवत् ॥ २६८ ॥  
 अग्रतो मूलदेशाच्च कृत्वादौ वै त्रिधौ त्रिधा ।  
 भूयस्तन्निखनेन्मध्याज्जलं याति यथा द्रुतम् ॥ २६९ ॥  
 सूकराननतुल्यं तु भवत्येवं महामते ।  
 कुर्याद् वै शङ्खसदृशं मर्करास्योपमं तु वा ॥ २७० ॥  
 जलनिर्गममेतैदू वै पीटेषुदितलक्षणम् ।  
 न कुर्यात् कर्मविम्बानामा शमादिमितात्मनाम् ॥ २७१ ॥  
 चित्रमृत्काष्ठजानां तु चैलानां तु विशेषतः ।  
 तर्थैव चतुरश्रस्य चतुर्मूर्तिंगतस्य च ॥ २७२ ॥  
 प्रणालमग्रं मूर्तयतः संसिद्धिहानिकृत् ।  
 प्रयोजनं विना काचिन्न क्षतिस्तस्य तद्विना ॥ २७३ ॥  
 सामान्यस्य तु वै यस्मादाधारस्य विशेषतः ।  
 सप्रणालं भवेत् पीठमासनं च प्रणालकम् ॥ २७४ ॥  
 भूरिनीरादिना स्नानं यत्र यच्छति साधकः ।  
 प्रत्यहं तद्विना तत्र प्रत्यवायो भवेत् स्फुटम् ॥ २७५ ॥  
 एवमेव बृहद्विभूषितानां विधीयते ।  
 धातुशैलोत्थितानां च निमित्तस्नपनार्थतः ॥ २७६ ॥  
 भद्रासनगते कर्मविम्बे तस्य संमाचरेत् ।  
 सततं च यथालाभं<sup>१०</sup> दधिक्षीरघृतादिना ॥ २७७ ॥

---

१. तु—मु० अटी० । २. निर्मितम्—बक० बख० । ३. विया—अ० ।
४. मकर—अटी० बख० । ५. मने तै—अ० । ६. मशमा—मु० अटी० बक० बख० ।
७. चपलाना—मु० अटी० बक० । ८. पङ्किचतुष्टयं नास्ति—मु० अटी० । ९. तदा—अ० उ० ।
१०. भाग—अ० उ० ।

तोयेन तन्नयेद् यत्नाद् भूभागं वा प्रतिग्रहम् ।  
 यथा नाक्रम्यते पादैर्जन्तुभिस्तन्महर्धिदम् ॥ २७८ ॥  
 अतः प्रणालं विहितं निषिद्धमत एव हि ।  
 तत्संस्थापनकाले तु देवानां दिग्बिधेहि तम् ॥ २७९ ॥  
 प्राक्प्रत्यगाननानां च तदुदग्दिग्गतं शुभम् ।  
 उदग्दक्षिणवक्त्राणां प्राभागे विहितं सदा ॥ २८० ॥  
 तत्पुनर्भद्रपीठीयैदेवाद् वामेऽर्थसिद्धिकृत् ।  
 सदैवाराधकानां तु विलोमाद् विपरीतदम् ॥ २८१ ॥  
 पीठवच्च परिज्ञेयं प्रासादस्य चें उच्यते ।  
 शुभे दिनेऽनुकूले च नक्षत्रे पूजिते ग्रहे ॥ २८२ ॥  
 लग्ने स्थिरे स्थिरांशे च दृक्शुद्धे चोक्तरायणे ।  
 दिव्याद्युत्पातसंशुद्धे सितपक्षेऽमलेऽम्बरे ॥ २८३ ॥  
 आ जलान्तं कृते खाते पूर्ववत् संप्रपूरिते ।  
 विमुक्तदोषे भूभागे सर्वलक्षणलक्षिते ॥ २८४ ॥  
 पूरणादंशशेषे तु सूपलिप्ते धरातले ।  
 चतुष्पष्टिपदीभूते प्राणवत् सूत्रेण सर्वदिक् ॥ २८५ ॥

अथ प्रासादनिर्माणविर्भिं दर्शयन् तत्र वास्तुपुरुषार्चनपूर्वकं तन्मध्ये महाकुम्भस्थापनविधिमाह—पीठवच्च परिज्ञेयमित्यारभ्य वर्णाद्वा च तदूर्ध्वत इत्यन्तम् । आ जलान्तं कृते खाते पूर्ववत्संप्रपूरित इत्यत्र पूर्ववदित्यनेनाष्टादशपरिच्छेदोक्तः क्षमापरिग्रहो गृह्णते । एवं क्षमापरिग्रहादिकं पौष्करे<sup>१०</sup> विस्तरेणोक्तमत्रापेक्षितम् । अत एवेश्वरतन्त्रे<sup>११</sup> तत्संगृहीतं द्रष्टव्यम् ।

१. इतः पूर्वम्—‘जन्मान्तं वा जगत्यन्तं कैरवान्तं गलन्तकम् । पट्टिमध्यं तलं पञ्चभेदं सर्वेषु यामसु ॥’ इत्येष श्लोकोऽधिको दृश्यते—बक० बख० । २. दिववये—अ० उ० ।
३. पीठीयं—अ० । ४. सदु—अटी० अ० उ० । ५. गृहे—अटी० उ० । ६. पुराण—बक० बख० ।
७. पदे—मु० अटी० बक० बख० । ८. अष्टादशपरिच्छेदे ४—१२ श्लोकेषु क्षमापरिग्रहो वर्णितः ।
९. ग्रहं—अ० । १०. द्विचत्वार्दशाध्यायोऽत्रत्यो द्रष्टव्यः । ११. ईश्वरे ( १६।१४ ) श्लोकतः पौष्करतन्त्रानुपूर्वकं प्रकरणमेतदारभ्यते ।

स्नातः शुक्लाम्बरः स्त्री शुक्लन्यासः सुशान्तधीः ।  
 सर्वसाधनसंयुक्तश्चार्थ्यपात्रसमन्वितः ॥ २८६ ॥  
 मङ्गल्यकुम्भमादाय ध्यायमानोऽच्युतं हृदि ।  
 सह चैकायनैर्विप्रैः सदागमपरायणैः ॥ २८७ ॥  
 तथा ऋष्टमयपूर्वैस्तु आ मूलाद् भगवन्मयैः ।  
 विशेषं प्रासादभूमागं मध्ये कुम्भं निधाय तम् ॥ २८८ ॥  
 कुर्यान्निरीक्षणं भूमेस्ताडनं प्रोक्षणं तंतः ।  
 सेचनं पञ्चगव्येन सह चौस्त्रोदकेन तु ॥ २८९ ॥  
 ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं मन्त्राणां प्राक् चतुष्टयम् ।  
 पाठयेच्च सपुण्याहं ब्राह्मणान् कृतमैण्डनान् ॥ २९० ॥  
 वाहूचं शाकुनं सूक्तं ततो भद्रं यजुर्मयान् ।  
 इडा मौयेति सामज्ञान् शान्ता द्वौरित्यर्थवणान् ॥ २९१ ॥  
 ईशकोणात् समारभ्य प्रागादौ प्रतिपङ्क्तिषु ।  
 द्वादशाभ्यरमन्त्रेण स्वनाम्ना तु पदे पदे ॥ २९२ ॥

एवं क्षमापरिग्रहप्रयोगः कुम्भस्थापनादिप्रयोगश्च श्रीसात्वतामृते सुस्पष्टं प्रतिपादितः । एवं प्रासादभूमध्ये स्थापितकुम्भैधिदेवता विम्बप्रतिष्ठान्तं प्रत्यहं पूजनीयाः । तदनन्तरमपि प्रतिदिनं विमानार्चनप्रकरणे तदर्चनविधानमीश्वरपारमेश्वर्योरेव सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । किन्तु पारमेश्वरे विमानार्चनप्रकरणे पौष्करोक्तरीत्या “तेषां विदिकस्थितानां च” (१०।२३) इत्यादिभिर्विदिकस्थितकुम्भचतुष्के स्वमन्त्रेण लक्ष्मीम्, पूर्वादिदिकस्थितकुम्भचतुष्के स्वमन्त्रेण कौस्तुभम्, मध्यकुम्भे षडक्षरेण निष्कँलं शब्दविग्रहं शक्त्यात्मानं भगवन्तं न्यसेदित्युक्तम् । “तत्र मध्यमकुम्भस्य” (१०।२६) इत्यादिभिर्मध्यमकुम्भपिर्धाने पराशक्तिः प्रभाशक्तिश्च, दिक्षु स्थितकुम्भपिधानचतुष्के ज्ञानशक्तिः, विदिककुम्भपिधानचतुष्टये क्रियाशक्तिन्यस्तव्येति चोक्तम् । पुनः सात्वतोक्तरीत्या “पिधाननवके” (१०।२८) इत्यादिभिर्नवशक्तिन्यासपेक्षोऽप्युक्तः । पारमेश्वर-

१. तथा—बक० बख० । २. सास्त्रो—बक० बख०, शास्त्रो—अ० उ० । ३. मङ्गलान्—बक० बख० । ४. मयेति—अटी० अ० उ० । ५. कुम्भादि—अ० । ६. ईश्वरे (३।१७६—१९४), पारमेश्वरे (१०।८७—१०६) च प्रकरणमेतद् द्रष्टव्यम् । ७. निष्कटे—अ० । ८. पिधानस्थाने सर्वत्र विधानपदं प्रयुक्तम्—म० । ९. क्षोपरक्तः—अ० ।

नरिश्रणवगर्भेण दैवतं देहलक्षणम् ।  
 यैष्टव्यो वास्तुपुरुषो दधिस्वकचन्दनादिना ॥ २९३ ॥  
 सान्विकेनोपहारेण अग्नौ सन्तर्पयेत् ततः ।  
 कुर्यात् कुम्भप्रतिष्ठानं यथा तदवधारय ॥ २९४ ॥  
 पूर्ववत् तोरणाद्यस्तु भूभागमुपशोभयेत् ।  
 कैर्णिकालयवक्त्रस्य अग्रतस्तत्क्षितेर्वाहिः ॥ २९५ ॥  
 सर्वोपकरणोपेतं कुर्यान्मण्डपमुत्तमम् ।  
 कुण्डाष्टकान्तरस्थं च स्थलं तत्राष्टहस्तकम् ॥ २९६ ॥  
 सपिण्डिका द्विहस्तास्तु कुण्डाः पूर्वोक्तलक्षणाः ।  
 त्रिहस्तापचिता वीथी स्यादेवं द्विनवः शमः ॥ २९७ ॥  
 पूर्ववत् प्रतिकुण्डे तु विनिवेश्यं च साधनम् ।  
 आत्मनश्चोत्तरे कुर्यात् कुण्डं चाथ संमस्थले ॥ २९८ ॥

व्याख्यातृभिस्तु “मध्यकुम्भस्य पिधाने मध्यतो निष्कलः शब्दविग्रहः षडक्षरः”  
 इत्युक्तम् । तदज्ञानमूलकम्, “षडक्षरेण मन्त्रेण निष्कलं शब्दविग्रहम्” (१०।२५) इति  
 वाक्यस्य पूर्ववाक्य एव योजनीयत्वात् । एवमुत्तरत्र योजिते विरोधबाहुल्याच्च । पार-  
 मेश्वरमूलभूतपौष्करसंहितायां द्विचत्वारिशोऽध्याये “षडक्षरेण” (४।२।१६६) इति वाक्या-  
 नन्तरं सार्वश्लोकर्षट्कमतिलङ्घयैव “शक्तिर्वा या परा देवी” (४।२।१७३) इत्यादिक-  
 मुक्तम्, तदबुद्ध्वा पारमेश्वरसंहितादर्शनमात्रेणैव सर्वज्ञमन्यमैनैव्याख्यातृभिरेव-  
 मुक्तम् । किञ्च, “मध्यकुम्भपिधानस्य चतुर्दिक्षु विश्वसन्धारणक्षमा ज्ञानशक्तिः,  
 तद्विद्वच्चानन्दलक्षणा क्रियाशक्तिः” इत्युक्तम् । “अंत्र पराशक्तिः प्रभाशक्तिश्च  
 ज्ञानक्रियाशक्तयोरिवात्मनोऽपि यथोक्तस्थानव्यत्ययः संभवेदिति”<sup>१</sup> भिया व्याख्यातृदृष्टि-  
 गोचरतामेव न प्रापतुः । अत्र चतुःशक्त्यर्चनं पौष्करे कण्ठरवेणोक्तम्—

पिधाननवकं दद्यात् तास्रं वा शैलजं समम् ।  
 सुवृतं चतुरश्रं वा सुघनं द्वादशाङ्गुलम् ॥  
 चतुःशक्तिनिश्चं च (४।२।१७२-१७३) इति ।

१. देवतादेहलक्षणः—अ०, देवतां देहलक्षणाम्-उ० । २. स वास्तुपुरुषो नाम—बक० वख० । ३. निर्णिका—बक० अ० उ० । ४. मण्डल—यक० उ० । ५. त्रिहस्तपरिता वीथि—बक० वख० । ६. शम्दु—बक०, शम्भु—बख०, शम—अ० । ७. समण्डले—अ० । ८. षट्कं तिलस्यैव—अ० । ९. मानैव व्या—अ० । १०. अत्रापरा—अ० । ११. हि या—अ० ।

दक्षिणे पूर्ववद् देवमवतार्य यजेत् क्रमात् ।  
 स्थलायां स्थणिडलस्योर्ध्वे उन्नतायां च पूर्ववत् ॥ २९९ ॥  
 तर्पयित्वा यथाकाममुद्घृत्याग्निगणं ततः ।  
 दिव्यकुण्डेषु विनिक्षिप्य संस्कृतेषु च पूर्ववत् ॥ ३०० ॥  
 तथैव च विदिवस्थेषु उद्घृत्याभ्यन्वयं वै क्रमात् ।  
 ततः प्रमवयोगेन चतुर्दिक्षु निवेशयेत् ॥ ३०१ ॥  
 चतुरो वासुदेवादीन् नामना एकायनान् द्विजान् ।  
 स्वामिः स्वाभिरसंख्यं तु तैः कार्यमभिधाय च ॥ ३०२ ॥  
 कर्मावसानं हवनं साज्यैस्तु तिलतण्डुलैः ।  
 एवमप्ययोगेन वाय्वादीशानगोचरम् ॥ ३०३ ॥  
 ऋग्वेदाद्यांस्तु चतुरः संस्कृत्यादौ तथा न्यसेत् ।  
 तैरप्यच्युतलिङ्गैस्तु स्वशाखोक्तैश्च पावनैः ॥ ३०४ ॥  
 हवनं विधिवत् कार्यं भक्तियुक्तेन चेतसा ।  
 अथेशकोणमासाद्य ब्राह्मणैरपरैः सह ॥ ३०५ ॥  
 प्राण्डनिदिष्टं न्यसेत् तत्र स्नानोपकरणं तु यत् ।  
 दशार्थगव्यपूर्वं तु कलशेषु पृथक् पृथक् ॥ ३०६ ॥  
 तानचर्याधर्यादिना पश्चाद् द्विषट्केनाभिमन्त्र्य च ।  
 समानीय शिलोपेतान् कलशान् पूर्वसम्भूतान् ॥ ३०७ ॥  
 उत्कृष्टघातुसम्भूतान् नवशैलमेयांस्तु वा ।  
 समान् सुपक्वान् सुधनान् मृण्मयांस्तदभावतः ॥ ३०८ ॥

शक्तिचतुष्टयमपि तत्रैव विवृतम् “शक्तिवा या परा देवी” (४२।१७३) इत्यादिभिः । प्रौग्नादिचतुष्टये ज्ञानशक्तिः, आग्नेयादिपिधानचतुष्टये क्रियाशक्तिरित्यर्थोऽपि पारमेश्वरे<sup>१</sup> “विदिग्व्यक्तिसमूहे तु” (१०।२७) इत्यत्र व्यक्तिपदेनैव ज्ञायते । तदपि स्पष्टमुक्तं पौज्करे “विदिग्व्यक्तिसमूहे तु” (४२।१७४) इत्यत्र । अत्र घटशब्दस्य तत्पिधाने लक्षणा । अपि च, “पिधानतवके त्वस्मिन्” (पा० सं० १०।२८) इत्याद्युक्तज्ञानभासादिशक्तिन्यासस्य पक्षान्तरत्वमपि न ज्ञातम् ।

१. या:-बक० बख० । २. वाय्वादीशगोचरम्-बख० अ० । ३. ‘प्राण्डनिदिष्टं... पश्चाद् द्विष’ नास्ति-उ० । ४. समां-मू० । ५. रागादि-अ० । ६. श्वरेऽपि दिव्यशक्ति-अ० ।

द्वादशाङ्गुलिविस्तीर्णस्तन्मानेन तु चोन्नतान् ।  
 द्विगुणान् सति सामर्थ्ये नृपाणां हेमजान् हितान् ॥ ३०९ ॥

तत्संख्यं चतुरश्च तु द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ।  
 तत्त्वयंशतुल्यं बाहुल्यात् शिलावृन्दं समाहरेत् ॥ ३१० ॥

संस्थाप्य विधिवत् कुम्भान् पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ।  
 कम्बुतुल्यमर्थैकं वा तत्कण्ठं त्र्यङ्गुलोन्नतम् ॥ ३११ ॥

तद्गुणैरपि विस्तीर्णं तत्खातोऽष्टाङ्गुलः स्मृतः ।  
 परितः कर्णवर्जं तु शङ्खो वा सुसितो महान् ॥ ३१२ ॥

विहितो जॅननाथस्तु अन्तःशुद्धस्तु साक्षतः ।  
 एवं हि सान्तराद् बाह्यात् समालभ्याधिवास्य च ॥ ३१३ ॥

फलैर्हेमादिकै रत्नैः सर्वौषधिमयैस्ततः ।  
 गन्धैर्बीजैस्तथा धान्यैविंद्रुमाद्यैस्तु मौक्किकैः ॥ ३१४ ॥

नेत्रवस्त्रैरलङ्कारैर्भूषयेत् स्त्रियैः शुभैः ।  
 द्वातशाक्षरमन्त्रेण एकैकस्य समाचरेत् ॥ ३१५ ॥

मूर्तिसंसिद्धये न्यासं प्रणवैस्तच्चिदात्मनौ ।  
 ततश्चाध्यादिकैर्भोगैर्बल्यन्तैर्विविधैर्यजेत् ॥ ३१६ ॥

शिलास्वेवं कृते पश्चान्निनयेत् कुण्डसन्निधिम् ।  
 सशिलं कुम्भवृन्दं तु आधारेषु परिन्यसेत् ॥ ३१७ ॥

ननु तत्र यद्वाऽथवेत्यादिपक्षान्तरत्वगमकशब्दो न दृश्यते, ज्ञानक्रियाशक्तयोः प्रागादिपिधानाष्टके न्यासाङ्गीकारे “पिधाने मध्यतो न्यसेत् (पा० सं० १०।२६) इत्यत्र मध्यशब्दस्य वैय्यर्थ्यं च स्यादिति चेत्, ब्रूमः—पक्षान्तरत्वगमकशब्दाभावेऽप्यर्थपर्यालोचनया तस्य पक्षान्तरत्वं सिद्धमेव । मध्यशब्दप्रयोजनं तु “मन्त्रराद् कर्णिकामध्ये”

१. प्रान्तं-बक० । २. कण्ठ-अ० । ३. विहितं तोषितं ना स्याद्-बक० बख० ।  
 ४. हतनाश-मु० । ५. त्मने-अटी०, त्मनाम्-अ० उ० । ६. कृतैः-बक० ।

तदाधारशिलां पश्चात् तत्र वा मण्टपाद् वहः ।  
 एवमेव च संस्कृत्य भावयेत् प्रणवेन तु ॥ ३१८ ॥  
 ज्वलन्तीं गोसहस्रेण खचितां सूर्यबिम्बवत् ।  
 ततश्चाराध्य मन्त्रं तु सन्तर्प्य शतसंख्यया ॥ ३१९ ॥  
 मध्ये तत्कलशं न्यस्य साङ्गं सपरिवास्कम् ।  
 निःशेषशक्तिगर्भं तु व्यापैकं ब्रह्मतत्त्ववित् ॥ ३२० ॥  
 अत ऊर्ध्वे तिर्यग्भिर्वाग्भिर्श्च शक्तिभिः ।  
 व्रतमूर्तिसमेताभिरभिन्नाभिस्तु तत्त्वतः ॥ ३२१ ॥  
 पाठयेद् ब्राह्मणांस्तत्र आत्मव्यूहं तु मन्त्रराट् ।  
 तथैवात्मानुभावाय प्रणवाद्यन्तं तु वै ॥ ३२२ ॥  
 तमर्चयित्वा विधिवत् तर्पयित्वा त्वनन्तरम् ।  
 दिक्षिस्थतानां च कुम्भानां वासुदेवादिकान् न्यसेत् ॥ ३२३ ॥  
 पूर्ववच्चानिरुद्धाद्यान् विंदिकसंस्थापितेषु च ।  
 पाठयेच्चातुरात्मीयं संज्ञामन्त्रचतुष्टयम् ॥ ३२४ ॥  
 प्रभवाप्यययोगेन ततः सूक्तं तु पौरुषम् ।  
 ऋग्वेदान् पाठयेद् भक्त्या युज्जतेत्यपरान् यजुः ॥ ३२५ ॥  
 रथन्तराख्यं यत्साम सामज्ञान् भगवन्मयान् ।  
 सहस्रिरसं चेति मन्त्रांश्चार्थर्वणांस्ततः ॥ ३२६ ॥  
 एकस्मिन् वा महाबुद्धे सर्वोक्तं कलशे हितम् ।  
 तथैव हृवनं कुण्डे मध्यमे विहितं स्वयम् ॥ ३२७ ॥

(पा० सं० ५१३०) इत्यत्र यथा ज्ञीक्रियते, तथैवात्रापीति बोद्धव्यमायुष्मता । पारमेश्वर-व्याख्यातृभिरत्र “नवकुर्म्भवत्त्वं वृत्तायतविमानभेदविषयम् । “यत्र प्रासादभेदेषु<sup>१०</sup>” (१०।६८) इति वच्यमाणत्वात्” इत्युक्तम् । तदतीव मन्दम्, प्रासादनिर्माणार्थं खात-

१. कब्रह्य-अ० उ० । २. तत् सब्रह्य-अटी० । ३. वादं च-म० अटी०, भावं च-अ० ।  
 ४. ‘वासुदेवा ‘पाठयेद् भक्त्या’ नास्ति-बक० । ५. विदिक्ष्यान् स्था-अ० ।  
 ६. वारयेत् परान्-बक० । ७. मन्त्रं चार्थर्वणं ततः-बक० बख० अ० उ० ।  
 ८. ह्यनलं कुण्डं-बक० बख० उ० । ९. वत् सवृत्ता-अ० । १०. देहे तु-म० ।

किन्तु क्रमेण वै मन्त्रान् पाठयेच्च यथास्थितान् ।  
 एवं सम्पातहोमं तु कृत्वा पूर्णान्तिकं ततः ॥ ३२८ ॥  
 महाशक्तिसमूहस्तु परः सामर्थ्यलक्षणः ।  
 अभेदेन च मन्त्रादिमूर्तीनां यः स्थितः स्फुटम् ॥ ३२९ ॥  
 स सन्धेयः शिलानां च स्वनाम्ना ग्रन्थेन तु ।  
 ज्ञानभासा निवसति तथाऽनन्तबला ग्रभा ॥ ३३० ॥  
 सर्वगा ब्रह्मवदना द्वोतकी सत्यविक्रमा ।  
 सम्पूर्णा चेति कथिताः शक्तयो विविधारिकाः ॥ ३३१ ॥  
 या शिला कलज्ञाधारसंज्ञा तां विद्धि सर्वगाम् ।  
 सामर्थ्यशक्तिसामान्यां निष्कलां पारमेश्वरीम् ॥ ३३२ ॥  
 सन्तर्प्य मूलमन्त्राच्च शिखामन्त्रेण लाङ्गलिन् ।  
 अजस्य नाभावध्येकमन्त्रैणोकायनैस्ततः ॥ ३३३ ॥  
 तादर्थेन तु होतव्यमृडमयैस्तु तथैव हि ।  
 होतव्यमस्यवामीयं गायत्रीभिरतोऽपरैः ॥ ३३४ ॥  
 होतव्यं ब्राह्मणैः सम्यक् तद्व्याप्तेस्तुपलक्षकैः ।  
 दत्वा पूर्णा स्वयं कृत्वा स्थलस्थस्यार्चनं पुनः ॥ ३३५ ॥  
 वलिदानं च भूतानां समाचम्य ततो व्रजेत् ।  
 प्रासादब्रह्मभूमागं न्य॑सेत् तत्र महाशिलाम् ॥ ३३६ ॥  
 संस्मरंशक्रमन्त्रं तु सानन्तं ग्रन्थेन वै ।  
 वीजभूतं तदन्तःस्थमध्वपट्कं स्मरन् यजेत् ॥ ३३७ ॥

देशे नवकुम्भस्थापनं सर्वविमानसाधारणम्, “अनेकभेदभिन्नेषु प्रासादेषु महामते” (पा० सं० १०।३) इत्यारभ्य लोकव्याप्त्यादीनां सर्वसाधारण्येनोक्तत्वात्, अत्र पौष्टरे

१. विविधारिकाः—बक० बख० उ० । २. धारा—बक० बख० । ३. पूर्व—बक० बख० ।

४. न्यस्य तत्र—अ० ।

निशेषमन्त्रवृन्देन तौमर्ध्याद्यैरनन्तरम् ।  
 द्वारदिग्वीक्षमाणं तु मध्ये मन्त्रघटं न्यसेत् ॥ ३३८ ॥  
 स्वदिक्षवन्यान् यथावस्थान् स्वैः स्वैर्मन्त्रैर्निवेशयेत् ।  
 ततः स्वशक्तिपाषाणैरेकैकं स्थैर्येद् घटम् ॥ ३३९ ॥  
 पूर्येदस्त्रमन्त्रेण घटानामन्तरं ततः ।  
 मृदुमृदालुकाभिस्तु सुधयाऽचलसिद्धये ॥ ३४० ॥  
 संवेष्टय नेत्रवस्त्रैस्तु ऋग्वेदान् पाठयेत् ततः ।  
 आ त्वा हार्षेति स्फूकं तु प्रतिष्ठा साम सामगान् ॥ ३४१ ॥  
 द्वादशाक्षरसंयुक्तं बैलमन्त्रं पुनः पुनः ।  
 वक्तव्यं ब्रह्मनिष्ठैस्तु प्रणवान्तं सुभावितैः ॥ ३४२ ॥  
 तदेकततुतां यातं संस्मरेत् प्रणवेन तु ।  
 मूर्त्यादिशक्तिनिष्ठं यन्नामरूपक्रियात्मकम् ॥ ३४३ ॥  
 द्वादशाक्षरमन्त्रेण भूयः सहृदयज्ञमैः ।  
 तत्राराध्यं स्वमूर्तिं तु संयजेत् तेजसां निधिम् ॥ ३४४ ॥  
 ततस्त्वौ भगवन् भोगैः पाठयेत् पाञ्चरात्रिकान् ।  
 अर्चामि तेति ऋग्वेदानर्चा साम च तद्विदः ॥ ३४५ ॥  
 ततः परिगृहीते तु क्षेत्रे देवगृहीयके ।  
 द्वादशाङ्गुलमानं तु दिग्विदिक्षवष्टकं न्यसेत् ॥ ३४६ ॥  
 स्नापितं पूजितं सम्यक् शिलानां शुभलक्षणम् ।  
 तदन्तः सन्निरोद्धव्यां बुद्धिधर्मगुणाः क्रमात् ॥ ३४७ ॥  
 धर्माद्याश्चाग्निकोणात् तु यावदीशयदं पुनः ।  
 प्रागादावुत्तरान्तं च अधर्माद्यं चतुष्टयम् ॥ ३४८ ॥  
 शिलानामन्तरे भूमौ पट्कं पट्कं क्रमेण तु ।  
 न्यस्तव्यं पूर्ववर्णाच्च वर्णानां सावसानकम् ॥ ३४९ ॥

---

चैव नवकुम्भ स्थापनस्य सर्वविमानसाधारणत्वेनोक्तत्वाच्च । पारमेश्वरब्याख्यातृभि-

१. होमस्याद्य—मु० अटी० । २. मन्त्र—बख० अ० उ० । ३. स्थाप—बक० । ४. बलि—  
बक० बख० अ० । ५. स्व—बक० । ६. व्यो बुद्धिधर्मगुणः—उ० ।

शब्दब्रह्मानुविद्वां च कृत्वैवं बुद्धिवागुराम् ।  
 सूत्रभूतां न्यसेत् सम्यक् प्रासादतलसंस्थिताम् ॥ ३५० ॥  
 न्यसेत् प्राङ्गणभित्यर्थं तैर्थैव हि शिलाष्टकम् ।  
 तासु संरोधयेत् सम्यक् प्रागुक्तांस्तु दिगीश्वरान् ॥ ३५१ ॥  
 चक्रं तदन्तभूमीनां भ्रमद्विष्फुलिङ्गवैत् ।  
 क्षार्णेन चिन्तयेद् व्याप्तं भूभागं चौङ्गणीयकम् ॥ ३५२ ॥  
 आभोगं तदधः शेषं तदूर्ध्वं गगनेश्वरम् ।  
 वैहिः प्राङ्गणभित्तीनां सास्त्रं सपरिवारकम् ॥ ३५३ ॥  
 प्रागादावीशकोणान्तमिन्द्राद्यं चाष्टकं न्यसेत् ।  
 तथाविधेषूपलेषु अन्तर्भूमिगतेषु च ॥ ३५४ ॥  
 तत् स्वनामनाऽर्चयित्वा तु ऋग्वेदान् पाठयेत् ततः ।  
 कलीबो न विद्वानिति वै ये देवांस्तु यजुर्मयान् ॥ ३५५ ॥  
 देवव्रतं च सामज्ञान् प्रविश्याभ्यन्तरं ततः ।  
 स्थित्वाऽग्रतो मन्त्रमूर्तेरध्वव्याप्तिमनुस्मरेत् ॥ ३५६ ॥  
 वीजतश्चाङ्गुरीभूर्ता पुरस्ताद् व्यक्तिमेति यां ।  
 प्रासादपीठपर्यन्तं <sup>१०</sup>कुम्भाधारोपलात् तु वै ॥ ३५७ ॥  
 शुवनाध्वा यथावस्थो भावनीयः <sup>११</sup> पुरोदितः ।  
 गम्भीच्छायावधिं यावत् पदाध्वानं विलोकयेत् ॥ ३५८ ॥  
 मन्त्राध्वा शुकनासान्तस्तत्त्वाध्वा वेदिकावधिः ।  
 कलाध्वा <sup>१२</sup>जुगलान्तश्च वर्णाध्वा च तदूर्ध्वतः ॥ ३५९ ॥

रेतन्नवकुम्भेषु शिखाकुम्भत्वभ्रान्त्या व्याख्यानमेवं <sup>१३</sup> कृतमिति मन्यामहे। अलं प्रसक्ता-  
नुप्रसक्त्या। प्रकृतमनुसरामः ॥ २८२-३५९ ॥

१. प्राङ्गण—बक० बख० अ० उ०, प्राक्कोण—अटी० । २. तदैव—अटी० । ३. युक्—  
 उ० । ४. व्यासि—बक० बख० । ५. चाङ्ग—बक० बख० अ० उ० । ६. सव्यं—अटी० ।  
 ७. देवांस्तु—बक० बख० । ८. भूतां—अ० उ० । ९. सा—मु० अटी० । १०. 'कुम्भा'...शुकना-  
 सान्त' नास्ति—उ० । ११. यस्तु सर्वदा—बख० । १२. ध्वाण्डगजा—मृ०, जुकलान्तं च—अ० उ० ।  
 १३. मेव—अ० ।

समीकृत्य पुरा सर्वं प्रासादं प्रारम्भेत् ततः ।  
 तैलादूनाधिकाच्चैव साङ्गुलैरुचितैः करैः ॥ ३६० ॥  
 द्विद्वादशकरं यावत् तालेनाधिकेन तु ।  
 शुभाय सिद्धये विद्धि गर्भे देवगृहस्य च ॥ ३६१ ॥  
 कृत्वा क्षेत्राङ्गुलानां च कराणां वा घनं पुरा ।  
 त्यजेत् तदष्टमिः सम्यग् यच्छेषं तद्विचार्यैः च ॥ ३६२ ॥  
 एँकार्यष्टमपर्यन्ता ध्वजधूममृगेश्वराः ।  
 श्वा च गोखरमातङ्गवायसास्तु ततः शुभाः ॥ ३६३ ॥  
 एकत्रिपञ्चसप्ताख्याः सर्वत्रैव विधीयते ।  
 गर्भषड्भागमानेन तद्विभिन्निविस्तृतिः ॥ ३६४ ॥  
 तन्मानं परितस्त्यक्त्वा भित्तिरन्या विधीयते ।  
 एवमत्रं क्रमणैव सह भित्तिगणेन तु ॥ ३६५ ॥  
 गर्भद्विगुणविस्तीर्णं क्षेत्रं देवगृहस्य च ।  
 मन्दिरे त्वेकभित्तीये क्षेत्रमानं विधीयते ॥ ३६६ ॥  
 गर्भोक्तं तत्त्विभागेन युक्तं युक्तेन वर्तमना ।  
 तत्रापि ह्लासवृद्धच्चा तु आयशुद्धि विचारयेत् ॥ ३६७ ॥  
 एवं निर्जगतीकं च भागं<sup>१०</sup> पीठविवर्जितम् ।  
 प्रासादक्षेत्रमानं च तद्युक्तमवधारय ॥ ३६८ ॥  
 पट्भागेनाथ पादेन त्रिभागेनोभयात्मिका ।  
 विहिता जगती<sup>११</sup> गर्भा<sup>१२</sup> तत्क्रियांवस्तुर्तम्बवेत् ॥ ३६९ ॥  
<sup>१३</sup>अधिकार्यं चतुर्दिशु तत्पञ्चांशैस्तु वै त्रिभिः ।  
 तृतीयांशेन वै मध्ये निर्गमस्तु विधीयते ॥ ३७० ॥

अथ प्रासादलक्षणमाह—समीकृत्य पुरा सर्वं प्रासादं प्रारम्भेत् तत इत्यारभ्य

१. बला—मु०, ताला—अ० । २. र्णवितैः—अटी०, रुचिरैः—अ० । ३. तर्द्विधाय—बक० ।
४. यंते—अ० । ५. इत आरभ्य २६ संख्याकाः श्लोका न सन्ति—अटी० । ६. त्रैकाद्यष्टक—  
अ० उ० । ७. मातङ्गा—अ० । ८. पड्न्तिद्वयं नास्ति—बक० बख० उ० । ९. मन्त्रभ्रमे—  
बख० अ० उ० । १०. भागपीठं—मु० बक० बख० उ० । ११. भागस्त—मु० बक० बख० ।
१२. तत्त्विधा विस्तृतेर्भजेत्—अ० उ० । १३. रध—बक० बख० ।

कोणात् कोणात् तु वै शेषं भागं भागं प्रवेशयेत् ।  
 १. उच्चं गर्भसमं पीठं तत्पीठेन दलेन वा ॥ ३७१ ॥  
 पीठोक्तालयपीठस्य लक्ष्मस्थित्यंशकल्पना ।  
 चतुर्दिक्षु विधेया वै बहुधाऽनन्तपूर्विका ॥ ३७२ ॥  
 अथोच्छायं तु वै क्षेत्रात् त्रिंगुणं मन्दरस्य च ।  
 कुर्यात् त्र्यर्धगुणं चैव द्विगुणं वा यथेच्छया ॥ ३७३ ॥  
 द्विरेकादशधा कुर्यात् तं च भागैः समं पुरा ।  
 विधेयं पीठवत् पश्चादेकांशेन मसूरकम् ॥ ३७४ ॥  
 तदूर्ध्वं विहिता जड्घाया गर्भमनेन चोन्नता ।  
 भवोपकरणीयाभिर्देवताभिरलड्कुता ॥ ३७५ ॥  
 जड्घायायामशयुग्मेन उपर्यनाधिकेन च ।  
 कार्यं शिखरपीठं तु पूर्वलङ्घणलक्षितम् ॥ ३७६ ॥  
 किन्तु प्रवेशनियासौ तत्र चार्धाशसम्मितौ ।  
 शिखरं चात्र विहितं भूमिकानवकान्वितम् ॥ ३७७ ॥  
 संकोच्य तत्पुरासूत्रमादायोन्नतिसम्मितम् ।  
 एकस्मादेकवर्णात् तु जड्घोर्व्यात् प्रसार्य च ॥ ३७८ ॥  
 संस्पृशेत् शिखरं पीठमञ्जसा तं निरोध्य च ।  
 प्रासादाद् वहिरार्द्धत्र भूमागे त्वमलेक्षण ॥ ३७९ ॥  
 कर्णादूर्ध्वं नयेत् सूत्रं लाङ्गूलयमानं क्रमेण तु ।  
 शिखरोन्नतिपर्यन्तं चतुर्दिक्ष्वेवमैव हि ॥ ३८० ॥  
 पर्यटेलाङ्गूलयमानं तु कर्णात् कर्णं महामते ।  
 यावत् कुमुदपत्राभा सा स्याच्छिखरमञ्जरी ॥ ३८१ ॥  
 एवमालेरुद्य दृष्टया तु सम्पाद्य तन्तुपाततः ।

यावत् परिच्छेदपरिसमाप्तिः ।

१. उच्च-उ० । २. त्रिकोण-वक० वख० उ० । ३. सगोपुरा-अ० । ४. निहिता-मु० ।
५. उपयूना-मु० अ० उ० । ६. वै-अ० उ० । ७. दक्षिण-वक० वख० उ० ।
८. न्यत्र-वख० ।

भूमिकाण्डप्रसिद्धवर्थ कार्या सा दशधा पुनः ॥ ३८२ ॥  
 उपरिष्टात् तु भागेन भवेदामलसारकम् ।  
 भूमयो भागमानास्तु ततस्तासां समाचरेत् ॥ ३८३ ॥  
 क्षयवृद्धच । विधानं तु त्यक्त्वा स्थानं च भूमिकाम् ।  
 चतुस्त्रिद्वैकसंख्यानि सैमानाङ्गुलानि च ॥ ३८४ ॥  
 निंजभूमेः समारभ्य तानि योजयान्यधैः क्रमात् ।  
 पूर्वभूमेः समारभ्य हाधःस्थे भूमिकागणे ॥ ३८५ ॥  
 सर्वासां व्यवधानं तु तद् द्विरष्टांशसम्मितम् ।  
 विभिन्ना पीठरचना तासु कार्या यथास्थिता ॥ ३८६ ॥  
 सचक्रैविविधैः पद्मैः प्रादुर्भावैस्तु चाखिलैः ।  
 सर्वैर्वा लाङ्घनैर्मूर्तैर्नगीतरसस्थितैः ॥ ३८७ ॥  
 नवांशेनोर्ध्वभागात् तु स्वपादेन विनिर्गतम् ।  
 उष्णीषमूर्धभूमेस्तु कार्यं वै रचनोजिज्ञतम् ॥ ३८८ ॥  
 शिष्टं कृत्वा त्रिधा पीठमण्डस्यैकेन पूर्ववत् ।  
 द्वितीयेन ततः कण्ठं तृतीयेनोर्ध्वगेन तु ॥ ३८९ ॥  
 सुसमं श्रीयुतं कुर्याद्दण्डं धात्रीफलाण्डवत् ।  
 नवधोष्णीषकं कृत्वा चतुर्भिर्वेदिकाभ्रमम् ॥ ३९० ॥  
 त्रिभागपृथुलं कण्ठमण्डं पञ्चाङ्गसम्मितम् ।  
 पञ्चधा सप्तधा कृत्वा गर्भं वा नवधा पुरा ॥ ३९१ ॥  
 विहाय पक्षगौ भागौ मध्यभागगणेन तु ।  
 प्रासादैनांडिका कार्या गर्भार्धेन विनिर्गता ॥ ३९२ ॥  
 पादेन वा त्रिभागेन <sup>१९</sup>सस्तम्भाऽप्यथैः <sup>२०</sup>केवला<sup>२१</sup> ।  
 उन्नता शिखरार्धेन साऽप्युत्पलदलोपमा ॥ ३९३ ॥  
 कार्या शिखरपीठोर्ध्वे दिव्यकर्मविभूषिता ।

१. कम्—बख० उ० । २. द्विक—बख० उ० । ३. समादाया—बख० अ० उ० । ४. निष्ठा—  
 बख० अ० उ० । ५. न्यतः—अ० उ० । ६. ठं मण्डलस्थेन—म० अटी० । ७. केन—अ० ।  
 ८. इण्डं—अ० । ९. 'लं कण्ठमण्ड'...पादेन वा त्रि' नास्ति—बक० बख० उ० । १०. नासिका—अ० ।  
 ११. सप्तं वा—बक० । १२. हाथ—बक० बख० उ० । १३. लम्—अटी० बक० ।

ततः शुभतरं कुर्यान्मण्टपं स्तम्भसंयुतम् ॥ ३९४ ॥  
 भूषितं विहगेन्द्रेण बलिमण्डलगेन च ।  
 चतुद्वारे तथा दिक्षु विधेयं मैण्टपत्रयम् ॥ ३९५ ॥  
 प्रवेशत्रितयोपेतं मण्टपे मण्टपं भवेत् ।  
 कुर्यान्मण्टपमुक्तं वा यथाभिमतनिर्गमम् ॥ ३९६ ॥  
 रथोपरथकाद्यं तु तेषां गर्भाद् विधीयते ।  
 निर्यासो दशमांशेन द्वादशांशेन लाङ्गलिन् ॥ ३९७ ॥  
 अथवा षोडशांशेन ते कार्या नेमिवत् पुनः ।  
 चतुर्दिव्यपक्षसंलिप्ताः पीठकर्मविभूषिताः ॥ ३९८ ॥  
 शिखरस्य चतुर्दिक्षु पीठोपरि समापयेत् ।  
 समं रथक्युक्त्या तु नासिकामञ्जरीगणम् ॥ ३९९ ॥  
 मौर्ध्यदेशाच्चतुर्दिक्षु कुर्याद् द्वारगणं समम् ।  
 त्रिंचतुःपञ्चपट्भागे ततो गर्भाद् विधीयते ॥ ४०० ॥  
 द्विगुणं चोन्नतत्वेन त्रिपञ्चनवशाखिकम् ।  
 युक्तं द्वासर्थद्वयेनैव कुम्भेभदशनैस्तु वा ॥ ४०१ ॥  
 विधिवत् स्थापनं तस्य मन्त्रपूर्वं समाचरेत् ।  
 संस्नाप्य मूलमन्त्रेण सम्पूज्याध्यादिना हृदा ॥ ४०२ ॥  
 शाखामूलगतां कुर्याद् धातुरत्नमयीं स्थितिम् ।  
 सर्वधारामयं मन्त्रं सन्निरोध्य हि तत्र च ॥ ४०३ ॥  
 ज्ञानक्रियात्मकं ध्यात्वा शिखामन्त्रेण शाश्वतम् ।  
 दक्षिणोत्तरभागाभ्यां शाखायुमं तु विन्यसेत् ॥ ४०४ ॥  
 हृन्मन्त्रेण तदूर्ध्वे तु रुद्धध्वाद्यं परमेश्वरम्<sup>१२</sup> ।  
 सन्निधीकृत्य सम्पूज्य गगनस्थे हृदम्बरे ॥ ४०५ ॥

अंते विधिवत् स्थापनं तस्येत्यारस्य स्थित्यपेक्षावशेनैव ह्यालयस्य तु वै

१. षडपं—बख० अ० उ० । २. गेन तु—अ०, केन तु—बक० बख० उ० । ३. सर्वत्र मण्डपशब्दो दृश्यते—बख० अ० उ० । ४. प्तां—बक० । ५. ताम्—बक० । ६. मध्यं—उ० । ७. देशाच्च—अ० । ८. नास्त्येषा पङ्क्तिः—अटी० । ९. सर्वधार—बक० । १०. ऋद्धवाद्यं पार—अटी०, रुद्धचान्तः—बक० अ० उ० । ११. स्वरः—उ० । १२. हृदु—म० अटी० अ० उ० । १३. तत्र—म० ।

द्विविधं धातुजालं तु रत्नं सिद्धार्थकांस्तिलान् ।  
 चन्दनाद्या हि गन्धा ये क्षीरं दधि घृतं मधु ॥ ४०६ ॥  
 शालयः सर्वदीजानि सवौषध्यः सविद्रुमाः ।  
 कृत्वा नेत्रेण नेत्रैस्थान् द्वारोध्वें विनिवेश्य तान् ॥ ४०७ ॥  
 दृश्यं भोगाप्तये चैव त्वदृश्यं मोक्षसिद्धये ।  
 चतुष्पात् सकलो धर्मस्तत्रोध्वें सन्निरोध्य च ॥ ४०८ ॥  
 चत्वारि शृङ्गा इति यत् पाठयेदृडमयांस्ततः ।  
 कर्म होमचयं कृत्वा पूर्णा मूलेन पातयेत् ॥ ४०९ ॥  
 एतद्विभ्युत्रिष्ठानात् प्राग्वत् पश्चात् समाचरेत् ।  
 स्थैर्यपेक्षावशेनैव ह्यालयस्य तु वै विभोः ॥ ४१० ॥  
 अनन्तभुवनं नाम सर्वकामापवर्गदम् ।  
 चतुष्प्रकारमेवं हि प्रासादं विद्धि पीठवत् ॥ ४११ ॥  
 रचनासन्निवेशोत्थमेदेनानेकधा तथा ।  
 पतत्रीशमृगेन्द्रैस्तु निधिभूतोपमैघटैः ॥ ४१२ ॥  
 शङ्खपद्माङ्किताभिस्तु सोपानपदपडक्तिभिः ।  
 युक्तं द्वारवशेनैव तथा पीठवशात् तु वै ॥ ४१३ ॥  
 विस्तारः प्रतिदिक्संस्थैस्त्वरुणस्य विधीयते ।  
 गर्भोत्थक्षेत्रसंज्ञा च जगतीकस्य लाङ्गलिन् ॥ ४१४ ॥  
 ज्ञेयः सजगतीकस्य तन्मानेनापि सर्वदिक् ।  
 एभ्यः पादाधिकं कुर्यात् <sup>१</sup>पादाद्यंशोजिङ्गितं तु वै ॥ ४१५ ॥  
<sup>१</sup>बुद्ध्वा चायतनानां <sup>२</sup>च संस्थितश्चाङ्गने <sup>२</sup>पुरा ।

---

१. रत्नान्-उ० । २. नेत्रं च-अ० । ३. सिद्धच-मु० अटी० । ४. का:-अटी० ।  
 ५. स्थो व-बक०, स्थः स्वर्ह-अ० । ६. ज्ञो वा-बक० बख० अ० उ० । ७. त्व-मु० ।  
 ८. दृक्-अटी० । ९. येभ्यः पादादिकं-अटी० । १०. पादांशोत्थिततन्तु वै-बक० अ० ।  
 ११. अव्वा-अ०, बव्वा-उ० । १२. मश्च-बक०, न्तं च-अ० उ० । १३. छ्वणे-मु० अटी० ।  
 १४. परा-बख० उ० ।

चतुरायतनं विद्धि प्रासादैदिक्त्रयस्थितैः ॥ ४१६ ॥  
 आयैन सह कोणस्थैस्तत्पञ्चायतनं स्मृतम् ।  
 विज्ञेयमष्टायतनं त्रिभिरन्यैस्तु दिग्गतैः ॥ ४१७ ॥  
 विना मध्यस्थितेनैव दिग्गतैस्तु द्विभिर्द्विभिः ।  
 तदशायतनं तेन युक्तमेकाधिकं भवेत् ॥ ४१८ ॥  
 प्रतोलीपक्षगेणैव प्रासादद्वितयेन तु ।  
 द्वादशायतनं विद्धि सह मध्यस्थितेन तु ॥ ४१९ ॥  
 तदेवाधिकसंज्ञं तु अतोऽन्योऽनन्तसंज्ञकः ।  
 परस्परमुखौ कुर्यात् प्रासादौ द्वारदेशगौ ॥ ४२० ॥  
 प्रासादाभिमुखाच्चैव दिक्त्रयेऽवस्थितास्तु ये ।  
 कोणस्थाभ्यां च साम्मुख्यं द्वाभ्यां द्वाभ्यां विधीयते ॥ ४२१ ॥  
 द्वाभ्यामभिमताभ्यां तु कुर्यादुचितदिङ्गुखम् ।  
 द्वौ परस्परवक्त्रौ तु कोणदेशसमाश्रितौ ॥ ४२२ ॥  
 द्वाराण्यनन्तायतने प्रासादानां महामते ।  
 यथाभिमतदिक्स्थानि कर्तव्यान्यविशङ्क्या ॥ ४२३ ॥  
 न तत्र तेषां भवति वेघदोषः परस्परम् ।  
 अङ्गभावगतत्वाच्च प्रधानायतनस्य वै ॥ ४२४ ॥  
 अर्थेन च त्रिभागेन हितैः पादेन चाङ्गनात् ।  
 परण्डकस्य चोच्चायस्तद्विस्तारस्तथोच्छ्रूतेः ॥ ४२५ ॥  
 तच्च पीठोपमं कुर्यात् शलक्षणं सोष्णीषमेव वा ।  
 युक्तं कोटिगणेनाथ नानादेवान्तगेन तु ॥ ४२६ ॥  
 यदेकायतनं चैव त्वं ज्ञनं तन्महामते ।  
 युक्तं लघुपरण्डेन केवलं वा परण्डकम् ॥ ४२७ ॥  
 यदा द्वायायतनाद्यं च द्वादशायतनान्तिकम् ।  
 एकदिग्वीक्षमाणं च चतुरश्रायतेऽङ्गने ॥ ४२८ ॥

१. क्रम—अ० । २. द्वाभ्यां त्व—बक०, द्वाभ्यां वा—बख० अ० उ० । ३. हित—बक० ।

४. णात्—मु०अटी० । ५. चैव—अ० । ६. त्वाङ्गनं—बक० बख० अ० उ० । ७. मम—मु० अटी० ।

वृत्तायते वा वितते प्रासादे चोक्तलक्षणे ।  
 यस्माद् देवालयानां च अङ्गनानां विशेषतः ॥ ४२९ ॥  
 चतुरश्रादिपीठानां नित्यमेव महामते ।  
 अन्योन्यानुगतत्वं तु हितं सापेक्षकं तु वै ॥ ४३० ॥  
 भूमिभागवशेनैव तथैवाचविशेन तु ।  
 नानाफलवशेनापि तथा शोभावशेन च ॥ ४३१ ॥  
 भूलाभश्चतुरश्रात् तु चतुरश्रायताद् धनम् ।  
 वर्तुलात् सर्वकामाप्तिर्निर्वितिस्तु तदायतात् ॥ ४३२ ॥  
 दृष्टादृष्टफलेष्वनां लोकास्तु महादयः ।  
 यच्छन्ति वैष्णवं स्थानमारोग्यं भूमिषुत्तमाम् ॥  
 वैष्णवानामकामानां च्युतेरन्ते परं पदम् ॥ ४३३ ॥

इति श्रीपौञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां प्रतिमापीठप्रासादलक्षणं नाम  
 'चतुर्विशः' परिच्छेदः ॥

विभो(४०२-४१०)रित्यन्तं द्वारप्रतिष्ठाविधानमुक्तं ज्ञेयम् । एतत्प्रासादप्रतिष्ठां तु  
 बिम्बप्रतिष्ठानन्तरं वक्ष्यति ॥ ३६०-४३३ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलाचकस्य  
 योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्विशः<sup>८</sup> परिच्छेदः ॥

१. पापेक्षिकं—बख० उ० । २. पञ्च—बक० बख० उ० । ३. प्रतिमालक्षणविधिर्नामि—  
 अ० उ० । ४. 'पीठ' नास्ति—मु० अटी० । ५. णविधिर्नामि—मु० अटी० । ६. त्रयोर्विशतितमः—  
 अ० । ७. विशतिः—बख०, शतितमः—उ० । ८. विशतिः—म० ।

## पञ्चविंशः परिच्छ्रेदः

नारद उवाच

सर्वलोकगुरुविंश्रा यदुक्तो विश्वधारिणा ।  
 तदिदानीं प्रवक्ष्यामि मन्त्रविम्बनिवेशनम् ॥ १ ॥  
 भोगेपूनां च वर्णानां साम्प्रतं यदभीष्टदम् ।  
 कैवल्यदं शमाच्चैव चातुराश्रम्यसेविनाम् ॥ २ ॥  
 यज्ञधर्मरतानां च सहायं च फैलैस्तु तत् ।  
 प्राग्वद् देवगृहस्याग्रे दिग्भागे सति मण्टपम् ॥ ३ ॥  
 चतुरथं चतुर्द्वारं दर्भमालान्तरीकृतम् ।  
 अन्यत्र तदलाभे तु यथाभिमतदिङ्मुखम् ॥ ४ ॥  
 चतुर्दशकराच्चैव यावत् त्रिशत्करावधि ।  
 षट्करान्तं पुनस्तस्माद् विम्बमानव्यपेक्षया ॥ ५ ॥

अथ पञ्चविंशतिः परिच्छ्रेदो व्याख्यास्यते । इह वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टां भोगापवर्गादिकलप्रदां मन्त्रविम्बप्रतिष्ठां वक्ष्यामीत्याह—सर्वति सार्धद्वाभ्याम् ॥१-३॥

यागशालालक्षणमाह—प्राग्वदिति सार्धद्वाभ्याम् । प्राग्वत् कुम्भस्थापनप्रकरणोक्तवदित्यर्थः । देवगृहस्याग्रे पुरतः, दिग्भागे सति अवकाशे<sup>१</sup> सति, तत्र चतुर्द्वारं यागमण्टपं कुर्यात् । तदलाभे अग्रालाभे, अन्यत्र दक्षिणादिदिक्षु विदिक्षु वा यथाभिमतदिङ्मुखं यागमण्टपं कुर्यात् । चतुर्दशकराच्चैव यावत् त्रिशत्करावधि चतुर्हस्तमारभ्य त्रिशत्त्रस्तपर्यन्तं विम्बमानव्यपेक्षया विम्बबृहत्वानुगुण्येन वर्धितविस्तारायामं पुनस्तस्माच्चतुर्दशकरादारभ्य षट्करान्तं विम्बाल्पत्वानुसारेण ह्रासितविस्तारायामं वा यागमण्टपं कुर्यादिति पूर्वेणान्वयः ॥ ३-५ ॥

१. चतुर्विंशतिमः—अ० । २. ‘उवाच’ नास्ति—म० अटी० बक० बख० । ३. फलेण्यु—अ० । ४. दिग्लाभे—म० अटी० अ० । ५. मण्टपम्—बख० अ० उ० । ६. त्रिशक—बक० । ७. कारे—अ० ।

कार्या मध्ये स्थला तेषां द्विसप्तांशैस्ततोऽष्टभिः ।  
 समन्तभद्रा मुश्लक्षणा चिता पवर्षेष्टकादिकैः ॥ ६ ॥  
 तालोन्नतेः समारभ्य सामान्येऽस्मिन् हि कर्मणि ।  
 उन्नताङ्गुलवृद्धया तु नीता तद् ह्लासतां क्रमात् ॥ ७ ॥  
 द्वित्रिरष्टांशकैर्मध्ये सर्वासां मैण्डलं भवेत् ।  
 चतुरथं चतुर्द्वारं चक्राम्बुरुषभूषितम् ॥ ८ ॥  
 दक्षिणे शैयनं सौम्ये कुण्डमग्नेस्तु पूर्ववत् ।  
 समेखलं द्विहस्तं तु चक्रपद्माङ्कितं शुभम् ॥ ९ ॥  
 तदधश्चतुरथं प्राग् दाममेखलिकान्वितम् ।  
 अथ दक्षिणादिग्भागे कुर्याद् वै चक्रचिह्नितम् ॥ १० ॥

तत्र वेदिकालक्षणमाह—कार्येति द्वाभ्याम् । तेषां चतुर्दशादिहस्तमानभेदैर्बहुविधानां मण्टपानां मध्ये द्विसप्तांशैस्ततुर्दशभागैः स्थला कार्या वेदिः कर्तव्या । साचाष्टभिरष्टभिर्भागैः समन्तभद्रा परितो वीथीयुक्तेत्यर्थः । एवं च मण्टपविस्तारायामौ त्रिशदभागान् कृत्वा तेषु चतुर्दशभागैर्वेदिकाकल्पनं शिष्टेषु षोडश भागेषु भयतोऽष्टभिरष्टवीथी॑कल्पनमिति ज्ञेयम् । तदौन्नत्यं तु तालोन्नतेः समारभ्याङ्गुलवृद्धयोन्नता, तदह्लासतोऽङ्गुलह्लासतो नीचा वा वेदिका कल्पनीयेत्यर्थः । चतुर्दशकरविस्तारायामयागर्गहस्थवेदिकायास्तालमानमौन्नत्यम् । तस्मादारभ्य त्रिशत्कररपर्यन्तं यागेहस्यायामविस्तारयोर्वृद्ध्यां षट्करान्तं ह्लासे वा तद्वस्तसंख्यानुरोधेन वेदिकौन्नत्यस्याप्येकैकाङ्गुलिवृद्धिह्लासौ कार्याविति भावः । एवं च त्रिशद्वस्तविस्तारायामयागेहस्थवेदिकायाश्चतुरङ्गुलाधिकहस्तमानमौन्नत्यं भवति ॥ ६-७ ॥

अथ वेदिकायां मण्डलादिस्थलविभागक्रममाह—द्वित्रिरिति द्वाभ्याम् । सर्वासां मानभेदैर्बहुविधानां वेदिकानां मध्ये चतुरथत्वादिविशिष्टमण्डलम्, तदक्षिणे शयनम्, सौम्ये समेखलत्वादिविशिष्टमग्नेः कुण्डं च क्रमात् क्रमालङ्घारेण द्वित्रिरष्टांशकैः कुर्यादिति योजना । एवं च द्वाभ्यामंशाभ्यां मण्डलं त्रिभिरशैः शयनमष्टांशैः कुण्डस्थानं च कार्यमित्यर्थः । पारमेश्वरव्याख्याने तु “द्वित्रिरष्टांशकैः क्रमेण नीचा नालोन्नतेन्यूनता न कर्तव्येत्यर्थः” इति लिखितम् । तदपहासास्पदम् ॥ ८-९ ॥

अथ वेदिकाया अधस्तात् प्रागाद्यष्टदिक्षु कुण्डाष्टकमाह—तदध इति द्वाभ्याम् ।

१. द्रात् सुश्लक्षणाच्चिच—वक० बख० उ० । २. नास्त्येषा पद्क्षिः—अटी० । ३. मण्डपं—मु० बख० उ० । ४. क्रमात्—इति भाष्यव्याख्यातः पाठः । ५. शयने सौम्यं कुण्डमग्नौ तु—वक० बख० उ० । ६. वीथि—म० । ७. वीथि—म० । ८. गेहस्थ—म० ।

वर्तुलं पश्चिमे सौम्ये कमलाङ्गं मनोहरम् ।  
 शैङ्घाङ्गं सर्वकोणेषु मानसेषां यथोर्ध्वगे ॥ ११ ॥  
 सर्वे देशान्तहस्तानां चतुर्णामिकमेखलाः ।  
 मर्णटपानां तु किन्त्वत्र ऊर्ध्वगं सर्वमेखलम् ॥ १२ ॥  
 अंतोऽधः संस्थिताः सर्वे एककुण्डास्तु मर्णटपाः ।  
 तेषां संमेखलं चाद्यं द्वाविंशत्यज्ञगुर्लभवेत् ॥ १३ ॥

---

ऊर्ध्वगे कुण्डे यथा मानं द्विहस्तत्वादिरूपं मानम्, एषां प्रागादिकुण्डानामपि तथैवेत्यर्थः ॥ १०-११ ॥

त्रयोदशहस्तपरिमितमण्डपादिषु कुण्डप्रकारमाह—सर्व इति । दशान्तहस्तानां दशहस्तपरिमितमण्डपानामित्यर्थः । चतुर्णा मण्डपानां त्रयोदशहस्तपरिमितद्वादशहस्तपरिमितकादशहस्तपरिमितचतुर्मण्डपानां सर्वे प्रागाद्यष्टकुण्डा अपि, एकमेखलाः स्थलसंकटादेकधीवै मेखलयां निविताः कार्याः । किन्तूर्ध्वगं वेदिकोपरिस्थं कुण्डं सर्वमेखलं सर्वाभिमेखलाभिरन्वितं कार्यमित्यर्थः ॥ १२ ॥

नवहस्तपरिमितमण्डपादिषु प्रागादिकुण्डाभावमाह—अत इत्यर्थेन । अतोऽधे संस्थिताः सर्वे मण्डपाः नवहस्तमिता अष्टहस्तमिताः सप्तहस्तमिताः षड्हस्तमिताश्चत्वारो<sup>१०</sup> मण्डपाः, एककुण्डाः, वेदिकोर्ध्वेकुण्डमात्रसहिता इत्यर्थः । तत्रापि मध्यकुण्डस्य मानभेदमाह—तेषामिति सार्थेन । तेषां षट्करान्तानां चतुर्णा मण्डपानां<sup>११</sup>-माद्ये नवहस्तपरिमिते मण्टपे द्वाविंशत्यज्ञुलैः समेखलं कुण्डं भवेत् । एवं षट्करगृहे क्रमेणाज्ञुलयुग्मस्य ह्लासात् षोडशाज्ञुलं कुण्डं यावत् स्यात् । अष्टकरे गृहे विंशत्यज्ञुलमितं कुण्डम्, सप्तकरे गृहेऽष्टादशाज्ञुलमितं कुण्डमित्युक्तं भवति । एवं चेदमप्यूहृते, चतुर्दशकरमिते गृहेऽष्टाज्ञुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, त्रयोदशकरमिते गृहे षड्हज्ञुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, द्वादशकरे गृहे चतुरज्ञुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, एकादशकरमिते गृहे द्व्यज्ञुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, दशकरमिते गृहे हस्तमितं कुण्डमिति । किञ्च, पञ्चदशकरगृहादित्रिशत्कररगृहपर्यन्तमेककाज्ञुलिवृद्धिश्चोच्यते । अतः पञ्चदशकरे गृहे नवाज्ञुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, षोडशकरे

१. शाखा-वख०, मुखाज्ञं-उ० । २. देशा-वक० वख० अ० उ० । ३. लाम्-अटी० वक० वख० उ०, लम्-अ० । ४. मण्ड-वख० अ० उ० । ५. अधोऽधः-वक० वख० उ० । ६. मण्डपाः-वख० अ० उ० । ७. च मे-वक० वख० । ८. येषां-अ० । ९. या नातुः-अ० । १०. 'चत्वारो' नास्ति-अ० । ११. नां मध्ये-अ० ।

हासादङ्गुलयुगमस्य यावद् वै षोडशाङ्गुलम् ।  
 स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं कार्या वा मेखलाधिका ॥ १४ ॥  
 अष्टहस्तोच्छ्रुतं पूर्वमतोऽर्थकरवर्धिता ।  
 न हासः षट्करान्तानां न्यूनानामुच्छ्रुतेभवेत् ॥ १५ ॥  
 त्रयोदशकरादीनां चतुर्णा पातयेत् ततः ।  
 अष्टकं चाङ्गुलानां तु सप्तपञ्चतुःक्रमात् ॥ १६ ॥  
 एवं स्नानगृहाणां तु विस्तारश्चोन्नतैः सह ।  
 किन्तु वै वालुकापीठैर्मध्यतश्चोपशोभिताः ॥ १७ ॥  
 द्विचतुर्भिर्द्विसप्तांशैर्विस्तृताः प्राग्वदुन्नताः ।  
 स्नानीयादग्रेहाद् वा दिक्त्रयेऽभिमते शुभम् ॥ १८ ॥

गृहे दशाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, एवं क्रमेण त्रिशत्करे गृहे द्विहस्तमितं कुण्डमिति ज्ञेयम् । कार्या वा मेखलाधिका षोडशाङ्गुलादिकुण्डानामेकैव मेखला, अधिका वा द्व्यादिका मेखला वा कार्येत्यर्थः ॥ १३-१४ ॥

अथ मण्टपोच्छ्रायमाह—अष्टहस्तोच्छ्रुतमिति द्वाभ्याम् । पूर्वमादां चतुर्दशाकरमितं गृहमष्टहस्तोच्छ्रुतम् । अतः परं पञ्चदशकरादयो मण्टपाः क्रमेणार्थकरवर्धिताः । यथा त्रिशत्करविस्तृतो मण्टपः षोडशहस्तोच्छ्रुतः स्यादिति भावः । त्रयोदशकरादीनां चतुर्णा मण्टपानां पूर्वोक्तहस्तोच्छ्राये क्रमादङ्गुलानामष्टकं सप्तकं पञ्चकं चतुष्कं पातयेत्, हासयेदित्यर्थः । षट्करान्तानां नवकरादिषट्करान्तानां चतुर्णा तु न्यूनानां न्यूनहस्तसंख्यानां मण्डपानामुच्छ्रुतेऽच्छ्रायस्य हासो न भवेत् । दशहस्तमण्टपोच्छ्रायन्यूनो न भवेदित्यर्थः । अत्र मूलभूतसात्वतानुसारेण हास इत्यादिवाक्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वेष्ठि पाठकमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादित्थं व्याख्यातम् । पारमेश्वरे (१५।१९-१२०) त्वर्थक्रमेणैव पाठोऽप्युपबृहितः ॥ १५-१६ ॥

एवं यागमण्टपोक्तं लक्षणं स्नानगेहेऽप्यतिदिशति—एवमिति । उन्नतैः सह औन्नत्यैः सह इत्यर्थः । भावप्रधानो निर्देशः । तत्र विशेषमाह—किन्त्वति । वालुकापीठैर्मध्यतोः वालुकापूरितवेदिकामध्यत उपशोभिताः, स्नानगृहा इति शेषः । वालुकापीठमानमाह—द्विचतुर्भिरति । द्विसप्तांशैर्विस्तृतुर्दशभागौद्विचतुर्भिरष्टभिररंशैश्च विस्तृताः प्राग्वदुन्नताश्च, वालुकापीठा इति शेषः । यागोहे परितः कुण्डनिर्माणार्थमुभयतोऽप्यष्टभिरष्टभिररंशैर्वीथीकल्पनमुक्तम् । अत्र कुण्डाभावाच्चतुर्भिरश्चतुर्भिरशैरव वीथी-

१. तः पूर्वः अथोर्ध्व—मु० अटी० । २. याद् याग—मु० अटी० अ० । ३. शुभे—बक० बख० उ० । ४. सप्त—अ० । ५. पदात्—अ० । ६. ‘तत्र विशेषमाह’ नास्ति—अ० । ७. शेषमाह—अ० ।

अर्धमानसमं मुख्यात् सुपीठशयनान्वितम् ।  
दृग्दानभवनं कुर्यान्माङ्गल्यकलशैः सह ॥ १९ ॥  
सर्वेषां कर्मभूमागं कोणस्तस्मैर्विभूषितम् ।  
सुनेत्रैर्वेष्टितं कुर्याच्चक्राद्यैः पूर्ववद् युतम् ॥ २० ॥  
सुस्थितं दृढपादं च स्नानाम्भोग्रहणक्षमम् ।  
अर्धेन वालुकापीठाद् दीर्घमाद्यक्रमेण तु ॥ २१ ॥  
वर्धितं चार्धहस्तेन हासितं चतुरड्गुलैः ।  
स्वदैर्घ्यादर्घविस्तीर्णं कृत्वैवं सप्रणालकम् ॥ २२ ॥  
तेन तद्वालुकापीठं भूषयेन्मध्यगेन तु ।  
यागागारस्य वै दिक्षु द्वारार्थं तत्र चान्तरे ॥ २३ ॥  
(शारीर)मार्घवृद्धियोगेन हासोऽन्यत्र कलादिकः ।  
तोरणानि वहिः कुर्याद् दृढैः काष्ठैः सुपूजितैः ॥ २४ ॥

कल्पनम्, द्वाविंशत्यशैर्वालुकापीठकल्पनमिति बोध्यम् । स्नानशालादिनिर्माणस्थाने नियममाह—स्नानीया इति । स्नानीयाः, गृहा इति शेषः । अग्रगेहाद् अग्रभागस्थितयागगेहं विहाय, दिक्क्त्रये दक्षिणादिदिक्षु, अभिमते शुभे मनोहरे स्थाने कार्या इत्यर्थः । नयनोन्मीलनगेहलक्षणमाह—अर्धेति । मुख्याद् यागगेहाद् अर्धमानसमं तदर्घविस्तारायामं माङ्गल्यकलशैः सह वक्ष्यमाणकलशैः सह सुपीठशयनान्वितं दृग्दानभवनं दृशोदीनमुन्मीलनम्, 'दो अवखण्डने'(११४८ दिन) इति धातोः, तदर्थं भवनं गृहं कुर्यात् । यागमण्टपादिसाधारणमलङ्घारमाह—सर्वेषामिति । सुनेत्रैः शोभनवस्त्रैः, वितानैरिति यावत् । चक्राद्यैः चक्रध्वजादिभिरित्यर्थः ॥ १७-२० ॥

अथ स्नानपीठलक्षणमाह—सुस्थितमिति सार्धद्वाभ्याम् । स्नानाम्भोग्रहणक्षमं स्नानजलग्रहणार्थं पीठोपरि परितश्चतुरङ्गुलोत्सेधावरणयुक्तमित्यर्थः । वालुकापीठादर्घेन दीर्घं चतुर्दशहस्तविस्तारायामस्नानगेहस्थितवालुकापीठार्धमानेन दीर्घम्, आद्यक्रमेण तदादित्रिशत्करणगृहपर्यन्तं क्रमेणार्घहस्तेन वर्धितं तदादिषट्करणगृहपर्यन्तं क्रमेण चतुरङ्गुलैर्हासितं स्वदैर्घ्यादर्घविस्तीर्णं सप्रणालकं स्नानपीठं कृत्वा तेन तद्वालुकापीठं भूषयेत् ॥ २१-२३ ॥

अथ द्वारतोरणलक्षणमाह—यागागारस्येत्यादिभिः ॥ २३-२८ ॥

१. तिलकैः—अ० । २. षामपि भूमागे—वक० वख० उ० । ३. अस्थिरं—मु० अटी० अ० ।  
४. पीठं—मु० अटी० वक० । ५. विद्धि तं—वक० वख० अ० उ० । ६. चाग्र—मु० अटी० ।  
७. राधं—मु० अटी० वक० वख० । ८. वृत्ति—मु० अटी० । ९. कम्—वक० वख० अ० उ०,  
जङ्गकः—अटी० ।

पञ्चहस्तानि चार्धेन वर्धितानि करेण तु ।  
 न हासमाचरेत् तेषामन्यत्र करणे सति ॥ २६ ॥  
 न शीमात् पञ्च हस्तानांमृते भूमौ प्रवेशयेत् ।  
 शमार्घं वर्धितानां च द्वे द्वे संवर्धयेत् कले ॥ २६ ॥  
 दैर्घ्यात् प्रवेशशिष्टात् तु त्रिभागेन तदन्तरम् ।  
 सर्वे चक्रध्वजाः कार्या वस्त्रसङ्कल्पार्थीयुताः ॥ २७ ॥  
 सुधोदैर्वर्णकैः पीतैश्चन्दनाद्यैस्तु लेपिताः ।  
 भिन्नाङ्गमेतदखिलं यथैकस्मिन् हि युज्यते ॥ २८ ॥  
 कर्म यागगृहे शशद् विभूतेर्वाऽवनेविना ।  
 पञ्चत्रिंशत्करं क्षेत्रं स्वतुर्याशेन विस्तृतम् ॥ २९ ॥  
 तन्मध्ये तु चतुर्हस्तं त्वांपाद्यं स्थलसप्तकम् ।  
 स्थलानां व्यवधानं तु कुर्याद् वै तालसम्मितम् ॥ ३० ॥  
 एकापायेन वै कुर्याद् द्विहस्तान्तं स्थलागणम् ।  
 क्रमेणाष्टाङ्गुलान्मानाद् द्वयङ्गुलं द्वयङ्गुलं विना ॥ ३१ ॥  
 स्थलानां संकटानां च व्यवधानं द्विगोलकम् ।

---

विभवाद्यभावे पक्षान्तरमाह—भिन्नाङ्गमित्यादिभिः । भिन्नाङ्गं विभिन्नपृथक्-शालाद्यङ्गसंहितमेतदखिलं कर्म नयनोन्मीलनस्नपनार्चनहवनाधिवासादिकं समस्तं कार्यम्, विभूतेर्वाऽवनेविना विभवाभावात् प्रदेशाभावाद्वा, एकस्मिन् यागगृहे यथा युज्यते, स्नानशालां नयनोन्मीलनशालां च विना यागगेह एव यथा कर्तुं शक्यते, तथा संनिवेशार्थं पञ्चत्रिंशकरं स्वतुर्याशेन विस्तुतं क्षेत्रं यागमण्टपं कुर्यादिति शेषः । पारमेश्वरव्याख्याने तु—“भिन्नाङ्गं वेदिकुण्डतोरणादिभिर्भिन्नलक्षणम् । एकस्मिन्नेकत्र शालास्थले यथा युज्यते तथा कुर्यादित्यर्थः” इति लिखितम् । तन्मन्दस् । तन्मध्ये चतुर्हस्तविस्तारायामं स्थलसप्तकं वेदिकासप्तकमापाद्यं कल्पनीयमित्यर्थः । स्थलानां वेदिकानां व्यवधानमन्तरालं तलसमितं द्वादशाङ्गुलमितं कुर्यात् । तथा सति सप्तवेदिकानामन्तरालानि षट्टालमितानि भवन्ति । तींथा व्यवधानानवकाशे द्वयङ्गुलं द्वयङ्ग-

१. दशमात्—बक० बख० । २. नां भूते—बक० बख० । ३. लेपनैः—उ० । ४. त्रिशकर-मिति भाष्यानुसारी पाठः । ५. तुल्यां—मु० अटी० । ६. तच्च—अ० । ७. स्तादा—बक० बख० अ० उ० । ८. ‘स्थलाङ्गणम्’इति सार्वत्रिकः पाठः । ९. सानं—बक० उ० । १०. तथाप्यव—अ० ।

एवमेव समुच्छायः सर्वोर्सां परिकीर्तिः ॥ ३२ ॥  
 परितो विहितं वीथेर्मानमत्र स्वपीठजम् ।  
 एवं वा संकटे कुर्याद्बोक्तान्मण्टपद्वयात् ॥ ३३ ॥  
 मध्ये मण्डलपीठं तु तस्य दक्षिणदिग् भवेत् ।  
 समीपे शेयनस्थानं कुम्भानां स्थापनायेनम् ॥ ३४ ॥

गुलं विना एकापायेन एकतालं ह्वासेन वा व्यवधानं कुर्यात् । क्रमेणाष्टाङ्गुलान्मानात् प्रत्येकमष्टाङ्गलव्यवधानात् स्थलागणं स्थलसप्तकं द्विहस्तान्तं द्विहस्तपरिमितान्तरालं वा कुर्यात् । संकटानां तथा व्यवधानेऽप्यपेक्षमा(णां?णानां) स्थलानां द्विगोलकं चतुरङ्गुलं व्यवधानं कुर्यात् । “द्वे अङ्गुले कलानेत्रं गोलकं भाव एव च”(२४।९४) इति पूर्वमेवोक्तम् । सर्वेषां स्थलानामुच्छाय एवमेव परिकीर्तिः । वेदिकानामुच्छायमपि द्वादशाङ्गुल-मष्टाङ्गुलं चतुरङ्गुलं वा कुर्यादित्यर्थः । परितो वीथेर्मानं स्वपीठजं विहितं चतुरहस्त-मित्यर्थः ॥ २८-३३॥

एवं सप्तवेदिकाँनिर्णिणस्याप्यनवकाशे पञ्चवेदिकापक्षमाह—एवं वेति त्रिभिः । संकटे स्थलसंकोचे सति, आद्योक्तान्मण्टपद्वयात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्नाननयनो-न्मीलनमण्टपद्वयं विहाय, एवं वा कुर्याद्वक्ष्यमाणरीत्या र्घञ्चवेदिकाकल्पनं वा कुर्यात् । तासां विनियोगस्तु मध्ये मण्डलपीठं तस्य दक्षिणदिक् दक्षिणदिशि समीपेऽप्यवहितं धनस्थानम्, कुम्भानां स्थौरीना धनम् । तदनन्तरवेदिकायां स्नानकुम्भानां स्थापनम् । एवमेव वामनिकटे मण्डलपीठवामभागस्थसमीपवेदिकायाम्, भोगानां मन्त्रतर्पणं भोगानां समीदादीनां मन्त्रतर्पणं हृवनमित्यर्थः । तत्र प्रधानकुण्डस्थानैऽयावत् । पारमेश्वरव्याख्याने तु—“भोगानां मन्त्रतर्पणं कुम्भस्थार्चनमित्यर्थः, जलस्य समस्तभोगत्वात्” इति लिखितम् । तन्मन्दम्, प्रधानकुण्डस्यागतिकत्वात् ।

ननु तर्हि कुम्भार्चनमगतिकं भवतीति चेन्न, कुण्डदक्षिणभाग एव तदर्चनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

ननु तर्ह्यस्मदुक्तार्थोऽपि संगत एवेति चेन्न, तर्णणशब्दस्य भवनपरत्वेनैवात्र वहुशः प्रयोगात् । ऋग्यजुःसामपूर्वाणां श्रुतीनां भवनं विदिक्कु(ण्ड?ण्ड)चतुष्टयोक्तं

१. सर्वेषां—म० । २. पीठे मानं मन्त्र—बक० बख० । ३. मण्डप—बक० बख० अ० उ० । ४. हि धनस्थानमिति, स्थापना धनमिति च भाष्यधृतः पाठः । ५. तालेन ह्वासेन—अ० । ६. प्यक्षमाणी—म० । ७. कस्यानि—अ० । ८. पञ्चवेदिकं वा कल्पनं—अ० । ९. हितेऽधन—अ० । १०. अनेन वावयेन स्वयं व भगवता धनशब्दो व्याख्यातः, अस्मिन्नर्थं धन-शब्दस्याप्रसिद्धत्वात् । ११. समिधा—म० । १२. नमिति—अ० ।

एवं हि वामनिकटे भोगानां मन्त्रतर्पणम् ।  
 ऋग्यजुःसामपूर्वाणां श्रुतीनां हवनं परे ॥ ३५ ॥  
 दृग्दानं शयनस्थाने हन्यस्मिन् शयने हितम् ।  
 प्रासादस्याष्टदिङ् मूर्तिशक्तिपानां यथोदितम् ॥ ३६ ॥  
 स्थण्डलेष्वथ कुण्डेषु तादश्येनाथवा स्वयम् ।  
 स्वकुण्डे हवनं कुर्याच्चतुर्वेदमये वरे ॥ ३७ ॥  
 समस्तमूर्तिपीयं वा स्वयमेव समाचरेत् ।  
 सामग्रीविरहाद् योग्यमूर्तिपानामभावतः ॥ ३८ ॥  
 यश्च यत्रोपयोज्यस्तु तत्र तं संप्रवेशयेत् ।  
 मन्त्राणामुपदेष्टा तु आत्मतुल्यो महामतिः ॥ ३९ ॥

---

भूवनं परे तदनन्तरवेदिकायामिति ज्ञेयम् । दृग्दानं नयनोन्मीलनं शयनस्थाने पूर्वोक्त-  
 शयनवेदिकायामेव, अन्यस्मिन् शयने पृथक्शय्यायां हितमभिहितमित्यर्थः । पारमेश्वर-  
 व्याख्याने तु पूर्वमेव “समीपे शयनस्थानाम्” (पा० १५।१३८) इत्यत्र समीपे न्यनमित्य-  
 बद्धपाठमङ्गीकृत्य नयनं नयनोन्मीलनमित्यर्थ इति लिखितम् । इहापि तथैव “दृग्दानं  
 शयनस्थाने हन्यस्मिन् शयने हि तत्” (पा० १५।१४०) इति पाठं परिकल्पैकस्मिन्  
 नयनोन्मीलनार्थं शयनकल्पनम्, अन्यस्मिन् तत्प्रसिद्धशयनमिति लिखितम् । सप्तवेदिका-  
 पक्षेऽप्येवमेव मण्डलादिस्थाननियमः । किन्तु तत्र दक्षिणान्तिमवेदिकायां स्नानपीठ-  
 स्थापनम्, उत्तरान्तिमवेदिकायां नयनोन्मीलनार्थं शयनकल्पनमिति ज्ञायते ॥३३-३७॥

एवं स्थलसंकोचादिनाष्टदिक्कुण्डानि विना यागगेहे निर्मिते सति तदानीं  
 मूर्तिपकर्तव्यहोमस्य गतिमाह—समस्तेति । सामग्रीविरहाद् अनेकस्त्रुक्स्त्रुवाद्यभावात्,  
 योग्यमूर्तिपानामभावत ऋत्विजामभावाद्वा हेतोः, समस्तमूर्तिपीयं मूर्तिपकर्तव्यं होमं  
 स्वयमेव समाचरेत् । तत्कुण्डसमीपं गत्वा स्वयमेव तत्तद्वोमं कुर्यादिति भावः ॥३८॥

अथ प्रासादमध्ये कुम्भस्थापनप्रकारोक्तरीत्या सकलमङ्गलवैभवैः सहाचार्यस्य  
 यागगेहप्रवेशं तत्र सर्वोपकरणानां संप्रवेशनं चाह—यश्चेत्यर्थं । मन्त्रतन्त्रस्खालित्यभिया  
 तदुपदेष्टुरन्यस्याचार्यस्य नियोजनमाह—मन्त्राणामिति ॥३९-४०॥

- 
- १. हवने-वक० वख० अ० उ०, भवनमिति भाष्यानुसारी पाठः । २. प्राग्-म०  
 अटी० । ३. नेऽभितः-अ० । ४. दिग् लोमं मूर्तिपानां-अ० उ० । ५. पीठं-वक० अ० ।  
 ६. इतः पूर्वम्—‘संप्रविश्य ततः प्राग्वन्मण्डपं कृतमण्डनम् । पूर्वोक्तस्वस्तिकैर्युक्तो द्रव्यं द्रव्यगुणः  
 (गणः) शुभः ॥’ इत्येष श्लोको दृश्यते—वक० वख० अ० उ० । भाष्यकारेण तु नायं व्याख्यातः ।  
 ७. हवनं-अ० । ८. शयन-अ० । ९. नितमे-अ० :

योक्तव्यः कर्मदक्षस्तु सर्वेष्ववसरेषु च ।  
 स्वयं वस्त्वनुसन्धाय हवनार्चनकर्मणाम् ॥ ४० ॥

आस्ते ह्यत्पत्तिपूर्वाणां न्यासान्तानामनन्यधीः ।  
 कृत्वा दीक्षाविधानोक्तं सहोमं कलशार्चनम् ॥ ४१ ॥

कुर्यात् सतोरणानां तु ध्वजानां स्थापनं ततः ।  
 सितरक्तादिभेदेन प्रागादौ तु ध्वजाष्टकम् ॥ ४२ ॥

निवेश्य मध्यवेद्यां तु पुनरप्ययवत् तथा ।  
 यजेत् सत्यादिकं तेऽन्त्र चतुष्कं ह्येवंमेव हि ॥ ४३ ॥

उत देवा अवहितमृडमयान् पाठयेत् ततः ।  
 वर्णहिवै सर्ववर्णेन चक्रं तोरणगं यजेत् ॥ ४४ ॥

पाठयेद् द्वारपालीयं साम सामविदस्ततः ।  
 अथार्घ्यपुष्पभूँमूर्तिधर्यायात् समावृतः ॥ ४५ ॥

स्वस्य तु भूतशुद्धयादिन्यासान्तकर्मसु हवनार्चनकर्मवस्त्वनुसन्धानपूर्वकमेकायत-  
 चित्तत्वेन वर्तमान(ता)माह—स्वयमिति ॥४०-४१॥

पूर्वं दीक्षाप्रकरणोक्तरीत्या महाकुम्भार्चनहोमादिकं तोरणध्वजस्थापनार्चनं  
 चाह—कृत्वेति ॥४१-४२॥

मध्यवेद्याः परितो ध्वजाष्ट(क)स्थापनम्, तत्र प्रभवाप्ययक्रमेण सत्यसुपर्णाच्च-  
 चर्चनम्, उत देवा इत्यादिमन्त्रपाठनम्, बहिस्तोरणगतनानावर्णचक्रध्वजेषु चक्रराजा-  
 र्चनम्, लोकद्वारपालमपावृण्वित्यादिद्वारपालीयसामपाठनं चाह—सितेति त्रिभिः । एवं  
 महाकुम्भार्चनानन्तरं ध्वजार्चनादिकस्योक्तावपि तत्पूर्वमेव वा तत्कार्यमिति ज्ञेयम् ।  
 तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—“एतेषामथवा पूर्वं भवेद् द्वास्थैः सहार्चनम्” ( ई० सं०  
 १८५८; पा० सं० १५१७८) इति ॥४२-४५॥

१. न्धानह—अ० उ० । २. च—मु० अटी० । ३. च—मु० अटी० । ४. तत्तच्च—  
 मु० अटी० । ५. एक—बक० बख० अ० उ० । ६. ऊर्ध्वं सह सुपर्णेन—मु० अटी० । ७. हन्मूर्ति—  
 मु० अटी० । ८. स्वर्त—अ० । ९. पूर्व—अ० म० ।

यत्र तिष्ठति विश्वेशः पीठब्रह्मशिलान्वितः ।  
 तत्रावलोकनं तेषां कुर्यात् सन्ताडनादिकम् ॥ ४६ ॥  
 चक्रास्त्रमन्त्रितैः स्नानकलशैः स्नापयेत् ततः ।  
 सिद्धार्थकैस्तथा पञ्चगव्यमृद्भूतिवारिणा ॥ ४७ ॥  
 वल्मीकमृजलेनाथ चक्राङ्गौषधिवारिणा ।  
 संक्षाल्याभ्यर्थ्य चोद्वर्त्य क्षालयेदस्त्रवारिणा ॥ ४८ ॥  
 तमघर्णेणार्चयित्वा च ततस्तन्मन्त्रितान् करे ।  
 सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु वद्व्याग्रे पाठयेदृचम् ॥ ४९ ॥  
 रक्षोहणं तैर्था सर्वान् नयेत् प्रतिसरे मणीन् ।  
 सद्वस्त्रवेष्टितं कृत्वा समारोप्य रथोत्तमे ॥ ५० ॥  
 कर्मारम्भं च पठतस्तस्य दक्षिणदिङ् न्य॑सेत् ।  
 ऋक्सामपूर्वान् वामे तु ब्राह्मणांस्तु चतुश्चतुः ॥ ५१ ॥  
 पुरतोऽस्त्रं स्मरन् यायात् स्वयं विघ्नांस्तु सुदयन् ।  
 सनृत्तगेयैवादित्रस्तुतिमङ्गलपाठकैः ॥ ५२ ॥  
 इदं विष्णुविंचक्रमं ऋड्मयैः सह पाठयेत् ।  
 एकायनांस्तदन्ते तु अ॒ नमो ब्रह्मणे तुं यत् ॥ ५३ ॥

अथ मूर्तिपैः सह विम्बसमीपगमनम्, नेत्रमन्त्रेण तदवलोकनादिकम्, सिद्धार्थोदकादिषट्कलशस्थापनादिकमर्चनम्, देवस्य दक्षिणहस्ते सिद्धार्थैः सह प्रतिसरबन्धनम्, ऋग्वेदिभिराथर्वणिकैश्च रक्षोह॑णपाठनम्, वेदघोषैर्नृत्तगेयादिभिः सह रथादिना बिम्बाद्यानयनम्, तदानीं स्वर्णादिदानयागगेहप्रवेशनं चाह—अथाधर्यपुष्पभूदित्यारभ्य स्वस्थानं यज्ञभूमेवै इत्यन्तम् । चक्राङ्गौषधी कटुकरोहिणी, “कटुः<sup>१</sup> कटुभराऽशोका रोहिणी कटुरोहिणी । <sup>२</sup>मत्स्यपित्ता कृष्णभेदी चक्राङ्गी <sup>३</sup>शकुला-

१. संगा—वक० । २. ऋग्विप्र पाठचते—वक० वख०, ऋत्विक् प्रपाठचते—अ० उ० ।
३. ततोऽथर्वा चायं—अ०, तथाऽथर्वा चायं—उ० । ४. मणिम्—अ० उ० । ५. त्तमम्—अ० ।
६. मुखः—वक० । ७. गीत—अ० । ८. क्रमेति—वक०, क्रेति—अ० । ९. जेति—अ० उ० ।
१०. हरण—म० । ११. कटुभरा—अ० । १२. कृष्णभेदी मत्स्यपित्ता—म० । १३. च कुलादिनी—अ० ।

तथैव शाकुनं सूक्तं श्रीसूक्तेन समन्वितम् ।  
 स्वर्णादिनार्थिनः शक्त्या तर्पयन्तान् प्रवेशयेत् ॥ ७४ ॥  
 स्वस्थानं यज्ञभूमेवै प्रासादाभ्यन्तरं तु वा ।  
 वैक्ष्यमाणविधानेन युक्तं रत्नशिलादिना ॥ ७५ ॥  
 कृत्वा द्रव्याधिवासं प्राक् कर्मभूमौ पुरोदितम् ।  
 स्नानकर्मशिलादीनामीषत् कृत्वा तु सार्चनम् ॥ ७६ ॥  
 यथावद् रत्नविन्यासं पीठपूर्वं निवेश्य च ।  
 बृहद्विम्बे ततः कुर्यात् कर्मविम्बेऽखिलं तु वै ॥ ७७ ॥  
 सन्निरोधस्तु मन्त्राणां तत्र लग्नोदये स्मृतः ।

“दिनो” ॥ (३।८१।८६) इति वैजयन्ती । कर्मारम्भं भगवतो बलेनेत्यादिकं मन्त्रम्, ॐ  
 भगवानेव स्वशेषभूतं मामिति मन्त्रं वा ॥४५-५५॥

बिम्बे बृहति सति तस्य केवलं प्रासादाभ्यन्तरप्रवेशम्, तत्र रत्नन्यासपूर्वकं  
 जीठे स्थापनम्, यागशालाद्यशिलकर्मणां कर्मबिम्बे कर्तव्यत्वम्, लग्नोदये मूलबिम्ब  
 एव मन्त्रावाहनसन्निरोधम्, मुहूर्तीतिक्रमो यथा न संभवेत् तथा बृहत्सनपनात् पूर्वं  
 कर्तव्यानां पूर्णहुत्यन्तानां कर्मणां ज्ञाटित्यनुष्ठानं चाह—प्रासादाभ्यन्तरं तु वेत्यारभ्य  
 मुहूर्तो नावसीदतीत्यन्तम् । आ बृहत्सनपनात् पूर्वमित्यनेन बृहत्सनपनस्य मूलबिम्ब  
 एव कर्तव्यत्वमुक्तं भवति । तथा चोक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

स्थाप्यमाने बृहद्विम्बे विशेषः कथ्यते द्विजाः ।  
 पूर्ववत् कर्मशालायां संस्थाप्याकारशुद्धये ॥  
 संस्थाप्य विधिना कृत्वा नयनोन्मीलनं ततः ।  
 स्नपनं बृहदापाद्य केवलं वा बृहदकैः ॥  
 स्नानकर्म शिलादीनामीषत् कृत्वा तु सार्चनम् ।  
 उत्थाप्य मूर्तिपाद्यस्तु बहुभिस्तु रथस्थितम् ॥  
 समानीय ततो यत्नात् प्रासादाभ्यन्तरं तु वै ।  
 यथावद् रत्नविन्यासपूर्वं पीठे निवेश्य च ॥ इति ।

(ई० सं० १८७१-७५; पा० सं० १५।१९२-१९५)

१. दाद्य—मू० अटी० बक० बख० । २. पञ्चक्तित्रयं नास्ति—बक० बख० उ०, भाष्य-  
 कारेणापि न व्याख्यातमिति प्रतीयते । ३. दुक्तविन्यासं—बक० बख० । ४. प्रति—मू० अटी० ।  
 ५. स्वं—मू० अटी० बक० बख० । ६. द्विज—ई०, शृणु—पा० ।

ओवृहत्सनपैनात् सर्वं यत्किञ्चिदथ तत्र तत् ॥ ५८ ॥  
 निर्वर्तनीयं पूर्णान्तं बुद्ध्यैवं प्राङ् महामते ।  
 तथा कार्यं शुभो येन मुहूर्ते नावसीदति ॥ ५९ ॥  
 एवं हि चित्रपूर्वाणामन्येषां कमलेक्षण ।  
 सरत्नब्रह्मपाषाणवजितानां समाचरेत् ॥ ६० ॥  
 स्नानाद्यं कर्मविम्बे तु तत्समीपेऽथ दर्पणे ।  
 कर्मविम्बं विना तेषां प्रस्वापाद्यं हि विष्टरे ॥ ६१ ॥  
 कुर्यात् प्रवेशपूर्वं तु सर्वमुत्सवपश्चिमम् ।  
 एवं प्रवेश्य तद्विम्बं साम्ग्रतं विनिवेश्य च ॥ ६२ ॥  
 निष्पण्णदृढकाष्ठोत्थतोरणेऽस्त्राहुतीस्ततः ।  
 निवेश्य स्नानकलशान् हेमाद्युत्थांस्तु निर्वणान् ॥ ६३ ॥

शिल्पशालायां केवलं बहूदकैरेव स्नपने कृते वृहत्सनपनं प्रासादाभ्यन्तर एव  
कार्यमिति च ज्ञेयम् ॥५५-५९॥

चित्रविम्बविषयैऽप्येवमेव कर्मविम्बे स्नपनाद्यशिलकर्मणामनुष्ठानम्, तस्या-  
भावे दर्पणे छायास्नपनम्, कूर्चद्वारा यागगेहप्रवेशशय्याधिवासोत्सवान्तानां कर्तव्यत्वं  
चाह—एवं हीति सार्धद्वाभ्याम् ॥६०-६२॥

एवं यागगेहानयनानन्तरं तत्र दृढकाष्ठोत्थतोरणे सन्निवेशमस्त्रमन्त्रेण होमं  
चाह—एवमिति । पीठब्रह्मशिलयोः पूर्वमेव तत्रानयनं तदुपरि ब्रह्मस्थापनं कार्यमित्युक्त-  
मीश्वरपारमेश्वरयोः—

यागभूमि ततो विम्बमवरोप्य रथादिकात् ।  
 निष्पण्णदृढकाष्ठोत्थतोरणे संनिवेश्य च ॥  
 स्नानभूमौ ततः कुर्यादिस्त्रेणाज्यतिलाहुतीः ।  
 यद्वा पूर्वं समानीय पीठं ब्रह्मशिलान्वितम् ॥  
 भूमिष्ठे भद्रपीठे तु वेदिकायां निवेश्य च ।  
 ततो बिम्बं समानीय स्थापयेत् पिण्डिकोपरि ॥ इति ॥६२-६३॥

(ई० सं० १८६८-७१; पा० सं० १५१८९-१९१)

१. ब्रह्मस्त-बक० बख० अ० उ० । २. स्नाप-म० अटी० । ३. विचित्र-उ० ।
४. निष्पण्ण दृढकाष्ठोत्थं तोरणेऽस्त्राहुतिं ततः-अ० उ० । ५. 'इत्याह-वक्ष्यमाणेत्यादिभिः'  
अधिकः पाठ-अ० । ६. ये ह्वेव-म० । ७. कान्-म० । ८. निष्पण्ण-ई० पा० ।

पूर्ववद् वदनोपेतान् सुसमांस्त्रासवर्जितान् ।  
 निरीक्षणादिसंशुद्धान् कृत्वा सहृदयेन तु ॥ ६४ ॥  
 द्वादशाभरमन्त्रेण मन्त्रयेत् तान् सकृत् सकृत् ।  
 तेनैव पूजयेत् पश्चादधर्यस्त्रक्वचन्दनादिना ॥ ६५ ॥  
 तदाहैरण्होमं तु यथाशक्ति समाचरेत् ।  
 पूर्णान्तमथ सम्पूर्य क्रमाद् द्रव्यैर्नियोजयेत् ॥ ६६ ॥  
 पाद्याधर्याचमनीयार्थद्रव्यैः पूर्वोदितैस्त्रयम् ।  
 नौगाद्याद्यन्तमध्येभ्यो नदोमृतीर्थसम्भवा ॥ ६७ ॥  
 हँदाद् वल्मीकिशश्वराद् गजदन्तकर्षतीकृतात् ।  
 हलोत्था वृषशृङ्गोत्था शालिक्षेत्रेषु० सम्भवा ॥ ६८ ॥  
 तथैव पद्मषण्डोत्था त्वेकस्मिन् गोमयं परे ।  
 वनदाहसमुद्भृतं तथैव च महानसात् ॥ ६९ ॥  
 त्रेताग्निभस्म त्वपरे विनिवेश्य॑ घटान्तरे ।  
 अन्यस्मिन् पञ्चगच्छं तु कुशोदकसमन्वितम् ॥ ७० ॥

अथ <sup>१२</sup>स्नपनार्थं कलशस्थापनविधिमाह—निवेश्य स्नानकलशानित्यारभ्य वस्त्रेणाच्छाद्य वै तत इत्यत्म । पूर्वोदितैर्दीक्षाप्रकरणोक्तैरित्यर्थः । अस्य स्नपनस्य <sup>१३</sup>पारमेश्वरेऽप्युक्तत्वात् तद्व्याख्याने पाद्याधर्याचमनीयद्रव्याण्युपरि स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तम् । तद्विरुद्धम्, पूर्वोदितैरिति विशेषणस्य वैयर्थ्यात्, तत्रोपरि स्पष्टीकरिष्यमाणपाद्यादिद्रव्याणां वैजात्याच्च । चमसी मलनिर्दरणार्थकसुगन्धद्रव्यविशेषः । त्रिफलं नेतिलकायि अरलेकायि तारेकायि । वचा बजे, “वचोग्रगन्धा” (२१।१०२) इत्यमरः । शतावरी आषाढी । कन्या लोलिसरकन्या, कुमारीति निघण्टुः । व्याघ्री गुल्ली सिही आढुसोगे । कृताञ्जलिः सटूदकरिकै, कृताञ्जलिनगिबालेति निघण्टुः । गोलोमी पिल्लगरिकै, “गोलोमी शतवीर्या च” (२१।१०९) इत्यमरः । “गोलोमी शतपर्विका” (२१।१०२) इति गोलोमीशब्दस्य वचापरत्वमप्यस्ति, वचायाः पूर्वमेवोक्तत्वादत्र श्वेतद्वैवेव प्रकृता ।

१. वच—मु० बक० बख० अ० । २. मान् हास—अटी० । ३. मरण—अ० उ० ।
४. बोधतु—बक० बख० अ० उ० । ५. नागादा—बक० बख०, नगादा—अ० उ० ।
६. वाम्—बक० बख० । ७. श्लोक एषोऽग्निमश्लोकानन्तरं स्थापितः—अ० । ८. क्षयी—अ० उ० ।
९. गोवृषशृङ्गोत्था चलिता क्षेत्रसम्भवा—अ० उ० । १०. क्षेत्रसमुद्भवा—बक० बख० ।
११. वेश्य—बक० । १२. स्नाप—अ० । १३. स्नाप—अ० । १४. पारमेश्वरे स्नपनाध्याये (१४।६०—६२) अत्रत्याः केचन श्लोका द्रष्टव्याः ।

सघृतं तैलकुम्भं तु चमसीवारिपूरितम् ।  
 पलाशखदिगश्वतथशमीलोहितचन्दनम् ॥ ७१ ॥  
 कषायोदकमन्यस्मिन् पैरस्मिस्त्रिफलोदकम् ।  
 वचा शतावरी कन्या व्याग्री सिंही कृताञ्जलिः ॥ ७२ ॥  
 गोलोमी सिंहलोमी च कुष्ठं भूतजटा तथा ।  
 महागरुडवेगा च कलशेऽन्यत्र लाङ्गालिन् ॥ ७३ ॥  
 महानीला गैलूची च सहदेवी शतावरी ।  
 विष्णुक्रान्ता च कार्कोटा साह्वा वैहिशिखाऽपरे ॥ ७४ ॥  
 यष्टि वाराहकर्णी चाप्यन्यास्मिन् गजपिपली ।  
 श्रीफलाद्यानि चान्यस्मिन् पावनानि फलानि च ॥ ७५ ॥  
 दधिक्षीराज्यकुम्भाश्च द्वौ मध्विक्षुरसान्वितौ ।  
 मूलान्यम्भोरुहाणां च तान्यन्यस्मिन् द्वये न्यसेत् ॥ ७६ ॥  
 द्रुमाणां पावनानां तु सक्षीराणां विशेषतः ।  
 पुष्पपत्रफलोपेतमेकस्मिन् मञ्जरीगणम् ॥ ७७ ॥  
 जात्यादिकमर्थैकस्मिन् कौसुमीयं लैताचयम् ।  
 रोचनारजनीयुग्मं बला मोटा च पद्मकम् ॥ ७८ ॥

सिंहलोमी नरियाल्दहुल्लु, “क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी” (२।४।९३) इत्यमरः । कुष्ठं चगलकोष्ठ, “व्याधि कुष्ठं पारिभाव्यम्” (२।४।१२६) इत्यमरः<sup>१२</sup> । भूम्यञ्जनम्<sup>१३</sup> । महागरुडवेगा गरुडनगरिगड्डा । महानीला करिगुरुग, गलूची अमृतवल्ली, गलूच्य-मृतवल्ली चेति निघण्डः । सहदेवी प्रसिद्धा । विष्णुक्रान्ता च प्रसिद्धा । शतावरी पूर्वोक्ता । कार्कोटा तोट्टिगिड्डा, हिसा कार्कोटकी चेति निघण्डः । सिंहा बिल्वः, शैलूषश्रीफलसिंहा इति वैद्यनिघण्डः । वहिशिखा ऋगिणिमृभिनगड्डे, “स्याललाङ्ग-लिक्यग्निशिखा” (२।४।११८) इत्यमरः । यष्टि अतिमधुरम् । वाराहकर्णी, अनेलदालु । बला बेणेगरुड, “बला वाट्यालकी घण्टा” (२।४।१०७) इत्यमरः । मोटा अगलशुण्ठी । पद्मकं प्रसिद्धम् । सप्त ग्राम्यौषधयः शालिमुद्गादयः, सप्तारण्यका वेणुश्यामाकादय-

१. परे तु त्रि-बक० बख० अ० उ० । २. धूता-अ० । ३. गलू चैव-अटी० ।
४. वा-म० । ५. च-बक०, ट-बख० उ०, टी-म० अटी० । ६. बहि-अ० उ० । ७. वराह-मु० अटी० । ८. च अ-बक० बख० अ० उ० । ९. ‘रुहाणां’‘जात्यादिक’ नास्ति-बक० ।
१०. थैत-बक० बख० । ११. यत्न-म० अटी० । १२. ‘इत्यमरः’ नास्ति-अ० ।
१३. भूम्यञ्जनमित्यनेन भूतजटाशब्दो व्याख्यात इति प्रतीयते । १४. मृगिन-म० ।

इति पञ्चकमेकस्मिन् देवर्भान् दूर्वाङ्गुराणि च ।  
 सास्यं शाल्यङ्गुरचयं कलशेऽन्यैत्र वै न्यसेत् ॥ ७९ ॥  
 सिद्धार्थकान् सिताद्यांस्तु प्रियङ्गुं गन्धसंज्ञकम् ।  
 अपरस्मिन् न्यसेत् कुम्भे सह वै नागकेसरैः ॥ ८० ॥  
 ग्राम्याश्चौषधयः सप्त सप्तारण्या घटद्वये ।  
 बाह्यीकं चन्दनं चैव रसं कर्पूरसंयुतम् ॥ ८१ ॥  
 चतुष्कमेतदपरे त्वन्यस्मिन् धातवः शुभाः ।  
 तांप्रज्ञाम्बूनदाद्यास्तु परे रत्नचयं महत् ॥ ८२ ॥  
 न्यसेद् विद्रुमजालं च द्वयोर्मुक्ताफलानि च ।  
 अष्ट्योदकमथैकस्मिन् नदीतीर्थोदकं द्वये ॥ ८३ ॥  
 सर्वौषधिघटं चैव सुशीताम्भोघटं ततः ।  
 सुगन्धपुष्पकलशं चत्वारिंशत् त्वर्मा स्मृताः ॥ ८४ ॥

अथेऽवर्गपारमेश्वरयोर्हृषिः पाकप्रकरणोक्ता ग्राह्याः । एवं वामभागे स्थापितचत्वारिंशत्कलशस्तपनस्य स्थूलपरसंज्ञत्वम्, पृष्ठभागे स्थापितचत्वारिंशत्संख्याककेवलशीतोदक-कलशस्तपनस्य स्थूलसूक्ष्मसंज्ञत्वम्, दक्षिणभागे स्थापितगन्धोदकपूरितचत्वारिंशत्कलशस्य स्थूलस्थूलसंज्ञत्वं चेश्वरपारमेश्वरयोः<sup>१</sup> प्रतिपादितम् । एवं देवस्य वामभागादिषु स्तपनत्रयकलशस्थापनं पृथक् स्तपनमण्टपे सति<sup>२</sup> कार्यम्, तदभावे यागगेहस्थतदर्थपीठ एव पूर्वादिपश्चिमान्तं तत्तद्विने तत्तत्स्तपनकलशस्थापनं कार्यमिति च तत्रैव प्रतिपादितं ज्ञेयम् । तत्तत्स्तपनकालश्च तत्रैवोक्तः—

अधिवासदिने कुर्यात् स्नानं स्थूलपराभिधम् ॥  
 प्रतिष्ठादिवसे कुर्यात् स्नपनं स्थूलसूक्ष्मकम् ।  
 चतुर्थे दिवसे स्नानं स्थूलस्थूलाभिधं भवेत् ॥ इति ।

(ई० सं० १८१६४-१६५; पा० सं० १५२८८-२८९)

एषां स्तपनानां सति विभवे विस्तारस्तदभावे संकोचश्च तत्रैव स्तपनाऽध्याये प्रतिपादितः—

१. मन्य-बक० बख० । २. दर्भ-बक० बख०, दर्भा-अ० । ३. ह्यपरे तु वै-बक० बख० अ० उ० । ४. ङ्गु-बक० बख०, ङ्गं-अ० । ५. रस-बक० उ० । ६. धन्या-बक० अ०, धन्या-बख० उ० । ७. सुगन्धि-म० अटी० । ८. ईश्वरे (२५१५८-५९), पारमेश्वरे (१८१६४-१३६) । ९. ईश्वरे (१५१३४-१३७), पारमेश्वरे च (१४१३६-१३८) । १०. इति-अ० ।

वामभागे तु देवस्य अग्निकोणादितो<sup>१</sup> न्यसेत् ।  
 यातुधानपदं यावत् क्रमाद् द्विद्विकमर्खयया ॥ ८५ ॥  
 दशपङ्क्तिनियोगेन एवमन्ये तु पृष्ठतः ।  
 ईशकोणात् समारभ्य यावदाग्नेयगोचरम् ॥ ८६ ॥  
 शीताम्बुपूरितानां च घटानां केवलं न्यसेत् ।  
 पुनरीशानकोणात् तु शयने सप्तधा न्यसेत् ॥ ८७ ॥  
 गन्धोदकेन सम्पूर्णस्तथा वायुपदावधि ।  
 सर्वाण्याधाररूढानि पूरितान्यमलाम्भसा ॥ ८८ ॥  
 मूलमन्त्रेण तदनु पूजयेद् द्वादशात्मना ।  
 संवेष्य च पुरा सूत्रैश्छादयेत् तदनन्तरम् ॥ ८९ ॥  
 विधानैः सूत्रसम्बन्धैर्वस्त्रेणाच्छाद्य वै ततः ।  
 तंदर्पणावसानेऽथ शयनं कल्पयेद् द्विधा ॥ ९० ॥  
 सर्वोपकरणोपेतमनन्तं तदधो यजेत् ।  
 प्रभवाप्यययोगेन तदूर्ध्वं सर्वगं प्रभुम् ॥ ९१ ॥  
 पाठयेत् सर्पसामाथ संज्ञां ज्ञानबलात्मिकाम् ।  
 हुत्वा शताष्टसंख्यं तु मूलं तदनु कल्पयेत् ॥ ९२ ॥

भक्तिश्रद्धावशाच्चापि विभवानुगुणं तु वा ॥  
 त्रिविधं स्थूलमेदं तु द्विगुणं तु समाचरेत् ।  
 अनुकल्पे तदर्थं वा पादमष्टांशमेव वा ॥  
 चतुष्टयं वा कुम्भानां प्रत्येकं वा द्वयं द्वयम् ।  
 एकैकं वापि विप्रेन्द्राः सर्वद्रव्यमर्य घटम् ॥

(ई० सं० १५।१३८-१४०; पा० सं० १४।१४०-१४२)

इति ॥ ६३-९० ॥

अथ नयनोन्मीलनार्थमधिवासार्थं च शयनद्रव्यकल्पनं तत्रानन्ताच्चनादिकं चाह-  
 तदिति द्वाभ्याम् । तदर्पणावसाने कलशपूजानन्तरमित्यर्थः । सर्वोपकरणोपेतमित्यत्र  
 शयनोपकरणानीश्वरपारमेश्वरोक्तानि ग्राह्याणि । प्रभवाप्यययोगेन प्रागादिषु वासु-  
 देवरूपेणानेयादिषु पुरुषादिरूपेणेत्यर्थः । सर्पसाम चर्षणीधृतमित्यादि । ज्ञान-  
 बलात्मिकां सङ्क्लिष्णो भगवानित्यादिकं मन्त्रम् ॥ ९०-९२ ॥

१. दिके—बक० बख० उ० । २. तत्त—बख० अ० उ० । ३. सर्व—बख० अ० उ० अटी० ।  
 ४. च—मु० अटी० । ५. ईश्वरे (१५।१६७-१८५), पारमेश्वरे (१५।२९१-३०८) च  
 शयनोपकरणानीमानि द्रष्टव्यानि । ६. सर्पः साम—अ० ।

मण्डलं पावनै रागैः सिताद्यैर्माङ्गलीयकैः ।  
 तदूनाधिकशान्त्यर्थं हुत्वा कुण्डगणं ततः ॥ ९३ ॥  
 संस्कुर्यात् प्रतिकुण्डस्य निकटे कुम्भमध्यगम् ।  
 प्रभवाप्ययोगेन चातुरात्म्यं तु संयजेत् ॥ ९४ ॥  
 हृदादि यद्वा दिक्स्थेषु विदिक्स्थेषु तदस्त्रराट् ।  
 दत्वा तदर्थं पूर्णा तु पूर्णात् पूर्णं च पाठयेत् ॥ ९५ ॥  
 एकायनान् यजुर्मयानाश्रावितमनन्तरम् ।  
 अथौस्त्रमन्त्रेण पुरा माङ्गल्यकलशाम्भसा ॥ ९६ ॥  
 संसेच्य विम्बं तदनु स्नापयेत् तन्मृदम्भसा ।  
 पाठयेत् तत्र कूष्माण्डान् बलमन्त्राननन्तरम् ॥ ९७ ॥  
 ततो गोमयकुम्भेन इह गावः प्रपाठयेत् ।  
 भूतिस्त्वमिति मन्त्रेण पठ्यमानेन भूतिना ॥ ९८ ॥  
 पञ्चगव्येन तदनु पाठयेच्चतुरस्ततः ।  
 पूर्ववच्च ततोऽभ्यर्च्य विधिवच्चमसाम्बुना ॥ ९९ ॥  
 क्षालयित्वाऽर्चयित्वा च निवेश्य शयनान्तरे ।  
 नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वा शलाकां तैजसीं स्वयम् ॥ १०० ॥

अथ मूलमन्त्रेणाष्टोत्तरशताहुतिपूर्वकं मण्डललेखनम्, तन्न्यूनातिरिक्त-शान्त्यर्थं प्रायश्चित्तहोमम्, प्रागाद्यष्टकुण्डसंस्कारम्, प्रतिकुण्डसमीपं कुम्भस्थापनम्, तेषु प्रभवाप्यक्रमेण वासुदेवाद्यर्चनं यद्वा हृत्मन्त्राद्यर्चनम्, मध्यकुण्डे तदर्थं पूर्णहुतिम्, एकायनादिभिः पूर्णात्पूर्णपठनं चाह—हुत्वेति चतुर्भिः । आश्रावितमथर्वैद इति पारमेश्वरव्याख्याने ॥ ९२—९६ ॥

अथ पूर्वं स्थापितस्थूलपराभिधानस्नपनकलशेषु पाद्यादिकतिपयकलशाभिषेकालङ्घरणार्चनपूर्वकं नयनोन्मीलनार्थं शयने विम्बस्य संनिवेशनमाह—अथेति चतुर्भिः । माङ्गल्यकलशाम्भसा पाद्याद्याचमनाख्यकलशत्रयोदकेनेत्यर्थः । चमसाम्बुना । चमसो नाम तैलनिर्हरणार्थकद्रव्यविशेषः पूर्वमाराधनप्रकरणेऽप्युक्तः—

रजनीचर्णसंमिश्रमीषत्पद्यकभावितम् ॥

देयमुद्वत्तनार्थं तु चमसं तदनन्तरम् । (६३३—३४) इति ।

चमषी सुगन्धद्रव्यविशेष इति पारमेश्वरव्याख्याने ॥ ९६—१०० ॥

१. लिङ्गः—बक० बख० अ० उ० । २. वि तद्-मु० अटी० अ० उ० । ३. यथा-मु०, यदा-अटी० । ४. च्छाक्वरं ततः—अ० उ० । ५. भयज्य—मु० उ० । ६. पूर्णपूर्ण-अ० ।

संस्मरन् परमं ज्योतिरीष्टनेत्रे तु चोल्लखेत् ।  
 तन्मन्त्रितेन शस्त्रेण शिल्पी स्नातोऽवलोकितः ॥ १०१ ॥  
 यथावत् प्रकटीकुर्याद् विधिदृष्टेन कर्मणा ।  
 वारुणं पाठयेत् साम सह चान्द्रेण सामगान् ॥ १०२ ॥  
 ततः पात्रद्वये कृत्वा तैजसे<sup>३</sup> मधुसर्पिषी ।  
 वौषट्नेन मूलेन सैम्पूर्ये जुहुयात् ततः ॥ १०३ ॥  
 मुञ्चन्तममृतौघं तु हृदायन्तेन सेचयेत् ।  
 तन्मूर्धिं शशिविम्बं तु ध्यायेत् ताडनशान्तये ॥ १०४ ॥  
 सदक्षिणं शलाकाद्यं दद्याच्छिल्पिजन्माय च ।  
 गोदानमाचरेत् पश्चाद् गुरोरागधकस्ततः ॥ १०५ ॥  
 यथाशक्ति तथान्येषां मूर्तिपानां च दक्षिणाः ।  
 दत्वा समाचरेत् पश्चाद् दाहं साप्यायनं तु वै ॥ १०६ ॥

अथ नयनोन्मीलनविधानमाह—नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वेत्यारभ्य मूर्तिपानां च दक्षिणा इत्यन्तम् । तैजसीं तैजसद्रवासंभवामित्यर्थः, सौवर्णीं राजतीं वेति यावत् । अत्रैकपैव शलाकया नेत्रद्वयोल्लेखनमिति ज्ञेयम् । संहितान्तरेषु सुवर्णरजतशलाकाद्वयेन नत्रद्वयोल्लेखनमुच्यते । अत एवेश्वरपारमेश्वरयोः पक्षद्वयमप्युक्तम्—“आज्याक्नया तया वापि राजत्या वामसुल्लखेत्” (ई० सं० १८।२०७; पा० सं० १५।३३०) इति । तन्मन्त्रितेन नेत्राभिमन्त्रितेनेत्यर्थः । अवलोकितो नेत्रमन्त्रेण निरीक्षित इत्यर्थः । वारुणं साम प्रमित्राय प्रार्थम्ण इत्यादि । चान्द्रं साम चान्द्रं चान्द्रं चान्द्रं चान्द्रमित्यादि । संपूर्येत्यत्र नेत्रयुग्ममिति शेषः । तथा चोपबृहितमीश्वरपारमेश्वरयोः—

पूरयेन्मधुसर्पिभ्यां नेत्रयुग्मं क्रमेण तु ॥  
 वौषट्नेन मूलेन तेनैव जुहुयात् ततः । इति ।  
 (ई० सं० १८।२०९-२१०; पा० सं० १५।३३२-३३३)  
 अन्ये च बहवो विशेषास्तत्र तत्र प्रतिपादिता ग्राह्याः ॥ १०१-१०६ ॥

आमृधनो द्वादशार्णं तु मूर्त्यर्थं पूर्ववन्न्यसेत् ।  
 व्याप्तिसप्तासमायुक्ते संस्कृते प्रोक्षणादिना ॥ १०७ ॥  
 पीठेऽवतार्य संवेष्ट्य वाँसोभ्यां चाप्यधोर्धतः ।  
 अैथ क्रमोदितैः कुम्भैर्द्विषोढावर्तित्वैर्हृदा ॥ १०८ ॥  
 स्नापयेत् पाठयेद् विप्रान् ओषधीनामिति श्रुतिम् ।  
 या ओषधय इत्यादि ऋग्वेदांस्तदनन्तरम् ॥ १०९ ॥  
 एवं दशावशिष्टान्तैः सेचिते कलशैः सति ।  
 ततः कुम्भचतुष्कणे चतुर्मिर्मूर्तिधारकैः ॥ ११० ॥  
 ऋक्सामपूर्वैर्विधिवत् स्नापनीयं च पाठयेत् ।  
 उदुच्चमं हि ऋग्वेदान् पाठयेद् द्रविणं यजुः ॥ १११ ॥  
 ततस्तु वारुणं साम सामज्ञोऽथर्वणस्ततः ।  
 अयं ते वरुणश्चेति पवित्रं ते ततो ऋचैम् ॥ ११२ ॥  
 वसोः पवित्रं हि यजुः पाठयेत् सामगांस्ततः ।  
 पवित्रं ते हि यत्साम संचोद्यैकायनांस्ततः ॥ ११३ ॥  
 मूर्तिपान् समुदायेन पावमानीचतुष्टयम् ।  
 तदन्ते तु परं मन्त्रं व्यूहीयं भगवानिति ॥ ११४ ॥  
 पवित्रमन्त्रं तदनु इदं विष्णुविचक्रमे ।  
 ततो विभवमन्त्रैस्तु सर्वैः संमन्त्रितेन च ॥ ११५ ॥  
 कुम्भेन सेचयित्वा तु व्यूहमन्त्रैः परेण तु ।  
 स्नापयित्वाऽर्चयित्वा तु जुहुयात् साधिकं शतम् ॥ ११६ ॥

ततो बिम्बस्य दहनाप्यायनपूर्वकं मूलमन्त्रन्याससमन्तादिव्याप्तिसप्तान्विते स्नानपीठे संस्थापनं वस्त्राभ्यां संवेष्टनं चाह—दत्तेति द्वाभ्याम् ॥ १०७—१०८ ॥

अथावशिष्टैः कलशैरभिषेचनक्रमं तच्छिद्रपूरकं होमं चाह—अथ क्रमोदितैः कुम्भैरित्यारभ्य जुहुयात् साधिकं शतमित्यन्तम् ॥ १०८—११६ ॥

१. संस्कृत्य—मु० अटी०, संस्तुते—बक० बख० । २. वाससा ह्यधरोर्धतः—मु० अटी० ।

३. अधः—मु० बक० । ४. षट्टान्ते—बक० बख० अ० उ० । ५. ऋचा—मु० अटी० ।

६. साधितं—मु० ।

यथावत् प्रणवेनाथ व्याप्ति कृत्वा च पाठयेत् ।  
 मा प्रैकामेति ऋग्वेदानाग्नेनायुर्यजुर्मयान् ॥ ११७ ॥  
 ग्राणापानं हि यत्साम ततः ग्राणाय वै नमः ।  
 यातव्येति परं मन्त्रं विग्रानेकायनांस्ततः ॥ ११८ ॥  
 ध्यानयुक्तो धिया सम्यक् पठेदाराधकस्ततः ।  
 ॐ आवाहयाम्यमरवृन्दनताङ्गिग्रयुग्मं  
 लक्ष्मीपतिं भुवनकारणमप्रमेयम् ।  
 आद्यं सनातनततुं प्रणवासनस्थं  
 पूर्णेन्दुभास्करहुताशसहस्ररूपम् ॥ ११९ ॥  
 ध्येयं परं सकलवेदविदां च वेद्यं  
 वाराहकापिलनृकेसरिसौम्यमूर्तिम् ।  
 श्रीवत्सकौस्तुभमहामणिभूषिताङ्गं  
 कौमोदकीकमलशङ्खरथाङ्गहस्तम् ॥ १२० ॥  
 सर्वत्रगोडसि भगवन् किल यद्यांपे त्वां-  
 मावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम् ।  
 गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति  
 औंवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चाऽचर्चाम् ॥ १२१ ॥  
 मालाधराच्युत विभो परमात्ममूर्ते  
 सर्वज्ञ नाथ परमेश्वर सर्वशक्ते ।  
 आगच्छ मे कुरु दयां प्रतिमां भजस्व  
 पूजां गृहाण मदनुग्रहकाम्ययाऽद्य ॥ १२२ ॥

अथ प्रणवेन विम्बे भगवद्व्याप्तिस्मरणपूर्वकमृगादिचतुर्वेदेष्वेकायने च प्राण-  
 प्रतिष्ठामन्त्रपाठनमाह—यथावदिति द्वाभ्याम् ॥ ११७-११८ ॥

ततस्त्वावाहनश्लोकचतुष्टयं स्वयं पठेदिति । तच्चाह—ध्यानेत्यादिभिः  
 ॥ ११९-१२२ ॥

१. प्रगा मु० अ० । २. धातर्येति—अ० उ० । ३. ओमित्यादिका ११९-१२२ संख्याका:  
 श्लोका न सन्ति—उ०, लिखिता अपि मष्या लेपिताः । ४. त्व—अ० । ५. वायुः—अ० ।  
 ६. ह्यावा—मु० अटी० ।

ततो विमृज्य वस्त्रेण भोगैः पूर्वोदितैर्यजेत् ।  
 अध्याद्यैर्दक्षिणान्तैस्तु पाठयेद् ऋद्धमयांस्ततः ॥ १२३ ॥  
 अर्चामि तेति वै मन्त्रं साम यच्चार्चितस्त्वति ।  
 भैरवानिति तज्जांस्तु ततः सन्तर्पितेऽनले ॥ १२४ ॥  
 स्तुत्वा जितन्तमन्त्रेण सामज्ञान् पाठयेत् पुनः ।  
 सह गायत्रेसाम्ना तु तद्रथन्तरसंज्ञितम् ॥ १२५ ॥  
 प्रजप्य द्वादशार्णं तु मुद्रां बद्ध्वा प्रणम्य च ।  
 अष्टाङ्गेनाथः विज्ञाप्यो भगवान् भूतभावनः ॥ १२६ ॥  
 पूर्तिभूतेन रूपेण अनेनैव हि साम्प्रतम् ।  
 लोकानज्ञाततच्चांस्तु समाह्नादय नागरान् ॥ १२७ ॥  
 येनान्तःसम्प्रविष्टेन ईष्टकालवशोऽत् तु वै ।  
 जन्मान्तरसहस्रोत्थान्मोक्षमायान्ति किल्बिषात् ॥ १२८ ॥  
 एवमैर्थ्यो हि भगवांलोकानुग्रहकृत् प्रभुः ।  
 करावद्धिगतौ कृत्वा पाठयेद् ऋद्धमयांस्ततः ॥ १२९ ॥  
 उत्तिष्ठेति ऋचो मन्त्रं<sup>१</sup> कृत्वा ब्रह्मरथे स्थिरे ।  
 सुयन्त्रिते च क्षीरांज्ये दध्योदनसमन्विते ॥ १३० ॥

एवमावाहनानन्तरं विम्बसंमार्जनमध्याद्यात्यर्चनम्, अर्चामि तेत्यादिमन्त्रपठनम्, मध्यकुण्डे दिक्कुण्डेषु च हवनम्, जितन्तास्तोत्रपूर्वकं गायत्ररथन्तरसामपठनम्, जप-मुद्राप्रणामविज्ञापनानि ब्रह्मरथोपरि भगवदुत्सवं शश्याधिवासं लाङ्घनन्यासं दामोदरादीनां महिमादितच्छक्तीनां विशाख्यूपबीजस्य तत्तन्मूर्तिबीजस्य प्रणवस्य वा मूलमन्त्रम् च पादादिमूर्धन्तं संहारकमेण न्यासम्, निस्तरङ्गार्णववत् सुशान्तत्वेन भगवद्व्यान-मुपसंहारप्रतिपादकानां विद्यां गदामित्यादिमन्त्राणां पाठनम्, विम्बविन्यस्तमन्त्रैः प्रत्यकं शतसंख्या होमं पूर्णाहुतिं पुनः सर्वशक्तिमयेन स्वभावेन भगवतोऽभ्युदिनत्वचिन्तनम्,

१. अ० भगवन्निति-बख० अ० उ० । २. यत्रि-अ० उ० । ३. ज्ञकम्-अ० उ० ।  
 ४. भेदेन-अटी० अ० उ० । ५. वशेन-अटी०, लवात्-बख० अ० उ० । ६. ति कल्प-  
 बक० बख० अ० । ७. एवम्भ्यश्य-बक० बख० अ० उ० । ८. मन्त्रः-बक० अ० उ० ।  
 ९. ज्य-बक० बख० उ०, ज्यं-अ० ।

दुर्भिक्षक्षामशान्त्यर्थं परमाननकलैर्युते ।  
 पाठयेदस्यवामीयम् ऋद्धमयांस्तदनन्तरम् ॥ १३१ ॥  
 तन्मयान् बलमन्त्रं तु दशार्थेति महामते ।  
 स्वयमाद्यन्तसंरुद्धं हृदा तु कवचं जपेत् ॥ १३२ ॥  
 आमयेद् बलिदानं तु क्रियमाणं तु सर्वदिक् ।  
 रत्नकाञ्चनवस्त्राणां पूर्ववत् क्षेपयमाचरेत् ॥ १३३ ॥  
 दिव्याद्यायतनानां च कार्या पूजा यथोदिता ।  
 पञ्चरात्रविदां चैव यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १३४ ॥  
 पट्कर्मनिरतानां च दानं दीनजनेऽवपि ।  
 रथस्थे मन्त्रविम्बे तु यावत् पदशतं व्रजेत् ॥ १३५ ॥  
 सँ रथस्तूर्यघोषणे तावत् क्रतुफलं बैहु ।  
 आप्नोत्याराधकः शश्वत् सकामो नियतव्रतः ॥ १३६ ॥  
 ततस्तोरणदेशस्थं रथं कृत्वाऽर्जयेत् प्रभुम् ।  
 पाद्यादर्थपुष्पधौपैस्तु नमस्कृत्य च पाठयेत् ॥ १३७ ॥  
 उच्चिष्ठेति द्विषट्कार्णं सजितन्तं तु चाखिलम् ।  
 सम्पठन् पौरुषं सूक्तं यागवेशम् प्रवेशयेत् ॥ १३८ ॥  
 हृदा शयनगं कृत्वा यात्राहोमं समाप्येत् ।  
 ततस्तच्छरसो देशे चक्राधारस्थिते घटे ॥ १३९ ॥  
 पूर्वोक्तलक्षणे नेत्रैमस्त्रसम्पुटिं यजेत् ।  
 पूजयित्वाऽर्द्धपुष्पाद्यैः शयनस्थं च वै पुनः ॥ १४० ॥

बिस्बहृत्पदे षट्कक्षिकरणोपेतमूलमन्त्रस्मरणम्, तृसिंहंकल्पोक्तरीत्या पाञ्चभौतिक-  
तंनूपसंहारचिन्तनम्, अमलमन्त्रमयमूर्त्युपत्तिचिन्तनम्, तद्वाचकानां सहस्रशीर्ष<sup>११</sup> देव-

१. सुभिक्षक्षेम—बक० बख० अ० उ० । २. क्षेम—बक० बख० अ० उ० । ३. अध.—  
अ० उ० । ४. तद्रथं तु—बक० बख०, तद्रथस्तू—अ० उ० । ५. भवेत्—अटी० । ६. चरेत्—बक०  
बख० । ७. नेन्नमन्त्र—बख० अ० उ०, नेमिमन्त्र—बक० । ८. शया—बक० अ० उ० ।  
९. सप्तदशे परिच्छेदे १७—२८ श्लोकेषु । १०. कतारूप—अ० । ११. शिरसं—म० ।

वर्मणाऽच्छाय वस्त्रेण तैतोऽङ्गिनिकटे विभोः ।  
 स्थित्वा लाञ्छनमन्त्रांस्तु यथास्थानगतान् न्यसेत् ॥ १४१ ॥  
 पादाद् वै द्वादशाङ्गेषु ततो दामोदरादिकान् ।  
 तच्छक्तिकांस्तथा मन्त्रान् भास्वद्वयापकलक्षणान् ॥ १४२ ॥  
 ऐश्वरेण्याथ बीजेन यथावस्थेन भावयेत् ।  
 पौदादितन्मयेनैव तद्वन्मन्त्रवरेण तु ॥ १४३ ॥  
 ग्राघवद्यययुक्त्या तु अन्तज्योतिर्मयात्मना ।  
 विभुना वाक्स्वरूपेण तदेवाथ परं पद्मम् ॥ १४४ ॥  
 सुशान्तं सर्वगं बुद्ध्वा निस्तरङ्गमिवोदधिम् ।  
 विद्यां गदामित्याद्यं यत् पाठयेत् पाश्चरात्रिकान् ॥ १४५ ॥  
 देहसान्न्यासिकं मन्त्रं धारणाख्यमनन्तरम् ।  
 जीमूतस्येति ऋग्वेदान्नासदासीच्चं पाठयेत् ॥ १४६ ॥  
 क्रमेणानेन हुत्वा तुं पादार्धशतसंख्यया ।  
 तिलानां तु तथाज्यस्य मन्त्रैरभिर्महामते ॥ १४७ ॥  
 दत्वा पूर्णाहुतिं सम्यगुपसंहारलक्षणाम् ॥ १४८ ॥  
 ततस्तत्परमं ब्रह्माऽभ्युदितं पूर्ववत् स्मरेत् ॥ १४९ ॥  
 सर्वशक्तिमयेनैव स्वभावेन स्वकेन तु ।  
 ओजोबलात्मना यद्वद् गन्धद्रव्यात्मना तु वै ॥ १५० ॥  
 बीजं तरुस्वरूपेण समुद्रो बुद्धुदात्मना ।  
 एवमव्यपदेश्यायाः शक्तेः स्वे शक्तिर्दर्पणे ॥ १५० ॥

मित्यादिमन्त्राणां पाठनम्, औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकैर्भौगैर्यथाविधि शायनस्थ-  
 भगवदर्चनम्, मध्यकुण्डे दिक्कुण्डेषु च समित्सप्तकादिभिर्भगवत्संर्पणम्, स्वस्वरूपि-

१. ततोऽग्नि-वक्ष० उ० । २. छ्वेषु-अ० उ० । ३. प्राग्वत-वक० । ४. ऐश्वर्येणाधि-  
 बक० बक्ष० उ० । ५. पदातीतम-अ० उ० । ६. परम-मु० अटी० अ० । ७. विद्या-बक०  
 बक्ष० उ० । ८. देवस-वक० बक्ष०, देवसा-अ० उ० । ९. सेति-वक० बक्ष० उ०, सीति-अ० ।  
 १०. तं-बक० बक्ष० अ० उ० । ११. णम्-वक० बक्ष० अ० उ० । १२. ह्य ह्य-मु० अटी० ।  
 १३. गन्धो-अटी० ।

स्थितिमादीय विश्वेशः स्वातन्त्र्याच्च महामते ।  
 मन्त्ररूपैँ तनुं धत्ते सम्यगार्हाधनाय च ॥ १५१ ॥  
 नानात्वमुपयातस्य प्रसरं तस्य च स्वयम् ।  
 निष्प्रभत्वं प्रयातस्य चिद्रीजनिचयस्य च ॥ १५२ ॥  
 आविष्कृतस्य भेदेनाप्यमूर्तेन बलीयसा ।  
 अज्ञानगहनेनैव नित्यानित्यमयात्मना ॥ १५३ ॥  
 स्मृत्वैवं मूलमन्त्रं तु विम्बहृत्पद्मगं स्मरेत् ।  
 पट्टक्तिकिरणोपतैस्तैः स्तदूदव्यमयीं तनुम् ॥ १५४ ॥  
 संस्मरेत् संहरन्तं च प्राणगुक्तेनैव वर्तमना ।  
 स्वरूपममलं भूयः स्मरेन्मूर्त्यात्मना तर्ततः ॥ १५५ ॥  
 नयन्तं पूर्वविधिना एवं स परमेश्वरः ।  
 मन्त्रात्मना स्वतन्त्रत्वमुपयातो यदा तदा ॥ १५६ ॥  
 सहस्रशिरसं देवमित्यथर्वास्तुं चोदयेत् ।  
 पाठयेद् ब्राह्मणान्<sup>११</sup> धातर्यध्यक्षेति च मन्त्रराट् ॥ १५७ ॥  
 यो विश्वतश्चक्षुरिति<sup>१२</sup> ध्यातव्यो भवतीति च ।  
 द्वा सुपर्णेति तदनु अतो देवेति<sup>१३</sup> वै पुनः ॥ १५८ ॥  
 ऋड्मयान् पौरुषं सूक्तं ततः परतमा त्विति<sup>१४</sup> ।  
 ततोऽर्चयित्वा मन्त्रेण<sup>१५</sup> शयने विम्बवृत्तिगम्<sup>१६</sup> ॥ १५९ ॥  
 नित्यसन्निधिसिद्धयर्थमा समाप्तिं तु मण्डले ।  
 संरोध्य सन्निधीकृत्य महता विभवेन तु ॥ १६० ॥

कुम्भोदकैर्विम्बसेचनम्, पुनराज्यादिभिः सपरिवारमन्त्रनाथसंतर्पणम्, पूर्णहृतिम्,  
 धृतादिचतुर्द्वयेष्वैकैकेन तत्तदञ्जस्पर्शपूर्वकं हन्मन्त्रेणाहुतिद्विषट्कात्मकं होमं चाह—

१. माधाय—अटी० । २. रूपं—बक० बख० अ० उ० । ३. हरणाय—बक० बख० अ० उ०, भरणाय—अ० । ४. रन्तस्य—मु० बक० बख० । ५. योगेना—बक० बख०, तोयेना—अ० ।
६. स्तां तां द्रव्य—बक० बख०, पेतं तैस्तां द्रव्य—अ० उ० । ७. प्राग्वत् सिंहोक्त—बक० बख० अ० उ० । ८. तु तत्—बक० बख० अ० उ० । ९. सर्व—अटी० । १०. ति सर्वास्तु—मु० अटी० ।
११. धानाय—बक० बख० । १२. यात—मु० अटी० उ० । १३. दैवीति—बक० बख० उ० । १४. निविति—मु० उ० । १५. मन्त्रेण—बक० । १६. कम्—बक० बख० उ० । १७. धृतचतु—अ० ।

साङ्गं सन्तर्प्य विधिवत् संह मूर्तिघरैस्ततः ।  
 स्वमूर्तिकुम्भान्मन्त्रेण जलमुद्धृत्य भाजने ॥ १६१ ॥  
 विम्बमूर्ध्नि क्रमाद् देयं<sup>३</sup> सर्वैरेकायनादिकैः ।  
 सन्तर्पयित्वा तदनु मन्त्रं सपरिवारकम् ॥ १६२ ॥  
 आज्यादिना प्रभूतेन दत्वा पूर्णाहुतिं ततः ।  
 विम्बात्मना प्रयातानां क्षमादीनामङ्गरूपिणाम् ॥ १६३ ॥  
 आपादानेऽपि पूर्णत्वात् पिण्डीभाँवार्थमेव च ।  
 आरम्भादेव जातानां छिद्राणां शमने तु वै ॥ १६४ ॥  
 आप्यायनार्थं मन्त्राणां द्रव्यैर्हीमं समाचरेत् ।  
 द्विषट्केनाहुतीनां तु एकैकेन चतुर्हृदा ॥ १६५ ॥  
 आ चाङ्गेर्जानुपर्यन्तं स्पृष्टवाज्यं होमयेत् पुरा ।  
 आ नार्भिजानुदेशाच्च तथैव जुहुयाद् दधि ॥ १६६ ॥  
 नाभेराकर्णतः क्षीरमा कण्ठा शिरो मधु ।  
 संमेल्य जुहुयात् सर्वं स्पृष्टवा देहं तु चाखिलम् ॥ १६७ ॥  
<sup>४</sup>संस्कृत्य विम्बवत् पीठं भिन्नं ब्रह्मशिला तथा ।  
 प्राणाभिमानदेवं वा यस्य यो विहितस्तु वै ॥ १६८ ॥  
 वेष्टयित्वाऽम्बरैश्चत्रैश्चक्रमन्त्रेण वै ततः ।  
 कार्यो ब्रह्मशिलाहोमः शताष्टाधिकसंख्यया ॥ १६९ ॥  
 गायत्रीभिस्तदर्थं च बहूचार्यैः पृथक् पृथक् ।  
 अजस्य नाभावित्यादिमन्त्रैरेकायनैस्ततः ॥ १७० ॥

ततो विमूर्ज्य वस्त्रेणेत्यारभ्य स्पृष्टवा देहं तु चाखिलभित्यन्तम् ॥ १२३—१६७॥

अथ पीठब्रह्मशिलयोः संस्कारानाह—संस्कृत्य विम्बवत् पीठाभिमग्नाभ्य प्रणवान्तेन लाङ्गलिन्नित्यन्तम् । पीठब्रह्मशिलयोरपि भगवद्विम्बवाकारणेव स्मरणमेकः पक्षः, तत्त्वपीठाभिमानदेवत्वेन स्मरणमन्यः पक्षः । पीठाभिमानदेवश्चना-

१. साङ्ग—वक० वख० उ० । २. रैः स्मृतः—वक० वख० उ० । ३. देवं—अ० उ० ।
४. दानेति—अटी०, देनापि—वक० वख०, दनेऽपि—अ० उ० । ५. भूता—वक० वख० अ० उ० ।
६. आ जानुनाभि—अटी० । ७. तदैव—अटी० । ८. मा मूर्धन्तः कर्णतो—वख० । ९. पूर्व—वख० वख० अ० उ० । १०. संस्मृत्य—अ० उ० ।

अच्छाऽधिभूतमूर्तुं तु भोग्यं वापि पृथक् स्थितम् ।  
 देवतानां त्वधिष्ठानं पीठं कृत्वाऽथ बुद्धिगैम् ॥ १७१ ॥  
 होतव्यं प्रणवेनैव स्वयं व्याहृतिभिस्तु तैः ।  
 अपरैमूलेमन्त्रेण प्रणवान्तेन लाङ्गलिन् ॥ १७२ ॥  
 ततो वाहनमन्त्रेण तर्पणीयः सदैव हि ।  
 स्वनाम्ना प्रणवेनैव स्वाहान्तेनापरैस्ततः ॥ १७३ ॥  
 संरोधस्तपितानां तु कार्यः पूर्णान्त एव हि ।  
 साम्भसा विष्टरेणैव भावेन सजपेन च ॥ १७४ ॥  
 सर्वेश्वरस्य देवस्य स्वकीयासु च मूर्तिषु ।  
 शब्दात्मिकास्वैमूर्तासु तद्वच्छृतिमयस्य च ॥ १७५ ॥

नन्तकूर्ममीनेष्वन्यतमः, तत्वयं वा । यस्य यो विहितः “अष्टलोहमयं चक्रम्” (२५।२०५) इत्यादिभिर्वच्यमाण इत्यर्थः । पारमेश्वरव्याख्याने तु—“प्राणाभिमान-देवमनन्तम्” इति केवलमनन्तं प्रतिपादितम् । तन्मन्दम्, यस्य यो विहित इति वाक्यविरोधात् ॥ १६८-१७२ ॥

ततो गरुडमन्त्रेण परिवारमन्त्रैश्च होममाह—तत इति । पारमेश्वरपुस्तकेषु केषुचित् “ततो हवनमन्त्रेण” (१५।५९।४) इत्यबद्धपाठो दृश्यते, तद्वाख्यानेऽपि हवन-मन्त्रेण स्वाहान्तमन्त्रेणोत्यबद्धपाठ एव व्याख्यातः । अपरैः परिवारमन्त्रैरित्यर्थः ॥ १७३ ॥

एवमेतावदन्तं समर्पितानां सर्वेषामपि परिवारदेवानां सर्वेश्वरस्य भगवतश्च प्रतिष्ठानन्तरभाविष्यूर्णहृत्यन्तसंनिरोधमाह—संनिरोध इति द्वाभ्यास । साम्भसा विष्टरेण कूर्चंगताध्येणेत्यर्थः ।

आवाहने संनिधाने संनिरोधे तथाचने ॥

विसर्जनेऽर्थपात्रं तु प्राक् पात्रान्तियमाचरेत् । (१८।७१-७२)

इति संनिरोधेऽर्थदानस्य पूर्वोक्तवात् । भावेन ध्यानेनेत्यर्थः । सर्वैः स्वकस्य देवस्येति पाठ एव सरसः । यतः सर्वेषाचार्यकृत्विभिः स्वकस्य देवस्य प्रागादिस्वकुण्डस्थित-देवस्य स्वकीयासु मूर्तिषु वासुदेवसंकर्षणादिमूर्तिषु तंद्रच्छृनिमयस्य चतुर्वेदस्वरूपस्य विदिक्कुण्डमन्तर्पितस्य भगवतश्च शब्दात्मिकासु ऋग्यजुःसामार्थवृद्धपेण चतुर्धा स्थितासु अमूर्तासु शब्दमूर्तिषु च संनिरोधः कार्य इत्यर्थः स्वरसः । सर्वेश्वरस्येति पाठेऽप्येवमेवार्थः । किन्तु तत्र आचार्यकृत्विभिरित्यध्याहार्यम् ॥ १७४-१७५ ॥

१. ध्वादि-अटी० वख० । २. भोज्यं जाप्यं-वक० वख० अ० उ० । ३. भुक्तिश्म-अटी० । ४. वर्ल-अ० उ० । ५. सर्वैः स्वकस्य देवस्येति भाव्यानुमतः पाठः । ६. कासु मूर्ता-मु० अटी० वक० वख० । ७. गतेनेत्यर्थः-अ० । ८. दानं-मु० । ९. तद्वद्विश्रुति-अ० ।

कृत्वैवं च तैथा दिक्षु मूर्तिपान् विनिवेश्य च ।  
 पार्वदेशेषु कुण्डानां तर्पयेत् पायसेन तु ॥ १७६ ॥

गृहीत्वा दक्षिणां मन्त्रः प्रीणनीयस्तु तैस्ततः ।  
 अथ निद्रायमौणं तु देवं स्मृत्वाऽवकुण्ठ्य च ॥ १७७ ॥

अर्चयित्वा नमस्कृत्य तत्र सर्वान् प्रवेशयेत् ।  
 स्तुतिपाठकपूर्वास्तु चृत्गेयपरायणान् ॥ १७८ ॥

विदिक्स्थान् प्रणवे जापे द्वादशार्णेन दिक्स्थितान् ।  
 साध्यपुष्पाक्षतकरः प्रासादं<sup>१</sup> तं ब्रजेत् ततः ॥ १७९ ॥

हन्यात् सिद्धार्थकैस्तस्माद् विघ्नानस्त्राभिमन्त्रितैः ।  
 प्राङ्मध्ये विधिनानेन शब्रं वा साम्प्रतं खनेत् ॥ १८० ॥

विनिश्चितं यथामानं गार्भं कुर्यात् तु सप्तधा ।  
 द्वारदेशात् स्मारभ्य समैः स्त्रैस्तु सर्वदिक् ॥ १८१ ॥

द्वारमध्ये पदान्तं तु पादानामधिदेवताः ।  
 पिशाचा मानवा देवाः परमः पुरुषो हि यः ॥ १८२ ॥

चातुरात्म्यं विनान्येषां स्थापितानां महामते ।  
 आराधनं च स्वस्थानादचिरादेव सिद्धिकृत् ॥ १८३ ॥

अथ मूर्तिपायसभोजनादिकमाह—कृत्वेति सार्वेन ॥ १७६-१७७ ॥

अथ निद्रायमाणस्य भगवतो वस्त्रैरवकुण्ठनार्चननमस्कारात्, आ प्रभातं मूल-  
 मन्त्रजपे एकायनानां प्रणवजपे ब्रह्मावादिनां स्तुतिमङ्गलगाननर्तनादिषु<sup>२</sup> तत्तज्जनानां  
 नियोजनं चाह—अथेति द्वाभ्याम् ॥ १७७-१७९ ॥

अथ प्रासादान्तःप्रवेशे<sup>१२</sup> तत्रयविघ्नोत्सारणम्, तत्र ब्रह्मशिलाप्रतिष्ठार्थं<sup>१३</sup> शब्र-  
 खननम्, तदर्थं गर्भगेहस्य सप्तधा विभागम्, तत्तत्पदानामधिदेवताविवरणम्, तेषु तेषु

१. यशा-अ० उ० । २. दक्षिणो-बक० बख० अ० उ० । ३. मानं-बक० उ० । ४. पैं तु  
 दिक्-उ० । ५. दान्तं-अटी० अ० बख० । ६. गर्भत्-बक०, गर्भं-अ० । ७. द्वारान्मध्य-बक०  
 बख० अ० उ० । ८. पदा-अ० उ० । ९. परम-बक० बख० अ० उ० । १०. ब्रह्मचारीनां-म० ।  
 ११. तज्ज-अ० । १२. प्रवेश-अ० । १३. ष्ठापनं-अ० । १४. तत्पदा-अ० ।

आक्रम्य देवभागं च देव आराध्यते यदि ।  
 भवन्ति बहवो विघ्ना वर्जनीयः स्वतस्तु सः ॥ १८४ ॥

शुभेन भद्रपीठेन दैवीयेनाथ लाङ्गलिन् ।  
 चातुरात्म्यप्रतिष्ठायां शिलाख्यं मध्यमं पदम् ॥ १८५ ॥

गर्भमध्यपदस्योर्ध्वे योजनीयं ग्रयत्नतः ।  
 अतोऽन्वितांशमेकं तु त्यक्त्वा वै पृष्ठदेशतः ॥ १८६ ॥

शिलापैदद्वयस्यान्ते योजनीया महामते ।  
 अग्रदेशोऽर्थे विम्बस्य वेदिभगद्योपरि ॥ १८७ ॥

चतुरश्रायतस्यैतत् पीठस्य स्थापने हितम् ।  
 एवं हि चतुरश्रस्य विधानं किन्तु लाङ्गलिन् ॥ १८८ ॥

संचार्या त्वग्रतो वेदिर्नित्यमाराधनार्थतः ।  
 पीठोपर्यथवा देवं यस्त्वाराधयते सदा ॥ १८९ ॥

निवेशनीर्या वै तेन मध्यदेशेन सा शिला ।  
 एवमाराधनवशात् तथा फलवशात् तु वै ॥ १९० ॥

सपीठानां च विम्बानां कार्यं सम्यडु निवेशनम् ।  
 देवमानुषभागाच्च ऐहिकामुष्मिकं भवेत् ॥ १९१ ॥

विबुधब्रह्मभागाच्च ऐहिकं तु गुणाष्टकम् ।  
 अपवर्गे तु सामान्यमकामानामयं विधिः ॥ १९२ ॥

पदेषु चातुरात्म्यप्रतिष्ठादीनां वर्ज्यविज्यविवेचनम्, तत्तत्कलभेदांश्चाह—सार्ध्यपुष्पा-क्षतकर इत्यारभ्य अकामानामयं विधिरित्यन्तम् । गुणाष्टकम् अपहृतपाप्मत्वादिकम्, मोक्ष इति यावत् ॥ १७९-१९२ ॥

१. यास्त-मु० अटी० । २. देवी-बक० बख० । ३. मध्य-बक० बख०, प्रविशेत्ततः-अ० ।  
 ४. पाद-अ० उ० । ५. शास्य-अ० । ६. चार्य-अ० उ० । ७. दिनित्य-अ० उ० ।  
 ८. नीयो-बक० बख० उ० । ९. सैहिकं-म० उ० ।

भिन्नेऽपेक्षावशान्मध्ये संति भूयः समाचरेत् ।  
 गौलितेऽस्त्राम्बुना लिप्ते हृदा वै चन्दनादिना ॥ १९३ ॥  
 श्वभ्रेऽथ घटस्त्रानां मन्त्राणां च निरोधनम् ।  
 पूर्वोक्तेन विधानेन धिया स्वे स्वेऽयनै तथा ॥ १९४ ॥  
 कृत्वाऽर्चनं यथोहिष्टं पूर्णान्तं तत्र विन्यसेत् ।  
 बाहुल्येन तु षट्पञ्चतुर्गोलकसंमिताम् ॥ १९५ ॥  
 पीठाद् विनिर्गतां किञ्चिद् भूतये सुस्थिरां शिलाम् ।  
 ग्रस्तां पीठेन मुक्त्यर्थं नवरन्धकृतां पुरा ॥ १९६ ॥  
 सुमन्त्रेण तु तत्रापि प्रतिष्ठाऽसीति पाठयेत् ।  
 प्रागादौ प्राभवेणाथ पञ्चकं पञ्चकं न्यसेत् ॥ १९७ ॥  
 शिलावटेषु द्रव्याणां तंत्र वज्रं च हाटकम् ।  
 हरितालमुशीरं च व्रीहयो दक्षिणे त्वथ ॥ १९८ ॥  
 'इन्द्रनीलमयश्चैव कांसीसं चन्दनं तिलाः ।  
 मुक्ताफलं च रजतं पारदं चाप्यदिक् ततः ॥ १९९ ॥  
 सहोशीराश्च वै मुद्राः पद्मरागमथोन्तरे ।  
 कांस्यं सराजपाषाणं राजेन्द्रं चणकैः सह ॥ २०० ॥  
 'विशङ्कं विन्यसेन्मध्ये पूर्वमेव ततो वहिः ।  
 विदिक्षवप्ययोगेन एवमन्यत् पृथक् पृथक् ॥ २०१ ॥

अथ प्रक्षालनचन्दनोल्लेपनैदिसंस्कृते तस्मिन् श्वभ्रे पूर्वं प्रासादनिर्माणकाले नवकुम्भेषु संनिरुद्धानां देवानां <sup>१३</sup>बुद्ध्यादिनिश्चिते तत्तत्स्थाने पुनः संनिरोधनम्, यथाविधग्निसंतर्पणान्तमर्चनम्, तत्र यथोक्तलक्षणरतन्यासशिलाप्रतिष्ठाम्, प्रतिष्ठासीति मन्त्रपाठनं चाह—भिन्न इति सार्वेश्चतुर्भिः । बाहुल्येन तु षट्पञ्चतुर्गोलकसंमितां द्वादशाङ्कुलं दशाङ्कुलमष्टाङ्कुलं वा धनामित्यर्थः ॥ १९३-१९७ ॥

अथ तदगतेषु रत्नादिन्यासप्रकारमाह—प्रागादौ प्राभवेणाथेत्यारभ्य

१. भिन्ने पक्षे—बख० । २. स हि—बक० बख० । ३. क्षालिते—बक० बख० ।
४. श्वभ्रे यो—बक०, श्वभ्रेऽधो पद—अ० । ५. स्वे धने—बक०, स्वे यते—अ० । ६. पूर्व—बक० ।
७. भूतले—बक० बख० अ० । ८. स्व—अ० उ० । ९. तदधस्थं—अ० । १०. पड्किससकमेतन्न दृश्यते—मु० अटी० । ११. विश्वकं—बक०, विशकं—अ० उ० । १२. लेखनादि—अ० ।
१३. बुद्ध्या विनि—अ० ।

लोहं वैद्यर्यपूर्वं तु चक्राङ्कं चाग्रकं त्वथैः ।  
षाष्टिंकास्त्वीशदिग्वायवोः पुण्यरागो हरीतैवी ॥ २०२ ॥

१८३ गैरिका शारिकाऽन्नैव मधूरान्यथ यातुदिक् ।  
महानीलं च वङ्गं तु तथा पाषाणमाक्षिकम् ॥ २०३ ॥

यवाः सगरुकाश्चापि व्यानेयाः स्फाटिकं तथा ।  
ताम्रं मनःशिला चैव गोधूमाः शङ्खपुष्पिका ॥ २०४ ॥

मध्ये सर्वाणि तदनु ततो गर्तगणं तु तत् ।  
लेपैराच्छादितं कृत्वा साङ्कं मन्त्रं पदे पदे ॥ २०५ ॥

पूजयित्वा यजुर्वेदान् चमैषट्कांश्च पाठयेत् ।  
तदूर्ध्वे विन्यसेत् पीठं तच्छ्रवश्च विनिवेश्य च ॥ २०६ ॥

अष्टलोहमयं चक्रं तदूर्ध्वे तु महामते ।  
द्वादशाख्याद् विशेषोत्थादाधारो यस्य यः स्वकः ॥ २०७ ॥

चमैषट्कांश्च पाठयेदित्यन्तम् ॥ १९७-२०६ ॥

तदूर्ध्वे पीठस्थापनं तदगर्ते चक्रादिस्थापनं चाह—तदूर्ध्वे विन्यसेत्पीठमित्यारभ्य-  
कार्या दर्भोदकक्रियेत्यन्तम् । द्वादशाख्याद् विशेषोऽत्थादाधारो यस्य यः स्वकः । विभव  
देवेष्वनन्तादिद्विषट्कस्य कूर्मस्त्वाधारः । मीनादिद्विषट्कस्य मीनस्त्वाधार इत्यर्थः ।  
चतुरात्मनि चातुरात्म्यप्रक्रियायामेतत् पञ्चकं चक्रा(न)न्तकूर्ममीनपद्मपञ्चकमित्यर्थः ।  
एवं चानन्तकूर्ममीनव्यतिरिक्तविभवदेवानां प्रतिष्ठायां पीठगर्ते प्रथमं चक्रम्, तदुपरि  
तत्तद्विषट्काधारमनन्तकूर्ममीनेष्वन्यतमस्, तदुपरि पद्ममेतत् त्रयमेवं न्यसेदिति  
फलितोर्थः । चक्रस्य प्रतिष्ठायां तदधः पीठगर्तेनन्तं तस्यानन्तस्याधस्तान्मीनन्तकूर्ममी-  
मीनस्याधस्तात् कूर्मनन्तौ तस्य कूर्मस्याधस्तान्मीनानन्तौ च न्यसेत् । सर्वस्य चक्रादीनां

१. तथा-अ० । २. कं त्वी-उ० । ३. तिका-वक० वख० अ० उ० ।  
४. पङ्किचतुष्ट्यमेतन्न दृश्यते-मु० अटी० । ५. वषट्कारांश्च-वक० वख० उ० ।  
६. ‘चमैषट्कांश्च’...मित्यारभ्य’ नास्ति-अ० । ७. पोऽर्थः-अ० । ८. मेवं-म० ।

हैमं तदध्वे कमलं तज्जं वा ताप्रमेव वा ।  
 यथाक्रौमस्थितं हेतत् पञ्चकं चतुरात्मनि ॥ २०८ ॥  
 न्यसेदनन्तं चक्रस्य मीनकूमौ कूत्स्य च ।  
 कूर्मानन्तौ तु मीनस्य मीनानन्तौ तु तस्य च ॥ २०९ ॥  
 सर्वस्य विहितं पद्मं तस्यानन्तं तु विन्यसेत् ।  
 मण्टपे तु खगेशस्य चक्रं स्थापनकर्मणि ॥ २१० ॥  
 न्यस्य पूर्णान्तिकं कृत्वा कर्मण्यत्र च तर्पणम् ।  
 सह मूर्तिधरैः प्राग्वत् कार्या दर्भोदकक्रिया ॥ २११ ॥  
 ततः प्रबोधयेद् देवमर्चयित्वा इदं पठेत् ।  
 मन्त्रात्मन् रूपमात्मीयमाग्नेयमुपसंहर ॥ २१२ ॥  
 समाश्रयस्व सौम्यत्वं स्थित्यर्थं परमेश्वर ।  
 नमस्तेऽस्तु हृषीकेश उत्तिष्ठ परमेश्वर ॥ २१३ ॥  
 मदनुग्रहहेत्वर्थं पीठभूमि समाश्रय ।  
 उद्घाष्य हृदयेनाथ त्यक्तनिद्रं तु मन्त्रराट् ॥ २१४ ॥  
 उत्थाप्य मूर्तिमन्त्रेण सह मूर्तिधरैर्वलात् ।  
 तोरणेन च निष्क्रम्य प्रदक्षिणचतुष्टयम् ॥ २१५ ॥

सर्वेषामपि पद्मं च विहितम् । तस्य पद्मस्य प्रतिष्ठायां तु तदधोऽनन्तं न्यसेत् । मण्टपे तु खगेशस्य स्थापनकर्मणि चक्रं न्यसेदिति चोक्तं भवति । पूर्णान्तिकं तर्पणं कृत्वेत्यत्र चक्रादिमन्त्रैरिति ज्ञेयम् । दर्भोदकक्रिया चात्र गर्भंगोहादिप्रोक्षणार्थमिति ज्ञायते ॥  
 २०६-२११ ॥

ततः प्राप्ते लग्ने भगवत्प्रबोधनमर्चनम्, मन्त्रात्मन्तित्यादिविज्ञापनम्, त्यक्तनिद्रस्य भगवतः समुद्धरणम्, ऋत्विर्ग्निः सँह समुथापनम्, तोरणद्वारेण बहिर्निष्क्रमणम्, मन्दिरप्रदक्षिणाचतुष्टयम्, प्रासादद्वारे पादाद्यभ्यर्चनम्, अन्तःप्रवेशनम्, चतुश्वक्रेत्यादिमन्त्रपाठनम्, दुकूलेन पादाम्बुरुहनालवेष्टनम्, पीठमध्ये बिम्बस्थापनम्, प्रतिष्ठालिङ्गमन्त्रपाठनं चाह—ततः प्रबोधयेद् देवमित्यारभ्य द्वौ मन्त्रौ पाठयेत् क्रमादि-

१. क्रमं-बक० बख० उ० । २. न्तच-बक० बख० अ० उ० । ३. तु तस्य वै-बक० बख० अ० उ० । ४. पङ्किरेषा न दृश्यते-मु० अटी०, अ० पुस्तके च न्यस्येति पङ्कत्युत्तरं स्थापिता । ५. मण्टपे-बख० उ० । ६. पूर्वा-मु० अटी० बक० बख० । ७. सङ्ग-अ० ।

कुर्यात् प्रापादपीठस्य द्वाराग्रे सन्निरोध्य च ।  
 पाद्याध्याचमनं दत्त्वा हृन्मन्त्रेण प्रवेशयेत् ॥ २१६ ॥  
 शाखाद्यमस्पृशन्तं च पाठयेत् तद्विदस्ततः ।  
 चतुश्चक्रेति तदनु पुरमेकादशेति यत् ॥ २१७ ॥  
 वर्माभिमन्त्रितेनाथ दुकूलेन सितेन च ।  
 पादाम्बुरुहनालं प्राक् शिखामन्त्रेण वेष्टयेत् ॥ २१८ ॥  
 अग्नीषोमौ समीकृत्य प्रणवाद्यन्तगेन तु ।  
 निवेश्य मूलमन्त्रेण वामतो मारुतं त्यजेत् ॥ २१९ ॥  
 प्रतिष्ठालिङ्गशब्दौ तु द्वौ मन्त्रौ पाठयेत् क्रमात् ।  
 शान्तं ब्रह्मयं रूपं स्वकं समवलम्ब्य च ॥ २२० ॥  
 यतो हितार्थं सर्वेषां निर्गतः षड्गुणात्मना ।  
 अतो ब्रह्मपदादीषद् देवभागे सँमानयेत् ॥ २२१ ॥

त्यन्तम् । अग्नीषोमौ समीकृत्य श्वासं (गु?कु)म्भीकृत्येत्यर्थः । एवमेव व्याख्यातं पारमेश्वर-व्याख्यानेऽपि । वामतो मरुतं त्यजेद् वामनासिकया श्वासं विसृजेदित्यर्थः । प्रतिष्ठालिङ्गशब्दौ द्वौ मन्त्रौ ऋग्वेदसामवेदोक्तौ प्रतिष्ठासीत्यादिमन्त्रावित्यर्थः । अथवा प्रतिष्ठासीति साम, ध्रुवाद्यैरिति यजुरिति पारमेश्वरव्याख्यानोक्तौ ॥ २१२-२२० ॥

ब्रह्मपदस्थापितस्यापि देवस्य किञ्चिद् दिव्यभागानयने युक्तिमाह—शान्तमिति द्वाभ्याम् । दिव्यभागानयनं च वामभाग इति बोध्यम् । तथा च पारमेश्वरे—

यत्रापि केवले ब्राह्मे स्थापनं सँमुदीरितम् ।

तत्रापि वामतः किञ्चिद् द्रव्यभागं समाश्रयेत् ॥ (१५।७९९) इति ।

अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—“शान्तं ब्रह्मयं रूपमित्यनेन आवाहयामीत्युक्तार्थः स्मारितैः, पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्, ‘अग्निहोत्रं जुहोति’ (तै० सं० १५।९।१) “यवागूं पचति” इतिवत्, सन्ध्यास्नानमितिवच्च” इति लिखितम् । अत्रावाहयामीत्यर्थ-स्मरणस्य न किञ्चिदर्थपि प्रवृत्तत्वं दृश्यते । किञ्च, पूर्वं तदर्थविरोधे पाठक्रमादर्थ-क्रमोऽनुसरणीयः । विरोध एव न दृश्यते ।

ननु तदा बिम्बस्थापनात् पूर्वमेव स्नपनकाले आवाहनं विरुद्धमिति चेन्न, तैदानीं भगवदावाहनं विना केवलबिम्बेऽभ्यर्चनोत्सवशयनाधिवासमन्त्रन्यासपरमान्न-

१. प्रतिष्ठ-बख० उ० । २. च-मु० अटी० । ३. सुपाठयेत्-अ० । ४. समुदीरितम्—‘आवाहयामीत्युक्तार्थः’ नास्ति-अ० । ५. स्मारितम्-अ० । ६. ‘तदानो’ नास्ति-अ० ।

मोक्षादिकलसिद्धीनां प्राप्तये व्यविचारतः ।  
 करस्थमथ मोक्तव्यं कौतुकं हृदयेन तु ॥ २२२ ॥  
 सर्वाङ्गमध्यमन्त्रेण दत्त्वा मूलमनुस्मरेत् ।  
 हृदास्त्रपरिजप्तेन वज्रलेपेन वै ततः ॥ २२३ ॥  
 विम्बपीठशिलानां तु एकत्वेनाचरेत् स्थितिम् ।  
 मूलमन्त्रं ततो ध्यात्वा संशान्तं ब्रह्मलक्षणम् ॥ २२४ ॥

निवेदनादिकस्यात्यन्तविश्वत्वात् । किञ्च, विम्बस्थापनात् पूर्वमावाह्नं विश्वदं मन्वानेन भवता कथमष्टवन्धनात् पूर्वमावाहनमविश्वं गृह्णते ? अपि च, शान्तं ब्रह्ममयं रूपमित्यत्र शान्तं शान्तोदितावस्थापन्नं ब्रह्ममयं स्वकं रूपमवलम्ब्य आश्रित्य सर्वेषां हितार्थं षड्गुणात्मना यतो भगवान् निर्गतः, ततो ब्रह्मस्थानोदीषद् देवं बहिर्निर्गमयेदित्यर्थेऽपदेशप्रकरणे आवाहनस्मरणं कर्तुं कथं शक्यते ? किं बहुना ॥ २२०-२२२ ॥

अथ रक्षासूत्रविसर्जनकार्यसमर्पणपूर्वकमष्टवन्धनलेपनमाह—करस्थमिति द्वाभ्याम् । अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—अत्र पाद्मादिज्जिव प्रतिकर्म कौतुकबन्धनप्रसङ्गाभावात् कथं मोक्तव्यमित्युक्तमिति चेत्, प्रतिकर्म तदभावे जलाधिवाससमये पूर्ववत् कौतुकं बद्धवेति प्रसङ्गोत्सर्वेति शङ्का परिहृता । एवं शङ्का पारमेश्वरव्याख्यातुरेव जाता, न ह्यन्यस्य जायते,

तमर्थ्येणार्चयित्वा च ततस्तन्मन्त्रितान् करे ।  
 सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु बद्धवाग्रे पाठयेदृचम् ॥  
 रक्षोहणं तथा सर्वान् नयेत् प्रतिसर्वे मणीन् । ( २५।४९-५० )

इति पूर्वमेव कौतुकप्रसङ्गात् ।

नन्वस्य कौतुकत्वं न संभवति, जलाधिवाससमये “पूर्ववत् कौतुकं बद्धवा” ( ई० सं० १८।९९; पा० सं० १५।२२५ ) इत्यत्रोक्तस्यैव कौतुकत्वमिति चेत्, तथा न भ्रमितव्यम् । “करस्थमथ मोक्तव्यं कौतुकं हृदयेन तु” ( २५।२२२ ) इति वाक्यं सात्वतोक्तम् । तत्र जलाधिवासस्यैवानुकृतत्वात् “पूर्ववत् कौतुकं बद्धवा” इति वाक्यमेव नास्ति । अतः—“तमर्थ्येणार्चयित्वा” ( २५।४९ ) इत्यादिप्रतिपादितस्य प्रतिसरबन्धस्यैव विसर्जनं चेति पूर्वपर्यालोचनया स्वस्थो भव ॥ २२२-२२४ ॥

१. इतः परम्—‘इति सामान्यसन्धानं प्राक् कृत्वा तद्विशेष्य(शोष्य) च’ इत्यधिकः पाठो दृश्यते—मु० अटी० । भाष्यकारेणाऽव्याख्यातत्वादनुपदमेव पद्मक्त्रेरस्या विद्यमानत्वाच्च द्विरक्तिमात्रमेतत् । २. हृद—बक० अ० उ० । ३. सुशान्त—मु० अटी० बक० । ४. हनेन—अ० ५. नामी—अ० । ६. लेपमा—म० । ७. त्सेवेति—म० । ८. सरो—म० ।

आधारादिध्वजाग्रान्तं व्याप्तं तेनाखिलं स्मरेत् ।  
 इति सामान्यसन्धानं प्राक् कृत्वा तद्विशिष्यते ॥ २२५ ॥  
 स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन स्थूलं पोढा शिलान्तगम् ।  
 पिण्डिकायां तथा सूक्ष्मं तत्परं विम्बविग्रहे ॥ २२६ ॥  
 विन्यासं पीठमलेऽथ देवतानां समाचरेत् ।  
 भवोपकरणीयानां पीठोर्ध्वे त्वथ तद्विना ॥ २२७ ॥  
 न्यसेद् विभवदेवांस्तु उपर्युपरि पूर्ववत् ।  
 घटोद्देशात् समारभ्य परमचार्गतं ततः ॥ २२८ ॥  
 एवं हि सर्वदेवानां सन्निवेशवशात् तु वै ।  
 चिन्तामणिमयो न्यासः कृतो भवति सिद्धिदः ॥ २२९ ॥

अथ मूलमन्त्रस्याधारादिप्रासादोर्ध्वस्थितध्वजाग्रान्तं व्याप्तिस्मरणरूपं सामान्य-  
 सन्धानं पुनस्तस्यैव मन्त्रस्य हृदादिभेदैः पोढा स्थूलरूपेण ब्रह्मशिलायाम्, सूक्ष्मरूपेण पीठे,  
 पररूपेण विम्बे च विशेषतः सन्धानं चाह—मूलमन्त्रमिति सार्धद्वाभ्याम् । प्रासादग्रे  
 ध्वजेसंस्थितिं वक्ष्यति हि—

त्रिधांशेन शिखाद्युच्चं खगराटपरिभूषितम् ।

संस्कृत्य ध्वजदण्डं च शिखामन्त्रेण विन्यसेत् ॥ (२५।२८४) इति ।

अत एवेश्वरपारमेश्वरयोरप्युत्सवाध्याये—“प्रासादस्य शिखाग्रे तु स्थापितः  
 खगराद्धध्वजः” (ई० सं० १०।११ : पा० सं० १६।३७) इति प्रतिपादितम् ॥ २२४-२२६॥

अथ देवतान्यासमाहौ—विन्यासमिति त्रिभिः । पीठमूले पीठस्याधः, पिण्डिको-  
 परीति यावत् । भवोपकरणीयानां देवतानां कालादिवसुधान्तानां पूर्वोक्तानामित्यर्थः ।  
 तद्विना विभवदेवान् न्यसेत् । पातालशयनादिपद्मनाभान्तविभवदेवेषु प्रतिष्ठेयम् । देवं  
 विनाझ्यान् सर्वान् न्यसेदित्यर्थः । तथा च व्यक्तमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

पीठोर्ध्वे तु मुनिश्रेष्ठाः प्रतिष्ठेयं विनैव तु ।

न्यसेद् विभवदेवांस्तु ह्युपर्युपरि पूर्ववत् ॥ इति ।

( ई० सं० १८।४१५; पा० सं० १५।८२६ )

पारमेश्वरव्याख्याने एतदभिप्रायमबुद्ध्वा “प्रतिष्ठेयं प्रतिष्ठायोग्यं बिम्बं विना  
 मन्त्रेण न्यसेदित्यर्थः” इति लिखितम् । घटोद्देशात् समारभ्य पूर्वं प्रासादमध्ये स्थापित-

१. आ चाधाराद् ध्वजाक्रान्तं—मु० अटी०, आ चाधार—अ० उ० । २. शेष्यते—मु०  
 अटी० । ३. कम्—अटी० अ० । ४. मार्ची—बक० बख० । ५. जस्थ—अ० । ६. न्यासः—अ० ।  
 ७. मुक्तं पा रमेश्वरेश्वरयोः—अ० । ८. श्रेष्ठ—पा० ।

अथ मण्टपमध्ये तु देवदेवस्य सम्मुखम् ।  
 स्थितेऽपि तनुहूतीश्च स्थापनीयश्च पक्षिराट् ॥ २३० ॥  
 स्नातोऽनुलिप्तो मन्त्रेण स्वेन यैः संस्कृतः पुरा ।  
 ज्ञशक्त्या सह विम्बेन यस्माद् भिन्नेषु वस्तुषु ॥ २३१ ॥  
 विम्बसन्निकटस्थेषु अथवाऽन्यत्र लाङ्गलिन् ।  
 तत्कालमङ्गभावत्वं व्रजमानेषु सर्वथां ॥ २३२ ॥  
 हवनान्तं च निःशेषं ध्यानार्चनपुरस्सरम् ।  
 स्वयमेवानुरूपेण कर्मसामान्यतां त्यजेत् ॥ २३३ ॥  
 तस्मात् तद्यागभवनादुत्थाप्यादाय विम्बवत् ।  
 देवं प्रदक्षिणीकृत्य प्राग्वत् संस्थापनावनौ ॥ २३४ ॥  
 एकस्मिन् मध्यरन्त्रे तु वज्राद्यं पञ्चकं न्यसेत् ।  
 एक एव तदूर्ध्वेऽथ आधारो य उदीरितः ॥ २३५ ॥  
 प्राग्वन्निवेशनीयं च तत्पीठोर्ध्वे तु भौवनम् ।

कुम्भादारभ्य, उपर्युपरि पीठोर्ध्वान्तं पातालशयनादिपद्मनाभान्तकमेण न्यास इति  
 ज्ञेयम् ॥ २२७-२२९ ॥

अथाग्रमण्टपमध्ये विहगेशप्रतिष्ठाविधानमाह—अथ मण्टपमध्ये त्वित्यारभ्य  
 सुपर्णोऽसीति मन्त्राराडित्यन्तम् । स्नातो यथाविधि सिद्धार्थोदकादिभिर्बृहत्स्नपनेन च  
 स्नापित इत्यर्थः । अनुलिप्तश्चन्दनाद्यलङ्कृत इत्यर्थः । यद्वा स्वेन मन्त्रेणानुलिप्तो  
 मन्त्रन्यासादिभिः परिष्कृत इत्यर्थः । संस्कृतोऽन्यैश्च नयनोन्मीलनशयनाधिवासादि-  
 संस्कारैः संस्कृत इत्यर्थः । विम्बेन सह प्रधानभगवद्विम्बेन सहेत्यर्थः । ज्ञशक्त्या ज्ञान-  
 शक्त्योत्तमकृत्वेन संस्कृत इत्यत्रैवान्वयः । उक्तं खल्वस्य ज्ञानशक्त्यात्मकत्वमीश्वर-  
 पारमेश्वरयोः—

विष्णोः संकर्षणाखणस्य विज्ञानबलशालिनः ॥  
 मूर्तिज्ञानस्वरूपा या सर्वाधारस्वरूपिणी ।  
 महिमेति जगद्वातुर्विज्ञयोऽ विहगेश्वरः ॥ इति ।

( ई० सं० ८३-४; पा० सं० ८३-४ )

१. मण्टप—बक० बख० अ० उ० । २. शात्—अ० । ३. यसंस्कृतं—बख० ।  
 ४. विम्बेषु—बक० । ५. सर्वदा—बक० उ० । ६. व्रजेत्—बख० अ० उ० । ७. यश्च—अ० उ० ।  
 ८. धर्मस्तु भावनाः—मु० अटी०, तत्पीठे धातुभौवनः—अ० उ० । ९. स्नाप—अ० ।  
 १०. ज्ञेये विहगेश्वरे—अ० ।

भावनीयं शरीरे च शेषं विज्ञप्तिलक्षणम् ॥ २३६ ॥  
 पाठ्येद् ब्राह्मणांस्तद्वत् सुपर्णोऽसीति मन्त्रराट् ।  
 तमेवास्त्रार्चितं कृत्वा यायाद् देवनिकेतनम् ॥ २३७ ॥  
 कलशैः पृष्ठभागस्थैः स्नापनीयस्ततो विभुः ।  
 सह मूर्तिधरैः सर्वैर्यथा चानुक्रमेण तु ॥ २३८ ॥  
 संहाघमर्षणैव गायत्र्यावैर्तितेन तु ।  
 प्रागृद्भयस्तु तदनु चतुर्थावैर्तितैः स्वयम् ॥ २३९ ॥  
 हृदाद्यावैर्तितैः षड्भिर्यजुङ्गस्तेन सेचयेत् ।  
 भूयः स्वयं तथा कुम्भैः सामवित् स्नापयेत् ततः ॥ २४० ॥  
 षड्भिरन्यैः स्वयं पश्चात् तेनैवाथर्ववित् ततः ।  
 पवित्रावैर्तितैरेवं<sup>९</sup> कलशैरन्तर्रान्तरम् ॥ २४१ ॥  
 सह चैकायनीयैस्तु स्नापनीयमनन्तरम् ।  
 चतुर्मूर्तिमर्यैर्मन्त्रैर्बहुशः परिभावितैः ॥ २४२ ॥

यस्मादित्यादिना प्रधानबिम्बादिना सहैव गरुडादिसमस्तपरिवाराङ्गबिम्बादीनामपि सामान्यतस्तत्तदनुरूपस्तपनार्चनसन्तर्पणादिसंस्काराः कार्या इत्युक्तं भवति । आधारो<sup>१०</sup> य उदीरितः ‘‘मण्टपे तु खगेशस्य चक्रस्थापनकर्मणि’’ (२५।२१०) इति प्रतिपादितः । भौवनं भुवनाध्वानम् । शेषम् अवशिष्टपदाध्वादिपञ्चकमित्यर्थः ॥ २३०—२३७ ॥

अथैवं प्रतिष्ठितस्य गरुडस्यार्चनं कृत्वा गर्भगेहान्तः प्रविश्य पूर्वं स्नपनमण्टपे पृष्ठभागे स्थापितैश्चत्वारिंशत्कलशैर्देवमभिषेचयेदित्याह—तमिति सार्धेन ॥ २३७—२३८ ॥

अभिषकप्रकारमाह—संहाघमर्षणैवेत्यारभ्य जितन्त इति वै<sup>११</sup> सर्वैरित्यन्तम् । यजुर्जस्तेन सेचयेदित्यत्र तेनाघमर्षणसूक्तगायत्रीभ्यामभिमन्त्रितैनैकेन कलशैनेत्यर्थः । भूयः स्वयं तथा कुम्भैरित्यत्रापि कुम्भैः पूर्ववद् हृदाद्यभिमन्त्रितैः षड्भिः कलशैरित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पवित्रावैर्तितैः कलशैर्वतुर्भिरित्यर्थः, ‘‘ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं मन्त्राणां प्राक् चतुष्टयम्’’ (२४।२९०) इति पूर्वोक्त्वात् । अन्तरान्तरा वासुदेवादिमूर्तिमन्त्रकलशाभिषेकस्य मध्ये मध्ये इत्यर्थः । स्नापयेत् कलशोनाथेत्यत्रापि पवित्रमन्त्र

१. सदा—मु० अटी० । २. वर्जि—अ० उ० । ३. धा वर्धितैः—अ० । ४. ज्ञ—अ०, ज्ञेयो न—उ० । ५. त्तमः—बक० बख० उ० । ६. वर्जितै—मु० अटी० अ० उ० । ७. रेव—बक० बख० उ० । ८. रा सह—बक० बख० अ० उ० । ९. स्नप—मु० अटी० बक० । १०. रोऽथ—म०, रोऽध—अ० । ११. सदा—अ० । १२. सर्वानिति मूलस्थः सार्वत्रिकः पाठः, सर्वे इ—अ० ।

स्नापयेत् कलशेनाथ शेषमादाय वै घटम् ।  
 तच्छतावर्तिं कृत्वा समूलेनाद्य मूर्तिना ॥ २४३ ॥  
 सौर्यं वै देवदेवस्य मूर्धिं चोक्तीर्य पाठयेत् ।  
 जितन्त इति वै सर्वास्ततश्चास्त्रोदकेन च ॥ २४४ ॥  
 प्रापादं शोधयित्वा च स्नानवर्जं समाचरेत् ।  
 पूर्वोक्तमासनाद्यं यद् यागदानावसानिकम् ॥ २४५ ॥  
 सदक्षिणं विशेषेण गुरौ मूर्तिधरेषु च ।  
 देवं प्रणम्य विज्ञाप्य कर्मणा मनसा गिरा ॥ २४६ ॥  
 त्वमर्चान्तर्गतो देव मया यच्छ्रूयनादिषु ।  
 नीतोऽसि चाभिमुख्यं तु क्षन्तव्यं तन्ममाच्युत ॥ २४७ ॥  
 एवं प्रणम्य विज्ञाप्य भान्त्वा निष्क्रम्य संगुखम् ।  
 आचम्य च बलिं दत्त्वा यायाद् देवगृहं ततः ॥ २४८ ॥  
 तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा स्नानान्तैः पूर्ववत् प्रभुम् ।  
 अपनीताम्बरैः कुम्हैर्धान्यपीठोपरि स्थितैः ॥ २४९ ॥

एव बोध्यः । समूलेन मूलमन्त्रसहितेन, आद्यमूर्तिना परमन्त्रेणेत्यर्थः । तस्यादिमूर्ति-विषयकत्वात् तथैव व्यवहृतः ॥२३९-२४४॥

अथ प्रापादसंशोधनम्, स्नपनं विनाऽसनादिभिर्हर्विर्निवेदनान्तैभर्गीर्यथा-विध्यभ्यर्चनम्, कारिप्रदानम्, आचार्यादीनां दक्षिणादानम्, प्रणामम्, विज्ञापनम्, पुनः प्रणामादिकम्, “गुरुदेवग्निविप्रेषु पृष्ठभागं न दर्शयेत्” इत्युक्तप्रकारेण भगवदभिमुखमेव बहिर्निष्क्रमणम्, द्वारावरणदेवानां यथाविधि बलिदानम्, आचमनम्, पुनर्भर्गवन्मन्दिरप्रवेशनं चाह—र्ततश्चास्त्रोदकेन चेत्यारभ्य यायाद् देवगृहं तत इत्यन्तम् ॥ २४४-२४८ ॥

अथ चतुर्थेऽहनि कर्तव्याराधनस्नपनालङ्कारहर्विर्निवेदनाद्यग्निसंतर्पणपूणिर्हुति-बलिदानमहाकुम्भादिविसर्जनान्याचार्यादीनां भूषणप्रदानानि चाह—तत्रासनादिकर्यष्ट्वेत्यादिभिः । अत्र चतुर्थेऽहनीति कण्ठरवेणानुकावप्यर्थपर्यालोचनया तज्ज्ञायते, अन्यथा बल्यन्तमाराधनमुक्त्वा पुनस्तदानीमेवार्चनस्नपनाद्युक्त्यसंभवात् । नन्वत्र—

आचम्य च बलिं दत्त्वा यायाद् देवगृहं ततः ॥

तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा स्नानान्तैः पूर्ववत् प्रभुम् । (२५।२४८-२४९)

१. साध्य—अ० । २. नकम्—बक० बख० उ० । ३. गुरोमूर्ति—मु० अटी० बक० बख० अ० । ४. ष्वथ—मु० अटी० । ५. संजप्य—बक०, विज्ञाप्य—अ० । ६. यच्चानला—बक० वख०, यमर्चनादिषु—अ० उ० । ७. रिष्ट्वा—मु० अटी० बक० बख० अ० । ८. ततः शास्त्रो—अ० ।

हृन्मन्त्रपूजितैर्भूयः सलिलेन सुपूरितैः ।  
 सह मूर्तिधरैः ग्राग्वदन्तरान्तरयोगतः ॥ २६० ॥  
 कार्यं वै स्नानकमाईथं विधिदृष्टेन कर्मणा ।  
 निरोदैकेऽथ ग्रासादे पुनराराध्य पूर्ववत् ॥ २६१ ॥  
 भोगैरासनपूर्वस्तु सम्प्रदानान्तमच्युतम् ।  
 मुद्रां वदूध्वा जपेन्मन्त्रं स्तुत्वा क्षान्त्वा बहिर्वर्जेत् ॥ २६२ ॥  
 शतं सहस्रं साष्टं वा जुहुयान्मन्त्रराद् स्वयम् ।  
 साङ्गं सपरिवारं च संहितोच्चारयुक्तिः ॥ २६३ ॥  
 मूर्तिपैः प्रणवाद्याभिर्गायत्रीभिः शतं शतम् ।  
 एकायनैरभिज्ञाभिः स्वकीयाभिस्तु तत्समम् ॥ २६४ ॥  
 प्रदापयेत् ततः पूर्णामृग्वेदाद्यांस्तु मूर्तिपान् ।  
 एकायनांस्तदन्ते तु क्रमात् तान् पाठयेत् ततः ॥ २६५ ॥  
 पूर्णत्पूर्णेति वै मन्त्रमाद्यात् पूर्णमसीति यत् ।  
 सनमस्केन मन्त्रेण स्वयं साङ्गेन निक्षिपेत् ॥ २६६ ॥  
 बलिभिस्तु ततः सर्वान् भूतपूर्वस्तु तर्पयेत् ।  
 प्रविश्याचम्य तदनु क्षान्त्वा देवं तु लुम्भगम् ॥ २६७ ॥  
 पूर्ववन्मण्डलस्थं तु कुण्डस्थं तदनन्तरम् ।  
 भूषयेद् गुरुपूर्वस्तु भूषणैः कटकादिकैः ॥ २६८ ॥

इत्यव्यवधानेन प्रतिपादितस्य चतुर्थेऽहनि कर्तव्यपरत्वं वक्तुं कथं शक्यते, अतो माध्याह्निकाचनादिपरत्वं वक्तव्यमिति चेत्, किमावयोर्विवादेन। तस्य चतुर्थेऽहनि कर्तव्यपरत्वं तदुपबृह्णयोरीश्वरपारमेश्वरयोरेव निर्णीतं पश्यतु भवान्। अपनीताम्बरैः कुम्भैः पूर्वं स्नानमण्टपे दक्षिणभागे स्थापितैश्चत्वारिंशत्कलशैरित्यर्थः। भूयः सलिलेन सुपूरितैः पूर्वं पूरिते जले किञ्चित् शोषिते सति पुनः समां पूरितैरित्यर्थः। प्राग्वत्

१. वा—मु० अटी० । २. मर्थ—अ० । ३. धके—अ० । ४. यत्नतः—अटी० ।  
 ५. मूर्तीयैः—मु० अटी० । ६. न्नतः—अ० उ० । ७. द्यास्तु मूर्तिपाः—बक० बख० ।  
 ८. मूर्तीयान्—बक० बख०, मूर्तिपान्—अ० उ० । ९. ईश्वरे (१८।४६७), पारमेश्वरे (१५।८८८) च विपयोऽयं द्रष्टव्यः ।

गुरोर्वा गुरुपुत्रस्य यागद्रव्यं निवेदयेत् ।  
 विम्बमेकायनौन्तं तु सर्वसाधनसंयुतम् ॥ २५९ ॥  
 दासीकर्मकरोपेतं शुद्धदेवलकान्वितम् ।  
 शैलोत्थं पूर्ववत् कुम्भं कृत्वा धातुमयं तु वा ॥ २६० ॥  
 तद् द्विगोलकमानेन मन्त्रविम्बेन वै सह ।  
 शुभेऽन्यस्मिन् दिने यागमैष्टपे ह्युक्तलक्षणे ॥ २६१ ॥  
 अधिवास्य यथान्यायं सर्वोपकरणान्वितम् ।  
 स्नानाद्यमखिलं ताभ्यामापाद्य च यथाविधि ॥ २६२ ॥  
 तस्मिन् हृदादिसंयुक्ते विम्बं कुम्भे निवेश्य च ।  
 वस्त्रैराभरणैः पुष्पैः<sup>१०</sup> स्वच्छं कृत्वार्द्धपुष्पहृत् ॥ २६३ ॥  
 शनैः प्रासादपर्यन्तमारुहेद् मूर्तिपैः<sup>१०</sup> सह ।  
 तत्र प्रागासनादींस्तु कृत्वा संक्षालनान्वितमान्<sup>११</sup> ॥ २६४ ॥  
 आचरेद् बीजविन्यासं सर्वं वाऽवाहनोदितम् ।  
 निवेश्यानीय<sup>१२</sup> तं मध्ये विम्बं कुम्भसमन्वितम् ॥ २६५ ॥  
 हृदाद्यन्तनिरुद्धेन मूलमन्त्रेण लाङ्गलिन् ।  
 तत्राद्यमनुसन्धानमेकं<sup>१३</sup> कृत्वा परान्वितम्<sup>१४</sup> ॥ २६६ ॥  
 सामान्यलक्षणं पश्चात्<sup>१५</sup> पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् ।  
 संपूज्य वाससाच्छाद्य सुधया व्यक्ततां नयेत् ॥ २६७ ॥

प्रतिष्ठादिवसकृतस्थूलसूक्ष्माख्यस्नपनवदित्यर्थः । स्वकीयाभिरभिज्ञाभिर्वासुदेवादि-  
 मन्त्रैरित्यर्थः ॥ २४९-२६० ॥

अथ प्रासादोपरि कुम्भस्थापनविधानं प्रासादप्रतिष्ठाविधानं चाह—शैलोत्थं  
 पूर्ववत् कुम्भमित्यारभ्य निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे गन्धाद्यैरच्युतत इत्यन्तम् ।

१. नानां-अ० उ० । २. सर्वायतन-उ० । ३. लगा-बक० बख० उ० । ४. विम्ब-  
 मन्त्रेण-उ० । ५. मण्डपे-बख० अ० उ० । ६. मुक्ता-बक० बख०, नृत्ता-अ० उ० ।  
 ७. ष्पैश्छन्नं-अ० उ० । ८. वत्-बक० बख० उ० । ९. मारो-मु० अटी० । १०. तिभिः-  
 बक० उ० । ११. प्राक् ताडना-बख० अ० उ० । १२. कान्-बक० अ० उ०, दिकान्-बख० ।  
 १३. दुक्त-बक० बख०, द्रत्न-अ० उ० । १४. तन्मध्ये-अटी०, मित्येवं-बक० बख० उ० ।  
 १५. मेवं-मु० अटी० । १६. त्मकम्-मु० अटी० अ० उ० । १७. पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् ।  
 .....प्रासादं स्थापयेत् पश्चात्' नास्ति-मु० अटी० ।

ततः पिण्डे तदृधर्घे तु साज्जं कुर्याद् यथोदितम् ।  
 प्रासादं स्थापयेत् पश्चात् पूर्वोद्दिष्टेन वर्तमना ॥ २६८ ॥  
 समालभ्यार्चयित्वा च स्त्रगाद्यैर्मण्डयेत् ततः ।  
 पूर्ववत् पाठयेद् विग्रान् तत्प्रतिष्ठापने तु वै ॥ २६९ ॥  
 संरोध्य वर्ममन्त्रं तु तत्र ध्यानधिया स्वयम् ।  
 पूर्णान्तमखिलं कृत्वा विधिनानेन वै पुनः ॥ २७० ॥  
 आरोहेति तु वै साम पाठयेत् सामगांस्तु वै ।  
 चक्रमामलसारस्य मध्यतः सन्निवेशयेत् ॥ २७१ ॥  
 यथाभिमतरूपं तु दिग्बक्त्रं वाऽम्बराननम् ।  
 स्वशक्तिर्वर्णदण्डस्थं चण्डमार्ताण्डेभास्वरम् ॥ २७२ ॥  
 चक्रमन्त्रं न्यसेत् तस्मिन् वर्णाध्वानं पुरोदितम् ।  
 गत्यागतिश्रयोगेण प्राक् प्रभेयैजलक्षणम् ॥ २७३ ॥  
 नान्यथार्वत् पुरा ज्ञात्वा द्रव्यमूर्तिर्विमागतम् ।  
 कुर्यात् <sup>१</sup>ततोधर्घसन्धानं नान्यथा तु महामते ॥ २७४ ॥

---

तत्राद्यमनुसन्धानमेकं कृत्वा परान्वितम् ॥  
 सामान्यलक्षणं पश्चात् पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् । ( २५।२६६-२६७ )  
 इत्यत्राद्यमनुसन्धानम्,

मूलमन्त्रं पुरा ध्यात्वा संशान्तब्रह्मलक्षणम् ॥  
 आधारादिध्वजाग्रान्तं व्याप्तं तेनाखिलं स्मरेत् । ( २५।२२४-२२५ )

इति पूर्वोक्तं बोध्यम् । कलात्मकं ज्ञानैश्वर्यादिष्टकलात्मकमित्यर्थः । इदमपि पूर्वोक्तम्—“स्थूलं षोडा शिलान्तर्गैकम्” (२५।२२६) इति । अत्र प्रसङ्गात् “अमलं शान्तसञ्जं वै” (२५।२७५) इत्यारम्य “उदिताख्यं हि चक्रराट्” (२५।२८१) इत्यन्त-ममल-(शान्त)-शान्तोदित-उदितभेदैश्चक्रस्य चातुर्विध्यं <sup>२</sup>तत्तलक्षणं च प्रतिपादितम् । अत्रेश्वरपारमेश्वरयोः <sup>३</sup>—

१. साण्डं-बख० उ० । २. मण्टपे ततः-मु० अटी० । ३. क्षुरो हरेति-बक० बख० अ०,  
 क्षुरो भरेति-उ० । ४. वर्ण-अ० उ० । ५. मार्ताण्ड-मु० बक० बख० । ६. भासुरम्-मु०  
 अटी० । ७. यज्ञ-अ० उ० । ८. वस्तुरा-अटी० । ९. गतं विभुम्-बक० बख०, मयं गतम्-अ०,  
 गतस्य च-उ० । १०. तदो-बक० । ११. कम्-अ० । १२. तल्ल-अ० । १३. पारमेश्वरे  
 (१५।९७५-९७९) एतदमिप्रायकाः श्लोका द्रष्टव्याः, आनुपूर्वी तत्र नास्ति ।

अमलं शान्तसंज्ञं वै तथा शान्तोदितोदितम् ।  
 एकमेव हि तन्मूर्ति यश्चक्रं वेच्चि तच्चतः ॥ २७५ ॥  
 सोऽस्मिन् संसारचक्रे तु सर्वश्रीमनिवासिनाम् ।  
 सर्वधर्मरतानां च चक्रवर्तित्वमाप्नुयात् ॥ २७६ ॥  
 यच्छब्दब्रह्ममूर्त्यैवं सिद्धमाक्षं निराश्रयम् ।  
 अन्तर्बहिस्थं<sup>७</sup> सर्वेषां मोक्षदं चामलं स्मृतम् ॥ २७७ ॥  
 क्षीरोदार्णवतुल्यं यत् सहस्रादित्यसन्निभम् ।  
 निरङ्गं तीक्षणधारं वै तच्छान्तास्यं हि योगदम्<sup>८</sup> ॥ २७८ ॥  
 यत्तु नानाङ्गभावेन स्वातन्त्र्यात् स्वयमेव हि ।  
 सर्वदिक्प्रसृतां<sup>९</sup> कृत्वा<sup>१०</sup> स्वात्मवृत्तिं हि वर्तते ॥ २७९ ॥  
 ईषद्गुलयवन्नामे<sup>११</sup> रराणामन्तरेखवत् ।  
 शान्तोदितं च तद्विद्वि चक्रमिच्छाप्रदं<sup>१२</sup> च यत् ॥ २८० ॥  
 यच्छान्तमूर्तौ<sup>१३</sup> संबुद्धः<sup>१४</sup> सर्वं कृत्वाऽवतिष्ठते ।  
 प्रवृत्तं नाभिपूर्वं तु उदिताख्यं हि<sup>१५</sup> चक्रगट् ॥ २८१ ॥  
 तस्मिन्नाराधितो<sup>१६</sup> मन्त्रस्तद्वै सम्पूजितं स्मृतम् ।  
 जप्तं सन्तर्पितं भक्त्या सर्वेषां सर्वमृच्छति ॥ २८२ ॥

चक्रसंस्थापने कश्चिद् विशेषः श्रूयतां द्विजाः ॥  
 अमूर्तं द्वादशारं तु अष्टारं षडरं तु वा ।  
 चक्रं संस्थापयेत् तत्र प्रासादशिखरोपरि ॥  
 मूर्तमङ्गणदेशो तु षोडशाष्टभुजं तु वा ।  
 तस्य स्थापनकाले तु तस्य संज्ञामनुं जपेत् ॥  
 विद्यां गदामित्याद्यं यत् पाठयेत् तद्विदो जनान् ।

( ई० सं० १८१५०३-५०६; पा० सं० १५१९७५-९७९ )

१. दितं स्मृतम्-उ० ।      २. एव-मु० अटी० ।      ३. मूर्ति-मु० अटी० ।
४. यच्छक्तिर्ण-मु० अटी० । ५. त्येव-मु० अटी० । ६. सिद्धमाक्षान्निराश्रया(यः)-मु० अटी० ।
७. श्च-अ० । ८. क्षितिगगन-बक० बख० । ९. च-अ० । १०. योगतः-मु० अटी० ।
११. प्रस्थितां-बक० बख० उ० । १२. स्वाक्षाद्यैर्योऽभि-बक० बख० । १३. वर्णमि न-मु० ।
१४. फलप्रदम्-उ०, फलप्रभम्-बक० बख० अ० । १५. यावन्मूर्तौ च-मु० अटी० ।
१६. संबन्धः-मु०, संवर्ध्वं-अ० उ०, संबद्धं-बख०, संवर्ध्य-बक० । १७. तु-बक० बख० ।
१८. ते मन्त्रं त-अ० ।

एवं चाभिमतं चक्रं सर्वविघ्नक्षयङ्गरम् ।  
प्रतिष्ठाप्य समभ्यर्च्य तंस्यैव समनन्तरम् ॥ २८३ ॥  
ज्यंशेन शिखंगादुच्चं खगराटपरिभूषितम् ।  
संस्कृत्यै ध्वजदण्डं च शिखामन्त्रेण विन्यसेत् ॥ २८४ ॥  
ततो विविधवर्णं च किञ्चिणीगणभूषितम् ।  
ध्वजाग्राञ्छखर्वर्धं च यौवद् दीर्घमकृत्रिमम् ॥ २८५ ॥  
दैर्घ्याद् द्वादशमांशेन द्विनवांशेन वा ततम् ।  
कृत्वाऽस्त्रसञ्चितिं तस्मिन् लाज्जनार्थ्ये पुरा पटेऽ ॥ २८६ ॥  
निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे गन्धाद्यर्चयेत् ततः ।  
स्वयंकृतानां विम्बानां मयेदं संप्रकाशितम् ॥ २८७ ॥  
प्रतिष्ठापनमज्जाक्ष स्वतन्त्रेष्वयनेषु च ।  
साङ्कर्येण विना त्वेवं कृतं भवति सिद्धिदम् ॥ २८८ ॥ .  
अन्यथाऽसिद्धिदं विद्धि नृणां व्यामिश्रयाजिनाम् ।  
एकस्मिन्नासने स्थाने चतुस्त्रिद्वयादिमूर्तिनां ॥ २८९ ॥  
व्यक्तीभूतं यथा लोके लोकानुग्रहकाम्यया ।  
स्वयं नानास्वरूपेण स्वर्गादौ स्थापनं तथा ॥ २९० ॥

इत्यादिभिस्तन्मन्त्रपाठनाभिषेकादयः कतिचिद्विशेषाः प्रतिपादिता ग्राह्याः । एवं भगवत्प्रतिष्ठादिष्वपि <sup>१</sup>तत्रैतदानुपूर्वा एव कथनेऽपि मध्ये मध्ये बहवो विशेषाः प्रतिपादिता द्रष्टव्याः ॥ २६०-२८७ ॥

स्वयं कल्पितविम्बानामेवं प्रतिष्ठादिकमुक्तम् । स्वयंव्यक्तादिष्वप्येवमेव मन्त्रतन्त्रविम्बाद्यसाङ्कर्येणार्चनादिकं सिद्धिदम्, अन्यथा दोषावहमित्याह—स्वयं कृतानामिति द्वाभ्याम् ॥ २८७-२८९ ॥

लोके एकस्मिन् स्थाने एकस्मिन्नेवासने<sup>१</sup> चतुस्त्रिद्वयादिरूपेण यथा भगवान् स्वयं व्यक्तीभूतस्तथा सामान्यमनुजैः स्थानं(प)नं (न)कार्यम्, अपि तु समवुद्दिस्थत्वादिन-

१. तत्रैव—अटी० अ०, ततोऽस्त्रं—बक० बख० उ० । २. च शिखादूर्ध्वं—अ० उ० ।
३. संस्थाप्य—बक० । ४. राग्रं तु—अ०, राघं तु—उ० । ५. यथा—अ० । ६. पदे—बक० ।
७. षिवतरे—बक० बख०, षु नयेषु—उ० । ८. स्थानं—अटी० । ९. तिषु—अ० । १०. 'तत्र' नास्ति—अ० । ११. स्मिन्नासने—अ० ।

न कार्यं मनुजैर्वर्णधर्मज्ञैकभावैः ।  
 तथा वै सम्बुद्धिस्थैः कृपया संप्रवर्तकैः ॥ २९१ ॥  
 क्रियाभेदरतैः शुद्धैर्नानाविबुध्यौजकैः ।  
 प्रणवैकप्रलोपस्थैः शान्तचित्तैरमत्सरैः ॥ २९२ ॥  
 मन्त्रमुद्राक्रमध्यानसमूत्तिलक्षकैः ।  
 तथा तत्संकरोत्पन्नोषाणां ध्वंसनक्षमैः ॥ २९३ ॥  
 प्रैस्थापितस्तु वै सम्यग् ज्ञानमूर्तिर्जगद्गुरुः ।  
 भिन्नमन्त्रक्रियारूपं न कुर्यात् तदपेक्षया ॥ २९४ ॥  
 साधारमालयं पीठं <sup>१०</sup>भवारूपं विभवात्मनाम् ।  
 देवानां मर्त्यधर्मस्थैः प्रतिष्ठायज्ञकर्मणि ॥ २९५ ॥  
<sup>११</sup>संसारदेवतानां च स्थापितानां तु वै पुरा <sup>१२</sup> ।  
 कृत्वा तु भगवद्विम्बमालये वा तदासने ॥ २९६ ॥  
 निवेशयति यो मोहाद् बिम्बेन सह तस्य वै ।  
 जायते च भयं घोरमिहामुष्मिकदोषदम् ॥ २९७ ॥  
 नाप्नोत्याराधकानां तु सकाशादर्चनं परम् ।  
 यथा बिम्बं तथा कर्ता नाप्नुयादुत्तमं फलम् ॥ २९८ ॥

विशिष्टैर्विशेषाधिकारिभिस्तथा स्थापनं <sup>१३</sup>कार्यमित्याह—एकस्मिन्निति पञ्चभिः ॥ २९५-२९४ ॥

विभवदेवानां प्रतिष्ठायजे आधारालयपीठादिषुक्तक्रमं विना केवलमर्त्यधर्मस्थैः सह स्वेच्छया विभिन्नमन्त्रतन्त्रलक्षणानि न कुर्यादिति, पूर्वं प्रतिष्ठितानां देवानामालये तदासने वा तेन बिम्बेन सह पुनस्तस्मभगवद्विम्बान्तरस्थापनं दोषावहमिति चाह—भिन्नमन्त्रक्रियारूपमित्यारभ्य नाप्नुयादुत्तमं फलमित्यन्तम् ॥ २९४-२९८ ॥

- 
१. वकैः—बक० बख०, वगैः—अ० । २. सह—बक० । ३. राज—मु० अटी० ।  
 ४. लोप—अ० । ५. तत्साङ्क—बक०, तत्साग—अ० उ० । ६. प्रस्तावि—अटी० । ७. तेन—अ० ।  
 ८. त्रभुः—बक० बख० अ० उ० । ९. स भिन्नमन्त्ररूपरत्न—उ० । १०. भावारूप—उ० ।  
 ११. रथस्य—बक० बख०, तदेक—अ० । १२. पुनः—बक० । १३. न कार्य—अ० ।

अर्चायामधिके पीठे ह्येक्षालक्षणोज्जिते ।  
 सङ्कुद्धिभवदेवानां स्थापनं न विरोधकृत् ॥ २९९ ॥  
 नान्यकाले न चान्यस्य नान्यमूर्तिनिवेशनम् ।  
 विहितं भगवत्पीठे निविष्टव्यत्ययं विना ॥ ३०० ॥  
 यथा भवोपकरणदेवानां मण्डलेऽर्चनम् ।  
 विहितं न तथा पीठे ह्येकस्मिन् सन्निवेशनम् ॥ ३०१ ॥  
 भिन्नक्रमोऽपि यः कुर्यात् पृथग् वा पिण्डिकोपरि ।  
 वामदक्षिणयोरेवं देवौनामप्रदक्षिणम् ॥ ३०२ ॥  
 सदक्षिणस्य वै तेन प्रतिष्ठाख्यमखस्य च ।  
 निंहिता चोन्नता कीर्तिं स्तेनाथ स्वयमेव हि ॥ ३०३ ॥  
 ग्राविस्थतस्याधिकं मानाद् दक्षिणेनोर्जह्नानिकृत् ।  
 शस्तमयतनस्यैव प्राकूस्थितं यत् ततोऽधिकम् ॥ ३०४ ॥  
 नेच्छत्यन्योन्यसाम्यं<sup>१०</sup> तु स्थानवृत्तिं<sup>११</sup> धनैः सह ।  
 उन्नतासनसंस्थोऽपि<sup>१२</sup> मानहीनस्तु सर्वदा ॥ ३०५ ॥  
 मानहीनस्तु<sup>१३</sup> कर्त्तणां कुर्यात् सुतसुखक्षयम् ।  
 विम्बस्य विम्बकतुर्वै देहिनां स्थापकस्य च ॥ ३०६ ॥

एकस्मिन् पीठे विभवदेवानां सङ्कृत् स्थापनमविरुद्धम्, पुनरन्यकाले स्थापनम् अन्यस्य स्थापनम् अन्यमूर्तिस्थापनं च न विहितमित्याह—अर्चायामिति द्वाभ्याम् । व्यत्ययं विनेत्यनेन पूर्वं स्थापनकाले स्थानादिव्यतये पुनर्यथाक्रमस्थापनं विहितमित्युक्तं भवति ॥ २९९-३०० ॥

पूर्वोक्तत्तुर्विशितभवोपकरणदेवतानां तु सर्वासामप्येकस्मिन्नेव मण्डले पूर्वं यथा संनिवेशनमुक्तम्, तथैकस्मिन्नेव पीठे संनिवेशनं न विहितमित्याह—यथेति ॥ ३०१ ॥  
 सर्वप्रकारैरपि विम्बानां पृथग् निवेशनमेव कार्यमित्याह—भिन्नेत्यादिभिः<sup>१४</sup> ॥ ३०२-३०८ ॥

१. 'ह्येक्षा'...भगवत्पीठे' नास्ति—बक० । २. फलमुत्थिते—अ० । ३. विनष्ट—म०  
 अटी० । ४. क्रमेऽपि—म० अटी० । ५. देवतानां—बक० अ० । ६. निहता—अ० उ० ।  
 ७. तिः स्वे—अ० । ८. नोत्सवं सङ्कृत्—अ० । ९. सङ्कृत्—बक० । १०. सामं—म० अटी० बक० ।  
 ११. वृद्धि—बक० वर्ख० अ० उ० । १२. संख्यादि—म० अटी० । १३. कर्तृत्वे—बक० वर्ख०,  
 कर्तृत्वात्—अ० । १४. इतः परं म० पुस्तके गन्धपातो दृश्यते, किन्तु अ० पुस्तकस्थाऽनुपूर्वी  
 नैव खण्डिता तत्रापि !

वामकुत्सथापनं वौमे समभून् तु वाधिकम् ।  
 एवं ज्ञात्वा यथाशक्ति पृथक् कुर्यान्निवेशनम् ॥ ३०७ ॥  
 सिद्धये चापवगर्थमर्चना देवतालये ।  
 प्रतोली साङ्गनां चैव जगती देवमन्दिरम् ॥ ३०८ ॥  
 सपीठं भगवद्विम्बं भक्तानां यत्र युज्यते ।  
 सम्यक् प्रैदक्षिणीकर्तुं बलिघूपपुरःसरम् ॥ ३०९ ॥  
 श्वेतद्वौपसमं विद्धि देवतायतनं तु तत् ।  
 सन्निवेशस्त्वयं मुख्यस्त्वमुख्यस्त्वपरो हि यः ॥ ३१० ॥  
 मुख्यात् पूर्णफलप्राप्तिर्मुख्याभासात् तथाविधा ।  
 सम्यक्स्थास्त्वादिदेवीया मूर्तयो या पुरोदिताः ॥ ३११ ॥  
 स्थैर्लं विना न चैवाच्या नित्यं विष्ट्रैस्तु विम्बगाः ।  
 गृहे पीठगता विम्बे पुंनस्ताः पत्रगा वहिः ॥ ३१२ ॥  
 १० सदैव तैः समाराध्या भूतयेऽपि हि११ मुक्तये ।  
 सवाहनाऽवाहना१२ वै वहिर्वा स्वगृहान्तरे ॥ ३१३ ॥  
 नार्चनीया नृपाद्यैस्ताँ१३ विम्बे वै मण्डलादृते ।  
 सुपर्णसंस्थिताः सर्वा१४ विम्बे वै ब्राह्मणैनृपैः ॥ ३१४ ॥

प्रतोल्यादिभिः सहितं भगवन्मन्दिरं सपीठं भगवद्विम्बं च यत्र प्रदक्षिणीकर्तुं योग्यं भवति, तत्स्थानस्य श्वेतद्वौपसदूशमुख्यत्वम्, तत्प्रदक्षिणानवकाशस्थानस्यामुख्यत्वं चाह—प्रतोलीति त्रिभिः ॥ ३०८-३११ ॥

ब्राह्मणैः पुर्वोक्तपरवासुदेवीयमूर्तीनां स्वगृहे मण्डलं विना विम्बेष्वर्चनं कार्यमिति, मण्डले तदर्चनस्थानविभागादिकं चाह—सम्यक्स्था इति द्वाभ्याम् । एवं च ब्राह्मणैरालये तद्विम्बार्चनं कार्यमित्युक्तं भवति ॥ ३११-३१३ ॥

क्षत्रियाद्यैस्तुभयत्रापि मण्डल एवार्चनं कार्यम्, न विम्ब इत्याह—सवाहनेति ॥ ३१३-३१४ ॥

१. यद्वा—मु० अटी० । २. नागार—मु० । ३. प्रदक्षिणीकृत्य—मु० अटी०, प्रमाणीकर्तुं तु—अ० उ० । ४. शः स्वयं मुख्यः अ—मु० अटी० बख० । ५. सिस्त्वमुख्यात् स्यात्—बक० बख० । ६. स्थाप्या—मु० अटी० । ७. गृहे स्थैर्लं विना नाच्या—बक० बख० अ० उ० । ८. विम्बे—बक०, शृङ्गे—बख० उ० । ९. या शस्ता पात्रगा—बक० बख०, पुरस्तात् पत्रगा—अ० । १०. सदेवतैः—अ० उ० । ११. विमु—उ० । १२. हनेऽवाहने—मु० अटी० । १३. च—उ० । १४. स्तु—मु० अटी० । १५. स्वकलाद्—बक० बक० मु० । १६. सर्वे विम्बाः—मु० अटी० ।

स्वगृहादौ च सर्वत्र पूजनीयाः सदैव हि ।  
 एवमन्यास्तु वैश्यान्तैः सत्त्मैरबिलास्तु याः ॥ ३१६ ॥  
 सह शक्तीशभेदैस्तु न शक्तीशस्त्ववाहनः ।  
 विम्बंगो ब्राह्मणाद्यैश्च नित्यमर्च्यः पृथग् विना ॥ ३१६ ॥  
 स्वाश्रमे बन्धुवर्गस्य मध्यस्थो द्यनिशं तु वै ।  
 अविनासौम्यरूपेण अव्युत्पन्नजनस्य च ॥ ३१७ ॥  
 दृगते भगवद्वक्त्रे कार्ये त्रैलोक्यभीतिदे ।  
 यच्छन्ति शुभमात्रार्थाश्चित्रस्थाश्चाशुभं गृहे ॥ ३१८ ॥  
 वैहिष्कृता विशेषेण हर्म्यप्रासादभूमिषु ।  
 आढैर्भैर्गपदस्थैस्तु साम्प्रतं सिद्धिलालसैः ॥ ३१९ ॥  
 निष्प्रभत्वान्न मृच्छैली कार्या दारुमयी<sup>१</sup> गृहे ।  
 ऋते सांन्यासिकैः शान्तैः शश्वन्मोक्षपरायणैः ॥ ३२० ॥  
 तदुत्थाश्च वहिः सर्वैः कार्यास्तासु सदैव हि ।  
 जनयन्ति महादीप्तिं चन्द्रसूर्यादयोऽनिशम् ॥ ३२१ ॥  
 आ चैकमूर्तेः सर्वासां मूर्तीनां तु महामते ।  
 तथा मूर्त्यन्तराणां च प्रादुर्भाविगणस्य च ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैश्च सुपर्णिरुद्धा मूर्तयः स्वगृहेऽन्यत्र वा विम्बेष्वेवार्चनीया इत्याह—सुपर्णेति ॥ ३१४—३१५ ॥

एवं गरुडताव्यरूपमूर्तयो विभवमूर्तिभेदैः सह ब्रह्मक्षत्रियवैश्यैविम्बेष्वेव सर्वत्रार्चनीयाः । किन्तु वाहनारुद्धं विना केवलशक्तीशविम्बं गृहे ब्राह्मणादिभिर्नार्च्यमिति चाह—एवमिति सार्वेन ॥ ३१५—३१६ ॥

गृहे सौम्यरूपं विनोग्रहरूपविम्बस्यानर्च्यत्वम्, तथैव चित्रलोहमयविम्बं विना शैलमूददारुमयविम्बस्यापि गृहस्थैरनर्च्यत्वम्, तस्य हेतुं चाह—स्वांश्रम इत्यारभ्य चन्द्रसूर्यादयोऽनिशमित्यन्तम् ॥ ३१७—३२१ ॥

अथ यत्र कुत्र वा पुण्यक्षेत्रादिषु स्वयंव्यक्तादिरूपेण स्थितानां परव्यूहविभव-

१. सत्तमाः सक—बक०, सोत्तमाः सक—बख०, सोत्तमैर्बहु—अ० । २. विम्बे—अ० उ० ।
३. धातूत्थाश्चित्रस्थाश्च शुभं—अ० उ०, यात्रार्था—बक० बख० । ४. पङ्क्तिद्वयं नास्ति—अ० ।
५. मयैगृहे—बक० बख० उ० । ६. सुदीप्तं च—बक० बख० । ७. सूर्योदये—अटी० ।
८. तत्र—म० । ९. आश्रम—म० ।

प्रादुर्भावान्तराणां तु स्थितानां यत्र कुत्रचित् ।  
 सर्वेषां सर्वदा तेषां हित आराधनाय च ॥ ३२३ ॥  
 प्रणवैः पीठपूजार्थं नमस्कारपदान्वितः ।  
 प्रसिद्धं चातुरात्मीयसंज्ञामन्त्रचतुष्टयम् ॥ ३२४ ॥  
 अर्चने सजितन्तं तु विना मन्त्रेण योऽन्यथा ।  
 करोति पूजनं भूदश्चलबिम्बगणस्य च ॥ ३२५ ॥  
 गृहे वाऽज्ञातमन्त्रस्य दोषस्तस्य प्रजायते ।  
 विना सामान्यमन्त्रैर्यश्चलबिम्बगतस्य च ॥ ३२६ ॥  
 कुर्याद् विशेषमन्त्रेण विशेषाख्यस्य चार्चनम् ।  
 तदुत्थमचिरेणैव शबलं तस्य दोषकृत् ॥ ३२७ ॥  
 ज्ञात्वैवं सावधानेन क्रियासक्तेन सर्वदा ।  
 भवितव्यं विशेषाद् वै गृहाश्रमपरेण तु ॥ ३२८ ॥  
 ह्माभज्ञाद्येषु दोषेषु ध्वजान्तेष्वेवमेव हि ।  
 उपोद्घारे प्रयोक्तव्यं प्रणवाद्यं च पञ्चकम् ॥ ३२९ ॥  
 होमार्चनविधानेषु सृष्टिसंहारकर्मणि ।  
 ध्वजाद्यमुद्भरेत् सर्वमवनीचलने सति ॥ ३३० ॥

बिम्बानां सामान्यतः प्रणवेन वासुदेवादिसंज्ञामन्त्रचतुष्टयेन वा जितन्ताख्यमन्त्रेण  
 वाऽचर्यत्वं मन्त्रं विनाऽर्चने प्रत्यवायं चाह—आ चेति सार्धेश्चैतुर्भिः । एकमूर्तेः पर-  
 वासुदेवस्य, सर्वासां मूर्तीनां व्यूहवासुदेवादिमूर्तीनाम्, मूर्त्यन्तराणां केशवादीनाम्,  
 प्रादुर्भावगणस्य पद्मनाभादिविभवावतारगणस्य, प्रादुर्भावान्तराणां विभवान्तराणा-  
 मित्यर्थः । तद्विवरणं तु नवमपरिच्छेदे विचारितं द्रष्टव्यम् ॥ ३२२-३२६ ॥

गृहे चलबिम्बानां प्रणवाष्टाक्षरादिम(न्त्राः?न्त्रैः) नानातत्त्वमूर्तिविशेषमन्त्रैर्हर्चन-  
 निषेधमाह—विनेति सार्धद्वाभ्याम् । सामान्यमन्त्रैर्व्यापिकमन्त्रैरित्यर्थः । प्रणवाष्टाक्षर-  
 द्वादशाक्षर-पदक्षर-जितन्ताख्यमन्त्रैरिति यावत्, एषां सर्वमूर्तिसाधारण्यात् ॥ ३२६-३२८ ॥

अथ ह्माभज्ञादिदोषसंभवे प्रासादपीठबिम्बादीनां जीर्णोद्घारविधानमाह—  
 ह्माभज्ञाद्येषु दोषेष्वित्यारभ्य देवस्य चतुरात्मन इत्यन्तम् । प्रणवाद्यं पञ्चकं

१. वं—बक० बख० । २. न्वतम्—बक० बख० । ३. यं—मु० अटी० अ० ।  
 ४. सर्वथा—मु० अटी० । ५. स्त्रिभिः—अ० । ६. रची—अ० ।

आधारोपलर्यन्तं सन्निवेशं तंथा पुनः ।  
 चक्रप्रासादभङ्गेषु सोर्ध्वे विम्बं महामते ॥ ३३१ ॥  
 पीठभङ्गे तु वै विम्बं विम्बभङ्गे तदैवै हि ।  
 यदिच्छति चोद्धृतुं तत्तदादौ तु संयजेत् ॥ ३३२ ॥  
 मध्वाज्यगुणगुलक्षीरदधिलाजादिभिः क्रमात् ।  
 सन्तर्प्य तिलहोमैस्तुं सहस्रशतसंख्यया ॥ ३३३ ॥  
 मन्त्रौधं हृदयात् तस्मिन् समुच्चार्य विनिक्षिपेत् ।  
 जालवद् भासुराकारं तत्र चिच्छक्तयोऽखिलाः ॥ ३३४ ॥  
 विशन्ति पूर्वसंरुद्धा मन्त्रौधं पुनराहरेत् ।  
 पाठयेदृढमयान् सर्वानुत्तिष्ठेत्यथ तद्विदः ॥ ३३५ ॥  
 कर्मारम्भे तदन्ते वै परमां प्रकृतिं त्विति ।  
 चतुर्भिरनिरुद्धाद्यैः संज्ञामन्त्रैः पृथक् पृथक् ॥ ३३६ ॥  
 कृत्वा होमं च तदनु तत्संज्ञाणैविलोमतः ।  
 प्रणवाद्यन्तगैः सर्वैः प्राग्वदप्तासु दिक्षु च ॥ ३३७ ॥  
 ग्रामादस्य तुं होतव्यं गायत्रीभिस्तथैव च ।  
 वासुदेवाद्यभिज्ञाभिहोमान्ते त्वथ तैः सह ॥ ३३८ ॥  
 न्यासं वाहनमन्त्रेण साङ्गं कृत्वात्मना पुंरा ।  
 वाहनानां तथा चैव ब्रह्मैवं संस्पृशेदथ ॥ ३३९ ॥  
 संश्वाल्य हृदयेनैवं जपन्नस्त्रमथोद्धरेत् ।  
 विमाने वा रथे कृत्वा ह्यगाधेऽम्भसि निक्षिपेत् ॥ ३४० ॥

---

प्रणवाष्टाक्षरादिव्यापकमन्त्रपञ्चकमित्यर्थः । अथवा पूर्वोक्तं वासुदेवादिसज्ञामन्त्र-  
 जितन्ताख्यपञ्चकमित्यर्थः । अत्र जालवदित्यनेन यथा वनमध्ये मृगग्रहणार्थं जाल-  
 प्रसारेण कृते सर्वे मृगास्तत्र प्रविशन्ति, तद्वत् स्वहृदयाद् विम्बादिषु मन्त्रप्रसारणे कृते  
 तत्रत्या मन्त्राः सर्वेषां प्रति विशन्तीति भावो बोद्धयते । अगाधेऽम्भसि निक्षिपेदिति

१. तन्निवेश्यं—मु० अटी० । २. यथा—बक० । ३. तदेव—मु० अटी०, तथैव—अ० ।
४. चेद्ध—मु० अटी० । ५. होमेन—बक० बख० अ० उ० । ६. नाल—मु० ।
७. द्यैस्तैस्तैर्म—मु० अटी० । ८. प्राङ्गणस्य—बक० बख०, प्राग्वत् तस्य—अ० । ९. च—  
बख० अ० उ० । १०. तदा—मु० अटी० । ११. ब्रह्मैवं संस्मृशे—मु०, ब्राह्मे वा सवृष्टेरथ—अ० उ० ।
१२. संस्थाप्य—अ०, संक्षाल्य—उ० । १३. नैव—अ० उ० ।

जंपेत् संज्ञामनुं पश्चात् प्रायथित्तार्थमेव हि ।  
 सहस्रमेकमर्धं तद्वत्वयं सर्वशान्तये ॥ ३४१ ॥  
 पूर्ववत् तोषयेत् सर्वान् काञ्चनाद्यैः स्वशक्तिः ।  
 तर्पयेदन्नपानाद्यैः सर्वानाचार्यपूर्वकान् ॥ ३४२ ॥  
 वाच्यं तैद्विदशाणेन हृच्छिद्रं हृष्टमानसैः ।  
 भूयः संस्थापनं कुर्यादुद्धृतस्य कुर्तस्य च ॥ ३४३ ॥  
 सामान्यलक्षणैर्मन्त्रैश्चतुर्मूर्तिंमयैः संदा ।  
 गुरुः सप्रणवेनैव यः सम्यग् भगवन्मयः ॥ ३४४ ॥  
 यतः सप्रणवादन्यश्चातुरात्म्यं च विद्यते ।  
 मन्त्रो वा देवतारूपस्तच्चतो ब्रह्मवेदिनाम् ॥ ३४५ ॥  
 प्रपञ्चः प्रणवो मन्त्रो देवस्य चतुरात्मनः ।  
 एवं ज्ञात्वा पुरा कर्म स्थापनोत्थापनान्तिकम् ॥ ३४६ ॥  
 विधिवद् यागपूर्वं तु विघ्नसञ्चालनं विना ।  
 यो दिव्यायतनादीनां भक्त्या भूयः करोति च ॥ ३४७ ॥  
 ध्वजं वा मन्दिरं शुभ्रं पीठं भासं च पिण्डिकाम् ।  
 सल्लोहशैलकाष्ठोत्थैः पद्माद्यैर्धर्वतोऽङ्किताम् ॥ ३४८ ॥  
 एकानेकदलैश्चैव बद्धैरायसपूर्वकैः ।  
 सुबद्धां सूर्यसोमाजिनप्रभाद्यां सुमनोरमाम् ॥ ३४९ ॥

मानुषबिम्बविषयम्, स्वयंव्यक्तादिविभानां सर्वथा संधेयत्वोक्त्या<sup>१९</sup> ह्यपरित्याज्यत्वात् ।  
 अत्र बहुवो विचारा ईश्वरपारमेश्वरादिषूपबृहिता द्रष्टव्याः ॥३२९-३४६॥

एवं शास्त्रज्ञानपूर्वकं - प्रतिष्ठाजीर्णोद्धारादिकर्तुः फलमाह—एवमिति सार्व-

१. नार्सिंहं जपेत्-बक० बख० अ० उ० । २. सर्वं-अ० । ३. च-मु० अटी० ।
४. दृक्ष-बक० बख०, दृक्ष-अ० उ० । ५. क्षिभिः-बक० बख० अ० उ० । ६. चैद्विजाना-अ० ।
७. तद् द्वा-मु० अटी० । ८. च पूर्ववत्-बक० बख० अ० । ९. सह-मु० अटी० ।
१०. त्यान्त-अ० उ० । ११. वादिनाम्-अटी०, वेदिना-उ० । १२. गम-मु० अटी० ।
१३. विम्ब-मु० अटी० बक० बख० । १४. समेति-अ० । १५. सुम-बक० बख० उ० ।
१६. ठभा-बक० बख० अ०उ० । १७. एकायनेकदलजामम्बरा-बक० बख० उ०, दलजां बन्धैरा-अ० । १८ भास्यां-मु० अटी० । १९. त्वोक्त्या सर्वथा-अ० । २०. ईश्वरेऽष्टादशोऽध्याये पारमेश्वरे च पञ्चदशोऽध्याये विशेषा एते द्रष्टव्याः ।

स लोके शाश्वतीं कीर्ति स्थापयित्वा कुलैः सह ।  
 स्थानं सायुज्यतापूर्वमन्ते नूनमवाप्नुयात् ॥ ३५० ॥  
 नानारत्नप्रभाल्यानि लाङ्छनान्यज्ञदानि च ।  
 निर्मितानि मुवर्णाद्यैविभोः संयोजयन्ति ये ॥ ३५१ ॥  
 ते धौतकल्मषाः सर्वे देहमासाद्य पौवनम् ।  
 सम्यग् ज्ञानेन युज्यन्ते भवेऽन्यान्ति येन च ॥ ३५२ ॥  
 आत्मनश्चोपकाराय सर्वदुःखनिवृत्तये ।  
 अङ्गुष्ठाग्राच्च गुल्फान्तमाजान्वंसावधीह वा ॥ ३५३ ॥  
 मणिमुक्ताप्रवालादृच्यैकवचं काञ्चनादिकम् ।  
 यः क्षिपत्यतिभक्त्या वै स्वशक्त्याचार्यगतेऽन्युते ॥ ३५४ ॥  
 स याति परमं स्थानं सपुत्रपशुबान्धवः ।  
 लग्नं यद्गवन्मूर्तीवज्ञदं नूपुरादिकम् ॥ ३५५ ॥  
 वियोजयति यो मोहात् तस्य वीचौ स्थिरा स्थितिः ।  
 यः पञ्चकालसक्तानां विप्राणामधिकारिणाम् ॥ ३५६ ॥  
 पञ्चरात्रैविदां चैव द्विर्जानां सिद्धिकाञ्चिणाम् ।  
 अथ योऽच्छिन्नशाखानां नारायणरतात्मनाम् ॥ ३५७ ॥  
 तपस्विनां वा व्रतिनां स्नातकब्रह्मचारिणाम् ।  
 भक्तानामथवाऽन्येषां<sup>०</sup> मार्जनादौ<sup>११</sup> रतात्मनाम् ॥ ३५८ ॥  
 प्रीतये परमेशाय कृत्वा सम्यक् प्रैयच्छति ।  
 शालाद्यायतनोपेतमश्मपवेष्टकान्वितम् ॥ ३५९ ॥

इति इति ॥ ३४६-३५० ॥

भगवते नानामणिमयभूषणरत्नकवचादिसमर्पणकर्तुः फलमाह—नानेत्यादिभिः

॥३५१-३५५॥

भगवद्भूषणापहर्तुः फलमाह—लग्नमिति ॥३५५-३५६॥

१. पूर्वं देहान्ते नूनमानु—मु० अटी० । २. इत आरम्भ समाप्तिपर्यन्तं मध्ये मध्येऽप्तर-  
 च्युतिदृश्यते—अ० । ३. निष्कलम्—बक० वख० । ४. भवमायान्ति ये च न—अ० । ५. लाङ्छं—  
 बक० वख० उ०, लानां—उ० । ६. कत्याचर्यांग—मु० अटी०, कत्याऽर्चार्चिते—अ० ।  
 ७. काल—बक० । ८. भक्तानां—बक० वख० । ९. योऽर्चन—अटी० । १०. पाम—बक० अ०, पां  
 संमार्जन—उ० । ११. नादिर—बक० वख० । १२. प्रयत्नतः—अ० ।

ग्राम्यैर्धान्यैस्तथारण्यैः पूर्णं सैदृश्चिसंयुतम् ।  
 वणिकुदुम्बभृतकरक्षापालैः समन्वितम् ॥ ३६० ॥  
 ^ सोऽनन्तं फलमाप्नोति कालमाचन्द्रतारकम् ।  
 संस्थितिं शाश्वतीं लोके प्राप्नुयादक्षयं यशः ॥ ३६१ ॥  
 भोगोपभोगिनीं भद्रां रम्यां पूर्वोक्तलक्षणाम् ।  
 यागनिष्पत्तये कुर्याद् योऽग्रतः पीठसन्निधेः ॥ ३६२ ॥  
 बहिराराधनार्थं वा कर्मिणां ब्रह्मयाजिनाम् ।  
 मँनुष्यपितृदेवाख्यानमुच्यते स ऋणत्रयात् ॥ ३६३ ॥  
 मध्यतो गरुडाकानं सचक्राम्बुरुहाङ्कितम् ।  
 तुर्याश्रमथवा वृत्तं कुण्डवत्पदवीयुतम् ॥ ३६४ ॥  
 बलिपीठं बहिः कुर्याद् भक्त्या यस्त्वच्युतालये ।  
 स याति ^चाच्युतं स्थानं विमानैः॑ रिन्दुवर्चसैः ॥ ३६५ ॥  
 यः ^सप्राकारमारामं सम्प्रयच्छति वै विभोः ।  
 नानापुष्पफलोपेतं वापीद्रुमैः॑ समाकुलम् ॥ ३६६ ॥  
 साब्जतोयाशयोपेतं^ मारङ्गखसमन्वितम् ।  
 स नन्दनवने भोगान् भुक्त्वा यात्यच्युतालयम् ॥ ३६७ ॥  
 क्षोणीं यः सस्यसम्पूर्णीं युक्तां वा ^गन्धशालिना ।  
 केदारं जलपातैस्तु परिच्छन्नं समन्ततः ॥ ३६८ ॥  
 ^संयच्छति जगद्योनेः कालमासाद्य शाश्वतम् ।  
 स यायात् सुसितद्वीपं तत्रास्ते भगवानिवै^ ॥ ३६९ ॥  
 स्नानोपभोगमन्त्रार्थं सवृषेन्द्रं तु गोगणम् ।  
 समर्चयित्वा^ योऽर्चां वै वैष्णवीं प्रतिपादयेत् ॥ ३७० ॥

भागवतानामग्रहारादिप्रदातुः फलमाह—य इत्यादिभिः ॥३५६-३६१॥

१. सम्प्रति—मु० अटी० बक० बख० । २. संकुलम्—बक० बख० । ३. पद्मक्तित्रयं नास्ति—अ० । ४. नन्त—बक० बख० उ० । ५. श्वते—बक० बख० उ० । ६. चारिणाम्—मु० अटी०, वादिनाम्—बक० । ७. पद्मक्तिरेषा न दृश्यते—अ०, ऋषिदेवपितृभ्यश्च—बक० बख० । ८. न्वितम्—अ० । ९. दग्रतस्त्व—अ० । १०. शाश्वत—मु० अटी० । ११. नैः शुभ्र—बक०, नैः सूर्य—बख० । १२. सप्राकार—मु० अटी० । १३. लता—अ० । १४. तमपवर्च—बक० । १५. प्रचय—बक० बख० उ० । १६. स ग—बक० बख० । १७. निति—अटी० । १८. योऽर्चेद्वै—बक०, देवेशं वैष्णवं—मु० अटी० ।

सोऽचिरान्मुक्तदोषस्तु विष्णुलोकं प्रयाति च ।  
 गजं रथं वराश्वं च दीपस्थौलीं सुलक्षणाम् ॥ ३७१ ॥  
 व्यजनं चामरं छत्रं वादित्रं गणिकागणम् ।  
 शुभवस्त्राणि नेत्राणि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ३७२ ॥  
 वितानं वैजयन्तीं च चित्रपत्रलतागैणम् ।  
 सुस्वरौमुपघटां च धूपस्थालीं सुलक्षणाम् ॥ ३७३ ॥  
 भृङ्गारं दर्पणं तोयकुम्भं गन्धोपलं महत् ।  
 पूर्वोदिष्टानि चान्यानि धान्यानि विविधानि च ॥ ३७४ ॥  
 यो ददाति हरेभक्त्या स तल्लोकमवाप्नुयात् ।  
 ईक्षमाणं विभोर्वक्त्रं वहन्तं दीपभाजनम् ॥ ३७५ ॥  
 महान्तमथवा दीपं यन्त्रं कूर्मादिरूपधृक् ।  
 शरयज्ञासनस्थं च चित्रसम्पुटभूषितम् ॥ ३७६ ॥  
 सच्छास्त्रपीठं विविधं श्रद्धया यो महामते ।  
 ददाति देवदेवस्य संतस्थानं प्रयाति च ॥ ३७७ ॥  
 पुरस्कृत्य जगद्योनिं यद्यद् भवत्या प्रदीयते ।  
 तदाराघनसक्तानां तत्तदस्थ्य तामियात् ॥ ३७८ ॥  
 इति सम्बोधितो विग्रा लोकैर्धर्मव्यवस्थिताः ।  
 लाङ्गली देवदेवेन सर्वानुग्रहकाम्यया ॥ ३७९ ॥  
 मया प्राप्तं जगद्वातुः प्रसादान्मोक्षसिद्धये ।  
 यथावदथ सर्वेषामग्रतः प्रकटीकृतम् ॥ ३८० ॥

भद्रपीठबलिपीठग्रामारामक्षेत्रगोगजरथाश्वादीनां दीपस्थाल्यादिपूजोपकरणानां  
च समर्पणफलान्याह—भोगोपयोगिनीमित्यादिभिः ॥ ३६२—३७७॥

भगवत्सन्निधौ भागवतेभ्यः प्रदानफलमाह—पुरस्कृत्येति ॥ ३७८॥

इदं शास्त्रं सर्वानुग्रहार्थं भगवता वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टं मया भग-  
वत्प्रसादाललब्धं भवतामप्यग्रे यथावत् प्रकाशितम् । तदिदमास्तिकेभ्यः प्रकाशनीयं

१. प्रयास्यति—अ० । २. स्थानं—गृहम्—अ० । ३. गृहम्—अटी० । ४. रात् धूप-  
घण्टांश्व—अ० उ० । ५. पङ्किद्वयं नास्ति—अ० । ६. धूपं—बख० । ७. धूत—मु० अटी० ।  
८. ठसहितं—बक० । ९. परस्थानं—बक० बख० । १०. प्रयच्छति—बख० । ११. दक्षय—बक०  
बख० । १२. धिता—मु० अटी० । १३. लोके—बक०, लोकधर्मे—अटी० ।

परं पापहरं पुण्यं पावनं संभूद्धितदम् ।  
 इदं भव्याशयानां च वक्तव्यं भावितात्मनाम् ॥ ३८१ ॥  
 भक्तानामप्रमत्तानां पुण्डरीकाक्षसेविनाम् ।  
 यज्ञापैवर्गसत्कीर्तिसाधुसङ्गाभिलाषिणोम् ॥ ३८२ ॥  
 भोगेष्वनामभक्तानां वौक्षलादिरतात्मनाम् ।  
 अन्यायेनोपसन्नानां नास्तिकानां विशेषतः ॥ ३८३ ॥  
 यो गोपायत्ययोग्यानां योग्यानां संग्रयच्छति ।  
 ईममर्थं स मान्यो मे स्वस्ति वोऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ ३८४ ॥

इति श्री<sup>१</sup>पाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां ग्रतिष्ठा<sup>२</sup>दिविधिर्नाम  
 पञ्चविंशः परिच्छेदः ॥

नास्तिकेभ्यो गोपनीयम्, तथा प्रकाशगोपने यः करोति स तु ममापि मान्यो भवति,  
 भवतामैहिकामुष्मिकरूपं निरवधिकं स्वस्त्यस्तु. अहं व्रजामीर्ति भगवान् नारदो  
 मुनीन् प्रत्युपदिष्टवानित्याह—इतीति ॥३७९-३८४॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशाचरणकमलार्चकस्य  
 श्रीयोगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते  
 सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चविंशः परिच्छेदः ॥

- 
१. सिद्धि-अटी० । २. पङ्किरेषा नास्ति-मु० अटी० । ३. धर्माप-बख० अ० ।  
 ४. लक्षणाम्-बख० उ० । ५. गोपनीय-मु० अटी०, गोव्राह्यणानां-अ० । ६. नामास्तिकानां  
 विशेषतः-अ० । ७. वाक्प्रलाप-बक० बख० उ० । ८. पङ्कित्रयं नास्ति-अटी० ।  
 ९. विद्यातार्थ-बक० बख० । १०. पञ्च-बख० उ० । ११. षट्वि-अ० उ० । १२. चतुर्विशति-  
 तमः-अ०, पञ्चविशतितमः-उ० ।

## सात्वतसंहिताश्लोकार्धानुकमणी

अंशं दीर्घेन तत्स्थेन	२१५	अग्राह्योणाथ वपुषा	३७४
अकण्टकद्रुमोत्थाश्च	४२२	अङ्गनादिकसंसार०	२५९
अकस्मादुपसन्नानां	४२४	अङ्गभावगतत्वाच्च	४९३
अकामानां सकामानाऽ	१३३	अङ्गसंघं तदीयं च	५९
अकारपूर्वो हान्तश्च	२८	अङ्गाङ्गभावगुणवद्	४५९
अकारस्त्वप्यये चैव	४०२	अङ्गाराशिसदुर्श	२६४
अकाराक्षरमूलं तु	४७	अङ्गाराण्यर्चिष्ठैव	९६
अकाराद्यो विसर्गान्तः	१४	अङ्गुलादष्टभागो यः	४६१
अकालमूलनिर्गम्भी	३५५	अङ्गुलाद् द्विकलान्तं तु	४६२
अविलष्टकर्मा देवेश०	२३८	अङ्गुलिद्वितयेनैव	१२८
अक्षसूत्रकरो मन्त्री	३४४	अङ्गुलीयकरूपं च	९४
अक्षस्थं नाभिपूर्वं च	४५	अङ्गुष्ठद्वितयाद्यावत्	२४
अक्षस्थं पोडशं नामेऽ	५३	अङ्गुष्ठमङ्गुलं चाग्रात्	४६४
अक्षस्थबीजं तदनु	५५	अङ्गुष्ठाग्राच्च गुलफान्त०	५४४
अक्षस्थमधारं नामेऽ	४६	अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं	३०६
अक्षस्थमुद्धरेत् पूर्वं	१५	अङ्गुष्ठायामतुल्याथ	४६६
अक्षाद्विक्षिणदिक्संस्थं	१८४	अचलं योगपट्टैन	११८
अक्षान्तर्गतमादाय	५०	अचिरादेव भविनां	१२२
अखण्डनाय नित्यस्य	२७२	अचिछन्दूप्रसरं धूपं	३१८
अग्निकार्योपयोगीनि	८७	अजस्य नांभावध्येक०	४८५
अग्निगेहेऽथ संस्कृत्य	३६३	अजस्य नाभावित्यादि०	५१९
अग्नीनामेकदेहानां	९७	अज्ञातानां विशेषेण	३२६
अग्नीशरक्षोवायव्य०	३०१	अज्ञानखण्डनपदं	४५०
अग्नीषोममयीं मूर्ति	२३७	अज्ञानगहनेनैव	५१८
अग्नीषोमयो देह	२६८	अज्ञानव्यापकत्वं च	३६६
अग्नीषोमौ समीकृत्य	२६०	अञ्जनं सशलाकं च	७९
अग्नीषोमौ समीकृत्य	५२६	अञ्जनाद्रिप्रतीकाशं	४९
अग्रतो मूलदेशाच्च	४७८	अञ्जनाश्मप्रतीकाशं	३०४
अग्रतो हासमायाति	४७०	अणिमादिगुणैर्युक्तं	२८१
अग्रदेशेऽथ विम्बस्य	५२२	अणिमाद्यष्टकं चापि	२८९
अग्रपर्वार्धमानेन	४६४	अणिमाद्यष्टकं चैव	१८१

अतः पुरोदितेनैव	३६४	अथ क्षमामण्डलोधर्वस्थ०	३६८
अतः प्रणालं विहितं	४७९	अथ तेषां क्रमात् कुर्यां०	१०५
अतः समाचरेच्यत्नाद्	४७२	अथ त्रितयुक्तस्य	१६१
अतः सव्यभिचारं तु	१०५	अथ त्रिविक्रमं देवं	१६३
अत ऊर्ध्वे तिर्यगभिं०	४८४	अथ दक्षिणदिग्भागे	४९६
अतन्द्रितः सदा कुर्याद्	४१८	अथ दर्शकशब्दं तु	४४५
अतश्च विहितं यत्नात्०	३५३	अथ दामोदरान्ताभिं०	१५९
अतसीपुष्पसंकाश०	४९	अथ द्वितीयं दशमात्	३९
अतसीपुष्पसंकाशः	२३४	अथ द्वितीयं नवमां०	१५
अतस्त्रद्रक्षणीयं च	३७९	अथ द्वितीयं नवमात्०	५३
अतस्तस्य स्वमन्त्रेण	३४७	अथ द्वितीयदशमां०	३६
अतस्तु यद्यत् संवेद्यं	३७४	अथ नाभितृतीयं तु	३२२
अतिशुद्धाशयत्वेन	५०	अथ नाभितृतीयेन	३९
अतृप्तमशनं कुर्यां०	२८७	अथ नाभिद्वितीयेन	३८
अतोऽधः संस्थिताः सर्वे	४९७	अथ नाभिद्वितीयेन	४४
अतोऽन्यथा न दोषोऽस्ति	४२३	अथ नाभिद्वितीयेन	५५
अतोऽन्यथा यदुद्विष्ट०	१८०	अथ नामेयदादिस्थं	३९
अतोऽन्यथा समाश्रित्य	४७२	अथ नारायणं देवं	२४३
अतोऽन्यमस्तका कीर्तिं०	४५८	अथ निद्रायमाणं तु	५२१
अतोऽन्ये दृढमूलाश्च	४५३	अथ पाणिद्वयेनैव	३६०
अतोऽन्येषां तु भक्तानां०	३८८	अथ प्रणवपूर्वेण	२९६
अतोऽन्वितांशमेकं तु	५२२	अथ प्रत्येकतेजोऽशा०	१५२
अतो ब्रह्मपदादीषद्०	५२६	अथ प्रद्युम्नमन्त्रं तु	११९
अतो य आश्रयः क्षमाद्यः	३६७	अथ बद्धशिखो मौनी	३२७
अत्र चित्रमयं विद्धि	४५२	अथ भिन्नतनोर्मन्त्रं	४३
अत्र राजोपचारैस्तु	१६३	अथ मञ्जलकुम्भानां०	६३
अत्रापि पूर्वमेवोक्तं	३५	अथ मण्टपमध्ये तु	५२९
अत्रापि पूर्ववद् दृष्टया	४६४	अथ मण्डलदृष्टस्य	४१०
अत्रापि वेष्टनाद्विद्धि	४६६	अथ मन्त्रतुष्टं तु	३६
अत्रैकैका परिज्ञेया	४०२	अथ मन्त्रवरस्यास्य	२२
अथ ऊर्ध्वं इदं चोक्त्वा	४१५	अथ मन्त्रवराद्भर्म०	३४१
अथ कर्मात्मतत्त्वे तु	३२	अथ मन्त्राकृतिं स्वां०	३४९
अथ कामोपभोगात्०	३४९	अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वा	३९०
अथ केसरकोटिस्थं	१९७	अथ योऽच्छिन्नशाखानां०	५४४
अथ क्रमोदितैः कुम्भै०	५१३	अथ रक्षाविधानं तु	३२६

अथ लब्धाधिकारस्तु	२९२	अथान्यैविविधैर्भेगै०	१६४
अथ लाङ्गुलिना देव०	१७१	अथापरं महामन्त्रं	३७
अथ लाङ्गुलिना विप्रा०	२००	अथापर्वदं वक्ष्ये	१६७
अथ लाङ्गुलिनमन्त्राणां	४४८	अथाप्यं देहमापाद्य	३९५
अथवादाय मृतपात्रं	३१८	अथाभिमतदानाद्वै	३४३
अथवा नवमं नामे०	४४१	अथाभिमन्त्र्य बीजानि	३३४
अथवायतनं रम्य०	१३७	अथार्घ्यपूष्पपूर्वाणां	३२४
अथवा वाहनारूढा	४७५	अथार्घ्यपूष्पमृन्मूर्तिं०	५०३
अथवा वैभवीयेन	५९	अथार्चितुं यमिच्छेत्तु	५८
अथवा षोडशांशेन	४४१	अथार्थसाधनं मन्त्रा०	३४४
अथ विप्रवरा भूयः	४७	अथार्हांजलं स्वच्छं	८२
अथ व्यक्तिनिरस्तं च	३९२	अथावतार्यो हृदया०	३००
अथ शिष्टैस्तु नैवेद्य०	३१२	अथाष्टकोणं कुर्वीत	३३६
अथ शुद्धं च भूभागे	३७६	अथाष्टमं नाभिदेशात्	४३९
अथ षष्ठे दिने कुर्यात्	३३६	अथाष्टमं नाभिदेशादा०	४३८
अथ षष्ठेन वै नेमे०	५४	अथास्त्रमन्त्रेण पुरा	५११
अथ षोडशासंख्यं	४६	अथास्त्रोदकशुद्धेन	४६०
अथ संसाधितं मन्त्रं	३१४	अथास्मितां प्राप्य गुरुः	३९६
अथ संस्कारचक्रस्य	३७१	अथाह भगवान् देवो	४१
अथ सञ्चोदितो भूयः	२९१	अथाह भगवान् रामो	२
अथ सद्यज्ञनिष्ठस्य	९५	अथेशकोणमासाद्य	४८२
अथ सन्धारणीं रक्षां	३३८	अथैवं भाजितात्क्षेत्रां०	२१५
अथ सूत्राद्विनिष्क्रम्य	३९१	अथोक्तमिह संक्षेपाद्	३१४
अथ हस्तद्वये न्यसेद्	२९४	अथोऽखिलस्वरूपस्वच्छ	३०५
अथाक्षणं नाभिपूर्वं	५५	अथोच्छायां तु वै क्षेत्रात्	४८९
अथाङ्गलिधरा॒ः सर्वे॑	४	अथोक्तरं चाक्षदेशां०	४३७
अथातीतेऽर्धरात्रे तु	३७९	अथोक्तरस्थमक्षाच्च	४४०
अथात्र पञ्चदशामं	४६	अथोत्थाय नमस्कृत्य	३८६
अथादाय च तस्यान्ते	५३	अथो दलं तु दृग्द्वोणे०	४६९
अथादाय च नेमे॑ः प्राक्	४३८	अथो नाभिचतुर्थस्य	४३८
अथादाय सुचं तत्र	१००	अथो नियोजयेद् रेफं	१४७
अथादायाक्षणं बीजं	५३	अथो नेमिद्वितीयेन	५५
अथादायारुणं सूत्रं	३७०	अथोपचर्यमाणं तं	६६
अथाद्यमष्टमाद्वर्णं	३८	अथोपविश्य वै दार्भे०	२४
अथानेन हि मन्त्रेण	३२१	अथो मन्त्रगणं सर्वं	३२०

अद्विर्द्वीद्वृरैः पत्रै०	१६५	अनादिवासनारूपां	३६९
अद्य प्रभृति द्वेशा०	५	अनादिवासनोत्थानां	३६५
अद्य रागपरो लोक०	६	अनाद्यनन्तोऽनिधनो	३९७
अध ऊर्ध्वे च संच्छन्नं	३६४	अनामाङ्गुष्ठयुग्मेन	९३
अधरोत्तरता सम्यग्	४३६	अनायासेन वै येन	१३३
अधरोत्तरयोगेन	८४	अनाया देवभागं	४६०
अधरोत्तरयोगेन	११८	अनिमीलितनेत्रः स	२४१
अधरोत्तरवस्त्रे द्वे	७६	अनिस्त्रुगतिर्वारो	२५४
अधरोष्ठं परिज्ञेयं	४७०	अनिर्वाहिकमाद्योक्ते०	४३४
अधस्थं सप्तमं नामेऽ०	३२२	अनिशं भगवद्विम्ब०	२८६
अधिकार्थं चतुर्दिक्षु	४८८	अनुग्रहप्रद्याऽचार्यो	३५५
अधिदैवस्वभावं च	३९०	अनुग्रहपरस्त्वास्ते	२५२
अधिभूतमयं सूत्रे	३९०	अनुग्रहपरास्तस्य	४०१
अधिभूतस्वरूपेण	९५	अनुग्रहार्थं गुरुणा	४३३
अधिभूतैर्भवैर्मुक्तो	३४१	अनुग्रहार्थं भविनां	४५
अधिवासाभिधानेयं	३७८	अनुग्रहार्थं भविनां	१२३
अधिवास्य यथान्यायं	५३३	अनुज्ज्ञतस्वभावं च	२४०
अधुना ज्ञातुमिच्छामि	४३७	अनुज्ज्ञतस्वरूपं च	३००
अधोभागादेवमेव	४७६	अनुज्ज्ञतस्वरूपस्तु	३४
अधोमुखं तु सर्वेषां	३२२	अनुद्यतेन वपुषा	१७२
अधो वा नाभिपूर्वेण	४४१	अनुपातेन वै ताभ्यां०	२१७
अध्यक्षेण स्वरूपेण	१८०	अनुपादेन चामूलात्	४७८
अध्वाधिभूतमूर्तं तु	५२०	अनुभूतं न वक्तव्यं	३१०
अनन्तं त्वमलं त्वेवं	३४७	अनुष्ठानात् नान्येषां	४२७
अनन्तचेष्टस्य विभो०	१९३	अनुसन्धाय संपाद्यो	३७०
अनन्तभुवनं नाम	४९२	अनुसन्धीयते तत्र	२८२
अनन्तरं च संस्थानां०	१६१	अनेकगर्भमुच्चं यत्	२८१
अनन्तशक्तये सर्वं०	४४३	अनेकभुजवक्त्रास्त्र०	४६०
अनन्तशक्तेः सामर्थ्य०	३४६	अनेकभेदभिन्नं च	३४७
अनन्तशयनारुदः	२४७	अनेकभेदभिन्नं तु	२५४
अनन्तसरसि क्षार्णे	४७	अनेकभेदभिन्नास्तु	३७२
अनन्ताय पदं दद्यात्	४४२	अनेकवक्त्राङ्ग्रिकर०	२२८
अनन्तासनमाद्यं च	४७६	अनेकशक्तिभूतानां	३७२
अनन्तेशं स्मरेन्मध्ये	२९९	अनेन क्रमयोगेन	१२०
अनर्थकमसम्बद्ध०	४३४	अनौपम्येन वपुषा	२८

अन्तःप्रवेशमेकेन	४७७	अपवर्गे तु सामान्य०	५२२
अन्तःसंवेदनसम०	२१४	अपश्यदाश्रमं चान्यं	३
अन्तरान्तरयोगेन	७४	अपसव्यस्थितेनैव	२६१
अन्तरान्तरयोगेन	९३	अपांपतिवै कमलं	२६६
अन्तरान्तरयोगेन	२६९	अपानादिसमीराणा०	२५०
अन्तरान्तरयोगेन	३३०	अपास्य च ततः कुर्यात्	४४१
अन्तरीकृतशुद्धाभ्यः	३४२	अपास्य दोषसंकीर्णा०	४५५
अन्तरूढो यथा काष्ठात्	३९७	अपि चेत् पौरुषं वाक्यं	४३५
अन्तनिविष्टभावं च	२४३	अपिवादमिदं तावद्	३४६
अन्तनिविष्टभवनं	२४१	अपि संसारिणो जन्तोः	२४८
अन्तर्बहिस्थं सर्वेषां	५३५	अपौरुषेण रूपेण	२४०
अन्तर्बहिःस्थितिवशा०	४७६	अपूतत्वं पदसंयुक्तं	३९५
अन्तर्बोधस्वरूपं यत्	२५	अप्ययाख्येन विधिना	४३
अन्तर्वृत्तिरोधेन	२१८	अप्ययावसरे प्राप्ते	५४
अन्तवर्द्यां चतुर्धा	२३०	अप्ययेन तु संपूज्य	१६८
अन्तश्चक्रनिविष्टं तु	२०१	अप्रयत्नेन वै ताव०	११५
अन्तश्चिछ्रविनिसुक्तं	४६२	अप्राप्तेरस्य कालस्य	२७४
अन्यत्र तदलाभे तु	४९५	अबदान्तमर्चनं विष्णो०	१२८
अन्यत्र भोगपूजायां	६६	अभयं कमलं खड्गं	२५९
अन्यथा दृष्टमात्राद्वै	२१४	अभिजाततुर्युः प्राग्	२८६
अन्यथाऽसिद्धिद्वं विद्वि	५३६	अभिन्नं मर्स्तके ताव०	२४
अन्यस्मिन् पञ्चगव्यं तु	५०७	अभिन्नः पदभेदेन	३७
अन्यायेनोपसन्नानां	५४७	अभिन्नपूर्णषाङ्गुष्ठ०	४१
अन्येषां धर्मशास्त्रं च	४२४	अभिन्नलक्षणो वाच्य	१७४
अन्योन्यसंनिवेशाच्च	४७६	अभिधानाक्षरं पूर्व०	१९९
अन्योन्यानुगतत्वं तु	४९४	अभिमानलाठाढ्ये	२३९
अन्योन्यानुगतेनैव	२२५	अभिसन्धाय मनसा	३२७
अपनीताम्बरैः कुम्भ०	५३१	अभिसन्धाय मनसा	३४३
अपनीय तु तत्कुर्याद्	२९८	अभिनन्द्य शुभं स्वप्नं	४५९
अपनीय तु माल्यादीन्	२७८	अभीष्टमतितीव्रेण	१४०
अपनीय पुरा तस्मा०	३३५	अभुक्तेनाहतेनैव	३७६
अपरं सक्तवश्चैव	१६५	अभेदेन च मन्त्रादि०	४८५
अपरस्मिन्न्यसेत् कुम्भे	५०९	अभेदेनादिमूर्तवै	५५
अपरेझनि वै कुर्या०	२८०	अभोज्यं गुरुदेवाग्नि०	४२०
अपरेझनि संन्यास०	२७८	अभ्यच्छार्घ्यादिनावेष्टच	३७१
अपरमूलमन्त्रेण	५२०		

अभ्यर्थितात् सुप्रसन्नात्	२९०	अरान्ताद्येन वै मूर्धनी	४४१
अभ्यासाद्वगवद्योगी	१२१	अरान्तोपगतेनैव	३१७
अभ्यासाद्वत्सरान्ते	११९	अरावसानसंभिन्नं	३२३
अमद्यपान्वयोत्थस्य	३८८	अरुणाम्बोजपत्राभं	३०३
अमन्त्रमधिकारस्तु	१३	अर्घ्यं पुष्पं रजो धूपं	३३५
अमन्त्रेण यजेत् पश्चात्	३४६	अर्घ्यदानं तयोः कृत्वा	३६२
अमलं शान्तसंज्ञं	५३५	अर्घ्यपात्रसमूहाच्च	४१४
अमुकं पाहि पाहीति	३३९	अर्घ्यपात्रोदकेन	९१
अमुकं रक्षा रक्षेति	३३०	अर्घ्यपुष्पादिना कुर्यात्	३०१
अमूर्तं ईश्वरश्चात्र	२१४	अर्घ्यपुष्पादिनाभ्यर्घ्यं	३६३
अमृतं क्षुत्तृष्णादीनां	२३५	अर्घ्यादिभिः क्रमाद्गोगै०	१४२
अमृताध्मातमेघाभ०	२३५	अर्घ्याद्यक्षिलभोगानां	३१
अम्बरं परमाणुनां	४००	अर्घ्याद्यैदक्षिणान्तैस्तु	५१५
अम्बुजानि सुगन्धीनि	४२३	अर्घ्यनुलेपनाद्यैस्तु	१०५
अम्बुना पञ्चगव्येन	१५६	अर्घ्यालभनधूपैस्तु	६२
अम्भसा चाम्बुमध्ये च	३४८	अर्घ्येनिरम्बुकुसुमेः	३०७
अयं ते वहणश्चेति	५१३	अर्घ्योदकमथैकस्मिन्	५०९
अयं विशतिभिर्वर्ण०	४४६	अर्घ्योदकेन शिरसा	१४३
अयं विशतिभिर्वर्ण०	४४८	अर्चनं केशवादीनां	१३४
अयनादिषु कालेषु	४३१	अर्चने सजितन्तं तु	५४१
अयनादिषु चान्येषु	३१०	अर्चयित्वा नमस्कृत्य	५२१
अरक्षेत्रं च तस्यापि	२१८	अर्चयित्वार्घ्यपुष्पाद्य०	११५
अरषष्ठासनाः सर्वे	४३९	अर्चयित्वार्चयित्वा च	३६९
अरसूत्राश्रितं कुर्यात्	२१८	अर्चार्मि तेति ऋग्वेदाऽ	४८६
अराच्चतुर्दर्शां त्वक्षात्	१८३	अर्चार्मि तेति वै मन्त्रं	५१५
अराच्चतुर्दशेनैव	३२४	अचार्यामधिके पीठे	५३८
अरात् त्रयोदशाद्वर्धे	४३९	अर्धचन्द्रद्वयं कुर्यात्	२१३
अरात्पष्ठं च तस्याधः	४३८	अर्धचन्द्रसमाकारं	२१५
अरात्पष्ठस्य चोर्ध्वं तु	४४०	अर्धमानसमं मुख्यात्	४९९
अरात्पष्ठस्य चोर्ध्वं तु	४४०	अर्धवृत्तद्वयं दद्यात्	२१६
अरात्पष्ठासनं कुर्याद्	४४०	अर्धाङ्गुलं चोत्तरोष्ठ०	४६२
अरात्पष्ठासनं पूर्वं	४४१	अर्धाङ्गुलाग्रतो न्यूना	४६४
अरादेकादशात् पूर्वं	३६	अर्धेन च त्रिभागेन	४९३
अरान्तरे ततः स्वे स्वे	१६४	अर्धेन वालुकापीठाद्	४९९
अरान्ताद्यं विना यस्य	४४१	अलवतकाम्बुयुक्तेन	३१९

अलक्तरञ्जितं सूत्रं	३५४	अष्टमस्थाथ वै नामे०	४४०
अलङ्कृत्य यथाशोभं	३४४	अष्टमात्तु द्वितीयस्य	३६
अलाभे सति लाभे वा	३५२	अष्टमादपरं वर्णं	३६
अलुप्तांशं च विहितं	४७६	अष्टमादपरं शुद्धं	५१
अल्पवलेशमसङ्कीर्णं	१६५	अष्टमादपरं शुद्धं	५१
अवज्ञा परमा यत्र	१३६	अष्टलोचनमायामाद्	४६९
अवतारस्तथा ध्यान०	५८	अष्टलोहमयं चक्रं	५२४
अवतारो नगाद् वृक्षाऽ	३८१	अष्टहस्तोच्छ्रितं पूर्व०	४९८
अवतार्य च तन्मध्ये	३३५	अष्टाङ्गमथ वै कुर्यात्	१४३
अवतार्य तद्वर्धे तु	९१	अष्टाङ्गप्रणिपातैस्तु	३०८
अवतीर्याभ्यसो मध्ये	२८३	अष्टाङ्गयोगसिद्धानां	१२
अवलम्ब्य समाप्ते वै	३६९	अष्टाङ्गुलं तदुदरं	४७३
अवलोक्याखिलं तत्स्थं	३५७	अष्टाङ्गुलात् समुत्सेधाऽ	३५२
अवलोक्यामलं देव०	४१	अष्टाङ्गुले तु हनुके	४६९
अवशिष्टस्तु तत्काण्डै०	२८१	अष्टाङ्गुलोच्छ्रिते जड़ये	४७३
अवश्यकार्याण्येतानि	४९	अष्टाङ्गन नमस्कृत्य	११३
अवाङ्मुखः करवशा०	३५	अष्टाङ्गेनाथ विज्ञाप्यो	५१५
अविद्याख्या च या नेमि:	२३७	अष्टाङ्गेनार्चित्वा तु	४१३
अविद्यादलिनीं मुद्रां	३०४	अष्टादशाक्षरो ह्येष	३९
अविद्यादलिनी ह्येषा	३०७	अष्टादशाङ्गुला चैव	४६३
अविद्याविष्कृतानां तु	२२८	अष्टाधिकशतांशो यः	४६१
अविनाशी स ओङ्कारो	१७५	अष्टानां पूर्णकुम्भानाऽ	३२७
अविनासौम्यरूपेण	५४०	अष्टारं दीप्तिमच्चक्रं	३३६
अशाठयेन यथाशक्ति	१६५	अष्टाश्रममथवा वृत्तं	३५२
अशुभाऽपरिशुद्धा तु	४६९	असंख्यमाचरेद्वोमं	३३०
अशुभेन निमित्तेन	४५६	असंख्यमसंख्यानां	१७८
अश्रिभ्यामन्तरालस्थं	३२९	असङ्गशक्त्या भगवान्	२४४
अश्वत्थं च वटं धेनुं	४१९	असन्निधानात् स्वगुरोः	४३१
अष्टकं चाङ्गुलानां तु	४९८	असामान्याः फलेष्यनां	४५३
अष्टदिक्षवष्टकं दद्यात्	३३७	असिद्धानन्तं तु विहितं	१३१
अष्टबाहुर्विशालांसो०	२२६	असिद्धेन स्वमन्त्रणं	३१०
अष्टमं च तद्वर्धे तु	४३८	अस्त्रमन्त्रं तु तन्मध्ये	३६१
अष्टमं तु तदुद्देशात्	५३	अस्त्रविग्रहरूपं च	३६१
अष्टमं नाभिदेशान्व	१८३	अस्त्रसंपुटितेनैव	३३४
अष्टमं सप्तमं नामे०	४३९	अस्त्राभिमन्त्रितं कृत्वा	३५७

अस्त्राभिमन्त्रितान् दद्यात्	३३२	आचार्यः समयो नाम	४३२
अस्त्रेण तु विदिग्बन्धं	३२०	आ चेश्वरपदात् सम्यड्	३७०
अस्त्रेण पूर्ववत् कुर्यात्	३६५	आ चैकमूर्ते: सर्वासां	५४०
अस्त्रोपलक्षिते चैव	३२८	आ जलान्तं कृते खाते	४७९
अस्मान्मन्त्रत्रयाद्विद्धि	४६	आ जाग्रत्पदभूमेर्वै	११९
अस्मिन्मात्रानुरक्तानि	३७२	आ जानोर्दक्षिणस्यैव०	२५३
अस्मिन् व्रते चतुर्णा तु	१२९	आ जीवावधि वै सम्यक्	३४९
अस्य कर्मात्मतत्त्वस्य	३७०	आज्ञाप्रतीक्षकेणैव	२२५
अस्याधरोत्तराभ्यां	४७२	आज्ञावश्यो विधेयः	३४८
अस्यामङ्गुष्ठयुग्मं तु	३०६	आज्यस्थालीचतुष्कं	९१
अस्यैकाणं पदं पूर्वं	३७	आज्यस्थालीमथादाय	९३
अस्यैवाधो नियोक्तव्यं	५४	आज्यादिना प्रभूतेन	५१९
अहङ्कारस्तदुत्थास्तु	३७२	आज्येनोभयतः सिक्तं	९६
अहोरात्रोषितो भूत्वा	२८६	आढ्यैभोगपदस्थैस्तु	५४०
आ ईशकोणनिकटात्	२०२	आ तदुक्तात् यजनाद्	४४१
आ कर्कटकसंक्रान्ते०	२७४	आत्मतत्त्वं समाश्रित्य	३६६
आ कण्डि ब्रह्मारन्धान्तं	११७	आत्मतुल्येन देहेन	२२५
आकाराक्षरनालं	४८	आत्मध्यानपरायेति	४४६
आक्रम्य जाग्रदादित्यः	२४१	आत्मनश्चानु भक्तानां	३११
आक्रम्य देवभागं च	५२२	आत्मनश्चोत्तरे कुर्यात्	४४१
आखुदुर्मीनाहि०	४५८	आत्मनश्चोपकाराय	५४४
आगच्छपदसंयुक्तं	३००	आत्मयागं ततः कुर्याद्	१३४
आगच्छ मे कुरु दद्यां	५१४	आत्मयोनिस्तु विश्वेशो	९६
आगमाध्ययनं कुर्यात्	११३	आत्मशक्तिसमैभोगै०	२७१
आगमेभ्योऽथ तज्जेभ्यः	३१४	आत्मसिद्धिसमेताश्च	२८९
आग्नेयनैऋताशाभ्यां	९७	आत्मामृतपनौपम्य०	२३५
आग्नेयादौ तु धर्माद्य०	२९९	आत्मीयमुद्रासंयुक्तो	४३३
आधारदानमाज्येन	३६४	आ त्वाहार्षेति सूक्तं तु	४८६
आचम्य च बलिं दत्त्वा	५२१	आ दर्शनात् पलायन्ते	४७२
आचरेद्वीजविन्यासं	५३३	आदाय च बलिं शश्वत्	३३०
आचर्तव्य इहाज्ञानात्	४२५	आदाय तं तोयकुम्भ०	४१६
आ चांसाद्विक्षिणे भागे	२९६	आदाय पुण्डरीकाक्ष०	४४४
आ चाङ्ग्रिगोचरात् सर्वो	२५०	आदाय भाविनो बन्धान्	३७१
आ चाङ्ग्रेजनुपर्यन्तं	५१९	आदाय वाञ्छितपदं	४४९
आचार्यानुमताः सर्वाः	३७८	आदाय शिरसा मन्त्र०	४७२

श्लोकाधिनिकमणी	५५७
आदाय संयमास्त्रौवं	३१७
आदाय सोदकं चाथ	५४२
आदायाक्षगतं बीजं	२५२
आदायाक्षरमध्यस्थं	२५१
आदायादौ यदक्षस्थं	२५२
आदायाद्यपदस्थस्य	२३१
आदायाद्यात्ममन्त्रांश्च	४४५
आदायाभ्यां नियोक्तव्यं	२३६
आदायामृतमूर्ते वै	५१९
आदायैतद् द्वयं कुर्याद्	३४५
आदिमध्यावसानस्थं	३११
आदिमध्यावसानेषु	४५९
आदिमध्यावसानेषु	२७५
आदिमत्स्वरूपेण	२०
आदिर्वत्पाणियुगल०	३७१
आदिवद्विक्षिणे पद्मं	४५९
आदेयमेकयुक्तं च	४२५
आचं षडक्षरं ज्ञेयं	४६०
आद्यं सनातनतनुं	२६०
आद्यन्तमनिरुद्धादि	११७
आद्यमेकादशाद्वर्णं	५१९
आद्यमेकादशाद्वर्णं	३९०
आद्यस्तत्पत्रगोऽराणां	३७४
आद्यस्य चक्रशङ्खौ	३८२
आद्यस्य चातुरात्म्यस्य	३३२
आद्यस्य नासिकांशस्य	१९२
आद्यात् पूर्वमथादाय	३८८
आद्यायाः कमलं पाणा०	३४५
आद्येन सह कोणस्थै०	५१६
आधारं भुवनानां च	३५२
आधारनिलयं नाम्ना	२८०
आधारषष्ठसंरूढं	५१९
आधारादिध्वजाग्रान्तं	३९५
आधाराद्विग्वद्विम्बाद्	५०६
आधाराधेयभावेन	२४०
आधाराधेयभावेन	२५

आभोगं तदधः शेषं	४८७	आरोहेति तु वै साम	५३४
आभ्यां शान्तस्वरूपत्वा०	१७४	आर्द्रमांसान्यलङ्घारो	४५६
आ मध्यात्रप्रधिपर्यन्तां	१५	आलम्बनवशात् कुर्यात्	३७३
आमूर्ता ह्लादयत्याशु	४६८	आलोचयेत्सु शास्त्रार्थं	४३२
आ मूर्धतोऽग्निपर्यन्तं	१८२	आवाहने संनिधाने	३५८
आ मूर्धनश्चरणान्तं तु	२९५	आवाह्याम्यमरवृन्द०	५१४
आ मूर्धनो द्वादशार्णं तु	५१३	आवाह्य पूर्वविधिना	३८२
आ मूलात् कणिकाग्रं	४२	आवाह्य मण्डले मन्त्रं	३१७
आ मूलात् सर्वमन्त्राणां	३०१	आविश्यास्तेऽशमात्रेण	२३८
आ मूलानखपर्यन्तं	८४	आविष्कृतस्य भेदेनां०	५१८
आमृते वै ग्रहे भागे	२५९	आ शङ्खं मेखलानां तु	२१७
आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां	२५३	आश्रमे वैष्णवानां तु	२८६
आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां	४१७	आश्वत्थं व्रह्मवृक्षोत्थं	४५३
आ मोक्षादङ्गभावं च	३७५	आपाढपञ्चदश्यास्तु	२७४
आ मोक्षान्निविकारेण	१७३	आ समाप्तिक्रियां चैव	४२८
आयुरारोग्यमैश्वर्य०	३३७	आ समाप्तेरिदं कुर्यात्	३३४
आयुरारोग्यसंयुक्तो	३४८	आ समाप्तेभज विभो	३६१
आयुषः क्षयमायाति	३३७	आसादयाशु स्नानार्थं	६९
आरक्तरत्नसंसिद्ध०	१६०	आसाद्य प्राक्षिथतामर्चा	१४९
आरण्यं लौकिकं वाथ	८९	आसाद्य मण्डलं कृत्वा	४२६
आरम्भमासादारभ्य	१३२	आसाद्य यां समायान्ति	३७८
आरम्भादेव जातानां	५१९	आस्तां मितासिता चैव	३४५
आरम्भे सर्वकार्याणां	३५९	आस्ते विलाप्य स्वं रूपं	३५
आरभ्य दक्षिणाशाया	८७	आस्ते द्युत्पत्तिपूर्वाणां	५०३
आरभ्य वत्सरं प्राग्वत्	१३१	आस्फोटयन्तं स्वकरं	२६८
आराधनं च संक्षेपा०	३५०	आस्यनासाललाटार्थं	४६१
आराधनं च स्वस्थाना०	५२१	आहरन्तु वलि तुष्टाः	३६३
आराधनं यथावच्च	१७१	आहं संकर्षणो विलिं	६
आराधनं हि तस्यैव	२८८	आहुतीनां शतं हृत्वा	३९६
आराधनार्थं विहितो	१७३	आहुत्यासु दधृतायां च	९४
आराधयन्ति ये तेषां	७	आह्लादजननी शक्तिं	२८२
आराध्य परथा भक्त्या	१३४	आह्लादायामराणां च	२८०
आराध्य मन्त्रनाथेन	२८१	इच्छा प्रीती रतिश्चैव	१८८
आराध्यस्याग्रतः स्थित्वा	२७७	इच्छारूपधरश्चैव	२२४
आरोग्यभोगकैवल्य०	४७१	इडा मायेति सामज्ञात्	८८०

इतिकर्तव्यताशास्त्र०	४०६	इन्द्रनीलमयश्चैव	५२३
इतिकर्तव्यतासक्तै०	१३१	इन्द्रियादिगणं जित्वा	२३८
इति पञ्चकमेकस्मिन्	५०९	इममर्थं स मान्यो मे	५४७
इति प्रथममूर्तीर्णा०	१२९	इमं विद्धि महाबुद्धे	२८३
इति भक्त्या प्रपन्नानाऽ	२८७	इष्टकाद्यैश्चितं कुर्यात्	१६७
इति मन्त्रगणः प्रोक्तः	५५	इष्टोपदेशः कर्तव्यो	४२५
इति रक्षाविधानं तु	३३८	इष्ट्वा तु मन्त्रदत्तेन	३३५
इति लाङ्घनसंचारो	४७७	इष्ट्वाऽथ वह्निगर्भस्थं	३२५
इति विज्ञाप्य चाज्ञाप्य	३९४	इष्ट्वा नैवेद्यमादाय	३३६
इति विज्ञाप्य देवेशं	१४३	इष्ट्वा सम्यग् विधानेन	१६३
इति वैभवदीक्षाया	४०७	इष्ट्वा सर्वेन्द्रियाधार०	३६७
इति शान्तिविधानं च	३१८	इष्ट्वैवं हि ततः कुर्यात्	३११
इति सम्पातहोमो वै	३७०	इहाश्रितात्मने तुभ्यं	४६०
इति सम्बोधितो विप्रा	५४६	ईक्षमाणं विभोर्वक्त्रं	५४६
इति सामान्यसन्धानं	५२७	ईशकोणात्समारभ्य	४८०
इति सामान्यसन्धानं	५२८	ईशकोणात्समारभ्य	५१०
इत्यध्वषट्कमुद्दिष्टं	३९९	ईशकोशेऽथवा सौम्ये	३८२
इत्यर्चनं क्रमात् कुर्या०	१२९	ईशवह्निपदाभ्यां तु	२१६
इत्यादौ सर्वसामान्यो	३७५	ईशानपदपत्रात्	१६८
इत्युक्तं चातुरात्मीयं	१२२	ईशानाभ्येपादाभ्यां	९६
इत्युक्तं लेशतो वैम्बा०	४७५	ईशाब्जनाभरुद्धेन	३६४
इत्येकमूर्तीर्घूहानां	५८	ईश्वरेच्छानुविद्धानां	४००
इत्येतदेवताचक्र०	१७०	ईश्वरेच्छावशेनैव	३९७
इत्येवमन्तर्यागिस्तु	१९२	ईषत्तिर्यविक्षतिन्यस्त०	४७१
इत्येवमादि सर्वेषां	६०	ईषदारकतां याते	६
इत्येवं वैभवीयस्य	१९२	ईषदोष्ठपुटौ लग्नौ	११८
इदं तत्पार्थिवं तत्त्वं	३५०	ईषद्गोमययुक्तोन	४५५
इदं भव्याशयानां च	३९३	ईषद्वलयवन्नाभै०	५३५
इदं विष्णुर्विचक्रम	५४७	ईषद्वै ढोलयेत् पश्चात्	१४९
इदं व्रतोत्तमं दिव्य०	५०४	ईषन्न याति वैप्यम्	३७९
इदमभ्यर्थयेद् विद्वान्	१३२	ईषन्निम्नतलं चैव	४६४
इदमुक्त्वा च तदनु	३६१	ईषल्लब्धरसानां च	२३९
इदानीं श्रोतुमिच्छामि	३६३	उक्तदिग्द्वितयस्यैक०	४५८
इदानीं सविशेषेण	१७१	उक्तदोषविमुक्ताऽथ	४५४
	१८०	उक्तनिर्वाहकश्चाभी०	४३०

उक्तप्रयोजनादन्यः	२०७	उद्धृत्योद्धृत्य हस्तेन	९२
उक्तानुक्तमशेषं तु	२००	उद्यानवनिताराम०	३८०
उक्तोऽहं भवतामर्थं	४	उन्नताङ्गुलवृद्ध्या तु	४९६
उक्त्वा ओत्मात्मने स्वाहा	३७१	उन्नता शिखरार्थेन	४९०
उग्रगन्धा हृकर्मण्या०	४२२	उन्नतासनसंस्थोऽपि	५३८
उच्चं गर्भसमं पीठं	४८९	उपकुम्भाष्टकं त्वेवं	३१६
उच्चाग्रविततां पीतां	२१३	उपचारे तु विहितं	३२२
उच्चार्य मूलमन्त्रं तु	९५	उपपीठस्य संलग्ना	३५२
उच्चार्यार्ध्यादिनाऽभ्यर्थ्य	१५	उपभोगं प्रदाऽऽयाति	३३६
उच्छिष्टवर्जनपर०	४३०	उपरिष्टातु पद्माभ्या०	४७६
उच्छ्रायात्यङ्गुले चैव	४६३	उपरिष्टातु भागेन	४९०
उत देवा अवहित०	५०३	उपरिष्टातु सर्वेषां	२०४
उत्कृष्टद्विजरूपेण	२४०	उपर्युपरि योगेन	३६७
उत्कृष्टधातुसम्भूतात्	४८२	उपलिसे तु संलिख्यं	२९१
उत्कृष्टादिगुणाद्याना०	१२४	उपलिप्याथ भूभागं	२९८
उत्तराधरयोगेन	३२२	उपलिप्यास्त्रजप्तेन	३५३
उत्तराभिमुखं कृत्वा	३२८	उपवासं विनाऽभ्यर्थ्य	१३३
उत्तरोत्तरतां बुद्ध्वा	२८७	उपवीतं सोत्तरीयं	७९
उत्तिष्ठेति ऋचो मन्त्रं	५१५	उपवीतं सोत्तरीयं	३५४
उत्तिष्ठेति द्विषट्कार्णं	५१६	उपशोभं तु तं विद्धि	२१२
उत्थाप्य मूर्तिमन्त्रेण	५२५	उपसंहृतवामाङ्गिः	२५३
उत्पद्यतेऽन्यथात्वं च	२८२	उपानहौ सितं छत्रं	८०
उदक्परिचमभागस्थे	३०१	उपायलक्षणं द्रव्य०	३४६
उदक्परिचममध्यस्थे	५०	उपाजितं पुरा यद्यै	२४
उदक्स्थमक्षरं चाक्षा०	१८३	उपार्ज्यं भोगानखिलात्	२९२
उदगदक्षिण आप्याद्ये	२०२	उपासकानां भक्तानां	११
उदगदक्षिणवक्त्राणां	४७९	उपासकानां भक्तानां	१७३
उदितं सहृतेनैव	२६८	उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे	२०३
उदितेऽथ निशानाथे	१२६	उपोद्धारे प्रयोक्तव्यं	५४१
उदुत्तमं हि ऋग्वेदान्	५१३	उभयोरन्तरे रेफ०	१४४
उदेति दक्षिणस्यां वै	४२	उवाचेदं हर्मिं वाक्यं	३५१
उदधाट्य हृदयेनाथ	५२५	उशीरवंशकूर्चेन	६४
उदधृतां कृतखातां च	३५२	उष्णीषं च तद्वर्धेवं तु	४७७
उदधत्याहुतियोगेन	३६४	उष्णीषघटजञ्ज्ञाना०	४७७
उदधृत्योत्तरतः कृत्वा	३७६	उष्णीषमूर्ध्वभूमेस्तु	४९०

## श्लोकाधार्निक्रमणी

५६१

ऊनातिरिक्षशान्त्यर्थं	१२१	एकविशाक्षरो मन्त्रो	४४७
ऊरुद्वयान्नयेद् ह्रास०	४७४	एकस्त्वनुग्रहार्थं तु	२४९
ऊरुमध्यनिषणे तु	२०५	एकस्मादेकवर्णात्तु	४८९
ऊरुमध्यप्रदेशो तु	११८	एकस्मिन् चन्दनादीनि	३५७
ऊरुमानं परिज्ञेयं	४६५	एकस्मिन्नासने स्थाने	५३६
ऊरुयुग्मस्य जड्जाभ्या०	४६६	एकस्मिन् मध्यरन्ध्रे तु	५२९
ऊर्ध्वंगा जानुदेशाच्च	४५८	एकस्मिन् वा महाबुद्धे	४८४
ऊर्ध्वपाती तदारूढ०	३९४	एकस्मिन् वै समादाय	३३२
ऊर्ध्वाधो मेखलानां च	८८	एकांशादर्थमानं च	२१८
ऊर्मिभूतं वहिष्ठस्य	३२४	एकादश च मासेशान्	१३५
ऋक्सामपूर्वान् वामे तु	५०४	एकादश ततोऽन्यस्मिन्	३३४
ऋक्सामपूर्वविधिवत्	५१३	एकादशस्वराक्रान्तं	५२
ऋग्यजुःसामपूर्वाणां	५०२	एकादशस्वराक्रान्तं	५५
ऋग्वेदाद्यांस्तु चतुरः	४८२	एकादशस्वराक्रान्तं०	४४
ऋग्वेदाद्यांस्तु पाठ्येऽद्वक्त्या	४८४	एकादशाक्षरं विद्धि	४५०
ऋद्वमयान् पौरुषं सूक्तं	५१८	एकादश्यन्तमेवं हि	१३३
ऋजुभूतं शिशुं कृत्वा	३८९	एकादश्यां न भुज्जीत	१३३
ऋजोः सुसमपादस्य	४६८	एकादश्यां प्रभातेऽथ	१२५
ऋज्वाख्यमविकारं च	४६१	एकादश्यां प्रभातेऽथ	१५१
ऋते वेदविदो विप्रा०	३९८	एकादश्यादि चान्तो	२७४
ऋते सांन्यासिकैः शान्तैः	५४०	एकादश्यामनश्नेस्तु	१३५
एकं मन्त्रचतुर्ज्ञेण	१०२	एकाद्यनेकसंख्यं च	२४८
एकं सुलक्षणं तत्र	६४	६४ एकाद्यष्टमपर्यन्ता	४८८
एकं स्थले जले चान्ये	३३४	३३४ एकाधिकस्तु भवति	५४
एक एकार्णरहितः	४६	४६ एकाननं च सर्वेषां	२६२
एक एव जगन्नाथ	२२३	२२३ एकानेकदलैश्चैव	५४३
एक एव तदूर्ध्वेऽथ	५२९	५२९ एकानेकस्वरूपां वै	३७८
एकत्रिपञ्चसप्ताख्याः	४८८	४८८ एकापायेन वै कुर्यात्	५००
एकत्रिपङ्गिष्ठात्रात्रा०	२४४	२४४ एकायनान् यजुर्मया०	५११
एकदिवीक्षमाणं च	४९३	४९३ एकायनांस्तदन्ते तु	५०४
एकमेव हि तन्मूर्ति	५३५	५३५ एकायनांस्तदन्ते तु	५३२
एकरात्रं द्विरात्रं वा	२८४	२८४ एकायनैरभिज्ञाभिः	५३२
एकवक्रं चतुर्बाहुं	४९	४९ एकार्ण पदमाद्यं तु	३९
एकविशतिभिर्वर्ण०	३७	३७ एकेन चरणं जड्जा	४७७
एकविशतिभिर्वर्ण०	४४३	४४३ एकैकं भगवद्गूपं	३५

एकैकं लक्ष्यमेदेन	४७६	एवं तेनैव चान्येषां	२८४
एकैकं लोपयेत्तावद्	१३३	एवं दशावशिष्टान्तैः	५१३
एकैकं हृदयादीनां	३०७	एवं दानं स्वमात्मानं	३४६
एकैकस्य तु वै होमं	२०४	एवं दानप्रदानेन	३४७
एकैकस्याग्र उच्चार्यं	१२७	एवं दिनचतुष्कं तु	२८६
एकैकेन तु भागेन	४३	एवं द्वयं द्वयं विद्धि	१५३
एतत्पूर्वं त्रयं चान्य०	८	एवं द्वयोज्जितं विम्ब०	१६७
एतत्संपुटमध्यस्थं	३२४	एवं ध्यात्वा ततः कुर्यात्	३०५
एतदादाय मानं तु	४७४	एवं ध्यायेऽजपेच्चापि	३४८
एतदेवाङ्गजनाभस्य	१८३	एवं निर्जगतीकं च	४८८
एतद्विष्वप्रतिष्ठानात्	४९२	एवं न्यस्य ततो ध्याये०	३०३
एतर्दिशतिसंख्यं च	४४२	एवं पटहुमार्थं तु	४५३
एतयोरन्तरं यद्वै	९९	एवं परिसमाप्ते तु	१०३
एतावता महाबुद्धे०	३७०	एवं पुत्रकपूर्वा ये	४३२
एतावता लक्षणेन	३५	एवं पुरा परिज्ञाय	४५८
एतेष्टनायकाः सर्वे	२६४	एवं प्रणम्य विज्ञाप्य	५३१
एतेषामपि संचारं	१९८	एवं प्रतिदिनं तावद्	१५५
एतेषां विहिता ग्रीवा	४७१	एवं प्रद्युम्ननाथस्य	१६५
एभ्यः पादाधिकं कुर्यात्	४९२	एवं प्रवेश्य तद्विम्बं	५०६
एभ्यो मध्यात्त्वथैकेन	१७३	एवं प्राप्तिमयैर्भौगै०	३७५
एवं कृते ततः कुर्या०	२०८	एवं मन्त्रमयं देव०	८८
एवं कृते सति तदा	२७९	एवं मांसादिधातूनां	३३७
एवं कृत्वा ऽर्चयेद् भूयो	३३१	एवं मुद्राचयं कृत्वा	३०३
एवं गन्धरसल्प०	३६८	एवं मर्त्यन्तरैर्युक्तं	१३४
एवं चतुर्भुजेनैव	२५८	एवं यथास्थिताद् ध्यानात्	१३०
एवं चतुर्विभवतेन	९७	एवं वर्धननिष्ठं च	३८५
एवं चाभिमतं चक्रं	५३६	एवं वा संकटे कुर्या०	५०६
एवं ज्ञात्वा तु पात्राणां	१३७	एवं विज्ञाप्य भगवन्	२८८
एवं ज्ञात्वा पुरा कर्म	५४३	एवं विषमपादस्य	१६८
एवं ज्ञात्वा पुरा सम्यक्	९६	एवं श्रोत्रादिकान् पञ्च	२८१
एवं ज्ञात्वा ऽमृतमय०	५५	एवं संकर्षणाद्यं तु	१२८
एवं ज्ञात्वा यथाशक्ति	५३९	एवं संज्ञात्मनः स्वप्न०	११०
एवं ज्ञात्वा स्थिर्ति ब्राह्मी	३६	एवं संपातहोमं तु	८८९
एवं तावद् यजेद् यावद्	१६९	एवं संप्रतिपन्नानां	१३
एवं तु विग्रहे सूक्ष्मे	३९२	एवं संशुद्धदोषाणां	२८८
		एवं संस्कारसंशुद्धं	३८९

श्लोकाधीनुकमणी	५६३
एवं सर्वाणि कोणानि	२१४
एवं सितेऽसिते वापि	१३५
एवं सूत्रद्वये दत्ते	२१६
एवं स्नानगृहणां तु	४९८
एवं स्वप्नपदस्थस्य	४६
एवं हि चतुरश्चस्य	५२२
एवं हि चित्रपूर्वाणा०	५०६
एवं हि भूमयो वस्त्र०	४५३
एवं हि वामनिकटे	५०२
एवं हि समयान् दद्याद्	३११
एवं हि सर्वदेवानां	५२८
एवं हि सर्वसामान्यं	४७६
एवं हि सान्तराद्वाह्यात्	४८३
एवं ह्यधोगतेनैव	४७६
एवमत्र क्रमेणैव	४८८
एवमन्यास्तु वैश्यान्तैः	५४०
एवमध्ययोगेन	४८२
एवमर्थ्यो हि भगवां०	५१५
एवमव्यपदेश्यायाः	५१७
एवमाकर्ण्य स त्वेवं	२२३
एवमाक्रम्य गरुडं	२६०
एवमादाय वै सर्वा	३९१
एवमादीनि चान्यानि	३८१
एवमादेयवाक्योत्थ	४३५
एवमाद्यैस्तु विधिवद्	१९८
एवमाराधनवशात्	५२२
एवमालेख्य वृष्ट्या तु	४८९
एवमाश्वयुजे भूयः	१३५
एवमाहूय वै दद्यां०	३०१
एवमुक्ते सति पुनः	३५१
एवमुक्त्वा तु तं विप्र०	३
एवमुक्त्वा नमोन्तं तु	४१३
एवमुक्त्वा समभ्यर्चर्य	२७८
एवमेकतमस्यापि	४६०
एवमेकोऽपि भगवान्	४५
एवमेव च संस्कृत्य	४८४
एवमेव निरस्तास्त्रं	२४०
एवमेव प्रपन्ना ये	३४५
एवमेव वृद्धिम्ब०	४७८
एवमेव भुवर्लोक०	१९८
एवमेव विजानीयाद्	३७५
एवमेव विधानेन	३१८
एवमेव समभ्यासाद्	११९
एवमेव समुच्छायः	५०१
एवमेव सुपर्णस्य	२५१
एवमेव हि हृष्णमन्त्रं	३०४
एवमेवाङ्गमन्त्राणा०	१९७
एवमेवाद्यमन्त्रस्तु	४०८
एवमेवैष भगवान्	४३
एपि विशतिभिर्वर्णः	४८२
एपि वैभवदीक्षाया०	३७३
एपां चोढ्डीयमानानां	४७५
एषा तु सात्वनी शुद्धा	३
ऐक्षवं तु रसं हृष्ण०	७१
ऐश्वरेण तु वीजेन	३९६
ऐश्वरेणाथ वीजेन	५१७
ऐश्वर्य शिरसो देये	२५
ऐश्वर्यधर्मवैराग्य०	२३८
ऐश्वर्येण तु वीर्येण	३४
ऐहिकान् धर्मकामार्थान्	१६१
ऐहिकामुष्मिकीं वृद्धि	३३७
ॐ अद्यं कल्पयामीति	६३
ॐ नमो भगवते नार०	२९२
ॐ ब्रताधिपतये देव	१२५
ॐ हं अदन्ये हं स्वाहे०	३७१
ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं	४८०
ओङ्कारान्ते पदं दद्यात्	१८८
ओङ्कारो वेदमात्रेऽथ	१८८
ओजोवलात्मना यद्वद्	५१७
ओदनं दधिलाजाज्यं	३५३

ओदनम्पचनात्मा तु	९५	करयोः पद्मनाभीयं	३५७
ओमादिश जगन्नाथ	३७६	करविग्रहकल्लार०	४३४
ओषध्यश्चैव पश्चो	१९२	करस्थमथ मोक्तव्यं	५२७
औकाररहितं बीजं	३३८	कराभ्यां लम्बमानाभ्यां	१२६
औत्सुक्यादशिवध्वंसि	३८१	करावङ्ग्यिगतौ कृत्वा	५१५
औपचारिकभोगानां	२७३	करिकुम्भोपमौ पीनौ	४६५
औपचारिकभोगानां०	८०	करुणापूर्णहृदया	४३
ककारं च क्षकारं च	१४६	करुणाविष्टबुद्धं च	२३९
कक्षान्तर्वेष्टनं विद्धि	४६५	करोति पूजनं मूढ०	५४१
कचोदकापकर्षार्थ०	७६	करोति योजनां तस्य	४०१
कण्ठकूपधराराघ०	२६	करोति सेचनं दोष०	२३१
कण्ठदेशेषु बधनीया०	३२७	करोत्यमूर्तामिखिलां	६७
कण्ठवीथिमथैकेन	४७७	कर्णपीठनिविष्टं च	२२६
कथमत्र त्वहं चासं	३९४	कर्णदीर्घं नयेत्सूत्रं	४८९
कथितं विरतानां च	२८७	कर्णवितंसकुसुमे	७९
कथिता सीरिणे विप्रा०	३७८	कर्णिकाग्रं समाश्रित्य	४१
कदम्बपुष्पसदृशा०	४८	कर्णिकालयवक्त्रस्य	४८१
कनीयोऽङ्गुलिमूलाच्च	४६६	कर्णिकास्थं हुतभुजं	२९९
कपोलपरिधि कुर्यात्	४६३	कर्णिकोच्छ्रायतुल्यानां	२१९
कबिन्दुनेवाबजपत्र०	३९३	कर्णिकोपरि पत्रेषु	१६४
कमण्डलुं समादाय	३७९	कर्तव्यं सजपं ध्यानं	३१४
कमण्डलुधरं ध्यायेत्	२४३	कर्तव्यमनुयागार्थं	३४७
कमण्डलुस्थितेनैव	११६	कर्तव्यमिति वै कर्म	१२४
कमलं चाक्षसूत्रं च	२३२	कर्तव्यो मन्त्रमाहात्म्यात्	३७०
कमलं तद्वहिः कुर्याद्	३३८	कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं	४५२
कमलं तद्वहिर्लेख्य०	३१७	कत्रं नमः पदं पश्चाद्	३७
कमलं निशिताग्रं च	३०१	कर्मणश्चोदयायास	२७२
कमलभ्रमसिद्ध्यर्थ०	३७९	कर्मणा केवलेनैव	२९०
कमलाङ्कं तृतीयं तु	४७६	कर्मणा प्रेरयेच्चैव	३००
कमलादित्रयेणैव	१५५	कर्मणा मनसा वाचा	३००
कमलालयहेतीशा०	२३६	कर्मणामवसाने तु	३९२
कम्बुतुल्यमथैकं वा	४८३	कर्मतन्त्रं समन्त्रं च	४३१
करकं कुम्भसंयुक्त०	३६१	कर्मबिम्बं विना तेषां	५०६
करकं वारिसम्पूर्ण०	४१५	कर्म यागगृहे शश्वद्	५००
करयुग्मं सगर्भं तु	२०५	कर्मवाङ्मनसैः शुद्ध०	१३७

कर्मवाड्भूतसैः सम्यग्	१३	कान्तिर्दर्पणसंकाशा	२६७
कर्मवृक्षः सुविततो	२३८	कामपालेन देवेश०	४३७
कर्म होमचयं कृत्वा	४९२	कामरूपधरं नितयं	२९१
कर्मारम्भं च पठत०	५०४	कामार्थाविद्वहन्तं च	२३१
कर्मारम्भे तदन्ते वै	५४२	कार्तिकस्य दशम्यां तु	१२४
कर्माविसानं हवनं	४८२	कामुकं हेतिराट् शङ्खं	३१२
कर्मिणां मोक्षदं शशवत्	३६	कामुकं हेमगौरं च	२६४
कर्मिणामात्मलाभार्थं	३९९	कार्यं क्रियापरेण॑व	३३८
कर्मेन्द्रियाणि तदनु	२८१	कार्यं तदर्घ्यदानं च	३५९
कलनादेहभूत् कालो	१४	कार्यं वै स्नानकर्माऽथ	५३२
कलशं तद्वैशान्यां	६३	कार्यं व्रतमिदं भक्त्या	१३२
कलशाकृतिरूपेण	२३६	कार्यं शिखरपीठं तु	४८९
कलशौः पृष्ठभागस्थ०	५३०	कार्यं संशुद्धपापानां	२९०
कलाध्वाऽनुगलान्तश्च	४८७	कार्यमप्ययुक्त्या वै	१३३
कलामूर्त्यभिमानात्मा	२३६	कार्यमारम्भमासे तु	१३२
कलायामसमं दैर्घ्यात्	४५२	कार्याणि चोर्ध्वपुण्ड्राणि	३३१
कलार्थमानं दीर्घं च	४७४	कार्या तेषां न जिज्ञासा	४३१
कलार्थसुषिरे द्वाण०	४६९	कार्या दशनपाली वै	४७२
कलार्थेन तु तच्छद्रं	४६२	कार्या मध्ये स्थला तेषां	४९६
कलार्थेन तु विस्तारः	४६१	कार्यारम्भे तथा मध्ये	१७२
कलार्थेनाधिकं विम्बं	४७३	कार्या शिखरपीठोर्ध्वे	४९०
कलार्थेनोल्खणं वृत्तं	४७२	कार्योऽत्रावयवानां तु	४०७
कलाहीनं तदैवाग्रात्	४६६	कार्यो ब्रह्मशिलाहोमः	५१९
कलौ कृष्णं सितं रक्तं	५७	कालं तं चाष्टपक्षं तु	२७४
कल्पान्तानिलघोषाय	४५०	कालं तं वैष्णवं विद्धि	२७४
कल्पावसानसमये	२४१	कालं पाद्यार्थदानान्त०	६६
कल्मषस्य विधातार्थं	२८८	कालं भोगक्षयान्तं च	३९१
कषायोदकमन्यस्मिन्	५०८	कालकर्त्रैऽथ चक्राय	४४९
कस्मिंश्चिद्वैभवे रूपे	१३७	कालमाहुतिसंख्यां च	२२०
कांस्यं सराजपाषाणं	५२३	कालवैश्वानरः साक्षा०	१५
काण्डान्यष्टौ तु साग्राणि	३५४	कालवैश्वानराख्यस्य	८९
कादयो नेमिगाः सर्वे	१८३	कालस्वभावजः केन .	६
कादिभान्तोऽप्यरान्तस्थः	१४	कालादीनां च विन्यासः	२०२
कान्ताभिर्गीयमानं तु	४१३	कालाद्वासं यथाशक्ति	२९३
कान्तासमन्वितं देवं	१५९	कालानामाश्रयो व्योम	३७२

कालानुकालमाश्रित्य	२४४	कुटिलभ्रूसुवृत्ताक्षा	२५०
कालानुकालमुद्राणां	२०७	कुटुम्बभरणाद्यर्थं	१३८
कालेन केनचित् स्वर्गदि	२	कुठारमतुलं पाशं	२५९
कालेन वर्णोत्कर्षेण	२८७	कुण्डं सुलक्षणं कृत्वा	३०७
कालो वियन्नियन्ता च	१९२	कुण्डमण्डलमुद्रास्त्र०	८३१
काष्ठलोहमणीनां	४५९	कुण्डमध्येऽनुसन्धाय	३११
किञ्चित्तदूर्धर्वदेशाच्च	२८२	कुण्डमेकं चतुर्धा	९७
किन्तु क्रमेण वै मन्त्रान्	४८५	कुण्डस्य व्रह्मभित्तिभ्यां	९८
किन्तु तत्प्राप्त्युपायं वै	४००	कुण्डस्य योनिनिकटे	५०३
किन्तु तद्यानवादित्र०	२८३	कुण्डाष्टकान्तरस्थं च	८८१
किन्तु तस्य विशेषो	४३२	कुण्डे द्वोणांशमात्रं	८८
किन्तु द्वितीयमूर्तेवं	३५	कुतपं योगपटुं च	३५८
किन्तु पादोज्जितौ पक्षौ	४७४	कुन्दावदातं कमलं	३८२
किन्तु प्रवेशनिर्यासौ	४८९	कुन्देन्दुस्निग्धकान्ति च	३८९
किन्तु वै तत्र योक्तव्यं	४०८	कुम्भं तं शयनागारे	२३१
किन्तु वै दक्षिणं हस्त०	३०७	कुम्भेन सेचयित्वा तु	५१३
किन्तु वै पङ्कजं नाल०	१४५	कुम्भोपकुम्भकुण्डानां	३५०
किन्तु वै वालुकापीठ०	४९८	कुरुते पश्चिमस्थेन	२२५
किन्तु वै शङ्खचक्रे द्वे	२५७	कुर्यात्कलार्धमानं तु	८६३
किन्त्वत्र विहितं पश्चात्	१५९	कुर्यात्कुम्भप्रतिष्ठानं	८८१
किन्त्वेकवचनेनात्र	४०८	कुर्यात्कोणचतुष्के तु	३३६
किन्त्वेषां वैमवी मुद्रा	४४१	कुर्यात्तोर्धवसन्धानं	५३८
किं पुनर्यत्र भगवान्	२८३	कुर्यात्प्रवृद्धर्घुणं चैव	८८५
किं पुनर्योऽनुतापातः	२८८	कुर्यात्पिद्यदलाकारं	८६२
किं पुनर्योऽकलाकाङ्क्षी	४५४	कुर्यात्प्रणयनादानं	३१९
किं पुनस्तु समर्थनां	३४७	कुर्यात्प्रणवपं ठस्थं	१७८
किमिदं देव पश्यामि	६	कुर्यात्प्रवेशपूर्वं तु	५०६
किरीटः कौस्तुभो भाढ्यः	१९१	कुर्यात्प्रासादपीठस्य	५८६
किरीटः सौम्यवदनः	२६२	कुर्यात् संशयविच्छिन्निति	४१०
किरोटमुकुटे रम्य०	५०	कुर्यात् सतोरणानां तु	५०३
किरीटाद्यस्त्रनिष्ठेन	२७०	कुर्यात् सव्यापसव्याभ्यां०	५३१
किरीटो हुतभुग्वद्यः	२६६	कुर्यात् स्वकृत्यं जुहुया०	४५९
कीर्त्यर्थं स्वगुरोर्बूयात्	४३३	कुर्यादिव्यक्तवृद्धयर्थं	३०९
कुङ्कुमक्षोदमिश्रेण	३१८	कुर्यादुदकपूर्वं तु	०६
कुङ्कुमाद्यैर्यथाशोभं	२७५	कुर्याद् गलप्रवेशस्य	४७७

कुर्यादि भागचतुष्केण	२१२	कृत्वा तु भगवद्विम्ब०	५३७
कुर्याद्यदधिकारेण	३५६	कृत्वात्मनो वामभागे	३८२
कुर्याद्यो मन्त्रनाथस्य	२८४	कृत्वा दीक्षाविधानोक्तं	५०३
कुर्याद्विशेषमन्त्रेण	५४१	कृत्वादौ नाममन्त्रस्य	१७४
कुर्याद्वै बुद्धिलीनं	११८	कृत्वा द्रव्याधिवारं प्राक्	५ ५
कुर्याद्वै शङ्खसदृशं	४७८	कृत्वा द्वास्थर्वाच्नातं तु	२९३
कुर्याद् ब्रतसमाप्ति तु	१३३	कृत्वा द्विर्दशा पीठं	४७७
कुर्यान्निरीक्षणं भूमे०	४८०	कृत्वा धाराधारारं यथोक्तं तु	३२६
कुर्यान्तेत्रश्रुतिच्छद्वे	४६२	कृत्वा धिर्यार्चितं दद्यान्	४०६
कुर्यान्मण्टपमुक्तं वा	४९१	कृत्वा निरीक्षणाद्यं च	४३२
कुलिङ्गं धुरिकां चैव	२४२	कृत्वा नेत्रेण नेत्रस्थान्	४९२
कुलिलकान्यम्बुद्धभानि	३५५	कृत्वान्तर्वलिदानं तु	४१५
कुशलाध्वनिविष्टस्य	३६६	कृत्वा पापाणभिन्नं प्राग्	४१५
कुशाग्रेण सवाह्नीकं	३५८	कृत्वाऽपेक्षां तु हृदये	४३५
कुशोदकं तदस्त्रण	३६०	कृत्वा प्राङ्मस्तकं यिष्य	३७६
कूर्मवच्चतुरः पादान्	११३	कृत्वा वीजवरं कुर्याद्	३२३
कूर्मतिमा कूर्मवद् बुद्ध्या	२३३	कृत्वा मध्यमकुम्भे तु	३२९
कूर्मान्तिन्तौ तु मीनस्य	५२५	कृत्वा मन्त्रगणान्तं वै	३६६
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां	२७३	कृत्वा यार्ण यथा मम्यन्	३८८
कृच्छ्रातिकृच्छ्रपूर्वेस्तु	२८६	कृत्वा यागवरं भयः	३८९
कृतन्यासः स्वयं तिष्ठेद्	३३३	कृत्वान्तर्वयोऽप्तिर्दं	५२३
कृतमोष्ठपुट्टैर्द्वै०	१०६	कृत्वा वै माम्रनं दीक्षां	५८८
कृतस्य कर्मणोऽच्छिद्र०	३८७	कृत्वा यूर्भेन शारीरं	३५६
कृताकृतं च प्रष्टव्य	२८६	कृत्वाऽश्रुपातं शोकं वा	३११
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा	२२३	कृत्वा भज्ममर्मस्थं	२१६
कृताद्विकः शुद्धामाः	३२२	कृत्वास्त्रपिग्जप्तानि	३६०
कृतेनानेन विधिना	३३३	कृत्वाम्वगन्निधि तग्मिन्	५३६
कृते संपातभवने	३७०	कृत्वा स्वकोष्ठगंयुद्धि	१२५
कृतोपवासोऽमावास्यां	३४२	कृत्वा ह्रोमं च तदनु	५८२
कृत्वा कुशोदकाभ्यङ्गं	१२९	कृत्वैवं च ततः म्नायान्	३१६
कृत्वा धेवाङ्गुलानां च	४८८	कृत्वैवं च तथा दिक्ष	५२१
कृत्वा तच्छक्तिसंहङ्गं	१३८	कृत्वैवं प्रीणनं मम्यग्	५८२
कृत्वा तद्भूसमात् मम्यक्	२३१	कृत्वैवं भूतशक्तीनां	३०१
कृत्वा तिलोदकान्तं	१०६	कृत्वैवं मङ्गलार्थं तु	३५३
कृत्वा तु पादपतनं	४१७	कृत्वैवं वर्णकः पूनैः	३१३

कृत्वैवमनुसन्धाय  
 कृत्स्नं तदीयमशब्दं  
 कृपया गुरुणा देयं  
 कृशाङ्गं दीर्घबाहुं च  
 कृशोदरं च मुसलं  
 कृष्णमिन्दीवरश्याम०  
 कृष्णागुरुविमिश्रं च  
 कृष्णाजिनोत्तरीयाश्च  
 कृष्णानि सर्वशोभानि  
 कृष्णाय शब्दं तदनु  
 कृष्णैर्णचमर्वसनं  
 केकराक्षस्तु ताक्ष्यो वै  
 केदार जलपातैस्तु  
 केवलं त्रितयं ह्येतद्  
 केवलं द्वितीयं बाह्या०  
 केवलं द्वितीयं बाह्या०  
 केवलं नेमिपूर्वं तु  
 केवलं पञ्चमं नेमे०  
 केवलं यत्र वै बीजं  
 केवलं ह्यथ तेनैव  
 केवलस्य तु तस्यैव  
 केवलस्य हि बीजस्य  
 केवलादिश्च सर्वेषां  
 केवला लघुमाना च  
 केवलेन तु मन्त्रेण  
 केशप्रसारकृत्कूर्वं  
 केशभूमेः समुद्भूतं  
 केशवं च तदीयेऽरे  
 केशवादिविभागेन  
 केशवाय नमस्कुर्याद्  
 केसरत्रितयं कुर्यात्  
 केसरभ्रमरुद्धेन  
 कैवल्यदं शमाच्चैव  
 कैवल्यफलदाऽप्येका  
 कैवल्यभोगफलदं  
 कोणस्थाभ्यां च सांमुख्यं

२१४	कोणात्कोणात्तु वै शेषं	४८९
१३६	कोणानि केसराभानि	२१४
४२७	कोणेषु भगवद्भूक्तं	३२९
२६४	कोष्ठार्धं निखनेच्छेषं	२१७
२६३	कौलत्थः कौद्रवः कृष्ण०	४२३
२४३	कौशेयं धूतकेशं तु	९१
१६३	कौशेयवस्त्रस्वकक्षणं	३००
२४४	कौशेयविष्टरस्थांश्च	८८
२१३	कौशेयानि पवित्राणि	३५४
४४७	कौस्तुभं हृदये न्यस्य	२९५
२४४	कौस्तुभेनोरसिस्थेन	३ ३
२५०	क्रम उक्तस्त्वथेदानी०	३७४
५४५	क्रम एष क्रमोक्तानां	२९७
५५	क्रमणीयं न पादेन	४१९
४४	क्रममाणे निमित्तं	४५७
५५	क्रमशोऽथ चतुर्णा०	५०
५२	क्रमाच्चतुर्दशानां तु	४५१
५२	क्रमात्पूर्वोत्तरे कोणे	२०२
१७६	क्रमात्संचोदितैर्मन्त्रैः	२८७
५३	क्रमात्समस्तमन्त्राणां	२०४
१६६	क्रमादथ बहिर्लिख्य	३३९
१७७	क्रमादुच्चार्यमाणैस्तै०	१८२
२५८	क्रमाद्वर्णचतुष्केण	३४०
४५४	क्रमान्निरन्तरैर्भेगै०	४३
२९३	क्रमान्मुद्रावसानं तु	३६१
७८	क्रमान्मलास्त्रनेत्रेण	३६५
४६३	क्रमेण चातुरात्मीयै०	१०४
१५९	क्रमेण पूर्वपद्मात्तु	३२२
१५५	क्रमेण पूर्वादिरभ्य	१६८
१५१	क्रमेण भावयेत्तत्र	१०३
२१३	क्रमेण भेदयेच्छेष०	३३९
२१९	क्रमेण योजयेच्चैव	४३९
४९५	क्रमेण वक्ष्याम्यन्येषा०	४६
३७८	क्रमेण व्यक्ततां नीतो	४१
५६	क्रमेण सधृतानां च	३६९

इलोकार्धानुक्रमणी

५६९

क्रमेण सप्तमाद्वग्निं	१४७	क्षालयित्वाऽर्चयित्वा च	५११
क्रमेणाधीशसंघं तु	३६८	क्षिपंस्तु चाहरंस्त्वेवं	३७२
क्रमेणानेन सम्पाद्य	१३१	क्षिपेत् सूत्रगणं तत्र	२११
क्रमेणानेन सर्वेषां	१६९	क्षीरतप्णुलमध्वाज्यै०	३१७
क्रमेणानेन हुत्वा तु	५१७	क्षीरयुक्तैरपवैस्तै०	३३४
क्रमेणाष्टाङ्गुलान्मानाद्	५००	क्षीरसागरवच्छुभ्रं	३०४
क्रियाङ्गत्वान्तं दोषोऽस्ति	३०७	क्षीरेण कापिलेनाथ	३४०
क्रियाङ्गभागं यातस्य	१३९	क्षीरोदार्णवतुल्यं यत्	५३५
क्रियाभेदरतैः शुद्धै०	५३७	क्षेत्रज्ञबीजपिण्डात्मा	१७९
क्रियारतानां भक्तानां०	३३८	क्षेत्रत्वमवशिष्टानां	१७७
क्रियावशात्तु किन्त्वत्र	१७६	क्षोणीं यः सस्यसंपूर्णा	५४५
क्रोडात्मा वडवावक्त्रो	१८६	क्षमातत्त्वस्याथ साध्यस्य	३९३
क्रोधमूर्ति स्वदशनै०	२६४	क्षमातत्त्वान्तर्गतं कुण्डे	३९२
क्लीबो न विद्वानिति	४८७	क्षमादीनां बुद्धिनिष्ठानां	३६६
करुप्तां तेषां स्वकां मुद्रां	४३१	क्षमाद्यध्वानं च बुद्ध्यन्तं	३६७
कलेदपेच्च त्रिसप्ताहं	४५५	क्षमाद्याधारमाश्रित्य	३६६
वच्चित्पिण्डं वच्चिद्वीजं	१७५	क्षमातत्त्वान्तर्गतं कुण्डे	३६७
क्षता अशनिपाताद्यैः	४२२	क्षमाभङ्गद्येषु दोषेषु	५४१
क्षत्रविद्शूद्रजातीयो	४२९	खं शङ्खः सीरमोषध्यो	२६६
क्षपयेत्तद् द्विजेन्द्रस्तु	२८७	खङ्गं चक्रं गदां बाणं	२३८
क्षपयेत्कलमूलैर्वा॑	२८७	खङ्गं दक्षिणहस्तेऽथ	२९६
क्षमस्वावतराऽन्यत्र	४६०	खङ्गं चक्रगदादण्ड०	२४२
क्षमापयेत्ततो देवं	३१२	खङ्गबाणगदापद्म०	२५८
क्षयवृद्धया विधानं तु	४९०	खप्लुतं भावयेद् देवं	७७
क्षसहनितयं होत०	१४७	खरोष्ट्रं चोत्कटं हास्यं	३८१
क्षान्तव्यः सुप्रयत्नेन	४१७	खस्थं न्यग्रोधशयनं	१९८
क्षान्त्यर्थमर्चनं कुर्याद्	१२६	खातं पूर्वसमं किन्तु	२१९
क्षान्त्वाऽनुत्रज्य नैवेद्य०	२७८	खातभूभागपर्यन्तं	२१६
क्षान्त्वा पूर्वोक्तविधिना	४१४	खातस्यान्तर्गतो वर्ज्य०	२१७
क्षान्त्वा स्थलस्थितं देव०	३७६	खातार्थं प्राग् भ्रमं दद्यात्	२१८
क्षामाङ्गमुन्नतांसं च	२६३	खेटकेनाङ्गद्विदण्डेन	२४२
क्षारारनालतैलानां	३४८	गङ्गां च यमुनां चैव	३४४
क्षार्णेन चिन्तयेद्वयासं	४८७	गङ्गां भगवतो मूर्धन	३१
क्षालनं चार्यकलशा०	७४	गजं रथं वराश्वं च	५४६
क्षालयित्वा ततः कुर्याद्	११४	गजोष्ठसदृशी चाग्रात्	२१७

गणयन्नक्षसुत्रीया०	२४३	गाहूपत्याख्यभेदेन	९५
गणशाद्यर्चन कृत्वा	२९९	गालितेनाम्भसा पूर्ण	२४
गते मासत्रये ह्येवं	१६३	गालितेनाम्भसा पूर्ण	६३
गतेऽधर्मरात्रसमये	१३३	गालितेनाम्भसापूर्य	३५७
गत्यागतिप्रयोगेण	५३४	गालितेऽस्त्राम्भुना लिसे	५२३
गत्वाभ्यर्थं च कुम्भेशं	३८९	गीतकैर्विविधैर्नृत्य०	८१
गदां पद्मकरे भूयः	२९५	गुगुगुलं मृष्टघूपं च	३५४
गदां हेमाद्रिसंकाशां	२६३	गुडखण्डचितैर्भक्ष्यैः	३४३
गदा चक्रं कंजं पद्मं	१५३	गुणद्वयद्वयेनैव	३५
गदाद्यैश्चक्रपर्यन्त०	८७	गुणमात्रैर्विभिन्नं च	३७४
गदामन्त्रस्तवयं प्रोक्तत०	१४८	गुणषट्कस्वरूपेण	२४३
गदामुसलचक्रासी०	२५८	गुप्तं कृत्वा प्रयत्नेन	२०५
गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा	८४	गुप्तिं कृत्वा तु योजयेषा	१४९
गन्धसर्वैषधीरत्न०	६३	गुरुं देवं नमस्कृत्य	११६
गन्धाखुर्जम्बुकश्चैव	४५७	गुरुः सप्रणवेनैव	५४३
गन्धादिभिश्च संलिप्त०	७५	गुरुणा प्रतिपन्तस्य	४१८
गन्धैर्बीजैस्तथा धान्य०	४८३	गुरुद्वग्वीक्षणेनैव	४२०
गन्धोदकं च तदनु	७२	गुरुप्रसादादन्यत्र	४२०
गन्धोदकेन संपूर्ण०	५१०	गुरुमूर्तिगतो देवः	१६०
गरुडः काञ्चनाभस्तु	२५०	गुरुयागमतः कुर्या०	४१६
गरुडस्य द्वयं विद्धि	२५१	गुरुवद् गुरुवर्गेश्च	४१८
गर्तप्रवेशो दध्यन्नं	३८१	गुरुणां दीक्षितानां	४००
गर्भद्विगुणविस्तीर्ण	४८८	गुरोर्वा गुरुपत्रस्य	५३३
गर्भमध्यपदस्योर्ध्वे	५२२	गुर्वर्चनं ततः कुर्या०	४०६
गर्भषद्भागमानेन	४८८	गुरुज्ञाभिरतो नित्यं	२९२
गर्भोक्तं तत्विभागेन	४८८	गुरुद्विष्टो गुरुणां च	४३१
गर्भोच्छायावधि यावत्	४८७	गुरुराधननिष्ठस्तु	४२९
गर्भोत्थक्षेत्रसंज्ञा च	४९२	गुर्वीं हृद्या शुभा स्निग्धा	४५८
गलन्तममृतप्रस्थ०	१५	गुलरञ्जितभक्ष्याणि	३२०
गवां ग्रासः स्वसामर्थ्य०	१३३	गुल्फजानुकटीवक्षः०	३७२
गव्यं प्रभूतं स्नानार्थ	७१	गुह्याकान् गृहदेवांस्तु	४५४
गव्यैर्वा चामरैर्वलैः	६१	गूढो यथैव दहनो	५१४
गात्रसाम्यं समापाद्यं	४६८	गृहमासाद्य निर्वात्रं	१६७
गायत्रीभिस्तदर्थं च	५१९	गृहस्थैर्ब्रह्मचर्यस्थ०	१३६
गायेत्रुं भगवद्गाथां	४२१	गृहीतां चिन्तयेन्मध्या०	१२८

गृहोत्वा दक्षिणां मन्त्रः	५२१	धर्मशुरश्मिसन्तस०	४२
गृहोत्वा नियमं कुर्या०	१३४	घृतसिक्तां चतुर्संख्या०	९९
गृहोत्वा भगवद्विम्बं	४२१	घृतेन पञ्चगव्यैन	१२४
गृहोत्वा मुष्टिबन्धेन	१४५	घृतेन पायसान्नेन	३२५
गृहे पीठगता विम्बे	५३९	घृतेन मधुना दध्ना	३२१
गृहे वाऽज्ञातमन्त्रस्य	५४१	घृतैस्तिलैस्तु पूर्वोक्तैः	३२०
गृहे संयमपूर्वं वा	४२६	बोणाग्रेणाहरन्तं च	२३१
गृह्णाति शबलं रूप०	५०	बोरशादूलवदनं	३०३
गृह्णीयाच्छाकुनं चिह्नं	४५७	द्राणरन्ध्रं च वक्त्रोक्ते	४७१
गैरिका शारिकाऽत्रैव	५२४	द्राणवंशस्य पक्षौ द्वौ	४६९
गोक्षीरमदितेनैव	१६७	द्राणाग्रमलकानां च	४६८
गोगजाश्च नदी यानं	३८०	चक्रं तदन्तभूमीनां	४८७
गोगजाश्वद्विजाः कन्या	४५६	चक्रं पद्यं गदां वाण०	२३७
गोदानं शूद्रजातेर्वै	३८८	चक्रं मन्त्रगणोपेतं	१४३
गोदानमाचरेत् पश्चाद्	५१२	चक्रं शङ्खो गदा पद्यं	१९१
गोपनीं दक्षहस्तेषु	२४२	चक्रं पट्पत्रगर्भं तु	१६७
गोपनीयं प्रथतेन	५५	चक्रनाभौ तु विन्यस्य	३३९
गोपायत्यचिराद्यो वै	४३५	चक्रमञ्जुष्ठं ऊर्ध्वस्थं	१३०
गोलकं चिकुकं विद्धि	४६२	चक्रप्रासादभङ्गेषु	५४२
गोलोमी सिंहलोमी	५०८	चक्रमन्त्रं न्यसेत्तस्मिन्	५३४
गोसम्भवानि वै पञ्च	३५४	चक्रमामलसारस्य	५३४
गोसम्भवैस्तु नैवेद्य०	३४३	चक्रवच्चास्त्रमन्त्राणां	४५१
गोसस्यशालिसुभगे	३५१	चक्रशङ्खाम्बुजाकारं	८७
गोहेमवस्त्रपूर्वेस्तु	१६२	चक्रस्थं सह देव्या वै	१६०
गौणमुख्यादिगुह्यैस्तु	१८०	चक्राकारास्तु विहिता	४७७
गौणमुख्यैर्महच्छब्द०	१२९	चक्रात् कमलपर्यन्तं	२०२
ग्रथनीयमधोवक्त्र०	२८१	चक्राद्यायुधवृद्धेन	२४७
ग्रन्थिपल्लववार्येव	७२	चक्राम्बुजाभ्यां तत्स्थाभ्यां	४७६
ग्रसन्तमस्त्रपूर्गानि	२६४	चक्रास्त्रमन्त्रैः स्नान०	५०४
ग्रस्तां पीठेन मुक्त्यर्थं	५२३	चतस्रः शक्तयो यास्तु	२६७
ग्राम्याश्चौषधयः सप्त	५०९	चतुः पद्मादयोऽमूर्ता	२६१
ग्राम्यैर्धन्यैस्तथारण्यैः	५४५	चतुः प्रणवमंजप्तं	१११
ग्रीवांसजानुगुलफेषु	५७	चतुरज्ञादयं चक्रा०	५५
घटवद् भूषयेच्छुक्तिं०	४७७	चतुरज्ञलमानेना०	१००
घटोद्देशात् समारभ्य	५२८	चतुरभ्यधिकैर्दिव्यै०	२२८
घनघर्वं रनिघोष०	२६४	चतुरश्चं चतुर्द्विरं	२००

चतुरश्रं चतुर्द्वारं  
 चतुरश्रं चतुर्द्वारं  
 चतुरश्रं चतुर्द्वारं  
 चतुरश्रं चतुर्द्वारं  
 चतुरश्रं चतुर्षपादं  
 चतुरश्रं च विच्छिन्नं  
 चतुरश्रमथाष्टाश्रं  
 चतुरश्रादिपीठानां  
 चतुरश्रायतं चैव  
 चतुरश्रायतस्यैतत्  
 चतुरश्रायतां कृत्वा  
 चतुरश्रे तदाकारा  
 चतुरश्रे स्थले कौण्डे  
 चतुरात्मानमव्यक्तं  
 चतुरात्मानमव्यक्तं०  
 चतुरायतनं विद्धि  
 चतुरावरणं कुण्डं  
 चतुरावर्तयेन्मन्त्रं  
 चतुरो वासुदेवादीन्  
 चतुर्गुणैश्चतुर्धा तु  
 चतुर्णा तु चतुर्णा तु  
 चतुर्णा ब्राह्मणादीनां  
 चतुर्णा युगसन्धीनां  
 चतुर्णा योनिजा वर्णा०  
 चतुर्णामिथ कोणाना०  
 चतुर्णामधिकारो वै  
 चतुर्णामन्तरेशानां  
 चतुर्णामज्जपूर्वाणा०  
 चतुर्थं त्रितयं ध्यायेऽ  
 चतुर्थं विद्धि तद्यस्य  
 चतुर्थमधुना मन्त्रं  
 चतुर्थाशेन ह्लासस्तु  
 चतुर्थात्तु यथाकालं  
 चतुर्थादिपरं वर्णं  
 चतुर्थी भगवन्माया  
 चतुर्दशकराच्चैव

२९९	चतुर्दशभुजो धत्ते	२५८
३३६	चतुर्दशमतो नेमे:	१८४
४९५	चतुर्दशेन वै नामे०	५२
४९६	चतुर्दशेनाराष्ट्रगत्	२९२
१५०	चतुर्दिक्पक्षसंलिप्साः	४९१
१६७	चतुर्दिक्षु महाबुद्धे	४७७
२४	चतुर्दिक्षु विधेया वै	४८९
४९४	चतुर्दिव्वीक्षमाणस्तु	१४२
४७५	चतुर्दिव्विगतस्यैव०	४७६
५२२	चतुर्द्वारे तथा दिक्षु	४९१
४५९	चतुर्धा प्रणवेनाथ	८७
२१९	चतुर्धा प्रभवाख्येन	३३
८८	चतुर्धा वर्मजप्तेन	३६४
३७४	चतुर्धा वेष्टयित्वा	३७६
१२६	चतुर्धा वै चतुर्दिक्षु	१२७
४९३	चतुर्भिरनिरुद्धाद्यैः	५४२
८७	चतुर्भिर्द्वादशांशै०	४७५
६४	चतुर्भिर्वामहस्तेन	९४
४८२	चतुर्भुजं विशालाक्षं	४९
९०	चतुर्भुजं सौम्यवक्त्रं	४९
२११	चतुर्भुजस्यादिमूर्त०	२६१
२२५	चतुर्भुजाश्चतुर्वक्त्रा	२६२
१७१	चतुर्भुजाः सुपर्णद्याः	२५०
२६१	चतुर्भूर्ति तदूद्धर्वं तु	९३
२०३	चतुर्भूर्तिमर्यमन्त्रैः	५३०
१३	चतुर्भूर्तिमर्यमन्त्रैः	३८०
२१६	चतुर्भूर्तिसमूहं तु	१६४
२५७	चतुर्मूर्त्यभिधारं च	४६५
१५५	चतुर्यवं च तत्कोशं	४६४
५६	चतुर्यवाधिकं चैव	४६४
३८	चतुर्वक्त्रं सुनयनं	२३८
२८७	चतुर्वर्णं पदं तेजः	१८
३६०	चतुर्वर्णानि मात्यानि	३५४
५४	चतुर्वर्णंस्तु कुसुमै०	१६४
२५५	चतुर्विशतिभिर्वर्ण०	४४
४९५	चतुर्विशतिसंख्यं च	१९२

चतुर्विशाक्षरं मन्त्र०	४४४	चतुस्त्रिव्युक्तेकसंख्यानि	४९०
चतुर्विशाक्षरं विद्धि	४४२	चतुर्संख्येन मन्त्रेण	९८
चतुर्विशाक्षरो मन्त्र०	४४५	चत्वरे वृक्षमूलेभ्य	३३२
चतुर्विधेन रजसा	४२६	चत्वारस्तन्मयाः पूज्याः	१३४
चतुर्वृहत्वतुष्के स्वे	४५	चत्वारि शृङ्खां इति	४९२
चतुर्षु चातुरात्मीयं	१६४	चत्वारो वासुदेवाद्या	१६४
चतुश्वक्रेति तदनु	५२६	चन्दनं मुखलेपार्थ	७१
चतुश्वक्रे नवद्वारे	२५	चन्दनक्षोदयुक्तेन	३१५
चतुश्वक्रे नवद्वारे	२६	चन्दनक्षोदसंयुक्ते	१८२
चतुश्वतुर्यवोनं च	४६७	चन्दनाद्या हि गन्धा ये	४९२
चतुष्कं जाग्रदाद्यं यत्	३७२	चन्दनाद्यौ सुगन्धैस्तु	२९९
चतुष्कं वासुदेवाद्यं	४०८	चन्दनेन समालिप्तं	३२४
चतुष्कं विन्यसेद्वाह्ये	६३	चन्द्ररश्मप्रतीकाशा	३०४
चतुष्कमथ मन्त्राणां	४५	चन्द्रसूर्योपरागे	३४३
चतुष्कमविशिष्टं	३५	चन्द्रादित्यावुदयास्ये	२०२
चतुष्कमेकपीठानां	४७६	चन्द्रार्कमण्डले पूर्णे	२२९
चतुष्कमेतदपर०	९१	चन्द्राकौं वारिवसुधे	१९२
चतुष्कमेतदपरे	५०९	चपलं कर्मचक्रं तद्	३६६
चतुष्कलं च त्रिकलं	४६१	चमसं सार्यपात्रं च	४१४
चतुष्कलं ललाटं तु	४६३	चरणं विधिनानेन	४६६
चतुष्टयं किरीटाद्यं	२०२	चरूपेण चान्नेन	३१२
चतुष्टयं क्रमेणैव	२११	चर्चितानि सितार्घ्येण	३२२
चतुष्टयं चतुर्णीं तुं	४३६	चलत्कणीश्वरसटं	३०३
चतुष्पथचतुष्केण	२११	चलमेकदिशिस्थं वा	१५०
चतुष्पथशिवावास०	४२२	चातुरात्मीयं मन्त्रं च	९२
चतुष्पात्सकलो धर्म०	४९२	चातुरात्मीयतत्त्वानां	३७२
चतुष्पादसमायुक्तं	२४	चातुरात्मीयमन्त्राणां	१४६
चतुष्प्रकारं यन्मन्त्रं	१७९	चातुरात्म्यं तदाद्यं	५६
चतुष्प्रकारमेवं हि	४९२	चातुरात्म्यं तु तद्विद्धि	५६
चतुष्प्रष्टपदीभूते	४७९	चातुरात्म्यं तृतीयं	५६
चतुस्तस्त्वमये पदे	१९३	चातुरात्म्यं विनाज्ञेषां	५२१
चतुर्स्त्रिशाक्षरो मन्त्र०	४४८	चातुरात्म्यप्रतिष्ठायां	५२२
चतुर्स्त्रिशाक्षरः सोऽयं	५३	चातुरात्म्यसमूहात्	२४९
चतुर्स्त्रदेवतान्ताना०	१५५	चातुरात्म्येन रूपेण	२२५
चतुर्स्त्रिव्युक्तिः	४६८	चातुर्मास्यस्य चाप्राप्तिः०	२७२

चान्द्रायणायुतसम०  
 चालयेन्मूलमन्त्रेण  
 चिच्छक्तिविग्रहं ब्रह्म  
 चित्तं बुद्धौ विनिक्षिप्य  
 चित्तजा अपि ये चान्ये  
 चित्तप्रसादस्त्वतुल०  
 चित्तोपशमनार्थं तु  
 चित्रमृत्काष्ठजानां तु  
 चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थं  
 चित्रस्थाङ्गविघ्न्म्बाद्  
 चित्रीकृत्य चतुर्दशात्  
 चिदानन्दघनः शान्तो  
 चिद्वातस्कन्धवृन्देन  
 चिन्ताखण्डलचापाभा  
 चिन्तानुविद्धं सामान्यं  
 चिन्तामणिमयो न्यासः  
 चिलक्षणस्त्वनाकारो  
 चुल्यां कृत्वा समारोप्य  
 चूतादिविटपोदभूतां  
 चेतसा चातुरात्मीया  
 चेतसा भक्तियुक्तेन  
 चेतसामृतसंकाशैः  
 चैतन्याय पदं दद्यात्  
 चैतन्येनानुविद्धो यः  
 चैत्रे तद्विवसादादौ  
 चोदयासास भगवान्  
 चोदितो यत्तदधुना  
 छत्रं च फणभृत्पाशं  
 छत्रं तद्वामहस्तेऽस्य  
 छत्रवस्त्रध्वजा यानं  
 छन्नं दुकूलतूलोत्थ०  
 छन्ना तरुवरेणैव  
 छर्वि विहाय शुद्धयर्थं  
 छिनत्ति बद्धमूलान् य  
 छिन्धि सांसारिकान्

१३२	छेद्यमानं न तत्पश्येत्	४२६
३६४	जगज्जयोदयार्थं तु	२५४
४१४	जगज्जलन्धनपदं	४४३
२६	जगत्यस्मिन् हि यच्छन्तं	२५७
३७२	जगत्सूत्रं सहाक्षैस्तु	२४२
२८९	जगन्मयाय तदनु	४४३
२९३	जगामादर्शनं देव०	३
४७८	जङ्घाकाण्डोच्छ्रुतेः कुर्या०	४७४
४५२	जङ्घामूले परिक्षेयं	४६५
२९८	जङ्घायामंशयुग्मेन	४८९
३७५	जङ्घावसानदेशाच्च	४६६
१२०	जटाकलापथृक् सौम्यं	२६४
३६७	जटाधराणां विम्बानां	४६१
२६६	जटावसानमायामं	४७५
३६७	जनयन्ति महादीसि	५४०
५२८	जनयेद्वद्विभेदं तु	१३७
१७५	जन्मग्रहमनेनैव	३८७
३६४	जन्मान्तरसहस्रोत्था०	५१५
३००	जपन् मन्त्रवरं वौषट्	४६०
११०	जपमानं परं मन्त्रं	४१३
६८	जपयज्ञक्रियादीनां	२३७
१५१	जपाध्ययनहोमेन	३२६
१६	जपेत्संज्ञामनुं पश्चात्	५४३
२०८	जपेदयुतमेकं तु	३४९
१३५	जपेन्मन्त्रवरं पश्चा०	३४४
४५२	जपेल्लक्षाष्टकं मन्त्री	३१४
४३६	जप्तं सन्तर्पितं भक्त्या	५३५
२३८	जयानिरुद्ध भगवन्	१२८
२४१	जयाऽर्ककान्तिसदृशी	२६७
४५६	जलनिर्गममेतद्वै	४७८
८२	जलनिर्मितेनैव	१०२
४५८	जलाश्रयाणि चाश्रित्य	४५
४५४	जलौघभयनिर्मुक्ता	३५२
२४४	जहिवीप्सापदं दोषा०	३३९
१२९	जाग्रत्संज्ञे स्वयं यत्तु	१२३

जात्यादिकमथैकस्मिन्	५०९	ज्ञात्वा महत्वं दोषाणां	२८७
जानुदेशात् तदर्थेन	४७४	ज्ञात्वा स्थिरमर्ति कुर्यात्	१४२
जाम्बूनदमयैः पुष्पै०	२७६	ज्ञात्वैवं द्वादशार्णेन	३४६
जायते कर्मिणां शश्व०	४३१	ज्ञात्वैवं बद्धलक्ष्येण	१४१
जायते च भयं घोर०	५३७	ज्ञात्वैवं सह वै यस्य	४३१
जायते तत्परं ब्रह्म	४००	ज्ञात्वैवं साधकः कुर्याद्	२७१
जायते सर्वकुण्डानां	२१६	ज्ञात्वैवं सावधानेन	४२७
जालवद्धासुराकारं	५४२	ज्ञात्वैवं सावधानेन	५४१
जालवन्मन्त्रजालेन	३६५	ज्ञात्वैवमर्चयेत्पश्चा०	१८०
जितन्त इति वै सर्व०	५३१	ज्ञात्वैवमेकहस्तात्	२२०
जितन्ते पुण्डरीकाक्ष	१२७	ज्ञानं यदमलं शुद्धं	१७९
जित्वाऽज्ञानबलं भीम०	२४१	ज्ञानक्रियात्मकं ध्यात्वा	४९१
जिह्वा तालुतलस्था	११८	ज्ञानभावनया कर्म	२६
जिह्वानिलेखनं चैव	७०	ज्ञानभासा निवसति	४८५
जीमूतस्येति ऋग्वेदाऽ	५१७	ज्ञानविद्याचतुष्केण	३३
जीमूताश्चाखिला नागा०	१९२	ज्ञानवैराग्यसद्धर्म०	२३९
जीवन्मत्स्या निमित्तं च	४५६	ज्ञानात्मने पदं कुर्यात्	४४२
जीवभूतं तदन्तःस्थं	२९५	ज्ञानादयः समश्रित्य	३७१
जीवसूत्रस्य पाश्चात्ये	२१६	ज्ञानादयो गुणाः पद् वै	२९२
जीवारूढं हकारं तु	१४४	ज्ञानादिगुणवृन्देन	२४०
जुहुयाच्च यथाशक्ति	१२१	ज्ञानादं गुणषट्कं च	१८१
जुहुयादा समाप्त्यन्तं	३४७	ज्ञानादां वीर्यपर्यन्तं	२५
जुहुयादाहुतीनां च	९५	ज्ञायते यत्परिज्ञानाद्	४३६
जुहुयाद्यक्तसंशुद्धौ	३०९	ज्ञेयं दामोदरान्तानां	१५३
ज्ञशक्त्या ज्ञानसंश्दृं	३९२	ज्ञेयः सजगतीकस्य	४९२
ज्ञशक्त्या सह विम्बेन	५२९	ज्ञेयो हि दण्डो नियतिं०	२६६
ज्ञातव्यं तत्त्वया सम्य०	३१४	ज्योतीरूपाय पञ्चाणीं	४४२
ज्ञातव्याराधकेनैव	२९८	ज्वरादिव्याधिदोषेण	२७२
ज्ञातो विभवदेवानां	४३७	ज्वलज्जवालावलीयुक्तो	२४७
ज्ञात्वा तस्याचलां भक्ति	२	ज्वलत्परशुद्धृग् रामो	१९०
ज्ञात्वा तस्यार्थितां नून०	२८६	ज्वलदग्निस्फुलिङ्गाभिः	२३४
ज्ञात्वा दोषबलं सम्यक्	२८६	ज्वलन्ती गोसहस्रेण	४८४
ज्ञात्वादौ स्वशरीरोत्थै०	३१५	ज्वालायुतसहस्राद्यो	१५
ज्ञात्वा निर्वाहिकं भक्तं	४२६	तं ज्ञानवाचकेनाथ	३७१
ज्ञात्वा भव्याशयानां च	२८८	तं ध्यायेद्वद्यस्थं च	२९३

## सभाष्या सात्वतसंहिता

५७६

तं पत्रपात्रां कृत्वा  
तं प्रभुस्तावकं चैव  
तं यज्ञपुरुषं ब्रह्म  
तच्च कार्पासकौशेय०  
तच्चक्नित्वितं कुर्यात्  
तच्चक्रमवलम्ब्यास्ते  
तच्चतुर्थाशिमानेन  
तच्चतुर्यवमानेन  
तच्चतुर्यवहीनं च  
तच्चतुर्यवहीना च  
तच्च पीठोपमं कुर्यात्  
तच्च मासचतुष्कस्य  
तच्चाग्रतस्त्रिधा कृत्वा  
तच्छक्तिकांस्तथा मन्त्रान्  
तच्छक्त्यनुगृहीतस्तु  
तच्छङ्गं सकजं विद्या०  
तच्छतावर्तिं कृत्वा  
तच्छब्दब्रह्मावेन  
तच्छिद्रे पूर्वमानाच्चा०  
तच्छिष्टं विग्रहं वर्ण०  
तच्छङ्गकोटिगे सूत्रे  
तच्छङ्गकोटिसंस्थेन  
तण्डुलै रजनीचर्ण०  
ततः कर्मणि वर्तेत  
ततः कवचमन्त्रेण  
ततः कामात्मतत्वानां  
ततः कुण्डान्तरे चैव  
ततः कुम्भचतुष्कं  
ततः कुम्भचतुष्केण  
ततः कुर्याच्च विश्लेषं  
ततः खाजकमध्यात्तु  
ततः परमहंसाय  
ततः परिगृहीते तु  
ततः पात्रद्वये कृत्वा  
ततः पिण्डे तद्वर्ध्वे तु

२८२	ततः पूर्णहुति दद्यात्	१६४
४२१	ततः पूर्वोक्तविधिना	३२०
२३०	ततः प्रणवपूर्वात्तु	४८
४५३	ततः प्रवोधयेद् देव०	५२५
२१७	ततः प्रभवयोगेन	४८२
३६६	ततः प्रभृति कालाच्च	१५८
४७०	ततः प्रभृति कालाच्च	१५९
४६२	ततः प्रभृति कालाच्च	४३०
४६४	ततः प्रभृति कालाच्च	४३२
४६३	ततः प्रलिप्ते भूभागे	३३३
४९३	ततः प्रहृष्टवदनः	२
२७४	ततः शल्यविनिर्मुक्तं	३१५
४७८	ततः शशाङ्कदिग्भागे	३१७
५१७	ततः शुचीन् सोपवासान्	३०८
१९७	ततः शुभतरं कुर्यात्	४९१
१५३	ततः श्रमजयं कुर्यात्	१२१
५३१	ततः श्वेतोपचारेण	३१७
३९८	ततः संवेदनिर्मुक्ते	३१६
४७०	ततः सकलशब्दं तु	६४४
१७६	ततः सप्तममादाय	३२३
२१६	ततः समन्वयं तद्विम्ब०	२९४
२१९	ततः समर्चनं तेपां	३६२
३३४	ततः समुद्ररेन्मन्त्रं	१५
९६	ततः सम्पूजनं कुर्याद्	१६२
३८७	ततः सम्पूज्य तन्मध्यं	३३५
२०३	ततः सम्भृतसम्भारः	३४२
१४३	ततः सर्वगतं देव	६४
६३	ततः सूत्राष्टकं दद्याद्	२१८
५१३	ततः स्नातः कृतन्यासो	३१०
३६६	ततः स्वशक्तिपापाण०	६८६
३१	ततश्चाङ्गसमूहेन	३०५
४४३	ततश्चाराध्य मन्त्रं तु	४८४
४८६	ततश्चार्ध्यादिकैर्भौमै०	४८३
५१२	ततश्चन्तापादं दद्यात्	४८९
५३४	ततश्चोत्तरदिक् कुर्यात्	३६५

ततस्तच्छरसोदेशे	५१६	ततो दक्षिणदिग्बेदे०	१६७
ततस्तत्परमं ब्रह्मा०	५१७	ततो देवं तु पीठस्थं	१२१
ततस्तदग्रद्वादश्या०	१६९	ततो द्विषट्कं बीजानां	१४७
ततस्तस्मात् वै धाम्नो	१५२	ततो धुन धनादाय	४४८
ततस्तस्मिन् क्रमेणैव	२१५	ततो ध्यात्वा यजन्	१२९
ततस्तस्योपदेष्टव्यं	१४४	ततो नभस्यद्वादश्यां	१६९
ततस्तु करयोन्यस्य	२००	ततो नाभिद्वितीयस्य	४३८
ततस्तु नवमं नाभे०	४३८	ततो नाभिद्वितीयेन	३७
ततस्तु नवमं नाभे०	४४०	ततो नाभिद्वितीयेन	३८
ततस्तु नवमं नेमे:	३६	ततो नाभिद्वितीयेन	४४
ततस्तु नाम्ना गोत्रेण	१०४	नतो नारायणादीनां	१५८
ततस्तु परिपीडानां	१३२	ततो नेमिद्वितीयं तु	३९
ततस्तु भगवद्भूतान्	३६३	ततोऽन्नमाज्यसंसिक्तं	१००
ततस्तु वारुणं साम	५१३	ततोऽपरस्मिन्नहनि	३३४
ततस्तु सर्वमन्त्राणां	२०१	ततो भगवते दद्या०	४४७
ततस्तु हृदये ज्ञानं	२५	ततो भगवते शब्दं	४४६
ततस्तृतीयं बाह्यात्	५३	ततोऽभिवर्धते धर्मो	३४३
ततस्तृतीयादपरं	३८	ततो भुवनशब्दं तु	४८३
ततस्तेनैव तन्मूलं	२८०	ततोऽभ्यर्थ्यं समहं	२७६
ततस्तेषां समापाद्य०	२१८	ततो माधवमूत्रवै	१५९
ततस्तोरणदेशस्थं	५१६	ततो मासानुमासं च	१६३
ततस्त्ररष्टपत्रं तु	३२२	ततो मोक्षाप्तये ह्रोमं	१०२
ततस्तव्ययोगेन	१२३	ततोऽव्यक्तुसुमैर्गन्धैः	२०४
ततस्त्वभग्नमूलाङ्गैः	९०	ततोऽर्चनं गुरोः कुर्याद्	१६४
ततस्त्वभिमतेनैव	११७	ततोऽर्चयित्वा मन्त्रेण	५१८
नतस्त्वाकुट्टयेत् पश्चात्	३५२	ततोऽर्चयेद् वासुदेवं	१६८
ततस्त्वाषाढमासस्य	१६७	ततोऽर्चिते तोयकुम्भे	३१८
ततस्त्वेकादशात् पूर्वं	४४	ततोऽवतार्य हृदयात्	३२५
ततस्त्वेकादशादाद्यं	३८	ततो वायुधरावारि०	१४६
ततस्त्वों भगवन् भोगैः	४८६	ततो वाहनमन्त्रेण	५२०
ततो गोमयकुम्भेन	५११	ततो विकर्मजात्यं वै	४४८
ततोऽग्निपात्रमादाय	३२९	ततो विद्वुमसंकाशं	३२०
ततोऽग्नेः सन्निधि गत्वा	३६९	ततो विभवमन्त्रैस्तु	५१३
ततोऽग्रतः कलामानं	४६१	ततो विमृज्य वस्त्रेण	५१५
ततो जाग्रत्पदस्थं	११९	ततो विविधरत्नाभे	१९३

ततो विविधवर्ण  
ततो विसर्जनं कुर्या०  
ततो वेदविदे शब्दं  
ततोऽष्टमाद् द्वितीयं  
ततोऽष्टकण्ठदेशाच्च  
ततोऽस्त्रोदकधारां  
ततो हृवनभूमध्ये  
तत्कर्णिद्वयमानेन  
तत्कर्णिकावनेर्मध्ये  
तत्कर्णिकाश्रितं चक्रं  
तत्कर्णिकोदराकाशो  
कत्कर्णिकोदरे लीनं  
तत्कारणादिभेदोथं  
तत्कारणाश्रितं कृत्वा  
तत्कालं गुरुणा कार्यं  
तत्कालं भक्तिभावेन  
तत्कालमङ्गभावत्वं  
तत्कालमेव चाहृत्य  
तत्कोपावसरेणैव  
तत्क्षणे बीजसंस्थं तु  
तत्क्षेपपूर्वं संकल्प  
तत्तकालोचितैः सर्वै०  
तत्तत्तदात्मनाभ्येति  
तत्तुल्ये लोचने किन्तु  
तत्तृतीयं च तस्याध०  
तत्तजोगोलकं पश्चाद्  
तस्यागश्चास्त्रमन्त्रेण  
तत्त्व्यंशतुल्यं बाहुल्यात्  
तत्त्व्यंशपरिलुप्ता च  
तत्पक्षगाणां सर्वेषां  
तत्पत्रमध्ये भगवान्  
तत्पत्राभ्यां वासुदेवं  
तत्पात्रमुत्तरस्यां  
तत्पात्रमेश्वरं वाक्य०  
तत्पार्षिणद्वयमध्यात्  
तत्पुनर्भद्रपीठीय०

५३६	तत्पुनः शुद्धसामान्य०	९६
३१३	तत्पूजान्ते पारणेन	१६२
४४८	तत्प्रभावाच्च तेनैव	१२०
४५	तत्प्रयुक्तस्य सामान्यं	४०७
४६९	तत्प्रसादात् परां सिद्धिं	१८२
३८२	तत्प्राप्तये विधानं च	३४१
३६३	तत्प्राप्त्युपाये प्रथमे	१९
४६९	तत्प्रामाण्यात् यत्किञ्चिद्	४२५
२६	तत्र कुम्भसमूहं तु	३३५
३३७	तत्र तद्विघ्नशान्त्यर्थं	२०
३६८	तत्र पञ्चजन्त् कुर्याद्	३१८
३२४	तत्र प्रागासनादीस्तु	५३३
१३६	तत्र भूताः प्रयच्छन्ति	३३८
३६८	तत्र मण्डलमालिरूपं	३१५
४११	तत्र मण्डलमालेरूपं	२००
३०९	तत्र मण्डलमालेरूपं	२१९
५२९	तत्र मध्येऽजनाभं तु	३६७
४५९	तत्र मध्ये लिखेत् पद्म०	३३७
३२६	तत्र वणनिरुपां क्षमां	३५१
३९३	तत्र वागीश्वरं देव०	३६८
१२५	तत्र वै जुहुयात् पूर्वं	००
१०५	तत्र वै विर्विधं वाक्यं	४२४
३७५	तत्र वै विधिनानेन	५७४
४७१	तत्र पद्मिवमोर्ध्वं त्	३३७
४८०	तत्राकारगत्यावर्णस्य	१७७
३५०	तत्राग्विर्लमन्त्रवरैः	१६१
३०२	तत्रातपत्रमहितं	३४५
५८३	तत्रादी नाभिर्पूर्वं तु	८०
४७५	तत्राग्नं भगवदूपं	४५
४६७	तत्रादमनुगन्धान०	५३३
४८	तत्राधिकारपूर्वं तु	३९५
१६९	तत्राध्यात्मस्वरूपं च	३९०
९३	तत्रात्परेश्वरं वाक्य०	००
४३४	तत्रान्नमिथो दाने	४०८
४६८	तत्रापि च त्वयादिष्टं	२८८
४७९	तत्रापि चातुरात्मीया	४००

## श्लोकाधीनिकमणी

५७९

तत्रापि दिग्विदिकस्थं च	३३१	तत्संचयव्यसनवान्	४२९
तत्रापि मन्त्रोऽत्राध्यक्षं	२०८	तत्सन्निधौ तु नान्येषां	४१९
तत्रापि ह्लासवद्ध्या तु	४८८	तत्सप्तर्तिशकं विद्धि	४४१
तत्राभिननं न्य॑स्त् प्रागवद्	४०६	तत्समक्षं ततस्तेन	४०६
तत्रायं हि विशेषः स्याद्	१९७	तत्समाधी यथापूर्वं	३९५
तत्रायतनतीर्थानां	२८३	तत्समे ह्यपरे द्वे वै	२१६
तत्राराध्यं स्वमूर्ति तु	४८६	तत्सर्वं दक्षिणे कृत्वा	२४
तत्रार्कं चाब्जमालम्ब्य	२७	तत्सर्वं दर्शने श्रेष्ठं	४५६
तत्रार्चनं विभोः कुर्यात्	३६३	तत्सर्वमुपसंहृत्य	३३५
तत्रार्चनं विभोः कुर्याद्	३५२	तत्साधनमथो वक्ष्ये	३४८
तत्रावतीर्णो देवर्षिं०	२	तत्सामर्थ्यानुविद्धानां	३७४
तत्रावयवसन्धानाऽ०	३९१	तत्सार्धं मध्यदेशाच्च	४६७
तत्रावलोकनं तेषां	५०४	तत्सिद्धिसूचकं विद्धि	३७६
तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा	५३१	तत्स्थं मन्त्रसमूहं तु	३९५
तत्राहं योजयाम्येन	३७६	तत्सावर्जितान्यानि	३५४
तत्रेष्ट्वा मन्त्रमूर्ति तु	३३६	तत्स्वनाम्नार्चयित्वा तु	४८७
तत्रेष्ट्वा वीर्यमन्त्रेण	४१५	तथा ऋग्मयपूर्वेस्तु	४८०
तत्रैकार्णं पदं ज्ञानं	१७	तथा कवचमन्त्रं च	३०४
तत्रैव पूर्वदिकस्थं यद्	१८४	तथा कार्यं शुभो येन	५०६
तत्रैव यद् द्वितीयं तु	४३८	तथा च मधुना भूर्जे	३२२
तत्रैव चेशकोणात्	२०२	तथा चाधारभूग्रिष्ठ०	१८१
तत्रैव सप्तमं यद्वै	४३९	तथा तत्संकरोत्पन्न०	५३७
तत्रैव सम्पुटाकारं	२५१	तथा तथा भवेद्वृद्धी	३३५
तत्रोपरिष्टात् परिधि	४७७	तथाऽनायप्रवुद्धानां	४००
तत्रोपलिष्ठे भूभागे	३७५	तथाच्यैर्भंगवद्वृक्तैः	४१७
तत्त्वकञ्चुकनिर्मुक्तं	३९६	तथापि भक्त्या तृप्नोऽहं	२७५
तत्त्वतः प्रतिपन्नानाऽ०	१२३	तथापि वै त्रयस्त्रिशद्	२२८
तत्त्ववृन्दसमेतं च	३९१	तथा प्रतिसारान्तैस्तु	२७८
तत्त्वव्याप्तिच्छलेनैव	३७२	तथा प्रसादमभ्येति	४२८
तत्त्वाः कलामयाः सर्वे	३९८	तथा मूर्यन्तराणां च	५४०
तत्त्वेभ्यो निर्गता मन्त्राऽ०	३९९	तथाच्चनासनेनैव	४५४
तत्पोडशाङ्गुलं विद्धि	४६३	तथा वक्त्राङ्गभावित्वे	४७२
तत्संस्थापनकाले तु	४७९	तथाविद्ये गदा वामे	४९
तत्संख्यं केसरोर्ध्वस्थं	१९४	तथाविद्येषूपलेषु	४८७
तत्संख्यं चतुरश्रं तु	४८३	तथा विभवदेवानां	२४९
तत्संख्यं दशमाङ्गुद्धं	३८	तथा वै समवुद्धिस्थैः	५३७

तथा सद्वैषणवीं दीक्षां  
 तथा सूक्ष्मात्मने चोक्त्वा  
 तथैव चतुरश्रस्य  
 तथैव नखपत्राणि  
 तथैव पञ्चमं विद्धि  
 तथैव पद्मषण्डोत्था  
 तथैव रात्रिशेषं तु  
 तथैव च विक्रिक्स्थेषु  
 तथैव शाकुनं सूक्तं  
 तथैव सन्धेरूप्वच्चु  
 तथैव हृवनं कुण्डे  
 तथैवात्मानुभावाय  
 तदंसलग्नकरणां  
 तदग्रतोऽर्थ्यकलशं  
 तदङ्गमुद्राश्चाङ्गानां  
 तदङ्गुष्ठविनिर्मुक्तं  
 तदङ्गुष्ठावर्धं यावत्  
 तदङ्ग्ग्रिजलमिश्रेण  
 तदङ्ग्ग्रिभुजवणस्य०  
 तदधः कर्णिकामध्ये  
 तदधश्चतुरश्रं प्राग्  
 तदधश्चोत्तरं चाक्षां०  
 तदधश्चोत्तरस्यां वै  
 तदधिष्ठातृमन्त्राणां०  
 तदधो द्वितयं बाह्या०  
 तदधो द्वितीयं बाह्यात्  
 तदधो नवमादन्तं  
 तदधो नेमिपूर्वं तु  
 तदधो नेमिवणच्च  
 तदधो मध्यं चाक्षां०  
 तदधो विनियोक्तव्यं  
 तदधो विनियोक्तव्यं  
 तदन्तं सप्तमं चैव  
 तदन्तकाले संशुद्धि  
 तदन्तरं कलाधीं च

४२५	तदन्तरे चतुर्दिक्षु	३३६
३९०	तदन्तस्तच्चतुर्थन्तं	३१७
४७८	तदन्तः सन्निरोधव्या	४८६
४७१	तदन्तःस्थं न्यसेद्वौजं	३१९
३९	तन्दतःस्थं विशोद् देवं	३७९
५०७	तदन्ते कालशब्दं तु	१४८
३१४	तदन्ते चक्रिणे शब्द०	५१
४८२	तदन्ते तु परं मन्त्रं	५१३
५०५	तदन्ते तु यथाशक्त्या	१३२
४६४	तदन्ते तोयनिर्मुक्तैः	१०१
४८४	तदन्ते विनियोक्तव्यं	४४४
४८४	तदन्ते विश्वपतये	४४२
२३८	तदभावात्तु वै चान्यं	४३१
४१५	तदभिन्नमकामानां	४५२
४४१	तदभ्यर्चार्घ्यपूष्पादौ०	८८
४३६	तदस्वुधारादानेन	४१६
३७०	तदस्मसा चार्हणं तु	३५३
३४४	तदर्चने च होमान्ते	१६०
२४८	तदर्चने समाप्ते तु	१६०
१९३	तदर्थं ग्रासमात्रं तु	१०६
४९६	तदर्थमेव वर्णं तं	२९२
४३७	तदर्धाकृतितुल्यानि	२१४
२४	तदर्पणावसानेऽथ	५१०
३९०	तदव्यक्ताक्षरं विद्धि	३९८
५५	तदशुद्धं जगन्नित्यं	३९९
३९	तदस्मिन् प्रधिभूतं तु	१८३
५२	तदाकारं हृषीकेशं	१६३
४३८	तदाकारैरसंख्यैस्तु	३७४
३२३	तदाकृतिर्मृगोऽन्यो वा	३१०
४३८	तदाक्रम्याथ तस्यैव	२९७
५१	तदा तदा स आदेयः	९७
५३	तदादिद्वादशानां च	१५६
१८४	तदादि वै हृषीकेश०	१६३
१४०	तदाद्यभावितं शेषं	३६४
४६२	तदाद्यमुपदेक्ष्यामि	१२

तदाद्योक्तस्तु नूहरे:  
 तदाधारशिलां पश्चात्  
 तदाराधननिष्ठस्तु  
 तदाराधनसक्ताना  
 तदारूढस्प्र यद्ग्रुपं  
 तदाश्चर्यं न वक्तवः  
 तदाश्रितं तु गोविन्दं  
 तदाश्रितामविज्ञात०  
 तदा स लब्धसत्तः स्यात्  
 तदाहरणहोमं तु  
 तदिच्छया ह्यनुव्रज्य  
 तदिदानीं प्रवच्यामि  
 तदीयमथ निक्षिप्य  
 तदीयमध्यपुष्पाद्यं  
 तदीयमाशयं ज्ञात्वा  
 तदुत्तमाङ्गं संस्पृष्ट्वा  
 तदुत्थमन्त्रिरेणै  
 तदुत्थाश्च बहिः सर्वे:  
 तदुत्पाटनसिद्ध्यर्थ०  
 तदुद्देशात्तु सूत्रेण  
 तदुद्देशात्तृतीयं च  
 तदुद्देशात्तृतीयं च  
 तदुद्देशेऽच्चनं कुर्यात्  
 तदुद्दृतेनाम्भसा वा  
 तदुनाधिकशान्त्यर्थं  
 तदुधर्वं विहिता जड्जा  
 तदुधर्वं कमलं ध्यायेत्  
 तदुधर्वेऽमृतगर्भं तु  
 तदुधर्वं विन्यसेतीतं  
 तदुधर्वं सप्तमं चैव  
 तदेकतनुतां यातं  
 तदेकस्य चतुर्वर्णं  
 तदेव जड्जामध्यस्थं  
 तदेव जीवबीजस्थं  
 तदेव दैर्घ्यद्विगुणं

४७२ तदेव दैर्घ्यादर्थेन ४७४  
 ४८४ तदेव पाथिवं बीजं ३९२  
 ४२२ तदेवाधिकसंज्ञं तु ४९३  
 ५४६ तदोदितं विभोदेहाद् ३०१  
 २५४ तदगर्भीकृत्य संलिख्य ३६१  
 ४३३ तदगर्भे काव्यचनं रत्नं ३००  
 १६० तदगुणैरपि विस्तीर्ण ४८३  
 ४६० तदग्रहो युज्यते येन ३९८  
 ९५ तदक्षिणेन दर्भेषु ४५८  
 ५०७ तदशायतनं तेन ४९३  
 ४१७ तदिग्द्वयान्तरे दद्यात् २१०  
 ४९५ तदेवताशरीरं तु ३६१  
 ४१५ तद्देहं धारयन्तं च ३९१  
 ३८८ तद्देहे चाम्ययं बीजं ३९४  
 ३७९ तद्विग्नोलकमानेन ५३३  
 ३७० तद्विभागाधिकं विद्धि ४७३  
 ५४१ तद्विवंसनाय जुहुयाद् ३७६  
 ५४० तद्विहितं पदपड्कत्या तु २११  
 २३८ तद्विहितिगुणैः पत्रैः ३२२  
 २१३ तद्वाहुकूर्परौ द्वौ च १४९  
 १६ तद्वाहुमस्तकं विद्धि ४७३  
 ४३८ तद्वोजेन तनुं व्याप्य ३५६  
 १९७ तद्व्रह्माख्यावधौ भूय० ३५७  
 २९८ तद्वजेतानुवृत्तिं च ३५  
 ५११ तद्वावितमतोऽश्नीयात् ३४७  
 ४८९ तदभूतदत्तमन्यस्मिन् ३३२  
 २९९ तद्यथावत्परिज्ञानाऽ १७८  
 ३६८ तद्वच्च पोत्रदृग्वक्त्र० ४७१  
 ५२४ तद्वच्छक्तिं तदीयां च ३९३  
 ४४० तद्वत्तदनुगा था च ४६६  
 ४८६ तद्वदाज्येन सन्तर्प्य ९५  
 ४६ तद्वदेकादशादाद्यं ३८  
 ४७३ तद्वदेवाध्यपुष्पाद्यैः ८८  
 १४४ तद्वद्वक्ष्यैरच नैवेद्यैः १६४  
 ४७६ तद्वद्भूयोऽग्रसंस्थाभ्याऽ १५३

तद्वौषङ्गवषट्कार०	३६४	तन्मयं च स्वचैतन्यं	३४०.
तद्वाचकांस्तेत्रमन्त्रां०	१२७	तन्मयान् बलमन्त्रं तु	५१६
तद्विकासः परिज्ञेयो	४७०	तन्मात्राण्युपशोभानि	२१४
तद्विकासश्च सार्वेन	४७०	तन्मानं चतुरश्रं तु	४७८
तद्विभज्याष्टदशभिं०	२११	तन्मानं त्रियवोनं तु	४६५
तद्विभागाधिकं विद्धि	४७३	तन्मानं परितस्त्यक्त्वा	४८८
तद्वैविषमपादस्य	४६८	तन्मानेन तु पीठस्य	४७५
तद्वैषम्यात् प्रकुप्यन्ति	३२६	तन्मूर्तित्रितयस्यापि	१६१
तद्वचक्तं शान्तसंजं च	१७२	तन्मूर्धिन दीपपात्रे च	३३३
तद्वचक्तिव्यञ्जकेनैव	१२७	तन्मूर्धिन शशिविम्बं तु	५१२
तनुसूचये मूर्धन्	२४८	तन्मूर्लं विस्तृतौ स्कन्धौ	४६३
तन्नाभिसंस्थितं मन्त्र०	३४८	तन्मे शृणु यथावस्थ०	२५८
तन्नास्ति यन्न यच्छन्ति	४४८	तपःस्वाध्यायसकानां	२४६
तन्निधाय सुचा दर्भे	१००	तपस्विनां वा व्रतिनां	५८४
तन्निधायायाथ कुम्भेन	३६२	तपोदानव्रतानां च	२८०
तन्निधायार्थं दिते स्थाने	३२४	तपो यज्ञं हि विधिवद्	३८३
तन्निमित्तमिदं कर्म	२७७	तपोयागजपथ्यान०	२३७
तन्निवेदितमन्तं च	१५१	तस्हाटकसंकाशं	३८८
तन्निष्कलात्मना पूर्व०	१९५	तप्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यां	१८१०
तन्मध्यं तु कलामानं	४७०	तप्तोपले जलं यद्वत्	१७६
तन्मध्यादुद्धरेदादौ	१८३	तमनादिं जगन्नाथं	२८८
तन्मध्याद्ग्रगत्तत्त्व०	३८०	तमभ्यर्च्यं यथान्यायं	१८५
तन्मध्ये च कुशाग्रेण	८७	तमम्भसास्त्रजसेन	३००
तन्मध्ये चतुरात्मा तु	१४२	तमर्घ्येणार्चित्वा च	५०४
तन्मध्ये तद्विष्टान्तःस्थं	३३६	तमर्चयित्वा विधिवत्	४८४
तन्मध्ये तु चतुर्हस्तं	५००	तमर्चयित्वा विधिवद्	३४६
तन्मध्ये पूजयेत्यन्त्रं	३००	तमर्चयित्वाष्टाङ्गेन	३०७
तन्मध्ये वर्तुलौ गण्डौ	४६३	तमागतमिवाकाशात्	५११
तन्मध्ये विद्वमाभं च	३४९	तमादाय कराद्वैव०	३८८
तन्मध्ये विन्यसेच्छिष्यं	३६५	तमाराध्यं हि पूर्वोक्तं	२८०
तन्मध्ये शङ्खमध्यस्थं	३३४	तमेव द्विभुजं ध्यायेऽ	२४६
तन्मध्ये सर्वमन्त्राणां	२०४	तमेव हि यवांशेन	४८९
तन्मध्ये सुवचतुष्कं तु	१००	तमेवाध्यादिनाऽभ्यर्च्यं	१०६
तन्मन्त्रजपसामर्थ्यात्	११९	तमेवास्त्राचितं कृत्वा	५२०
तन्मन्त्रतेन शस्त्रेण	५१२	तयाक्रान्तमधःस्थं च	३६५

तथा समाप्यं तद्विम्बं	४५५	तस्य कल्पषशान्त्यर्थं	२८९
तयोरर्द्धं समं कुर्याद्	२१३	तस्य चान्तर्गतं पश्चात्	२१८
तस्युष्षफलैराद्यं	४	तस्य चोदयीर्यमाणस्य	१७५
तर्जन्यामूर्धवंतोऽनुष्ठेत्	८४	तस्य तस्य तदीयानां	४०७
तर्जनीमध्यमाभ्यां तु	१२६	तस्य तस्य महावुद्धे	२७३
तर्जयन्तं च दुष्टौघ०	२६५	तस्य दक्षिणदिग्भागे	३५२
तर्पयित्वाऽग्निमध्ये तु	४१५	तस्य विम्बसमुत्थेन	४७३
तर्पयित्वाथ चान्तेन	२७८	तस्य भागचतुष्कोत्थं	२११
तर्पयित्वा यथाकाम०	४८२	तस्य भागसमा कार्या	२१६
तर्पयित्वा यथान्यायं	३८१	तस्य मध्यमनालं	२८१
तर्पयित्वा विधानेन	३८९	तस्य वामकराणां च	२६९
तर्पयेदन्तपानाद्यैः	५४३	तस्य वै पूजनं भक्त्या	१५१
तर्पयेद्वह्निमध्यस्थं	१६४	तस्य शक्तिद्वयं तादृ०	२६८
तलादूनाधिकाच्चैव	४८८	तस्य संशुद्धदोषस्य	९५
तल्लक्ष्म चोपलं काष्ठं	४१९	तस्य सम्पूजनं यत्नाद्	३११
तवास्ति भक्तिरच्छला	२	तस्य स्थूलतरं रूपं	२३१
तवास्तु वैभवी सिद्धिं०	४०७	तस्यानुग्रहवुद्धया तु	४३२
तस्करात्पतिताच्छण्डाद्	४२०	तस्यापि तादृशानां च	१३७
तस्माच्छ्रेयोथिना नित्यं	४३६	तस्याप्यधस्तदुद्देशात्	४३८
तस्मात्कुनोपवासस्तु	३४५	तस्याप्यधस्तीयं तु	३२३
तस्मात्तद्यागभवना०	५२९	तस्याभिमानिकं रूपं	२२३
तस्मात् स्वाभाविकं कृत्वा	२०७	तस्यामपि स्वमन्त्रेण	१६६
तस्मात् स्वेनाधिकारेण	१३१	तस्यामुपरि संलिख्य	८७
तस्मादप्यभिमानं तु	३५०	तस्योदधाटितनेत्रस्य	३६६
तस्मादामर्धपादान्तं	५७	तस्योपरि तदन्तःस्थं	२९२
तस्माद् द्वै त्रीणि वा कुर्यात्	१६६	तस्योपरिषट्टाहुल्यं	४७०
तस्माद्गवतो विष्णो०	२५३	तस्योपरि सिंतं वृत्तं	३६८
तस्माद्वै अन्तरीभूतं	२१५	तस्योपवीनमपर०	३८८
तस्माद्वै श्राद्धोक्तवृत्ताणां	१०६	ताडयित्वास्त्रपुष्णेण	३२८
तस्माद्वै सत्यभिन्नं तु	१७६	ताडयेदातुरं पश्चात्	३२९
तस्मिन् कुर्यादिनन्ताद्यं	४१२	तादथर्येन तु सन्तप्त्य	४१४
तस्मिन्नवमरे कुर्यां०	३८२	तादथर्येन तु सामान्यं	४६१
तस्मिन्नाराधितो मन्त्र०	५३५	तादथर्येन तु होतव्य०	४८५
तस्मिन्निरिन्धने कुर्याद्	३२९	तादथर्येनाथं चतुरो	१०५
तस्मिन् हृदादिसंयुक्ते	५३३	तादृक् परिसृतं तस्मा०	१२

तानच्चर्याधीदिना पश्चाद्	४८२	तुर्यस्यासिवरेणव	३१
तात् सात्वते क्रियामार्गे	३	तुर्यादिपदसंस्थेषु	६५
ताभ्यामन्योन्ययोगाच्च	४७६	तुर्यान्तं मौदगालान्तैस्तु	१२९
ताभ्यामवस्थितेनैव	२१५	तुर्याश्रमथवा वृत्तं	१८१
ताम्रं मनःशिला चैव	५२४	तुल्यलाङ्घनयोगेन	२७०
ताम्रजामूनदाद्यास्तु	५०९	तुल्या चेन्दुकला युगम्	८७७
ताम्रपात्रेऽथवाऽन्यस्मिन्	८८	तुषारपातः सद्वृष्टिं	३८१
तारहाटकताम्रोत्थ०	४५३	तुष्टिस्तुहिनसंकाशा	२६७
ताराग्रहोपतपेन	३२६	तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक्	४३२
तारादैर्घ्यत्रिभागेन	४६२	तुहिनाचलसंकाशां	२२८
तालं गलावधेस्यक्त्वा	४६४	तुहिनाचलसंकाशां	२३१
तालेन हासवृद्धी तु	४६१	तुहिनाचलसंकाशां	२६६
तालोन्नतेः समारभ्य	४९६	तृतीयं च द्वितीयं च	५१
तासु संरोधयेत् सम्यक्	४८७	तृतीयं च द्वितीयं च	८८०
तिर्यक् चाधोमुखस्तेन	९०	तृतीयं च बहिष्ठेभ्यः	५३
तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां	१२९	तृतीयं द्वचक्षरं चैव	३८
तिर्यगुत्तानपाणिभ्यां०	९३	तृतीयं पञ्चदशां तु	१३४
तिलयुक्तैस्तु नैवेद्यैः	३४२	तृतीयं प्रथमं नेमे०	५५
तिलसर्पपूर्णानि	३२७	तृतीयं प्रीणयेत् प्राग्वत्	१६३
तिलानां धृतसिक्तानां	९४	तृतीयं भागमादाय	१५०
तिलानां तद्वदाज्यस्य	३०९	तृतीयं रत्नखचितं	७८
तिलानां तु तथाज्यस्य	५१७	तृतीयमक्षरं वाद्याद्	८८
तिलानां त्रितयं चान्यत्	१६५	तृतीयमथ व्रद्धामि	३७
तिलान्यथ मुरत्तानि	८४	तृतीयमथ वै नेमे०	५३
तिलान्युदककुम्भं च	१३०	तृतीयमथ वै नेमे०	५८
तिलान् सुमनस्तस्मिन्	६४	तृतीयमष्टमाञ्चाथ	१४७
तिलगोक्षीरसंयुक्तै०	३२५	तृतीयस्याथ वै नामेऽ	४६०
तिष्ठत्यनन्तो भगवां०	२४१	तृनीयांशेन वै मध्ये	१८८
तिष्ठन्ति मुनयो ह्यत्र	३	तृतीयेऽक्षिं ततः कुर्यां०	२३५
तिस्रः प्रसूतयः पात्र	३३४	तृप्तये ह्यथ सर्वेषां	१०२
तीर्थमध्ये स्वहृत्पद्मे	२०५	तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये	३८
तीर्थोद्दिशान्नदीतीरात्	४५५	तेजसा त्वत्र भेदोऽस्मि	१८५
तीव्रमन्दादिकं बुद्ध्वा	३७३	तेजस्तत्त्वेजसे स्थाने	२५
तीव्रमन्दादिकां तेषां	३०९	तेजोगोलकमंकाशां	३८०
तुर्यसंख्यमराहीजं	१८४	तेजोनिधे पदं दद्यात्	८८८

तेजोमयं तदूर्ध्वं तु	३६८	तैलेन राजिकाख्येन	३२७
तेजोमयं यत्तद्गुपं	१७३	तैश्चापि मौननिष्ठैस्तु	१०५
तेजोमयाय भुवन०	४४४	तोयमादाय पात्रेऽथ	२९८
तेजोमालिनि चेत्येतद्	४५०	तोयाशयाथ्रमैः क्षेत्रैः	३५२
तेजो वीर्यं बलं शक्तिं०	१८	तोयेन तन्नयेद्यत्नाद्	४७९.
ते धौतकल्मषाः सर्वे	५४४	तोरणध्वजपुर्वाणां	३६३
तेन चाक्रमरावृन्दं	१५२	तोरणव्यजनच्छत्र०	२००
तेन तद्वालुकार्पीठं	४९९	तोरणानि वहिः कुर्यादि	४९९.
तेन तन्मध्यगं कुर्यात्	१५०	तोरणेन च निष्क्रम्य	५२५
तेन तेषां वलान्तस्थं	३६७	त्यजन्तमाहरन्तं च	२४०
तेन तोयघटानां तु	३३४	त्यजेत्कूपसमीपे तु	३३३
तेन मुद्रा समाख्याता	२०७	त्यजेत्तदप्टभिः मम्यग्	४८८
तेन युक्तं तथा दद्या०	३२३	व्रयं व्रयं मिताद्यं च	१९२
तेन स्वविग्रहं ध्यायेत्	२९४	व्रयं यद्विक्वयस्थं तु	२६८
तेनाङ्गसहितेनैव	३५६	व्रयाणां क्षत्रियादीनां	१३
तेनाच्युतकरेणैव	३६६	व्रयाणां मुख्यपुर्वाणां	२२३
तेनापि प्रीणनं कार्यं	३४६	व्रयाणां मन्तरस्थं	२१२
तेनावर्तं विधा कुर्यात्	३३८	व्रयीमुद्घोषयन्तश्च	३८०
तेनैव ताडयेन्सूचिन्	३६५	व्रयोदशकरादीनां	४९८
तेनैव नाभितुर्यं तु	३२३	व्रयोदशमिदं विद्धि	५६
तेनैव पूजयेत्पश्चा०	५०७	व्रयोदशाक्षरं विद्धि	४५०.
तेनैव बलिपात्रेण	३३३	व्रयोदशाक्षरो द्यप	४६
तेनोपलिष्प संमार्ज्यं	३५७	व्रयोदशायां तनोऽग्न्यकर्यं	१३४
तेऽपि लाङ्छनवृन्दं तु	२४८	व्रयोविंशतिभिर्वर्ण०	३८
तेषां वहिः स्वमन्त्रेण	२०३	व्रयोविंशत्यक्षरस्च	४४६
तेषां मात्रावसानं	८६	त्रिकं यद्वै द्विपद्कानां	१९५
तेषां समेखलं चाद्यं	४९७	त्रिकलं जाग्रतश्चैव	४६६
तेषामर्थवशाच्चैव	४२४	त्रिकलः पाणिविमतार०	४७३
तेषामाकस्मिकाल्लोपाद्	२७२	त्रिगुणं च स्वयंव्यक्ताद्	१३०.
तेषु तेषु नियोक्तव्यो	४२७	त्रिचतुःपञ्चवक्त्रम्य	४७१
तैः क्रमात्प्रीणयेद्व०	३१	त्रिचतुःपञ्चपद्मभागे	४०.१
तैरप्यच्युतलिङ्गस्तु	४८२	त्रितयं पद्मनाभाद्यं	१५०.
तैराज्यं चतुरो वारा०	९३	त्रिदीसिभास्वरा नाडी	२६
तैर्थं फलमनायासान्	२८३	त्रिधा हकारं कुत्वादी	१४६
तैलं बहु सुगन्धं च	७०	त्रिताभिनेमिपद्मरं	३००.
		त्रिपञ्चमस्थिर्यवर्गे	४८६

त्रिपकारणि संवर्त्य	३३३	त्वमेव सर्वं जानासि	२७७
त्रिभागपृथुलं कण्ठ०	४९०	त्वय्येवाधिष्ठितं सर्वं०	२८२
त्रिभागेनापि विहितं	४६२	दंष्ट्राकरालवदनं	२६४
त्रियवं द्विजविस्तार०	४६७	दक्षशिष्यात्मपूजार्थ०	३६०
त्रियवोनं कलामानं	४६५	दक्षिणश्चाक्षसूत्रेण	२५१
त्रिरष्टवर्णसंख्यश्च	४४४	दक्षिणाङ्गेऽरथाङ्गुष्ठ०	२९४
त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा	३४८	दक्षिणादिक्रमेणाथ	४९
त्रिलक्षणोऽयमाधार	९६	दक्षिणानामिकायां तु	९४
त्रिविक्रमं तदाकारं	१६१	दक्षिणे तु गदाद्यस्य	१३०
त्रिविक्रमाख्यमन्त्रेण	१६१	दक्षिणे त्वनिश्छस्य	१३०
त्रिविक्रमान्तं विष्णवादं	१६९	दक्षिणेन तु शास्त्रार्थ०	२४५
त्रिविक्रमायाथ पदं	४४६	दक्षिणेन तु हस्तेन	१५२
त्रिविधं दीक्षणोपायं	२८५	दक्षिणेनात्मनो दार्भे	३६०
त्रिविधेन तु भेदेन	३४६	दक्षिणे पाणियुग्मेऽथ	३०८
त्रिविधेन प्रकारेण	७	दक्षिणे पूर्ववद्वेव०	८८२
त्रिसन्ध्यं वामनादीनां	१३४	दक्षिणेऽमृतकुम्भस्तु	२५१
त्रिहस्तापचिता वीथी	४८१	दक्षिणे वायने वाथ	३४३
त्रीणि पञ्चाक्षराण्यन्यत्	५४	दक्षिणे शयनं सौम्ये	४९६
त्रेताग्निभस्म त्वपरे	५०७	दक्षिणे सुकूचतुष्कं	९८
त्रैकाल्यं हुतभुङ्मध्ये	३४४	दक्षिणे हेतिराद्	१२८
त्रैलोक्यपूरकं ध्यायेत्	२४२	दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां	१४५
त्रैलोक्यमोहनपदं	४५०	दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां	१५२
त्रैलोक्यविस्मयकरं	२३६	दक्षिणोत्तरपादाभ्यां	३४४
त्रैलोक्योद्धृतिदक्षेण	२९	दक्षिणोत्तरभागाभ्यां	२१०
त्र्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं ज्ञेय०	४६१	दक्षिणोत्तरभागाभ्यां	२१५
त्र्यङ्गुलं पाणिदेशाच्च	४७२	दक्षिणोत्तरभागाभ्यां	२१६
त्र्यङ्गुलेन च तद्वैर्ध्या०	४६६	दक्षिणोत्तरभागाभ्यां	४९१
त्र्यंशेन वेष्टनाद्विद्धि	४६७	दक्षिणोत्तरस्वक्राभ्यां	१७१
त्र्यंशेन शिखरादुच्चं	५३६	दक्षिणोत्तरसंस्थेन	२२७
त्र्यंशेनाधर्शातो वापि	८७	दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां	१४५
त्वगेलाद्यचयं सर्वं	३५८	दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां	२९८
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि	२२३	दण्डं कमण्डलुं दर्वी०	२३२
त्वदाराधनकामोऽयं	१४३	दण्डं दक्षिणहस्तैस्तु	२५०
त्वमर्चन्तर्गतो देव	५३१	दण्डं प्रतिग्रहं छत्रं	३५४
त्वमेव तीर्थं भगवं०	२८२	दण्डवत्प्रणिपातैस्तु	८२०

दण्डवत्मनिवेशेन	६०३	दद्याद्वं पात्यकलशात्	६९
दण्डावजकुलिशात् चक्रं	२५८	दद्यान्नेवद्यवत् मर्व	१०६
दत्तशिष्टमतसं च	१३५	दधिक्षीराजयकुम्भाइच	५०८
दत्तशिष्टर्थजैद्रवं	६११	दद्या घृतेन मधना	१५६
दत्तानि चानुस्पूणि	२०५	दद्या न मधुमिथेण	३०५
दत्तवा तदर्थं पूर्णा तु	५११	दनकाठं न तदनु	७०
दत्तवा तदूर्ध्वे तदनु	७०	दनकाठादिकं कर्म	३७६
दत्तवा पूर्णा स्वयं कृत्वा	५८१	दनज्योन्नताजिनाजानं	२४०
दत्तवा पूर्णहृति कुर्यात्	१२०	दनज्योन्नताविनानेन्	४३
दत्तवा पूर्णहृति ध्यान०	८४८	पर्ण नामरत्नेय	४५६
दत्तवा पूर्णहृति गम्य०	१११	पर्णं पदपात्रं च	३५८
दत्तवा संजापदं कुर्याद्	१२२	पर्णं पूर्णनन्द्रादं	७०
ददाति देवदेवस्य	५१२	रप्तप्रथमकर्त्तु	४५०
ददाति धर्मकामार्थ०	५४६	रभकाण्डननुकेण	९९
ददाति मनसोभीष्टाः	२१४	रभमञ्जरिजं न्वेव	२८२
दद्यात्ततः प्रजायदं	८४४	रभीजनं ततश्चित्	२२९
दद्यात्तदत्तः माणेन	८१६	दर्भीजनं मेष्यां	२३२
दद्यात्तदत्तवरात् पात्रं	८४०	दर्भी कमण्डलहृम०	२२९
दद्यात् पूर्णहृति कृत्वा	१०१	दर्भीनं पर्णेन मेय	४८१
दद्यात् पूर्णहृति पश्नात्	१०१	दलथदं तु वित०	४८७
दद्यात् पूर्णहृति पश्नात्	१०१	दलायगामी नं मध्याद्	२१३
दद्यात् पूर्णहृति पश्नात्	१०१	दलायब्रह्मादेयाभ्यां	२१३
दद्यात् पूर्णहृति पश्नात्	१०१	दलान्नग्रामगमी तु	३२३
दद्यात् पूर्णहृति पश्नात्	१०१	दलान्नग्रामगमीं	२१३
दद्यात् पूर्णहृति पश्नात्	१०१	दशान्नविवाहास्य	४६७
दद्यात् प्राक्मूलगवन्धं	२१७	दशपद्मीकृतिनियोगेन	५१०
दद्यात् सूत्रवयं नेव	११२	दशवार्षीप्रसुश्याद०	२५८
दद्यादग्नी चतुर्कं तु	१७०	दशमादपरं वर्णं	८८
दद्यादप्तावाहुतीस्त्वं	२५०	दशमादपरं वर्णं	३८
दद्यादुच्चामनस्यं तु	१२५	दशमादपरं वर्णं	५४
दद्यादग्नेषु तु	१८८	दशमादपरं शदं	८८
दद्यादधर्याप्तकं वात्सं	२१५	दशमी भाग्यांप्रस्य	१६३
दद्याद्विजेन्द्रकन्यायै	२२८	दशम्या नेत्रं मंकल्पं	१३१
दद्याद्विदितशब्दं वै	१४६	दशम्या पश्चगतं च	१५१
दद्याद्विशदशब्दं वै	८४०	दशम्यामनेनं कृत्वा	२३५

दशाक्षरं तृतीयं तु	५२	दिव्यभोगोपलिप्सूनां	३५५
दशार्थगव्यपूर्वं तु	४८२	दिव्यमन्त्रक्रमेपेतं	१२
दशोन्द्रियाननं घोरं	२४४	दिव्यमाल्याम्बरधरं	२३८
दातव्यं कर्णिकामध्ये	१९६	दिव्यमाल्याम्बरधरा	२६७
दातव्यः संप्रवेशश्च	४२०	दिव्यस्त्रग्वेष्टनोपेतं	३०३
दाता ददाति यत्किञ्चित्	१३६	दिव्यस्त्रग्वेष्टनोपेता	२६७
दानं ज्ञानात्मतां येन	३४७	दिव्याद्यायतनानां च	५१६
दानधर्मरतानां च	२४६	दिव्याद्युत्पातनिर्मुक्तः	४५७
दानधर्मरतानां च	३४७	दिव्याद्युत्पातसंशुद्धे	४७९
दानानां च व्रतानां च	१३४	दिशन्तं स्वधिया सम्यग्	२३५
दानान्तमर्चनाद्यां तु	३४६	दिशि दिश्युत्तराशान्तं	९०
दानाभिमानदेहस्तु	१३०	दिशो दश द्योतयन्तं	१९४
दानार्थं व्रतपर्यन्ते	१३१	दिशो दश द्योतयन्तं	२६३
दानेऽर्चने तु शूद्राणां	२३४	दीक्षणीयाः कथं ते वा	२८५
दारयन्तं स्थितं हार्द०	९३	दीक्षयाऽराधनेनैव	२९०
दार्भं काण्डचतुष्कं तु	५२३	दीक्षाकाले तु शिष्याणां	३७५
दासीकर्मकरोपेतं	४८२	दीक्षात्रयस्य भगवन्	३५१
दिक्कुण्डेषु विनिक्षिप्य	४८	दीक्षापूर्वं हि मन्त्राणां	४४१
दिक्क्रमेणोदितं ध्यायेद्	२०१	दीक्षालक्षणमुक्त्वैवं	४१०
दिक्चक्रमभिवीक्षन्तं	२६९	दीपानां वर्तयो देया	३२७
दिक्पत्रचतुरन्तःस्थं	१९९	दीपाष्टकं ततः पूजां	३१८
दिक्पालकगणोपेतं	४७६	दीपेनाभ्युक्षणेनैव	१६५
दिक्षु लक्ष्माणि पीठानां	२१२	दीप्तयेऽथ पदं दद्यात्	४४७
दिक्सूत्राणां चतुर्णा तु	४८४	दीप्तिमद्विरमूर्तेस्तु	३०
दिक्स्थितानां च कुम्भानां	४८	दुराचारोद्गिपि सर्वाशी	२८८
दिग्घटकं समाश्रित्य	३६२	दुर्भिक्षक्षामशान्त्यर्थं	५१६
दिगीश्वरगणं दिक्षु	३२९	दुर्लभं यत्प्रबुद्धानां	२३१
दिग्बन्धमथ वै कुर्यात्	४५८	दुष्कृतं हि तदन्ते वै	४४४
दिङ्मुखी चोभयकरी	४५७	दुष्टेन्द्रियवशाच्चित्तं	१४०
दिङ्मुखे निर्मले सिद्धिं०	२७५	द्वरात् प्रदक्षिणीकुर्या०	४१९
दिनत्रये तु पूर्वोक्ते	१२६	द्वरादेव नमस्कार्यो	३१०
दिनमध्येऽर्चनं कुर्याद्	१५९	द्वर्वा सविष्णुक्रान्तां च	३५८
दिनावसाने द्वादश्यां	२९४	दृगस्त्रं कवचं शैखं	१९
दिव्यं प्रशान्ताकारं तु	३०३	दृगते भगवद्वक्त्रे	५४०
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं		दृगदानं शयनस्थाने	५०२

दृगदानभवनं कुर्या०	४९९	देवीद्वादशकं चैव	१५५
दृगदृष्टिशुद्धमागर्णां	२०	देवो गुणत्रयातीत०	३०५
दृढ्नासाग्रगता कार्या	११८	देवोपभुक्तमन्नं तु	२२६
दृश्यं भोगासये चैव	४९२	देवो वामनदेहस्तु	१८९
दृष्टादृष्टफलेष्मूनां	४९४	देव्यश्चैवाङ्गपटकं तु	१६९
दृष्टादृष्टविनाशार्थं	१३७	देशदोषप्रशान्त्यर्थं	२८०
देयं निष्पुंसनार्थं तु	८३	देहकन्तिमनुज्जित्य	१२३
देयमाचमनं भूयः	७८	देहजां भावयेज्जवालां	२९४
देयमुद्वर्तनार्थं तु	७०	देहधात्वाश्रितानां तु	३३७
देवं नारायणं भक्त्या	१५९	देहसांन्यासिकं मन्त्रं	५१७
देवं प्रणम्य विज्ञाप्य	५३१	देहान्तं गन्धतन्मात्रं	३९४
देवं प्रदक्षिणीकृत्य	५२९	देहेऽस्मिन् मूर्धन्ध हृदये	५७
देवः पञ्चतनुः साक्षात्	३४६	दैर्घ्यात्पादाधिका कार्या	२१७
देवः सत्योपरि स्थित्वा	२६०	दैर्घ्यात्रिवेशशिष्टातु	५००
देव आम्रदलाभरूच	२३८	दैर्घ्यादि द्वादशमांशेन	५३६
देव आस्ते ज्ञातां हित्वा	२१४	दैर्घ्येण सार्धतालं च	४७०
देव एकार्णवशयः	१८७	दैवदोषविमुक्तस्तु	३४१
देव ऐश्वर्यवीर्यात्मन्	१२७	दैवीयं वनितावृत्तं	३८०
देवकिन्नरनार्यस्तु	३४९	दैवे पित्र्ये सदोद्युक्तो	४३०
देवतानां त्वधिष्ठानं	५२०	दोषजालं च तदेहाद्	३२९
देव दीक्षाविधानं च	३७८	दोषवान् शान्तिदेनैव	३४१
देवभूतबलिक्षेपो	३३२	द्यावापृथिव्योरन्तःस्थं	२२८
देवमर्चापयेत् कुर्यात्	४३१	द्रवत्कनकनेत्रं च	२६४
देवमर्णवशाय्याख्यं	२३३	द्रवत्कनकनेत्रस्तु	२५०
देवमानुषभागाच्च	५२२	द्रवत्कनकवर्णाभिः	२३४
देव वर्णधिविज्ञानं	४०१	द्रवत्कनकवर्णाभ०	२४६
देवव्रतं च सामज्ञान्	४८७	द्रव्यमन्त्रक्रियाभाव०	४३१
देवश्चाग्निर्गुहः कुम्भः	३०८	द्रव्यसंपातहोमेऽथ	३६४
देव संप्रतिपन्ना ये	२८५	द्रव्यास्मना विभक्तरूच	३४६
देवस्य पुरतः कुर्या०	४१२	द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वेस्तु	३०९
देवागारं बहिश्वान्त०	२७६	द्रावयित्री च दोषाणां	२०७
देवानां मर्त्यधर्मस्थैः	५३७	द्वुमाणां पावनानां तु	५०८
देवानां स्थितिसंहार०	२४९	द्रोणीनिकाशसदृशां	४६५
देवान्तं क्षत्रियाणां च	३८४	द्वन्द्वद्वयं तु लक्ष्म्याद्यां	२०२
देवाय मधुपर्कार्यां	४२३	द्वन्द्वद्वयप्रयोगेण	९१

द्वयं देवीपरिणये	२३६	द्वारमध्ये पदान्तं तु	५२१
द्वयं द्वयं क्षमाद्यं च	२०२	द्वाराण्यनन्तायतने	४९३
द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये	२६९	द्वारेष्वस्त्रं न्यसेद् भूयो	३०३
द्वात्रिशार्णो ह्ययं मन्त्रः	५४	द्वारेष्वच्च त्रिरन्तानि	४७५
द्वादशं च बहिष्ठेभ्यो	१८४	द्वाविशार्णो ह्ययं मन्त्रः	१६
द्वादशाक्षरपूर्वेण	३४७	द्वा सुपर्णेति तदनु	५१८
द्वादशाक्षरमन्त्रेण	२९२	द्विकलं चाग्रतः इमनु	४७२
द्वादशाक्षरमन्त्रेण	४८०	द्विकलं तु कलार्थेन	४६७
द्वादशाक्षरमन्त्रेण	४८३	द्विकला च परिज्ञेया	४६३
द्वादशाक्षरमन्त्रेण	४८६	द्विकले च तथा जड्बै	४६१
द्वादशाक्षरमन्त्रेण	५०७	द्विगुणं चोन्नतत्वेन	४९१
द्वादशाक्षरसंयुक्तं	४८६	द्विगुणात् सति सामर्थ्यं	४८३
द्वादशाक्षरसंख्यस्तु	४५०	द्विचतुर्भिर्द्विसपांश०	४९८
द्वादशाख्याद्विशेषोत्था०	५२४	द्विजप्रधाना यत्तन्मे	४१८
द्वादशाख्यं हि सर्वत्र	१९६	द्विजातेर्दत्तशिष्टस्य	२०८
द्वादशाङ्गुलमानं तु	४८६	द्विजादिकं रुतं स्तिंगधं	४५७
द्वादशाङ्गुलिविस्तीर्णा०	४८३	द्विजानां दक्षिणान्तं वै	३५२
द्वादशान्तिऽथ मन्त्रेण	२९३	द्विजेन्द्रजां कुमारीं च	३३६
द्वादशायतनं विद्धि	४९३	द्वितयव्यत्ययाच्चान्यत्	४७६
द्वादशारं बहिश्चक्रं	३३९	द्वितीयं कणिकामध्ये	१९६
द्वादशार्णेन बाह्यस्थं	३४०	द्वितीयं केवलं नेमेऽ	३७
द्वादश्यन्तं विधानेन	१५९	द्वितीयं केवलं नेमेऽ	५४
द्वादश्यां तद्विषट्कं च	१३५	द्वितीयं केवलं बाह्यात्	४४
द्वादश्यां पूर्ववन्मध्ये	१६९	द्वितीयं केवलं बाह्यात्	५२
द्वादश्यां भोजनात्पूर्वं	१६५	द्वितीयं केवलं बाह्यात्	५४
द्वादश्यां श्रावणस्याथ	१६९	द्वितीयं केवलं बाह्यात्	५५
द्वादश्यां सोपवासस्तु	१३४	द्वितीयं केवलं बाह्यात्	१४७
द्वादश्यां सोपवासस्तु	१३६	द्वितीयं च चतुर्थं च	४३९
द्वादश्यामादिदेवं तु	१३३	द्वितीयं तदधः कुर्यात्	४४
द्वाभ्यां द्वाभ्यामराभ्यां तु	२१८	द्वितीयं च्यक्षरं प्रोक्तं	५२
द्वाभ्यां नाभिद्वितीयं तु	५४	द्वितीयं दशमाच्छुद्ध०	३८
द्वाभ्यामभिमताभ्यां तु	४९३	द्वितीयं दशमाद्वर्णं	५२
द्वाभ्यामाद्यात्तथान्ताच्च	१७४	द्वितीयं दशमाद्वर्णं	१६
द्वारदिग्वीक्षमाणं तु	४८६	द्वितीयं दशमाद्वर्ण०	१५
द्वारदेशात्समारभ्य	५२१	द्वितीयं दशसंख्याच्च	

द्वितीयं द्वादशाद्वर्णं	३७	द्विभुजाः सर्वे एवैते	१४५
द्वितीयं द्वादशाद्वर्णं	४५	द्वियवः कण्ठपरिधिः	४६२
द्वितीयं द्वयक्षरं चान्यत्	३७	द्विरष्टसंख्यमिधमं तु	९१
द्वितीयं नवमाद्वर्णं	३८	द्विरेकादशधा कुर्यात्	४८९
द्वितीयं नाभिदेशाच्च	१८४	द्विरेफटलाक्रान्त०	२३६
द्वितीयं नाभिदेशाच्च	४३८	द्विर्द्विदशकरं यावत्	४८८
द्वितीयं वा चतुर्थं तु	३४०	द्विविधं धातुजालं तु	४९२
द्वितीयं स्वरसंयुक्तं	५१	द्विषट्कं धारणानां च	४०४
द्वितीयतुर्यष्टाष्ट०	१४५	द्विषट्कं ब्राह्मणानां तु	१३२
द्वितीयतुर्यष्टैच्च	२९२	द्विषट्कं यदनन्ताद्यं	१९४
द्वितीयमथ वै बाह्यात्	३८	द्विषट्कं वैभवे योगे	२५५
द्वितीयमपि वै बाह्या०	४३९	द्विषट्कपत्रं तदनु	३२२
द्वितीयमष्टमाद्वर्णं	५२	द्विषट्कमुपवासाना०	१३२
द्वितीयमष्टमाद्वर्णं	१६	द्विषट्कमूर्त्यङ्गितं च	३८३
द्वितीयमष्टमाद्वर्णं	३६	द्विषट्कमेव बीजानां	१४६
द्वितीयमष्टमाद्वर्णं	३९	द्विषट्कारं तु तद्वाह्ये	१५०
द्वितीयमिधमादाय	३९	द्विषट्केनाहुतीनां तु	५१९
द्वितीयस्याष्टमं नामे०	९७	द्विषड्यवं नेत्रकोशं	४६२
द्वितीयस्वरसंयुक्तं	४३९	द्विसप्तभुवनं विश्वं	३९९
द्वितीयस्वरसंयुक्तं	५४	द्विसप्तभुवनं विश्व०	३७२
द्वितीयस्वरसंयुक्त०	१४४	द्विसप्तभेदभिन्ने तु	३७३
द्वितीयस्वरसंयुक्त०	५३	द्विसप्तषोडशकर०	२५८
द्वितीयात् प्रथमं चाथ	५४	द्विसप्ताङ्गुलकं मध्ये	४६५
द्वितीयात् प्रथमं वर्ण०	५५	द्वे अङ्गुले कलानेत्रं	४६१
द्वितीयादपरं वर्णं	३६	द्वे लाञ्छने समे कुर्या०	२१६
द्वितीये दधिमध्वाज्य०	३७	द्वौ परस्परवक्त्रौ तु	४९३
द्वितीयेन ततः कण्ठं	३५७	द्वयंशदीर्घेण सूत्रेण	२१६
द्वितीयेनाष्टसंख्येन	४९०	द्वयक्षरं च तृतीयं तु	४६
द्वित्रिरष्टांशकैमध्ये	९१	द्वयक्षरं तु पदं पूर्वं	५४
द्विद्वयात्मना द्वयात्मना वा	४९६	द्वयक्षरं पञ्चमं विद्धि	३७
द्विधा कृत्वा पुराज्येन	४७६	द्वयङ्गुलं घाणवंशं तु	४६९
द्विपर्वा च स्मृतोऽङ्गुष्ठः	९७	द्वयङ्गुलं तु ललाटोक्तं	४७३
द्विभुजस्तुहिनाभश्च	४६३	द्वयङ्गुलेनोन्नतः कण्ठ	४७३
द्विभुजस्य त्विदं रूपं	२५०	द्वयङ्गुलौ वृषणौ दैर्घ्या०	४६५
	२५४		

द्वचादिकस्यास्य संघस्य	२६९	ध्यात्वा त्रेताग्निरूपं तु	३०५
धत्ते द्वादशधा रूपं	२५७	ध्यात्वाऽथ भावनाजातै०	२९८
धत्तेऽर्चा तु समायामं	४७५	ध्यात्वा ध्यात्वा स्वमन्त्रेण	६०
धत्ते सितादिकं रूपं	५६	ध्यात्वा निरस्तबन्धं तं	३०९
धन्यं व्रतमिदं पुण्यं	१६५	ध्यात्वा न्यस्य तृतीयं तु	१९६
धराम्बुहुतभग्वात०	१९३	ध्यात्वा पूणहृति दद्यान्	३२८
धर्तव्यं न चिरं चागे	२०९	ध्यात्वा पूर्णेन्दुगं मन्त्रं	३३१
धर्मं पाहि ततो दद्याद्	४४८	ध्यात्वाऽभ्यर्च्यं यथापूर्वं	१२५
धर्मसाधनमित्युक्तं	३४४	ध्यात्वाऽभ्यर्च्यं यथापूर्वं	३०८
धर्मसामान्यमल०	२३१	ध्यात्वा युगान्तहुतभुग्०	२९४
धर्मद्याश्चाग्निकोणात्०	४८६	ध्यात्वाऽर्चयित्वा संस्थाप्य	९२
धर्मधर्मेक्षणं ध्याये०	२२९	ध्यात्वाऽर्चयेत्तु विधिवद०	२३०
धर्मः स्थूलतरैर्मुक्तो	३०५	ध्यात्वा शिलान्तःसंरुद्धं	४५८
धातुद्रव्यमये कुर्यात्	२९८	ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण	३०८
धातुभिः कुञ्जुमाद्यैवा	७९	ध्यात्वैवं कुर्याद्	२७०
धातुशौलोत्थितानां च	४७८	ध्यानं पातालनिलय०	२२३
धात्रीफलोदकं चैव	७१	ध्यानं स्नानं तथा पूजां	१६९
धात्वाश्रितानां दोषाणां	३३०	ध्यानदैवतविज्ञानाद्	४३४
धावन्ति समयघनस्य	४२७	ध्यानयुक्तं जपं कुर्यां०	३४८
धिया दोषगणं सर्वं	१७२	ध्यानयुक्तो धिया सम्यक्	५१८
धीः कृता पुण्डरीकाक्ष	२७२	ध्यानार्चनं समन्त्रं च	४६
धीः पचं तदविष्ठाता	२१४	ध्यायेत्कमलगर्भाभं	२३६
धीरो दद्यापरश्चैव	४२९	ध्यायेत्तं ब्रह्मारथोर्च्चे	३२४
धूपानुलेपनादीनि	३७६	ध्यायेत्तप्रसरच्छन्तं च	२३७
धूपार्थं गुग्गुलुः साज्यो	४२३	ध्यायेत्तदन्तः सूर्याभं	३६८
धूपिताहतशुष्केण	३१५	ध्यायेत्तद्वादीसं	२३१
धूपितेऽभिनवे भाष्टे	२७६	ध्यायेत्तमेव हस्त्वाङ्गं	२४१
धूमनिर्गमनोपेतं	१६७	ध्यायेदभयपाणिं तं	२२७
धूमायन्तं च सिद्धार्थ०	२३३	ध्यायेद्वाश्वरगं तं वै	२८६
धूमायमानं सिद्धार्थ०	७६	ध्यायेद्वै सूकरात्मान०	२३०
धृतिमैत्री रतिस्तुष्टि०	१९१	ध्यायेनिश्चेष्पाताल०	१९७
धैर्यमुत्साहसंतोषां०	२८९	ध्यायेन्मन्त्रवरं मन्त्री	३४९
धौतायसमयं पात्रं	१६३	ध्येयं परं सकल०	५१४
ध्यात्वा लाज्जिताः सर्वे	२७०	ध्येयं स्वकं स्वकं चिह्नं	२६५
ध्यातृध्येयाविभागेन	१२०	ध्येयः स एव विश्वात्मा	२४४

श्लोकाधार्णानुक्रमणी ५९३

ध्येयमस्य भुजे पष्ठे	२३३	न तत्र तेषां भवति	४९३
ध्येया गदा द्वितीयस्य	१४५	न तथा पद्मवीजानि	४२६
ध्येया भगवती निद्रा	३०५	नतिप्रणवगर्भं तु	३१७
ध्येया भगवती माला	२६३	नतिप्रणवगर्भेण	४८१
ध्येया मुद्रा विभोः पञ्च	२४२	न तेन सह संवन्धः	४२५
ध्येया विशेषरूपेण	२६२	न त्वन्यरूपता कार्यं	२४७
ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता	३०४	नत्वा व्रतेश्वरं प्रागवद्	१३२
श्रियमाणं गदां गुर्वीं	२३७	नदन्ती वर्णं नादं	२८
ध्रुवात्मा भगवान् मध्यं	२०१	नदन्नादमनास्येयं	२३४
ध्रुवाय दद्यात्तदनु	४४२	नदीप्रणवगर्भेण	३७१
ध्रुवा सामर्थ्यशक्तिर्वै	५८	नद्यां समुद्रगामिन्यां	२८०
ध्वंसकुद्धिजालस्य	२४०	नन्दकं मर्वशास्त्राणि	२६६
ध्वंसयन्तं च विघ्नानां	३६१	नपुंसकेति मा ज्ञेया	४६०
ध्वंसिना मोक्षविघ्नानां	३९४	न भूतग्रहदुट्टानां	३१०
ध्वंसिने पदमादाय	४५०	न भूयः सह काठेन	३१७
ध्वजं वा मन्दिरं शुद्धं	५४३	नभोऽनिलात्मना चैव	१९४
ध्वजलाङ्घनसंजं च	३८५	नमः प्रणवमंजास्या	४४१
ध्वजाग्राच्छिखराधं च	५३६	न मन्यते तदा सम्यग्	४३१
ध्वजाद्यमुद्धरेत् सर्वं	५४१	नमस्कारेण मन्त्राणां	३८८
न कांस्यपात्रे भोक्तव्यं	४२३	नमस्कुर्यात् समभ्यर्ज्य	३११
न कार्यं मनुजैर्वर्णं०	५३७	नमस्कृत्य हृषीकेशं	४
न कार्या कण्टकैर्लैह०	४२४	नमस्तेज्ञतु हृषीकेश	१२७
न कुर्यात्कर्मविम्वानाऽ०	४७८	नमस्तेज्ञतु हृषीकेश	५२५
नक्तं वा परिपीडं च	३८९	नमानमः पदमुतो	३७
नक्तं वा परिपीडं वा	३१०	नमो नृसिंहभूतभ्यः	३२९
नगरापणवीथीषु	४२१	नमोऽन्तं वर्णमेतद्वै	३१२
नगस्तकचन्दनाद्यानि	३८०	नमोऽन्ताः प्रणवादाश्च	४४१
न गृहे करवीरोत्थैः	४२३	नमो भगवते कृत्वा	४४५
न च सर्वज्ञमन्त्राणां	४२५	नमो भगवते कृत्वा	४४६
न चाक्रमेत पादेन	३१०	नमो भगवते दद्यात्	४४७
न चाराधनकाले तु	४२३	नमामन्त्रक्युनभूतभ्यः	४१५
न जहात्यच्युतं लिङ्गं	२४८	न यत्र वीजं पिण्डं वा	१७६
न तजानुशिरः कृत्वा	३२८	नग्नतं पूर्वविधिना	५१८
न तजानुशिरः शिष्यं	१४३		

नयन्ति कर्मणः सम्यग्  
 नयन्त्यप्ययतां सम्यक्  
 न यानपादुकाहृदो  
 नयेत्तेनाभिमुखं च  
 नयेत्सामान्यभासित्वं  
 नयेनवताशनैर्भक्त्या  
 नरं तत्र प्रवालाभ०  
 नरनाथाय शब्दं तु  
 नरसिंहासनारूढं  
 न रात्नी प्रतिमा शस्ता  
 नराद्यः कृष्णनिष्ठश्च  
 नरो नारायणश्चैव  
 नर्तनं रथविध्वंस  
 नलिनीनालहस्ताढ्या  
 नवधोष्णीषकं कृत्वा  
 नवमं चापि तन्मूर्धिन  
 नवमं चापि तस्योर्ध्वं  
 नवमं नाभिदेशाच्च  
 नवमं नाभिदेशाच्च  
 नवमं नाभिवर्णेभ्य०  
 नवमं सप्तमं नाभे०  
 नवमद्वादशाभ्यां तु  
 नवमेन तु वै नेमे०  
 नवांशेनोर्ध्वभागात्  
 नवाक्षरमिदं विद्धि  
 नवाङ्गुलोन्नतावूरु  
 न विक्रियामवाप्नोति  
 न विक्षिप्तमना भूत्वा  
 न वेत्ति यत्र संलीनं  
 नवो नेत्रचयः शुद्धं  
 न व्याख्यावसरे कुर्यात्  
 न शङ्खचक्रपद्माङ्के  
 न शमात् पञ्चहस्ताना०  
 न शास्त्रार्थस्य शास्त्राणां

४००	न षाङ्गुण्यकलोत्था च	३९८
४०१	न स्नायान्न स्वपेनग्नो	४२४
४२०	न हंसकच्छपीयानि	४२६
१७४	नहि तत्सन्निधानादौ	४७२
४५३	न ह्लासः षट्करान्तानां	४९८
१३१	न ह्लासमाचरेत्तेषां०	५००
२४३	नाकम्या गौरवी छाया	४१८
४४६	नागाद्याद्यन्तमध्येभ्यो	५०७
२३९	नाच्छादयति लोकानां	६
४५४	नाड्यैक्यमभिसन्धान०	३६९
२४३	नातीव तृप्तिजनकं	१५१
१८९	नाथ ज्ञानबलोत्कृष्ट	१२७
३८१	नादावसानगग्ने	२८
२६८	नानाकृति च तद्विद्धि	९
४९०	नानाण्डबीजसंयुक्ता०	३९०
४३९	नानात्वं नाममन्त्राच्च	१७८
४४१	नानात्वमपि चाभ्येति	२६०
४३९	नानात्वमुपयातस्य	५१८
४३९	नानात्वेन हि वै यस्य	२६९
२९१	नानाद्रव्याङ्गदेहं यद्	२२३
४४०	नानापुष्पफलोपेतं	३४७
१४७	नानाफलवशेनापि	५४५
३२३	नानाब्जवनपुष्पोत्थां	४९४
४९०	नानामन्त्रमयीं विद्यां	२९५
४४९	नानामन्त्रस्वरूपेण	२२४
४७३	नानामुद्रास्त्रयुक्तेन	४४
४३०	नानारत्नप्रभाकान्ति०	२४२
४२०	नानारत्नप्रभाद्यानि	३४८
३९६	नानारूपं च निशितं	५४४
३८०	नानावपुर्धरो भूय०	२६४
४२०	नानाविभवमूर्तीनां	२६०
४१९	नानाविशेषविज्ञान०	१९२
५००	नानासिद्धिप्रदानाच्च	२३४
४२५	नानास्त्ररूपभूतात्म०	१९७
		२३७

श्लोकाधीनुक्रमणी	५९५
४६० नाभेश्चतुर्थं तस्योर्ध्वे	४३९
५३८ नाभेश्चतुर्थमादाय	४३९
५३४ नाभेस्तृतीयं तदनु	१८४
४३१ नाभेस्तृतीयं तस्योर्ध्वे	४४०
४२३ नाभेस्तृतीयसंयुक्तं	४४
४२० नाभेस्त्रयोदशोपेतं	१५
५३७ नाभ्यष्टमसंथादाय	४३८
४२० नाभ्युद्देशेऽपरो वामः	२५१
४२५ नाभ्येकादशमोपेतं	३६
३२४ नाभ्येकादशसंभिन्नं	३७
३१७ नाभ्येकादशसंयुक्तं	४४
३८ नाम्नाब्जनाभुवनं	२१५
३८ नाय स कालो यत्रासीत्	६
२९३ नारसिंहेन वक्त्रेण	२२५
४३९ नारसिंहेन वान्येन	२९०
५१ नारायणपदप्राप्तेऽ	५
३९ नारायणः परंब्रह्म	३४७
४४० नारायणाय शब्दं तु	१५९
१५ नारायणाय शब्दं तु	४४५
१६ नारी ह्यनन्यशरणा	१६६
५१ नार्चनीया नृपाद्यस्ता	५३९
१८४ नालिकेरोदकेनैव	३४३
३४० नावलपान्न मोहाच्च	२७७
४३० नावसादस्तु कर्तव्यो	१४०
४७३ नावसादस्त्वतः कार्यं	१६५
३१९ नाविकं मधुपकर्थी	४२३
३२२ नासने तत्समक्षं च	४१९
३२३ नासाग्रप्रासनिरुक्तं	४६१
३२४ नासाग्रेण तु मन्त्रेशं	२९३
३३१ नासावंशं यथापूर्वं	४७१
४३७ नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां	२४८
५१९ नास्याः कुर्याः परित्यागं	३०९
११७ निकेतनाय तदनु	४४६
५३ निखिलं चाप्यधीकुर्यादि	१२०

निचयं हनवीप्साऽः	४४८	नियमाः किञ्चरूपास्तु	४१८
निजभूमे: समारभ्य	४९०	नियमादा समाप्त्येव	३४८
निजलक्ष्मोपलं चाग्रात्	४६४	नियमश्रयाय दद्यात्	४४५
निजानन्दमयैर्भोगै०	२७५	नियोक्तव्यं चतुर्वर्णं	४४२
नित्यं कुशाजिनेशायी	३४८	नियोक्तव्यो मिते पूते०	२८६
नित्यं तत्सनिधानाच्च	४७२	नियोज्य तत्समाधौतं	३९२
नित्यं धर्माविरुद्धेन	१३६	निरङ्गं तीक्ष्णधारं वै	५३५
नित्यं नित्याकृतिधरं	५६	निरङ्गानां तु मन्त्राणा०	४०७
नित्यं सद्वैषणवैः कार्य०	१३६	निरताय पदं दद्याद्	४४४
नित्यक्रियापराणां च	३५०	निरन्तराणामामूलात्	२१९
नित्यदीक्षाद्वयस्यास्य	४०८	निरन्तराभ्यां शाखाभ्यां	३०६
नित्यनैमित्तिकार्थं तु	१२९	निरस्तदोषं कृत्वा प्राक्	३७२
नित्यसन्निधिसिद्ध्यर्थ०	५१८	निरस्तपापमाकृष्य	२९३
नित्यसन्निहिताशेष०	२२४	निरस्तसूत्रं तं विद्धि	२५२
नित्याराधनकामस्तु	४५२	निराकारो निरङ्गश्च	१९
नित्येनाव्यक्ततत्त्वेन	३५५	निरीक्षणादिशुद्धेन	२०३
नित्ये स्वात्मनि संबन्धे	४०१	निरीक्षणादिसंशुद्धात्	५०७
नित्यैर्जलक्षणैः शुद्धैः	३९१	निरीक्षितं दृशा चास्त्र०	३७०
नित्योदितं च सुपदे	५८	निरीक्ष्य ताड्य संप्रोद्ध्य	३८२
नित्योदितं यदक्षस्थं	१४	निरूप्यावयवानां च	४६१
नित्यो नित्योदितज्ञानो	३९७	निरोदकेऽथ प्रासादे	५३२
निदध्यादासनं पश्चात्०	३२३	निर्गतां वैष्यात् सर्वाद्	३६९
निदध्यादुत्तराशान्तं	९६	निर्गत्य नगराद् ग्रामात्	४५७
निदध्याद्वोमभाण्डे ते	१०२	निर्गमः स्वदलेनैव	४७७
निदध्याद्वद्वापीठं तु	३६२	निर्जगामार्चयित्वाऽथ	३
निद्रामोहमलं येन	३७९	निर्जटानां ललाटोर्ध्वे	४६१
निद्राऽयस्कान्तसदृशी	२६७	निर्णुदन्तं प्रपन्नानां०	२३०
निधाय दक्षिणस्यां च	९७	निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं	२८८
निधाय पूर्ववत्कुर्याद्	३२०	निर्दोषतां प्रयान्त्याशु	४२३
निधाय सजलं पात्र०	३३०	निर्धूमाङ्गारकूटाभं	४५९
निधे वाञ्छितशब्दं तु	४४५	निर्धमाङ्गारवर्णाभं	२२७
निमित्तं विद्धि सर्वेषां	३२६	निर्धमाङ्गारशिखर०	३०४
निम्नं हृदगोलकार्धेन	४६४	निनिद्रीकरणं कुर्यात्	४१६
नियतं पञ्चकस्यास्य	४२७	निर्मलाम्बरधारी च	४२९
नियन्त्रे पदमुदधृत्य	४४५	निर्मलीकृत्य कूर्चेन	९४

निर्मितानि सुवर्णाद्य०	५४४	निशाम्बुना समालोङ्घ्य	३४१
निर्मूकतचित्कलो येन	३६७	निश्चयीकृत्य यत्नेन	१३७
निर्मूकतपरिवारं वा	२७०	निश्चकित्को निरङ्गो यो	६०
निष्यसो दशमांशेन	४९१	निश्चेषदोषशान्त्यर्थ	९४
निर्लिङ्गं देवतानां च	४३४	निश्चेषभूत्यां	३६९
निर्वर्तनीयं पूर्णन्ति	५०६	निश्चेषमन्त्रवृन्देन	४८६
निर्वर्त्य नित्यं प्रत्यूषे	३७९	निश्चेषयागभोगानां	२८०
निर्वर्त्य भगवद्यागं	३४५	निश्चेषकितगम्भं तु	४८४
निर्वर्त्य मण्डलं रम्य०	३४३	निश्चेषस्योपसंहारं	१२१
निर्वाहिकाणां भक्तानां	४२६	निश्चेषाणामकर्मण्य०	४३०
निर्वाहिणीयं विधिवत्	४२६	निश्चेषाणि च तीर्थानि	२८३
निर्वाहिणीयोऽप्यपरः	२७५	निश्चेयसकरं कर्म	१२३
निर्विघ्नसिद्धये दद्याद्	३५३	निश्चेयसविभूत्यर्थ	२९०
निर्विघ्नेन व्रतं यस्मा०	१३७	निषणं तलपर्यन्ते	१२६
निर्विणं लक्षणाद्यन्यं च	३१५	निषणं भोगिशय्यायां	२३३
निर्वर्तनेन तद्वन्याद्	४५६	निषणदृढकाष्ठोत्थ०	५०६
निविष्टा हृदयोदेशो	८५	निषणमीशादुक्तानं	२४०
निवेदितव्यं यद् द्रव्यं	३४७	निषिद्धं भगवद्विम्बं	४५९
निवेद्य देवदेवाय	७९	निष्कामः पावनार्थं तु	३१३
निवेद्य मन्त्रमूर्तौ प्राक्	३४५	निष्कामव्रतिनां नित्य०	१३०
निवेद्य मुखवासादी०	२७५	निष्कासायामविस्तार०	४७१
निवेद्य राजते पात्रे	१५८	निष्टप्तकनकाभं च	२३४
निवेशयति यो भोहात्	५३७	निष्टप्तकनकाभं च	३०३
निवेशनीया वै तेन	५२२	निष्ठाङ्गेन महाबुद्धे	३९५
निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे	५३६	निष्पन्दं बोधभावेन	२३७
निवेश्य नेमिपूर्वं तु	४४०	निष्प्रभत्वं प्रयातस्य	५१८
निवेश्य मध्यवेदां तु	५०३	निष्प्रभत्वान्न मृच्छेली	५४०
निवेश्य मूलमन्त्रेण	५२६	निस्तरङ्गमयो भूत्वा	३९६
निवेश्य स्नानकलशान्	५०६	निस्तरन्त्यचिरेण॑व	२३६
निवेश्यानीय तं मध्ये	५३३	निस्सृतं वायुमार्गेण	२९३
निवेश्यो देहपातान्तं	३९७	निस्सृता ब्रह्मरन्ध्रेण	२७
निशां नीत्वा प्रभातेऽथ	१२६	निस्स्वामिका वानुज्ञाता	१६७
निशागमेऽर्चनं कुर्याद्	४५८	निहिता चोन्नता कीर्ति०	५३८
निशामुखे तु संप्राप्ते	३३२	नीतोऽसि चाभिमुख्यं तु	५३१
निशाम्बुना चन्दनेन	३१६	नीत्वा तीर्थान्तिकं तत्र	२८३

नीत्वा परिणिं थोगा०  
 नीत्वा लोपमनेनैव  
 नीत्वा वै मण्डलस्थस्य  
 नीत्वा समानतां सर्वं  
 नीत्वा सम्पूर्णभावं च  
 नीत्वा सम्यक्पृथगभावं  
 नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्ण  
 नीत्वैवं व्यक्तिभावेन  
 नीरसं चेरिणीभूतं  
 नीरुजानां विशेषेण  
 नीरूपं खं तदूर्ध्वं तु  
 नीलनीरदवर्णभिं  
 नीलशाद्वलसंमिश्रं  
 नीलोत्पलदलश्याम०  
 नीवारतण्डुलेनैव  
 नीहार उल्कापातश्च  
 नूनं कर्मात्मतत्वानां  
 नून कालुष्यमुक्तानां  
 नूनं वैफल्यमायाति  
 नूनमुत्पाटयत्याशु  
 नृणामाराधकानां तु  
 नृपविट्ठूद्रजातीय  
 नृपश्चार्हति वै नित्यं  
 नृसिंहं पूजयेत्तत्र  
 नृसिंहस्य मुखे विद्धि  
 नेच्छत्यन्योन्यसाम्यं तु  
 नेतव्यास्तानवं सर्वे  
 नेत्रं केसरजालस्थं  
 नेत्रकर्मणि हृदीजं  
 नेत्रवस्त्रैरलङ्घारै०  
 नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वा  
 नेमि दर्पणवत्कुर्यात्  
 नेमिद्वितीयं तदनु  
 नेमिद्वितीयं तस्याध०  
 नेमिद्वितीयसंख्यं

१२३	नेमिपूर्वं च तदनु	२६
२१८	नेमिपूर्वमतो नामेः	१८३
३७५	नेमिपूर्वमथादाय	५३
३९६	नेमिपूर्वमधो नामेऽ	४५
३६५	नेमिभागे श्रियं देवीं	३०२
३८७	नेमिवर्गदि द्वितीयं वै	१८३
३६७	नेमेः षष्ठमथादाय	३६
४०५	नेमेः सप्तममादाय	४८०
३६७	नेमेः सप्तमवर्णस्य	४३९
३३८	नेमेराद्यद्वितीयं च	४४०
३६८	नेमेराद्यन्तमूर्ध्वं तु	४३८
२३७	नेमेरेकादशं चाथ	१८३
३५४	नेमेरेकोनविशाख्य०	३१९
२६४	नेमेर्दशमबीजेन	३३८
३१९	नेमेद्वितीयं तदधो	३८
३८१	नेमेद्वितीयं तदनु	१६
१२३	नेमेर्नवमबीजेन	३२४
४२८	नेमेश्चतुर्थसंख्यस्य	४३९
४३१	नेमेस्तृतीयं तदध	३७
२४६	नेमेस्तृतीयं तदनु	४४
२९१	नेमेस्तृतीयवर्णस्य	१६
२८८	नेमेस्तृतीयस्योर्ध्वं तु	३८
४५४	नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं	५१
३६८	नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं	५२
४६९	नेमेस्त्रिदशमादाय	४३८
५३८	नैकृतानिलसंस्पर्शि	९७
४२४	नैकृते तु महाकर्मा	२०३
३०१	नैवेद्यं मन्त्रसूर्तीनां	२०९
४०७	नैवेद्यं विविधं पूतं	१५८
४८३	नैवेद्यमुपपीठे तु	३५२
५११	नैवेद्यशेषभुग्वाम०	४५६
२१८	नैवेद्यशेषमन्यस्मिन्	३३०
४४	नैवेद्यशेषमशनीया०	४५८
३९	नैवेद्यस्य च मन्त्रज्ञो	३३७
३९	नोक्तं विभवदेवानां	२००

नोच्छिष्टं संस्पृशेत्	४२४	पक्षमासोपवसांश्च	२४४
नोदग्राह्यति शास्त्रार्थं०	४३०	पक्षमकं स्वेदहृद्वस्त्रं	९१
नो भाजनं स्यात् सिद्धीनां	४३५	पचनालयमुत्सृज्य	३६३
नो याति म्लानतां याव०	२७८	पञ्चकं त्वथ भूतानां	२८१
नो यान्ति निश्चयं यत्र	३९८	पञ्चकं पञ्चकं कोणाद्	२१२
नौरूपां वितां क्षोणीं	२४१	पञ्चगव्यं ततः प्रागवत्	३६०
न्यग्रोधविटपारो०	२३८	पञ्चगव्यदधिक्षीर०	३४२
न्यग्रोधशायिपर्यन्त०	१९४	पञ्चगव्यमथापाद्यं	२८६
न्यग्रोधशायी भगवा०	१८९	पञ्चगव्ये चरौ दन्त०	३७५
न्यसेत् कमलपत्राणा०	३०१	पञ्चगव्येन तदनु	५११
न्यसेत् कमलबाहो तु	२०१	पञ्चत्रिंशतकरं क्षेत्रं	५००
न्यसेत् केसरजालस्थं	५९	पञ्चत्रिंशाक्षरो ह्येष	४४८
न्यसेत् प्राङ्गणभित्यर्थं	४८७	पञ्चधा सप्तधा कृत्वा	४९०
न्यसेत् षोडशपत्रस्य	३२३	पञ्चमं च बहिष्ठेभ्य०	३७
न्यसेदनन्तं चक्रस्य	५२५	पञ्चमं च बहिष्ठेभ्य०	४५
न्यसेदाधारभूतं च	१९५	पञ्चमं नाभिदेशाच्च	१८४
न्यसेद्विद्वमजालं च	५०९	पञ्चमं ब्रह्मकमर्दिं	२१५
न्यसेद्विभवदेवांस्तु	५२८	पञ्चमस्य द्वयं शेषं	२५२
न्यस्तव्यं पूर्ववर्णाच्च	४८६	पञ्चमेनाथ वै नामे०	५१
न्यस्य पूर्णान्तिकं कृत्वा	५२५	पञ्चरागेण सूत्रेण	३२७
न्यस्य मन्त्रवरं तत्र	३४३	पञ्चरात्रविदस्तद्वद्	४१७
न्यस्यस्तेजो धराख्यस्तु	२०३	पञ्चरात्रविदां चैव	५१६
न्यस्यात्मन्यध्येष्याद्यैः	४१५	पञ्चरात्रविदां चैव	५४४
न्यस्यैवमभिमानं तु	२५	पञ्चरात्रविदो विप्रा	३८०
न्यस्यैवममृतोत्थैस्तु	१९५	पञ्चलोहमयं चक्रं	३५४
न्यस्यैवमर्चनं कुर्यां०	२०३	पञ्चवक्त्रेण वपुषा	२६०
न्यस्यैवमर्चनं कुर्याद्	१९६	पञ्चहस्तानि चार्धेन	५००
न्यासं मन्त्रवतुष्कण	११७	पञ्चाक्षरं तृतीयं तु	३९
न्यासं वाहनमन्त्रेण	५४२	पञ्चाक्षरं तृतीयं तु	५३
न्यासद्वयं च संहस्य	१२१	पञ्चाक्षरं द्वितीयं तु	५१
न्यूनं षड्विंशतिं नेमे०	४४०	पञ्चाक्षरं पञ्चमं वै	४६
न्यूनविशत्यक्षर०	४४३	पञ्चाक्षरं पदं दद्यात्	५२
न्यूनविशाक्षरो ह्येष	४४३	पञ्चाङ्गुलं तु सुदृढं	३५४
न्यूनाङ्गुलेः कला साधी	४६४	पञ्चाङ्गुलः परिज्ञेयः	४६६
न्यूनाधिकानां शान्त्यै तु	३५९	पञ्चात्मकस्य प्राणस्य	२४९

पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य	४०१	पदमेकादशार्णं तु	५१
पञ्चानां च परिज्ञेया	४७४	पदानि पदमन्त्राणां	४३३
पञ्चाणं पञ्चमं विद्धि	५३	पदासक्ताय तदनु	४४७
पञ्चाणं वासुदेवाय	४५	पदैः पूर्वोक्तसंख्यैस्तु	३८
पठन्तमनिशं शास्त्रं	२४३	पदौरोङ्गारसंख्यैः	३९६
पतत्रिचरणाः सर्वे	२५०	पदोपलक्षणं मन्त्रं	२४३
पतत्रीशमृगेन्द्रैस्तु	४९२	पद्मं गदा ध्वनिश्चक्र	१५३
पतन्तमस्वराद्वेगा०	३२५	पद्मं दक्षिणपाणौ तु	२९५
पतये शब्दमुच्चार्य	४४५	पद्मं स्वेनात्मनात्मानं	३६८
पतितस्य भवास्वोधौ	१६१	पद्मकं च तृतीये तु	३५८
पत्रपृष्ठफलान्नाद्य०	३४२	पद्मकं शङ्खपुष्पं च	३५३
पत्रपृष्ठोदके चैव	७३	पद्मखङ्गगदावज्र०	२५९
पत्रमध्यनिविष्टं तु	२६९	पद्मध्वनिगदाशङ्क्वाः	१५४
पत्रयुग्मे तदीये तु	१६९	पद्मनाभं समभ्यर्च्य	१६३
पत्राग्रमानयेत्तस्माद्	२१३	पद्मनाभादयो देवा	१८४
पदं कृत्वा तु जुह्या०	३९०	पद्मनाभादिमूर्तीना०	१३५
पदं चतुर्मूर्तये वै	४४७	पद्मनाभय वै विश्व०	४४२
पदं चाखिलदुःखेति	४४५	पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः	१८४
पदं जगत्प्रियायेति	५३	पद्मपत्रैस्तथाश्वत्थ०	३१०
पदं तु द्व्यक्षरं षष्ठं	४४	पद्मरागसमानेन	४२
पदं प्रकाशाशयाय	४४३	पद्मरागाचलाकारं	२६३
पदं ब्रह्ममयायाथ	४४६	पद्मरागाचलाकार०	३०४
पदं रसनिधे कुर्यात्	४४९	पद्मशङ्कौ सुशोभाङ्गौ	१२६
पदं वद वदादाय	४४३	पद्मादीनां चतुर्णा॒ तु	१४९
पदं वेदविदे विश्व०	४४२	पद्मादीं चातुरासीय०	२२८
पदं सनत्कुमाराय	५३	पद्मासनादिना चैव	२५३
पदं सहस्रार्चिषे तु	४४६	पद्मासनादिना मार्गे	३५६
पदत्रयेण तेनैव	४६	पद्मासनेनोपविष्टं	२३९
पदद्वयं तु सर्वेषां०	४६	पद्मासनेनोपविष्टा	२६८
पदप्राप्तिचतुर्वर्णं	४४२	पद्मोनोधर्वगतेनैव	४७६
पदभेदविनिर्मुक्त०	५५	पयोभुक् परमेशं च	३१७
पदमप्रतिमेत्यादौ	४४५	पयोभुग् वा निराहारो	३२३
पदमादाय तदनु	४४३	पयोयावकशाकाम्बु०	३१४
पदमिन्द्रियकोशाय	४५०	परं पापहरं पुण्यं	५४७

परं प्रणवबीजेन	४८	परितो विहितं वीथेऽ	५०१
परं ब्रह्मा परं धाम	१२३	परिधिः कटिदेशस्य	४७३
परण्डकस्य चोच्छ्राय०	४९३	परिधिनाभिमध्ये तु	४६५
परत्र भवभीरुणा०	३४७	परिधेष्ट्रादिशकला	४६३
परत्वमनिरुद्धस्य	१६३	परिधेर्वाह्यतोऽङ्गुष्ठं	१३०
परदारस्पृहामुकः	४२९	परिभूते तु वै लाभे	१३६
परध्वनिस्वरूपेण	२९७	परिवारं बहिः पद्मात्	५९
परब्रह्मासमेतं च	४४५	परिवारं समादाय	१९९
परमः पालनीयश्च	४३३	परिवारयुतं देवं	३०८
परमाराधनं प्राग्वत्	३३	परिवारवशेनैव	४७५
परमेतत्समाख्यात०	८	परिशुद्धे शृते क्षीरे	३६४
पररूपस्य मध्ये तु	१६६	परेऽहनि तदा कुर्यात्	१६६
परस्परमुखौ कुर्यात्	४९३	पर्यटेलाऽङ्ग्यमानं तु	४८९
परस्परमुखौ शिलष्टौ	३०७	पर्येष्टिकृद्वैणवानां	४२१
परस्य चात्मनो मन्त्री	३२१	पर्वतं च स्वमात्मानं	४५९
परस्य ब्रह्मणः सम्प्रग्	१७१	पलाशखदिराश्वत्थ०	५०८
परस्य ब्रह्मणः सोऽयं	३०८	पवित्रं ते हि यत्साम	५१३
पराक्रमाय शब्दं तु	४५०	पवित्रकं तदाकारं	२८४
परा गतिर्गुरुर्घट्समात्	४१७	पवित्रकं तु तन्मध्ये	९२
पराङ्मुखं च सुस्पष्टं	८४	पवित्रकेणाथ ऊर्ध्वे	१०२
पराय पदमादाय	४४७	पवित्रमन्त्रं तदनु	५१३
परार्थतो वा स्वार्थेन	३४१	पवित्रारोपणे चान्द्रं	२७४
परावर्त्य शतं बुद्ध्या	११९	पवित्रार्वतिरैरेवं	५३०
परिग्रहाय प्रणव०	४४६	पशुप्रतिनिधिं चैव	३३०
परिच्युतमलः स्नातः	२२	पश्चाच्छरीरयात्रार्थ०	१०९
परिज्ञानाङ्गवेत् किन्तु	१७८	पश्चात् क्रमाहूलान्तस्थं	१९७
परिज्ञाय पुरा मूर्ति	४५६	पश्चात्पङ्गुलसंमिश्रैः	१४३
परिज्ञेयं कलाहीनं	४६३	पश्चात्पङ्गवत्पूतं	१५८
परिज्ञेयं शुभं कुर्यात्	४६०	पश्चात्पमलं धाम	१५२
परिज्ञेयो हि कैलिङ्गैः	२८९	पश्चान्मासत्रये याते	१६१
परितः कर्णवज्जं तु	४८३	पश्चिमांशाद्विना सर्व०	२१३
परितः सूर्यसन्तप्तं	३०४	पश्चिमेनान्वितं नामेऽ	५१
परितोऽशद्वयेनैव	४७७	पश्येच्छलां गुणवतीं	४५७
परितोऽङ्गुलमाना सा	४६५	पश्येत् पङ्गवितनिविष्टं च	३८०
परितो द्वयज्ञुलं विद्वि	४६५	पश्येत् स्वयं स्वशक्त्या	४१

पश्येद्विधौ शिशौ सूत्रे  
 पाठपूर्वं हि शास्त्रार्थं०  
 पाठयेच्च सपुण्याहं  
 पाठयेच्चातुरात्मीयं  
 पाठयेत्तत्र कूष्माण्डान्०  
 पाठयेत्सर्पसामाऽथ  
 पाठयेदस्यवामीय०  
 पाठयेद्भूम्यान् सर्वा०  
 पाठयेद् द्वारपालीयं  
 पाठयेद् ब्राह्मणान् धात०  
 पाठयेद् ब्राह्मणांस्तत्र  
 पाठयेद् ब्राह्मणांस्तद्वत्  
 पाणिना तत्समाहृत्य  
 पाणिनादाय चाम्रे वा  
 पाणिभ्यां क्षालनार्थं  
 पाणिभ्यां शङ्खचक्रे द्वे  
 पाणौ कृत्वा तमेक०  
 पाण्डराणि दुकूलानि  
 पाण्यन्तं धारनिष्ठं वा  
 पातालदिङ्महामेघ०  
 पातालशयनायेति  
 पातालशायिनं मध्ये  
 पातालशायिपर्यन्त०  
 पातालशायिपर्यन्त०  
 पात्रभावत्वमापन्नो  
 पात्रसंबं तदग्रे तु  
 पात्राण्यापूर्यं कुम्भानां  
 पात्राभावाच्च रजतं  
 पात्राभावे यथाशक्तिं  
 पात्रेऽपरस्मिस्तस्माद्वै  
 पादं पञ्चकलायामं  
 पाददेशाच्च वा मध्या०  
 पादनूपरपर्यन्त०  
 पादपीठं तु सामान्यं  
 पादमङ्गुष्ठनिकटात्  
 पादादितन्मयेनैव

३८९	पादाद्वै द्वादशाङ्गेषु	५१७
४३०	पादाब्जमुद्रारहितं	१५०
४८०	पादाम्बुरुहनालं प्राक्	५२६
४८४	पादाम्बुरुहनुमुद्राऽथ	१५०
५११	पादुके पादपीठं च	४१४
५१०	पादे जालं परिज्ञेयं	४७८
५१६	पादेन वा त्रिभागेन	४९०
५४२	पादेनैकेन तिष्ठन्ते०	२४३
५०३	पाद्यदानं तृतीयात्	३६०
५१८	पाद्याचमनकार्यार्थं	३५८
४८८	पाद्याधर्यपुष्पधूपैस्तु	३८२
५३०	पाद्याधर्यपुष्पधूपैस्तु	५१६
६१	पाद्याधर्याचिमनं दत्वा	५२६
३६६	पाद्याधर्याचिमनीयार्थ०	५०७
७०	पाद्याधर्यं मधुपकं च	६८
३५७	पानकानि पवित्राणि	८३
७५	पारणं प्राग्विधानेन	१६६
३५४	पारम्पर्यागतं तन्मे	५
३८४	पारावनशुकाब्जाभा	४५८
२२८	पार्थिवं पदमाक्रम्य	३९०
४४८	पार्थिवेन च पीठेन	३५२
१९७	पाश्वदेशोषु कुण्डानां	५२१
१९४	पाणीं द्विगोलकतते	४६६
२०१	पालनं समयानां च	४२८
३४६	पालाशद्व॒र्वासिमिधः	३५५
३३२	पावनं वा ततं वृक्षं	१३८
३२१	पावनैरित्यनैः शुष्कैः	३०८
१५८	पाशं फणिगणाकीणं	२६४
१६२	पाशाङ्गुशौ मुदगरश्च	१९१
२९९	पाशाद्यं वज्रपर्यन्तं	२०२
४७३	पाशो मायाङ्गुशः कामो०	२६६
४५९	पिङ्जरीकृत्य यत्नेन	१६३
७९	पिण्डमन्त्रगणं मत्त०	४३७
६७	पिण्डादिभगवन्मन्त्र०	१७८
४६६	पिण्डिकायां तथा सूक्ष्मं	५२८
५१७	पितॄणां लुप्तपिण्डानां	३४१

पितृणां स्वकुलोत्थानां	३४५	पुनरप्यर्चनं कुर्यात्	२०४
पितृथर्थमल्पं वा भूरि	१०६	पुनरभ्यन्तरे सूत्रं	२१३
पिशाचाग्निमरुच्छैल०	२२८	पुनरभ्यर्चयेन्नीत्वा	३६६
पिशाचा मानवा देवाः	५२१	पुनरभ्यर्चयं देवेशं	२७७
पिष्टनिर्मितपात्राणां	३१८	पुनरर्धसमं दिक्षु	२११
पीठभङ्गे तु वै बिस्वं	५४२	पुनराचमनं देय०	७०
पीठमन्त्रोपजप्तां च	३००	पुनरादाय कृत्वाग्र	९३
पीठवच्च परिज्ञेयं	४७९	पुनरारम्भमासाच्च	१३१
पीठाद्विनिर्गतां किञ्चिद्	५२३	पुनराह जगन्नाथः	३३
पीठानामष्टकमिद०	४७६	पुनरीशानकोणात्	५१०
पीठार्थं भिन्नवर्णा च	४५९	पुनरेवानिरुद्धादीन्	४३
पीठावनिसमीपे तु	२१२	पुनरेवाम्भसाऽपूर्य	९२
पीठेऽवतार्य संवेष्ट्य	५१३	पुनर्द्वादशकं तच्च	२५७
पीठोक्तालयपोठस्य	४८९	पुनर्मध्याद् द्वितीयं यद्	२१५
पीठोपर्यथवा देवं	५२२	पुनर्विशेषयागाना०	२६२
पीडयन् स्वाङ्ग्नियुग्मेन	२२४	पुनर्चतुर्भुजस्यैवं	२५७
पीतं कृष्णं सितं रक्तं	५६	पुनस्तमेवोपविष्टं	६६
पीतं विलेपनं चात्र	१६२	पुनस्तृतीयं तुर्यं च	१४७
पीतकृष्णं च तदनु	५७	पुमानिति शिला सा वै	४५९
पीतकौशेयवसनं	४९	पुरं पद्माङ्कितं स्मृत्वा	३६८
पीतानां फलपुष्पाणा०	१६२	पुरतश्चाम्भसाऽपूर्य	१०२
पीताम्बरधर्थरं ध्याये०	२३५	पुरतोऽस्त्रं स्मरन् यायात्	५०४
पीतेन धातुकूर्णेन	१६२	पुरस्कृत्य जगद्योनि	५४६
पुंस्त्रीनपुंसकोत्थाभिः	४५९	पुराङ्कितं तु चक्राङ्ग०	६४
पुण्यं व्रतमिदं विद्धि	१३६	पुरातीते कृते प्राप्ते	६
पुण्यक्षेत्रं महातीर्थं	४२६	पुरा धिया विचार्यैव०	३७९
पुण्यतीर्थसरित्तोयं	७३	पुरा मातापितृभ्यां तु	४२९
पुण्ये देशेऽनुकूले च	३५१	पुराहृतैर्थथाशक्ति	३५६
पुनः पुनः प्रयोक्तव्या	३०६	पुरुषोत्तमाय शब्दं तु	४४५
पुनः वर्णक्रमेणैव	४५३	पुरोभागचतुर्थांशं	२१७
पुनः संहृतियोगेन	१९५	पुष्टिः कनकगौरा च	२६६
पुनः संचोदयायास	२१०	पुष्टिमुन्नतिसन्मेधां	४५८
पुनः सर्वपदाभ्यां तु	२१२	पुष्टिर्गुल्कावसानं च	२९६
पुनः स्वसिद्धैर्युक्तानां	३७३	पुष्टचन्तेन श्रियाद्येन	२५५
पुनरप्यययोगेन	५०	पुष्णाति सर्वभूतानि	२२५
		पुष्पगन्धसमोपेतं	२९८

पुष्पपत्रफलोपेत०	५०९	पूजितैमुक्तदोपैस्तु	३०५
पुष्पपूर्णञ्जलौ पृष्ठे	३६६	पूज्यः सपादपीठं वै	८२
पुष्पस्तबकसम्पूर्ण	२५१	पूज्य संवेष्टच सूत्रेण	३८२
पुष्पसरवाससा तद्वत्	१६०	पूतं समिच्चुतुष्कं तु	९०
पुष्पसरव्यजनं दिव्यं	२२९	पूरकेण समाकृष्य	३९२
पुष्पाभरणवस्त्राढ्यं	१५२	पूरणादंशशेषे तु	४७९
पुष्पैरथार्यपाद्रं तु	२९९	पूरयित्वाभ्यसा पाणि०	४०६
पुष्पैर्धूपैस्तु नैवेद्य०	३२८	पूरयेदस्त्रमन्वेण	४८६
पुष्पौदनाम्बरैः कुर्या०	१६३	पूरितं मृदुतूलेन	७९
पूजनं मन्त्रमात्रेण	४३२	पूरितं हृदयान्तं च	३७४
पूजनं हवनं भूत०	४५५	पूर्ण ग्राम्यैस्तथारण्य०	२३२
पूजनं हवनं सम्यग्	३३३	पूर्णं तदचन्तं कृत्वा	१३८
पूजनात्परमेशत्व०	१८२	पूर्णं आभरणैः मर्व०	३०
पूजयामास तं देव०	२	पूर्णचन्द्रायुताकारा	१५५
पूजयित्वा जगन्नाथं	४०६	पूर्णत्पूर्णेति वै मन्त्र०	४३
पूजयित्वा जपान्तं	२९८	पूर्णत्साधार्थिकात् क्रोशात्	५३२
पूजयित्वा यजुर्वेदान्	५२४	पूर्णन्तं तर्पणं कुर्यात्	४५७
पूजयित्वा यथान्यायं	२०६	पूर्णन्तमग्निलं कृत्वा	३६३
पूजयित्वा यथान्यायं	३२९	पूर्णन्तमथ संपूर्य	५३४
पूजयित्वा यथान्यायं	३३६	पूर्णन्दुमण्डलान्तस्थ०	५०७
पूजयित्वा धर्यपुष्पाद्य०	२८२	पूर्णन्दुसदृशी पुष्टि०	३१७
पूजयित्वा धर्यपुष्पाद्य०	३०७	पूर्वं नेमेस्तु तस्यैव	३०८
पूजयित्वा धर्यपुष्पाद्य०	४१३	पूर्वं मासत्रयं दद्याद्	३७
पूजयित्वा धर्यपुष्पाद्यैः	५१६	पूर्वं तुल्यस्तृतीयस्तु	१६५
पूजयेच्चतुरो वारान्	१०१	पूर्वभागे तु यामिन्या०	५५
पूजयेदधर्यपुष्पाभ्यां	९३	पूर्वभूमे: समारभ्य	३३३
पूजाद्यमुपसहृत्य	४१५	पूर्वमन्त्रानुसारेण	४५०
पूजापनयनं कृत्वा	१५६	पूर्वमाहवनीयाख्य०	४६
पूजार्थं चैत सर्वेषां	१९९	पूर्वमेकाक्षरं विद्धि	९५
पूजार्थमस्त्रमन्त्रेण	४२१	पूर्वमेकादशान्छुद्धं	३८
पूजाहोपजपानां च	३४४	पूर्ववच्च ततोऽभ्यर्थ्य	३६
पूजाहोमं विशेषेण	१६९	पूर्ववच्चानिरुद्धाद्यान्	५११
पूजितं पत्रपुष्पाद्य०	१३८	पूर्ववच्चोपसंहार०	४८८
पूजितं वाससाच्छन्तं	३६२	पूर्ववच्चाविषयित्वा च	२०८
पूजितश्चाधर्यपाद्येन	४	पूर्ववच्चाविषयित्वा च	३६५

पूर्ववत्कमलं वामे	१२८	पूर्वोद्दिष्टानि धिष्यानि	२१५
पूर्ववत्तोरणाद्यैस्तु	४८१	पूर्वोद्दिष्टेन बीजेन	२१५
पूर्ववत्तोषयेत् सर्वान्	५४३	पृथक्त्वेन चतुर्मूर्ते०	५९
पूर्ववत् पद्मगर्भस्थं	३१९	पृथक् पृथक् क्रमेणव	३९१
पूर्ववत् पाठ्येद्विप्रान्	५३४	पृथक् पृथक् तदेदैकं	१९५
पूर्ववत् प्रतिकुण्डे तु	४८१	पृथग् वर्णत्मना याति	३९८
पूर्ववत् स्वप्नलाभार्थ०	४५९	पृथिव्यादिग्रकृत्यन्तो	१४
पूर्ववद्वलिदानं तु	३२५	पृष्ठे ह्यपरस्मस्तु	४९
पूर्ववद्वाह्यपद्मस्य	३२४	पृष्ठतो विन्यसेनिन्द्रां	२९६
पूर्ववद् भूतिना कृत्वा	४०५	पृष्ठदेशे स्थितां निन्द्रां०	३०२
पूर्ववद्रात्रिसमय	१३४	पृष्ठे चोदकधारां वै	३१८
पूर्ववद्वदनोपेतान्	५०७	पोतयानध्वजच्छत्र०	३८१
पूर्ववद्विस्तृतं श्रोत्रं	४७०	पौनःपुन्येन सर्वेषां०	१४६
पूर्ववन्मण्डलं कुर्याद्	३१८	पौरुषं चारविन्दाक्ष	४३४
पूर्ववन्मण्डलस्यं तु	५३२	पौरुषस्य तु वक्त्रस्य	२२८
पूर्ववन्मन्त्रनाथस्य	३२०	पौरुषेण तु रूपेण	१२४
पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु	४३३	पौष्करास्ये च वाराहे	१९८
पूर्वसंख्यं तु चास्त्रेण	३९३	प्रकाशनीयं तल्लोभां०	४२०
पूर्वादिसर्वदिक्तावत्	१३९	प्रकाशयति सन्मार्गं	१७२
पूर्वादीशानपर्यन्तं	३१३	प्रकाशयन्ति कृपया	३९३
पूर्वापराविरोधेन	४२५	प्रकाशयन्ननादित्व०	२३६
पूर्वमुखं च तं यान०	२८३	प्रकाशितं निशानाथ०	३२४
पूर्वोक्तं तु यजेत् कालं	३४९	प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय	५६
पूर्वोक्तमर्मगैः सूत्रै०	२१६	प्रकृतिः सुन्दरी षट्क०	२५५
पूर्वोक्तमासनाद्यं यद्	५३१	प्रकृत्यन्तं समास्ते यः	२३३
पूर्वोक्तलक्षणानां तु	४६	प्रकृत्या सह चाभ्येति	४०९
पूर्वोक्तलक्षणे नेत्र०	५१६	प्रक्षालिताङ्गिस्त्वाचान्तः	३६३
पूर्वोक्तलक्षणो ज्ञात्वा	२८५	प्रक्षाल्य द्वादशार्णेन	६१
पूर्वोक्तां चित्तशुद्ध्यर्थं	४५७	प्रक्षाल्य सलिलेनैव	४५४
पूर्वोक्ताद्विहितात् कालां०	२८७	प्रक्षेपयेत् तथा सार्थ्य०	३८२
पूर्वोक्तानां च भोगानां	३५५	प्रक्षेपयेद् देवधामिन्	३६६
पूर्वोक्ता वासुदेवाद्या	३९८	प्रक्षेपयेन्मण्डलान्त०	३०८
पूर्वोक्तेन विधानेन	५२३	प्रजप्य द्वादशार्णं तु	५१५
पूर्वोक्तरे वर्धमानः	२०३	प्रजप्य धूपयेत्तं वै	३३०
पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि	५४६	प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण	३३१

प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण	३३३	प्रतिद्वादशक्स्याद्यं	११५
प्रजप्य भस्मना कुर्यां	३३२	प्रतिपाद्य गुरोर्भक्त्या	१५८
प्रजापतिसमूहश्च	१९२	प्रतिपाद्य जगद्योने:	३४५
प्रणवं पूर्वमादाय	२९१	प्रतिपाद्यार्चितं शुद्धं	४१४
प्रणवः पीठपूजार्थं	५४१	प्रतिबिम्बति तद्यस्मा०	१९६
प्रणवद्वितयं चोक्त्वा	३१	प्रतिमा मन्त्रमूर्तीनां	४७२
प्रणवद्वितयैतैव	४३	प्रतिमासं सकामानां	१३०
प्रणवध्वनिगर्भं तु	३०४	प्रतिष्ठापनमब्जाक्षं	५३६
प्रणवादिनमोऽन्तेन	३०९	प्रतिष्ठाप्य समभ्यर्च्यं	५३६
प्रणवादिनमोऽन्तस्तु	२८१	प्रतिष्ठालिङ्गशब्दौ तु	५२६
प्रणवाद्यन्तगैः सर्वैः	५४२	प्रतीक्षितुं न युज्येत	४५७
प्रणवाद्यन्तसंरुद्धं	३३८	प्रतोलीपक्षगेणैव	४९३
प्रणवाद्या नमोऽन्ताश्च	१८४	प्रतोली साङ्गना चैव	५३९
प्रणवाद्येन तेनैव	१६२	प्रत्यक्षदर्शनार्थं तु	२५३
प्रणवान्तं पदं ब्रूयां०	९४	प्रत्यक्षमगमच्छवत्	२
प्रणवान्ते त्वथादाय	५२	प्रत्यगदक्षिणमध्यस्ये	५०
प्रणवालङ्घकृताः सर्वे	४४८	प्रत्यगद्वारागतं तोयं	२०२
प्रणवासनविश्रान्तं	३९२	प्रत्ययं मन्त्रमालम्ब्य	३४६
प्रणवेन चतुर्दिक्षु	३३८	प्रत्यहं चतुरो वारा०	२८७
प्रणवेन पदं चास्य	४४	प्रत्यहं तद्विना तत्र	४७८
प्रणवेन समभ्यर्च्यं	३६९	प्रत्येकदेशात् संयुक्ता	४७१
प्रणवेन सहस्रांशु०	२०४	प्रत्येकस्मिन् हि नियमे	४१८
प्रणवेन स्वनाम्ना च	३६२	प्रत्येकैकं हि थद् गाङ्गे	३५५
प्रणवेन स्वनाम्नाऽथ	६२	प्रथमात् प्रथमं चाथ	५२
प्रणवेन चतुर्वित्वा तु	२७६	प्रदक्षिणं क्षितेर्बाह्या०	२११
प्रणवेनोक्तसंख्येन	९३	प्रदक्षिणं विशेषेण	४५७
प्रणवैकप्रलापस्थैः	५३७	प्रदक्षिणक्रमेणैव	९०
प्रणवैस्तु प्रतिष्ठानं	८८	प्रदक्षिणसमेतेन	२०२
प्रणवो विनियोक्तव्यः	४०७	प्रदक्षिणेन तच्चापि	११३
प्रणालभागादपरं	७६	प्रदक्षिणैः प्रणामैस्तु	३७६
प्रणालमग्रं मर्ते०	४७८	प्रदर्श्य सर्वमन्त्राणा०	२०४
प्रणिपातादिकं सर्व०	१२९	प्रदानमम्बुसिक्तानां	४२३
प्रणीतापात्रयुगलं	९१	प्रदापयेत्ततः पूणी०	५३२
प्रणीते चापरस्मिन् वै	९३	प्रदेशिन्या ततो विद्धि	३०६
प्रतिक्षणोपग्रोगार्थं	३५४	प्रद्युम्नस्य गदा वामे	१३०
प्रतिग्रहोत्थतो दोष०	१३६	प्रद्युम्नाख्यं न्यसेन्मन्त्रं	११७

## श्लोकाधर्मनिक्रमणी

६०७

प्रद्युम्नादं तु वैश्यस्य	१२८	प्रवर्त्तेऽर्थयुक्तानां	३४८
प्रद्युम्नो भगवान् रूपे	११०	प्रवालमुक्तामाणिक्यै०	३४२
प्रधानदेवताध्यान०	२४७	प्रवाहयेद् वर्लि मन्त्री	३३२
प्रधानदेवतावृन्दं	३६६	प्रविश्य विधिवत् क्षेत्रं	४५७
प्रधानभूतांश्छारीरा०	१९१	प्रविश्याच्म्य तदनु	५३२
प्रधानमन्त्रवत् कुर्यात्	१९८	प्रवृत्तं नाभिपूर्वं तु	५३५
प्रपञ्चः प्रणवो मन्त्रो	५४३	प्रवेशात्रियोपेतं	४९१
प्रफुल्लविकसच्छिद्रं	४६९	प्रवेशायेत्तस्तस्मिन्	३५३
प्रबन्धप्रतिपन्नानां	२३८	प्रशंसकं वै सिद्धोनां	४३४
प्रबुद्धस्तस्य संरोधं	३६७	प्रशस्ते विजने गुसे	१३
प्रबूयाद्वाढमित्येवं	४१८	प्रष्टव्यो भगवद्भूक्त	४२५
प्रभवाप्यययोगेन	४०२	प्रसक्तेन परां प्रीति	३४५
प्रभवाप्यययोगेन	४८४	प्रसङ्गाद् वलदेवस्य	६१
प्रभवाप्यययोगेन	५१०	प्रसन्नः सुप्रसन्नास्यो	४१
प्रभवाप्यययोगेन	५११	प्रसन्नेनाथ विभुना	१२३
प्रभवे द्वादशान्तस्तु	४०२	प्रसादं मन्त्रनाथस्य	३४२
प्रभाय षोडशार्णं तु	४५०	प्रसाद्य विधिवत् पृच्छे०	४३१
प्रभावान्मन्त्राराजस्य	३२१	प्रसार्य सूत्रमाच्छाद्य	४६८
प्रभावाय पदं दद्यात्	४४६	प्रसिद्धं चातुरात्मीय०	५४१
प्रभुर्मुनीश्वरा भूय०	२८५	प्रसिद्ध आजेवे वृद्धो	४२५
प्रभूतमित्यनं शुष्क०	८३	प्रसिद्धार्थनिवादं यत्	४३५
प्रमाणं दृग्गताल्लक्षाद्	३५५	प्रस्थापितस्तु वै सम्यग्	५३७
प्रमाणपरिशुद्धं च	४७२	प्रहस्योवाच भगवान्	६
प्रमाणात् प्राक्प्रणीताच्च	८७	प्राकारं चित्रकुसुमै०	७९
प्रयच्छत्यर्थिनां कामं	४६९	प्राकृतं तात्त्विकं वापि	२५
प्रयतो दर्भशय्यायां	३४८	प्राकृतुङ्गमादिना लिपां	९९
प्रयाति यदि साफल्यं	१२५	प्राकृचतुर्धा विभक्तो	९६
प्रयान्तु प्रीतिमतुलं	२८९	प्राक्प्रणीतैर्महाभोगैः	१३६
प्रयुक्तिः शान्तिकादीनां	१६५	प्राक्प्रत्यगाननानां च	४७२
प्रयोजनं विना काचिं	२८९	प्राक्प्रान्तं विष्टरं तत्र	३६५
प्रलयानलसूर्याभः	४७८	प्राक्प्रान्तैः पूर्वभागाच्च	९०
प्रलयाम्बुदनिघोष०	२२६	प्राक्शब्दमूर्तये कुर्यां०	४४९
प्रलीनमूर्तिरमलो	३०३	प्राक्संख्यमाचरेद्	३७०
प्रवक्ष्यामि समासेन	१२०	प्राक्समालभैर्वस्त्रैः	३७४
	१८०	प्राक्समित्ससकेनैवं	३५६
		प्राक्समित्ससकेनैवं	२०४

प्राकृत्यनस्याधिकं मानाद्	५३८	प्रागवदाधन्तसंख्याः	४५०
प्रागविहितशब्दं तु	४५०	प्रागवदाराधनं कुर्यात्	१६१
प्रागशं दक्षिणाशादि	८७	प्रागवेवगृहस्याप्ते	४९५
प्रागरेत्तिविष्टस्य	१५६	प्रागवद् द्वादशकादन्त्या०	१६७
प्रागादावथ पत्राणां	१६८	प्रागवद् वामकरे पर्चं	१२८
प्रागादावप्यथमोद्य०	२९९	प्रागवन्निवेशनीयं च	५२९
प्रागादावीशकोणान्तं	१९४	प्रागवन्मध्ये केशवस्य	१५८
प्रागादावीशकोणान्त०	४८७	प्राग्वर्णं दशमानेनेते:	५४
प्रागादावुन्तरान्तं च	४८६	प्राग्वर्णं पदमन्त्रस्य	१७६
प्रागादौ कुण्डवाह्ये तु	१०२	प्राग्वर्णेन पदं पूर्वं	३७
प्रागादौ पञ्चवर्णान्तं	१८३	प्राग्वल्लक्ष्या समेतं	२५४
प्रागादौ प्राभवेणाथ	५२३	प्राङ्गनिर्दिष्टं न्यसेतत्र	४८२
प्रागुक्तं नुक्त्वाद्यं च	३५५	प्राङ्गमध्ये विधिनानेन	५२१
प्रागुक्तरचनाठयं तु	३२९	प्राङ्गमुखं चोत्तरस्या दिक्	४५८
प्रागुक्तहपस्याभावा०	४५८	प्राङ्गमुखं द्वितयं चैव	१०५
प्रागुक्तनानां क्रमेणव	३२४	प्राङ्गमुखः संस्मरेन्मन्त्रं	३६५
प्रागुक्तास्तत्र पूर्वशा०	२६८	प्राङ्गमुखश्चतुरो वारां०	४५९
प्रागुक्तेन विधानेन	३४८	प्राङ्गमुखो दर्भमादाय	२८०
प्रागृद्धमयस्तु तदनु	५३०	प्राच्यां सितेन वपुषा	४२
प्रागेव चित्तमवृद्धि	१३७	प्राच्यामुदीच्यामैशान्यां	४६०
प्राग् गृहं प्रार्थित्वा तु	१४२	प्राणं पतत्रिराद् विद्धि	२६६
प्राग् जाग्रत्पदमस्यस्य	१८०	प्राणभूतमजं विष्णुं	९५
प्राग् दद्यात्प्रणवेनातः	१७५	प्राणशक्तिवियुक्तं च	३८७
प्राग् दिक्षु मिद्धिपूर्वं तु	३५२	प्राणात्मनेऽथ सत्याय	४४९
प्राग् दिग्मण्डलवाह्येऽथ	३००	प्राणापानं हि यत्साम	५१४
प्राग्भागदक्षिणस्थाभ्यां	३०२	प्राणाभिमानदेवं वा	५१९
प्रागभागदुत्तरं यावद्	३४	प्राणिहिंसा त कार्या वै	३३७
प्राग्भुवनाधिपतये	४४९	प्रातस्त्वयाथ चिन्मोयात्	४२१
प्राग्वत्तमधिवास्यादौ	४६०	प्रादक्षिण्येन तु त्रेधा	३२७
प्राग्वत्तर्यपदावस्थं	१९३	प्रादक्षिण्येन प्राग्भागात्	३६२
प्राग्वत्तुजां पुनः कुर्याद्	१०२	प्रादक्षिण्येन विन्यस्य	१६८
प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्डे	२०४	प्रादुर्भविगणो मुख्य	१९०
प्राग्वदप्ययुक्त्या तु	५१७	प्रादुर्भविसमूर्हं च	३८०
प्राग्वदवर्द्धं तु संपूर्यं	१३१	प्रादुर्भवित्वान्तराणां तु	५४१
प्राग्वदर्चनपूर्वं तु	३५३	प्रादेशमात्राः समिधः	९९

प्राधान्येन क्रतोः स्थैर्यं	२०	प्रियङ्गुवारि तदनु	७२
प्राधान्येन तु सर्वेषां	३२६	प्रियभाषी प्रसन्नास्यः	४२९
प्राधान्येन त्रयाणां च	४५	प्रीणनं च पठेत् प्राप्नव०	१६४
प्राप्तये सर्वकामानां	१४१	प्रीणयेत् सङ्क्षर्षणं च	१६२
प्राप्तानुज्ञस्तु शिष्याणां	३७७	प्रीणयेद्वामुद्वेवं च	१६१
प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशा०	२९९	प्रीतये परमेशस्य	२८०
प्राप्तेज्यावसरे नित्यं	१७६	प्रीतये परमेशाय	५४४
प्राप्ते तु तद्विने भूयः	१३३	प्रीतयेऽपि जगद्वातुः	३४२
प्राप्ते तु सन्ध्यासमये	११४	प्रेरकं चन्द्रसूर्याभ्यां	१४
प्राप्तेन स्वप्नयोगेन	३१५	प्रेरयत् वै धिया चक्रं	१८२
प्राप्ते शुभाशुभे स्वप्ने०	३८१	प्रेरितेन हिनस्त्याशु	२२५
प्राप्तोति तत्परिज्ञानात्	४०१	प्रोक्षणं मर्ववस्तुना०	३५९
प्राप्तोति नरकस्थांश्च	३४२	प्रोक्षयित्वार्थ्यतोयेन	९४
प्राप्तोति मनसोभीष्टं	२४९	प्रोक्षयेत् स्वासनस्थानं	२९८
प्राप्तोति यत्परिज्ञाना०	४०१	प्रोक्षितान्यनन्पत्राणि	१०४
प्राभवेण क्रमेणैव	१३४	प्रोच्छितं हि सुवर्णर्द्धं	२२९
प्रायशो मुक्तिभाजां च	२१४	प्रोत्थिता विचलन्तश्च	२६५
प्रायश्चित्तं हि सर्वेषां	२८७	प्रोद्धहन्तं च वामेन	२५४
प्रायश्चित्तनिमित्तं तु	३७०	प्रोद्धहन्तं द्वितीयेन	२५७
प्रार्थयन्तेऽत्र भीताश्च	३४९	प्रोद्धहन्तं हलं चक्र०	२२४
प्रावृद्गिरिरिव श्यामं	२८०	प्रोद्धहंस्तु स्ववीर्येण	१९३
प्रावृण्णिशासमुदित०	४९	प्रोन्नतानि स्थिराप्राणि	३५४
प्रासादं देवदेवीय०	४१९	प्रोल्लसंस्तद्व द्रजेत्तत्र	३९१
प्रासादं शोधयित्वा च	५३१	फडन्तेनाथ चास्त्रेण	३६५
प्रासादं स्थापयेत् पश्चात्	५३४	फलं भाववशाच्चैव	१८०
प्रासादक्षेत्रमानं च	४८८	फलं यच्छति वै नूनं	२०
प्रासादद्वारदेशाच्च	१३९	फलं सालोक्यतापूर्वं	१४०
प्रासादनाडिका कार्या	४९०	फलं स्वचन्दनादीनां	४०९
प्रासादषीठपर्यन्तं	४८७	फलदं स्यात् सकामाना०	३५५
प्रासादत्रह्यभूभागं	४८५	फलदानि च दातृणां	३४६
प्रासादस्य तु होतव्यं	५४२	फलपर्यवसानं च	२०७
प्रासादस्याष्टदिड्मूर्ति०	५०२	फलपुष्पौपघीदीप०	३३२
प्रासादद्विहाराच्चत्र	४८९	फलबीजौपधीः साम्बू०	३८०
प्रासादाभिमुखाच्चैव	४९३	फलानि श्रीफलादीनि	३५३
प्रियङ्गुमञ्जरीश्यामं	१५५	फलानि हेमयुक्तानि	१३०

फलासये तु विप्राद्यैः  
 फलार्थं प्रसवं येन  
 फलैर्हेमादिकै रत्नैः  
 फुल्लपद्मसमाकार०  
 फुल्लपद्मोदराभा  
 फुल्लरक्ताब्जविभवं  
 फुल्लरक्ताम्बुजाभासं  
 फुल्लरक्ताम्बुजाभास०  
 फुल्लेन्दीवरवर्णा च  
 फुल्लेन्दीवरसंकाशा  
 बद्धपद्मासनं शिष्यं  
 बद्धपद्मासनः कुर्यां०  
 बद्धपद्मासनस्थं च  
 बद्धपद्मासनासीनं  
 बद्धब्रह्माऽज्जलि कस्थं  
 बद्धब्रह्माऽज्जलि शान्तं  
 बद्धमुर्जित स्मरेदण्डं  
 बद्धलक्ष्यो भवेद्भूक्त्या  
 बद्धनीयात् सप्तरात्रं तु  
 बद्धनीयान्नेत्रमन्त्रेण  
 बद्ध्वा च वैभवीं मुद्रां  
 बद्ध्वा प्रदर्शयेन्मुद्रां  
 बद्ध्वा सितेन सूत्रेण  
 बन्धविच्छेदकत्रै वै  
 बन्धुजीवोज्ज्वला नित्या  
 बहिपक्षसमायुक्तां  
 बलं चाखिलगात्राणां  
 बलमन्त्रेण संरुद्धं  
 बलमोजो धृतिर्धैर्यं  
 बलसंवलितेनैव  
 बलात्मना सवीर्येण  
 बलाद्दाति षाङ्गुण्य०  
 बलिं क्षिप्त्वा समाचम्य  
 बलिदानं च भूतानां  
 बलिपाणिमथ क्षाल्य

१३८	बलिपीठं बहिः कुर्याद्	५४५.
२०७	बलिभिस्तु ततः सवान्	५३२
४८३	बलिमण्डलकं कृत्वा	४१५
१५०	बहवो हि दलास्तद्व०	४७७
३०४	बहिः काण्डचतुष्केण	२८१
२२७	बहिः कोणचतुष्के तु	६३
२२७	बहिः पीठस्य निकटे	२०२
२३६	बहिः प्राङ्गणभिर्तीनां	४८७
२६७	बहिराराधनस्थानात्	३१३
३०५	बहिराराधनार्थं वा	५४५
४१३	बहिरावरणं यद्वै	२१४
२४	बहिर्देवीसमेतं च	१५९
१५५	बहिर्द्रव्यमयस्त्वेकः	२३०
२६३	बहिभगिसमा नाभिं०	२१८
२३१	बहिर्वै सर्ववर्णेन	५०३
२४३	बहिष्ठृता विशेषेण	५४०
२६४	बहिष्ठेभ्यश्चतुर्थं तु	५२
१३७	बहिस्तमेवोदकस्थं	२३०
३३३	बहुधा काण्डसंघस्तु	२८२
३६५	बहुधा भेदवृन्दं तु	२७०
२०१	बहुना वस्त्रपूतेन	६१
३०५	बहुप्राकारनिर्मुक्ते	२७१
३१६	बहुशाखमभग्नाग्रं	२८०
४४७	बहुशाखैरभग्नाग्रैः	९४
२६७	बहुजोऽष्टाङ्गपातैस्तु	३४३
३२७	बहूनां परिपीडानां०	२८६
२५	बहुधरो बहुपदः	१७५
३७१	बाहुल्यं च कलामानं	४६६
३३७	बाहुल्येन तु षट्पञ्च०	५२३
३४	बाह्यस्थपदपाश्वर्चत्तु	२१२
४५८	बाह्यात्तृतीयं तन्मूर्ध्ना	४२८
४०९	बाह्यादथाष्टमं नामे०	५२
३३३	बाह्यीकं चन्दनं चैव	५०९
४८५	बाह्यं शाकुनं सूक्तं	४८०
३३०	बिन्दुस्वस्तिकक्षाल्य०	३४०

श्लोकाधार्णानुक्रमणी

६११

विभर्ति दुष्टशान्त्यर्थं	२५९	बीजमाद्यस्य च विभो०	१४४
बिभर्ति बहुभेदोत्थं	२४९	बीजमेतन्नियोक्तव्यं	३२४
बिभर्ति रूपाय्येतानि	२६०	बीजवच्छिरसा सर्वान्	२९२
बिभृयात् पोडशभुजो	२५८	बीजवत्पिण्डमन्त्राणां	१७८
बिम्बं विनाऽन्यत्राधारे	६६	बीजात्मनस्तुर्यवृत्ते:	१७९
बिम्बगो ब्राह्मावैश्च	५४०	बीजाम्बुफलतोयेन	१५७
बिम्बतुल्या परिज्ञेया	४७३	बीजेनाङ्गेः शिखान्तं च	३६९
बिम्बपीठशिलानां तु	५२७	बीजेनार्तन्निरुद्धेन	३७०
बिम्बमिच्छति वै कर्तुं	४६०	बीजैः सिद्धार्थकोपेतै०	३२६
बिम्बमूर्धिन क्रमादेयं	५१९	बुद्धौ कमलनाभात्मा	३७३
बिम्बमेकायनानां तु	५३३	बुद्ध्यते तावता चैव	४३०
बिम्बसन्निकटस्थेषु	५२९	बुद्ध्यन्तानां धरादीनां	३७२
बिम्बस्थं मण्डलस्थं वा	३४२	बुद्ध्वा चायतनानां च	४९२
बिम्बस्य बिम्बकर्तुं वै	५३८	बुद्ध्वा सामान्यबुद्ध्या प्राक्	३४६
बिम्बाकृत्यात्मना बिम्बे	६७	बुद्ध्वैवं चित्रिविम्बार्थी	४५४
बिम्बाख्यं मणिबन्धस्य	४७४	बृंहितं मुदितं मग्नं	३२५
बिम्बाख्यं विद्धि चाभावात्	४५९	बृहद्विष्वे ततः कुर्यात्	५०५
बिम्बात्मना प्रयातानां	५१९	बोद्धव्यः सोऽपि तदनु	३७५
बिम्बानामुपविष्टानां	४७५	बोद्धव्यमधिदैवत्वं	३९०
बिम्बोक्तसदृशं विद्धि	४७३	बोद्धव्याः केशवादीनां	१४७
बिम्बोक्तां सद्विधि ह्येवं	४७४	बोधमारुतहृत्पूर्वं	२४५
बीजं तरुस्वरूपेण	५१७	ब्रह्मकूर्चसमेतं तु	२८७
बीजं नाभितृतीयं यत्	३१९	ब्रह्मचर्यस्थितो मौनी	३४८
बीजं नियोजयेत्तन्मे	३१९	ब्रह्मचारी गृहस्थो वा	३४४
बीजं नेमेद्वितीयं	४३८	ब्रह्मतीर्थं चतुष्कं स	२८७
बीजं पुष्टिपदोपेतं	३१९	ब्रह्मत्वमेति वै येन	३४७
बीजं प्रद्युम्ननाथस्य	१४४	ब्रह्मद्वारापदं शैष्यं	३९०
बीजं सर्वक्रियाणां यद्	५६	ब्रह्ममर्मणि षष्ठस्य	२१५
बीजतश्चाङ्गुरीभूता	४८७	ब्रह्ममर्मणिरुद्धेन	२१६
बीजद्वादशक प्रोक्तं	१४८	ब्रह्मयूपस्वरूपेण	२१८
बीजनाथेन शिष्यस्य	३९६	ब्रह्मरूपं तु साध्यस्य	३३१
बीजपिण्डपदोत्थानां	४४१	ब्रह्मरुद्देन्द्रदक्षार्क०	२२८
बीजभूतं तदन्तःस्थ०	४८५	ब्रह्मलिङ्गधराः सर्वे	२४४
बीजभूतां च हृन्मन्त्र०	३९०	ब्रह्मस्वरूपममलं	२९७
बीजमादाय मध्यस्थ०	३७	ब्रह्मामृतमयैर्भोगै०	३६

ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे वै	४४७	भगवत्स्रीतिपूर्वं तु	३४६
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः	४५२	भगवद्विम्बपूर्वं तु	६४
ब्राह्मणादीन् यथाशक्ति	३११	भगवद्भावपूतानां	३४५
ब्राह्मणानां च सद्ब्रह्मण०	११	भगवद्यागपूर्वं तु	४३१
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चा०	१६४	भगवद्यागवद्भक्त्या	४१६
ब्राह्मणाय च तद्व्याद्	३११	भगवन्तं हि मनसा	३७६
ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते	१२१	भगवन् पदमादाय	४४७
ब्रुसीकाशांशुकं पट्टं	३५४	भगवन् पुण्डरीकाक्ष	१६८
भक्तानां कृतदीक्षाणां	४२४	भगवन् भवभीतानां	२१०
भक्तानां चोदितस्त्वेवं	४३५	भगवन्मन्त्रमूर्तीनां	१७९
भक्तानामथवाऽन्येषां	५४४	भगवन् विधिना केन	२९१
भक्तानामधिवासार्थं	३५१	भगवानिति तज्जांस्तु	५१५
भक्तानामप्रमत्तानां	५४७	भगवानथ विज्ञाप्यः	६८
भक्तानामर्थहीनानां	३४४	भगवानथ विश्वात्मा	४१८
भक्तान् प्रवेशयेत्तत्र	३०८	भचक्रचक्रभृद्देवं	१९४
भक्तिन्म्रेण शिरसा	६९	भद्रत्वपरिरक्षार्थं	३७९
भक्तिपूर्वत्तु कैवल्याद्	१२९	भद्रपीठं चतुष्पादं	३५५
भक्तिभावानुविद्वानां	३७८	भद्रपीठभुवो मध्ये	६०
भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे	४२७	भद्रपीठसमीपे तु	१०३
भक्तिश्रद्धापराणां च	२२५	भद्रासनगते कर्म०	४७८
भक्तिश्रद्धापरो नित्यं	२९२	भयविस्मयहृद्देणी०	२४२
भक्तिश्रद्धावशाच्चैव	४६०	भवः साक्षात्प्रधानं तु	१९२
भक्तिश्रद्धावतपरः	२७०	भवत्यनर्थदाऽवश्य०	४५४
भक्त्या प्रवर्तमानस्तु	४५५	भवद्भूः सह संबन्धो	४
भक्त्या यया तु सम्प्राप्त०	३०९	भवन्ति बहवो विघ्ना	५२२
भक्त्या व्रतच्छलेनैव	१२४	भवन्ति भक्तिपूतानि	४२३
भक्त्या शक्त्या तु चतुरं	१३३	भवन्ति संमुखा मन्त्राः	२०४
भक्त्या ह्यभीम्पितं	२७०	भवन्त्यच्छद्वयोर्धर्वस्था	४००
भगवस्त्रिविधं बूहि	७	भवभज्जपदं चैव	४४६
भगवच्छासनज्ञानां	४१९	भवसन्तारकत्वेन	२०३
भगवत्तत्ववेतुणां	४१२	भवितव्यं गुरुणां च	४२५
भगवत्तुल्यसामर्थ्यं	२०३	भवितव्यं विशेषाद्वै	५४१
भगवत्पदमादाय	४४४	भवेत् त्रिरात्रं फलदं	३४७
भगवत्पदलिप्सूनां	३४६	भवेत् सर्वपदप्राप्तिः	१७८
भगवत्प्रतिपत्त्या तु	२७८	भवैवमेव भगवन्	३९६

भवोपकरणनात्०	३८०	भिन्नरूपस्य च विभो०	२५६
भवोपकरणीयानां	५२८	भिन्नवर्णमयः शब्दः	४०२
भवोपकरणीयाभिं०	१९६	भिन्नाङ्गमेतदखिलं	५००
भवोपकरणीयाभिं०	४८९	भिन्नेऽपेक्षावशान्मध्ये	५२३
भव्यानां मनसोऽभीर्णाः	४२७	भिन्नैरवयवैर्मनि०	४६०
भागद्वयं द्वयं लाञ्छयं	२१६	भीषणाय तदन्ते वै	४४९
भागद्वादशकस्यैक्यं	२१५	भुक्तमध्यादिकं तस्मा०	६४
भागपड़क्तिवयेनैव	२१७	भुक्तोज्जिते दन्तकाष्ठे	३७५
भागमाने॒ सटावृत्तं	४७०	भुजान्यस्त्वरर्दीसैः	३०४
भागार्थं भ्रामयेन्नाभेऽ	२१८	भुजाभ्यां मध्यदेशस्य	४५६
भागार्थमानसूत्रेण	२१६	भुजोपभुजयुग्मं यत्	४७३
भागेन कण्ठसूत्रं तु	४७७	भूवनाध्वा पदाध्वा च	३९९
भागेन तद्वहिस्त्वेका	२१८	भूवनाध्वा यथावस्थां	४८७
भानुप्रसरसंकोच०	१७६	भूचरा नकुलाः सौम्याः	४५७
भाभिः सितादिभिर्दीप०	४१	भूततर्पणमित्युक्तं	३५३
भाभिराङ्गुतियुक्ताभिं०	२६२	भूतदेहं दहेत् कृत्स्नं	३४९
भाभिर्नानाप्रकाराभिं०	२२९	भूतले दर्भस्थायां	३७६
भावतत्त्वगतं चास्य	३९३	भूतशब्दमथादाय	४४६
भावदर्पणसंक्रान्तं	६५	भूतादिदेवरूपत्वाद्	४५४
भावध्यानानुविद्वेन	३८७	भूताधिदेवमन्त्राणां	३६७
भावनामृतजैर्भोगै०	२०५	भूतानां बलिदानं च	३५२
भावनीयं शरीरे च	५३०	भूताभयप्रदानेन	३३७
भावमाक्रम्य रूपेण	१२३	भूतावासं पुनर्मध्ये	१६८
भावयेत्तेन कालेन	२९०	भूतिना चन्दनाद्येन	३६४
भावयेत् पञ्चगव्येन	४५५	भूतिमादाय वै कुण्डाद्	३३१
भावयेदथ तन्मध्या०	५९	भूतिस्त्वमिति मन्त्रेण	५११
भावस्थितिं निवधनति	३५	भूत्वा तदात्मना पश्चात्	३५७
भावस्थितिविधौ चैव	५८	भूतैवं च ततः कुर्यात्	३६७
भासयन्तं जगन्नाथं	२२९	भूभागे सुसमे इलक्षणे	४६१
भिन्नं नाभिद्वितीयेन	४३	भूमयो भागमानास्तु	४९०
भिन्नं नाभिद्वितीयेन	५०	भूमिकाण्डप्रसिद्धघर्थं	४९०
भिन्नं सर्वारसंस्थैस्तु	३३८	भूमिभागवशोनैव	४९४
भिन्नं सितादिभेदेन	५६	भूयोऽरात् पञ्चमस्योद्धर्वं	४३८
भिन्नक्रमोऽपि यः कुर्यात्	५३८	भूयः करचतुर्जेण	२५७
भिन्नमन्त्रक्रियारूपं	५३७	भूयः संसृष्टियोगेन	३९६
भिन्नमेकादशात् पूर्वं	५१	भूयः संस्थापनं कुर्यां०	५४३

भूयः स्वयं तथा कुम्भैः  
 भूयस्तक्केवलं दद्यात्  
 भूयस्तदम्भसा सर्वं  
 भूयस्तदवसाने तु  
 भूयस्तनिखनेन्मध्या०  
 भूयो गन्धोदकेनैव  
 भूयोजनौ सुक्चतुष्कं तु  
 भूयो धामगणात्समात्  
 भूयो नेमेस्तथादाय  
 भूयो भूयोजनवच्छिन्नं  
 भूयोऽरात्पञ्चमस्थोर्ध्वे  
 भूयो विशेषरूपणि  
 भूरिधारासमाकीर्ण  
 भूरिनीरघटैः शुद्धं  
 भूरिनीरादिना स्नानं  
 भूर्भुवःस्वःशरीरं च  
 भूलभश्चतुरश्चात्  
 भूलोकाखिलसिद्धीना०  
 भूषयेद् गुरुपूर्वस्तु  
 भूषयेद् भूषणेनैव  
 भूषितं विहगेन्द्रेण  
 भृङ्गारं दर्पणं तोय०  
 भेदः प्रागुदितैर्ज्ञेय  
 भेदवृष्टया यजेत् सम्यग्  
 भेदभिन्नं द्विजातीनां  
 भेदभिन्नं समासेन  
 भेदेन रूपमाश्रित्य  
 भेरीमृदङ्गशङ्काद्य०  
 भोक्ता महात्मा भगा०  
 भोक्तृशक्तिः स्मृता लक्ष्मीः  
 भोगदैव तृतीया च  
 भोगमोक्षासये चापि  
 भोगापवर्गदं रूपं  
 भोगासये च मोक्षार्थं  
 भोगार्थमवतीर्णस्य

५३०	भोगेच्छोः पद्मनाभीय०	३९७
५१	भोगेष्युनां च वर्णानां	४९५
९२	भोगेष्युनामभक्तानां	५४७
५२	भोगैः प्रावरणान्तैश्च	३६१
४७८	भोगैरासनपूर्वस्तु	५३२
७७	भोगोपभेगिनीं भद्रां	५४५
१००	भोजनान्ते ततः कुर्यात्	३१३
१५४	भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु	१०९
३२३	भ्रातृभिः सह चाशनीयाद्	४१७
१४३	भ्रामयित्वा चतुर्धा वै	९०
४४८	भ्राममेत् पूर्ववद्वारा०	४१६
२५९	भ्रामयेदपरं चार्ध०	२१८
३४८	भ्रामयेद्वलिदानं तु	५१६
७६	भ्राम्य मध्यादरक्षेत्रं	२१८
४७८	भ्राम्य वै कर्णिकावृत्तं	२१३
२३०	भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रे च	४२५
४९४	भ्रूयुगं नरसिंहोत्थं	४७४
१९७	मकरास्यप्रणालं तु	२४
५३२	मकाराद्यो हवणन्ति	१५
२७७	मखोपकरणाङ्गश्च	२३४
४९१	मङ्गल्यकुम्भमादाय	४८०
५४६	मङ्गल्यगीतिर्मधुरा	३८०
५७	मणिबन्धद्वयं कुर्यात्	२०५
३६७	मणिबन्धादतिक्रान्तं	१२६
४५२	मणिबन्धान्लक्षाग्रं तु	२९४
४७६	मणिबन्धावधेष्ठाहु०	४६४
२६०	मणिमुक्ताप्रवालाङ्घ्य०	५४४
८१	मणेर्मध्यमशाखान्तो	४६३
१११	मण्टपानां तु किन्त्वत्र	४९७
२६८	मण्टपे तु खगेशस्य	५२५
३७८	मण्डलं देवताधारं	२०१
३९२	मण्डलं पावनै रागै	५११
१९३	मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा	३४८
१९७	मण्डलं प्रणवेनाथ	४०६
२६८	मण्डलं मण्डनायुक्तं	३२१

मण्डलस्थं ततः क्षान्त्वा	३३७	मध्ये मण्डलपीठं तु	५०१
मण्डलेजनौ बहिनाथ	२००	मध्येऽवतार्यो भगवान्	७८
मण्डले पूर्वनिर्दिष्टे	३८२	मध्ये सर्वाणि तदनु	५२४
मतिर्मरकताभा वै	२६७	मध्वम्बुपयसा पूर्णं०	४१५
मत्करैरनुविद्धेयं	२३६	मध्वाज्यगुग्गुलुक्षीर०	५४२
मदनुग्रहहेत्वर्थं	५२५	मध्वाज्यशर्कराच्येन	३४५
मदविह्वलनेत्रं च	२३६	मध्विक्षुरस आप्राम्बु०	३२४
मद्भक्तानामिदं वाच्यं	३५०	मनःप्रसादपर्यन्तं	२८६
मधुक्षीरोदकेनाथ	३२५	मनः सुवित्ता वीथी	२१४
मधुपकं दधिमधु०	८२	मनसा करशाखासु	३२८
मधुराद्या रसाः सर्वे	८३	मनसा सह वायूना०	२३९
मधुसूदनपर्यन्तं	३७३	मनस्थन्तर्मुखानां यत्	२२४
मधूकफलकर्पुर०	३२१	मनस्यवस्थितं ह्येवं	३७३
मध्यं ताभ्यां तथा विद्धि	४६२	मनस्युपरतं कुर्यां०	२५
मध्यतः केशवस्यादौ	१५६	मनुष्यपितृदेवाख्या०	५४५
मध्यतः श्रोत्रशक्ती द्वे	४६९	मनुष्यमुनिदेवानां	२३९
मध्यतो गरुडाक्रान्तं	५४५	मनोबुद्ध्यभिमानेन	११३
मध्यतो दक्षिणेनैव	२३५	मनोऽवसानं नीत्वैवं	३९५
मध्यतो द्विये बाल०	४६२	मनोवाजिनमाक्रम्य	२४६
मध्यतोऽम्बुजगर्भस्थं	१६१	मनोहारित्वमेकत्र	४६७
मध्यदेशचतुर्दिक्षु	४९१	मन्त्रः समाधिविषये	१९
मध्यमक्षान्महावुद्धे०	४४०	मन्त्रकुम्भात् समेतेन	३३१
मध्यमाङ्गुलिपर्यन्तं	४७३	मन्त्रकोटिसहस्राणां	३७२
मध्यमानामिकाभ्यां तु	८४	मन्त्रक्षेत्रज्ञरूपत्वाद्	१७९
मध्यमूलावसानेभ्यो	४६६	मन्त्रजं सिद्धिलिङ्गं यत्	३१०
मध्याङ्गुलेद्विरट्टाश०	४६६	मन्त्रजापं ततो ध्यानं	३१३
मध्याह्नभास्कराकारं	२३७	मन्त्रदत्तेन सुरभिं०	३३५
मध्याह्नभास्कराकारैः	११९	मन्त्रनाथं गुरुं मन्त्रं	३१०
मध्याह्नसमये प्राप्ते	१३३	मन्त्रनाथं तु चावाह्य	३४३
मध्ये कलार्धहीनं तु	४६४	मन्त्रन्यासमतः कुर्याद्	२९८
मध्ये केशववत् पश्चा०	१५९	मन्त्रपूजा जपो होमो	३३७
मध्ये चन्दनमिश्रेण	१६७	मन्त्रपूतं हि निश्चेषं	२०४
मध्ये तत्कलशं न्यस्य	४८४	मन्त्रमण्डलमुद्राणां	३१०
मध्ये पद्मावर्णं कुर्याद्	२११	मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात्	१९२
मध्ये प्राग्दक्षिणस्यां च	५०	मन्त्रमभ्यर्च्यं यात्राया०	४५६

मन्त्रमागच्छमानं तु	६६	मरुत्सुखावहः स्तिनग्धः	४५७
मन्त्रमाराधयेद् येन	२९२	मदितया मृदा भूयो	४५४
मन्त्रमुद्राक्रमध्यान०	५३७	मर्मणोऽप्यथ वै सूत्रं	२१६
मन्त्रयेत् प्रणवाद्येन	२९८	मर्म तत्स्थेन सूत्रेण	२१५
मन्त्ररूपानुकारिण्या	२०६	मर्म तस्य च पक्षस्थान०	२१५
मन्त्ररूपां तनुं धते	५१८	मलभस्मतुषाङ्गार०	४५४
मन्त्रसिद्धैश्च विवृद्धै०	१३८	मस्तकस्योपरिषटात्	४७५
मन्त्रसेवार्थदानं च	४३३	महत्पूर्णघटं चैव	३४५
मन्त्रहस्तं ज्वलद्वूपं	३८२	महत्स्फुलिङ्गसंकाशं	१५२
मन्त्राकृतिमयं ध्यात्वा	१३८	महन्मन्त्रात्मना चैव	३४७
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा	३७०	महागरुडवेगा च	५०८
मन्त्राणामर्चनं कुर्यात्	२०५	महाचिन्तापदं दद्यान०	४४९
मन्त्राणामुपदेष्टा तु	५०२	महाज्योतिस्वरूपस्य	१८०
मन्त्रात्मना स्वतन्त्रत्व०	५१८	महानीलं च वज्रं तु	५२४
मन्त्रात्मन् रूपमात्मीय०	५२५	महानीला गडूची चै	५०८
मन्त्रात्मा यत्र रक्षार्थं	२८३	महानूनाधिके दोषः	३७९
मन्त्राध्वा शुकनासान्त०	४८७	महान्तमथवा दीपं	५४६
मन्त्राणां नवमं ह्येतद्	१६	महाबला महाकाया	२५०
मन्त्रात्मे तु पदं कुर्याद्	३३०	महामयापदं दद्याद्	४५०
मन्त्राराधनपूर्वेण	३६७	महार्थेविविधैः स्तोत्रै०	१२६
मन्त्री तदा मन्त्रवरं	३४१	महाविभूतिर्भगवान्	२३१
मन्त्री यथा प्रयुक्तीया०	३१४	महाविभूते तदनु	४४५
मन्त्रेणाध्योदकं पाणौ	३४५	महाविक्रितसमूहस्तु	४४५
मन्त्रैस्तद्वासुदेवाद्यैः	२८६	महाह्रदः पश्चिमे तु	२०३
मन्त्रो द्विरष्टवर्णश्च	४४५	महिमा तु सविज्ञान०	११०
मन्त्रो वा देवतारूप०	५४३	महिमानं तु निश्चेषं	१८०
मन्त्रौघं हृदयात्तस्मिन्	५४२	महिषाक्षमथादाय	३३०
मन्त्रौषध्युपयोगेन	३२६	महिषोऽजो गुडं चैव	३३७
मन्थामथितदुधाबिंधं	२३५	महिषोऽहिंरः कृष्णो	३८१
मन्दिरे त्वेकभित्तीये	४८८	महिषधीं भूतजटां	३२७
मन्ये कृतार्थमात्मानं	४	मातुर्जनकनिष्ठानां	४३०
ममतासन्निरस्तानां	१३	मात्राभिः सहिरण्याभिं०	१६४
मया प्राप्तं जगद्वानुः	५४६	मात्रावित्तं न गृह्णीया०	४२१
मयूरश्चक्रवाकस्तु	३३७	मात्रावित्तं सताम्बूलं	३५५
मयूरो भ्रमरश्चक्र०	४५७	मानमङ्गुष्ठमूलस्य	४६४

मानमात्सर्यकार्पण्य०	४२४	मुख्यानुवृत्तिभेदेन	९
मानमात्सर्यकार्पण्य०	४३०	मुख्याधर्यवारिणा प्रोत्य	३६०
मानसीं पूर्ववत्पूजां	३०९	मुख्येन पाणियुग्मेन	४९
मानसेऽनन्तशयने	१९३	मुञ्चन्तममृतीयं तु	५१२
मानसैकार्णवान्तस्ये	२३९	मुद्रं कर्मतिमत्त्वानां	२०७
मानहीनस्तु कर्तुणां	५२८	मुद्रगरं शतधामाभं	२६४
मानोन्मानप्रमाणानाऽ	४६८	मुद्रां वद्धवा जपेनमन्त्रं	५३२
मान्त्रसन्निधिशक्तिवै	४६८	मुद्रां वद्धवा स्मरेद्यानं	२९६
मा प्रकामेति ऋत्वेदा०	५१४	मुद्रान्तुष्टयं देव	४३६
मायीयेऽध्वद्येते तस्मिन्	४००	मुद्रामण्डलमन्त्राणां	४८५
मायूरं व्यजनं शुद्धं	४१४	मुद्रावामातं कृत्वैवं	३५७
मारुतानलसूर्येन्दु०	४५५	मुद्रागमन्त्विनो मन्त्रो	८०६
मारुतानुगता भासा	८९	मुनयः मन्त्रं पूर्वेन्द्रयं	१९३
मार्गशीर्षात् समारभ्य	१५१	मुनिवाक्यं तु नदिन्द्रि	४३४
मार्गकदेशे निक्षिप्य	३३८	मुने निरप्रपत्नानां	५
मार्जनं भूतिना भूय०	४५५	मुमलं मुद्रारं भीमं	२३७
मार्ताण्ड इव पक्षीश	३८९	मूच्छितं मर्विगाव्रैयं	२५
मालाधराच्युतं विभो	५१८	मूर्त्तिक्रगदाहस्तः	२२४
माल्यैविलेपनैर्धूपै०	३४३	मूर्त्तिनां यजमन्त्रेण	२४७
माल्योपवीतकेयूर०	४७२	मूर्त्येत्थ नदन्ते वै	८८३
मासमेकादिकात् कालात्	२८८	मूर्त्योऽग्ननरस्थाशन	१६९
मासाण्टकं वत्सरं वा	२८८	मूर्तिमूर्त्तिन स्त्रीण	२३७
मासेशमन्त्रसंजसं	१५१	मूर्तिपान् गमदायेन	५१३
मासेशमन्त्रमन्द्वं	१५६	मूर्तिपैः प्रणवाद्याभिः	५३२
मुक्तयेऽखिलजीवानाऽ	३०८	मूर्तिभिःचाप्याद्येन	१३४
मुक्ताकालं च रजतं	५२३	मूर्तिभृतेन द्येण	५१५
मुक्ताकलगणं नैव	२८१	मूर्तिमिद्वृहत्ताग्रैम्	२२५
मुक्ताकलोदरं चैव	३१६	मूर्तिमंगिद्येन्यामं	८८३
मुखवासैः सताम्बूलै०	३५६	मूर्तीनां ध्यानकाले तु	१२८
मुखाङ्गनाभिमेदृक्षमाऽ	४६१	मूर्तीधानीमथा ग्विन्नै०	३०५
मुख्यकर्मपरिकान्ताः	२४४	मूर्तेभ्वजादिकौः गर्वै०	१०३
मुख्यदक्षिणहस्तेन	४७	मूर्ती मण्डलमध्ये न	१०६
मुख्यहस्तद्वयं चास्य	४७	मूर्ती वा मण्डलायं तु	३१०
मुख्यहस्ते द्वितीयस्य	१३०	मूर्त्यादिशक्तिनिकाम्	८८६
मुख्यान् पूर्णफलप्राप्तिः०	५३०	मूर्तिशग्ना निद्रा	२६३

मूलकण्टकचर्मास्थि०	४५४	म्लानता क्षितिकम्पश्च	३८१
मूलमन्त्रं ततो ध्यात्वा	५२७	यं यं संकल्पयेऽद्भौगं	३२५
मूलमन्त्रमयो भूत्वा	३९०	यं यं समीहते कामं	३४९
मूलमन्त्रावसाने तु	३९०	यः क्षिपत्यतिभक्त्या वै	५४४
मूलमन्त्रेण तदनु	५१०	यः पञ्चकालसक्तानां	५४४
मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञो	३०९	यः श्रीमान् श्रद्धानस्तु	४२९
मूलमन्त्रेण वास्त्रेण	३३०	यः सप्राकारमारामं	५४५
मूलमन्त्रेण सहसा	३९३	यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे	१९८
मूलवद्वयापकत्वेन	२५	यः स्यात्तस्योपशमनं	२७२
मूलान्यम्भोरुहाणां च	५०८	य इच्छेत्तस्य कालं तु	३४४
मूलेनाथ गृहीत्वा तत्	३९३	य उक्तः समुदायेऽस्मिन्	१९५
मृगसूकरमांसानि	४२६	य उक्तस्ते मया पूर्व०	१७१
मृगाणां हरिणः सिंहो	४५७	य उङ्कारारुयशब्दस्य	१७५
मृजमेवं सिताद्युत्थं	४५३	यक्षान्तकाम्बुनागाद्यै०	२२८
मृष्मयाग्रसपात्रेषु	४२३	यच्छोदितेन हलिना	५
मृत्काष्ठोपलधातूत्थ०	२४	यच्छन्ति वैष्णवं स्थान०	४९४
मृदुदर्भंसमूहं च	८८	यच्छन्ति शुभमात्रार्थी०	५४०
मृदुमृद्वालुकभिस्तु	४८६	यच्छब्दव्रह्ममूर्त्येव	५३५
मृदूच्चचरणाक्रान्ति०	१५०	यच्छ यच्छ महाशान्ति	३१७
मृद्वारिफलपुष्पाढ्ये	३५१	यच्छान्तमूर्तौ संबुद्धः	५३५
मृष्टधूपसमायुक्तं	८०	यजेत्तन्मध्यगां विश्व०	२६८
मेखलानां तु शङ्खस्य	२१७	यजेत् सत्यादिकं तत्र	५०३
मेद्रभूः सोदराऽस्यैव	२५३	यजेत् स विभवेनैव	३४४
मेदो मज्जाऽतसीतलं	४२३	यजेत् सेन्द्रां धरां शैलं	४५३
मेध्यैः सितादिकै रागैः	२९९	यजेद् गगनसिद्धीना०	१९८
मैत्री बन्धूकपुष्पाभा	२६७	यजेद्दिनक्रमेणैव	१९५
मोक्षदं देहपाताद्	१३२	यजेन्मासत्रयं तावद्	१६३
मोक्षदं संप्रदायं च	३४९	यज्ञात्वा क्षयमायाति	१२२
मोक्षदा च खवक्त्रा वै	४५८	यज्ञात्वा न पुनर्जन्म	११
मोक्षविघ्नोपशमनं	१६१	यज्ञात्वा न पुनर्जन्म	३७
मोक्षादिफलसिद्धीनां	५२७	यज्ञात्वा मानसीं शुद्धि	३७
मोक्षैकफलकामाना०	१३२	यज्ञात्वा विनिवर्त्तते	२४८
मोक्षैकफलदो धर्मं	३७०	यज्ञधर्मफलाकाङ्क्षी	३४२
मोहमायापदं चैव	४४२	यज्ञधर्मरतानां च	४९५
मौदगलेन तु माघाद्यं	१३२	यज्ञाङ्गचिह्निताऽङ्गिं च	२३०

यज्ञाङ्गदेहायाद्याय	४४४	यथाक्रमं समभ्यर्च्य	८६
यज्ञाध्ययनदानानि	२४६	यथाक्रमस्थितं ह्येतत्	५२५
यज्ञान्तानां महाबृद्धे	२०२	यथाक्रमस्थितानां च	२२३
यज्ञापवर्गसत्कीर्तिं०	५४७	यथाक्रमेण सर्वेषां	२०४
यतयः शुद्धसत्त्वाश्च	३८०	यथाक्रमेण सर्वेषां	३५८
यतः सप्रणावादन्य०	५४३	यथाक्रमेणार्चितानां	३७१
यतीनां बद्धलक्ष्याणां	४१२	यथाक्रमेणोदितानां	२८५
यतोऽविनाभाविनोऽत्र	३६४	यथाक्रमेणोदिताना०	२०४
यतोऽहमाश्रयश्चास्या	२३६	यथाक्रमोदितानां च	४२७
यतो हितार्थं सर्वेषां	५२६	यथा तथा न क्षत्राद्या०	१३१
यत्किञ्चित्पत्रपुष्पाद्यं	६१	यथाऽतिरूपवान् लोके	४६७
यत्कृत्वा पुनरप्यत्र	१७०	यथा दिक्षु स्थितं कुर्यात्	२१२
यत्कृत्वाभिमतान्०	१६७	यथा नाक्रम्यते पादै०	४७९
यत्तच्छृणुत विशेन्द्राः	१७१	यथा नैति जनानां च	४३३
यत्तदाकर्ण्यतामद्य	२००	यथाप्रासैस्तु पुष्पाद्यैः	१६६
यत्तदेकमनाः सर्वे	५	यथा विस्मं तथा कर्ता	५३७
यत्तन्निर्वाहियाम्यद्य	२८२	यथा भवति निःस्नेह०	१०२
यत्तु नानाङ्गभावेन	५३५	यथा भवोपकरण०	५३८
यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तं	४७३	यथाभिमतदिक्स्थानि	४९३
यत्पूर्वं नृहरेः प्रोक्तं	४३६	यथाभिमतमासस्य	१३२
यत्प्राप्य भगवद्भूक्तः	३५१	यथाभिमतमासाद्वै	१३१
यत्र तत्र च तत्तेषां०	३७७	यथाभिमतमासाद्वै	१३५
यत्र तिष्ठति विश्वेशः	५०४	यथाभिमतरूपं तु	५३४
यत्र दाता ग्रहीता च	१३७	यथाभिमतसंख्यं च	८५
यत्र मोक्षप्रदं विद्धि	१३७	यथाभिमतरस्थः सविता	४५
यत्र यत्र पदानां च	३९	यथा यथा क्षयं याति	३३५
यत्र स्थानविभागेन	१४	यथारूपैश्च बहुभिं०	२७७
यत्रस्थो धाम चाभ्येति	३७	यथार्किरणनात्रं	१८१
यत्राणिमादि मन्येत	४०१	यथार्हदण्डसहितं	४१४
यत्रानेन विधानेन	३३८	यथावच्च मुनिश्रेष्ठाः	४१०
यत्रैकपिण्डवाक्योत्थ०	१७४	यथावज्ञातुमिच्छामि	२१०
यत्रैका श्रीर्विभोस्तत्र	२६८	यथावत्प्रकटीकुर्यात्	५१२
यत्रैका श्रीर्विभोस्तत्र	२६८	यथावत्प्रणवेनाथ	५१४
यथाकालोऽद्वैः सर्वे:	३०५	यथावदथ सर्वेषां०	५४६
		यथावदनुजानाति	४३४

यथावदुपदेष्टव्यं	४०६	यदेकाग्रतनं चैव	४९३
यथावदुपदेष्टव्य०	३९७	यद्वीजलक्षणं मन्त्रं	१७८
यथावदुच्यानयोगेन	१९५	यद्भोगदानमन्त्रैस्तु	९६
यथावद्रत्नविन्यासं	५०५	यद्यत् स्वलक्षणं तत्त्वं	२१४
यथावस्थितरूपेण	९५	यद्यदिच्छति चोद्धतुं	५४२
यथाविभवविस्तीर्णं	१६७	यद्यप्यनेकवदन०	२२८
यथाशक्ति जपं कुर्यां	११५	यद्यप्यरूपो भगवान्	३५
यथाशक्ति जपं कुर्यां०	३०७	यद्विशसंख्यकं बाह्या०	४३९
यथाशक्ति तथान्येषां	५१२	यवगोधूपशाल्युत्थ्य०	३३३
यथाशक्ति दरिद्राणां	१३०	यवत्रयसमायुक्ते	४६५
यथाशक्ति विना शाठयं	१६०	यवद्वयाधिका कार्यां०	४६६
यथाशक्त्या त्वनिच्छात०	२७७	यवद्वयेन साधेन	४६९
यथासम्भवतो भक्त्या	१५८	यवद्वयोननं मानं	४६७
यथा सर्वगतो वायु०	६५	यवाः सगरुकाइचापि	५२४
यथा स्यान्मोक्षफलद०	३४७	यवान्नं त्रीहिं त्वादौ	१५८
यथोक्तक्रमयोगेन	१९८	यवेनैकेन साधेन	४६२
यथोक्तविधिना देव०	३८१	यवोन्ननं तथा चाग्राद्	४६४
यथोक्ता च यथाभीष्टा	४०७	यशस्करी च दुग्धाभा	२६७
यथोचितं यथाशक्ति	४१९	यशस्करी शान्तिदा च	२५५
यथोदितक्रमेणैव	२२९	यश्च यत्रोपयोज्यस्तु	५०२
यथोदितेषु भागेषु	४६१	यष्टव्यः सविशेषेण	१६१
यथोद्विष्टक्रमेणैव	३९०	यष्टव्यो भावनीयश्च	४८
यथोपसदनैः कार्य०	१६५	यष्टव्यो वास्तुपुरुषो	४८१
यदञ्जनकेतमय०	१०५	यष्टी वाराहकर्णी	५०८
यदतीव च संलब्धं	४३३	यस्त्वञ्जदेवतासंघः	१९६
यदनुस्मरणाद्वयाना०	२४९	यस्मात् कार्यवशेनैव	२६१
यदनेकप्रकारं तु	३७०	यस्मादस्ति पृथग्भूतो	२४९
यदर्थाद्व्यमसन्दिरधं	४३४	यस्मादिव्यर्थमहामन्त्र०	१०६
यदस्य सुरजिद्वपं	२३८	यस्मादेवालयानां च	४९४
यदा तदाऽच्युतात्मान०	३६६	यस्मिन् प्रकृतिभूते तु	४७७
यदा द्वयायतनाद्यं च	४९३	यस्मिन् प्रतिष्ठितं विश्व०	१४
यदा य उपयोग्यः स्यात्	९७	यस्मिन् वै वैभवे रूपे	२८९
यदा संवेद्यनिर्मुक्ते	१२१	यस्य यस्य यदा यस्मि०	१९६
यदीयमस्य वै बाध०	३३०	यस्य सन्दर्शनादेव	२१४
यदुत्पलदलाकारं	४६२		

यस्य स्मरणमात्रेण	३२६	या शुभायतनोद्देशै०	३५१
यां समालम्ब्य संसारा०	१२४	या सम्पन्ने क्रियामात्रे	३३८
या ओषधय इत्यादि	५१३	या सर्वमन्त्रजननी	२७
यागनिष्ठपत्तये कुर्याद्	५४५	याऽहतानलबिन्दून् वै	४५९
यागागारस्य वै दिक्षु	४९९	युक्तं कोटिगणेनाथ	४९३
यागालयं हि विश्वेश	३६१	युक्तं द्वारवशेनैव	४९२
यागावनौ च तच्चक्रं	४१५	युक्तं द्वास्थद्वयेनैव	४९१
यागेऽस्मस्तवेकपीठे वै	२६२	युक्तं नाभितृतीयेन	१६
यागोद्देशात्तथा कुण्डात्	१२२	युक्तं नाभिद्वितीयेन	३८
यागोपयुक्तं सम्भारं	४१६	युक्तं नाभिद्वितीयेन	३९
यागो यागोपकरणं	३१४	युक्तं नाभिद्वितीयेन	५१
याङ्गुलैः परमाणूस्थै०	४७५	युक्तं नाभिद्वितीयेन	५३
याजिनामपवर्गं तु	२३०	युक्तं नाभेस्तृतीयेन	५२
यातव्येति परं मन्त्रं	५१४	युक्तं लघुपरण्डेन	४९३
याति यागाङ्गभावित्वं	९५	युक्तं स्वरेण तेनैव	५४
याति व्यामिश्ररूपस्य	३७०	युक्तमेकेन वै कुर्याद्	४७७
यातुधानपदं यावत्	५१०	युक्तां हेमादिसद्रत्नैः	३५२
यते मासत्रये चैव	१६०	युक्ता विश्रामपूर्वेण	४०३
यात्राख्यमुत्सवं कुर्याद्	२८४	युगसन्ध्याचतुर्जे तु	५७
यादयो नवं नाभिस्था	१८३	युगानुसारिकान्तिश्च	२२४
यानि यानीह दानानि	३४५	युगानुसारिवोधानाद्	२४५
यामालम्ब्य सुखेनेमं	२३६	युगान्तहुतभुग्जवालाद्	३०३
याम्यसौम्याप्यपूर्वाशा०	२०२	युगाब्ददिनरात्र्यर्धं०	५७
यायात् कुण्डसमीपे तु	३८७	युग्मं युग्मं परिज्ञेयं	१५३
यायात्तदीर्यं दिग्भागं	४५६	युज्ञानं च स्वमात्मानं	२४३
यायादरण्यमथवा	४२२	युष्मत्प्रसादसामर्थ्यादि	३९४
यावज्जीवं यथाशक्तिः	३०९	येन केन प्रकारेण	१३६
यावज्जीवावधिं कालं	१२२	येन येन हि मन्त्रेण	२१
यावत् कुमुदपत्राभा	४८९	येन येन हि मन्त्रेण	४०७
यावत् सर्वज्ञशक्त्या वै	३६७	येन विज्ञातमात्रेण	३८
यावदभ्येति दशमी	१५८	येन विज्ञातमात्रेण	३२६
यावादाभाति भगवान्	१२०	येन संदृष्टमात्रेण	१८३
यावद् गग्नशाय्यन्तं०	१९५	येनाचमनपर्यन्तं	१०६
यावद् वृत्तार्थवृद्धस्थं	२१६	येनात्मा स्वप्न एवात्मा	४१
या शिला कलशाधारा०	४८५	येनान्तः संप्रविष्टेन	५१५

## सभाध्या सात्वतसंहिता

येनान्तर्लीनमभ्येति  
 येऽनिर्मलेन मनसा  
 येनोदितेन जगतः  
 ये वर्णा भूतयोनीनां  
 ये विष्णुभाविनो भूता  
 येऽश्नन्ति पितरस्तेन  
 येषां तेषां हि बोद्धव्यं  
 यैराजीवावधि कालं  
 यैर्विना लब्धसत्तानां  
 योक्तव्यं क्रमशो ह्येतं  
 योक्तव्यः कर्मदक्षस्तु  
 यं कृतव्यमभिधानेन  
 योक्तव्यानि पवित्राणि  
 योक्तव्यो ब्रह्मदीक्षायां  
 योगक्रिपातपोऽन्तं च  
 योगपीठार्चनं कुर्यां  
 योगसिद्धिसमेतानां  
 योगिनामधिकारः  
 योगेश्वराय हरये  
 योगैश्वर्यप्रदायाथ  
 यो गोपायस्योग्यानां  
 योग्यतापदवीं नीत्वा  
 योग्यतापदसिद्ध्यथं  
 योग्यतायाः परीक्षार्थं  
 योजना त्वधिवासोक्ता  
 योजियित्वा तद्बूद्धें  
 योजितोऽध्वान्तरे भूयो  
 यो ददाति हरेर्भक्त्या  
 यो दिव्यायातनादीनां  
 यो न वेत्याच्युतं तत्त्वं  
 यो नान्यदेवतायाजी  
 यो नित्यं भवभीतानां  
 योनिमेकेन भागेन  
 योऽनुभूतिपदं याति  
 योऽन्तः प्राणादिरूपेण

३७०	योऽन्तः सर्वेश्वरो देवः	२२८
४२७	यो बोधभूमौ संरूढो	२३८
१४	योऽप्यं सोऽहमनेनैवा०	११९
३६९	यो यजेद्विधिनानेन	१२२
३६३	यो योऽधिकारी भक्तो वा	१३४
१०५	यो विश्वतश्चक्षुरिति	५१८
२८९	योऽसौ सांमुख्यमायाति	३७०
२७२	यो हि वाञ्छति सद्धर्म०	३४२
४४२	रक्तचन्दनतोयं च	७२
७४	रक्तचन्दनयुक्तेन	१६०
५०३	रक्तधातोर्भवेद्येन	३३५
१९९	रक्तराजीवनयनो	२४४
४२३	रक्ताद्यं सितनिष्ठं च	५६
४०८	रक्तैरकण्टकैर्हृदै०	३२०
२४३	रक्तोत्पलाभा प्रकृतिः	२६७
२९९	रक्षणं रसधातूनां	३३३
३७२	रक्षरक्षपदोपेतं	३३२
१२	रक्षवीप्सापदोपेतं	३३८
४४७	रक्षवीप्सापदोपेतं	३४०
४४४	रक्षोहणं तथा सर्वान्	५०४
५४७	रक्ष्यं सुनिर्मलं कृत्वा	३२८
३६०	रक्ष्यस्य शिरसि भ्राम्य	३३२
४३२	रक्ष्यावनौ सुलिप्सायां	३३३
२८९	रचनासंनिवेशोत्थ०	४९२
४०८	रचनासनिवेशो यः	३९०
४४०	रजनीचूर्णसंमिश्र०	७०
३९७	रजस्तमोऽङ्गिं सत्सत्त्व०	२२९
५४६	रजस्तमोभ्यां मूर्तिभ्यां	२२६
५४३	रजांसि करणीयुग्मं	३५४
४२५	रजांसि बलयो वान्यत्	३२८
१३७	रजांसि विद्धि भूतानि	२१४
२४१	रजोपनयनं कुर्यात्	९४
२१९	रञ्जयेत् कुङ्कुमाद्येन	३२०
४०१	रञ्जितानि सुधाद्यैस्तु	३५५
२३७	रत्नकाञ्चनवस्त्राणां	५१६

श्लोकाधार्निकमणी	६२३
रत्नकाञ्चनसन्मुक्ता०	३९२
रत्नकौशेयवसनं	४६०
रत्नज्वालाकणाकीर्णं	५०९
रत्नवद्भूभवीयैस्तु	३४९
रत्नानि वैबुधं विभं	३६६
रत्नाश्रयेण धात्वर्थे०	३४९
रथन्तराख्यं यत्साम	४२९
रथस्ये मन्त्रिभिर्भै तु	४४१
रथाङ्गशङ्खधातारं	१९१
रथे कृत्वाऽचिते तं वै	२५५
रथोपरथकाद्यां तु	२५५
रम्येषुणा तृतीयस्य	४५९
रम्यैरलङ्घकृताश्चैव	२५५
रवं रवन्तं मधुरं	२३८
रशिमभिरस्करो यद्वत्	११
रसात्माऽध्यक्षसंज्ञोऽन्ने	२७
रसाद्यपीष्टैः संपाद्यां	५४४
रसैरन्नैश्च सद्गग्न्धै०	४७९
रहस्यसंज्ञं मुख्यं च	४३०
रहस्याम्नायविधिना	१०५
रागदोषादिनिर्मुक्तो	१०९
राजमुद्गौस्तु नैवैद्यं	२२७
राजा पुरोधाः सामन्तो	१२६
राजिकाघृतयुक्तानि	२५०
राजोपलप्रभां वीथीं	४६९
रात्रिक्षये ततः स्नायात्	७९
राहुजित्कालनेमिघ्नः	५०
रुचिरं कङ्कणं चाथ	४७५
रुद्रादित्येन्द्रऋषिभ्यो	४६९
रुद्रेन्द्रचन्द्रसुर्याम्बु०	२४८
रुपेण कृष्णपीतेन	४३
रुपेण पश्चिमस्यां च	२०२
रुपेणानेन च पुनः	५४६
रेखान्वितानि पत्राणि	४५६
रेखोत्थैस्तु कह्नारैः	२१५
रेचयित्वा स्वनाम्ना च	३९२
रोगमुक्तं न सिंहाद्यैः	४६०
रोचनारजनीयुग्मं	५०९
रोमकूपगणैः सर्वैः	३४९
रोमाञ्चौत्सुक्यहर्षाद्य०	३६६
लक्ष्मापात्था होमात्	३४९
लक्षणं ज्ञातुमिच्छामि	४२९
लक्षणं पदमन्त्राणा०	४४१
लक्ष्मीः पुष्टिर्दया निद्रा	१९१
लक्ष्मीः शब्दनिधिः सर्व०	२५५
लक्ष्माद्यां तच्च बोद्धव्यं	२५५
लक्ष्माद्या देवताकाराः	४५९
लक्ष्माद्योन द्विषट्केन	२५५
लक्ष्मा संवाहामानं च	२३८
लक्ष्यभूतं यदासृष्टे०	११
लक्ष्यस्थाने तु पूर्वोक्ते	२७
लग्नं यद्गग्नमूर्तौ०	४७९
लग्ने स्थिरे स्थिरांशो च	४३०
लब्धदर्शनमात्रो वै	१०५
लब्धलक्षात् परे तत्त्वे	१०९
लब्धानुज्ञस्तु वै कुर्यां०	२२७
लम्बकूर्चं जटादण्ड०	१२६
लम्बमानमधोवक्त्रं	२५०
लम्बोदरा: सुपीनाङ्गाः	४६९
ललाटं सालकं प्रागवद्	७९
ललाटिलकं हैमं	५०
ललाटिलकैरिच्चत्रैः	४७५
ललाटानासावक्त्रेभ्यः	४६९
ललाटमस्ववक्त्रस्य	२४८
ललाटे चांसपटे तु	४३
लसतीयूषसदृशैः	२०२
लाङ्गलाद्यां परश्वन्त०	५४६
लाङ्गली देवदेवेन	४५६
लाजदध्यक्षतैः कुम्भै०	२१५
लाङ्घनद्वितयं कुर्यात्	२१५

लाङ्छनादिक्रियाध्यान०	२९८	वक्ष्ये व्रतवरं चान्यत्	१३२
लाङ्छयमानं दलाग्रं तु	२१३	वचा शतावरी कन्या	५०८
लावण्यस्य क्वचिन्मानं	४६७	वज्रं वज्रोपलाभं तु	२६४
लिखेत् प्रणवपूर्वं तु	३१९	वज्रवत् सूक्ष्मरूपेण	३७५
लिख्यैवं सितरक्तेन	३२४	वज्रादयोऽखिला रत्नाः	४५३
लिङ्गः पूर्वोऽदितैर्युक्तं०	४३३	वणिककुटुम्बभृतक०	५४५
लिङ्गरैतैः परिज्ञेयः	४३२	वत्सरं परिपीडैस्तु	१२५
लीलाकटाक्षवाग्बाणैः	२३६	वद केनाऽन्यथाऽमूर्तं	३९८
लीलाविधृतसर्वस्त्रं	१७२	वदनान्तं समासेन	४७७
लुञ्छनं नखकेशाना०	३८१	वदन्ति जन्मसाकल्य०	४
लेपैराच्छादितं कृत्वा	५३४	वनदाहसमुद्भूतं	५०७
लोकचित्तानुसारेण	३१४	वनमालाधरा: सर्वे	५०
लोकनाथं विशालाक्षं	२३९	वनमालेति गरुडः	१९१
लोकनाथस्तु शान्तात्मा	१८९	वने वायतनोहेशे	४३३
लोकाचारवियुक्तानां	४३१	वनैस्पवनैग्रामै०	३५२
लोकानज्ञाततत्त्वांस्तु	५१५	वमन्तमान्तरं वह्निं	३०३
लोकान्तराणां कार्यार्थं	२५३	वरं कराष्टकेनैव	२५९
लोकेशास्त्राष्टकं चैव	२२९	वरदाभयदेनैव	२९
लोचनं त्रियवं साधं	४६५	वरवाजिमुखं ध्यायेऽ	२३२
लोभबुद्धिं विना यस्य	२७२	वरसिहासनारूढं	२३९
लोम प्रदक्षिणावर्तं०	४६७	वरास्त्यां भूतिसञ्जां च	२४२
लोलीभूतमभेदेन	५८	वराभयाभ्यामन्योन्य०	२७०
लोहं वैद्यर्यपूर्वं तु	५२४	वरायुधोद्यतकरा:	४३
वशवृद्धिदयारोग्य०	४५८	वराहदंष्ट्रं सिहाक्षं	४७२
वंशोद्धारकरतया	४३०	वराहाय ततो दद्यात्	४४४
वक्तव्यं ब्रह्मनिष्ठैस्तु	४८६	वर्जनीर्यं तथा शङ्ख०	३१०
वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवा०	११२	वर्जनीयाः प्रयत्नेन	४२३
वक्त्रेष्वप्युपकुम्भानां	३२७	वर्जयेदतिवृद्धां च	४५७
वक्त्रैरुद्धर्वस्थितैर्धर्येद्	२२८	वर्ण नाभिद्वितीयं यत्	४३९
वक्त्रैर्वराहवक्त्रोर्धर्व०	२२८	वर्ण नेमेस्तृतीयं यत्	३६
वक्त्रैस्तारासमेतैस्तु	२२८	वर्णचक्रं तु पूर्वोक्तं	२९१
वक्षःकठुकरांसस्फक्०	४७१	वर्णद्वयं पदस्यादौ	५३
वक्ष्यमाणविधानेन	५०५	वर्णमक्षस्थमादाय	४३
वक्ष्ये भवोपकरणं	१९२	वर्णलाङ्छनतुल्यत्वे	२६१
वक्ष्ये विप्रवरा: सम्यग्	६१	वर्णव्यूहसमूहेऽस्मिन्	४०२

वणिध्वानं दीक्षितस्य  
वणिनां जनकत्वेन  
वणिनामाश्रमाणां च  
वणिनुरूपवर्णेन  
वणी ब्राह्मणपूर्वा ये  
वणी विप्रादयस्तेषां  
वणिश्रिमगुरुत्वाच्च  
वणिश्रिमपदं चाथ  
वर्तुलं पश्चिमे सौम्ये  
वर्तुलात् सर्वकामाप्तिः०  
वर्धितं चार्धहस्तेन  
वर्मणाच्छादितं कृत्वा  
वर्मणाच्छाद्य वस्त्रेण  
वर्मणा तत्फलप्राप्ति  
वर्मीभिमन्त्रितेनाथ  
वल्मीकिमृजलेनाथ  
वषट्कारपदोपेतं  
वषट्टपदनिरुद्धेन  
वसाकज्जलतैलाज्य०  
वसोः पवित्रं हि यजुः  
वस्तुत्वेन गृहीत्वैव  
वस्त्रपीठोपरिस्थं तु  
वस्त्रवच्चैव लोहानां  
वस्त्रसंगर्दणोपेतं  
वस्त्रैराभरणैः पृष्ठैः  
वस्त्रैविलेपनैमत्यैः  
वस्वधर्यकुसुमैगन्त्यैः  
वहन्तं कूममुदां च  
वहन्तं वक्षसोमध्ये  
वहन्तं सद्वैजयन्तीं  
वहन् वै वामहस्तेन  
वह्निर्गम्भे तु निधूमे  
वह्न्यकेन्दुसहस्राभ०  
वाग्यतः पुष्पदर्भाच्य०  
वाग्यता: शुद्धलक्षाश्चाऽ  
वार्गवेदमण्डलं यो वै

४०५	वाङ्मयं निखिलं यस्य	२३२
१२४	वाचकं तस्य योक्तव्यं	२८१
२३९	वाचकान्तर्निविष्टेन	४९
२२५	वाच्यं तैर्द्विदशार्णेन	५४३
३४५	वाच्यभेदोक्तियोगेन	१२९
१२९	वाच्यवाचकभावेन	१३३
४५४	वाच्यवाचकरूपं तद्	०६
४४६	वामकृत्सथापनं वामे	५३७
४९७	वामतर्जनिं चक्रं	१३०
४९४	वामदक्षिणभागाभ्यां	३०३
४९९	वामदक्षिणयोरेवं	५३८
३७५	वामदक्षिणवक्त्राभ्यां	२५७
५१७	वामनं च थ नदेवीं	१६८
३९२	वामभागे तु देवस्य	५१०
५२६	वाममिच्छाकलानां यो	२५३
५०४	वामहस्तद्वयेनैव	२२४
३२३	वामहस्तातले कुर्यात्	२८३
४१६	वामहस्तेष्वमी ध्येया	२४२
३८१	वामेन कुक्षिकुहरान्	१३०
५१३	वामे परस्मिन् याज्ञं च	४९
२१५	वामे शङ्खवरं ध्यायेद्	३०
३३१	वायुकोणावत्यर्याव॒	२०
४५५	वायुद्वारेण पातालं	२
३२१	वाय्वीशपदगंगुद्ध०	०
५३३	वाय्वीशपदमरुद्धं	१८
१६०	वाराहो नरसिंहस्त्रा०	१८५
३६५	वाराहं संयज्ञेनमन्त्रं	३६८
२६३	वारुणं पाठयेत् याम	५१
२६३	वासनामयमित्येव०	३७
२४२	वासनावासितानां च	२३०
२४५	वासुदेवस्वप्नस्य	१५६
२०५	वासुदेवास्यमन्त्रेण	१६७
५६	वासुदेवादिकेनैव	१२४
२३	वासुदेवाद्यभिज्ञाभिः०	५८२
१०५	वासुदेवाय तदनु	५१
२४५		

## सभाष्या सात्त्वतसंहिता

वासुदेवो जगन्नाथो	५०	विदिव्वस्त्रं विभोरप्रे	१६४
वाहनं गजपर्यन्तं	८०	विदिक्स्थान् प्रणवे जापे	५२१
वाहनानां तथा चैव	५४२	विद्धि तद्वृहसंज्ञं मद	८
विकरालमुखं रौद्रं	२६४	विद्धि पञ्चदशार्णं च	४४०
विकर्त्यं पूर्णया साधं	३९३	विद्धि वक्त्रविकासं च	४६०
विकल्पोपरतं कृत्वा	२९७	विद्धि वामनरूपस्य	४७६
विकारवसुधाधारे	२३३	विद्धि सर्वेश्वरस्येदं	१८३
विकासः सिंहवक्त्रोक्त	४७१	विद्धि सर्वेश्वरस्यैवं	१३८
विकासश्चाश्ववक्त्रोक्तः	४७२	विद्धि सर्वेश्वरस्यैवं	१३९
विकास्यावर्णहीनेन	११८	विद्याकोशस्तु वामेन	८९
विक्षिप्तवाहैराकीर्णं	३२४	विद्यां गदामित्याद्यां यत्	५१७
विग्रहाय दशार्णं च	४४८	विद्या चक्रं च तद्विद्यात्	१५३
विग्रहे देवदेवस्य	१९२	विद्या चैव परा विद्या	१९२
विघ्नोपशान्तये वेगाद्	३६१	विद्याधिदेवं भगव०	२२६
विचार्यमाणं एवं हि	४००	विद्याधिदेवः कपिलो	१८६
विचार्यं स्वधिया सम्यग्	४३३	विद्यांधिपतयश्चैव	१९२
विचित्रं हि शिरोमाल्यं	७९	विद्याविद्यादूयं यद्वै	२०८
विज्ञातमथवा ज्ञात०	४३१	विद्वुमाभं त्रयं त्वाद्य०	१५५
विज्ञातव्यास्तु कैलिङ्गै०	४२९	विद्वान् योज्जेन विधिना	२८३
विज्ञाता गुरुणा यस्य	४३२	विधानमेकमूर्तीयं	१३
विज्ञानपदमादाय	१६	विधानैः सूत्रसंवन्धै०	५१०
विज्ञानपुस्तककरा	३०४	विधिना कीदूशेनैव	११
विज्ञानमपलं वज्रं	२६६	विधिनानेन वै कार्यं	१२८
विज्ञानरशिमभिर्दीपं	२३७	विधिनानेन वै धर्म०	३४१
विज्ञेयं भुवनानां च	४००	विधिनानेन वै नित्यं	१०६
विज्ञेयः शान्तिदः पाणि०	२६९	विधिवच्छोभनं कुर्यां०	३५३
विज्ञेयमष्टायतनं	४९३	विधिवत्स्थापनं तस्य	४७१
विज्ञेया अड्ग्रिदैर्घ्याच्च	४७३	विधिवद्यागपूर्वं तु	५४३
वितानं वैजयन्तीं च	५४६	विधृयान्मध्यभागाच्च	२८१
वितानध्वजसंवीतं	२००	विधेयं पञ्चमं वक्त्रं	८५४
विदधाति फलं स्वं स्वं	१७८	विधेयं पीठवत् पश्ना०	८८०
विदधात्यर्चनान्तूनं	२७०	विनम्रजनसन्ताप०	८३
विदिक्चतुर्जं त्रिपदं	२११	विनाङ्गुलद्वयेनैव	४६५
विदिक्षवप्ययोगेन	८८	विनाचारसमूहेन	३७०
विदिक्षवप्ययोगेन	५२३	विनाणिमादिसिद्धिभ्यो	२१०

श्लोकाधर्तुकमणी

६२७

विनान्त्यरेचकेनैव०	२६३	विभिन्ना पीठगचना	४९०
विना मध्यस्थितेनैव	४९३	विभिन्नेन च हयेण	२५४
विना वक्त्रैर्नैसिंहाद्यः	२६०	विभना वाग्यवस्थाण	५१७
विना शिखासमूहेन	२८१	विभूतिंग्वामिने चेनि	४४३
विना सामान्यमन्त्रैर्य०	५४१	विभौर्गं द्विजेन्द्राणां	१३५
विनिक्षिप्य चतुर्थे तु	३५८	विभौर्गजां प्रतीक्षन्तं	२६३
विनिक्षिप्य शूचौ स्थाने	४१४	विभौर्गावदयोनैव	२५४
विनिक्षिप्यान्यभाण्डान्त०	९३	विभौर्गाधभात् भम्यग्	३७०
विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये	३१३	विभलं रम्युपार्वश्च	३४२
विनिवार्य यथा शश्वद्	३१०	विभाने वा ग्ये कृत्वा	५४२
विनिवेद्य च देवाय	१०९	विभवतः पञ्जराद्याद्यन्	३९४
विनिवेद्य ततो हैमं	६३	विभवतीपं भभागे	८७९
विनिवेद्यासनवरं	३६८	विभवती दानः	८५९
विनिवेश्य च तद्वक्त्रे	४८०	विभवाः गिहयो गालि	८८७
विनिवेश्याष्टमं चापि	५२१	वियक्तं प्राक्षाद् दुःखा०	२०३
विनिश्चितं यथामानं	४००	वियोजयानं यो मोहात्	५४४
विनेश्वरेच्छ्या तेपां	४७६	विरक्तं भावयन्निद्युष्यं	३९३
विनोच्छ्रायेण नृहरे०	३१६	विरक्तस्य च नद्योगात्	४०१
विन्यसेत् समसूत्रेण	५२८	विरामेण तु जप्येन	४५६
विन्यासं पीठमूलेऽथ	१२९	विस्पाठ्यानिवित्ताद्यथो	४६७
विन्यासं लाञ्छनानां तु	२०	विरुद्ध्य शक्तिमन्तं च	३९३
विपर्ये तु नेत्रान्तो	८५२	विरुद्ध्य शक्तिमासनत्र	३९५
विप्रप्रधानाः श्रुत्वैवं	५२२	विनिद्य नैगमवर्मं	३१७
विवुधन्नागाच्च	२८५	विनिद्य भूजंपदे वा	३४१
विभजस्तु चतुर्था वै	३८	विनिद्य नातृकानकं	१८२
विभजत्यात्मनात्मानं	९५	विनिद्यातः सुगन्धेस्तु	३६३
विभजत्यात्मनात्मानं	२८८	विन्द्ये गमलकः पर्य०	३८४
विभवव्यूहसूद्धमाख्यां	३८५	विन्द्ये परमान्मीय०	२८१
विभवेनाथवा शक्त्या	५७	विनिद्यमननगीकृत्य	२०५
विभागकल्पनं कृत्वा	३७८	विनिद्यमननगीपंतं	३५३
विभाव्य मनसा व्याप्त०	७८	विनिद्यः पूजयद्वं	३३६
विभाव्यालङ्कृतं भक्त्या	४७२	विनिद्यं परं शास्त्रं	१२
विभिन्नताङ्गुलार्थेन	५७	विनिद्यः पूजयद्वं	४००
विभिन्नमूर्तिसामान्यं	२८२	विनेकशरजालेन	२४८
विभिन्नानां च कण्डानां		विशद्गः विन्यसेन्मध्यं	५२३

विशन्ति पूर्वसंरुद्धा	५४२	विष्णुव्रतपरं चैव	४२१
विशाख्यूपं तन्मध्ये	३६१	विष्णोराराधनपरा	१
विशाख्यूपमन्त्रेण	३५६	विष्णवालापकथासक्तं	४२१
विशाख्यूपसंज्ञस्य	४३	विष्वक्सेनाभिधानं	३१२
विशाख्यूपो भगवान्	१८०	विष्वक्सेनाय तदनु	५४
विशुद्धबुद्ध्या देहान्ते	३६	विसर्गसंहितं बोज०	१४५
विशेषत् प्रासादभूभागं	४८०	विसर्जनं तु बोद्धव्यं	२९७
विशेषतः सकामस्य	४२३	विसर्जनेऽर्घ्यदानं तु	३५९
विशेषपूजनं कुर्यात्	१३५	विस्तरात् द्विजातीनां	३५२
विशेषपूजनं कुर्याद्	३१०	विस्तारः प्रतिदिक्संस्थ०	४९२
विशेषयागपूर्वं तु	२७९	विस्तारप्रोन्नता नाभिः	२१८
विशेषसंज्ञासंबन्धं	२८४	विस्तारसुपपीठानां	३५२
विशेषाच्छ्रावणे कुर्यात्	१३२	विस्तारेण ललाटाच्च	४७०
विशेषाद् वनयात्रायां	४५६	विस्तारेणोन्नतत्वेन	४६५
विशेषार्चनसंयुक्त०	२७३	विस्तृतेर्मध्यभागेऽथ	४७८
विशेषोऽप्यथ भेदाख्य०	५८	विहगाधिपतिश्चात्र	२५४
विश्रान्तं नैऋत्यपदे	९८	विहाय पक्षगौ भागौ	४९०
विश्रान्तं भावयेद्देवं	२०८	विहाय मृदूलं भित्तेऽ	४५४
विश्राम उदयो व्यासि०	४०२	विहाय वासुदेवाद्यं	१८२
विश्लेषं कर्मणां तद्वद्	३६९	विहितं क्षत्रजातेऽवं	१२८
विश्लेषयन्तं सहसा	३६९	विहितं चापि वैश्यानां	३८६
विश्लेषयामुकं ब्रूयात्	३७१	विहितं न तथा पीठे	५३८
विश्वमाप्याययन् कान्त्या	२८	विहितं भगवत्पीठे	५३८
विश्वविष्लवदोषाणां	१७१	विहितं सद्व्रतज्ञानां	१३५-
विश्वातीताय विमलं	४४२	विहितं सर्ववर्णनां०	१३२
विश्वात्मने पदं दद्यात्	४४९	विहितश्चाम्भसि त्यागो	२०८
विश्वोत्तमाय तदनु	४४५	विहिताः पीठकल्हार०	२५४
विषयान्तनिविष्टं तु	११८	विहिता चास्य सर्वत्र	४७५
विषुवस्थं दिनं प्राप्य	३४३	विहिता जगतीगर्भा	४८८
विष्टरं किञ्चिणी चास्त्र०	२६९	विहितान्यर्चने नित्यं	४२३
विष्टराविष्टपाणिं च	२४३	विहितो जननाथस्तु	४८३
विष्टरोपरि चान्यत्र	३६४	विहितो वित्तविरहा०	३५३
विष्णवे पदमादाय	४४६	वीज्यमानं हि वै प्रीत्या	२३३
विष्णुक्रान्ता च कार्कोटा	५०८	वीरासनादिना चैव	१७२
विष्णुनीरायणो हंसः	३४६	वीर्यपातात् स्वशिरसा	२५३

वीर्यतिमने महाशब्दं  
वीर्याय फट् तदन्ते तु  
वृतो ज्वालासहस्रस्तु  
वृतं ज्वालागणेनैव  
वृत्तत्र्यश्वार्थचन्द्राणि  
वृत्तदीपशिखाकारै०  
वृत्तमण्डलमध्ये तु  
वृत्तमण्डलमध्ये तु  
वृत्तवृत्तायतत्वेन  
वृत्तवैपुल्यमानेन  
वृत्तायते वा वितते  
वृत्तावधे: समैभर्गः  
वृद्धयेऽपि च शान्त्यर्थं  
वृद्धानामङ्गनानां च  
वृद्धिलासक्रमेणैतद्  
वेदकत्वेन भगवान्  
वेदगेयध्वनीशङ्क०  
वेदयत्यन्यथात्मानं  
वेदविद्वग्वान् कल्की  
वेदाङ्गैरुपवेदैस्तु  
वेद्यवेदकनिर्मुक्त०  
वेद्यां पुराहृतैर्भर्गै०  
वेष्टगित्वाम्बरैश्चत्रै०  
वेष्टिता वल्लवृन्देन  
वैद्येन पोत्रप्रान्तेन  
वैभवीयस्य यूथस्य  
वैभवीयैर्वृतो देवै०  
वैभवीयो महावुद्धे  
वैराग्यधीरचपल०  
वैशाख्ये हि सिते पक्षे  
वैश्येनाश्वयुजादादा०  
वैष्यं वासनाजालं  
वैष्णवानामकामानां  
वैष्णवीं पर्षदं वापि  
वौषट्पदद्वयान्तःस्थ०

४४२	वौषट्स्वाहावषट्कार०	३८८
४४३	वौषट्त्वेन मूलेन	५१२
३०४	व्यवतं चक्रत्रयस्योर्ध्वे	२६
३२९	व्यवतं नृसिंहबीजं तु	३११
३३९	व्यवतं वागीशवक्त्रं तु	२६०
३३३	व्यक्तामगमद्वेषः	१३७
३३५	व्यक्तये च फलादीनां	२२४
३३५	व्यक्तरूपं च मन्त्रेशं	३८९
४१५	व्यक्तिभावेन तच्चापि	२९७
४७५	व्यक्तिमध्येति भगवान्	४२
४७४	व्यक्तिमध्येति भगवाना०	६५
४९४	व्यक्तिज्ञानफलोपेता	१७९
२१२	व्यक्तीभूतं यथा लोके	५३६
२५९	व्यक्तिर्विगलितेनैव	९६
३७९	व्यजनं चामरं छत्रं	५४६
१३३	व्यञ्जितं तैः सनिर्माणं	३९९
३४	व्यतीतायां तु शवर्याँ	३३४
२८२	व्यत्यादनयोर्विद्धि	४७६
४३५	व्यपेक्षयाऽप्युपेयश्च	३९९
१९०	व्यस्तेन उपकुम्भौ तु	३२१
२३३	व्यस्तैस्ततः समस्तैश्चा०	१२९
३९७	व्यस्तो गुणगणः पष्ठ०	३०७
६०	व्याख्यानमागमानां च	४१९
५१९	व्यापकत्वेन तदनु	२४
४५८	व्यापके सर्वसामान्ये	३९१
२३०	व्यापिका मूर्तयस्त्वेताः	३७४
१८२	व्यापी निरुद्धाइगुण्यो	३९७
५५	व्याप्तं चतुर्धा वायवन्तै०	३७४
१७१	व्याप्तिसंपासमायुक्ते	५१३
२८५	व्याप्त्यरूपेण भूलोकाद्	१७९
३४४	व्याप्त्यव्याप्तरूपेण	१७९
१३२	व्याप्त्यश्रयागयुक्तानां	१२
२४६	व्यामोहविनिवृत्त्यर्थं	४७
४९४	व्रजन्तं सह शिष्येस्तु	४१७
४२६	व्रतं मे त्वत्प्रसादेन	१६८
३२३	व्रतमूर्तिसमेताभिं०	४०४
	व्रतमैतदमन्त्रं च	१४२

व्रतसंसिद्धये नूनं  
 व्रताद्यन्ते तु विहितं  
 व्रतानामुत्तमं धन्यं  
 व्रतान्तमखिलं कालं  
 व्रतान्येतानि कर्तव्याऽ  
 व्रतान्येतानि यः कुर्याऽ  
 व्रतेश्वरं जगन्नाथं  
 व्रतोत्तमेनानेनाद्य  
 ब्रीहीन् सकूनथाज्यं च  
 शब्दतयेऽथ पदं दद्यात्  
 शक्तिः परशुपाशास्त्र०  
 शक्तिः परशुशैलेन्द्रौ  
 शक्तिः सा चातुरात्मीया  
 शक्तित्वेन स्वभावस्थं  
 शक्तिमच्छक्तिभावेन  
 शक्तिमच्छक्तियोगेन  
 शक्तिमाधारसंज्ञां च  
 शक्तिव्यक्तिमयत्वं च  
 शक्तिसंधात् प्रधानो यः  
 शक्तीशोऽप्यथ संचिन्त्यः  
 शक्त्यादिककलाद्यश्च  
 शक्त्यादिककलाद्वन्द्व०  
 शक्त्या निरीक्षमाणं च  
 शक्कार्मुकवर्णं च  
 शङ्कून् वै घटिकास्तत्र  
 शङ्कं गदाङ्कुशौ पाणं  
 शङ्कं चक्रं गदा सीर०  
 शङ्कं तदन्तरे कुर्याऽ  
 शङ्कं ध्यायेत्तृतीयस्या०  
 शङ्कोणचतुर्जुके तु  
 शङ्कचक्रकंजं विद्या  
 शङ्कचक्रगदावज्ज०  
 शङ्कचक्रधरश्चैव  
 शङ्कचक्राङ्कितं कुर्याऽ  
 शङ्कतोमरशङ्कं च

१३७	शङ्कपचाङ्किताभिस्तु	४९२
१३१	शङ्कपचौ चतुर्थस्य	१४५
१३३	शङ्कपाशाभयान् शक्तिं	२५८
१४०	शङ्कमङ्कुशपाशौ च	२५८
१४०	शङ्काङ्कं सर्वकोणेषु	४९७
१४०	शङ्काद्यैर्धर्मायमानं तु	४१३
१३१	शङ्काभयौ हलं शक्तिं	२५९
१६४	शतं शतार्धं पादं वा	९४
१६५	शतं सहस्रं साष्टं वा	५३२
४४५	शतकोटिप्रविस्तीर्ण०	३७२
२६९	शतपूर्वं सहस्रान्तं	१०२
२४२	शतमष्टाभिकं चैव	३३४
१८१	शनैः प्रासादपर्यन्त०	५३३
२३२	शनैः शनैरथ बहिः	२९३
३९२	शब्दं विश्वात्मने चाथ	४४६
३९७	शब्दब्रह्मयं चक्र०	१८३
१९४	शब्दब्रह्मरतानां च	२६०
१७९	शब्दब्रह्मानुविद्धां च	४४७
१९०	शब्दमात्रेण तं भूयो	६०
२२४	शब्दव्यक्तिस्तदूर्धर्वं तु	२६
२३४	शब्दात्मिकास्वमूर्तासु	५२०
२३४	शब्दादयः सायकास्तु	२६६
४३२	शब्दैरनुपदिष्टैस्तु०	१०६
२६४	शमं त्रिभागन्यूनं वा	१५०
३७९	शमं नयति भक्तानां	२७३
२५८	शमेककलाहीनं	२२४
२६९	शमार्धं वर्धितानां च	४७३
३३६	शमार्धवृद्धियोगेन	५००
१५५	शमार्धवृद्धियोगेन	४९९
२१९	शमीपलाशश्रीवृक्षैः	३४८
१५३	शयनं मन्त्रतोयेन	१५१
२५९	शयनस्थो जपेन्मन्त्रं	१५१
२२६	शयनासनयानाद्यं	४१८
२४	शयननन्दमयायेति	४४७
२४२	शरचापकरव्यग्रं	२४६

श्लोकाधर्मनुक्रमणी

५३१

शरणे रमणीये च	२७१	शिखान्तं क्षमादिना तेन	३७४
शरदाकाशसंकाशं	२६४	शिखामन्त्रेण तद्वोगं	३९२
शरदगग्नसंकाश०	४२	शिरःशिखातनुत्रास्त्र०	३०६
शरयज्ञासनस्थं च	५४६	शिरसः परिणाहं तु	४६३
शरसाङ्गभूते दद्या०	४४७	शिरसा चाधिकारात्	३९२
शरीरविटपं तेन	३३१	शिरसाऽरान्तपूर्वेण	३१९
शरीराय पदं चैव	४४७	शिरसालिप्य संक्षाल्य	३६४
शशाङ्कशतसंकाशं	३१७	शिलाग्रहणमित्युक्तं	४६०
शश्वद् यागसमाप्त्यर्थं	२०	शिलानामन्तरे भूमौ	४८६
शस्तमद्यतनस्यैव	५३८	शिलापदद्वयस्यान्ते	५२२
शस्त्रेण काष्ठफलकां	४५४	शिलावटेषु द्रव्याणां	५२३
शाकिन्यो भूतवेतालाः	३२६	शिलाष्वेवं कृते पश्चात्	४८३
शाखाद्यमस्पृशन्तं च	५२६	शिष्टं कृत्वा त्रिधा पीठ०	४९०
शाखामूलगतां कुर्याद्	४९१	शिष्टं पुरोदितं सर्व०	२१८
शाखामूलावधेः पाणी	४६४	शिष्यदेहे निरद्धस्य	३९३
शाणमौर्णं च कार्पासं	४५५	शिष्यमाहूयं संचोद्य	३८०
शातयन्तमवणिच्चा०	२४६	शिष्याणां विष्णुभक्तानां	४२४
शान्तं ब्रह्ममयं रूपं	५२६	शिष्यैर्वाचार्यभवने	३५३
शान्तः संवित्स्वरूपस्तु	२८	शीतलं तर्पणजल०	८२
शान्तत्वान्निष्कलत्वाच्च	३५	शीतलोदकधारा० च	३३५
शान्तये देशजानां	१३८	शीताम्बुपूरितानां च	५१०
शान्तये बलिमन्त्राणां०	३१८	शुक्तेरथः कण्ठसूत्र०	४७७
शान्तात्मने पदं दद्यात्	४४५	शुचौ देशे मनोजे च	१८२
शान्तोदितं च तद्विद्धि	५३५	शुद्धं चानश्वरं भाव्यं	२३५
शान्तोदितस्वरूपाणां	३७२	शुद्धं त्वथाष्टमं बाह्याद्	५४
शान्त्यर्थं देशपालानां	३१८	शुद्धं नेमिद्वितीयं तु	५४
शाङ्गं च खड्गखेटौ तु	१९१	शुद्धज्ञानानुविद्वं च	२३५
शाङ्गभूते पदं दद्या०	५३	शुद्धमेकादशात् पूर्व०	५१
शाल्यः सर्वबीजानि	४९२	शुद्धान्तःकरणं बुद्ध्वा	३६६
शालाद्यायतनोपेत०	५४४	शुद्धाशयानां भक्तानां	३७४
शालिश्यमाकनीवार०	३५३	शुद्धिः किंशुकसंकाशा	२६७
शिक्षयत्यथ नान्येषां	४३०	शुद्धिरञ्जना नित्या	२५५
शिखरं चात्र विहितं	४८९	शुद्धयर्थमात्मनस्तस्मात्	३६७
शिखरस्य चतुर्दिक्षु	४९१	शुद्धयादिकेन षट्केन	२५५
शिखरोन्नतिपर्यन्तं	४८९	शुभं प्रतिसरं त्वेकं	२७५

शुभकर्मरतो नित्य०	४२९	शोणितं चाद्रमांसानि	३८१
शुभमव्यभिचारं यत्	१०५	शोधयित्वा तु तद्वाहा०	२११
शुभमाराधनाधार०	४१४	शोभिताः कौस्तुभैनैव	५०
शुभमृत्युरितां कृत्वा	३५२	शौचस्वाध्यायनिरतः	४३०
शुभवस्त्राणि नेत्राणि	५४६	श्रद्धानैरतस्तस्मात्	१४०
शुभाय सिद्धये विद्वि	४८८	श्रद्धया यः स बोद्धव्यः	४३३
शुभा वाणी ध्वनिः शाङ्क०	४५६	श्रद्धापूतेन मनसा ।	३४२
शुभे दिनेऽनुकूले च	४७९	श्रावणस्य दशम्यां तु	१२९
शुभेन भद्रपीठेन	५२२	श्रियादिमायानिष्ठेन	२५४
शुभेऽनुकूले नक्षत्रे	३४१	श्रीखण्डं च सर्कपूर०	१६१
शुभेऽनुकूले नक्षत्रे	३५१	श्रीदेवी कीर्तिदेवी च	२५५
शुभेऽन्यस्मिन् दिने	५३३	श्रीधरस्त्वथ तत्कान्ता	१६८
शुष्कगोमयचूर्णेन	८८	श्रीपतिर्दिव्यदेहोऽथ	१८८
शुष्कगोमयसंघृष्टे	३७९	श्रीपुष्ट्यचार्यद्वयं यत्र	२६८
शुष्कगोमयसंयुक्ता०	३५५	श्रीपुष्ट्यघोरस्थ मध्यस्थं	२५४
शुष्कत्वं सरिदादीनां	३८१	श्रीफलं चाक्षसूत्रं स्त्रं	२६९
शृणु तद्वीजनिचयं	१८२	श्रीफलाद्यानि चान्यस्मिन्	५०८
शृणु ब्रह्ममयं पुण्य०	१२३	श्रीवत्सं वक्षसो वामे	२९५
शृणु मन्त्रचतुर्जं तु	५४	श्रीवत्सकौस्तुभमहा०	५१४
शृणु सम्यक् प्रवच्यामि	११	श्रीवत्सकौस्तुभौ चैव	३०१
शेषं तु पूर्ववन्न्यस्या०	२९७	श्रीस्त्र वागीश्वरी कान्तिः	१४८
शेषं भवोपकरणं कुर्यात्	२७०	श्रुतीनां मानसानां	२३९
शेषं यद्विहितं चात्र	३१९	श्रुतीकृष्णाद्या वक्त्रेभ्यः	२२७
शेषं सत्योदितं सर्वं	८७४	श्रुत्वा तत्रीतिजनकं	४
शेषं स्वशिरसो दद्यात्	१०२	श्रुत्वा विचारयत्यर्था०	४३०
शेषपूर्वं तु वह्नयन्त०	२९७	श्रुत्वैवमच्युतमुखाद्	११
शेषमाननरन्ध्रं तु	४७०	श्रुत्वैवमच्युतमुखाद्	२१०
शेषस्य विनियोगं तु	३३५	श्रुत्वैवमाह भगवान्	२९१
शेषस्यास्रावणं कुर्यात्	९२	श्रेयसे सर्वलोकानां	१७२
शेषादीनां च शेषाणा०	२२३	श्रोणीतटनिविष्टेन	२३७
शेषेणास्त्रांशसंधेन	४७५	श्रोणीतटापितकरं	१५२
शेषैः कोणं तु निर्वर्त्य	२१२	श्रोणीतटापितकरं	२३५
शेषैरालभ्य पादान्त०	३५७	श्रोणीतटापितकरा०	२६५
शैलोत्थं पूर्ववत्कुम्भं	५३३	श्रोतुमिच्छामि संक्षेपाद्	३७८
शोणहेमादिवर्णं च	२१४	श्रोत्रकोटिद्वयाच्चैव	४६३

## श्लोकाधार्णानुक्रमणी

६३३

श्रोते द्वयङ्गुलविस्तीर्णे  
श्रोते वाजिमुखोक्ते  
श्याख्यं यदञ्जमन्त्रं तु  
शिलष्टौ विकसितौ हस्तौ  
श्लेष्य पाणितले द्वे  
श्वभ्रेऽथो घटरुद्धानां  
श्वा च गोखरमातञ्ज०  
श्वेतचामरसंयुक्तं  
श्वेतद्वीपसमं विद्धि  
श्वेतद्वीपापासये चैव  
श्वेतपट्टगलोपेतं  
श्वेतपूर्वाः सुमनस०  
षट्कं केसरजालस्थं  
षट्कं च विश्वरूपाद्यं  
षट्करान्तं पुनस्तस्माद्  
षट्कर्मनिरतं चापि  
षट्कर्मनिरतानां च  
षट्कलं च परिज्ञेयं  
षट्कलं मूलदेशाच्च  
षट्कलाङ्गलवैर्यक्ता  
षट्कोणं चैव तन्मध्ये  
षट्त्रिशदक्षरो मन्त्रो  
षट्त्रिशद्वलपद्मेन  
षट्त्रिशद्वलसंयुक्तं  
षट्त्रिशाक्षरसंयुक्त०  
षट्शक्तिकिरणोपेत०  
षट्सप्तमाष्टसंज्ञाना०  
षट्सु दक्षिणहस्तेषु  
षट्सु दक्षिणहस्तेषु  
षडक्षरं चतुर्थं तु  
षडक्षरं चतुर्थं तु  
षडक्षरं चार्येश्वर्यं  
षडक्षरं तृतीयं तु  
षडक्षरं तृतीयं तु  
षडक्षरमथोर्ध्वस्थं

४६२	षडञ्जमन्त्रसंजप्तं	४०६
४७१	षडञ्जुलं तद्वाहुल्यं	४६३
१९७	षडञ्जनाथ मन्त्रेण	३२८
१४९	षडध्वमुक्तमूलेन	३९५
२०५	षडशीतिमुखोत्थायां	३४२
५२३	षडस्त्रं चार्येष्टवाहुं	३०३
४८८	षडगोलकं च तन्मान०	४६५
३१६	षडबाहुरुष्टवाहुश्च	२५८
५३९	षडभागेनाथ पादेन	४८८
३४५	षडभिरन्यैः स्वयं पश्चात्	५३०
३१६	षडभिर्हीनं शतं सार्धं	२१२
३५३	षडभुजो दक्षिणैर्धते	२५८
२६९	षडवर्णं पदमस्याद्यं	५२
३६७	षडविशार्णमिमं विद्धि	४४४
४९५	षण्णां दक्षिणहस्तानां	२५८
२७६	षष्ठं नेमेश्चतुर्थं च	१८४
५१६	षष्ठं सप्ताक्षरं विद्धि	५१
४६१	षष्ठमेतद्विजानीयात्	३६
४६५	षष्ठस्य नेमिवर्णस्य	१६
३९९	षष्ठेनालिङ्गिता देवी	२३८
३३५	षाङ्गुण्यमहिमान्तं च	१७९
५१	षाङ्गुण्यमादिदेवाद्यं	५८
२००	षाङ्गुण्यविग्रहं देवं	७
२१२	षाष्टिकास्त्वीशदिग्वाय्वः	५२४
५२	षोडशाक्षरमेतद्वै	४४३
५१८	षोडशाख्यमतो वक्ष्ये	१३४
१४७	षोडशार्णस्वयं मन्त्र	४४५
२३७	संयच्छति जगद्योनेः	५४५
२३८	संयच्छत्यविराद् ब्रह्म०	२४१
४४	संयच्छन्तं धिया सम्यग्	२३५
५१	संयज्ञेद भवनाम्ना वै	२०३
१७	संयज्ञेन्मन्त्रनाथं तु	३२८
३७	संयाति चाङ्गभावं तद	३५५
३७	संयुक्ता नखाजलेन	४६६
३८	संयुक्तानपि पूर्वोक्तै०	४२६

संरक्षणाय योग्यत्व०  
 संरोधस्तर्पितानां तु  
 संरोध्य वर्ममन्त्रं तु  
 संरोध्य सन्निधीकृत्य  
 संवत्सरस्य पूजार्थं  
 संवत्सरस्य पूजार्थं  
 संवत्सरस्य वै मध्याद्  
 संवाहनपरात् कालाद्  
 संविभज्याथ वै तेषां  
 संविभागः पितृणां च  
 संविभागः पितृणां च  
 संविश्य देवयानेन  
 संवीजयेत् विनया०  
 संवीज्यमानं विनया०  
 संवीज्य व्यजनेनैव  
 संवेष्टच कण्ठदेशान्तं  
 संवेष्टच च पुरा सूत्रै०  
 संवेष्टच नेत्रवस्त्रैस्तु  
 संवेष्टच रक्तसूत्रेण  
 संवेष्टच सितसूत्रेण  
 संवेष्टच सितसूत्रेण  
 संसाध्य यष्टियोगेन  
 संसारदेवतानां च  
 संसारभयभीतस्तु  
 संसारानलतप्तानां  
 संसेच्य विम्बं तदनु  
 संसेच्य हुतभुरभूर्मि  
 संस्कारचक्रं विविधं  
 संस्कुर्यात् प्रतिकुण्डस्य  
 संस्कृतशृतपाठाभ्यां  
 संस्कृताज्यस्य विप्रुड्भिः  
 संस्कृतानां हि युक्तानां  
 संस्कृत्य ध्वजदण्डं च  
 संस्कृत्य विम्बवत्पीठं  
 संस्कृत्य मूर्तिवत् किन्तु  
 संस्थानमादिमूर्तिर्वें

## सभाष्या सात्वतसंहिता

२४६	संस्थाप्य विधिवत् कुम्भान्	४८३
५२०	संस्थिताः सिद्धगन्धर्व०	१
५३४	संस्थिताश्चादयो वर्णाः	३७२
५१८	संस्थिति शाश्वतीं लोके	५४५
१५१	संस्थिति संस्मरेत्तेषां	३६९
१६५	संस्थितो दासभावेन	२८५
१६६	संस्थितो यस्त्वभेदेन	३९७
४१७	संस्नाप्य मूलमन्त्रेण	४९१
४१६	संस्पृशन् स्वाङ्गियुग्मेन	३७६
१०३	संस्पृशेत् शिखरं पीठ०	४८९
३७१	संस्मरन् परमं ज्योति०	५१२
१५५	संस्मरञ्चक्रमन्त्रं तु	४८५
२३९	संस्मरेत् कमलाकारं	३६८
७८	संस्मरेत् संहरन्तं च	५१८
३१६	संस्मरेत् सर्वदुःखानां	३७१
५१०	संस्मरेदग्रतश्चास्त्रं	३७९
४८६	संस्मरेदथ दत्ताख्यं	२३९
३१९	संस्मरेद्वेतिराङ् दीपं	१४५
२७६	संस्मृताः पूजिताश्चैव	४४८
३१७	संहरन्तं च तद्रूपं	४१
२१०	संहारमूर्तये शब्दं	४४८
५३७	संहितापारगाणां च	४१२
२८५	संहृत्य बर्हकूर्चेन	३६१
३४७	स एव द्विभुजो ध्येयो	२४०
५११	स एव वासुदेवेति	१५१
४०५	स एवाङ्गुलमानेन	४७०
३६९	सकलीकरणं कुर्यात्	३४६
५११	सकारान्तस्त्वकाराच्च	४०२
४३१	सकालोत्थास्तथा बौद्धा०	३७२
९४	सकुङ्गुमेन क्षीरेण	३२२
२९०	सकुम्भानां च दीपानां	३३६
५३६	सकुशेन स्वहस्तेन	३६९
५१९	सकृत् त्र्यहं च सप्ताहं	१२२
३८२	सकृत् संवत्सरस्यान्ते	२८४
४२	सकृद् ध्यानसमेतं तु	२०४

### श्लोकाधार्निक्रमणी

६३५

सङ्कुद्धिभवदेवानां	५२८	सञ्चाल्य हृदयेनैवं	५४२
सक्तुना सोदकेनैव	३३३	संच्छन्नं शरजालेन	३१५
सक्तुंस्तु ताग्रपात्रे तु	१६०	संज्ञास्यं पदमन्त्रं च	१७४
सक्रिये मन्त्रचक्रे तु	१३	संज्ञाधारं हि तद्वीजं	३३८
सक्षीरमन्तपात्रं तु	१३०	संज्ञानानापदमयः	१७३
सगोलमुत्तराङ्गोषु	४७०	सततं च यथालाभं	४७८
सघृतं तैलकुम्भं तु	५०८	स तत्रस्थेन मन्त्रेण	४१३
सघृतं हेमपात्रं च	१६२	स तथेति तदुक्तं च	४३२
सङ्कृष्टणं परत्वेन	१६०	सतालभागमानं च	४६६
सङ्कृष्टणं विशालाक्ष	१२७	सति लाभे न वै कुर्यात्	४५९
सङ्कृष्टणाभिधानस्य	१६१	स तु हृष्टमना वाक्यं	३
सङ्कृष्टणेऽज्जवद्रम्यां	१२८	सत्कम्बुसदृशी ग्रीवा	४६३
सङ्कृल्पविषयः सर्वः	२७	सत्पक्षिमृगसंघातः	३८१
सङ्कृल्पसिद्धयै भगवन्	१४३	सत्यः सुपर्णो गरुडः	२४९
सङ्कृल्पादेव भगवां०	१४०	सत्यरूपा ह्यलक्ष्या	११०
सङ्कृल्प्य तं स्वबुद्ध्या	५८	सत्यवाग् भगवद्भूक्तो	४२९
सङ्क्रोच्य तत्पुरा सूत्र०	४८९	सत्येवं नियमे सिद्धे	२४९
सङ्क्रोच्यापानदेशं	११८	सत्त्वशुद्धांस्तथा भूयो	३३२
सङ्क्रात्तेन तु वै बुद्धौ	३७४	सत्सत्त्वकरजःश्रेणी०	२३५
सङ्क्रान्त्यां सोपवासस्तु	३४३	सत्सत्त्वपदमादाय	४४३
सङ्क्षाल्याभ्यर्च्य चोद्रत्य	५०४	सदक्षिणं विशेषेण	५३१
सङ्ख्यानिष्ठाक्षरस्यान्ते	४५०	सदक्षिणं शलाकाद्यं	५१२
सङ्गुमे तत्र मन्त्रेण	३४८	सदक्षिणस्य वै तेन	५३८
सङ्ग्रहं च पुरा कृत्वा	४६१	सदन्नपानाद्वानाच्च	३४४
सचक्रं पूजयित्वादौ	२३	सदलं करणोपेत०	४६२
सचक्रमथ तस्याग्रे	३२८	सदशांर्थं सहस्रं तु	३८९
सचक्रैविधिः पद्मैः	४९०	सदसत्पदमादाय	४४५
सचन्दनेन होमं तु	३१७	सदागमादिसारं	२६३
स चातुरात्म्यनिचयो	४०२	सदिक्षितभ्यः सास्त्रेभ्यः	४१५
सच्छास्त्रपीठं विधिं	५४६	स देशिको निबोद्धव्यः	४३५
सच्छृद्धस्यानिरुद्धाद्यं	१२८	सदैव तैः समाराध्या	५३९
सच्छैलदारुग्रहणे	४५६	सदैवाराधकानां तु	४७९
सजलाऽजलिपूरस्तु	२०५	सदोदिताय शब्दं तु	४४२
सच्चारो विहितो वामे	२५२	सच्चोहृतानां विहित०	४२३
सच्चार्या त्वग्रतो वेदि०	५२२	सद्वस्त्रवेष्टिं कृत्वा	५०४

सद्वैषणवकुले जातः	४२९	सन्निर्धि तत्र तत्कालं	२८३
सधनुवर्महस्ताभ्यां	३०४	सन्निधीकृत्य संपूज्य	४९१
न नन्दनवने भोगान्	५४५	सन्निरुद्धो भवत्वस्य	३९४
सनमस्केन किन्त्वत्र	१६२	सन्निरोध्य स्तु मन्त्राणां	५०५
सनमस्केन मन्त्रेण	५३२	सन्निरोध्य बहिर्वेद्यां	६५
सनाभिवेदिपञ्चारं	३३६	सन्निवेशस्त्वयं मुख्य०	५३९
सनालं कमलं तद्वत्	१२६	सन्न्यासं संघयं वापि	२०६
सनालैर्भूषणीयं च	२७६	सन्मार्गदर्शनं कृत्स्नं	४३१
स नूनं समवाप्नोति	३४३	सपक्षमिममायामं	४७४
सनृत्तगेयवादित्रं	२८४	सपर्वं तु किरीटाद्यां	२६५
सनृत्तगेयवादित्र०	५०४	सपवित्रं तु तत्राद्यं	९३
सन्तन्त्य पदमन्त्रं तु	१७४	सपादपीठं परमं	६८
सन्तर्पयित्वा तदनु	५१९	सपिण्डिका द्विहस्तास्तु	४८१
सन्तर्प्य तिलहोमैस्तु	५४२	सपीठं भगवद्विम्बं	७७
सन्तर्प्य मूलमन्त्राच्च	४८५	सपीठं भगवद्विम्बं	५३९
सन्तर्प्य वह्निमध्येऽथ	३४४	सपीठानां च बिम्बानां	५२२
सन्तर्प्य हुतभुड्मध्ये	३४३	सपुत्रदारमात्मान०	६८
सन्तर्प्याथ तथा कुर्यात्	२०४	सप्तकं कलशानां तु	३२९
सन्ताडय कुसुमास्त्रेण	३६४	सप्तकं सप्तकं षटकं	३७३
सन्ताडय शैशवं कायं	३७१	सप्तधा तु विभज्यादौ	३७५
सन्ताडयास्त्रात्मको भूत्वा	३८७	सप्तधा षड्भुजाद्यैन	२५८
सन्तापकाय शब्दं तु	४५०	सप्तमं च चतुर्थं च	४३६
सन्तिष्ठन्ते वह्निः क्रुद्धाः	३५३	सप्तमं च तृतीयं च	४४०
सन्त्यज्य द्वादशांशाद् वै	४७५	सप्तमं चाष्टमं चापि	४३८
सन्त्यज्य निखनेद्	४७७	सप्तमं नाभिवर्णेभ्य०	४४०
सन्धत्ते कमलं खड्ग०	२९८	सप्तमाद्वार्षं यावद्	३३६
सन्धत्ते रूपमात्मीय०	१७२	सप्तरात्रं त्रिरात्रं वा	३२१
सन्धाय मन्त्रपूर्वं प्राक्	३१३	सप्तविशाक्षरो मन्त्र	४४५
सन्धायाभ्यन्तरे सूत्रे	३७१	सप्त सप्त च धान्यानि	३५३
सन्धारयन्तमपरं	२६३	सप्ताक्षरस्तु प्राढ्मन्त्रो	५५
सन्धाय मूर्छिन कण्ठे वा	३४१	सप्तारं तु महाचक्रं	३३६
सन्धेवं मणिवन्धान्तं	४६३	सप्तार्णं पदमादाय	४४७
सन्धेः सप्तकलं विद्धि	४६४	सप्ताहं फलमूलाशी	३४३
सन्ध्याजलदसंकाशं	२६३	सप्ताहे समतीते तु	३४८
सन्निकर्षे न चाग्नेस्तु	४२४	सप्रणामजपालाप०	३६६
सन्निधानमतः कायं	२७६	सप्रणालं भवेत् पीठ०	४७८

## श्लोकाधार्थनुक्रमणी

६३७

सबहि: पक्षमन्त्रेण	३७६	समाक्षिस्तदादेशा०	४३३
सबाह्याभ्यन्तरं चैव	२८८	समाचम्य पुनयथिात्	११३
सबाह्याभ्यन्तरं सम्यद्	१२२	समाचरेवथायोगं	२०१
सबाह्याभ्यन्तरं रगतं	२११	समादाय च संस्मृत्य	३७९
सबाह्याभ्यन्तरस्थेन	२९२	समादाय पदं विद्ये	४४९
सबाह्याभ्यन्तरावस्थं	२२	समादायात्मतत्त्वं च	३७४
सबीजं वा सपिण्डं वा	१७८	समाधाय बहिर्देवं	११५
सब्रह्मसूत्रया चैव	३०४	समाधायात्मनात्मानं	११९
सभज्ज्ञादावदधां च	४५७	समाधायात्मनात्मानं	१२०
समं कायशिरोग्रीवं	११७	समाधिप्रच्युर्ति कृत्वा	३९७
समं रथकयुक्त्या तु	४९१	समानीय शिलोपेतान्	४८२
समं सूत्रचतुष्कं च	२११	समान् सुपक्वान् सुघनान्	४८२
समक्षं नान्यभक्तानां	४२०	समाप्ते शयनस्थरश्च	१२१
समक्षं भवतां भक्त्या	२७६	समाराघनसक्तस्य	४१०
समग्रोग्भयेत्यत्र	४४५	समारोप्य धिया सम्यक्	४१४
समत्वादन्यथा केन	५७	समालभ्य सुगन्धेन	७८
समन्तभद्रा सुशलक्षणा	४९६	समालभ्याचर्चित्वा	५३४
समन्तं तु चतुर्व्यूहे	१३	समालभ्य च तादात्म्य०	२०१
समन्तेषु च बुद्धिस्थं	४३१	समावाह्य यजेद्यस्तु	३४३
समपादस्य विम्बस्य	४६८	समाश्रयस्व सौम्यत्वं	५२५
समभ्यर्च्यस्तदन्तस्थो०	३६८	समाश्रयेदादिदेवं	२८८
समभ्यर्च्यार्थपादोन	७८	समाश्रित्य बृहत्त्वं च	१९८
समभ्यर्च्यस्त्रमन्त्रेण	३७६	समासेनोदितः सम्य०	६०
समभूहा ततः कुर्यात्	४०७	समास्त उत्तरस्यां	४२
समयात् श्रावयेत् पश्चात्	३०९	समास्ते सभ्यवपुषा	९९
समयिसाधकाचार्य०	४२८	समाहूतस्य सिद्धर्थ्य०	२५३
समर्चनीयं विधिव०	६०	समाहूय स्वमन्त्रेण	६५
समर्चनीयं विधिव०	३४७	समाहूतानां मन्त्राणां	३५१
समर्चयित्वा योज्जीं वै	५४५	समित्सप्तकपूर्वस्तु	२०६
समस्तमूर्तिपीयं वा	५०२	समिद्धिरच्चयित्वाऽच्य	३०८
समस्तसंवित्पुणं च	३०९	समिद्धिराजयेन तिलैः	३४३
समस्तसिद्धिवाने	१९७	समीकृत्य पुरा सर्वं	४८८
समस्तैवैभवैर्मन्त्रैः	३५६	समीपे शयनस्थानं	५०१
समांशेन द्विधा कृत्वा	२१०	समुच्चार्य धिया सर्वं	२०१
समाक्रम्याध्वण्टकं तु	३७४	समुत्कीयं खरन्द्रेण	४१३

समुक्ताने करतले	८४	सम्पूज्य वाससाच्छाद्य	५३३
समुक्ताप्य ततो मध्यात्	१९५	सम्पूज्य विधिवद्यात्	४१७
समुक्ताप्यासनात् सर्व०	४१४	सम्पूज्याथ सुगन्धैस्तु	२७५
समुक्ताप्य ततो यायात्	४०५	सम्पूर्णं च तिलैः कृष्णैः	१६३
समुक्ताप्यार्धात्रेऽथ	११६	सम्पूर्णचन्द्रदिवसं	२७४
समुत्पन्ने निमित्ते तु	४५७	सम्पूर्णपात्रं कुम्भानां०	८८
समुदेति जगन्नाथ०	२४६	सम्पूर्णमृतेनैव	३०४
समुद्घाटयावलोक्यादौ	९९	सम्पूर्णमम्भसां कुम्भं	७५
समुद्धिश्यास्तु ते सर्वे	४२७	सम्पूर्णमुदकेनैव	४१६
समुद्धरेत् ततो मन्त्र०	२९१	सम्पूर्णं चेति कथिताः	४८५
समुद्धृत्य भ्रमं कुर्याद्	२१२	सम्पूर्णो दक्षिणावर्त०	४७१
समुद्धृत्याथ वै प्राग्वद्	३९५	सम्पूर्यं बदरोपेतै०	३१९
समुद्रमूर्तये स्वाहा	१४८	सम्प्रविश्याप्यदिवसंस्थः	३५६
समुलिलय शिखान्तं च	३६५	सम्प्रवेश्य स्वकं स्थानं	३८७
समूहमथ विज्ञाप्य	३९४	सम्प्रहृष्टस्ततस्तस्थ०	४
समूहवद् हृदादीनां	४०७	सम्प्राप्तप्रत्ययानां च	३५१
समेखलं द्विहस्तं तु	४९६	सम्प्राप्ते च ततः पौषे	१३५
समेन विषमेणैव	४३४	सम्प्रेरयन्ननिच्छातः	२४२
समो दृक्सन्निवेशस्तु	४७१	सम्प्रोक्ष्याध्यार्थमभसा	९२
सम्पठन् पौरुषं सूक्तं	५१६	सम्बन्धवेणिः पूर्वोक्त०	४७२
सम्पत्यभावेऽप्येकं वा	१०५	सम्बोधजनकं होमं	९५
सम्पन्नः पापदाहश्च	२८९	सम्भवे सति वै रक्तं	३२०
सम्पन्ने स्नपने त्वेवं	२८४	सम्भवे सति हेमादिं०	२८७
सम्पश्येत् परमं धाम	३८२	सम्भूतिस्थितिसंहार०	१८२
सम्पाद्य चैव तन्मध्ये	२७५	सम्मार्ज्यं पूर्णशोभार्थं	२१२
सम्पाद्य विष्टर्दः स्नानं	२८४	सम्मार्ज्य भद्रपीठं तु	६१
सम्पाद्य चतुरसं तु	२१७	सम्मुखा देवदेवस्य	३०५
सम्पाद्य चैवमाधारं	१५०	सम्मेल्य जुहुयात् सर्वं	५१९
सम्पाद्या विधिनानेन	४०७	सम्यक् तदर्चनं कृत्वा	१६३
सम्पालनाच्च येषां वै	३११	सम्यक् तस्योपकारार्थं	३९२
सम्पुटं हृदयोदेशे	३०५	सम्यक् प्रक्षीणपापानां०	३५१
सम्पुटीकृत्य वृत्ताख्यं	३४०	सम्यक् प्रदक्षिणीकर्तुं	५३९
सम्पुटे शशिसूराख्ये	२७	सम्यक् सम्प्रतिपन्नस्य	३९४
सम्पूजने च भूतानां	३६०	सम्यक् सत्त्वनिवृत्तिः प्राग्	३८९
सम्पूज्य गन्धधूपैश्च	८५	सम्यक्स्थास्त्वादिदेवीया	५३९

## इलोकाधानिकमणी

६३९

सम्यक् स्वमूर्तिमन्त्रैस्तु	४५३	सर्वत्र समबुद्धीनां	४३१
सम्यगाराधनान्मन्त्र०	२८९	सर्वत्र सर्वदानेन	२०४
सम्यगिष्टवाथ सन्तर्प्य	३४३	सर्वत्राधिकृतो विप्रो	१३१
सम्यग् ग्रहणकाले तु	४५५	सर्वत्रारभकाले तु	४५६
सम्यग् धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्य	४१०	सर्वथाऽराधकानां तु	२७९
सम्यग्ज्ञानेन युज्यन्ते	५४४	सर्वदा चानयोर्विद्धि	४६७
सम्यग् दत्तानि तान्येव	३४६	सर्वदा दासभावत्व०	३८८
सम्यग् वाक्पतिना चैव	२२५	सर्वदा नित्यशुद्धो यः	१६२
सम्यड्निर्वर्तितः स्वर्गं	२३०	सर्वदा परिरक्षान्तु	२४३
सम्यड्माने च सौन्दर्ये	४६८	सर्वदा स उपास्तव्य	४३२
स यथावत् क्रमात्पूर्वं	३४२	सर्वदा सर्वसिद्धीनां०	२०५
स याति परमं स्थानं	५४४	सर्वदिक्प्रसृतां कृत्वा	५३५
स याति चाच्युतं स्थानं	५४५	सर्वदेवमयं देवं	३०३
स यायात् सुसितद्वीपं	५४५	सर्वदेवमयं देह०	२०१
सरलत्रह्वापाषाण०	५०६	सर्वदेवमयं मन्त्रं	२०४
सरलतानां च धातूनां	४५३	सर्वदोषनिवृत्यर्थं	३४९
सरलतानुत्तमान् धातून्	३५७	सर्वदोषविनिर्मुक्तां	३५१
स रथस्तूर्यघोषण	५१६	सर्वधर्मरतानां च	५३५
सरक्षयं तदन्तःस्थ०	३६८	सर्वधारामयं मन्त्रं	४९१
सर्वं जपावसानं तु	३२०	सर्वप्रदे तु तदनु	४४९
सर्वं पक्षमकपर्यन्तं	३५५	सर्वबीजानि धान्यानि	३६०
सर्वं साधारमुद्दिष्टं	४४१	सर्वभूतमयाऽनादे	१२९
सर्वकामप्रदा सिद्धिं०	२६७	सर्वमाचमनार्थं तु	८३
सर्वक्रियाविनिर्मुक्त०	५५	सर्वमेव ऋजुस्थित्या	२५३
सर्वं परमं ज्योतिं०	१५१	सर्वलक्षणशब्दं तु	४४९
सर्वं शब्दरूपं च	३५०	सर्वलक्षणसम्पन्नां	१४९
सर्वगन्धान्विता सौम्या	२६३	सर्वलक्षणसम्पन्नाः	१५५
सर्वं गस्यापि वै विद्धि	३७१	सर्वलक्षणसम्पूर्णं	३०३
सर्वं ग्रह्यवदना	४८५	सर्वलोकगुरुर्विग्रा	४९५
सर्वज्ञस्यात्मतत्त्वस्य	३५६	सर्वलोकमयं तत्र	६२
सर्वज्ञो भव चोक्तवैवं	३९६	सर्वलोकमयायेति	४४६
सर्वतः पाणिपादं तत्	७	सर्वलोकहितार्थं तु	२८४
सर्वतत्त्वाश्रयं तत्त्वं	२४७	सर्वविद्येश्वरायाथ	४४३
सर्वत्रगोऽसि भगवन्	५१४	सर्ववृत्तं घटं कुर्यात्	४७७
सर्वं चास्त्रमन्त्रस्य	४५५	सर्ववृत्तं तदधेन	४७०

## सभाष्या सात्वतसंहिता

सर्वशक्तिमयेनैव	५१७	सर्वेषां पूजनं कुर्यात्	१५८
सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्त०	४४२	सर्वेषां प्रणवः पूर्वः	२९२
सर्वशब्दमथादाय	४४६	सर्वेषां रञ्जकं गूढं	४३८
सर्वशस्त्रास्त्रोद्यतेति	४४८	सर्वेषां विद्धि सामान्यं	४७४
सर्वसाधनसंयुक्त०	४८०	सषां सर्वेवदा तेषां	५४१
सर्वस्य विहितं पद्मं	५२५	सर्वेषां सविशेषं वा	३८३
सर्वाकिर्षकरपदं	४५०	सर्वेषामन्तरालेषु	३३९
सर्वाङ्गमध्यमन्त्रेण	५२७	सर्वेषामध्यकलशात्	१०५
सर्वाण्याधाररूढानि	५१०	सर्वेषामूर्धवर्तो नित्यं	४३०
सर्वोत्मने च तदनु	३९०	सर्वे समांसलाः सौम्याः	४६७
सर्वाधारमयं ध्यायेऽ	६२	सर्वेवा लाज्जनैमूर्तै०	४००
सर्वाधारं हर्ति ध्यायेत्	३४८	सर्वोपकरणोपेतं	४१२
सर्वान्तश्चारिणे कृत्वा	१४८	सर्वोपकरणोपेतं	४८१
सर्वान्तश्चारिणे दद्यात्	४४३	सर्वोपकरणोपेत०	३४३
सर्वाराधनदानार्थं	३५६	सर्वोपकरणोपेत०	५१०
सर्वश्रिमोपकरण०	२३२	सर्वोषिधिघटं चैव	५०९
सर्वश्रियाय तदनु	४४२	सर्वोषिधिमयेनैव	२९९
सर्वासां मूलपर्यन्ताद्	४६४	सर्वोषिधीगन्धरत्न०	३८२
सर्वासां व्यवधानं तु	४९०	सर्वोषिधीत्वगेलाद्यं	३५३
सर्वासु युग्मयोगेन	२९५	सलक्षणे तु सुस्तिनग्धे	४६०
सर्वस्त्रिग्रसनादाय	४५०	सलाज्जनं वैभवीयं	१८१
सर्वास्त्रशक्तिसम्पूर्ण०	३०४	सलिलेनार्थ्यपत्रं तु	६४
सर्वे कारणवन्मूर्धनी	१४४	स लोके शाश्वतीं कीर्ति	५४४
सर्वे चक्रध्वजाः कार्या	५००	सल्लोहशैलकाष्ठोत्थैः	५४३
सर्वे दशान्तहस्तानां	४९७	सवक्त्रं भुजवृन्दं तु	२५४
सर्वेन्द्रियगुणाभासं	२४७	सवज्जं स्वेन बीजेन	३६७
सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः	३९७	सवालुकां च सच्छिद्रां	४५७
सर्वेश्वरस्य देवस्य	५२०	सवाहनाऽवाहना वा	५३१
सर्वेश्वरस्य वै यस्माद्	९६	स विवेकात्मना भूत्वा	२३८
सर्वेश्वराय न्यग्रोध०	४४६	सविशेषं परिज्ञेयं	३४६
सर्वेश्वराय भगवन्	४४४	सविशेषान् समासेन	४०६
सर्वे षष्ठस्वरारूढा	१४७	सव्यापसव्ये ये सूत्रे	२१२
सर्वेषां कर्मभूभागं	४९९	सशक्तिकस्य मन्त्रस्य	५९
सर्वेषां कामचारित्वं	२४८	स शब्दमूर्तिर्भगवा०	३९८
सर्वेषां नाभिपूर्वं तु	३२३	सशरं कार्मुकं शङ्खं	२५८

इलोकाधर्मनुक्रमणी

६४१

सशस्त्रमथ चादाय	४५९	सहस्रशिरसं देव०	५१८
सशिरः पाणियुग्मं तु	४१७	सहस्रांशुसहस्राम	१९३
सशिलं कुम्भवृद्धं तु	४८३	सहस्रावर्तिं कृत्वा	४१३
स शिष्यः पुत्रको नाम	४३३	सहागमादिसारं	२६३
सशिष्योऽथार्चनं कृयत्	३७५	सहाधर्मर्णेनैव	५२०
सषडङ्गेन तेनैव	३५८	सहाभिमतमिद्धिः स्यात्	१७८
सषडङ्गेन वीजेन	३४०	सहायैरप्रभत्तेस्तु	४५६
स पाङ्गुण्यमयो व्रह्मा	४०१	सहोपलेपनेनैव	१२२
ससङ्घानामसङ्घानां	२१४	सहोशीरगश्च वे मुदगाः	५२३
स सन्वेयः शिलानां च	४८९	मांसपश्चिकानां भोगानां	२७३
समहायस्तनस्तत्र	३५५	गानारं गंस्मरेत् साङ्गं	२०
ससारमं भरः पद्मः	३८०	गाक्षतानि कुशग्राणि	३५७
स स्थितः कर्मतत्त्वानि	३७२	गाक्षादमृतस्पस्तु	३२५
सह कान्तागणेनैव	२५८	गाग्रान् हरितदर्भाद्यच	३५३
सह गायत्रसाम्ना तु	५१५	साङ्गर्यमागमानां च	४३४
सह घण्टारवेणैव	४२३	साङ्गर्येण विना त्वेवं	५३६
सह घण्टारवै रम्यै०	८०	साङ्गराणि च पत्राणि	४२३
सह चैकायनीर्यस्तु	५३०	साङ्गराणि शारावाणि	३२१
सह चैकायनेनैविप्रैः	८८०	साङ्गं मन्तर्प्य विधिवत्	५१९
सह तत्त्वगणेनैव	४०७	साङ्गं गपरिवारं च	५३२
सह तेनैव वे निद्रा	११६	साङ्गेन विभुता कुर्यात्	३८९
सह पूर्वानेनैव	४७१	साङ्गेनामन्त्र्य भन्वेण	३४२
सह पूर्वोक्तदानेस्तु	१३३	सा चैव श्रवणोपेता	३४५
सह मूर्तिधरैः प्राग्वत्	५२५	साज्यधारी सुक्लुवी तु	२३२
सह मूर्तिधरैः सर्वै०	५३०	साज्यानि च तिलादीनि	३७६
सह मूर्तिधरैः प्राग्व०	५३२	सा तेगामङ्गभावं च	३४५
सह रोचनया योज्य	३४०	सात्त्विकेनोपहारेण	४८१
सह शक्तीशभेदस्तु	५४०	गादृश्यात् पद्मगुणत्वाच्च	३५
सह शक्त्या समाकृष्ण	३९४	गाधकाळये विशेषो	४३३
सह शिष्येण चात्मानं	१०५	साधकाभ्यर्थितः स्नायात्	२८३
सह संवेद्यजालेन	३९६	साधनाङ्गविहीनानां	३४४
सहस्रदीवितिपदं	४४८	साधारणाशनतुर्णी तु	४५३
सहस्रमेकमध्यं तद्	५८३	साधारणालग्नं पीठं	५३७
सहस्ररविमंकाशं	२९४	साधारणाप्यनाभार०	२६६
सहस्रशिरमं चेति	४८४	गाधिनं मम्कृताङ्गी	११०
		गाधिनेनाभ्यमानेन	२१०

साधिभूताधिदैवं च  
साधुमार्गे स्थितानां तु  
साधुसङ्गसमाकाङ्क्षी  
साध्यं विना न कुर्याद्वै  
सानुकम्पेन वा तेन  
सानुस्वारं च सर्वेषां  
सानुस्वारस्य बीजत्वं  
सान्तं षष्ठस्वरारूढः  
सान्तरं सम्पुटादस्मात्  
सान्तिमेन च षष्ठेन  
साब्जतोयाशयोपेतं  
सामग्रीविरहाद्योग्यं  
सामर्थ्यशक्तिसामान्यां  
सामर्थ्येन तु मन्त्रेण  
सामर्थ्येन विना यस्य  
सामलैराज्यसिक्तैस्तु  
सामाधीयं समाश्रित्य  
सामान्यं भुक्तिमुक्त्यर्थं  
सामान्यं वासुदेवाद्वां  
सामान्यं सर्वदोषाणां  
सामान्यमविनाशं  
सामान्यलक्षणं पश्चात्  
सामान्यलक्षणैर्मन्त्रै  
सामान्यविधिना चोक्तो  
सामान्यस्य तु वै यस्मां  
सामान्या सर्वमन्त्राणां  
साम्प्रतं चाणिमादीनां  
साम्प्रतं भगवद्भूक्त्या  
साम्भसा तेन वै सर्वं  
साम्भसा विष्टरेणैव  
सायामां भूतसंशुद्धि  
सायुधानथ दिक्षपालान्  
सारमादाय वै बुद्ध्या  
सार्थ्यपुष्पाक्षतकरः  
सार्थं सर्वादिकं दद्यात्

३६९	सार्धतालं परिज्ञेयं	४६३
२३१	सार्धाङ्गुलद्वयं दैर्घ्यात्	४६२
३२९	सार्धं चतुष्कलं वक्त्रं	४७०
३०९	सार्वं चानावृतस्यैव	४७६
२९०	सार्वं वै देवदेवस्य	५३१
१४७	सालतालमयं चैव	४५३
१७५	सावचूष्ण्याथ संशोष्या	४५५
१४४	सा सम्यक्प्रतिपन्नस्य	४६८
३०६	सा सा सवेष्टनाद् व्यासात्	४७१
४३९	सास्यं शाल्यङ्गुरचयं	५०९
५४५	सास्त्रं हि मन्त्रकलशां	३६२
५०२	सास्त्राः कौस्तुभूपूर्वा ये	३०४
४८५	सास्त्रेण मूलमन्त्रेण	३५८
३२६	सिहतेजोऽसहिष्णुनां	२५९
२७२	सिहृष्टिष्टकमन्त्रेण	३४६
३२५	सिहसूकरवाज्याख्यं	४७२
२३७	सितं विलेपनं पुष्पं	१५८
४५३	सितकृष्णेन वपुषा	५०
३८२	सितपक्षात् चैत्रस्य	१३३
३२६	सितरक्तं कृतान्ते तु	५७
२८४	सितरक्तं तु हेमाभं	३२२
५३३	सितरक्तादिभेदेन	५०३
५४३	सितरक्तादिरूपेण	१७२
४३२	सिताक्षमालं धर्मं तु	२३२
४७८	सिताज्यपुष्पसंयुक्तै	३२५
१४९	सितादयः कान्तयोऽथ	१८१
३७०	सितादिकेन वर्णेन	२७०
२८६	सितादिवर्णव्यक्तीनां	४५
३६०	सितानि पीठकोणानि	२१३
५२०	सितासितः समाकृष्यः	२२
२९३	सितासितौ चामरौ तु	८०
३०३	सितेतरविभागेन	१४२
४२७	सितेन शालिचूर्णेन	३३४
५२१	सितोष्णीषललाटं च	२४६
३५५	सितोष्णीषेण महता	३५६

सिद्धप्रतिष्ठितं बिम्बं	३४२	सुधाद्यस्त्रवरं पश्चात्	४१६
सिद्धये चापवर्गार्थ०	५३९	सुधाद्यैर्वर्णकैः पीतै०	५००
सिद्धये द्रुतहेमाभं	४१३	सुधाद्यैर्वर्णकैः शुद्धै०	८७
सिद्धये स्वात्मनश्चैव	४३३	सुधूपितेऽर्घ्यपुष्पाढ्ये	१४
सिद्धाः सुराङ्गनाश्चान्या	३४९	सुधौतमहतं चाथ	७६
सिद्धान्नं शालिबीजादि	४५६	सुनिश्चितं हितं चैत०	४६७
सिद्धामरनरादीनां	१५०	सुनेत्रैर्वेष्टितं कुर्या०	४९९
सिद्धार्थकयुतैस्तस्य	३७६	सुपर्णः पद्मरागाभो	२५०
सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु	५०४	सुपर्णसंस्थिताः सर्वा	५३९
सिद्धार्थकान् सिताद्यांस्तु	५०९	सुप्रबुद्धः परं धाम	१२४
सिद्धार्थकालसिस्नेह०	४५५	सुप्रसन्नेन मनसा	४२८
सिद्धार्थकैस्तथा पञ्च०	५०४	सुप्रसिद्धो महाबुद्धे	२७०
सिद्धार्थकोदकं चैव	७२	सुबद्धां सूर्यसोमाग्नि०	५४३
सिद्धावतारितादेवात्	१३९	सुमन्त्रेण तु तत्रापि	५२३
सिद्धिकृच्चाम्बरं स्वच्छं	४५७	सुमर्दितैस्तिलैः कृष्ण०	३३४
सिद्धिमोक्षप्रदं मन्त्रं	२९१	सुयन्त्रिते च क्षीराज्ये	५१५
सिद्धिमोक्षप्रदं शुद्धं	१२	सुयन्त्रितः संयतवाक्	४१९
सिद्धिसंसूचकाः सर्वे	४५७	सुरसिद्धमनुष्यादि०	२६१
सिद्धीनां वैभवीयानां	२९०	सुलक्षणे तु भूभागे	२००
सिद्धयथं सर्वमन्त्राणा०	४११	सुवर्णपरवर्णोत्थ०	४५८
सिद्धयथमन्यसिद्धीनां	३४१	सुव्यक्तलक्षणं मान्त्रं	४८
सिन्दूरपुञ्जवर्णाभा	२६७	सुव्यक्तावयवस्थित्या	२५३
सिन्दूरशिखराकार०	४९	सुशान्तं सर्वगं बुद्ध्वा	५१७
सीरं चक्रं च हस्तेऽस्य	४९	सुशुभेनाक्षसूत्रेण	२०४
सुकवाटार्गलोपेतं	३५३	सुशुभे पादुके चाथ	६९
सुगन्धपुष्पकलशं	५०९	सुश्लक्षणभूर्जपत्रे तु	३१६
सुगन्धफलपुष्पाद्य०	४२०	सुषुसिवृत्तेः पिण्डाख्य०	१७९
सुगन्धशालिचूर्णेन	३१५	सुसंस्कृतमसिद्धं वा	३८८
सुगन्धशालिसम्पूर्णं	७०	सुसमं तद्विद्याद्	३२७
सुगन्धेन फलै रक्तै०	१६०	सुसमं श्रीयुतं कुर्या०	४९०
सुगन्धेश्वन्दनाद्यैश्च	८७	सुसमाधारसंस्थं च	३१६
सुतृसिमथ नेत्रेण	३९२	सुसमिद्धं च निर्धूमं	३०७
सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं	३१६	सुसौन्दर्यं तु मानस्य	४६७
सुधाचन्दनलिप्तानि	३२१	सुस्तम्भद्वितयेनैव	३५२

सुस्थितं दृढपादं च  
सुस्वरामुपघण्टां च  
सुहृदे भूतले मग्ना  
सूकराननतुल्यं तु  
सूद्धमत्वेन च निशेषं  
सूक्ष्मव्यूहविभागेन  
सूतकार्ये न कर्तव्यं  
सूतेऽग्निकणवन्मन्त्रं  
सूत्रं पूर्वपरसमं  
सूत्रं प्राक्पदसंस्थं यत्  
सूत्रद्वयेन पत्राग्रं  
सूत्रभूतां न्यसेत् सम्यक्  
सूत्रात्मकं वपुः कृत्वा  
सूत्रेण लाङ्छनं कुर्यात्  
सूत्रेण सर्वबिम्बानां  
सूत्रेण सुसमे कुर्याद्  
सूत्रे मणिगणो यद्य०  
सूर्यकोटिप्रभाः सर्वे  
सूर्यकान्ताग्निसंकाश०  
सूर्यचक्रसमारूढं  
सूर्यमण्डलसंकाशं  
सूर्यसेमात्मकं चाग्ने०  
सूर्यसोमौ ततः कुर्याद्  
सृष्टये त्रितयं ह्येतत्  
सृष्टिसंहारयोगेन  
सेचनं चाम्भसा कुर्यात्  
सेचनं पञ्चगव्येन  
सेवन्ते साधकेन्द्रं तं  
सोऽचिरान्मन्त्रमूर्त्तें  
सोऽचिरान्मुक्तदोषस्तु  
सोऽचिरान्मोक्षनिष्ठं तु  
सोदकेन च भूताना०  
सोऽनज्ञः संस्मृतो मन्त्रो  
सोऽनन्तं फलमाप्नोति  
सोपकुम्भानि कुम्भानि

४९९	सोपवासेन कर्तव्यं	३४४
५४६	सोपवासैः क्रियापूर्वं	२७५
४५८	सोपानभूतं यत् क्रान्त्वा	४०४
४७८	सोऽपि यायात् परं स्थानं	१२२
१९८	सोऽस्मिन् संसारचक्रे	५३५
१७१	सौत्रं देहमथाकम्य	३९१
३११	सौत्रं प्रतिसरं चित्रं	२७३
५८	सौदामिनीं प्रभाशक्तिं	२६४
२१०	सौदामिनीवयप्रस्थै०	३८३
२१२	सौभाग्यशब्दमादाय	४४९
२१९	सौमनस्यं महोत्साह०	४५६
४८७	सौम्यं द्विरष्टवर्षं च	१९४
३७१	सौम्यमूर्तिचतुष्कं तु	४२
२१८	सौम्ययाम्याप्यपूर्वाशा	२०२
४६८	सौम्यरूपस्य च विभोः	४७०
४६८	सौम्यवारुण ईशाने	३७५
२७	स्कन्धमानविनिर्मुक्तं	४६५
४३	स्कन्धसूत्रसमस्थेन	१४५
२३२	स्कन्धोत्तमाङ्गं त्रिकलं	४६३
१९४	स्तनद्वयं समं कुर्यात्	४६४
२६४	स्तनाभ्यां त्रिकलौ पाश्वैर्य	४६४
९८	स्तम्बवत् कणिकामध्ये	३४
२९८	स्तरोपरि विकीर्यथ	१०३
५८	स्तरोध्वं तु निधायाथ	१०४
५८	स्तावकं वैष्णवानां च	४२१
३१८	स्तुतिपाठकपूर्वास्तु	५२१
४८०	स्तुतिसंमार्जनस्नान०	२८६
३४९	स्तुत्वा जितन्तमन्त्रेण	५१५
३४२	स्तोत्रमन्त्रैर्नमस्कारैः	८२
५४६	स्तोत्रैः कथानकैवद्यै०	१५६
२७०	स्त्रीभोगं चेतसः कृत्वा	३४९
४१५	स्थण्डिले कलशेऽनौ च	३६४
२०	स्थण्डिलेष्वथ कुण्डेषु	५०२
५४५	स्थलं विना न चैवाच्या	५३९
३१९	स्थलानां व्यवधानं तु	५००

स्थलानां संकटानां च  
 स्थलायां स्थिण्डलस्योद्धर्वे  
 स्थलेऽवतार्य मन्त्रेशः०  
 स्थले वा मण्डले बिस्त्रे  
 स्थानं धूमाकुलं दग्धं०  
 स्थानं सायुज्यतापूर्वं०  
 स्थानदृयं निविष्टस्य  
 स्थानभेदं समासाद्य  
 स्थानभेदस्थितं कृत्वा  
 स्थानेषु हृदयाद्येषु  
 स्थापितं भगवद्विष्वं  
 स्थालीं कमण्डलुं दर्वीं  
 स्थालीं चास्त्रेण संक्षात्य  
 स्थितं वैभवदीक्षायां  
 स्थितं सकर्णिकोधर्वच्च  
 स्थितमेकाधिकेनैव  
 स्थितस्तद्विजयेऽध्यक्षः  
 स्थितस्वनेकधा देवो  
 स्थिताः संकर्षणान्ता०  
 स्थिताङ्गिरदेशातो लक्ष्मी०  
 स्थितिमादाय विश्वेशः  
 स्थितेऽपि तन्मुहूर्ताशो  
 स्थितोऽन्तर्यामिभावेन  
 स्थितो यः स्तम्भभूतस्तु  
 स्थितो वैद्याधरीयेन  
 स्थित्यपेक्षावशेनैव  
 स्थित्यर्थं ब्रह्मनाडया वै  
 स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत्  
 स्थित्युत्पत्तिलयत्राण०  
 स्थित्वाग्रतो मन्त्रमूर्ते०  
 स्थित्वा लाङ्छनमन्त्रांस्तु  
 स्थिरं धराश्रितं भूयो  
 स्थूलरूपेण तमजं  
 स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन  
 स्तपनं पूज्यमन्त्रस्य

१००	स्नातो बद्धकचो मौनी	२९३
४८२	स्नातोऽनुलिप्तो मन्त्रेण	५२९
४५८	स्नातं स्नावस्त्रभृच्छिष्यं	३८२
३४४	स्नातः शुक्लाम्बरः स्नावी	४८०
३८१	स्नात्वाऽभ्यर्च्यं जगन्ताथं	१२१
५४४	स्नात्वाऽभ्यर्च्यं पितन्	३४५
१५८	स्नानकर्मशिलादीन्ना०	५०५
५०	स्नानकुम्भं विनान्येषां	७८
३७५	स्नानादिनाऽखिलेनैव	४३३
३०९	स्नानादृते न कुर्याद्वै	३११
१३८	स्नानाद्वयानात्तथा योगा०	३४४
३५५	स्नानाद्यं कर्मविष्वे तु	५०६
३६३	स्नानाद्यमखिलं ताभ्या०	५३३
३९७	स्नानाद्यमेकादश्यां वै	२७६
४८	स्नानान्ते ब्रह्मरङ्गोद्धर्वे	३१८
२५७	स्नानार्थं कल्पितेनैव	७३
२३७	स्नानार्थं खलिसंयुक्तं	७०
२५८	स्नानार्थमग्निकोणे तु	६३
३७४	स्नानालभन्वस्त्रस०	६६
२४७	स्नानासनं निवेद्याथ	६९
५१८	स्नानीयादग्रगेहाद्वा	४९८
५२९	स्नानैर्विलेपनैर्वस्त्रै०	३०५
१९२	स्नानोपभोगमन्त्रार्थं	५४९
१९४	स्नापयित्वाऽर्चयित्वा तु	५१३
२६२	स्नापयेत् कलशोनाथ	५३१
४९२	स्नापयेत् पाठयेद्विप्रान्	५१३
४६८	स्नापयेद्वन्धुमित्रादीन्	२८३
५६	स्नापितं पूजितं सम्यक्	४८६
१२८	स्पष्टमूर्ध्वेशिखं सैव	३०५
४८७	स्फटिकाद्रिप्रतीकाशं	२६३
५१७	स्फटिकामलसंकाशं	४५९
३७२	स्फटिकोपलवद्भावान्	२२८
२३१	स्फटिकं चाक्षसूत्रं च	३५४
५२८	स्फटिकेनाक्षसूत्रेण	८५
२८०	स्फटिकेनाक्षसूत्रेण	२४३

स्फुजौ कौपीनराजी च  
 स्फुटीकृतं मया देव  
 स्फुटो रेखामयः शङ्खः  
 स्फुरदूपां परिभ्रष्टां  
 स्फुलज्जकण्ठुल्येन  
 स्मरन् प्रभुं समाचम्य  
 स्मरेत् पत्राश्रितं सूर्यं  
 स्मरेत् पूर्वोदितं पद्मं  
 स्मरेत् सङ्कर्षणं देवं  
 स्मरेद्वक्षिणपाणो तु  
 स्मरेद्वामकरेष्वस्य  
 स्मर्तव्यं ध्यानकाले  
 स्मर्तव्यः स चतुर्धा वै  
 स्मर्तव्यः सूर्यसंकाशः  
 स्मर्तव्यः सोऽपि भगवा०  
 स्मर्तव्यः स्वपदस्थः स  
 स्मर्तव्यास्तु भुजेष्वस्य  
 स्मर्य ऊर्ध्वे सरशशायी  
 स्मृत्वाऽथ मुक्तं तन्मात्रै०  
 स्मृत्वाऽथ शिष्यचैतन्य०  
 स्मृत्वा नीलाम्बुजाक्रान्तं  
 स्मृत्वाज्ञुजां समादाय  
 स्मृत्वा परात्मना तं च  
 स्मृत्वा शक्त्यात्मनाऽन्नौ तु  
 स्मृत्वा संपूजनं कुर्या०  
 स्मृत्वा ह्यभेदभावेन  
 स्मृत्वैवं मूलमन्त्रं तु  
 स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं  
 स्याद् यद्यकादशी पूर्णा  
 स्यक्वन्दनार्घ्यधूपस्तु  
 स्यगदामसूत्रसंबद्ध०  
 स्यग्धूपं मधुपकं च  
 स्यग्धूपं मधुपकं च  
 स्यग्वरं धैर्यपदीपस्तु  
 स्यग्वरैर्विविधैर्मल्यैः

४६५	स्यग्वस्त्राघर्णनुलेपाद्य०	३३५
६८	स्यवन्तममृतं त्वेवं	३१८
३५	सुकसुवादीनि भाण्डानि	८७
३६९	सुकसुवावथं चादाय	९४
४९	सुकसुवौ च चतुर्षकं	९१
१२५	सुकसुवौ चापि कलशौ	२२९
२९९	सुकसुवौ योगपटुं च	४१४
११९	सुड्मूलफलपत्रैस्तु	२३२
५०	सुवमाज्येन संपूर्यं	३९३
३६६	सुवमादाय संतर्प्यं	३९१
२३२	स्वकमन्तर्गतं तेज०	२१
२६५	स्वकर्मणा यथे त्वर्ष०	१३१
२४३	स्वकर्मनिरतो नित्यं	२९२
४२६	स्वकाच्छान्ततराद् ब्रह्म०	२३१
२४५	स्वकारणं विना सर्व०	१८२
१८२	स्वकार्यसूचनान्न्यूनं	४७१
२२९	स्वकीया जातयश्चान्ते	२९२
१९८	स्वकुण्डे ह्ववनं कुर्या०	५०२
२९४	स्वगृहद्वारदेशाच्च	४५६
३९२	स्वगृहादौ च सर्वत्र	५४०
३६८	स्वच्छस्फटिकवर्णभिं	३२४
३०७	स्वतेजोनिजसामर्थ्य०	२५३
२०८	स्वदिक्ष्वन्यान् यथावस्थान्	४८६
३९६	स्वदीपालङ्कृतं कृत्वा	३३२
१५५	स्वदेहेजस्सम्भूत०	४३
३७४	स्वदेहाद्रेवेकेनाथ	३९३
५१८	स्वदैर्घ्यादर्घविस्तीर्णं	४९९
४९८	स्वनामपदसंयुक्तो	३७५
१६६	स्वनाम्ना प्रणवाद्येन	२९९
३४५	स्वनाम्ना प्रणवेनैव	५२०
७९	स्वपक्षमानाद् द्विगुणं	४७४
९१	स्वपदं च स्वसंस्कारं	४३५
९९	स्वपदं भोगखिन्नस्य	१७९
३४३	स्वपदस्थानभेदेन	५८
५०	स्वपदात् प्राप्वदुत्थाप्य	३५३

स्वपाणिव्यजनेनाथ	३२९	स्वरूपमजहद्धयायेन	३४८
स्वप्नानि चान्यनिष्ठानि	३८१	स्वरूपमलं भूयः	५१८
स्वप्रकाशस्त्वनुपमो	२१	स्वरूपभेदमाप्नोति	२६१
स्वप्रभानिकरेणैव	२३९	स्वरूपापादनार्थं तु	३०९
स्वबुद्धयानुगतं कृत्वा	३७१	स्वरूपेण यथावस्थ०	४०८
स्वभावप्रच्युतिर्बीजं	१७७	स्वरूपेण हि मन्त्रत्व०	१७४
स्वभूमौ वाममार्गेण	३८७	स्वरैणकेन युक्तस्य	१७५
स्वमणिव्यञ्जितेनैव	२२४	स्वरैनियोजयेद्विद्धि	१४५
स्वमन्त्रयुक्ता चान्येषा०	३०६	स्वरोत्थं व्यञ्जनोत्थं वा	१७४
स्वमन्त्रसन्निधि तत्र	१३८	स्वर्णादिनार्थिनः शक्त्या	५०५
स्वमन्त्रादमृतैधेना०	२९४	स्वलङ्घकातं सुरूपां च	८३
स्वमन्त्रेणाम्बरस्थस्य	१९६	स्वल्पमध्योत्तमायेन	४३२
स्वमन्त्रेणार्चनात् स्वत्वं	३५२	स्ववक्त्रद्वयमात्रेण	२५९
स्वमरीचिगणेनैव	२०३	स्वविवर्तेन बीजस्य	१७६
स्वमरीचिगणेनैव	३६६	स्वव्यापारवशेनापि	४०१
स्वमाचारं स्वकां जार्ति	४३५	स्वशक्तिपरिपूर्णस्य	३९३
स्वमायाजलमध्यस्थ०	२४०	स्वशक्तिभिरमूर्तभिं	२३३
स्वमुद्रालङ्घकृतश्चापि	४३५	स्वशक्तिवर्णदण्डस्थं	५२४
स्वमूर्तिकुम्भान्मन्त्रेण	५१९	स्वशक्तिविभवाधार०	२३४
स्वमूर्तिभिरमूर्तभिं०	२९	स्वशक्तिभावितं कृत्वा	३७४
स्वमूर्तेस्तर्पणार्थं च	९७	स्वशरीरमथासाद्य	३९१
स्वमूर्त्याराधनायेन	१३२	स्वसामर्थ्यं स्वशक्त्या नत्	३७४
स्वयंकृतानां विम्बानां	५३६	स्वस्तिकाद्यैर्भवत्येवं	२५४
स्वयं नानास्वरूपेण	५३६	स्वस्तिकेनोपविष्टाश्चा०	२६०
स्वयं वस्त्वनुसन्धाय	५०३	स्वस्त्यस्तु ते युतेनाथ	३३१
स्वयं शशाङ्कः श्रीवत्सो	२६६	स्वस्थानं यज्ञभूमेवं	५०५
स्वयं स्वोत्थं विभजति	२४५	स्वस्थानमणिमादीनां	४००
स्वयमभ्यर्थयेत् पश्चात्	३६९	स्वस्थानेषु स्वमन्त्रेभ्य०	३७१
स्वयमाद्यन्तसंरुद्धं	५१६	स्वस्वाङ्गुलियोनैव	२९५
स्वयमेव सुबुद्धया यत्	१०६	स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते	१९३
स्वयमेवानुरूपेण	५२९	स्वां शक्तिमुपसंहृत्य	३७३
स्वयमेवोपकाराय	३४	स्वातन्त्र्यात् परिपूर्णत्वात्	१८२
स्वरव्यञ्जनसंयोगाद्	१७४	स्वात्मना चातुरात्मीय०	११७
स्वरशिमखचितं ध्यायेऽ	२६४	स्वात्मन्युपरते यस्मिन्	१४
स्वरशिममण्डलान्तस्थं	२६३	स्वानुष्ठानं हि वै यस्मा०	३११

## सभाष्या सात्वतसंहिता

स्वायेत् स्वप्नलाभाय  
 स्वाभिः स्वाभिरसंख्यं तु  
 स्वामिस्तदनु वै दद्याद्  
 स्वायामदीर्घं तत्पक्षं०  
 स्वार्थंतो वा परार्थेन  
 स्वाश्रमे बन्धुवर्गस्य  
 स्वाहान्तं भोगसिद्ध्यथं  
 स्वाहान्तमन्त्रमुच्चार्यं  
 स्वाहान्तः प्रणवाद्यश्च  
 स्विन्नानि सप्तवीजानि  
 स्वेन स्वेन तु पिण्डेन  
 स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण  
 स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण  
 स्वेनाध्यात्मगुणेनैव  
 स्वोत्यं सन्तिःसृतं ब्रह्म  
 स्वोत्येन रश्मजालेन  
 स्वोन्नत्यर्थेनोपपीठं  
 हंसः शुको भरद्वाजः  
 हंसमूर्तिमथात्मानं  
 हकारं च सकारस्थं  
 हनुदयस्य वै मातं  
 हन्यात् सिद्धार्थकौ०  
 हरितालमुशीरं च  
 हर्तु नो युज्यते येन  
 हलोत्था वृषशृङ्गोत्था  
 हवनं विधिवत् कार्यं  
 हवनात्तन्मयत्वाच्च  
 हवनान्तं क्रियाकाण्डं  
 हवनान्तं च निशेषं  
 हवर्णकर्णिकायां तु  
 हविश्शेषेण संयुक्तं  
 हस्तयोर्क्षिग्रहे साङ्गं  
 हारनूपुरवस्त्रस्त्रक०  
 हार्दिनेरूधर्घर्गायां तु  
 हितार्थं च प्रपन्नानां

३७६	हितार्थं भवभीतानां	११
४८२	हितार्थं भवभीतानां	२९१
४८८	हीनमधाङ्गुलेनैव	४६४
४७४	हीनमेकाङ्गुलेनैव	४६५
३३७	हुंफडन्तं च शिरसि	३७१
५४०	हुत्वा चाभिमत्प्रासै०	११२
३९२	हुत्वा ज्ञानपदेनैव	३१०
४१३	हुत्वाऽथ सर्वबीजानि	३२८
१४८	हुत्वाऽप्यन्नाहुतीनां च	१००
३१८	हुत्वा यथाविधानेन	३३४
४४१	हुत्वा शताष्टसंख्यं तु	५१०
१४९	हुत्वाऽस्त्रमन्त्रजप्तेन	३७१
२०७	हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं	३२४
३९१	हृत्पुण्डरीकमध्ये तु	३५६
२४१	हृत्पुण्डरीकमध्येऽथ	३४९
२६३	हृत्स्थो नियतिदण्डेन	२४१
३५२	हृदयङ्गमसंज्ञाना०	२७३
४५७	हृदादयोऽस्त्रपर्यन्ता	२९४
२२९	हृदादिनेत्रपर्यन्त०	१४३
१४५	हृदादि यद्वा दिक्षेषु	५११
४७०	हृदाद्यं नेत्रपर्यन्त०	२९५
५२१	हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तं	३३८
५२३	हृदाद्यन्तनिरुद्धेन	५३३
२०७	हृदाद्यावतितैः षडभिं०	५३०
५०७	हृदावगुण्ठिततनुं	३७६
४८२	हृदावतार्याभिधार्य	३६४
१७८	हृदा शयनगं कृत्वा	५१६
२७६	हृदास्त्रपरिजप्तेन	५२७
५२९	हृदि वेद्यां बहिर्मूर्तौ	२७१
३३	हृद्यासयोर्ललाटे च	१०३
१३५	हृद्याः सुगन्धाः कर्मण्या	४२२
३५७	हृद्यैर्मृष्टैः स्थरैर्मेध्यै०	३०५
४७२	हृन्मध्ये गगने भूमौ	२२५
२५	हृन्मन्त्रपूजितैर्भूयः	५३२
७	हृन्मन्त्रसंपृट्टस्थं च	३७१

हृन्मन्त्रेण चतुर्णा॒ तु	३५८	हे॒यं चानर्थमिद्वीना०	४३५
हृन्मन्त्रेण तदूर्ध्वे॑ तु	४९१	हे॒यः शेषमुपादेयं	३९९
हृन्मन्त्रेण तु सास्त्रैण	४५५	है॒मं तदूर्ध्वे॑ कमलं	५२५
हृषीकेशश्च तत्पत्नी	१६८	हो॒तव्यं कर्मसिद्ध्यर्थं	९४
हेतुनानेन भगवान्	२५९	हो॒तव्यं प्रणवेनैव	५२०
हे॒वराधिपते नाथ	३९४	हो॒तव्यं त्राह्यणीः गम्यक्	४८५
हेमपूर्वाणि रत्नानि	३५७	हो॒तव्यमस्यवामीयं	४८५
हेमरत्नोदकेनाथ	१५७	हो॒मं तलिद्वये॑ कृत्वा	३६४
हेमरत्नौषधिस्नानैः	३२८	हो॒मान्तमविलं कृत्वा	१२६
हेमरत्नौषधीवृक्ष०	३१५	हो॒मान्तमचंनं कृत्वा	१३२
हेमादिद्रव्यजनिते	६०	हो॒मान्तं कलशस्थस्य	३१७
हेमादिधातवो रत्न०	३८०	हो॒मान्तविधानेषु	५४१
हेमादिधातुनिचयं	३४८	हो॒मोपकरणं सर्वं	९१
हेमादिनिमितं कुर्यात्	१४९	हो॒दाहल्मीकशिखरात्	५०७
हेमाद्युत्थानि पात्राणि	३५४	हो॒स्वदीर्घविभागेन	१४
हेमाब्जभूतं तद्वचात्वा	३६८	हो॒सादङ्गुलयुग्मस्य	४९८
हेमालिपाण्डराभं च	२६४		

■

## द्वितीयं परिशिष्टम्

### भाष्यगतग्रन्थ-ग्रन्थकारनामानुक्रमणी

अनिस्तद्धसंहिता	६७-६८	कपिङ्गलसंहिता	७०
अमर(कोशः) ७१, ८८, १३६-१३७, २४०, २४९, ३५८, ४२१, ५०७-५०८		क्रियादीपः	१०८
अष्टाङ्गहृदयम्	३३७	गर्गकुलीनरामानुजः	१८
अहिर्बृंध्यसंहिता १२८, १५२ १८५-१८६, १८९		गरुडपुराणम्	१६७
आगमप्रामाण्यम्	३१३	गुणरत्नकोशव्याख्यानम्	१८
आचार्यहृदयम्	१८७	चन्द्रिका	१६६
आदित्यपुराणम्	३४५	छान्दोग्योपनिषद्	१२०, २९६
आपस्तम्बधर्मसूत्रम्	१३१	जयाख्यसंहिता ७-८, १२, १४-१५, २२- २३, २५, ३२, ६४, ६६, ७०, ७८, ८५-८७, ८९, ९२-९४, ९८, १०७, ११५, १२१, १५७, १६२, १७२, १७५, १९३, २०५, २१९-	
ईश्वर(संहिता)तन्त्रम् ११-१२, २३-२४, ३२, ६५, ६७, ७९-८०, ८३-८६, ८९, ९२-९३, १०७, १४९, १५४, १९१, २२९, २५२, २७६, २७८, ३००, ३०६, ३०८, ३५४, ३५८, ३६३, ३८२-३८३, ३८६, ४०६, ४११, ४७९, ४८०		२२०, २५६, २६२, २८०-२८१, २९६-२९७, २९९, ३०१-३०२, ३०६, ३०८, ३१३, ३६१-३६३, ३७८, ३८३, ४०५, ४१०-४१२, ४१६, ४२२	
ईश्वरपारमेश्वरसंहिते २०-२१, २३-२४, ३०, ५९, ६१-६३, ६६, ६९, ७१- ७५, ७७-८४, ८७, ८९-९०, ९२, ९४-९९, १०२, १०७, ११४-११५, १५६-१५७, १६२, १८६, २४८, २५०-२५२, २६२, २७५-२७८, २८२, २९६, ३०२, ३५४, ३६०, ३६२, ४०९, ४३४, ४८०, ५०३, ५०५-५०६, ५०९-५१०, ५१२, ५२७-५२९, ५३२, ५३४-५३५, ५४३		जैमिनिः	३१०
ईश्वरसंहिताव्याख्यानम्	१०८, २४८	तत्त्वत्रयव्याख्यानम् १९, १७३, १८६-१८८	
एकायनश्रुतिः	१, ११-१२	तैत्तिरीयसंहिता	५२६
कठोपनिषद्	५	तैत्तिरीयोपनिषद्	१९
		दक्षः	११८
		दशनिर्णयः	१६६
		दिव्यप्रबन्धः	४२१
		धातुपाठः	९१, २३८, ४९९
		निगमान्तदेशिकः	१३९
		निघण्डुः (वैद्यकशास्त्रम्)	५०७-५०८
		नित्यग्रन्थः	१०८, ११३, ११५
		नित्यव्याख्यानम्	२९३
		नित्याराधनप्रकरणम्	१४१, ३८५
		नित्याचर्चनकारिका	१४३

तसिंह:	१, १०५	२३९, २४१-२४७, २५६, ३१२,
नघण्टुका:	३५८	४७९-४८२, ४८५
पराशरः (विष्णुपुराणम्)	११८	प्रपन्नामृतम्
पराशरभट्टारकः	१०, २२६	प्रयोगद्वितिरत्नावली
पञ्चरात्ररक्षा	२२, ८५, १११, ११३,	बकुलाभरणः
	११५-११८, १२१, २९६, ३१३,	ब्रह्मसूक्तम्
	३८५, ४२२-४२३, ४२५, ४३४	ब्रह्मसूत्रम्
पाणिनिः	४२४	ब्रह्माण्डपुराणम्
पाद्मसंहिता	२१, ६२, ६४-६८, ७१, ७४,	ब्रह्मोपनिषत्
	८२, १०१, १११, ११४-११५,	भगवद्गीता
	१२५, १२७, १५३-१५५, ३८३-	भागवतपुराणम्
	३८४, ३८६, ३८८, ४०६, ४०९,	४२७
	४११-४१२	भारद्वाजसंहिता
पारमेश्वरसंहिता	२२, २९-३०, ६२, ६८-	३८६
	७१, ७५-७६, ७८-७९ ८१-८३,	भाष्यकारः
	८५-८६, ९०, ९२, ९४, ९५-१००,	१०८, ११३, ११५, १२०
	१०३-१०६, १०८, ११०-१११,	भोजराजः
	११४, ११६, १२१, १३८, १४४,	२०९
	१४६, १४८, १५१-१५२, १५७,	मनुः
	१९१, २०६, २०८-२०९, २१७-	११४, ११६, १२०
	२१९, २५६, २६६, २७५-२७६,	महाभारतम्
	२७८, २९३-२९५, २९७, २९९,	२९, ३८५-३८६
	३०२, ३१२, ३१५, ३५४, ३५७-	महोपनिषद्
	३५९, ३८४, ४२२, ४८०-४८५,	७४-७५
	४९८, ५०२, ५०७, ५२०, ५२६	मुण्डकोपनिषद्
पारमेश्वरप्रयोगः	७१, ९१, ९७-१००,	५, १३९
	२६५, ३०२	मुनिभावप्रकाशिका
पारमेश्वरव्याख्यानम्	२१, ६२, ७७, ९०-	१९०
	९२, १००, १०९, ११६, १४७,	याज्ञवल्क्यः
	१९१, २४८, २५०, २६६, २७४,	११९
	३०२, ३७७, ३५९, ४८०-४८१,	योगानन्दः
	४८४, ४८६, ४९६, ५००-५०२,	१
	५०७, ५११, ५२०, ५२६-५२८	रज्जुराजस्तवव्याख्यानम्
पौष्करसंहिता	१२, ८९, १०९, ११३,	१८६
	१५२, १५४, १८५, १८८-१८९,	लक्ष्मीतन्त्रम्
	२२६-२२७, २२९-२३५, २३७-	८-१०, १३-१४, १७-१९,
		२६-२९, ३१-३४, ४२, ४७-४८,
		५६-५७, ६२, ६५, ६७, ६९, ७१-
		७२, ७५, ७७-८३, ८५-८६, ८९,
		९९, १०१-१०२, १११-११२, ११४,
		१२१, १२७, १४५, १७२-१७८,
		१८०-१८२, १८५, १८९-१९१,
		२२५, २३३, २३६, २४०-२४२,
		२४५, २४७, २५५-२५६, २६२,
		२६८-२६९, २८१, २९७, २९९,
		३७८, ३८३, ३९९, ४०२-४०५,
		४१६

वज्जिवशेशवरः	१४०-१४१, १४३	७१, ७६-७७, ८०-८२, ८५, ८८-
वरदराजस्तवव्याख्यानम्	१८	९२, ९८-१०१, १०८-१०९, ११३,
विष्णुचित्तीयम्	२३३	११६-११७, १२५, १३६, १३८,
विष्णुपुराणम् ११८, १८६, २२४, २३०, २३२-२३३, २४०, ३३९		१४१-१४४, १४६, १४९-१५०,
विष्वक्सेनसंहिता	१८६-१८८	१५४, १५७, १५७, १६२, १६८,
वेदान्ताचार्यः	११५	१८०, १८२-१८३, १८५-१८९,
वैजयन्ती (कोशः) २४, ६२, १५०, ३५८, ५०५		१९१, १९३-१९४, १९६, २००-
वैद्यकग्रन्थः	७०, ३५८, ५०८	२०१, २०६, २०८, २१७, २१९,
शठकोपः	४२१	२२३, २२५-२२७, २३४, २४८-
शाण्डिल्यः	११८, २८६, ४२१	२५१, २५५-२५७, २६०, २६२-
श्रीभाष्यम्	१४५	२६३, २६६-२६८, २७०, २७३,
श्रीभाष्यकारः १२०, २९६, ३८५, ३८७		२७६, २७८, २९१, २९६, २९९,
श्रुतिः	११३, १२०, १३९	३०२, ३०५-३०८, ३११-३१३,
संहितान्तरम्	२९६, ४२३, ५१२	३१५, ३२५, ३२८, ३३८, ३५५,
सच्चरित्ररक्षा ७५, १०३-१०४, १०९, ११२, १२४, १३५, १३९-१४०, २०९, ३८३		३५८, ३६१-३६३, ३७३, ३८२-
समाराधनग्रन्थः	२९६	३८३, ३८८, ३९४-३९७, ४०३,
सम्प्रदायप्रदीपिका	१०८	४०५, ४०८, ४१०-४१४, ४२६,
सहस्रनामभाष्यम् ९, १८६-१८७, १९०, १९४, २२५-२२७, २३१, २३६		४३४, ४३६, ४४१, ४७९-४८०,
सात्वत(संहिता)तन्त्रम् (शास्त्रम्) १, २-३, ५-६, ८-१२, १९, २१-२३, २५, २९-३४, ४३, ४८, ५९, ६२-		४९४, ४९९, ५०१, ५०७, ५११,
		५१६, ५२०, ५२७-५२८, ५३०-
		५३१, ५३४, ५४१
		सात्वतामृतम् ७०, ९७, १४३, १४९,
		१५७, ३६४, ३७३, ४०५, ४०८,
		४६०, ४८०
		सिद्धान्तचन्द्रिका ७४, ३८३, ३८६, ४०५
		१००, १३९

## तृतीयं परिशिष्टम्

### अन्निर्दिष्टस्थलानि भाष्योऽनुत्तवचनानि

१. नमस्तस्मै सकलविधकैङ्ग्रीणि करवाणि मदर्थं न करवाणि । (पृ० १०)
२. सर्वत्र विदितात्मनाम् । (पृ० २०)
३. दिव्याप्यमन्त्रवायव्यभौमतैजसमानमैः ।  
एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा कृतशुद्धिर्यथावलम् ॥ (पृ० २२)
४. गन्धैः स्त्रिभरलङ्घारैः सोत्तरीर्येत्व भूषितः ।  
कर्णभूषणहारादैः कटकैरञ्जुलीयकैः ॥ (पृ० २३)
५. नादेवो देवमर्चयेत् । (पृ० २५)
६. अच्युलिभनपुर्पैश्च धूपरभ्यन्तरं वै ततः । (पृ० ८५)  
प्राङ्मिवेदनकाले तु चतुर्था संविभज्य तम् ।  
प्रापणं मधुपर्क्षियमन्यच्चाभ्यवहारिनम् ॥  
तेभ्यो दद्यादेकभागमध्यादिकपुरस्मरम् । (पृ० ८६)  
मात्रां चतुर्विधां चापि आचार्याय प्रदापयेत् । (पृ० ८६)
७. कुकुटाण्डप्रमाणं तु ग्रास इत्यभिधीयते । (पृ० १००)
८. ये यजन्ति पितृत् देवान् गुह्यनपि तथैव च ।  
स्थापितस्त्वनुयागार्थं प्रापणांशः पुरा तु यः ॥  
तस्मात् किञ्चित् समादाय संविभागं गमानरेत् ।  
पितृणां चैव वन्धूनामाश्रितानां तथैव च ॥  
संविभागावशिष्टेन स्वानुयागं गमानरेत् ।  
यद्वा स्थाल्यवशिष्टं च किञ्चिददादाय पात्रगम् ॥  
प्राग्वन्निवेद्य देवाय तेन पित्र्यं गमानरेत् ।  
ये विश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्णवाश्च ते ॥  
यलभ्यं भगवद्गुक्तं तस्मादादाय चांशकम् ।

१. पा० सं० ३।२६-२७
२. “देवो भूत्वा यजेद् देवं नादेवो देवमर्चयेत्” (३।१।१८) एति शास्त्रमञ्जुमतन्त्रे दृश्यते । अन्यत्रापि सुबहुशो दृश्यतेऽयं इलोकाधः ।
३. क्रोऽपि प्रश्नते पारमेश्वरसंहितायामिनानि श्रीष्यति वचनानि नोपलग्नानि ।
४. याज्ञवलक्ष्यस्मृतिव्याख्यायां मिताक्षरायाम् (३।३।१८), ब्रह्मदापि (परायास्मृती, १०।३) च दृश्यन्ते समानार्थकानि वचनानि, एतदानुपूर्वोक्तं वचनं तु न क्वापि दृश्यम् ।
५. इमान्यपि वचनानि पारमेश्वरसंहितायां न क्वापि दृश्यन्ते, क्वापि मक्षविश्वकाशायां (पृ० १२३-१२८) वेदान्तदेशिकनापि तानि पारमेश्वरसंहितावचनाख्येन समृतानि ।

- तेन कृत्वा वैश्वदेवमवशिष्टांशकेन तु ॥  
 कुर्युः प्राणादियात्रां तु विधानेन द्विजोत्तम । (पृ० १०४)
- ९.१परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत् । (पृ० १०७)
- १०.३केशवाचार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते ।  
 तस्यानन्न नैव भोक्तव्यमभव्येण समं हि तत् ॥ (पृ० १०७)
- ११.३स्वार्थस्यापि परार्थस्य पूजायामधिकारिणः । (पृ० १०७)
- १२.ॅसकृत् ते नमः, द्विस्ते नमः । (पृ० ११३)
- १३.ॄसायंप्रातद्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् । (पृ० ४२२)  
 नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ (पृ० ११४)
- १४.ॅएवमाचमनाशक्तावलाभे सलिलस्य च ।  
 पूर्वोक्तेषु निमित्तेषु दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥ (पृ० ११६)
- १५.ॄवृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् । (पृ० ११९)
- १६.ॄपृथिव्यां यानि तीर्थानि तेषु स्नातेषु यत्कलम् ।  
 विष्णोः पादोदकं मूर्धिन धारयेत् सर्वमानुयात् ॥  
 मानवो यस्तु गज्ञायां स्नार्न पानं समाचरेत् ।  
 तस्य यादृग् भवेत् पुण्यं तादृक् पादाम्बुधारणात् ॥  
 त्रिषु लोकेषु यत्तीर्थं प्रयागं पुष्करादिकम् ।  
 तत्पादयुम्ये कृष्णस्य तत्र तिष्ठति नित्यशः ॥ (पृ० १२४)
- १७.ॄपादोदकस्य माहात्म्यं जानात्येव हि शङ्खरः ।
- 
१. ई० सं० २१५०८  
 २. वीरभित्रोदये पूजाप्रकाशो (पृ० ७, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९११) स्कन्दपुराणीयवचनत्वेनोद्भृतमेतत् ।  
 ३. ई० सं० २१५११  
 ४. तैत्तिरीयारण्यके, ४।२।१  
 ५. मनुस्मृतौ नोपलभ्यते वचनमेतत् । महाभारते द्वयोः स्थलयोः (१२।१८।१०; १३।१४।१ १४ भाण्डारकरसंस्करणम्) स्वल्पेन पाठमेदेन सह दृश्यते श्लोकोऽयम् ।  
 ६. स्थलनिर्देशः कर्तुं न पार्थते, किन्तु आचारमयूरे (पृ० २४ गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१५) एतद्वारावर्थकं वचनमेवमुद्भृतं दृश्यते — “आचारासंभवे मार्कण्डेयपुराणे—” देवतानां पितृणां च ऋषीणां चैव यत्नतः । कुर्वितालम्भनं वापि दक्षिणश्रवणस्य च ॥” इति ।  
 ७. याज्ञवल्क्यस्मृतौ बृहद्योगियाज्ञवल्क्यादिषु च ग्रन्थेषु याज्ञवल्क्यनामाङ्ग्लतेषु नोपलभ्यते वचनमेतत् । वेदान्तदेशिकेन तु पाञ्चरात्ररक्षायाम् (पृ० ७६) तथैव स्मृतमेतत् । दक्षस्मृतौ (७।१५) चैतत् समुपलभ्यते ।  
 ८. ब्रह्माण्डपुराणश्लोकसूचीषु न दृश्यन्ते श्लोका इमे । वेदान्तदेशिकेन तु सच्चरित्ररक्षायाम् (पृ० ११०) दर्शितास्तत्रत्याः ।  
 ९. श्रीमद्भागवतपुराणे न दृश्यते श्लोकाविमौ । वेदान्तदेशिकेन तु सच्चरित्ररक्षायाम् (पृ० ११०) दर्शितां तत्रत्यौ ।

- विष्णुपादोद्भवां गङ्गां शिरसा धारयन् हि सः ॥  
 प्रायश्चित्तमनुप्राप्तः कृच्छ्रं वाप्यघमर्षणम् ।  
 विष्णुपादोदकं पीत्वा शुद्धिमाप्नोति तत्क्षणात् ॥ (पृ० १२५)
१८. लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।  
 अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥ (पृ० १३९)
१९. <sup>१</sup>नारी खल्वननुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा ।  
 निष्फलं तु भवेत्स्या यत्करोति व्रतादिकम् ॥  
 अनापृच्छ्य तु भर्तारमुपोस्य व्रतमाचरेत् ।  
 आयुष्यं हरते भर्तुर्या नारी नरकं व्रजेत् ॥  
 नास्ति स्त्रीणां पृथक् कर्म न व्रतं नाप्युपोषणम् ।  
 पतिशुश्रूषणं तासां तेन स्वर्गो विधीयते ॥ (पृ० १६७)
२०. अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणश्च ततः परम् ।  
 बलभद्रस्तृतीयस्तु कलौ कश्चिद् भविष्यति ॥ (पृ० १८९)
२१. <sup>२</sup>करशुद्धिसमोपेतम् (पृ० २०६) ।
२२. <sup>३</sup>स्वप्राशनार्थमेकांशं स्थापयित्वा निरीक्षितम् ।  
 शेषाशनाभिधानस्य गणेशस्याच्चनाय वै ॥  
 भागमेकं तु संस्थाप्य भागेनान्येन तोषयेत् ।  
 ब्राह्मणादीन् शुभाचारान् भक्तान् ग्रामाधिवासिनः ॥ (पृ० २०८)
२३. <sup>४</sup>त्रिरित्येवं त्रयो वेदाः कीर्तिता मुनिसत्तमैः ।  
 क्रमसे तांस्तथा सर्वान् त्रिविक्रम इतीरितः ॥ (पृ० २२७)
२४. वैखरी शब्दनिष्पत्तिमध्यमा बुद्धिसंयुता ।  
 द्योतितार्थी च पश्यन्ती सूक्ष्मा वाग्नपायिनी ॥ (पृ० २४६)
२५. कृष्णरूपाण्यसंख्यानि (पृ० २४८) ।
२६. न्यासेन देवमन्त्राणां देवतादात्म्यभावनात् ।  
 अप्राकृताङ्गकरणात् पूजामहैति साधकः ॥ (पृ० २९६)
२७. देवतारूपमात्मानमर्चयेददर्घधूपकैः ।  
 धूपावसानिकैर्भैर्गैर्ध्यात्वा नारायणं हृदि ॥ (पृ० २९६)

- 
१. गरुडपुराणे न दृश्यन्ते श्लोका इमे । अत्रत्यस्तृतीयः श्लोको मनुस्मृतौ (५११५५) दृश्यते ।  
 २. पारमेश्वरे करशुद्धिसमोपेतमित्यादिभिरष्टभिः श्लोकैर्जलमध्याचंनक्रमो विस्तरेणोक्तोऽन्वेषणीयः ।  
 ३. कृतेष्पि प्रयत्ने श्लोकाविमौ पारमेश्वरसंहितायां नोपलब्धौ ।  
 ४. श्रीविष्णुसहस्रनामभाष्ये पराशरभट्टेन त्रिविक्रमशब्दव्याख्यानावसरे (५३३) समुद्रूतमेतद् वचनम् ।

२८. ध्यावन्त छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् ।  
छिन्ने नाले तनः पश्चात् सूतकं तु विधीयते ॥ (पृ० ३१०)
२९. अत्र दद्यात् सुवर्णं वा भूमि गां तुरगं रथम् ।  
छत्रं छां वस्त्रमालये शयनं वासनं गृहम् ॥  
धान्यं गुडं तिलं सर्पिरन्यद्वास्ति गृहे वसु ।  
आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ॥  
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि । (पृ० ३११)
३०. त्रिव्यन्तज्ञानसम्पन्नान् यथोक्ताचारनिष्ठितान् ।  
समाहृयाद्यगन्धादौः समभ्यर्च्य यथाक्रमम् ॥  
भगवच्छेषमादाय न्यस्तमाहृत्य मन्त्रपम् ।  
प्राङ्मन्त्रेदेवकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ॥  
प्रापणं मधुपकर्द्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ।  
तेऽन्यो दद्यादेकभागमध्योदकपुरस्सरम् ॥ (पृ० ३१२)
३१. सुदर्शनं धारयित्वा वह्नितप्तं द्विजोत्तमः ।  
उपर्नीय विधानेन पश्चात् कर्मसु योजयेत् ॥ (पृ० ३८४)
३२. भुजे चक्रं द्विजातीनां शिरश्चक्रं तु दैवतम् ।  
अचक्रद्विजदेवानां पूजा दानं च निषफलम् ॥ (पृ० ३८४)
३३. विष्णवागमादितन्त्रेषु दीक्षितानां विधीयते ।  
शङ्खचक्रगदापूर्वेरङ्घनं नान्यदेहिनाम् ॥ (पृ० ३८५)
३४. अवश्यं वैष्णवो दीक्षां प्रविशेत् सर्वयत्नतः ।  
दीक्षिताय विशेषेण प्रसीदेन्नान्यथा हरिः ॥

१. संस्कारमयूखे (पृ० २३, गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१३), स्मृतिचन्द्रिकासंस्कारकाण्डे (पृ० ४९, मैनुरसंस्करणम्, सन् १९१४) च जैमिनिवचनमेतद् दृश्यते ।
२. स्मृतिचन्द्रिकासंस्कारकाण्डे (पृ० ५१) — देवाश्च पितरश्चैव, आयान्ति तस्मात्तदहः, तत्र दद्यात् सुवर्णम्, छत्रं छां वस्त्रमालये — इत्येवं क्रमेणात्रत्याश्चततःः पद्मक्तय आदित्यपुराण-वचनत्वेन समुद्भृताः । संस्कारमयूखेऽपि (पृ० २२) दृश्यतेऽत्रत्यं पद्मक्तिरथभादित्यपुराणीयमेव ।
३. कृतेऽपि प्रथम्नो पारमेश्वरसंहितायां वचनानीमानि नोपलब्धानि ।
४. श्लोकोऽयं तप्तचक्राङ्कनप्रमाणविवृतौ १५ तमे पृष्ठे पाञ्चीयवचनत्वेन, २० तमे पृष्ठे च ब्रह्मपुराणीयवचनत्वेन निर्दिष्टः ।
५. श्लोकोऽयं तप्तचक्राङ्कनप्रमाणविवृतौ सुदर्शनवादे ५५ तमे पृष्ठे शिल्पशास्त्रवचनत्वेन स्मृतः ।
६. महाभारते शान्तिपर्वणि नोपलभ्यन्ते वचनानीमानि ।

वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।

शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ॥

स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः । (पृ० ३८५)

३५. न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः ।

स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ॥ (पृ० ३८८)

३६. भगवतो बलेनेत्यादिकं मन्त्रम् । (पृ० ५०५)

३७. भगवानेव स्त्रशेषभूतं मामिति मन्त्रं वा । (पृ० ५०५)

३८. सद्वृष्णो भगवानित्यादिकं मन्त्रम् । (पृ० ५१०)

३९. विद्यां गदामित्यादिमन्त्राणां पाठनम् । (पृ० ५१५)

४०. यवासूं पचति । (पृ० ५२६)

४१. गुह्यदेवास्त्रिनिविप्रेषु पृष्ठभागं न दर्शयेत् । (पृ० ५३१)

१. रहस्यत्रयसारार्थसंग्रहे द्वितीये पृष्ठेऽपि इलोकोऽयं गम्भूद्धनो दृश्यते ।

२. “ॐ भगवतो बलेन भगवतो वीर्येण भगवतस्तंजग्ना भगवन् कर्माणा भगवतानुगृहीनो भगवतानुध्यातो भगवतः कर्म करिष्यामि तद्वगवान्नुभव्यताम्” इति हि वनते मन्त्रय स्वरूपम् ।

चतुर्थं परिशिष्टम्

## संहिता-भाष्यगतविशिष्टविषयानुक्रमणी

अकाम	४९४, ५२२,	[अच्युताद्या मूर्त्यस्तिसः २९,	
अकार	१४, २८, १७७, ४०२	सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युत-	
अक्ष	१४, २१८-२२२	सत्यपुरुषापरनामधेयत्वम् २९] ।	
अक्षसूत्र	८५, २०४	अण्ड	४९०
अग्नि	८८-८९, ९५, १९६, २००, ३०८, ४२७	अतिकृच्छ्र	२८६
अमूर्त	२६१, आरण्य ८९, आहव-	अधर्मादि	२९९, ४८६
नीय ८९, ९५, ओदनम्पचन २५,	गार्हपत्य ९५, दर्पणोद्घव ८९,	अधिकार	१२-१३
नित्य २१७, मणिज ८९, लौकिक ८९, सभ्य ९५, [चतुर्धा स्वात्मानं	गार्हपत्य ९५, दर्पणोद्घव ८९,	अधिवास	८२, २७५, २७६, ३५१, ३७३, ५००
विभजति ९५] ।	नित्य २१७, मणिज ८९, लौकिक ८९, सभ्य ९५, [चतुर्धा स्वात्मानं	[अधिवासदिने स्थूलपरामितं स्तपनम् ५०९] ।	स्तपनम् ५०९] ।
अग्निगण	४८२	अध्यक्ष	२८०-२८१
अग्नीषोम	२६०, २६८, ५२६	अध्यष्टक	३९९, ४८५, ५३४
अग्रहार	५४५	[भुवनाध्वा, पदाध्वा, मन्त्राध्वा,	
अघशान्तिकल्प	२८५-२९०	तत्त्वाध्वा, कलाध्वा, वर्णाध्वा च	
अङ्गुर	३५४	४८७] ।	
अङ्गुरार्पण	७१, २७६	अनन्त (पीठदेव)	५१०, ५१३
अङ्गुद	५४४	अनन्तशयन	२४७
अङ्गुन	४९३-४९४, ५३९	अनाहत	१७५
अङ्गुमन्त्र	१९-२१, २५, १६९, १९७, निरङ्ग० ४०७, नृसिंहाङ्गुमन्त्र	अनिरुद्ध	२९
	२९१, पञ्चाङ्ग० २१, २५, ४०७, षडङ्ग० १९, २१, २९५, ३२८, ४०६	अनुत्तर	४७
	[ज्ञानादयः षड् गुणाः, दृगस्त्र- कवचशिखाशिरोहृदाख्याः षड्	अनु(आत्म)याग	८६, १०४, १०९, ११४, १२१, १२६, २७८, ३४७
	जातयश्च षडङ्गत्वेन परिगण्यन्ते १९, १४५, २९२], हृदयाद्यङ्ग- मन्त्र ३०४, ४४१	अनुसन्धान	५२८, ५३३
अङ्गुलि	२९५	अन्तरान्तरयोग	७२, ७४, ७९, ९३, ५३०, ५३२
अच्युत	६, २९, ८८, ५४४	अन्नग्रास	१००
		अपमोक्ष	३९६
		अपराधक्षमापण	३१२
		अपवर्ग	१३२, ५२२
		अपान	११८

अपिवाद	३४६	बंहिर्यगे, समित्ससकपूर्वः साज्यै-
अभिगमन	१, ३, २३, ८६, १०७	स्तिलैरण्नौ २०५-२०६।
अभिषेक	३११, ४१०-४१७	योगपीठार्चन ६३, २९९, विभव-
अभिषेचन	४१०-४११	देवतार्चन २००-२०९, विमानार्चन
अभिसन्धान	३६९	४८०, विष्वक्षेत्रार्चन ४१५,
अमद्यप	३८८	व्यूहार्चन ५४, सुषुप्तिव्यूहार्चन
अमिश्र (फल)	१७९-१८०	३३, स्वार्थार्चन १०७-१०८
अमृत	३१८	अर्चनस्थान २३
अर	१४, २१८-२२२	अर्ची १४९, ५४४
अरणि	८९	अर्चावितार ९-१०
अर्गलरेखा	८७	अर्थ २४५, ३४१, ३४४
अर्ध्य	६२-६४, २९८	अर्हण १६२, ३५
अर्ध्यदान	३५९	अर्हणजल ८
अर्चन	६४, ६७, १२६-१२९, २७१, ३५८, ४६०, ५००	अर्हणोदक ८
	[मूर्तौ, मण्डले, अग्नौ, जलमध्ये चार्चनम् १९६, मण्डले, अग्नौ, जलमध्ये चार्चनम् २००, होमान्तं जपान्तं वार्चनम् २०६, हृदि, वेद्याम्, बहिर्मूर्तौ, प्रासादे, स्वगृहे वार्चनम् २७१, कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनम् ३६१]।	अवज्ञा १३
अग्न्यर्चन	९६, कुम्भार्चन ६६, गुर्वर्चन १६४, ४०६, चक्रराजार्चन ६२, चतुःशक्त्यर्चन ४८१, चतुः- स्थानार्चन २७५-२७६, २७८,	अवतार १८०, १
जाग्रत्पदार्चन	१८०, नित्यार्चन २७८, परार्थार्चन १०७-१०८, ३८६ (परार्थ्यजन), पीठार्चन ६२,	अंशावतार २२५, अर्चादि ९-१०, आवेशावतार १८७, : विभवावतार १८०, साक्षाद् १८७
बिम्बार्चन	६६, मण्डलार्चन ६६, मन्त्रार्चन ६६, [तीर्थमध्ये स्वहृत्पद्मे बिम्बे वेद्यां स्थले वा नित्यमस्मि- श्चतुष्टये मन्त्राणामर्चनम् २०५, सजलाऽजलिपूरस्तीर्थे, भावना- मृतजैर्हृदयाम्बुजे, अध्यादिभि-	अवतारदशक १
		अवभूथ ८
		अवर्ण १
		अवलोकन ५
		अवस्था १
		[जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिर्यख्या: संज्ञा-पिण्ड-बीजात्मकाः १७९]
अविद्या		अविद्या २३
अव्यक्त		अव्यक्त ३३
		[अव्यक्तं गुणमात्रलक्ष्यम् ३३]।
अव्यक्ताक्षर		अव्यक्ताक्षर २७
अश्मकुट्टिम		अश्मकुट्टिम ८८
अष्टाङ्गपतन		अष्टाङ्गपतन ६८, ३०८
अष्टाङ्गप्रणाम		अष्टाङ्गप्रणाम ११३, १४३, ३०७
अष्टाङ्गयोग		अष्टाङ्गयोग १२
अस्मिता		अस्मिता ३५०, ३६९, ३९६
अस्त्र		अस्त्र २४८, ३०३, ५४२

अस्त्रमन्त्र	५४२	आयशद्वि	४८८
अस्त्रमन्त्रलक्षण	४४८-४५१	आयुध	५७, १९१, २५८-२५९,
चतुर्दर्शास्त्रमन्त्र	४५१		२६३-२६६, ४८८-४५१
आक्ष	५३५	अङ्गश	२६४, २६६, इषु (शर=
आगमाध्ययन	११३		सायक) २४, २६६, ३०३, कमल
आचमन	६७, ३६०		२६३, ३६६, ३०१, कार्मुक(धनुः =
आचार्य	४११, ४२८, ४३३-४३५		शार्ङ्ग) २६४, २६६, ३०२, किरीट
आज्ञ्य	१००		२६२, २६६, कौस्तुभ २६२-२६३,
आज्यस्थाली	९३		२६६, ३०१, खड्ग १९१, खेटक
आज्यसंस्कार (षड्विध, दशविध)	९३		२६४, २६६, गदा (सौदामिनी)
उत्प्लवन ९३, उपाधिश्रयण ९३,			२६३-२६४, २६६, चक्र (हेतिप)
प्रसादीकरण ९३, संप्लवन ९३,			२६३, ३०१, ४४८-४५१, दण्ड
आतिवाहिक	३७१		२६४, २६६, नन्दक २६४, २६६,
आत्म(अनु)याग ८६, १०४, १०९, ११४,			३०१, पतत्रिराट २६६, पद्म
१२१, १३४, २७८, ३४६			१९१, परशु २६४, २६६, पाश
आत्मव्यूह	४८४		२६४, २६६, माला २६३, २६६,
आदान	८२, १६२, ३५९		मुद्गर २६४, २६६, मुसल २६३,
आदिसिद्धसमूह	३००		२६६, लाङ्गल (सीर) २६३, २६६
आधार	९६		बज्र २६४, २६६, वनमाला २६३,
आधाराधेयभाव	९६		३०१, शक्ति २६६, शङ्ख २६३,
आधारोपल	५४२		२६६, ३०२, श्रीवत्स २६२-२६३,
आधेय	९६		२६६, ३०१, [आयुधदशकम् २२९,
आनन्द	४७, २१४		लोकेशास्त्राष्टकम् २२९, सप्तदश
आनन्दास्पद	५६		प्रधानायुधानि १९१, २६३-२६५
आप्यायन	२७७, २९३, २९८, ३५६,		सामान्यलक्षणानि २६३-२६५]।
३५८, ३६०, ५१२-५१३, ५१९			
आप्यायनविधि	३२१-३२५	आराधन	११०-१११
आभरण (भूषण)	३०		[ श्रेष्ठ-मध्यम-अधम-क्षुद्रभेदेन
आमलसार	५३४		चतुर्विधम् ११०]।
आमलसारक	४९०	आराम	५४५
आयत	१६७, ४९४	आलभन	६२, ६६, ३८२
आयतन	१३७-१३८, २८३	आलम्भन	३०५
दिव्यायतन १३७, ५१६, ५४३;		आवाहन	६४-६५, ९६, २९८,
देवायतन ५३९, सिद्धायतन १३७-			३००, ३५८, ५२६
१३८ [सैद्धायष्टविधभेदानामत्रै-			[ आवाहनश्लोकचतुष्टयम् ५१४]
वान्तभाविः १३८]		आश्रावित	५११

आसन	२४, ३१, २५४, २९७, अलङ्घा-	[ भगवत्प्राप्त्येकोपायभूतोऽभिगम-
रासन	६२, ७७-७८, ८४, गरुडा-	नोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपः
सन	२५३, जाग्रदासन २९७, पद्मा-	कर्मविचारः परव्यूहविभवरूपो
सन	११७, भद्रासन २४, ७६,	ब्रह्मविचारश्च १, कर्म-ज्ञान-
भोग्यासन	७६, भोज्यासन ८१-	भक्ति-प्रपत्तिरूपश्चतुर्विधो भगवत्-
	८२, मन्त्रासन ७७, वीरासन १७२,	प्राप्त्युपायः २० ] ।
	स्वप्नासन २९७, स्नानासन ७७	
आसादन	९२, १०२	उपासा ११
आसादनस्थान	२४	उपेन्द्र २०३
आस्त्रावण	९२	[ उपेन्द्रः, दुरतिक्रमः, महाल्लदः,
आहुतिप्रमाण	६२. ९४	वसुरेताः, धराख्यं तेजः, महाकर्मा,
इज्या	१, ३, १०७	अग्राह्यः, वर्धमानः, साक्षी, आधार-
इडा	८७	निलय इत्याख्येषु सिद्धदरके-
इधम	९६-९७	ष्वादः २०३ ] ।
	इधमप्रक्षेपक्रम ९६, इधमाष्टक ९७,	उपेय (ब्रह्म) ७
	षे. ड्वेषेधम ९६	उपोषण ३८९
इन्द्राद्यष्टक	४८७	उष्णीष ४७७, ४९०
इष्टापूर्त	३४३	ऊर्ध्वपूण्ड्र १०३, ३३१, ३६४, ३८२
इष्टोपदेश	४२५	ऊर्मि ३२४
उच्चारण	३००	ऋणत्रय ५४५
उत्पल	२०३	[ मनुष्य-पितृ-देवाख्यमृणत्रयम्
	नीलोत्पल २०३, नीलोत्पलाष्टक	५४५ ]
	२११, रक्तोत्पल २०३, रक्तोत्प-	एकशृङ्ग २४१
	लाष्टक २११	एकादशीनिर्णय १६६
उत्सव	२८४	एकायन (द्विज) ४८२, ५११, ५१९,
	पवित्रोत्सव ८१, यात्रोत्सव २८४	५२१, ५३२
उदय	४०२-४०४	एकायन (श्रुति) १, ११-१२, ५३२-५३३,
उद्यत	२६१	एकायनीय ५३०
उन्मान	४६१, ४६८	ऐश्वरी (शक्ति) १८१
उपचार	६८-६९, ७५-७६, ८२	ऐश्वर्य ८, १७, २५
	अलङ्घारासनोपचार ७५-७६,	ॐ्कार १७५
	भोज्यासनोपचार ८२, मन्त्रास-	ओषधी २३२, ५०९
	नोपचार ६८, स्नानासनोपचार	[ ग्राम्या आरण्याश्च चतुर्दश २३२,
	६९	ग्राम्यारण्यबीजभेदाः २३२ ] ।
उपादान	१, ३, २३, १०७	ओष्ठ २१७
उपाय	१, २०	ओष्ठनिर्मणप्रकार २१६-२२२

कञ्चुक	३९६	मध्यमोत्तमा: २७४, प्रातःकाल-
कण्ठ	४७७	शब्दस्य मुख्यार्थता ४२२ ] ।
कण्ठकूप	२६	कालवैश्वानर १५, ८९
कण्ठवीथि	४७७	कुञ्ज ९४
कण्ठसूत्र	४७७	कुण्ड ८७-८८, ९६-९७, १०३, १५०, १६७,
कन्दमूल	४२५	२०४, ३०७, ३५९, ४८१, ५११,
कमल	२११	कुण्डपञ्चक २ १९-२२, कुण्ड-
करक	२४, ३६१	प्रकार ४९७, कुण्डमानमेद ४९७,
करणत्रय	३००	कुण्डलक्षण २१५-२२२, कुण्ड-
कर्म	२०, १२४, २७२, ३७०	संस्कार (पुष्पताडनाद्यष्टविघ ८७,
कर्मचक्र	३६६	कुण्डस्थान ४९६, कुण्डाष्टक ४८१,
कर्मपिण्ड	३७०	४९६, एककुण्ड ४९७, चक्रकुण्ड
कर्मविचार	१	२१७-२२२, चतुरस्कुण्ड २१९-
[ अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याय- योगरूपः कर्मविचारः १ ] ।		२२२, पद्माकृतिकुण्ड २१८-२२२,
कर्मवृक्ष	३६७	वृत्तकुण्ड २१९-२२२, शङ्खकुण्ड
कलश	२९९, ३११, ४७७	२१५-२२२
कला	४६१, ५३३	कुम्भ ३०८, ३२१, ३५९
चान्द्रकलागण १४, सौरकलागण १४		कुम्भचतुष्क ६३, कुम्भचतुष्टय
कल्प	१६५	७७, कुम्भप्रतिष्ठान ४८१, कुम्भ-
अधम-मध्यमकल्प १६५		स्थापन ५०१, कुम्भाष्टक ८८,
कल्पना	१३३	उपकुम्भ ६३, ३२१, ३५९, उप-
कवच	५४४	कुम्भाष्टक ३१९, मङ्गलकुम्भ
काकिणी	४२१	६३, महाकुम्भ २९९, ३६२, ४७९
काण्ड	२८१	कुशकूर्च ८८, २८०
काण्डचतुष्टय	९३-९४, ९९	निर्माणप्रकार २८०
काम	३४१, ३४८	कूर्च ९१, ९४, २८३, ५०६, ५२०
कामा(म्या)हुति	१०२	ब्रह्मकूर्च २८६-२८७
कारिपूजन	२७८	कृच्छ्र २७३, २८६
कारिप्रदान	८५, १०९, २७९, ३११-३१२, ५३१	कृष्ण २४८
कार्पास	४५३	केशव ५, १३३-१३४, १५२, १७०
काल	१४, २७४	[ केशव-नारायण-माधव-गोविन्द-
द्वादश काल ४२२		विष्णु-मधुसूदन-त्रिविक्रम-वामन-
[ चान्द्र-सौर-वैष्णवकाला अधम-		श्रीधर-हृषीकेश-पद्मनाभ-दामोद-
		राख्या द्वादश मूर्तयः १५३-१५४,
		केशवादीनां त्रिक त्रिकं प्रति वासु-
		देवादीनमेकैकस्य कारणत्वम्

## संहिता-भाष्यगतविशिष्टविषयानुक्रमणी

६६३

१३६, केशवादीनां लाञ्छनायुध-	गर्भपूरण	७९	
ध्यानानि १५३-१५४, केशवादीनां	गलावट	४२५	
देवीद्वादशकम् १५५-१५६, कैश-	गीर्वाणगण	१९२	
वादीनामर्चनस्थानानि १५६, केश-	गुण	८९	
वादीनां विविधवर्णचन्दनादिभिः	गुणाष्टक	५२२	
पूजनम् १५८, मर्त्यन्तराणां केश-	गुरु	११६, १४२, १६०, १६४,	
वादीनाम् ५४१ ] ।		३०८, ४१७, ४२७, ५३३	
कैवल्य		गुरुपङ्क्ति २९९-३००, गुरुपाद-	
कौतुक		तीर्थपरिग्रह ४१६, गुरुपूत्र ५३३,	
कौशेय		गुरुपूजन ४१६, गुरुयाग ४१६	
क्रम		गोजी	४६१
अप्ययक्रम ४३, १०४, १३३		गोपत	३११
[अप्ययक्रमेण व्यूहार्चने मन्त्रचतु- ष्टयम् ५४-५५], प्राभवक्रम ४३, १३४	[ मन्त्र-मण्डल-मुद्राणां	गोपनम्	
क्रियामार्ग ( सात्वत )	३	३११ ] ।	
[ अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याय- योगरूपः शुद्धमार्गः ३ ]	गोलक	४६४	
क्षकार	४७	ग्रास	१००
क्षेत्र ( वर्ण )	१७७, १७९	घट	४७७, ४८६
क्षेत्र ( वैष्णव )	१३९-१४०	मन्त्रघट	४८६
क्षेत्रश ( अकार )	१७७, १७९	घटिका	२११, ३७६
क्षौम	४५३	घण्टानाद	६७
क्षमापरिग्रह	३५१, ४७९	घन	४८८
क्षमाभज्ञ	५४१	घृत	१२४
खगेश	२३, ५२५	चक्र	१६७, १८२, ५२४, ५३४-५३६
खली	७१		अष्टलोहमयचक्र ५२४ मातृकाचक्र
खात	२१७		१८२-१८३, वर्णचक्र १३, १५, ३८,
गज्जा	३१		१८२, २०१
गणपति	२९९, ३१२	[आधार-नाभि-हृत-कण्ठाख्यं चतु- स्त्रकम् २५-२६, सम्भूति-स्थिति- संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं पञ्चारं	
गणित्रक	३५४	चक्रम् १८२, अमूर्त-द्वादशार- अष्टार-षडरचक्राणि ५३५-५३६	
गणेश	२९९	अमल-शान्त-शान्तोदित-उदित- भेदैचक्रस्य चातुर्विध्यं तल्लक्षणं च	
गन्धाशम	८८	५३४-५३५ ] ।	
गरुड	१९१, २४९-२५२, ४७३-४७५	चक्रतप्ततनु	४३०
गर्भगृह	५२१	चक्रध्वज	५००
सप्तधा विभाग	५२१-५२२		

चक्रमण्डल (पूजन)	१४२-१७०	मिति जयाख्यपादादिषु ११५ ] ।
चक्रराट्	६२	जलनिर्गम ४७८
चक्राङ्कन	३८४	जलप्रक्षेप १२२, २०८-२०९
चतुरस्त्र	१६७, २१५, ४९४	जलाधार २४
चतुरस्त्रायत्	४९४	जलाशय १९६, २००
चतुर्भुज	१२३, २५७-२५८, २६१ [ चतुर्भुजरूपं द्वादशधा २५७, सप्तधा २५८ ] ।	जाग्रत्यद १८०
चमषट्क	५२४	जाति १९, १४५ २९२, ४४१
चमषी	७०, ५११	जितन्तास्तोत्र १२७, ५३१, ५४१
चमस	५११	जीर्णोद्धार ५४१
चरण	४७७	जीव १७७
वातुसत्त्व १९, ३०, ३३, ५६-५७, १२३, १३३, १७९, १८१, २२५, ५११, ५२१, ५४३	जीवसूत्र २१६-२१७	
चातुरात्म्यचतुष्टय ५६, चातुरा- त्म्यत्रय १९, १३४, चातुरात्म्य- प्रतिष्ठा ५२२, चातुरात्म्यभावना ११०, ११७, चातुरात्म्यस्वरूप ४९-५०, ५६-५७	ज्ञान ८९, १७, १९-२०, २५, ३३, २९२ [ ज्ञानात्मकं रूपम् १९, भगवत्प्रा- प्त्युपायः २० ] ।	
चातुरात्मीय (मन्त्र)	१४६, १६४	ज्ञानभावना २६
चातुरात्मीय (यजन)	१२२-१३१ १८१	ज्ञानसमाधि २६, ४०२
चातुराश्रम्य	४९५	तत्त्वगण ४०७
चातुर्मस्य	१६७, २७३	तत्त्वचतुष्टय २८१
चान्द्रायण	१३२, २७३	तत्त्वव्याप्ति ३७२
चिह्न (लाङ्छन)	२६९ [ अक्षसूत्र-अस्त्रसंचय-किङ्किणी- दर्पण-पुष्पमञ्जरी-विष्टर-श्रीफल- स्त्रंगितीमानि कान्ताष्टकवाम- करेणु स्थितानि चिह्नानि २६९ ] ।	तरण २८१ तरणिका ९१ तरु (सगुण) ४५७ तर्पण ३१३, ३६३, ५०१
जगती	४८८, ५३९	तल ४८८
जगद्गुरु	५३७	ताडन ३०७, ३८२ [ अग्नेर्जयाख्योक्तास्ताडनादिसं- स्काराः ३०८, अस्त्राभिमन्त्रित- तिलसिद्धार्थैः शिष्यस्य ताडनम् ३८२ ] ।
जड़घा	४७७, ४८९	ताडनशान्ति ५१२
जप	८५, ११५, ३०७, ३१३-३१४	ताप ३३९
उपांशुजप८५, मानस (ध्यानात्मा)		[ आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिकश्च ३३९ ] ।
८५, वाचिक ८५, [ जपो योगाङ्ग-		ताम्बूल ८४
		तारा २२८
		ताक्षर्य २४९-२५२, ४७३-४७५

ताल	४६१, ४८८	अधिवासदीक्षोक्ता योजना ४०८,
तिलकधारण	१०३	कैवल्यफलदा-भोगकैवल्यदा-भोग-
तीर्थ	२८३	दादीक्षा ३७८, चातुरात्मीया
ब्रह्मतीर्थ	२८७	दीक्षा ४०९, नित्यदीक्षा ४०८,
तुर्यपद	१९३	निरङ्गमन्त्रदीक्षा ४०७, नृसिंह-
तुर्याश्रि	१६७	मन्त्रदीक्षा २८८, पञ्चाङ्गमन्त्र-
तेज	८, १७-१८, २५, ८९, ३०७	दीक्षा ४०७, प्रधानमन्त्रदीक्षा
तोरण	४९९, ५०३	४०७, ब्रह्मदीक्षा ४०५, ४०८-४०९,
तोरणस्थापन	५०३	विभव-व्यूह-सूक्ष्म(पर)दीक्षा २८८,
दर्भ	९३, २८०-२८१, [ दर्भस्य सर्वतत्त्वमयत्वम् २८१ ]	३७८, वैभवदीक्षा ३७३, ३९७,
दर्भपवित्र	२८२	४०७, व्यापकदीक्षा ४०८, व्यूह-
दर्भपुञ्जलीक	९४	दीक्षा ४०७-४०८
दर्भमञ्जरिज	२८२	दीक्षात्रय २९०, ३५१, ३७८-३७९, ४०५-
दर्भोदकक्रिया	५२५	४०६, त्रिविधदीक्षणोपाय २८५
दल	२११-२१२	दीक्षाविधान २८५-२८८, ५०३
दशा	३०, १२३ [परात्परत्वदशायां नित्योदित- दशायां परत्वदशायां शान्तोदित- दशायां च वासुदेवादिचातुरात्म्य- सद्भावाद् व्यूहशब्दचातुरात्म्य- शब्दो स्वरसौ ३० ] ।	दीपाषटक ३२७
दहन	२७७, २९३, २९८, ३५६, ३५८, ३६०, ५१२-५१३	देव ११६, १६०, १८५, ३०८ [गुरु-अग्नि-कुम्भ-देवानां पुनः पुनः पूज्यत्वम् ३०८] ।
दान	१३०, १३६-१३७, ३४३, ३४६, ५१६	देवताचक्र १९२
दारुग्रहण	४५६, ४६०	देवतानिचय १७१
दार्भ	९३	देवतासंघ १९६
दाह	५१२	देवमन्दिर ५३९
दिक्पाल	१९९, ३०३	देवलक ४२१, ५३३
दिक्पालगण	१९९	देवायतन ५३९
दिव्य	१३७	देवालय ४९४
दिव्यशास्त्र	१२	देवीद्वादशक १४८, १५५
दीक्षा	८२, २८८, ३०९, ३७८-४०९, ४१५	देवीद्विषट्टक १७०
अधिवासदीक्षा	३५१-३७८, ४०८,	देशिक २९०, ३८७, ४३५
	५४	देह २५-२६, २०१ [सर्वदेवमयो देहः २०१] ।
		दोष २८७
		निवेदितनिवेदनदोष ११२
		[कायिको मानसिको वाचिकश्च दोषः २८७] ।

## सभाष्या सात्वतसंहिता

द्रोणी	४७७	नित्य	२७२
द्वादशास्त्र्य	१९६, ५२४	नित्याराधन	४५२
द्वादशात्मा	१५१	नित्योदित	१४, १९, ३०, ५८, १२३
द्वादशान्त	२९३, ३९०, ४०२-४०४	नित्योदिता	१८
द्वादशार (वक्र)	३३९	नियम ( समय )	४१८-४२८
द्वादशीनिर्णय	१६६	निराकार ( ब्रह्म )	१९
द्वारपालाचंन	२३	निरीक्षण	३८२
द्वारविभाग	२३	निर्गम	४७७, ४८८
द्विपटक	३५६	निर्जगतीक	४८८
धर्म	३४१-३४४, ४८६	निवारण	२८५
धर्मादि	२९९, ४८६	निलय ( आयतन )	१३८-१३९
धारणा	२९३, ४०४, ५१७	निवेदितनिवेदन	११२
धारणापञ्चक	२९३, धारणा- द्विपटक ४०४	निष्क	९४
धूतकेश	९१-९२	निष्कल	१९२, १९५
ध्यान ११९, १२६, १२८, १३०, १४५, २२३, २६२, ३०३, ३१३-३१४, ४०६, ५३७	१३०, ३१३, ४५३	निष्काम	३९५-३९६
ध्वज	२४८, २६१, ५०३	निष्ठाङ्ग	८२-८३
ध्वजदण्ड ५२८, ध्वजस्थापन ५०३, ध्वजाष्टक ५०३	५११	निष्पुंसन	१
नक्तभोजन	३८९	नृसिंह	१
नक्षत्र	२२८	नृसिंहबीजमन्त्र	२९१
नयनोन्मीलन	५००, ५११-५१२	नृसिंहमन्त्राराधनविधि	२९२
नयनोन्मीलनगोह(वृद्धानभवन)४९९	१४, २१८-२२२	नैमि	२७२
नवद्वार	२५-२६	नैमित्तिक ( कर्म )	२४०
नाडी	२६, ३६९	नैमित्तिक ( प्रलय )	१४, २१८-२२२
नाद	१८, २७-२८, २४५	नैवेद्य ८३, ११२, १५८, ३१२, चोष्ण ८३, पेय ८३, भक्षय ८३, भोज्य ८३, लेह्वा ८३	१२८
अनास्थेयनाद	२३४, नादलक्षण	न्यास	२४-२५, ११७, १२१, १६८,
२८, नादावसानगणन	१४, २१८-२२२	२९५, ३२८, ४०६, ४८३, ५४२	
नामि	४२५	अङ्गन्यास १२१, १९४, अङ्ग-	
नामिचक्र	१, २-५, ११	पञ्चकन्यास २९, ११७, अङ्गपट्क-	
नारद	५, ७, ३२, १५४, ३४६-३४७	न्यास १४२, १४५, कर(हस्त)-	
नारायण	२८१	न्यास १२१, २००, २९४, २९८,	
नाल	४९१	कूर्चन्यास ९२, चिन्तामणिन्यास	
नासिकामङ्गरोगण	४९१	५२८, बीजन्यास २००, भूषण-	
		न्यास २५, भूषणायुधशक्तिन्यास	
		२९५-२९६, मन्त्रन्यास २५, ६७,	

२०१, २९८, विशाख्यूपबीज-	परा (वाक्) २७, २४५-२४६, ४०३
न्यास २०१, व्यापकन्यास ३५६,	[ सैव शान्ता च सूच्मा च ] ।
शक्तिन्यास ५९	
पक्षिराट् २०२, ५२९	पराभिन्नतुयंवृह ३३
पद्मक ९१, ३५५	परार्चनाधिकार १२
पञ्चकालपरायण २७६	परिधि ९२
पञ्चकालसक्त ५४४	धर्मिण १२५, २८६
पञ्चगव्य १२४, २८६, ३६०	परिषेचन १६२, ३५९
पञ्चपर्व ११५	परिस्मूहन ९०
पञ्चपात्र २८२	परिस्तरण ९०-९१
पञ्चरात्रविद् ५१६, ५४४	पर्येष्ठिकृत् ४२१
पद ३१, ३३, ४८, ६३, ११९, १२३,	पल ९४
३७२, ५१०, ईशपद २०१, निर्वी-	पवित्रक ९२, २८२-२८३, पवित्रदिवसकर्म
जपद १७८, मानसपद ३७२,	२७५, पवित्रधारण १४, पवित्र-
यातुधानपद ५१०, वह्निपद २०१,	प्रकरण २७२-२७९, पवित्रलक्षण
वायुपद २०२, ५१० [ जाग्रत्स्वप्न-	१४, पवित्रस्तपत २८०-२८४,
सुषुप्तिस्तुयर्थ्यं पदचतुष्टयम् ३१,	पवित्रारोपण २८०
३३, १७९, ३७२, नादावसान-	
गगनाख्यं तुर्यपदम् १९३, हृदय-	पशुप्रतिनिधि ३३०
कमलाकाशस्य तुर्यपदत्वम्, तत्क-	पाञ्चरात्रिक २९, १०५, १२७, २७८, ५१७
णिकास्थानस्य सुषुप्तिपदत्वम्,	पातालोत्तिष्ठ ३४९
केसरस्थानस्य स्वप्नपदत्वम्,	पात्र ३४६, ३५९
तदधःस्थितपत्रस्थानस्य जाग्रत्पद-	पात्रपरिकल्पन ६३, पात्रासादन
त्वम् ४८ ] ।	९०
पद (मन्त्र) १०१, १२७, १७३-१७५,	पादसंमार्जन (वस्त्र) ६७
१७९, ४४१-४४८	पादानुलेपन ६७
पदमन्त्रलक्षण ४४१-४४८	पाद ६३, ३६०
पद्म ३३, १२६, २११, २१४	पादप्रतिग्रह ६७
पर (ब्रह्म) १, ७-१०, १७१, १७३, ५२७	पानक ८३
पर (मन्त्र) १७३-१७५, १७९	पारमार्थिक २६
[ परमन्त्राणां चतुर्विधानामपि	पिङ्गला ८७
मोक्षप्रदत्वम् १७९ ] ।	पिण्ड ५३८
परण्डक ४९३	पिण्ड (मन्त्र) १७३-१७९, १९९, ४४१
परमेश्वर १८२	परिवारदेवतापिण्डमन्त्र १९९
परद्युराम २	पिण्डिका १६७, ३५२, ४८१
	पितृसंविभाग १०३-१०६, ११५
	पिधाननवक ४८१

पीठ	१४९, २११, ३८२, ४७५, ४९४, ५०६, ५२२, ५३७-५३८	[ चतुर्विधा मन्त्राः प्रणवस्य परि- णामाः १७५, प्रणवस्य नित्योदि- तत्वम् १७५, प्रणवो मन्त्रो देवस्य चतुरात्मनः प्रपञ्चः ५४३ ] ।
[ गर्वः पीठमुदाहृतम् २१४, देव- तानामधिष्ठानं पीठम् ५२० ] ।		
पीठपरिकल्पन	२९९, पीठभेद ४७६-४७७, पीठलक्षण ४७५-४७९,	प्रणाम ११३, १२६, १४३, ३०७ विषमप्रणामनिषेध ११३
पीठसंस्कार	५१६, अनन्तासनपीठ ४७६, उपणीठ ३५२, कमलाङ्घ- पीठ ४७६, चक्रभूषणपीठ ४७६, चतुरसादिपीठ ४९४, पक्षमन्दिर- पीठ ४७६, पादपीठ ७०, बलिपीठ ५४५, भद्रपीठ २४, ६०-६१, ८४, ९६, २०१, मण्डलपीठ ५०१, योग- पीठ ६१, वालुकापीठ ४९८-४९९, स्नानपीठ १६७, ४९९	प्रणाल ४३८ प्रणीता ९३ प्रणीतोदक ४०५ प्रतिग्रह ६९ प्रतिबिम्ब १९६ प्रतिमा ३१४, ४५३-४५४ प्रतिष्ठा ४९२, ४९५, ५०९, ५२६, ५३६-५३८ द्वारप्रतिष्ठा ४९४, प्रासादप्रतिष्ठा ४९४, विम्ब- प्रतिष्ठा ४९२, ४९४, मन्त्रविम्ब- प्रतिष्ठा ४९५-५४१
पुंसतत्त्व	२८१	[ प्रतिष्ठादिवसे स्थूलसूक्ष्मकं स्नप- नम् ५०९, स्वयंकृतानां विम्बानां प्रतिष्ठापनम् ५३६ ] ।
पुत्रक	४०७, ४१०, ४१३-४१४, ४२८, ४३१-४३३	प्रतिसर ७९, २७३-२७९, ३५४, ५०४ प्रतोली ५३९ प्रधान १९२ प्रधि १५, २१८-२२२ प्रपत्ति २० प्रपन्न ५, ७ प्रभवाप्यय ५१०-५११ प्रमाण ४६८ प्रमेय ५३४ प्रलय २४० प्राकार ७९, ५४५ प्राकृतिक ( प्रलय ) २४० प्राणायाम २५, १२५, २९३ प्रातिसरोयक २७५ प्रादुर्भाव ९, १८७, १९०, २२६-२२७, २३१ प्रणयन [ गौणमुख्यभेदेन द्विधा प्रादुर्भावः २१६, ५४१, ५४३ १८७, १९० ] ।
पुरुष	२९, ८८, १२३, १३३, ५१० [ पुरुष-सत्य-अच्युत-अनिस्त्रद्वार्थं मूर्तिचतुर्जट्यमाग्नेयादिषु दिक्षु पुरुषादिचतुर्मन्त्रैः पूज्यते १०५, ५१० ] ।	प्रतोली १९२ प्रधान १५, २१८-२२२ प्रपत्ति २० प्रपन्न ५, ७ प्रभवाप्यय ५१०-५११ प्रमाण ४६८ प्रमेय ५३४ प्रलय २४० प्राकार ७९, ५४५ प्राकृतिक ( प्रलय ) २४० प्राणायाम २५, १२५, २९३ प्रातिसरोयक २७५ प्रादुर्भाव ९, १८७, १९०, २२६-२२७, २३१ प्रणयन [ गौणमुख्यभेदेन द्विधा प्रादुर्भावः २१६, ५४१, ५४३ १८७, १९० ] ।
पुरुषार्थ ( चतुर्विधि )	२७१	
पुरुषार्थसाधनविधि	३४१, ४४१	
पुष्पचक्रिका	३००	
पुष्पाङ्गलि	३८९	
पूजा	३८१, ५१६	
पूर्णशब्दार्थ	१६६	
पूर्णहृति	९५, १२१, १६४, ३०९, ५२०	
पूर्वसुमन्त्रला	१६७	
पौष्टिकविधि	३१८-३२१	
प्रकृति	२३६	
प्रक्षेप	३१३	
प्रणयन	८२, १६२, ३५९	
प्रणव	२२, ३१, ८७, १०१, १७५, २१६, ५४१, ५४३	

प्रादुर्भविगण	१८०, १८७-१८८; १९०, ५४०-५४१	मन्त्रविम्ब ५१६, ५३३. मातुष- विम्ब ५४३, मृदुविम्ब ४५५, लोह- विम्ब ४५५, वार्षिविम्ब ४६०, विशेषविम्ब ५४१, सकामविम्ब ४५३, सिद्धप्रतिष्ठितविम्ब ३४२, सुप्रतिष्ठितविम्ब १४९, स्थिर- विम्ब ६६, स्वप्रत्यक्षविम्ब १४९, ३४२, ५३६-५३७, ५४३ [चित्र- मत्काष्ठशिलालोहमयत्वेन पञ्च- विधानां विम्बानां प्रत्येकं ब्राह्म- णादिवर्णक्रमेण चातुर्विध्यम् ४५२, विम्बानां पृथग्निवेशनम् ५३८, विम्बे लावण्यमात्रयोः समन्वयः ४६७]।	
प्रादुर्भावान्तर	१८८, २२६-२२७, २३२, ५४१	विम्बपादाम्ब	१२४
प्रायश्चित्त	२८७, ५४३	विम्बमान	४९५
प्राशन	३१३	विम्बलक्षण	४६०-४७५
प्रासाद	४७९-४९४, ५२१, ५३४ अनन्तभुवनप्रासाद ४९२-४९३, चतुरस्र-चतुरस्रायत-वर्तुल-आयता- ख्यचतुष्प्रकारप्रासाद ४९२-४९४, चतु-पञ्चाष्टदशद्वादशायतन १९३, अनन्तायतन ४९३	विम्बशोधन	६४, २९८
प्रासादानाडिका	४९०	बीज	१४४, १७३-१७९, ४४१ [बीजात्मा चिन्मयः पुमान् २१४], केशवादिदेवीबीजद्वादशक १४७- १४८, द्वादशबीज १४६-१४७, नृसिंहबीज २९१-२९२, परिवार- देवताबीज १९९, वासुदेवादिबीज १४४-१४५, ४०८, विभवदेवता- बीजनित्य १८२-१८४
प्रासादग्रहभूमाग	४८५	बीजनत्य	४८, १७४
प्रासादलक्षण	४८८-४९४	बीजविन्यास	५३३
प्रासादशोधन	५२१, ५३१	बीजगटक	१४५
प्रासादस्थापन	५३४	बृद्धि	११८, ४८६
प्रीणन	१६२, ३१९	बृद्धिगण	४८६
प्रीतिकर्म	६६२, ३५९	बृद्धिवागुरा	४८७
प्रेरण	३००	बृद्धन	२१६
प्रोक्षण	२९८, ३५९, ३८२	बौध	२३८, २४५
बल	८, १७, २१	बौद्ध	३७२
बलभद्र	१०		
बलिदान	३१३, ४१४, ८८५, ११६		
बलिपीठ	५४५		
विन्दु	२४५		
विम्ब	१४९, ४५२-४६०, ५११, ५३७, ५३९		
	कर्मविम्ब ४७८, ५०५-५०६,		
	कार्पास-कौशेय-क्षीम-शान्मयविम्ब ४५३, चलविम्ब २४, ५४१, चित्र- विम्ब ४५४, ५०६, तीर्थविम्ब २८२, नित्यस्नपनविम्ब २८२, नित्योत्सवविम्ब २८२, निष्काम- विम्ब ४५३, वृहद्विम्ब ४७८, ५०५, भगवद्विम्ब ४५९,		
	५०५, भगवद्विम्ब ४५९,		

३५०, ३९७, ४०१, ४१४, ५१७, ५२६-५२७, ५४२, पञ्चब्रह्म ४७, पर(म)ब्रह्म (त्रिविधि) १, ७-१०, १७०, १७३, परब्रह्मस्वरूप २८, ३४७, शब्दब्रह्म २६-२८, १७५, १८३, २४५, ३९८, ४०१, ४०५, ४३४, ४८७, ५३५, षाङ्गुण्यमय- ब्रह्म ४०१, संशान्तव्यक्तलक्षण- ब्रह्म १३४-१३५, ५२७ सदब्रह्म ११, [परस्य ब्रह्मणः सूक्ष्म(पर)व्यूह- विभागौ १७०, शब्दब्रह्मरूपेण वेदकत्वं पररूपेण वेदात्मं च ३४]।	२१२-२१३
ब्रह्मकर्म	२१५-२१६
ब्रह्मतत्त्ववित्	४८४
ब्रह्मता	१७७
ब्रह्मनाडी	४६८
ब्रह्मपञ्चक	४८
ब्रह्मपद	५२६
ब्रह्मबीजचतुष्टय	४८
ब्रह्मर्म	२१५
ब्रह्मयाजी	३४
ब्रह्मयान	२८२
ब्रह्मयूप	४२
ब्रह्मरथ	२८४, ५१५
ब्रह्मरन्ध्र (द्वार) २७, ११७, १९६, ३१८, ३२४, ३३१, ३९०, ४२५	
ब्रह्मवर्णता	१७७
ब्रह्मवादी	५२१
ब्रह्मविचार	१
[ परव्यूहविभवस्वरूपविचार- लक्षणः १ ]	
ब्रह्मशक्तिपञ्चक	४७
ब्रह्म(पाषाण)शिला	५०६, ५१९, ५२१
ब्रह्मशिलासंस्कार	५१९
ब्रह्मशिलाहोम	५१९
ब्रह्मषाङ्गुण्य	३६
ब्रह्म(देश)स्थान	
ब्रह्मस्थापन	५०६
ब्रह्मोपनिषद्	११-१२
ब्राह्मी (स्थिति)	३६
भवित (सात्वती) २, ३, २०, १२४, ४२७	
भवितच्छाया	२८८
भज्ज	५४२
चक्रप्रासादभज्ज ५४२, पीठभज्ज ५४२, बिम्बभज्ज ५४२	
भव (प्रकृति)	१९२, २०३, ५३७
भवद्वाव	२३६
भवन	५०१
भवोपकरण	१९२, १९६, १९९, २७०, ५२८, ५३८
	[ अप्सरसः; अर्कः, इन्द्रः सपरि- वारकः; ओषध्यः, कालः, ग्रहास्ता- रादिकैर्वृताः; चन्द्रः, जीमूताः; नागाः, नियन्ता, पराविद्या, पशवः; पावकः, प्रजापतिसमूहः, मास्तः; मुनयः सप्त पूर्वे, यज्ञाः साङ्घाः; वसुधा, वारि, विद्या, विद्याधिप- तयः, वियत्, शास्त्रं नानाङ्गलक्ष- णम्, शिवः सरद्रः सगणः—इति चतुर्विंशतिसंख्यं भवोपकरणाख्यं गीर्वणिगणम् १९२ ]।
भागवत	४१७
भासा	८९
भूततर्पण	३३४, ३५३
भूतबलि	३१३, ३६३
भूतशुद्धि	२५, २९३-२९४, ३५६
भूतशोधन	३८७
भूतसप्तक	३६९
भूतावास	१६८, ३३६
भूषण	३०, १९१, १०२ २६२-२६३
	[ किरीट-कौस्तुभ-वनमाला-श्री- वत्साख्यं चतुष्टयम् १९१, २०२ ]।

भोग	६७, ८१, ८६, २७०, २७२, ४९५ ५१७, आभिमानिक० ८०-८१, आभ्यवहारिक० ( हृदयङ्गम० ) ८०-८१, १०५, २७३, औपचारिक० ८०-८१, २७२, २७३, लयभोग ९६, सांदृष्टिक० ८०-८१, सांस्पर्शिक० ८०-८१, २७३ ]
भोगत्रैविध्य	८१, ५१७
भोगपूजा	६६
भोगमोक्ष (भुक्ति-मुक्ति)	९, १७९, १९३, १९७, ४५३, ४९५,
भीवन (भुवनाध्वा)	५२९-५३०
भूमध्य	४२५
मण्ट(ण)प	३५१-३५२, ४८१, ४९५, ५२९ दीक्षामण्डपनिमणिप्रकार ३५१
मण्डल	१९६, २००, २९९, ३१५, ३२१, ४०६, ४२५, ४९६, ५११, ५३८ अब्जनाभभुवनाख्यमण्डल २१५, अष्टाश्र० ३३४, वृत्त० ३४०, षट्कोण० ३२८, [ मण्डलस्य सर्व- तत्त्वमयत्वम् २१४ ] ।
मण्डलदर्शन	४२५
मण्डलपूरण	३५६
मण्डललक्षण	२१०
मण्डललेखनप्रकार	२१४
मण्डलवर्णन	२०० [देवताविन्यासः २०१-२०३]
मधुपर्क	८१-८३
मध्यनाडी	२७
मन्त्र	१९-२२, ५८, १७३-१७४, १७९, २०३-२०४, २०८, २९१, ३००, ४००, ४०६, ४२५, ४२७, ४८४, ५३५, ५३७ [पद-पिण्ड-बीज-संज्ञाभेदेन मन्त्राणां चातुर्विध्यम् १७३-१७५, मन्त्र- प्रतिपाद्यस्य भगवतः पर-सूक्ष्म- स्थूलभेदेन त्रैविध्यम् १७५, मन्त्र-

रूपां ततुं धत्ते ५१८, येन मन्त्रेण  
दीक्षा तेनैव सर्वकर्मचारणम्  
३५६] । अङ्गमन्त्र १९, २१, २५,  
१४३, १९७, २९१-२९२, ३२८,  
४०६-४०७, ४४१, अभिषेचन०  
७२, अस्त्र० ४४८-४५१, ५४२,  
गदा० १४८, गहड० २१,  
चक्र० १४८, ५३४, चतुर्मूर्तिं०  
५३०, चातुरात्मीय० १०४-१०५,  
चातुरात्मीयसंज्ञामन्त्रचतुष्टय० ५४१  
जितन्ता० १२७-१२८, जीव० २८१,  
द्वादशाक्षर० ९२-९३, २९१, द्वाद-  
शार्ण० ६१, ५४३, द्वाविशार्ण०  
१६-१७, नारायणाख्य० १५९,  
नृसिंह० २९१-२९२, नेत्र० २०,  
पद० १०१, १२७, १७३-१७५,  
१७९, ४४१-४४८, पद्म० १४८,  
पर० १०१, १२७, १७३-१७५, १७९  
[परमन्त्राणां चतुर्विधानामपि मो-  
क्षप्रदत्त्वम्] । परात्पर० ३०, ११७  
पिण्ड० १७३-१७५, १७९, १९९,  
४३७-४४१, प्रीति० ३२, बलादि०  
११-१२, बीज० १४४-१४८, १७३-  
१७६, १७९, १८२-१८४, २१४,  
२९१-२९२, ४०८, ४४१, ब्रह्म-  
लक्षण० १९, भोगदान० ३२, ९६,  
मूर्ति० १०१, ४५२, मूल० ५२७,  
[मूलमन्त्रस्य सामान्यसन्धानम्,  
स्थूलरूपेण ब्रह्म शिलायाम्, सूक्ष्म-  
रूपेण धीठे, पररूपेण बिम्बे च  
विशेषानुसन्धानम्५२८]।लाज्जन०  
४४८-४५०, ५१७, वासुदेव० १६७  
विभव० ११७ विशाखयूप० ४३-  
४४, ३५६, व्यापक० १०१, १२७  
व्यूह० ३६-४०, ४५-४६, ५०-५५,  
संकल्प० ३२, संज्ञा० १७४-१७५,

समर्पण० ३२, ९६, सर्वज्ञ० ४२५,	मान	४६१, ४६८	
स्नपन० ७२		उन्मान ४६१, ४६८, कलामान	
मन्त्रचतुष्क ३६-५०, ४५-४६, ५०-५५, ११७, १४८-१४९, १७९, २०२		४६१, गोजीमान ४६१, सौम्य०	
मन्त्रतन्त्र ५०२, ५३६-५३७		४६१	
मन्त्रद्वय	१४२	मान्त्र(वपु)	९६
मन्त्रपञ्चक	५४२	मारुत	८९
मन्त्रप्रसाद	२८९	माराण्ड	१५, ५३४
मन्त्रमण्डल	३०८	मिश्र (फल)	१७९-१८०
मन्त्रराट्स्मरण	४२५	मुद्रा १४९, २०३, २०६, २४२, २९६, २९८, ३०३-३०७, ३१७, ३६१, ४०६, ४२५, ४४१, ५३२, ५३७	
मन्त्रवराराधन	२२	[ईश्वरे सात्वते च मुद्राप्रपञ्चः ३०६, कायिको मानसिको वा	
मन्त्राख्याभिमान	२५	मुद्राबन्धः २०७, श्यादिमुद्रा- चतुष्टयं हृदादिमुद्राषट्कं च ३०६]	
मन्त्रात्मा	२८९	अञ्जलिमुद्रा १४९, अविद्यादलिनी ३०४-३०५, ३०७, कूर्म० २६३, ग्रास० १११, तदङ्ग० ४४१, तप्त०	
मन्त्रोद्धार	१५	७४, त्रिशिखा० ३०५, ३०७,	
मन्त्रोघ	५४२	पादाम्बुरुह० १५०, मूल० ८५, वैभवी० २०१, २०४-२०५, ४४१	
मर्म	२१५-२१६	व्यूह० ८५, संहृति० ३१२	
मलयाचल	१	मुद्राबन्ध ८४-८५, २०७	
मल्लक	७५, ३३४	मुद्रालक्षण २०६-२०७, ४३६	
मसूरक	२५३, ४८९	मूर्ति २६१	
महामख	२३०, २४३	मूर्ति ३५, ५८-६०, १६१, १९६, ५३९-५४१	
[अन्तर्वेद्यां चतुर्धा तपोयागजप- ष्यानरूपः २३०, २४३]।		[ एकमूर्ति-प्रादुभविगण-प्रादुभा- वान्तर-मूर्त्यन्तर-सर्वमूर्ति - मूर्तयः ५४०-५४१, चित्र-दारु-मृत्-शैल- मूर्तयः ५४०, मन्त्रमूर्त्यादिषु भगवानभिव्यजयते ६४-६७, शब्दात्मिका अमूर्ता मूर्तयः ५२० ]	
महिषाक्ष	३३०	आदिमूर्ति ५९, एकमूर्ति (परात्परवासुदेव) १३, ५८, १७३, चतुर्मूर्ति ५९, १६४, ज्ञानमूर्ति	
महोत्सव	७०		
मार्जिजष्ठ	९४		
मातृकाचक्र	१८२-१८३		
मात्रा ७०, ८१, १६४-१६५			
[आज्य-तिल-बीहि-सक्तुरूपा चतु- विधा मात्रा ८६, १६४-१६५]।			
गोमात्रा ८१, ८३, तण्डुल० ८१, ८६, तिल० ८१, ८३, ८६, द्रव्य० ८१, बीज० ८१, ८३, ८६, शालि० ८१, ८६ [स्नपनमात्रनियता]।			
सरत्नतिल० ८३			
मात्रावसान	८६		
मात्रावसानिक	१०५		
मात्रावित्त	८०-८१, २०३, ४२१		

५३७ द्वितीयमूर्ति ३५, मन्त्रमूर्ति ६४, व्यूहवासुदेवादिमूर्ति ५४१	१९५ यागो बिस्मादिषु भगवद- चर्चनम् १९, [वेद्याम्, विष्वे, चक्र- पञ्जो, हेमादिद्रव्यजनिते चक्रे, केवलाम्बुजे, भद्रपीठभुवो मध्ये, सुश्लेषणे केवले च बहिर्यागः सम्पाद्यते ६०, निराकारत्वसाकार- त्वभेदेन द्विविधो भोग(मानस)यागो जयाख्ये प्रतिपादितः ३०१ ] ।
मूर्तिधर ५१९, ५२५, ५३०-५३२ मूर्तिधारक ५१३	यागगृह ५०० यागमण्टप ४९५, ५३३ यागशाला ४९५
मूर्तिप ५०२, ५१२, ५३२-५३३ मूलमन्त्र ५२७, ५२८ [संशान्तब्रह्मलक्षणः ५२७, स्थूल- सूक्ष्मपरत्वेन सामान्यसन्धानम् ५२८] ।	यागाङ्ग (अष्टविधि) ६०, ६४, ८६, ९५, अन्नपूजन ८६, अभिगमन ८६, आज्य-दधि-पशु-मधुपूजन ८६, पितृयाग ८६, प्राणाग्निहवन ८६, भोगयाग ८६, वर्त्त्वसन्तर्पण ८६, सम्प्रदान (कारिप्रदान) ८६
मेखला २१७-२२२, मोक्ष (निःश्रेयस) ८, १२, २०, १२३, १३९, २७०, २९०, ३४१, ३४७ [ साम्यनिषेधः ३४७ ] ।	यागोपकरण २४, ३१४ यादवशैल १ योग १, ३, १२, १०७, ११५, ११६-१२०
मौदगल १२९, १३१-१३३ मौन १०५-१०६ [भेदो लक्षणं फलं च १०५-१०६] ।	योगपट्ट ११८, ३५६ योगाङ्ग ११५ योगानन्द १ योनि १०३, २१६-१२१
यजन ४८३ यव ४६१ याग १९, ३१४ अधिकारयाग ३०२, अनु(आत्म)- याग ८६, १०४, १०९, ११४, १२१, २७८, ३४७, अन्तयाग ६०, आत्म(अनु)याग १०९-११३, एकपीठ० २६२, गुरुयाग ४१६-४१७ चातुरात्मीय० १२२, द्रव्य० ६१, नित्य० १०१-१०२, बहिर्याग ६०, २९८, बाह्य० १७१, २०० भोग० (मानस०) ७०, ७८, २६२, ३०१- ३०२ मानस० (मानसिक०) २५, १७१, २९८, लय० ३०१-३०२, विशेष० २६२, २७९, हृदयाग १२,	रक्षाबन्धन २७६ रक्षाविधान (नीरुज) ३२८ रक्षाविधान (रोगार्तं) ३२६-३३८ सन्धारणी रक्षा ३३८-३४१ रक्षोहण ५० रज ३७६ रत्नशिला ५०५ रथोपरथक ४९१ रहस्याम्नाय १, ५ राग ६-७ रेचक ८९ लय ६७, ५३७

लाज्जन	५७, ८७, २४८, २६१, ५४४	त्रिविधानि वाक्यानि ४३४, पार-
लाज्जनमन्त्रलक्षण	४४८-४५०	मेश्वर-पौरुष-मुनिवाक्यलक्षणानि
[ किरीटादिलाज्जनानि	४४८-	तेषां ग्राह्याग्राह्यता च ४३४-४३५ ] ।
४५०, द्वाविंशतिलाज्जनमन्त्रा:		
४५० ] ।		
लाज्जनविन्यास	१२९	वामकृत्स्थापन ५३९
लाज्जनसञ्चार	४७७	वासना ३७०-३७१
लोकधर्म	५४६	वास्तुपुरुष ४७९, ४८१
लोकपाल	९२	वाहन १९१, ४७३
वज्रलेप	५२७	विकल्प (पञ्चधा) २९
वर्ण ( ब्राह्मणादि )	१२९, २८५, २८७-	विज्ञप्ति ५३०
	२८८, ४५२-४५४, ५३९-५४०	विज्ञान १९
वर्णक	८७	विद्या ३३, १९३, ३७५ द्वादशाक्षरविद्या ९२-९३
वर्णचक्ररचना	१३, १५, ३८, १८२, २९१	विद्यादेह १९३
वर्णता	१७७	विनायक २९९
वर्णपूरण	२१३	विभव १, ७-१०, ५८, १७१-२०९, २८८,
वर्णमार्ग	४०४	५२८, ५३७-५३८
वर्णव्यूह	४०२	[ विभवाचर्चनेऽधिकारः १३, स्थूल-
वर्तुल	४९४	सूक्ष्म-परत्वेन विभवावतारस्य
वलयपवित्र	९४	त्रैविध्यम् १७१, अष्टात्रिंशद्विभव-
वस्त्र	२४८	देवा: १८४-१९०, विभवदेवाना-
वह्नि सन्तर्पण	३०७	मान्तरं बाह्यं चार्चनम् १९१-२०९,
वाक्	१४, २७, ४०३, ४८४, ५१७	विभवदेवानां बीजगण: १८२-
	[ परा वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रजननी	१८४, विभवदेवध्यानानि २२३-
	शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य, परस्येति	२४७, विभवदेवानां पिण्डनिचयः
	यावत् ३७] । परा(शान्ता=सूक्ष्मा)	४३७-४४१, विभवदेवतास्थापनम्
	वाक् २७, ४०३, पश्यन्ती २४५-	(प्रतिष्ठा) ५३८] । अनन्त १८४,
	२४६, ४०३ [ बोधमारुतहृत्पूर्व-	१९४, २०१, २२३-२२४, २४१,
	स्थानेष्वभ्युदितं क्रमादिति पश्य-	[अनन्ताद्यं शरःशाय्यन्तं द्विषट्कम्
	न्त्याद्यवस्थात्रयस्य विशेषणम्	१९४, अनन्ताद्यं पातालशाय्यिपर्यन्तं
	२४५ ] । मध्यमा १७७, २४५-	न्यसेत् २०१], अमृताहरण १८७,
	२४६, ४०३, वैखरी १७८, २४५	२३५, एकशृङ्खतनु (मत्स्य=मीन-
	२४६, ४०३, सूक्ष्मा २४५-२४६,	वक्त्र=मीनात्मा) १८९, १९४, २०४-
	४०३	२४१[एकशृङ्खादि पातालशाय्यन्तं
वाक्य	४३४-४३५	द्विषट्कम् १९४], एकार्णवशय
	[दिव्य - मुनिभाषित - पौरुषभेदेन	(शायी = शरःशायी) १८७, २३३,
		कपिल १८६, २२७, कल्की १९०,

२४६, कान्तात्मा १८८, २३६,  
कालनेमिघ १८५, २३७, [अवि-  
द्याख्या कालचक्रस्य नेमिस्तां  
विधुनोति २३७], कूर्म(वक्त्र)  
१८७, १९४, २३३-२३४ [कूर्मा-  
दिकं न्यग्रोधशायिपर्यन्तं द्विषट्कम्  
१९४], कृष्ण १८९, २३२, क्रोडात्मा  
(वराह = सूक्रात्मा) १८६, २३०,  
४७०-४७१, त्रिविक्रम १८५, २११-  
२४२, दत्तात्रेय १८९, २३९, धर्म  
१८६, २३१-२३२, ध्रुव १८३-१८८,  
१९४, २०१, २२३, ३५७, नर  
१८९, २३०, २३२, २४३, [जप-  
योग-क्रिया-तपोरक्षका नरादयः  
२३०, २४३], नरसिंह (नृक्षेपी=  
नृसिंह) १८७, २३४-२३५, २९१-  
३५०, ४६९, [नृसिंहकल्पपरि-  
च्छेदः २९१-३५०, नृसिंहमन्त्र-  
दीक्षा ३०८, नृसिंहविम्बमुख-  
लक्षणम् ४६९], नारायण १८९,  
२३२, न्यग्रोधशायी १८९, २४०  
[एकार्णवशायी नैमित्तिकप्रलय-  
कर्ता, अयं तु प्राकृतिकप्रलयकर्ता  
२४०], पद्म(अञ्ज)नाभ १८३-  
१८६, १९३, २२३, ३५७, ३६४  
[पद्मनाभविशाख्यूपयोरभेदः  
१८६], परशुराम १९०, २४४,  
पाताल(अनन्त)शयन १९०,  
१९७, २४७ पारिजातहर (जित)  
१८८, २३८ [प्रबन्धप्रतिपन्नानां  
भक्तानां बोधभूमौ संरूढः २३८],  
मधुसूदन १८४, २२६, राम १९०,  
२४४, राहुजित १८८, २३७, लोक-  
नाथ १८९, २३९ [रूपान्तरं वुद्धा-  
वतार इति, स च ज्ञान-वैराग्य-

सद्धर्म-मार्गत्रयनिर्दर्शकः २३९],  
वडवा( वाजि )वक्त्र = वडवानल  
१८६, २३१, वागीश्वर (वाजि-  
मुख = हयग्रीव) १८६, २३०-२३३  
३६८ [हयग्रीव = अशववक्त्र-  
विम्बमुखलक्षणम् ४६९, हयग्रीवा-  
दीनां ग्रीवाद्यवयवलक्षणानि  
४७१], वामन १८९, २४१, वाराह  
१८७, २३४, ४७०-४७१, [विद्या-  
धिदेव १८६, २२६-२२७, विशा-  
ख्यूप ४१-४४, १८०, २२३, ३६१,  
३६४ [सकलविभवदेवानामधिपतिः  
१८०, १८२, विभवदेवानामनि-  
रुद्धोत्पन्नत्वम् १८२, विशाख-  
यूपस्यापि सकलविभवदेवकार-  
णत्वम् १८२, विशाख्यूपस्य पद्म-  
नाभशब्देनैव व्यवहारः १८६],  
विश्वरूप १८६, २२८, ३६७-  
३६८ [आहत्य त्रयस्त्रिशद्वक्त्राणि  
२२८, विश्वरूपाद्यं चमाधरान्तं  
षट्कम् ३६७], विहङ्गम (हंस)  
१८६, २२९-२३०, वेदवित् १९०,  
२४५ [वोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेषु  
पश्यन्तीपूर्वकमभ्युदितम् २४५],  
शक्तीश (शक्त्यात्मा) १८४,  
२२४-२२५, २४९, २५४, २६०,  
श्रीपति १८८, २३६, हरि १९८,  
२३२

विभवान्तर	१८०
विश्राम	४०२-४०४
विष्टर	४, ९१-९३, २८४, ३६५, ५०६, ५२०

## संभाष्या सांत्वतसंहिता

विष्णु	१, ३२	वैभवीय	५९, १७१, १८८, २८८
विष्वकर्मेन	८९, २०८, २९९,	वैष्णव	४९४
	३००, ३१२, ४१५	व्यक्त	१७२
[विष्वकर्मेनार्चनात् पूर्वमेव स्तो-		व्यक्ति	४०२-४०४
कोद्धरणम्, तदनन्तरं जलप्रक्षेपः		व्यापकमन्त्र	१०१, १२७
२०८-२०९]।		[ पञ्चैते व्यापका मन्त्राः पञ्च-	
विसर्ग	१४	रात्रे प्रकीर्तिताः १०१ ]।	
विसर्जन	६४, २९७, ३१३, ३५९	व्याप्ति	४०२-४०४
विहोश्वर (पक्षिराट) २४९-२५२, ४७३-		व्यामिश्रयाजी	१२, ५३६
४७५, ५२९		व्यूह	१, ७-१०, ३०, ३५, ५८,
[ज्ञानशक्त्यात्मकः ५२९]।			१३५, १७१, २८८
विहोश्वरप्रतिष्ठा	५२९		अनिरुद्ध ८-१०, २९, ४२, १२८
वीजन	७८		[ अनिरुद्धो हृषीकेशादित्रिकरूपे-
वीथि(थो)	२११, २१४, ४८१, ५०१		णाभिव्यज्यते १२४ ], प्रद्युम्न ८,
[मनः सुवितता वोथो २१४]।			१०, २९, ४२, १२७ (प्रद्युम्नस्त्रि-
वीर्य	८, १७, २४		विक्रमादित्रिकरूपेणाभिव्यज्यते
वृत्त	२१६		१२४ ], वासुदेव १, ५-८, १०-
वृत्ति	१७६		११, २५, २९, ३२, ३४, ४२,
[ जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्यख्या			८८, १२३-१२४, १३४, १५१,
वृत्तयः १७९ ]।			४००, ४०२, [ वासुदेवादिस्वरूपम्
वेदक	३४		४९-५०, वासुदेवादिस्मरणस्य
वेदिका) २०५, ४९६, ५३१, ५२२			कालभेदाः साधकशरीरे स्थान-
पञ्चवेदिका ५०१ मध्यवेदि			भेदाश्च ५७, वासुदेवः केशादि-
५०३, सप्तवेदिका ५०१, समन्त-			त्रिकरूपेणाभिव्यज्यते १२३, वासु-
भद्रा सुश्लक्षणा ४९६			देवस्य लाङ्छनध्यानम् १२६,
वेद्य	३४		वासुदेवादीनां जितन्तादिस्तोत्र-
वेदधोष	४९३		चतुष्टयम् १२७, प्रागादिषु वासु-
वैखानस	२९		देवादिरूपेण पूज्यते १०५, ५१०],
वैदल	३१८, ३४५		परवासुदेव ८, १८, परात्परवासु-
वैभव १३७, १७३, २५५, २८९, २९१			देव १५१, सङ्कर्षण १, ५-८, ११,
वैभवदीक्षा ४०७, वैभवदेवतागण			२९, ४२, १२७ [ सङ्कर्षणो गोवि-
४०६, वैभवरूप १३७, वैभवी-			न्दादित्रिकरूपेणाभिव्यज्यते १२३
सिद्धि ४०७ [वैभवं शान्तसंज्ञकं			-१२४, सङ्कर्षणादीनां लाङ्छन-
मित्यत्र शान्तसंज्ञकं परात्पर-			ध्यानम् १२८, जीवमनोऽहङ्कारा-
मित्यर्थः १७३]।			

णामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रव्युम्ना-	
निरुद्धाः १४५, अच्युत-अनिरुद्ध-	
पुरुष-सत्याख्यं मूर्तिचतुष्टयमाग्ने-	
यादिषु पूज्यते १०५, ५१० ] ।	
आत्मव्यूह ४८४, जाग्रदव्यूह १९,	
४७, ५६, १२३, १८०, जाग्रद-	
व्यूहमन्त्रचतुष्टय ५०-५४, तुर्य-	
व्यूह ३०, ३३, ५५-५६, परव्यूह	
१९, ३०, वर्णव्यूह ४०२, शान्तो-	
दितव्यूहचतुष्टय ४५, सुषुप्तिव्यूह	
१९, ५६, सुषुप्तिव्यूहमन्त्रचतुष्टक	
३६-४०, स्वप्नव्यूह १९, ४१, ५६,	
स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्टक ४५-४६	
व्यूहलक्षण ५६-५७	
व्यूहार्चनाधिकार १३	
व्यूहीय (रूप) १३७	
व्रोम २१३	
व्रत १२३-१४१, १४२-१७० चातुर्मा-	
स्यव्रत १६७-१७०, द्वादशावार्षिक	
१३१-१३२, द्वादशाख्य १३३-१३४,	
द्विवार्षिक १३२-१३३, पोडशाख्य	
१३४-१३५, संवत्सरव्रत १४२-	
१७०, [स्त्रीणां कृते व्रतविधानम्,	
१६६-१६७] ।	
व्रतान्तर १३१-१३३, १३५	
शकूनविचार ४५७	
शक्ति ८, १७, २५, १४८, ५१७	
शक्तिचतुष्टय २५५, २६७-२६८	
४८२, शक्तिद्वय २६८, शक्तिद्वाद-	
शक (द्विषट्क) १४८, १९१, २५५,	
शक्तिषट्क २५५, २६९, ५१८,	
शक्तिसमूह २५६-२५७, ४८५,	
शक्त्यष्टक (कान्ताष्टक) २५५,	
२६९, शक्तिसंघ १९०-१९१,	
२५५, [श्यादिदेवीनामेकद्विकचतु-	
ष्टकषट्काष्टकद्विषट्कभेदैः षोढा	

संघा: १९१, २५५-२५६, २६७-  
२६९], सुन्दरीगण २६६, ध्यान-  
लक्षणायुधादिकम् २६६-२६९],  
सुन्दरीषट्क २५५  
अपराजिता २१५, २६७, अमृता  
१९१, इच्छा १४८, कान्ति १८८,  
१९१, २६७, काश्यपी १९१, कीर्ति  
२५५, २६६ क्रिया १४८, क्षमा १९१,  
२६७, खगा १९१, खर्वा १९१,  
गान्धारी १९१, गी १९१, चिन्ता  
२४७, २६६, छाया १९१, जया  
२५५, २६७, ज्ञानशक्ति २५५,  
२६७, तारा १९१, तुष्टि १९१,  
२६७, तुष्टिदा २५५, दया १९१,  
२६७, धरणी १९१, धी १८८,  
१९१, धृति, १९१, २६७ नरमंभवा  
१९१, नागशायिनी १९१, नार-  
सिही १९१, नारायणी १९१,  
नित्या २५५, २६७, निद्रा १९१,  
२४७, २६७, ३०२, ३०५, निर-  
ञ्जना २५५, २६७, पद्मा १९१,  
पद्मासना १९१, पद्मिनी १९१,  
पुष्टि १९१, २०७, २५४-२५५,  
२६६, २६८, ३०२, ३०४ पुष्टिदा  
२५५, प्रकृति २५५, २५७, प्राणि  
१४८, प्रीतिवर्धनी २१५, २६७, भू  
१९१, मति १९१, २६७, महिमा  
१४८, मा १९१, माया १४८, १९१,  
२५५-२५५, २६७, मैत्री १९१,  
२६७, यशस्करी २५५, २६७, रनि  
१४८, १९१, २६७, लक्ष्मी १९१,  
२४७, २५४-२५५, २६६, २६८,  
[ लक्ष्म्याद्यष्टकं लक्ष्म्यादित्रिषट्कं  
च २५५ ], वाक् ४८४ | वाया-  
द्याभिः शक्तिभिः ४०४ ], वार्गी-

श्वरी १४८, १९१, वारुणी १९१,	शाण	४५३
विक्रान्ति १९१, विद्या १९१,	शान्त	२८, १७२-१७३, २६१
विभूति १४८, विश्वकामा १९१,	शान्तता	२८
विश्वा १९१, वेदविद्या १९१,	शान्तात्मा	३९६
वैदेही १९१, शक्ति १४८, १९१,	शान्ति	४५७
शान्ति १९१, शान्तिदा २५५,	शान्तिविधि	३१५-३१८
२६७, शुद्धि २५५, ६७, [शुद्धधा- दिष्टक २५५], श्री १४८, १९१,	शान्तोदित	३७२
२५४-२५५, २६८, ३०२, ३०४, [श्र्यादिचतुष्टय २५५], संख्या १९१, सत्या १९१, सरस्वती	शान्तोदिता	१८, ३०, ५२७
(शब्दनिधि) १९१, २५५, २६७, ३०२, ३०४, सरोरुहा १९१,	शास्त्र	३१४, ४२७, ४३४
सर्वकाम (प्र) दा २५५, २६७, सिद्धि २६७, सुधा १९१, हरिप्रीति १९१	[दिव्यादिभेदैः सात्त्विकादिभेदैश्च आगमत्रैविध्यम् ४३४]।	
शक्ति ५०२	शिखर	४८९
शाङ्क १२६, २२०-२२१	शिखरमञ्जरी	४८९
शब्द २४५, ४०२	शिला	४५६-४६०, ४८५, ५२२-५२३
शब्दनिधि (सरस्वती)	गुणवती शिला ४५७-४५९, नवर- न्धकृता० ५२३, शिलाग्रहण ४५६- ४६०, शिलात्रैविध्य ४५९-४६०	
शब्दब्रह्म २६-२८, -१७५, १८३, २४५, ३९८, ४०१, ४०५, ४३४, ४८७, ५३५	शिशु	३९४
[ नाद-बिन्दु-मध्यमा-वैखर्याख्यं शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टयम्२८]।	शिष्य	३६५, ३७९, ३८२, ३९०
शब्दमूर्ति ३७४, ३९८	शिष्यस्वप्नपरीक्षा	३७९
शब्दव्यक्ति ६२	[शिष्यस्य आलभन-ताडन-निरी- क्षण-प्रोक्षणाख्याः, ताप-नाम- पुण्ड्र-मन्त्र-यागाख्यास्च संस्काराः ३८२]।	
शम २४, १५०, ४८१, ४९५	शुक्ति(का)	४७७
शयन ४९६, ५०१, ५१०	शुभ	४६०
शरणागति २८८	शूद्र	१३१, ३८८
शराष्ट्रक	सच्छूद्र	१२८, १३१
शलाका ५११	[स्त्रीशूद्रादीनां प्रणववषट्कारा- नहर्त्वम् ३८८]।	
[ तैजसी, राजती, सौवर्णी वा ५१२, पक्षान्तरम् ५१२]।	शृङ्ग	२१३, २१६
शशि २७	शोभा	२१४
शाकुन (सूक्त)	अर्धशोभा २०३, २११, उपशोभा २१२, २१४, पूर्ण० २०३, २११, सर्व० २१३	
	श्रीकृष्ण	१०, २४८

श्रीसूक्त	५०५	सङ्कृट	५००-५०१	
श्वेत (सुसित) द्वीप	२२९-२३०, ३४५	संज्ञा (मन्त्र)	१७३-१७४	
५३९, ५४५		सततोदित	१५२	
श्वेतसर्षप	३६०	सदोदित	३०	
षट्कर्म	३७४	सत्य	२४९-२५२, ४७३-४७५, ५०३	
षट्कर्मनिरत	२७६, ११६	[सत्यः सुपर्णो गरुडस्ताक्षर्यश्च विहगेश्वरः। पञ्चात्मकस्य प्राणस्य विकारस्त्वेष पञ्चधा २४९, सर्वेषां बिम्ब-सामान्य-विशेष- लक्षणानि ४७३-४७५]		
षड्घ्व	३९१-४०५	सत्य (मूर्ति = व्यूह)	२९, ८८, १७५	
अध्येष्टक ३९९, ४१५, कलाध्वा ३९८, तत्त्वाध्वा ३९३-३९५, पदाध्वा ३९१-३९३, ३९९, भुव- नाध्वा ३९१-३९३, ३९९, ५२९- ५३०, मन्त्राध्वा ३९५, वर्णाध्वा ३९५, ५३४, सितासिताध्वा ३९७				
षाह्वगुण्य	२९२, ३९८, ४००	सन्तर्पण	३९०	
ब्रह्माषाह्वगुण्य ३६, [ऐश्वर्य-ज्ञान- तेजो-बल-वीर्य-शक्त्याख्यागुणाः] ८				
षाह्वगुण्यविग्रह (ब्रह्म)	७	सन्ताडन	५०४	
संवित्	३८	सन्धि	४६४	
संवित्स्वरूप	२८	सन्निधान	६४, ३५८	
संविद्गगन	२०८	सन्निधि	६५	
संवेद्य	१२१, ३९६	सन्निरोध	६४, ३५८, ५०५, ५३०	
संस्कार	३८२-३८७	सन्निवेश	५३९	
[आलभन-ताडन-निरीक्षण-प्रोक्षण- संस्काराः, ताप-नाम-पुण्ड्र-मन्त्र- यागाख्याः संस्काराश्च शिष्यस्य ३८२] ।				
संस्कारचक्र	३६९, ३७१	समन्तभद्रा	४९६	
संस्थापन	५४३	समपृष्ठता	१४९	
सकल	१९५	समय (नियम)	८२, ३०९-३११ ४१८- ४२८ समयपञ्चक [समयानां तु पञ्चकम्। भवितरगतौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि ४२७] ।	४१८- ४२८
सकलीकरण	३४६	समयी (समयज्ञ)	४१०, ४१३, ४२८- ४२२, [जात्या चतुर्विधः ४३२] ।	
सकाम	१३०, ३१३, ४५३	समाधि	२६, १२१ ३९६	
सकार	४०२	ज्ञान० २६, ब्रह्म० २६		
		समाराधन	७०	

समित्सप्तक	१९, ३०८, ५१७	स्नेचन	३१८, ४८०
[ समित-पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज- चह-घृतानीत्यर्थः १९, अन्नसमि- ददाने विशेषः १९ ] ।		सौत्र	२७३, ३७५, ३९१
समुच्छाय	५०१	सौत्रदेह ( विश्रह )	३७५, ३९१
समुद्र	१४९, २६६	स्तर	९०, ९२, १०३, २७६
[ समुद्रादीनां पचाद्यधिष्ठातृत्वम् १४९, २६६ ] ।		स्तोत्र	८२, १२६
सम्भारार्जन	३५३	स्थल	२०५, ४८१, ५००
सम्भूति	५३७	स्थलसप्तक	५००
सर्ग	१९८-१९९	स्थला	४९६, ५००
[ पाद्म ( पौष्कर )-प्राजापत्य ( ब्राह्म )- वाराहाख्यस्त्रिविधः सर्गः १९८-१९९ ] ।		स्थापन	४९१
सर्वेश्वर ( विशाखयूप )	१८३	स्थूल	१७२
सवन्दनाभिषेकन्याय	११२	स्नपन	७१-७२, २८०-२८४, ५००, ५०५-५०९, उदक० ७१-७३,
साकार ( ब्रह्म )	१९-२०		गन्धोदक० ७१, चत्वारिंशत्कलश०
साधक	४१०, ४२८, ४३३		५०९, चित्रबिम्बादिस्नपन ५०६,
साध्य	३३१		त्रयोदशकलश० १५७, द्वादश- कलश० १५७, पञ्चविंशतिकलश०
साध्यनामधेय	३१५		७१, पत्रोदक० ७१, पुण्डोदक० ७१,
साम्मुख्य	६५		फलोदक० ७१, बीजोदक० ७१,
सिद्धार्थक	५२१		बृहत्सनपन ५०५-५०६, बृहद्विम्ब- सनपन ७२, रत्नोदक० ७१, सर्वै- षधीजल० ७१, स्थूलपर-स्थूल-
सिद्धि	१२, १९७-१९८, २७९, २८९, [ भूलोक-भुवर्लोक-गगनलोक- सिद्धयः १९७-१९८ ] ।		सूक्ष्म-स्थूलस्थूलसनपन ५०९
सुधा	४८६	स्नपनकलशस्थापनविधि	५०७
सुपर्ण	२४९-२५२, ४७३-४७५	स्नपनकाल	५०९
सुप्रबुद्ध	१२४	स्नान	२२, ६३, ११४, २८०-२८४, ३७९
सुमङ्गला	१६७		जघनावधि० ११४, पवित्र(यात्रो- त्सव)स्नान २८०-२८४, मान्त्र०
सुषुम्ना	२६-२७, ८७		३७९, सप्तविध० २२
सूक्ष्म	१६१, १७३, २८१, २८८	स्नानकलश	५०४
सूतक	३१०	स्नानगेह ( शाला )	४९८-४९९
सूत्र	३७०, ३७५, ३८१, ४६८	स्नानपीठ	४९९
अरुणसूत्र ३७०, स्कन्धसूत्र ३९३		स्नानोपकरण	४८२
सूर्यसोम	९८, २९८		
सूर्यलिंग	२७		

संहिता-भाष्यगतविशिष्टविषयानुक्रमणी

६८१

स्मरण	३००	हिंसानिषेध	३३७
[करणत्रयस्य प्रेरणोच्चारण- स्मरणाख्यं कार्यत्रयम् ३००] ।		हृत्पच्चा	२६, २८, ४२५
स्क्र	६२	हृषीकेश	४
स्वप्न	३८०-३८१	होम	१९-२०, ९१, ९५, १०२, १२६, ३९६, ५१९-५२० आघार० ९८, आहरण० ५०७, ब्रह्मशिला० ४१९, यात्रा० ५१६, सम्पात० ३६४ ३७०, ३८१, ४८५ [होमो वह्नि- सन्तर्पणम् १९-२०] ।
स्वस्तिक ( आसन )	२५४	होमक्रम	९९
स्वाध्याय	१, ३, १०७, ११५	होमद्रव्य	६२
हकार	२८, ४०३		
हवन	४८२		
हवि	८१, ३११, ३६३ महाहवि ८१, हविपाकविधान ३६३		
हाण	११८		

पञ्चमं परिशिष्टम्

तिरुपतिमातृकायां विशिष्टाः पाठाः

मुद्रितपाठः	तिं पाठः	पृष्ठसंख्या	पद्धतिसंख्या
मपि वैभवं	मपि तथा वैभवं	१	१०
प्राप्त्यैकोपाय	प्राप्त्युपाय	१	१९
संस्थिताः	संस्थिताः सन्तः	२	१४
प्राप्त्यैकोपाय	प्राप्त्युपाय	३	१२-१३
गाम्भीर्युक्त्या	गाम्भीर्यया	६	१९
प्रत्यग्भावे	प्रत्यग्भागे	८	१७
अन्योन्येन	अन्योन्यं न	१५	१५
विधौ	विधा	१७	३२
न्त्येके	न्त्येते	१८	६
वौषट्	वौषट्	१९	२३
च	चात्र	१९	२५
ज्य तु	ज्यते	१९	२७
अन्तर्निंगूढ	अन्तर्निभूत	२१	८
गारुडो	गरुडो	२१	११
घटते	घटेत	२१	२२
वा	वः	२३	१४
मानसिक	मानस	२५	२७
नाभिक(ण)चक्र	नाभिहृच्चक्र	२७	१३-१४
संबन्धः	संबद्धः	२७	१६
श्रीभूतैः रम्य	श्रीभूतैराद्य	२९	३२
चातुरात्म्य	चतुरात्म	३०	२६
परि व्यक्ततां	परि पूर्वोक्तहृदयकमलोपरि व्यक्ततां	४१	१५
पद्माद्	पद्माद्	४२	२८
क्रमेण	प्राभवेण क्रमेण	४३	२१
सरसि ।	सरसीति त्रिभिः । क्षार्णे क्षका- रात्मके । अनन्तसरसि	४७	११
स्मूर्तयो	मूर्तयो	४७	२६

तिरुपतिमातृकायां विशिष्टाः पाठाः

६८३

यन्	यस्तु	४८	३०
मध्यधः	मध्यय	५०	२३
यासित	य सित	५४	२४
॥६८-७८॥	॥६८-७८॥ एतेषां मानसार्चनमाह-		
एवं ज्ञात्वेति ॥७९॥		५५	२३
गुह	गुह	५७	२३
लोल	लोली	५८	२२
मूर्ति	मूर्ति	५९	१५
स्क्रक्षब्दस्य	अत्र स्क्रक्षब्दस्य	६२	१०
विन्यस्य	विन्यसेत्	६३	१५
ग्राह्यम्	कार्यम्	६३	२०
पिञ्जुलेन	मञ्जुलेन	६४	१६
दिकं	दिकर्म	६४	१८
निकां	निकीं	६५	२२
पूर्वं चार्थे	पूर्वं चार्थे	६६	३३
आचमनं	आचमनीयं	६७	२९
प्रेष्यः	प्रेष्यं	६८	२५
ज्ञेयः	ग्राह्यः	७०	२६
बहं	बहं पुष्टं	७१	१०
न्यम्बून्यमूनि तु	न्यन्यमूर्तिषु	७१	२३
निष्ठया	दिष्टया	७२	११
भवता	भगवता	७४	३०
स्वरस	सरस	७७	१५
पूर्यं	पूर्णं	७७	२४
यत्	या	७७	३३
णार्थं	णार्थकं	७८	२६
प्यलामे	प्यभावे	८१	१७
लतूलोत्थ	लोत्थ	८२	१७
तथापि व्रत	तथापि तत्र व्रत	८३	२०
पात्रैश्चा	पात्रैश्च	८४	२७
अरण्य	अरणि	८५	५
(१७।११३) ।	(१७।११३) इति ।	९०	१३
हृषा	मृदा	९२	२२
कुम्भानां	कुम्भान् विना	९२	२४
आवाह	आहव	९७	१४

को(ण)	कोण	१७	२७
मधुपर्क	मधुपर्कः	९९	२१
ज्ञेयः	ग्राह्यः	१००	१२
संख्या	संख्याभिः	१००	२४
प्रतिपादिता	प्रतीता	१०२	२०
चांशकम्	चांशागम्	१०४	१७
निधाय	निधेयाः	१०४	२३
तादात्म्येनेति । दत्त	तादात्म्येनेति सार्वेस्त्रिभिः । परे तत्त्वे लब्धलक्षात् पर-	१०५	२१-२२
वा सकृ	ब्रह्मणि दत्त	१०७	३३
'फलादिना' इत्यतः परम्—“अनुयागं च तं विद्वि आत्मनात्मनि यत्कृतम्” इत्यधिकम् ।		१०९	९
धात्र	यात्र	१०९	२४
पृथग्नेना	पृथग्नेना	११२	२६
परमसाम्यं	परसाम्यं	१२०	१३
भवद्भाष्या	भगवद्भाष्या	१२०	२७
पूर्वोक्तैरित्यर्थः	दानैः पूर्वोक्तैरित्यर्थः	१३१	२८
वमानं	वमाननं	१३६	२३
दान	दाने	१३७	२२
तदाश्रय	तदाश्रम	१३८	२८
अत एतेषां	अत एव	१४०	१७
जीव	जीवत्व	१४५	१९
कण्ठम्	कण्ठम्	१४७	१६
मित्यन्तेन	मित्यनेन	१५१	२४
पृष्ठ	पृष्ठे	१५४	२७
भवता	भगवता	१५७	६
यस्मिन्नरे	यस्मिन्नन्तरे	१५९	२२
मात्र	मात्रा	१६०	२१
श्यन्त	श्यन्तं	१६०	२३
नानुलेप	नोल्लेख	१६५	१९
मायाख्यां	माधवाख्यां	१६८	२६
संस्कृतो	संस्कृटो	१७८	१५
जत्यात्मना	जन्नात्मना	१८१	१३

तिरुपतिमातृकायां विशिष्टाः पाठः ६८५

विभव	विभवा	१८७	२२
भेदाः	भेदः	१८८	१८
षट्युध	षटादशायुध	१९१	२६
तदीये	मायीये	१९३	२१
नार्वा	नानर्वा	१९४	२१
यन्त्र	मन्त्र	१९८	१७
पुष्णा	पुष्ट्या	१९८	१८
नन्द	नन्दाख्य	१९९	१८
मण्डला	मण्डपा	२००	२१
वीक्षतो	वीक्षितो	२०१	२६
वायव्यन्त	वायव्यान्त	२०१	२६
कोष्ट	कोण	२०३	१८
तदार्जनं	तदार्चनं	२०६	२५
रणे तु	रणे	२०९	७
अत्र	अत्र पुनः	२१०	१५
त्रयस्य	त्रयस्थ	२११	१६
दलाग्रामा	दलाग्रादा	२१३	२०
तद्वेवान्	तत्तद्वेवान्	२१५	२०
परितः	परतः	२१६	२६
द्वादशा	एवं द्वादशा	२१९	२०
मेखलानां	मेखलायां	२२०	११
ग्रेणैकं	ग्रे एकं	२२१	१५
कोष्ठे च	कोष्ठे वामकोष्ठे च	२२१	१८
वृत्तमापाद्य	वृत्तं पुनरष्टमरेखास्पर्शिना		
	सूत्रेणैकं वृत्तमापाद्य	२२१	३१
करत्वाद्धि	करणत्वाद्धि	२३१	२१
सर्व	सर्वा	२३१	२२
करमिति	करणमिति	२३१	२२
दोषदो	दोषादो	२३८	२२
श्रीपौष्करे	पौष्करे	२४७	१२
जाग्रद्वयूह	जाग्रच्चद्वयूह	२४९	१९
क्षणं	क्षणानि	२४९	२३
भगव	भव	२५१	१२
मञ्जलि	मण्यञ्जलि	२५२	२६

रव...मन्तेना	वर...मन्तेना	२५३	२९
वैभव	वैभवे	२५६	८
शक्तिद्वयस्य	शक्तिचयस्य	२५७	२६
चावि	च वि	२६५	२०
घ्येयम्	ज्ञेयम्	२६७	२६
चांस	चाङ्ग	२७०	२१
स्तत्र तीर्थं	स्ततृतीयं	२७४	२०
प्रकरणे	करणे	२८४	२४
योगा	श्रीयोगा	२८४	२६
प्रश्नप्रकारमाह	प्रश्नमाह	२८५	१७
कृताकृता	कुकृता	२८८	२०
परि	पारि	२८८	२४
योगा	श्रीयोगा	२९०	२२
ष्ववेतिकारा	ष्ववेत्यनुकारा	२९६	२०
मन्त्र	मन्त्रादि	३०२	१८
मन्त्र	मन्त्र	३०२	२५
भ्युक्षाम्	भ्युक्षम्	३०५	२४
विज्ञेयाः	ज्ञेयाः	३०६	१४
भेतव्य	भेत्तव्य	३०६	२९
ज्ञेयः	ग्राह्यः	३०८	१५
शमं	शर्य	३०८	१९
वोक्तं	वोपबृंहितं	३१२	१३
रुपेणेति	स्थेनेति	३१३	१०
इति	इष्ट	३१५	१२
नि(पु?र्वणं)	निपुणं	३१६	१४
टङ्कारं	टकारं	३१९	२८
नर	नार	३२९	१६
लकारेण	ठकारेण	३४०	१८
पारमेऽ	ईश्वरपारमेऽ	३५९	१२
नियम	विनियम	३६१	१६
शाकाढ्यं	शास्त्राढ्यं	३६१	३१
ईशान	तु ईशान	३६२	२४
खगानन	खगासन	३६७	२३
पठन्ते	फडन्ते	३८२	३०

तिरुपतिमातृकायां विशिष्टाः पाठाः

६८७

तद्विग्रह	तद्विग्रहे	३९२	२४
तन्मया	तन्मयत्वा	३९७	२५
स्वस्थाने	स्वस्थानं	४००	२४
दीक्षायाः	दीक्षाया	४०७	१७
शुद्धं	शुद्ध	४०८	१९
षेक	षेकः	४११	७
आतृभिः	आत्रादिभिः	४१७	१७
व्रजता	वाव्रजता	४१७	२५
च्छृण्वित्याह	च्छृणुध्वमित्याह	४१८	१६
नादि	नानि	४२२	२१
ष्ठापना	ष्ठाना	४२२	२३
पुत्रक	पुत्र	४३३	२३
विशः	विशतिः	४३७	१४
दुष्कृतं	दुष्कृतिं	४४४	२३
परमर्धि	परपद	४४५	२६
विशद	विदित	४४७	२४
पदसत्ताय	पदसत्ताय	४४७	२८
कस्य श्री	कस्य यदुगिरीशचरणार्चकस्य श्री	४५१	६
तत	यत	४६०	२३
प्रकरणोक्त	प्रकारेणोक्त	४९५	१५
चतुर्हस्त	चतुर्दशहस्त	४९५	१८
रष्टवीथी	रष्टभिर्वीथी	४९६	१६
कथैव	कथैव	४९७	१२
श्चोच्यते	श्चोह्यते	४९७	२६
॥२३-२८॥	॥२३-२७॥ ध्वजलक्षणमाह-		
	सर्वे चक्रध्वजा इति ॥२७-२८॥	४९९	२८
वेति	चेति	५०१	१४
दक्षिणभाग	दक्षिणदिग्भाग	५०१	२३
भवन	हवन	५०१	२५
भवनं	हवनं	५०१	२६
स्थानाम्	स्थानम्	५०२	१४
शालायां	शिलायां	५०५	२०
सट्ट	बट्ट	५०७	२३
पिल्ल	बिल्ल	५०७	२३

## सभाष्या सात्वतसंहिता

	५१३	२२
सन्ता		
द्विषट्कस्य कूर्म	५२४	१७
प्रक्रिया	५२४	१८
पवित्रान्तं	५३०	२५
प्रदानानि	५३१	२५
मङ्गण	५३५	२१
प्रसारणे	५४२	२४
प्रसारणे	५४२	२४
विशः	५४७	१७

---

षष्ठं परिशिष्टम्

तिरुपतिमातृकायां समानाः पाठाः

समानाः पाठाः	पृष्ठ	पद्धतिः	समानाः पाठाः	पृष्ठ	पद्धतिः
एतादृशा—अ. ति.	३	३१	पायु—म. ति.	२७	३०
ततस्तदनन्तरम्—अ. ति.	४	३२	यतः—अ. म. ति.	२७	३१
नास्ति वाक्यमेतत्—अ. ति.	५	२७	रूपा—अ. म. ति.	२८	३२
‘भूत’ नास्ति—अ. ति.	५	२७	पुनः—अ. म. ति.	२८	३२
पायिकाव—अ. म. ति.	९	३१	नास्ति—अ. ति.	३०	२९
नाभादयो—अ. म. ति.	९	३१-३२	नास्ति—अ. ति.	३०	३०
वित्तमुपे—अ. ति.	१२	३०	नास्ति—अ. ति.	३१	३१
तान्तानां—अ. ति.	१३	३०	विफले—अ. म. ति.	३१	३२
वर्णचक्र—म. ति.	१३	३१	पित्ता—म. ति.	३१	३२
परशु—अ. ति.	१४	२८-२९	नास्ति—अ. ति.	३१	३३
र्य—म. ति.	१६	२९	वानिति—अ. म. ति.	३२	२४
इत्यपि ज्ञेयम्—अ. ति.	१७	३४	जर्ने—अ. म. ति.	३२	२५
एतत्ते—अ. म. ति.	१८	३३	नास्ति—अ. ति.	३३	२४
विन्दुकः—म. ति.	१८	३३	बाह्यामं—अ. ति.	३४	२८
स्वभक्त्य—अ. ति.	१८	३४	वर्ण—अ. म. ति.	३४	२८
इत्यत्रैव—म. ति.	१८	३४	पदम्—अ. म. ति.	३४	२९
नास्ति—अ. ति.	१९	३२	महत्—अ. म. ति.	३४	२९
जात्यत्वं—अ. ति.	१९	३३	कर्मण—अ. ति.	३४	२९
नास्ति—अ. ति.	२०	२९	भेदत्वात्—अ. ति.	३५	२५
सस्मृतो—अ. ति.	२०	३०	द्वाभ्याम्—म. ति.	३५	२६
पारि—म. ति.	२०	३०	माहेत्याह—म. ति.	४७	२६
वाच—अ. ति.	२१	३२	क्षमि—अ. म. ति.	४७	२६
भयात्मकमि—म. ति.	२२	२५	ब्रह्मया—अ. म. ति.	४७	२६
यदा—अ. ति.	२२	२५	द्यमचिद्रूपमशा—अ. ति.	४७	२७
क्षिप्तः—अ. म. ति.	२३	३०	सर्वाणि—अ. ति.	४८	३०
अर्चन—अ. ति.	२३	३१	अत्राक्षा—म. ति.	५०	२८
पुरः—अ. ति.	२४	३१	चक्रधृते—अ. ति.	५३	३०

	पृष्ठं पद्भवितः		पृष्ठं पद्भवितः		
तपत्त्या—अ. ति.	५६	३०	तरम्—अ. म. ति.	८०	३२
नन्दस्पन्द—म. ति.	५६	३०	रा: शश्वत्—मु. ति.	८०	३३
संयुक्त—अ. ति.	५८	३०	वचविद—अ. ति.	८०	३४
इचतुर्भिः—म. ति.	५८	३०	अनिलोमाः—म. ति.	८०	३४
तेषां—अ. म. ति.	५९	३०	रस्याः—अ. म. ति.	८०	३४
सानत—अ. ति.	६५	३१	नास्ति—अ. ति.	८१	२८
पार—म. ति.	६६	३३	मुदग—मु. ति.	८१	२८
ब्रोध्यम्—म. ति.	६७	३०	लपूरित—म. ति.	८२	३२
ततोऽधर्य—अ. ति.	६७	३१	चाधरोत्तर—म. ति.	८५	२६
सकृन्मजेत्—म. ति.	६८	३०	नास्ति—अ. ति.	८५	२७
नास्ति—अ. ति.	६८	३०	पञ्च—म. ति.	८५	२९
घर्यादिके—अ. ति.	७२	३०	व्यूहे—म. ति.	८८	३०
घर्यथा—अ. म. ति.	७२	३१	चक्रश्वभैः—अ. ति.	९०	२८
निको—अ. ति.	७२	३१	अड्यारवत्—ति.	९०	३०
न हि—अ. म. ति.	७२	३१	मद्रासवत्—ति.	९१	३१
धातु—म. ति.	७३	३२	रमाह—म. ति.	९२	३१
षोडहं वै—म. पा. ति.	७३	३३	आद्रा—अ. ति.	९३	३०
सप्त—अ. ति.	७४	३१	मौ—अ. ति.	९४	३२
सूता—अ. ति.	७४	३१	एव—अ. ति.	९५	३०
नायं मन्त्रः—अ. ति.	७४	३१	तस्तुति—अ. ति.	९५	३०
च्छास्त्रे—म. ति.	७४	३२	नास्ति—अ. ति.	९६	२९
धूय—अ. ति.	७५	३०	नास्ति—अ. ति.	९८	२९
पूरि—म. ति.	७५	३०	पञ्च—म. ति.	१०१	३३
नित्य—अ. ति.	७६	३०	शास्त्रेण—अ. ति.	१०१	३३
वे चानु—अ. ति.	७६	३०	नास्ति—अ. ति.	१०२	२८
अस्थैव—अ. ति.	७६	३०	विकीरण—म. ति.	१०३	२९
नास्ति—अ. ति.	७६	३१	नास्ति—अ. ति.	१०६	२९
अन्यत्र—अ. ति.	७७	३२	अत्र—अ. ति.	१०७	३३
नास्ति—अ. ति.	७८	२९	शुद्धयनं—अ. म. ति.	१०९	३१
आद्य—म. ति.	७८	२९	याताः—मु. ति.	१०९	३२
प्रकारः—अ. म. ति.	७९	३१	शिष्येण—अ. ति.	१०९	३२
सुमश्रृङ्गैः—अ. ति.	७९	३१	किञ्च—अ. ति.	१०९	३३
कूले—म. ति.	७९	३२	द्रव—अ. म. ति.	१११	३०

	पृष्ठं	पद्भूतः		पृष्ठं	पद्भूतः
प्रान्तपर्वे—अ. म. ति.	११२	३३	न अरके—अ. ति.	१५६	३१
इत्यपि—अ. ति.	११३	२९	अवि—अ. ति.	१५७	३१
चापरे—अ. म. ति.	११४	३१	विरोधं—अ. ति.	१५७	३१
इति ननु—अ. ति.	११५	३१	नास्ति—अ. ति.	१५७	३१-३२
ग्रन्थे तु—अ. ति.	११५	३१	केशवाभि—म. ति:	१५७	३२
अद्य—अ. ति.	११६	२८	स्थापितः—अ. ति.	१६१	३०
बैणवीं—प. अ. म. ति.	११६	२९	रस्थापि—अ. ति.	१६१	३०
मुक्तस्म—म. ति.	१२०	३०	दाहरणेन—म. ति.	१६२	३३
तत्र—अ. ति.	१२०	३१	अवैवो—अ. ति.	१६६	३१
स्नानेषु—अ. म. ति.	१२४	३३	यतः श्री—म. ति.	१७२	३०
यतस्तथा—म. ति.	१२५	३२	त्तमान्—अ. ति.	१७३	३०
स्तुत्ये—अ. ति.	१२५	३२	संस्थितिः—अ. म. ति.	१८१	३०
न्तास्तोत्र—म. ति.	१२७	३०	नास्ति—अ. ति.	१८४	३२
दक्षिणकरे—म. ति.	१२८	३०	बोध्यस्म—म. ति.	१८५	३४
केवलं—म. ति.	१२९	३०	क्यस्यैव वा—अ. ति.	१८६	३०
सार्वत्रिका—म. ति.	१३१	३०	नास्ति—अ. ति.	१८८	३१
संमाननं—म. ति.	१३६	३१	प्रसिद्धः—अ. ति.	१८९	३०
कर—अ. ति.	१३७	२९	हितस्य—म. ति.	१८९	३१
षट्स्वा—अ. म. ति	१३८	२८	प्रति—अ. ति.	१८९	३१
द्वारकादिष्विव—अ. म. ति.	१३९	२७	सांख्या—अ. म. ति.	१९१	३०
येन केन वा—म. ति.	१४०	३०	कामा च—अ. म. ति.	१९१	३१
वर्ष—अ. ति.	१४१	२०	चतु—अ. ति.	२०५	२९
रथस्म—म. ति.	१४१	२१	चंना—अ. ति.	२०५	२९
शेषः—म. ति.	१४२	२६	नास्ति—अ. ति.	२०८	३३
नास्ति—अ. ति.	१४३	२७	नास्ति—अ. ति.	२११	२८
अकारं—म. ति.	१४४	२९	प्रयोगः—म. ति.	२१४	३०
नास्ति—अ. ति.	१४५	३०	दितमि—अ. ति.	२१७	३०
न्यङ्ग—अ. म. ति.	१४६	३२	नव—अ. ति.	२१९	२९
कान्तं क्षयं—अ. म. ति.	१४८	२९	पर्य—अ. ति.	२१९	२९
अधो—मु. ति.	१४८	३०	अष्टं—अ. ति.	२२०	२८
पाद—म. ति.	१५०	३१	यावद् द्वा—अ. म. ति.	२२०	२८
दिव्य—अ. ति.	१५२	३०	चक्राये—अ. म. ति.	२२०	२९
णिक—अ. ति.	१५४	३१	लै—अ. म. ति.	२२०	२९

	पृष्ठ	पद्धतिः		पृष्ठ	पद्धतिः
ला—अ. म. ति.	२२०	२९	नास्ति—अ. ति.	२६२	२८
सति—अ. ति.	२२१	३३	योजनम्—म. ति.	२६५	२९
भागार्थ—अ. ति.	२२२	२८	ष्ठायै—अ. म. ति.	२६६	३२
रार्थ—अ. ति.	२२२	२८	नास्ति—अ. ति.	२६७	३०
शेषवृत्ति—म. ति.	२२४	२९	न्त्या—म. ति.	२६८	२८
वराह—म. ति.	२२८	३०	स्याङ्ग—म. ति.	२६८	२८
गणान्त—अ. ति.	२२८	३०	द्वितयस्य—म. ति.	२६८	२८
नास्ति—अ. ति.	२२८	३०	खण्डाना—अ. ति.	२७२	२७
नास्ति—अ. ति.	२२९	२९	प्रश्नम्—अ. म. ति.	२७२	२७
मधः—म. ति.	२३०	३०	लोप—म. ति.	२७२	२७
स्वकुण्ड—अ. म. ति.	२३०	३०	सूत्रं—अ. म. ति.	२७३	३०
शास्त्र—अ. म. ति.	२३०	३१	नास्ति—अ. ति.	२७४	२७
अब्जात्मा—अ. ति.	२३१	३१	उक्त—अ. ति.	२७५	२८
मत्क—अ. ति.	२३२	३१	प्रातिसर्यकम्—अ. म. ति.	२७५	२९
क्षमा—मु. ति,	२३३	३०	दिवसाख्यं—म. ति.	२७५	२९
मीयुषी—अ. म. ति.	२३३	३०	यथेच्छ—म. ति.	२७८	३०
क्षेत्रे—म. ति.	२३७	२७	श्वरे—म. ति.	२७८	३१
भवान्निष्क—अ. म. ति.	२४३	२७	वार्च—अ. ति.	२७८	३२
न दृश्यते पद्धतिः—अ. म. ति.	२४५	३३	चेतनस्य—अ. ति.	२८४	२९
परा—अ. म. ति.	२४५	३३	काश्चाशु—म. ति.	२८६	३१
संस्फुटोदयः—अ. म. ति.	२४५	३४	पातकाः—म. ति.	२८६	३१
नुशाधिनी—म. ति.	२४५	३४	आकूताद—म. ति.	२८८	२८
तदा—म. ति.	२४५	३४	चेत्यर्थः—अ. ति.	२८९	२८
च्छेदं—अ. म. ति.	२४७	३१	विहितद्वयम्—अ. म. ति.	२९३	३०
शिरश्च—अ. ति.	२४८	२८	दाहस्वशुद्धये—अ. म. ति.	२९३	३१
सन्—म. ति.	२४९	२९	झुलैः—अ. म. ति.	२९४	३०
नास्ति—अ. ति.	२५०	३०	विमुक्त—म. ति.	२९४	३०
भुज्येय—अ. म. ति.	२५५	३०	इच्छायाः—अ. म. ति.	२९५	३१
कृत—अ. ति.	२५६	३३	च्चात्र—अ. म. ति.	२९६	३२
तदा—अ. ति.	२५६	३४	विशेषण—म. ति.	२९७	२७
मुख—अ. ति.	२५७	३०	पूर्विका—अ. म. ति.	३००	२९
नास्ति—म. ति.	२५९	२९	कारे—अ. ति.	३०१	३१
दितर—म. ति.	२६१	२५	नास्ति—म. ति.	३०२	३२

	पृष्ठं	पद्धकितः		पृष्ठं	पद्धकितः
पूर्वक—अ. ति.	३०७	३०	जानि—अ. म. ति.	४०४	३२
सूचकैरि—म. ति.	३०८	२८	भू—अ. म. ति.	४०४	३३
नास्ति—अ. ति	३०९	३०	नास्ति—अ. ति.	४०६	३२
नास्ति—अ. ति.	३१०	२६	नास्ति—अ. ति.	४०६	३२-
च्छेदा—म. ति.	३१०	२६	विंशतिः—म. ति.	४०९	२१
थर्येन—अ. ति.	३१३	२९	मण्डलः—अ. म. ति.	४१०	३०
योग्य—अ. म. ति.	३१३	२९	पूज्या—अ. ति.	४११	३१
द्यानि—अ. म. ति.	३१३	३०	कथं—म. ति.	४१३	२९
सेव्यन्ते—अ. म. ति.	३१३	३०	चर—अ. ति.	४१३	२९
यच्च यच्च—अ. म. ति.	३१५	३०	विंशतिः—म. ति.	४१८	२६
वित्त—म. ति.	३१६	२९	स्वप्नान्तर—अ. ति.	४२२	२८
पयसा—अ. ति.	३२५	२९	दित्याह—अ. ति.	४२४	२८
निधाय—अ. ति.	३२९	२८	भवतीति—अ. म. ति.	४२५	३०
नास्ति—अ. ति.	३३१	२९	स्वच्छन्दं—अ. ति.	४२७	३१
पालिकायां—अ. म. ति.	३५५	२८	विंशतिः—म. ति.	४२८	१६
मायाकच—अ. म. ति.	३५८	३०	ॐ नमो—अ. ति.	४४२	३०
हुब्लु—म. ति.	३५८	३१	टिष्पणीस्थपाठः—ति.	४४६	२९-३०
हरेणु—अ. म. ति.	३५८	३१	वेदविदुषे—अ. म. ति.	४४७	२८
शस्याच्चने—अ. ति.	३५९	२८	शास्त्रास्यो—म. ति.	४४८	२८
चर्चनं—अ. म. ति.	३६०	२९	जहि—अ. म. ति.	४४८	२९
काली—अ. म. ति.	३६३	३०	मायाय—अ. म. ति.	४५०	२९
दयः—अ. म. ति.	३७३	२८	त्रयोविंशतिः—म. ति.	४५१	१०
वित्तालस्या—अ. म. ति.	३७९	२९	पदलाभवशात्—म. ति.	४५३	२८
मन्त्रवस्त्रेन—अ. ति.	३८२	३१	ग्रहं—अ. ति.	४७९	२७
मुक्त—म. ति.	३८२	३१	रागादि—अ. ति.	४८२	२९
ज्ञेय—म. ति.	३८३	३२	दिव्यशक्ति—अ. ति.	४८२	२९
सूत्र—अ. म. ति.	३८४	३०	विंशतिः—म. ति.	४९४	२२
नास्ति—अ. ति.	३८६	३०	नास्ति—अ. ति.	४९७	३०
नास्ति—अ. ति.	३८६	३२	मध्ये—अ. ति.	४९७	३०
सलीलया—अ. म. ति.	३८७	२८	नास्ति—अ. ति.	४९८	३१
नास्ति—अ. ति.	३९०	२९	समिधा—म. ति.	५०१	३१
इलेषाथं—अ. ति.	३९३	३१	नमिति—अ. ति.	५०१	३१
वैत्येव—अ. म. ति.	४०४	३२	हवनं—अ. ति.	५०२	३१

## सभाष्या सात्वतसंहिता

पृष्ठं	पद्भितः		पृष्ठं	पद्भितः	
शयन—अ. ति.	५०२	३१	लेखनादि—अ. ति.	५२३	२९
स्वर्त—अ. नि.	५०३	२६	विनि—अ. ति.	५२३	३०
नास्ति—अ. ति.	५०८	३०	नास्ति—अ. ति.	५२४	२५
इति—अ. नि.	५०९	२१	नास्ति—अ. ति.	५२६	३०
शिरसं—म. ति.	५१६	२७	स्मारितम्—अ. ति.	५२६	३०
गतेनेत्यर्थः—अ. ति.	५२०	३२	स्मिन्नासने—अ. ति.	५३६	२९
तज्ज्र—अ. ति.	५२१	२७	तत्र—म. ति.	५४०	३०
प्रवेशं—अ. ति.	५२१	२७	आश्रम—म. ति.	५४०	३०
तत्पदा—अ. ति.	५२१	२७			

## शुद्धिपत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठांसंख्या	पढ़ाकितमांसंख्या
प्राप्त्यैको	प्राप्त्यैको	१	१९
तु	तु	२५	८
भि (?न्नं)	भि (?न्ने ?न्नं )	५०	२१
युगाद्व	युगाद्व	५७	९
प्रकरणे ।	प्रकारणे	६८	१३
तत्तदुप्र	तत्तदुप्र	६६	३०
सूत्र	सूत्र	७८	७
नैहृत्व	नैहृत्व	८३	११
ज्या०	ज्या०	९३	२४
यासो	न्यासो	१२२	१५
याच्चवा	याच्चवा	१३६	२५
भेत्तव्यम्	भेत्तव्यम्	१४०	१८
मन्त्रद्वयं	मन्त्रमयं	१४५	४
गृहीत्वा	गृहीत्वा	१४५	८
व	वै	१९८	१२
दिक्संस्थं यद्	द्विक्संस्थं यद्	११४	९
नाभव्यदेनैव	नाभव्यदेनैव	१८६	७
वित्तेशश्व	वित्तेशश्व	१८८	४
स्वस्थं	स्वस्थं	१९८	१६
समानाभि	समा नाभि	२१८	४
कमल	कनक	२३६	२
नर	वर	२३९	४
स्तासं	स्तास्त्रं	२४०	८
मंक	कर्म	२४४	६
युपेयुषी	मूपेयुषी	२४७	२५
प्रोक्त	प्रोत	२५१	१३
क्लक्षणम्	क्लक्षणम्	२५८	१३
वात् । तल्ले	वात् तल्ले	२५६	३०
स्वातन्त्र्येतन्णा	स्वातन्त्र्येणा	२६२	१२
सहा	सदा	२६३	१८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठसंख्या	पड़क्रितसंख्या
भोक्त	भोक्तृ	२६८	११
वारा	वरा	२७०	४
न्तमित्यर्थः	न्तरमित्यर्थः	२८०	२०
एवं	एवं	२८२	३१
न्मौलि	न्मौलि	२८६	२२
नर	नार	२८८	२०
तत्रा	पत्रा	२९९	१६
पड़ति	पड़क्ति	३००	२०
अधैर्निम्बुर	अधैर्निरम्बु	३०७	१४
दत्तवाइन्न	दत्तवाइस्त्र	३२०	१९
मात्रे	पात्रे	३२०	२३
आयुष्य	आपुष्य	३३२	६
नदी	नति	३७१	१५
वर्तनं	नर्तनं	३८१	१०
ध्वंश	ध्वंस	३८१	१०
मन्त्रणा	मन्त्राणा	३९०	२५
पदा	पद	४११	१९
मन्त्रागां	मन्त्राणां	४२५	१०
शङ्का	शङ्कां	४५४	२५
इषभिः	षड्भिः	४७७	९
द्वातशा	द्वादशा	४८३	१५
षट्	षड्	४८८	२०
र्मध्यतोः	र्मध्यतो	४९८	२६
सुस्थितं	सुस्थिरं	४९९	६
विस्तुतं	विस्तृतं	५००	२१
भृन्मूर्ति	मृन्मूर्ति	५०३	१३
मरुतं	मारुतं	५२६	१५
ध्रुवाद्यैरिति	ध्रुवा द्यौरिति	५२६	१७
मारज्जख	मारखज्ज	५४५	१६
सभूद्वित	सद्विभूति	५४७	२